

श्रीमद्भागवतम्

(द्वितीय-खण्ड — स्कन्ध ५-९)



श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गै जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास-प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(द्वितीय-खण्ड — स्कन्ध ५-९)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य-केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन
वृन्दावन

प्रथम संस्करण — श्रीगौरपूर्णिमा (९ मार्च, २०२० ई०)

ISBN: 978-81-942673-5-5

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ०प्र०)	९७१९०७०९३९
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ०प्र०)	९२१९४७८००१
३. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, गोवर्धन (उ०प्र०)	(०५६५)२८१५६६८
४. श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रम, मथुरा (उ०प्र०)	९९९७५४३१७३
५. श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ, जनकपुरी, नई दिल्ली	(०११)२५५३३२६८
६. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, नवद्वीप (प०ब०)	९३३३२२७७५
७. श्रीगोपीनाथ-भवन, वृन्दावन (उ०प्र०)	९६३४५६३७३९
८. जयश्रीदामोदर गौड़ीय मठ, पुरी (उड़ीसा)	९७७६२३८३२८
९. श्रीवामनगोस्वामी गौड़ीय मठ, कोलकाता (प०ब०)	(०३३)२३५१०३६९
१०. श्रीरङ्गनाथ गौड़ीय मठ, बेङ्गलुरु, कर्नाटक	(०८०)२८४६६७६०
११. श्रीगोविन्द गौड़ीय मठ, बेङ्गलुरु, कर्नाटक	९९००१९२७३८
१२. श्रीश्रीगोविन्दजी गौड़ीय मठ, जम्मू	९९०६९०४८०९
१३. श्रीराधे-कुञ्ज, वृन्दावन (उ०प्र०)	९४५७२२५५६७
१४. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, नोएडा (उ०प्र०)	(०१२०)२५८२०१८
१५. श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ, फरीदाबाद (हरियाणा)	९९११२८३८६९
१६. श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ, बड़ौत (उ०प्र०)	९४११८२६२१५
१७. श्रीकुञ्जविहारी गौड़ीय मठ, अम्बाला (हरियाणा)	९७२९३८४९९५
१८. श्रीराधाविनोदविहारी गौड़ीय मठ, नोएडा (उ०प्र०)	९६५०८२४४४२
१९. Pure Bhakti Center, जयपुर (राजस्थान)	७२२९८८२२२८

Please visit us at www.purebhakti.com & www.harikatha.com

समर्पण

भक्त-भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ-भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करनेवालोंके लिए पाषण्ड-गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध-भागवत-परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप-उप-छलादि धर्मरूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत-अर्ककी प्रभा-राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रकाशन-मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा. मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'
एम.ए.(संस्कृत) पी-एच.डी.

टंकण

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज
श्रीमान् सुबल सखा दासाधिकारी
श्रीमान् अच्युतानन्द दासाधिकारी
श्रीमती वृन्दा देवी दासी

प्रूफ-संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
डा. मधु खण्डेलवाल

सहयोग

सुश्री राधिका खण्डेलवाल

प्रच्छद एवं अन्य चित्र

श्रीयुक्ता श्यामाराणी दासी

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा

श्रीमती राधादासी (सपना रमेश खण्डेलवाल, मुम्बई) एवं श्रीजयदेव दास (मुम्बई) इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक-सेवा-योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गके कृपा-भाजन हुए हैं।

विषय-सूची

प्रस्तावना	xxi-xxvi
पञ्चमः स्कन्धः	१-२६०
पञ्चम स्कन्धकी कथाका सार	३-८
प्रथमोऽध्यायः—महाज्ञानी प्रियव्रतका राज्यभार ग्रहण, उनकी ज्ञाननिष्ठा एवं वंशका विस्तार आदि अद्भुत-चरित	९-२२
द्वितीयोऽध्यायः—प्रियव्रतके पुत्र स्त्रैणपुङ्गव आग्नीध्रके चरित्र वर्णनमें पूर्वचित्ति नामकी अप्सराके गर्भसे आग्नीध्रके नाभि इत्यादि नौ पुत्रोंका जन्म	२३-३१
तृतीयोऽध्यायः—आग्नीध्रके पुत्र नाभिराजका मङ्गलमय चरित्र एवं नाभिराजके यज्ञसे सन्तुष्ट होकर भगवान् हरिका निजांशभूत ऋषभदेवके रूपमें नाभिपत्नी मेरुदेवीके गर्भसे आविर्भाव	३२-३८
चतुर्थोऽध्यायः—नाभिपुत्र ऋषभदेवके भरतादि सौ पुत्रोंके राज्य एवं उनके राजत्व कालमें प्रजावर्गका आनन्द	३९-४४
पञ्चमोऽध्यायः—ऋषभदेवके द्वारा मोक्ष-धर्म एवं शीतोष्णादि-द्वन्द्व-धर्मका परित्याग एवं पारमहंस्य धर्मोपदेश द्वारा पुत्रानुशासन	४५-५८
षष्ठोऽध्यायः—ऋषभदेवके देह-त्यागका प्रकार एवं दावानलमें देहके दग्ध होनेके समय भी देहके प्रति अनासक्ति	५९-६५

- सप्तमोऽध्यायः**—राजा भरतका विवाह, पुत्रोत्पत्ति, प्रजापालन, दीर्घकालव्यापी यज्ञानुष्ठान, आरब्ध कर्मोंकी समाप्ति, संसार-त्याग, हरिक्षेत्र-गमन, हरि-भजनादि..... ६६-७१
- अष्टमोऽध्यायः**—श्रीविष्णुभजन-परायण राजा भरतके भजनमें विघ्न, अनाथ मृग-शिशु-रक्षणमें अति आसक्तिके कारण मृगदेहकी प्राप्ति तथा आसक्ति-दोषकी समाप्तिपर मृगदेहका त्याग ७२-८१
- नवमोऽध्यायः**—पिताके समीप आत्म-विज्ञान-प्राप्त भरतके प्रारब्ध-कर्म-वेगसे मृगदेहकी प्राप्तिके पश्चात् जड़-विप्रत्वकी प्राप्ति एवं इस रूपमें उनकी रागादि-शून्यता, भद्रकालीके सम्मुख बलिरूपमें पशुवत् ले जाये जानेपर भी निर्विकारता..... ८२-९०
- दशमोऽध्यायः**—राजा रहूगण द्वारा बलपूर्वक शिबिका-वहनमें नियुक्त भरत मुनिके लिये राजा द्वारा प्रयुक्त कटूक्तियोंका अर्थ करके मुनि द्वारा चैतन्य दान करनेपर राजाका अपनी भ्रान्तिके लिये अनुताप एवं मुनिके समीप क्षमा प्रार्थना..... ९१-१०१
- एकादशोऽध्यायः**—राजा रहूगणके प्रति भरतमुनिका परम ज्ञानोपदेश १०२-१०८
- द्वादशोऽध्यायः**—पूर्वोपदिष्ट वचनोंमें राजा रहूगणका सन्देह एवं पुनः जिज्ञासा तथा राजर्षि भरत द्वारा उनका समस्त-संशय-छेदन १०९-११५
- त्रयोदशोऽध्यायः**—अजातवैराग्य व्यक्तिकी तत्त्व-निरूपणमें असमर्थता जानकर राजाकी वैराग्य-दृढ़ताके लिये राजर्षि भरत द्वारा भवाटवीका वर्णन ११६-१२६
- चतुर्दशोऽध्यायः**—पूर्वाध्यायमें रूपक-शैलीमें वर्णित भवाटवीका वास्तविक अर्थ निरूपण..... १२७-१४२

पञ्चदशोऽध्यायः—भरतवंशीय राजाओंके विविध विषयोंका कीर्तन.....	१४३-१४८
षोडशोऽध्यायः—प्रियव्रत राजाके चरित्र-प्रसङ्गमें पर्वत एवं समस्त वर्षोंके मध्यवर्ती सुमेरु पर्वत एवं जम्बूद्वीपका परिमाण-वर्णन.....	१४९-१५७
सप्तदशोऽध्यायः—पृथ्वीपर गङ्गाका आगमन एवं इलावृत वर्षमें वैष्णव-प्रवर रुद्र द्वारा अपने उपास्यदेव सङ्कर्षणकी स्तुति.....	१५८-१६६
अष्टादशोऽध्यायः—सुमेरुके पूर्व एवं उत्तर भागमें स्थित छह वर्षोंमें उनके वर्षपति एवं उपास्यगणोंका विषय-वर्णन.....	१६७-१८१
एकोनविंशोऽध्यायः—किम्पुरुषवर्ष एवं भारतवर्षके सेव्य एवं सेवकोंका वर्णन और भारतवर्षकी श्रेष्ठताका निरूपण.....	१८२-१९३
विंशोऽध्यायः—समुद्रके साथ प्लक्षादि छह द्वीपोंका परिमाण, लोकालोक-पर्वतकी स्थिति एवं उसके अन्तर-बहिर्भागका परिमाणादि-वर्णन.....	१९४-२०८
एकविंशोऽध्यायः—कालचक्रमें भ्राम्यमाण सूर्यकी गतिके अनुसार दिवा-रात्रिके हास-वृद्धि इत्यादिका निरूपण...	२०९-२१४
द्वाविंशोऽध्यायः—ज्योतिश्चक्रमें सोम, शुक्रादि ग्रहोंकी स्थिति एवं उनकी गतिके अनुसार मानवोंका शुभाशुभ फल-कथन.....	२१५-२२०
त्रयोविंशोऽध्यायः—ज्योतिश्चक्रके आश्रय-स्वरूप ध्रुव-स्थान तथा शिशुमार-रूपमें भगवान् श्रीहरिकी स्थिति.....	२२१-२२५
चतुर्विंशोऽध्यायः—सूर्यमण्डलके अधोदेशमें राहु एवं सिद्धादिकी स्थिति तथा पृथ्वीके निम्न देशमें अतलादि सप्त अधोलोक और वहाँके निवासियोंका विवरण....	२२६-२३८

पञ्चविंशोऽध्यायः—पातालके तलदेशमें जगत्संहारकारी रुद्रके अंशी भूधारी अनन्त भगवान्की कथा.....	२३९-२४४
षड्विंशोऽध्यायः—नरकोंकी स्थिति, पापियोंके पापानुसार विविध नरक प्राप्ति एवं वहाँ यमदूतों द्वारा नाना प्रकारके यातना-भोग	२४५-२६०
षष्ठमः स्कन्धः.....	२६१-४९८
षष्ठम स्कन्धकी कथाका सार	२६३-२६७
प्रथमोऽध्यायः—महापापी अजामिलके पाप-मोचनके लिये आगत चार विष्णुदूतों द्वारा यमदूतोंको रोकना और उनसे धर्म-जिज्ञासा, अजामिलका पाप-वृत्तान्त	२६९-२८५
द्वितीयोऽध्यायः—यमदूतोंके प्रति विष्णुदूतोंका हरिनाम-माहात्म्य-कथन एवं द्विज अजामिलकी विष्णुलोक-प्राप्तिका वर्णन	२८६-२९७
तृतीयोऽध्यायः—यमराज द्वारा निज दूतोंके निकट भागवतधर्मके उत्कर्षका कीर्तन, दूतोंको सान्त्वना देते हुए वैष्णव कैङ्कर्यका उपदेश.....	२९८-३०८
चतुर्थोऽध्यायः—प्रजा सृष्टिके लिए दक्षकी तपस्या एवं हंसगुह्य स्तोत्र द्वारा भगवान् श्रीहरिकी आराधना तथा दक्षके प्रति श्रीविष्णु द्वारा यथायोग्य वर-प्रदान ..	३०९-३२३
पञ्चमोऽध्यायः—देवर्षि नारदके कूट वचनोंसे दक्षपुत्रोंका प्रजा सृष्टिकी चेष्टासे विरत होना, परमार्थ-पथपर अपुनरावृत्ति-प्रस्थान-संवादमें दक्षका नारदके लिये अभिशाप	३२४-३३५
षष्ठोऽध्यायः—प्रजापति दक्षकी साठ कन्याओंकी उत्पत्ति, उनके द्वारा विपुल विश्वमें विविध जीवोंकी उत्पत्ति...	३३६-३४५

सप्तमोऽध्यायः—ऐश्वर्यमदसे मत्त देवराज इन्द्रके अपराधसे देवगुरु बृहस्पतिका देव-पौरोहित्य त्याग, दैत्योंके साथ घोर युद्धमें इन्द्रकी पराजय, अनुत्पन्न इन्द्रका देवताओंके साथ ब्रह्माके समीप गमन, त्वष्टा पुत्र विश्वरूपका गुरुरूपमें वरण एवं स्वर्ग-सिंहासनकी पुनः प्राप्ति	३४६-३५५
अष्टमोऽध्यायः—असुर विजयमें इन्द्रके एकमात्र सहायक एवं शक्तिस्वरूप वृत्रासुर-भ्राता ब्राह्मण विश्वरूप द्वारा कथित श्रीनारायण-कवचका वर्णन	३५६-३६७
नवमोऽध्यायः—इन्द्र द्वारा विश्वरूप वध, विश्वरूप-पिता त्वष्टाके यज्ञमें वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उससे भयभीत देवताओं द्वारा भगवत्-स्तुति	३६८-३८५
दशमोऽध्यायः—भगवत्-आदेशसे दधीचि-मुनिकी अस्थियोंसे निर्मित वज्र धारण करके देवताओंके साथ इन्द्रका वृत्रासुर प्रमुख असुरोंके साथ युद्ध	३८६-३९४
एकादशोऽध्यायः—वज्रधारी इन्द्रके साथ युद्धमें प्रवृत्त वृत्रकी ज्ञान, बल एवं भक्ति सम्बन्धी कथाका वर्णन	३९५-४०३
द्वादशोऽध्यायः—वृत्रासुरके अत्यधिक विषादसे उत्साहित होकर इन्द्रके द्वारा वृत्र-वध	४०४-४१३
त्रयोदशोऽध्यायः—वृत्रासुर-ब्राह्मण-वधवशतः ब्रह्म- हत्याके भयसे इन्द्रका पलायन एवं भगवान् विष्णु द्वारा रक्षण	४१४-४२०
चतुर्दशोऽध्यायः—वृत्रासुरकी भगवत् भक्तिके विषयमें परीक्षितके प्रश्नोत्तर, श्रीशुकदेव द्वारा वृत्रके पूर्वजन्म-चरित-प्रसङ्गमें चित्रकेतुका हर्ष एवं पुत्रशोक-वर्णन	४२१-४३६

पञ्चदशोऽध्यायः—महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदका चित्रकेतुके गृहमें आगमन और चित्रकेतुका शोक-निवारण	४३७-४४४
षोडशोऽध्यायः—मृतपुत्रके मुखसे तत्त्वोपदेश श्रवणके पश्चात् विगतशोक चित्रकेतुके प्रति देवर्षि नारद द्वारा सङ्कर्षणको सन्तुष्ट करनेवाली महाविद्याका उपदेश.....	४४५-४६३
सप्तदशोऽध्यायः—श्रीसङ्कर्षण-कृपासे विमान विहारी विद्याधर चित्रकेतु द्वारा पार्वतीके साथ विराजमान शिवका उपहास एवं परिणामस्वरूप वृत्रासुररूपमें उनका आविर्भाव	४६४-४७३
अष्टादशोऽध्यायः—इन्द्र-हन्ता पुत्रकी कामनासे कश्यप- पत्नी दितिका व्रत-धारण, इन्द्र द्वारा दितिकी गर्भस्थ सन्तानका उनचास विभागोंमें छेदन तथा त्वष्टा-वंश वर्णन-प्रसङ्गमें आदित्य एवं अन्यान्य देवताओंकी वंश-प्रस्तुति.....	४७४-४९१
एकोनविंशोऽध्यायः—दितिके लिये कश्यपोपदिष्ट हरितोषण-परायण व्रतका विस्तृत विवरण.....	४९२-४९८
सप्तमः स्कन्धः.....	४९९-७०३
सप्तम स्कन्धकी कथाका सार.....	५०१-५०६
प्रथमोऽध्यायः—परीक्षित्-प्रश्नोत्तर प्रसङ्गमें श्रीशुकदेव द्वारा वर्णित नारद-युधिष्ठिर संवादमें ब्रह्मशापसे हिरण्यकशिपु आदिका जन्म-वृत्तान्त एवं कृष्ण-भक्त प्रह्लादके प्रति हिरण्यकशिपुका द्वेषादि वर्णन.....	५०७-५१८
द्वितीयोऽध्यायः—हिरण्याक्ष-वियोगके कारण विष्णुके प्रति क्रोधित हिरण्यकशिपु द्वारा लोगोंके धर्मनाशके लिये दानवोंकी नियुक्ति तथा तत्त्व-ज्ञानोपदेश द्वारा स्वजन्योंका शोक-निवारण	५१९-५३४

तृतीयोऽध्यायः—हिरण्यकशिपुकी कठोर तपस्याके प्रभावसे जगत्को सन्ताप, इससे देवताओंको त्रास और समस्त लोगोंके शान्ति विधानके लिये ब्रह्माके निकट आवेदन, ब्रह्माका हिरण्यकशिपुको साक्षात् दर्शन-दान, हिरण्यकशिपु द्वारा स्तुति एवं वर-प्रार्थना	५३५-५४४
चतुर्थोऽध्यायः—ब्रह्माजीसे वर-प्राप्त हिरण्यकशिपुकी समस्त लोकपालोंपर विजय एवं विष्णु-द्वेषके कारण उन सबको पीड़ित करना.....	५४५-५५५
पञ्चमोऽध्यायः—असद् गुरु-उपदेशोंका परित्याग करके प्रह्लादकी विष्णु-स्तवमें रति, हिरण्यकशिपुकी गज, सर्पादि द्वारा उनके प्राण-विनाशकी यत्नशीलता, सभी प्रयासोंकी व्यर्थता	५५६-५७०
षष्ठोऽध्यायः—गुरुके गृहकार्योंमें व्यस्त रहनेपर प्रह्लादका दैत्य-बालकोंके प्रति श्रीनारद-प्रोक्त परमोपदेश.....	५७१-५७९
सप्तमोऽध्यायः—प्रह्लाद महाराज द्वारा मातृगर्भवास-कालीन श्रीनारदसे श्रुत भगवत्-कथाका दैत्य बालकोंके निकट कीर्तन.....	५८०-५९३
अष्टमोऽध्यायः—स्वपुत्र प्रह्लादके वधके लिये उद्यत हिरण्यकशिपुका समस्त देवताओंके वन्दनीय, स्तम्भसे प्रकट श्रीनृसिंहदेव द्वारा वध.....	५९४-६११
नवमोऽध्यायः—श्रीनृसिंहदेवके कोपके शमनके लिये ब्रह्माके आदेशसे प्रह्लादका श्रीनृसिंह-चरणारविन्दमें नमन एवं स्तुति-स्तवन.....	६१२-६३१
दशमोऽध्यायः—प्रह्लादको वर प्रदान करके श्रीनृसिंहदेवका अन्तर्धान, भगवत्-कथा-प्रसङ्गक्रममें रुद्रके लिये श्रीभगवान्का अनुग्रह-वर्षण.....	६३२-६४७

एकादशोऽध्यायः—मनुष्योंके लिये साधारणरूपसे एवं विशेषरूपसे वर्णधर्म एवं स्त्रीधर्म का कथन.....	६४८-६५६
द्वादशोऽध्यायः—ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थीका विशेषरूपसे एवं चारों आश्रमोंका साधारणरूपसे वर्णन	६५७-६६३
त्रयोदशोऽध्यायः—साधक यतिका धर्म एवं अवधूतके इतिहास-कीर्तन द्वारा साधककी सिद्धावस्थाका वर्णन	६६४-६७४
चतुर्दशोऽध्यायः—गृहस्थका परमधर्म एवं देश, कालादि भेदसे विशेष-विशेष श्रेयस्कर धर्मोंका वर्णन.....	६७५-६८३
पञ्चदशोऽध्यायः—सर्वधर्म-सार-संग्रह करते हुए मोक्षका लक्षण	६८४-७०३
अष्टमः स्कन्धः.....	७०५-९४९
अष्टम स्कन्धकी कथाका सार	७०७-७१२
प्रथमोऽध्यायः—स्वायम्भुव मनुकी सुनन्दाके तीरपर तपस्या, समाधिस्थ मनुकी राक्षसादिके कवलसे भगवान् यज्ञ द्वारा रक्षा एवं द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ मनुका वृत्तान्त	७१३-७२०
द्वितीयोऽध्यायः—हथिनीके साथ जलक्रीडारत गजेन्द्रपर ग्राह द्वारा आक्रमण एवं गजेन्द्रका निज प्राणकी रक्षाके लिये श्रीहरिका स्मरण.....	७२१-७२८
तृतीयोऽध्यायः—ग्राह-ग्रस्त गजेन्द्रकी भगवत्-स्तुति एवं श्रीहरि द्वारा गजेन्द्र-मोक्ष.....	७२९-७३८
चतुर्थोऽध्यायः—ग्राह एवं गजेन्द्रका पूर्व वृत्तान्त, ग्राहकी गन्धर्वत्व तथा गजेन्द्रकी भगवत्-पार्षदत्व-प्राप्ति और गजेन्द्र-मोक्ष-लीला-श्रवणकी फल-श्रुति	७३९-७४४

पञ्चमोऽध्यायः—पञ्चम एवं षष्ठ मनुका वृत्तान्त तथा दुर्वासाके शापसे भ्रष्टश्री देवताओंकी क्षीरोदसागरमें श्रीहरि-स्तुति	७४५-७५८
षष्ठोऽध्यायः—क्षीरोदशायी श्रीहरिका देवताओंके समीपमें आविर्भाव, देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी भगवत्-स्तुति, समुद्र-मन्थनके लिये देवताओंको श्रीविष्णुका उपदेश एवं देव-दानवोंका उसके लिये उद्यम	७५९-७६८
सप्तमोऽध्यायः—समुद्र-मन्थन आरम्भ, आधार रहित मन्दारकी सलिल-मग्नावस्था, कूर्मरूपमें भगवान्का निज पृष्ठदेशपर मन्दार-धारण, मन्थनसे हलाहल विषकी उत्पत्ति, प्रजापतियों द्वारा शिव-स्तुति एवं शिव द्वारा हलाहल पान	७६९-७८१
अष्टमोऽध्यायः—समुद्र मन्थनसे विविध वस्तुओंकी उत्पत्ति, अमृत-कलश हाथमें लिये विष्णु-अंशसे उत्पन्न धन्वन्तरिका आविर्भाव, दैत्योंका अमृत-कलश लेकर प्रस्थान तथा असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्का मोहिनीरूप-धारण	७८२-७९२
नवमोऽध्यायः—अमृत-पात्रके कारण असुरोंमें कलह, मोहिनी-दर्शनसे असुरोंमें मोह एवं विवादकी शान्तिके लिये मोहिनीका मध्यस्थरूपमें वरण, मोहिनी द्वारा असुरोंकी वञ्चना तथा देवताओंमें सुधा-वितरण, कपट-देवता चिह्नधारी राहु द्वारा अमृत-पान और भगवान् द्वारा राहुके मस्तकका छेदन	७९३-८००
दशमोऽध्यायः—भगवान् विष्णुका अन्तर्धान, अमृत-प्राप्तिसे वञ्चित असुरोंका देवताओंके साथ युद्ध, दैत्यमायासे पराभूत देवताओंका विष्णु-स्मरण, भगवान्के आविर्भावसे आसुरी-मायाका नाश एवं कालनेमि इत्यादि असुरोंका विष्णु द्वारा वध	८०१-८१३

- एकादशोऽध्यायः**—श्रीभगवत्-कृपासे असुर-माया विमुक्त-
देवताओंका असुरोंके साथ युद्ध, इन्द्र द्वारा जम्भासुर,
नमुचि, बल एवं पाक नामक चार असुरोंका विनाश,
नारद द्वारा देवताओंको असुर-विनाशके लिये निषेध,
शुक्राचार्य द्वारा दैत्योंको पुनर्जीवन-दान ८१४-८२४
- द्वादशोऽध्यायः**—मोहिनीरूपके दर्शनकी आशासे महादेवकी
विष्णु-स्तुति, भगवान्का पुनः मोहिनीरूप-धारण,
इस दर्शनसे महादेवका मोहन एवं आत्मसंवरण,
भगवान् द्वारा शम्भुका गुणगान..... ८२५-८३७
- त्रयोदशोऽध्यायः**—सातवेंसे चौदहवें मनुका एवं उन-उन
मन्वन्तरोंमें भगवदवतारोंका विवरण ८३८-८४४
- चतुर्दशोऽध्यायः**—मनु, मनुपुत्र, ऋषि, देवता, देवराज
इत्यादिका कर्म-विवरण एवं श्रीहरिकी सनकादिरूपी
अवतार-लीला..... ८४५-८४७
- पञ्चदशोऽध्यायः**—बलि द्वारा विश्वजित्-यज्ञानुष्ठान,
यज्ञाग्निसे रथ, अश्वादिका उत्थान, बलि द्वारा इन्द्रपुरीपर
आक्रमण, बृहस्पतिके उपदेशसे देवताओंका स्वर्ग-त्याग
एवं प्रच्छन्नरूपसे अवस्थान, बलि द्वारा इन्द्रत्व ग्रहण
करके शताश्वमेध यज्ञ-सम्पादन ८४८-८५६
- षोडशोऽध्यायः**—देवताओंके अदर्शनसे देवमाता अदितिका
शोक एवं कश्यप द्वारा अदितिको पयोव्रतानुष्ठानका
उपदेश..... ८५७-८७०
- सप्तदशोऽध्यायः**—अदितिका हरिव्रत, श्रीहरिका
अदितिके समीप आविर्भाव, अदितिका भगवत्-स्तव,
भगवान् द्वारा अदितिके पुत्रत्वकी स्वीकृति,
अदितिके गर्भसे भगवान्का आविर्भाव एवं ब्रह्मा
द्वारा भगवत्-स्तव ८७१-८७८

अष्टादशोऽध्यायः—वामनरूपी भगवान्का आविर्भाव, कश्यप द्वारा वामनदेवके उपनयनादि संस्कार-सम्पादन एवं वामनदेवका बलि-यज्ञमें गमन	८७९-८८७
एकोनविंशोऽध्यायः—वामनदेवकी त्रिपादभूमि याचना, बलिकी प्रतिश्रुति, शुक्राचार्य द्वारा इसके निवारणकी चेष्टा	८८८-८९८
विंशोऽध्यायः—प्रतिज्ञा-भङ्गके भयसे बलि द्वारा अङ्गीकृत भूमिका वामनदेवको दान, देह-वर्द्धन एवं भूमि, अन्तरीक्ष, दिशाओं एवं स्वर्गका आच्छादन	८९९-९०८
एकविंशोऽध्यायः—भगवदादेशसे गरुड द्वारा बलिका बन्धन, वामनदेवकी बलिसे तृतीय पादविन्यासके स्थानकी प्रार्थना, असमर्थ बलिको पाताल-गमनार्थ भगवान्का आदेश	९०९-९१६
द्वाविंशोऽध्यायः—बलिका आत्म-समर्पण एवं भगवत्-स्तव, प्रह्लादका वामनदेवके समीपमें आगमन, बलि-पत्नी विन्ध्यावलीकी भगवत्-स्तुति एवं निज पतिके बन्धन- मुक्तिकी प्रार्थना, भगवान्के द्वारा बलिके समीप अवस्थान अङ्गीकार	९१७-९२६
त्रयोविंशोऽध्यायः—बलिका सुतल-प्रवेश, प्रह्लाद द्वारा भगवत्-स्तुति, प्रह्लादको सुतल जानेके लिये भगवान्का आदेश एवं इन्द्र द्वारा वामनदेवको स्वर्गमें लाना	९२७-९३४
चतुर्विंशोऽध्यायः—राजर्षि सत्यव्रतकी भगवदाराधना एवं मत्स्यदेवका उपाख्यान	९३५-९४९
नवमः स्कन्धः.....	९५१-१२०४
नवम स्कन्धकी कथाका सार.....	९५३-९६३

प्रथमोऽध्यायः—वैवस्वत मनुके वंशके विस्तारका वर्णन,
मनुकन्या इलाकी पुरुष-देह-प्राप्ति एवं पुनः स्त्रीत्व-
प्राप्तिके पश्चात् सोमराज-तनय बुधका पतिके रूपमें
वरण, महादेवकी कृपासे इलाको एक मास स्त्रीत्व
और एक मास पुंस्त्वकी प्राप्ति तथा पुरुरवाके
हाथोंमें राज्य समर्पण करके वनगमन ९६५-९७३

द्वितीयोऽध्यायः—वैवस्वत मनुकी पुत्रके लिये
भगवदाराधना तथा पुत्र प्राप्ति, मनुपुत्र पृषघ्न द्वारा
व्याघ्र-भ्रमसे गौ-हत्या, वशिष्ठ-शापसे शूद्रत्व-प्राप्ति
और भगवदाराधना, करूषकादि पाँच मनु-पुत्रोंके
वंशका विस्तार..... ९७४-९८१

तृतीयोऽध्यायः—मनुपुत्र शर्यातिकी सुकन्या नामकी
दुहिताका आख्यान, शर्यातिका वंश-विवरण तथा
ककुद्मी-तनया रेवतीका वृत्तान्त ९८२-९९०

चतुर्थोऽध्यायः—मनुके पौत्र नाभाग एवं अम्बरीषका
उपाख्यान, अम्बरीषके गृहमें दुर्वासाका आगमन एवं
क्रोध, सुदर्शन चक्रके भयसे दुर्वासाका पलायन,
दुर्वासाका नारायणके समीप गमन एवं भगवान् द्वारा
भक्तकी महिमाका कीर्तन..... ९९१-१००८

पञ्चमोऽध्यायः—अम्बरीषके द्वारा सुदर्शन-स्तव,
दुर्वासापर सुदर्शनकी कृपा, पुत्रके हाथमें राज्य
सौंपकर अम्बरीषका वन-गमन १००९-१०१६

षष्ठोऽध्यायः—अम्बरीषका वंश-वृत्तान्त, मनुपुत्र
इक्ष्वाकुको शत-पुत्र-प्राप्ति, विकुक्षिका 'शशाद'
नाम धारण, शशादसे मान्धातापर्यन्त वंश-परिचय,
मान्धाता-तनयापति सौभरि ऋषिका उपाख्यान..... १०१७-१०२९

सप्तमोऽध्यायः—मान्धाताका वंश-परिचय, त्रिशङ्कुको विप्रकन्या-हरण-दोषसे चण्डालत्वकी प्राप्ति, विश्वामित्र एवं देवताओंके प्रभावसे उनकी अवस्थाका वर्णन, त्रिशङ्कुपुत्र हरिश्चन्द्र एवं विश्वामित्रका उपाख्यान, वशिष्ठके साथ विश्वामित्रका कलह, हरिश्चन्द्र पुत्र रोहितका विवरण, हरिश्चन्द्रको स्व-स्वरूपकी प्राप्ति.....	१०३०-१०३६
अष्टमोऽध्यायः—रोहित-वंश-वर्णनक्रममें उनके ही वंशमें उत्पन्न सगर राजाका उपाख्यान, सगरपुत्रोंका भूमि-खनन, कपिलमुनिको अश्व-अपहरणकारी निश्चय करनेकी दुर्बुद्धिके कारण सगर-पुत्रोंका निधन, अंशुमान् एवं कपिलका वृत्तान्त, अंशुमान्को राज्य सौंपना, सगरको उत्तमा-गतिकी प्राप्ति.....	१०३७-१०४५
नवमोऽध्यायः—अंशुमान्के वंशका वर्णन, भगीरथ द्वारा गङ्गाको लाना एवं उनका वंश-वृत्तान्त, कल्माषपाद एवं खट्वाङ्ग राजाका उपाख्यान.....	१०४६-१०५८
दशमोऽध्यायः—खट्वाङ्ग राजाके वंशका निरूपण, श्रीरामचन्द्रका आविर्भाव एवं चरित्र-वर्णन.....	१०५९-१०७५
एकादशोऽध्यायः—श्रीरामचन्द्र द्वारा यज्ञारम्भ, श्रीसीतादेवीका निर्वासन, लवकुशका जन्म, श्रीरामचन्द्रका अप्राकट्य, लीला-प्रयोजनीयता एवं अध्याय-फलश्रुति	१०७६-१०८५
द्वादशोऽध्यायः—श्रीरामतनय कुश एवं इक्ष्वाकुपुत्र शशादका वंश-विवरण	१०८६-१०८९
त्रयोदशोऽध्यायः—निमि द्वारा यज्ञारम्भ एवं वशिष्ठको ऋत्विक्-पदपर वरणकी अभिलाषा, वशिष्ठकी स्वीकृति, वशिष्ठ एवं निमिके परस्पर अभिसम्पातसे दोनोंका देह-निपात, वशिष्ठका पुनर्जन्म, जनककी उत्पत्ति एवं उनके वंशका वर्णन.....	१०९०-१०९६

- चतुर्दशोऽध्यायः**—चन्द्रमा द्वारा बृहस्पतिकी पत्नी ताराका
अपहरण, ब्रह्मा द्वारा ताराका उद्धार, बुधका जन्म,
पुरूरवाकी उत्पत्ति एवं उर्वशीके सङ्गकी प्राप्ति,
उर्वशी द्वारा पुरूरवाका त्याग, पुरूरवा द्वारा उर्वशीकी
प्राप्तिके लिये गन्धर्वोपासना, कर्म-काण्डीय वेदत्रयका
आविर्भाव १०९७-११०८
- पञ्चदशोऽध्यायः**—पुरूरवाका वंश-वर्णन, जमदग्निकी
उत्पत्ति, उनके पुत्र परशुराम द्वारा कार्तवीर्यार्जुन-संहार
एवं पृथ्वीको क्षत्रियरहित करना ११०९-१११८
- षोडशोऽध्यायः**—परशुराम द्वारा माता एवं भ्राताओंकी
हत्या, कार्तवीर्य पुत्रों द्वारा जमदग्नि-वध, परशुरामका
इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित करना, जमदग्निकी
सप्तर्षित्व प्राप्ति, विश्वामित्रकी उत्पत्ति एवं उनके
वंशका वृत्तान्त १११९-११२८
- सप्तदशोऽध्यायः**—पुरूरवाके ज्येष्ठपुत्र आयुका
वंश-विवरण ११२९-११३२
- अष्टादशोऽध्यायः**—नहुषको सर्पत्वकी प्राप्ति,
ययातिका उपाख्यान, शर्मिष्ठा एवं देवयानीका कलह,
देवयानी-ययाति विवाह, ययातिको जरा-प्राप्ति
एवं पुत्रका यौवन-ग्रहण ११३३-११४५
- एकोनविंशोऽध्यायः**—ययातिका विषय-भोगोंसे निर्वेद,
बकरेके रूपकमें उपाख्यान एवं वैराग्यपूर्वक
भगवत्-भजन ११४६-११५३
- विंशोऽध्यायः**—ययाति-पुत्र पूरुका वंश-विवरण,
राजा दुष्मन्तका उपाख्यान एवं भरद्वाजकी
उत्पत्तिका विवरण ११५४-११६२

एकविंशोऽध्यायः—दुष्मन्तपुत्र भरतका वंश-विवरण, भगवद्-भक्त रन्तिदेवका यशोगान, क्षत्रिय-गर्ग-पुत्रको ब्राह्मणत्व प्राप्ति	११६३-११७०
द्वाविंशोऽध्यायः—दिवोदासके वंशका निरूपण, द्रौपदी एवं धृष्टद्युम्नकी उत्पत्ति, कुरुके जन्म एवं वंशका विवरण, शान्तनु-उपाख्यान, वेदव्यासका आविर्भाव, कौरव एवं पाण्डुके वंशका विवरण एवं मागध-वंश निरूपण	११७१-११८१
त्रयोविंशोऽध्यायः—अनु, द्रुह्य, तुर्वसु एवं यदुका वंश-विस्तार एवं ऋष्यशृङ्गका उपाख्यान	११८२-११८९
चतुर्विंशोऽध्यायः—विदर्भके तीनों पुत्रोंके वंशका निरूपण एवं भगवान् बलराम-कृष्णका आविर्भाव	११९०-१२०४





प्रस्तावना

परमाराध्य गुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवतम्के मूल श्लोक एवं श्लोकानुवाद सहित स्कन्ध (५-९) [द्वितीय-खण्ड] का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मेरे द्वारा श्रीमद्भागवतका माहात्म्य वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखलाना है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इसीलिए महाभागवतजन भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थराज भागवतकी आराधना किया करते हैं। भगवान् श्रीवेदव्यास जैसे भगवत्-स्वरूप महापुरुषको भी वेदोंका विभाग करने, निखिल श्रुतियोंके सार ब्रह्मसूत्र, महाभारत और पुराणोंकी रचना करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, अन्ततः श्रीमद्भागवतकी रचना करनेपर ही उन्हें शान्ति मिली। जिसमें सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक निखिल समस्याओंका समाधान है—उस श्रीमद्भागवतकी अपार महिमाको कौन वर्णन कर सकता है। यह परम मधुर भगवद्रसका छलकता हुआ अगाध-अनन्त महासागर है। इसीलिए भावुक भक्तजन इसमें अवगाहनकर परम मधुर भगवद्रसका पद-पदपर आस्वादन करते हैं। 'विद्याभागवतावधि' अर्थात् भागवत पराविद्याकी चरमसीमा है।

गरुड़पुराणमें लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थं विनिर्णयः।

गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थं परिबृंहितः॥

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है।

पद्मपुराणमें भी कथित है—

तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥

अर्थात् मैं अपार संसार सागरको पार करनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणानिधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक-अवतार श्रीमद्भागवतका भजन(सेवन) करता हूँ।

अतः इस ग्रन्थ-भागवतकी महिमा ब्रह्माजी और महादेव शङ्करजीकी तो बात ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी पूर्ण रूपमें नहीं वर्णन कर सकते।

आजकल भारत और समस्त विश्वके हिन्दी-भाषी लोगों द्वारा अधिकांशतः गीता-प्रेस, गोरखपुरसे अनुवादित श्रीमद्भागवतका ही पठन-पाठन होता है। किन्तु दूसरे किसी संस्थानसे प्रकाशित हिन्दीका भागवत-संस्करण उपलब्ध नहीं होता। गीता-प्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतका अनुवाद प्रधानतः प्रसिद्ध निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ब्रह्मलीन पं० श्रीशान्तनु-विहारीजी द्विवेदी, संन्यास ग्रहणके पश्चात्—श्रद्धेय स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीने किया है। अत्यन्त परितापका विषय है कि उनके इस अनुवादमें भक्तिपरक श्लोकोंका भी अनुवाद अद्वैतवादपरक रूपमें किया गया है। यत्र-तत्र सर्वत्र अद्वैतवादका मिश्रण है, जैसे—‘जीवका प्रधान लक्ष्य मुक्ति है’, ‘जीव और ब्रह्म एक हैं’, ‘मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्म हो जाता है’, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है इत्यादि।

किन्तु श्रीमद्भागवतके रचयिता महाभागवत वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परम गीयते।
तत्र ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारण परो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥

(श्रीमद्भा० १२/१३/१८)

अर्थात् श्रीमद्भागवत-पुराण निर्मल अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगसे रहित पुराण है। यह वैष्णव-मात्रका प्रिय है, किन्तु यह कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियोंको प्रिय नहीं है। इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण, पठन और मनन करनेवालोंको स्वयं-भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है तथा उसके आनुषङ्गिक-फलसे उनका माया-बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

और भी—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(श्रीमद्भा० १/१/२)

अर्थात् यह ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत महामुनि श्रीनारायण ऋषिके द्वारा चतुःश्लोकीके रूपमें रचित है। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सब प्राणियोंमें दयाविशिष्ट व्यक्तियोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी छलसे रहित (कैतवशून्य) परमधर्मकी व्याख्या हुई है। वही धर्म जीवका त्रिताप नाशक, कल्याणकारी और यथार्थ वस्तु-तत्त्वज्ञानप्रद है। जिस किसी समय सुकृतिवान् पुरुष इसके श्रवणमात्रकी इच्छा करते हैं, उसी समय ईश्वर अविलम्ब ही उसके हृदयमें आकर बद्ध हो जाते हैं। अतएव अब अन्य किसी साधन या शास्त्रसे प्रयोजन ही क्या है?

श्रीधरस्वामीपादने प्रस्तुत श्लोककी टीकामें 'प्रोज्झित कैतवः' पदमें कैतवः-शब्दका अर्थ मोक्षकी कामना तकको छोड़ना किया है। श्रीवेदव्यास और भी कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

(श्रीमद्भा० १/७/७)

अर्थात् इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति उदित हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय अनायास ही नष्ट हो जाते हैं।

‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य’ (श्रीमद्भा० १०/१४/३) श्लोकमें भी वर्णित है—निर्विशेष ज्ञानकी तो बात ही क्या, तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भी समस्त प्रकारके प्रयासोंको छोड़कर जो भगवान्की लीला-कथाओंका ही श्रवण करते हैं, भगवान् उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं। ब्रह्माजी आगे और भी कहते हैं—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/४)

अर्थात् हे प्रभो! परम कल्याण-स्वरूप आपको पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। जो लोग भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम करते हैं और दुःख भोगते हैं, उन्हें मात्र क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है। जैसे थोथी-भूसी कूटनेवालेका केवल श्रम ही होता है, उसे चावल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३/२९/१३)

अर्थात् निष्काम भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तकको ग्रहण नहीं करते। वे मुक्तिका तिरस्कारकर भक्तिको ही ग्रहण करते हैं और उसे ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं। आत्मा भगवान्का एक क्षुद्र अंश (विभिन्नांश) है। जीव क्षुद्र हैं, परमात्मा विभु हैं; जीव अनेक हैं, ईश्वर एक हैं; जीव मायाबद्ध होनेयोग्य हैं, ईश्वर मायापति हैं। जगत् मिथ्या नहीं, अनित्य है अर्थात् जगत् सत्यसङ्कल्प परमात्माके सत्यसङ्कल्पसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, किन्तु नाशवान् है। श्रीमद्भागवतमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है। भगवान् निराकार, अरूप, निर्गुण नहीं, अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। श्रीकृष्ण, नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीकान्त और राधाकान्त आदि उनके अनन्त नाम हैं। नवजलधरके समान उनका साँवला रूप है। जन्म, बालक्रीड़ा, असुर-संहार, रासलीला आदि उनकी अनन्त मधुर-मधुर लीलाएँ हैं। श्रीकृष्णके अंशों एवं अंशांश—कलाओंसे जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। अतः वे निराकार, निर्गुण आदि निर्विशेष तत्त्व कैसे हो सकते हैं? अतएव वैष्णवोंको गीताप्रेसके भागवत-संस्करणका पठन-पाठन आनन्दप्रद नहीं, अपितु इसके विपरीत दुःखदायी ही प्रतीत होता है।

यद्यपि गीताप्रेसके श्रीमद्भागवतकी अनुवाद-शैली सरल-सहज, बोधगम्य, मधुर और आकर्षक है, तथापि उसके पठन-पाठनसे जीवोंका आत्यन्तिक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् उन्हें भगवत्-प्रेम, सेवा, शुद्धभक्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। ऐसा विचारकर ही मैंने परम विदुषी, श्रीमद्भागवतपर पी०एच०डी० करनेवाली मधु बेटीसे कहा कि श्रीमद्भागवतका एक यथार्थ हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है और यदि तुम कर सको तो जगत्का परम कल्याण होगा। किन्तु वह हिन्दी अनुवाद विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता वैष्णवकुल-चूड़ामणि अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतके बँगला संस्करणके आधारपर ही होना चाहिये। इसके लिए उसने बँगला भाषाका अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने 'श्रील प्रभुपाद' के द्वारा

प्रकाशित संस्करणके आधारपर श्रीमद्भागवतका हिन्दी अनुवाद किया।
बेटी मधुके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुवादको मैंने स्वयं बहुत
सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया तथा उसमें संशोधनके साथ-साथ
विषयोंको वैष्णव-आचार्योंकी टीकाओंके आधारपर और भी स्पष्ट
किया।

श्रीमद्भागवतके इस हिन्दी-संस्करणका एक वैशिष्ट्य यह है
कि इसमें प्रत्येक स्कन्धकी कथाका सार दिया गया है जिससे
पाठकोंको उस स्कन्धकी विषय वस्तुसे अवगत होनेमें सुविधा
होगी। इसके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्लोकोंका अनुवाद अभिन्न
ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्थापित शक्ति-परिणामवाद
समन्वित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त पर आधारित है।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह
जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकों द्वारा उनका संशोधनपूर्वक
पाठ करनेसे हमलोग आनन्दित होंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थराजका पठन-पाठनकर
परमार्थ-पथपर अग्रसर हों—यही विनीत प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगोपाष्टमी

५२३ श्रीचैतन्याब्द

२६ अक्टूबर २००९ ई०

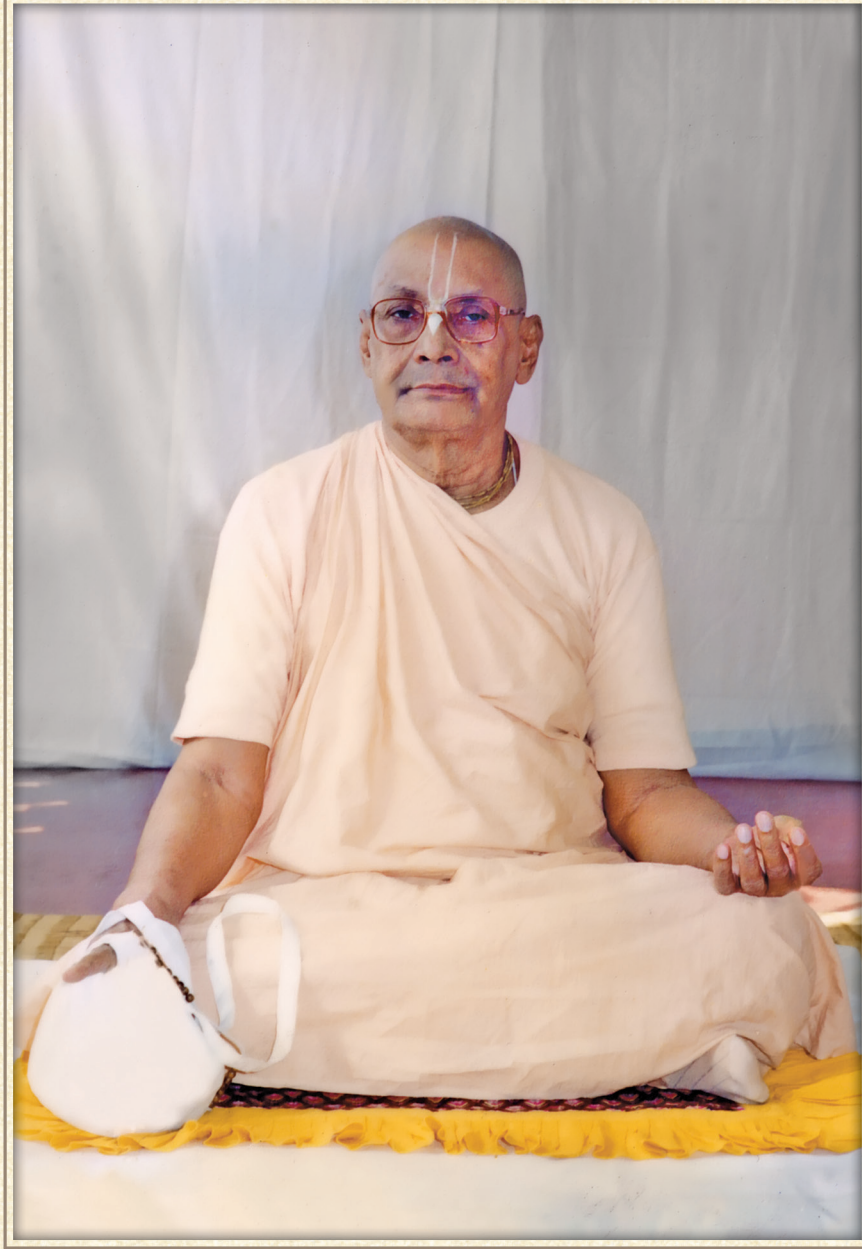
श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी

त्रिदण्डिभिक्षु

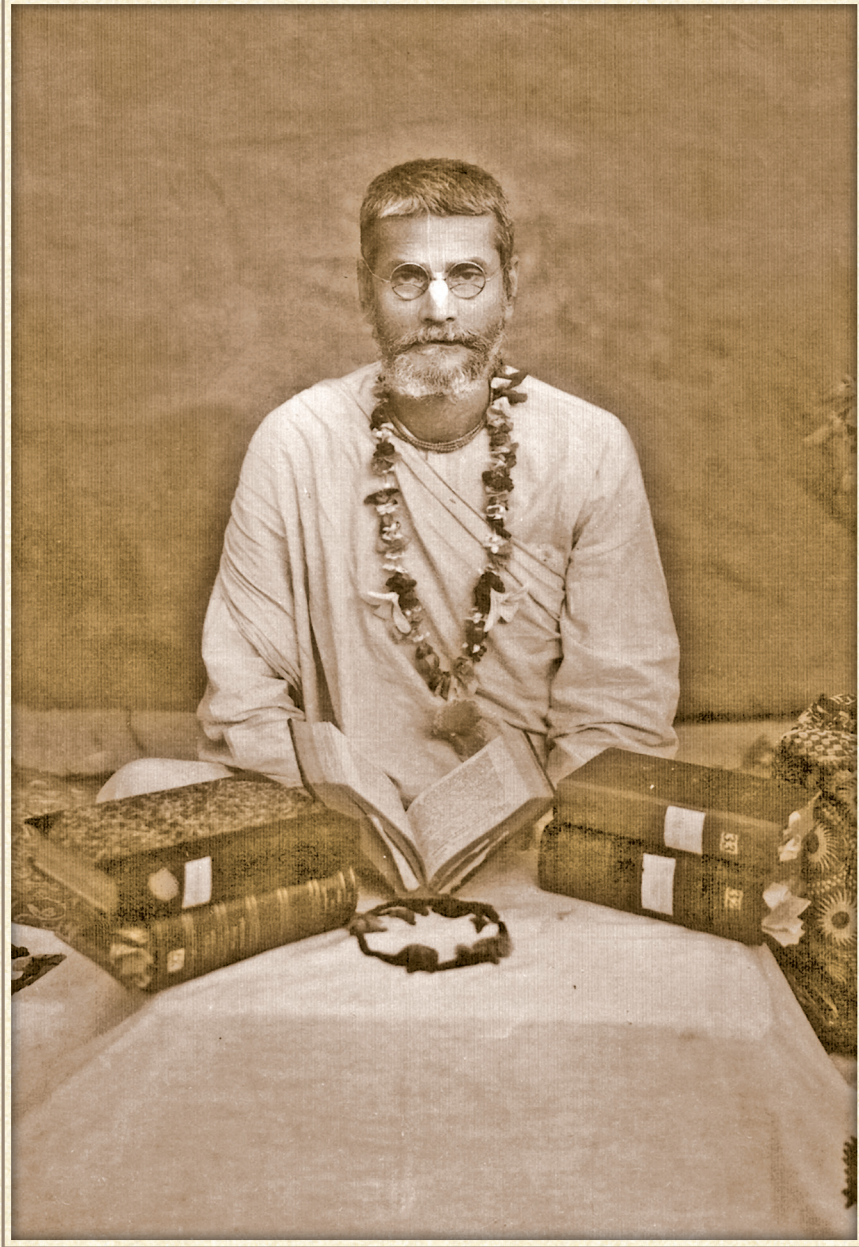
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण



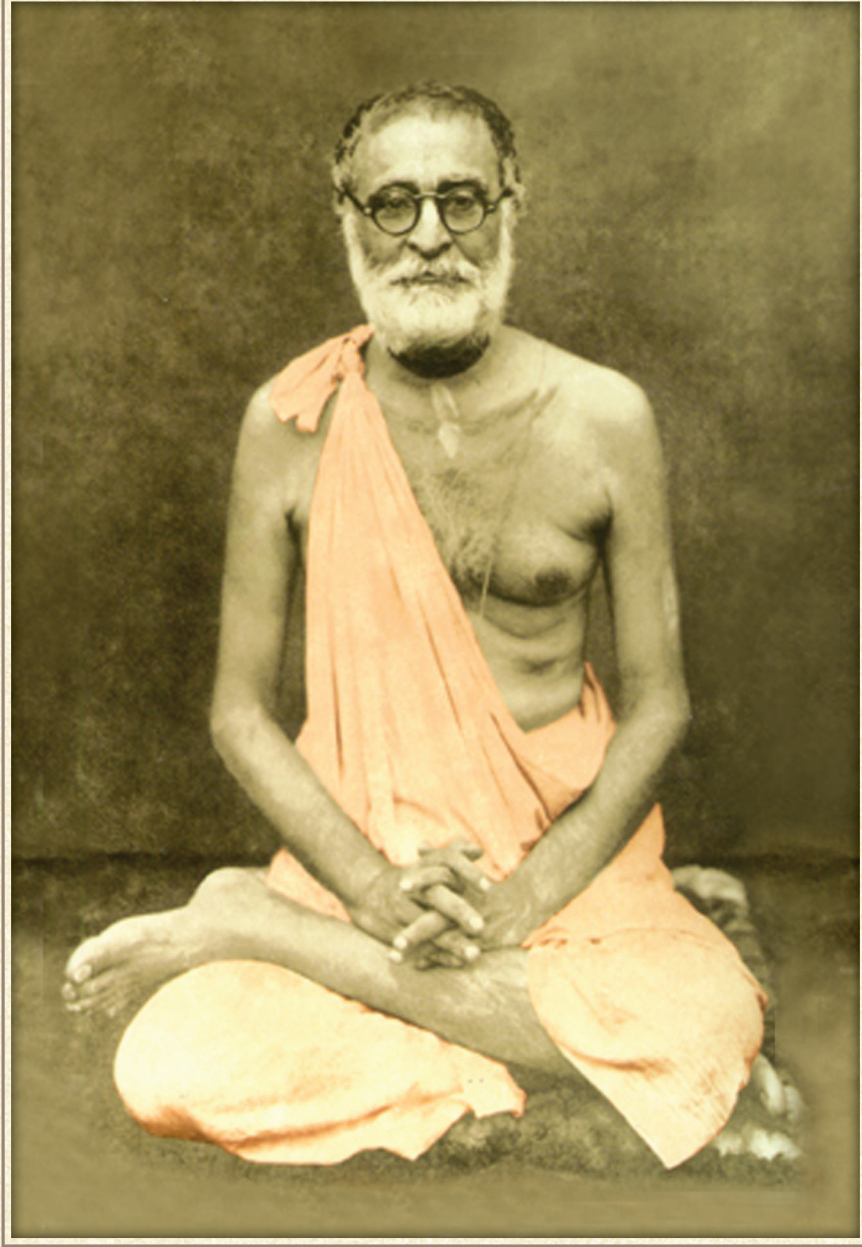
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज



ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज



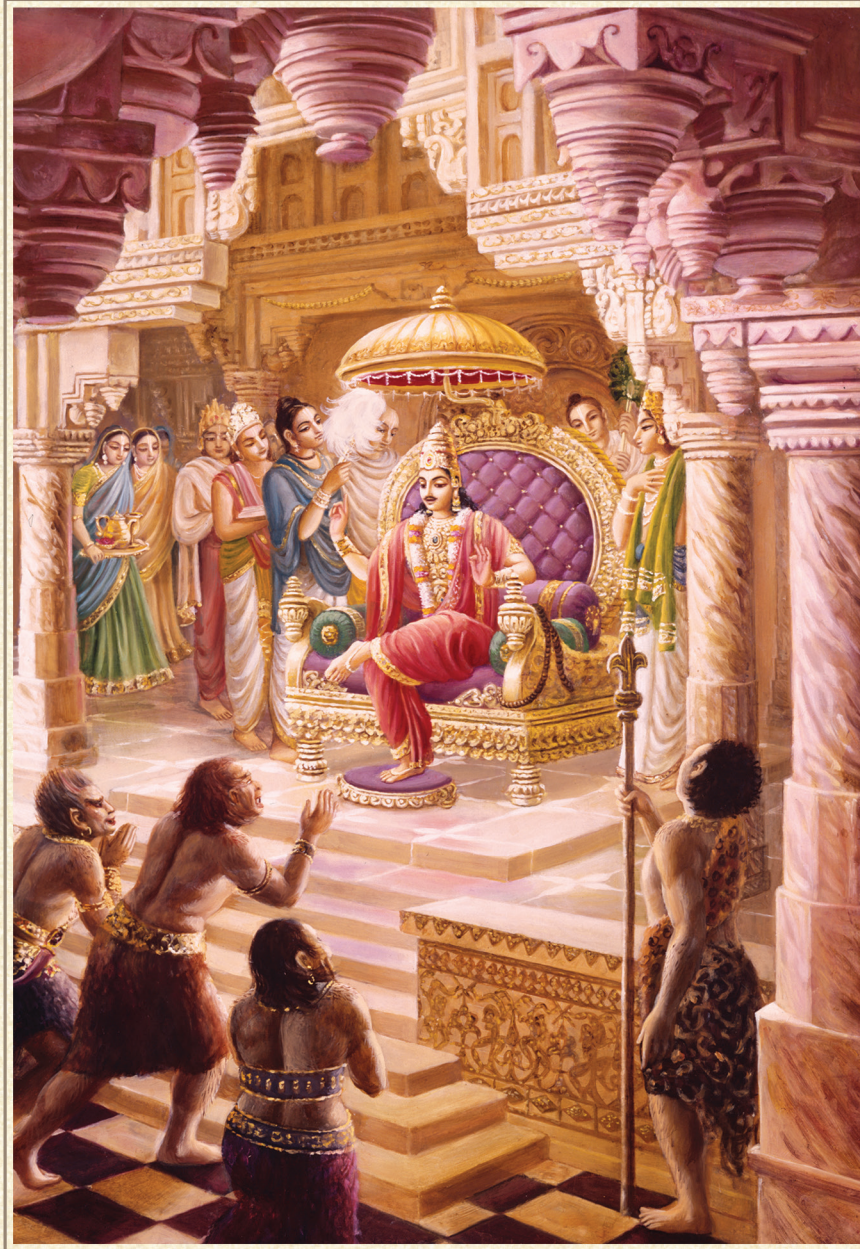
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज



ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'



रसिककुल चूड़ामणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर



यमराजके द्वारा अपने दूतोंके निकट भागवतधर्मके उत्कर्षका कीर्तन



श्रीनृसिंहदेव द्वारा हिरण्यकशिपुका वध



ग्राहकी गन्धर्वत्व एवं गजेन्द्रकी भगवत्-पार्षदत्व-प्राप्ति





पञ्चम स्कन्धकी कथाका सार

इस पञ्चम स्कन्धमें स्वायम्भुव मनुके द्वितीय पुत्र प्रियव्रतके वंशका वर्णन हुआ है। महाराज परीक्षितने जब यह सुना कि प्रियव्रतकी पहले ज्ञान-निष्ठा थी, बादमें विषय-भोग और अन्तमें मोक्ष-प्राप्ति हुई तो उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे जिज्ञासा की कि भगवद्-भक्तोंमें विषयासक्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तब श्रीशुकदेवने इसके उत्तरमें कहा कि भगवद्-भक्ति अप्रतिहता (अवरोधरहित) है। जितेन्द्रिय व्यक्तिके लिए गृहस्थाश्रम कोई भी अनिष्ट नहीं कर सकता। अजितेन्द्रिय वन भी चले जायें तो भी उनकी संसार-वासनाकी निवृत्ति नहीं हो सकती। मनुके वन चले जाने पर प्रियव्रतने ब्रह्माजीके आदेशसे राज्यका भार ग्रहण किया। प्रियव्रतके दस पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। इन्हींके रथाग्रचक्रसे सप्तद्वीप एवं उनकी परिखा अर्थात् उनके चारों ओर खाई-स्वरूप सप्त-समुद्रकी उत्पत्ति हुई। उनके तीन पुत्रोंने चतुर्थाश्रमका (यति धर्मका) अवलम्बन किया एवं शेष सात पुत्र सात द्वीपोंके अधीश्वर हुए। उनकी दूसरी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न तीन पुत्र मन्वन्तराधिपति थे।

महाराज प्रियव्रत श्रीनारदजीके उपदेशसे परमार्थ-साधनमें लग गये और उनके पुत्र आग्नीध्र राजपद पर अधिरूढ़ हुए। वे पुत्रकी कामनासे तपस्या करने लगे। तब ब्रह्माजीने 'पूर्वचित्ति' नामकी एक अप्सराको उनके समीप भेजा। उस अप्सराके गर्भसे आग्नीध्रने नौ पुत्र उत्पन्न किये और उनको नौ वर्षोंका अधिपति बना दिया। आग्नीध्र भोगोंसे अतृप्त थे, इसलिए सर्वदा उस अप्सराका ही चिन्तन करते रहते। अतः मृत्युके बाद उनकी गति अप्सरा लोकमें ही हुई।

आग्नीध्रके पुत्र नाभिने पुत्रकी कामनासे यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिकी आराधना की, तब भगवान् अपने अंशसे ही नाभिके पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए। रूप एवं गुणमें उनके समान कोई भी न था, इसलिए उनका नाम पड़ा 'ऋषभ'। उन्होंने लोक-शिक्षाके लिए

गुरुकुलमें वास किया तथा गुरुकी आज्ञासे समावर्त्तन करके इन्द्र-प्रदत्त 'जयन्ती' नामकी कन्याके गर्भसे सौ पुत्रोंको उत्पन्न किया। इनमें भरत ज्येष्ठ थे और शेष सभीमेंसे नौ जन महाभागवत थे। विषय भोग तो विष्ठाभोजी शूकरगण भी करते हैं, अतः यह मनुष्योंका कर्त्तव्य नहीं है। मनुष्योंकी मुक्ति समस्त प्राणियोंके कल्याणमें रत रहनेसे, देह-गृहादिमें आसक्ति-रहित होनेसे एवं महत् सेवासे प्राप्त होती है। स्त्री-सङ्गसे संसार-बन्धन प्राप्त होता है। जो भक्तिमार्गका पथ बतलाकर अपने आश्रितजनोंको संसारसे मुक्त करानेकी चेष्टा नहीं करते, वे पिता, माता, देवता, भक्त अथवा स्वजनपद-वाच्य नहीं हो सकते। परमहंस गुरुदेव एवं भगवान्में भक्तिसे द्वन्द्व-सहिष्णुता, सर्वत्र सम-दर्शन, कृष्णके लिए अखिल चेष्टा, देह-गृहादिमें आसक्ति-रहितता एवं व्यर्थ वार्त्तालापका परित्याग एवं आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मका बीज 'अविद्या' विनष्ट हो जाती है। मन ही जीवको काम-क्रोधका दास बना देता है। भक्ति सुदुर्लभ है। जो भक्ति-सिद्धि आदिकी कामनाका त्याग करके केवल भक्तिकी अभिलाषा करते हैं, भगवान् उनको ही भक्ति दान करते हैं। ऋषभदेवकी पारमहंस्य लीलाका श्रवण करके जैन राजा अर्हतने शिक्षा ग्रहण की, बादमें दैवी मायासे प्रेरित होकर पाखण्ड धर्मका प्रवर्त्तन किया। ऋषभदेवने दावानलमें देह-त्याग करके योगियोंको देह-त्यागका प्रकार सिखाया था।

ऋषभदेवके अभिप्रायानुसार भरतने राज्य ग्रहण करके यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिको प्रसन्न करनेका प्रयास किया। इससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया और वासुदेवमें उनकी भक्ति दृढ़ हो गयी। राज्य-भोगादि प्रारब्ध कर्म समाप्त होनेपर उन्होंने पुलहाश्रममें प्रस्थान किया और विष्णुकी आराधनामें लग गये।

एक दिन भरत महाराज नदीमें स्नानके पश्चात् 'प्रणव' का जप कर ही रहे थे कि उन्होंने देखा, एक पूर्ण गर्भवती हिरनी जलपान कर रही है। हठात् सिंहकी गर्जना हुई, जिसे सुनकर वह भयसे विह्वल हो गयी और छलांग मारकर दूसरे पार जानेके लिए उद्यत हुई। इतने ही में उसका गर्भस्थ शिशु जलमें गिर पड़ा और उस

हिरनीने किनारे पर गिरकर प्राण त्याग दिये। महाराज भरत दयापरवश होकर उस मातृहारा शिशुको अपने आश्रममें ले आये और उसका लालन-पालन करने लगे। उस शिशुके प्रति उनकी आसक्ति क्रमशः बढ़ती गयी। वे समस्त साधन-भजन त्याग करके उसकी सेवामें ही सम्पूर्णरूपसे लग गये। एक दिन उस मृगशिशुके दिखायी न देनेपर उन्होंने 'हा मृग, हा मृग' कहते-कहते अकस्मात् प्राण त्याग दिये।

मृगके चिन्तनके परिणामस्वरूप वे दूसरे जन्ममें मृगत्वको प्राप्त हुए, परन्तु पूर्व जन्मकी सुकृतिके बलसे उनकी पूर्वस्मृति विनष्ट नहीं हुई। आत्मकृत विकर्मके कारण विलाप करते-करते उन्होंने मृग-ममताका त्याग कर दिया तथा सदा-सर्वदा हरिनामसे मुखरित पुलस्त्याश्रममें प्रस्थान किया। कर्म-क्षय होनेपर मृग-देहका त्याग करके सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण-पुत्रके रूपमें जन्म ग्रहण किया। पूर्वजन्मका सम्पूर्ण वृत्तान्त स्मृत था कि किस प्रकार सङ्ग-दोषके कारण अधःपतन हो गया था। अतः इस जन्ममें वे इसी भयसे लोगोंकी दृष्टिमें जड़ एवं उन्मत्तके समान आचरण करते, सर्वदा हरि-चिन्तनमें निमग्न रहते तथा कभी भी भगवत्-विमुखोंका सङ्ग न करते। उनको अस्वाभाविक जानकर लोग उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करते, परन्तु वे कभी भी उनके प्रति भ्रूक्षेप तक न करते। पिताकी मृत्युके बाद वैमात्रेय भ्राताओंने (सौतेली माताके पुत्रोंने) उनको कदर्य (निम्न) कार्योंमें नियुक्त कर दिया और ऐसा ही कदर्य भोजन भी दिया, लेकिन वे इन सबसे विचलित नहीं हुए। एक दिनकी बात है, वे जब शस्य-रक्षाका कार्य कर रहे थे कि उस घोर रात्रिमें किसी तस्करके अनुचर उनको उठा ले गये और भद्रकालीके सम्मुख उनकी बलि देनेके लिए उद्यत हो गये। देवी भगवद्-भक्तके प्रति ऐसे अत्याचारको देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं और उन्होंने उन सभी तस्करोंका संहार कर डाला।

वे प्रतिमाके पूजा-स्थलसे लौट ही रहे थे कि राजा रहूगणकी शिबिका वहन करनेके लिए एक शिबिका-वाहकका अभाव था, उस राजाके अनुचर दैवक्रमसे वहीं उपस्थित हो गये और भरतजीको

शिविका-वहनमें लगा दिया। भरतजी कहीं किसी जीवकी हत्या न हो जाय, इस भयसे बड़ी सावधानीके साथ अपना पदक्षेप कर रहे थे (कदम बढ़ा रहे थे), जिससे अन्यान्य वाहकोंके साथ उनका गति-वैषम्य हो रहा था। इस कारण शिविका भी आन्दोलित हो रही थी (हिल-डुल रही थी)। राजा रहुगण क्रोधित हो गया और कटु वाक्य कहने लगा। तब भरतजीने तत्त्वपूर्ण वचनोंके द्वारा राजा रहुगणको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। राजा रहुगणकी चेतना उदित हो गयी। भरतको महाभागवत जानकर वे उनके शरणागत हो गये।

महर्षि भरतने राजाके वैराग्यकी दृढ़ताके लिए भवाटवीका वर्णन किया, जिससे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके राजा रहुगणने देहमें आत्मबुद्धिका परित्याग किया और निज अपराधके लिए क्षमा प्रार्थना की।

भवाटवीका वर्णन रूपक बाँधकर किया गया है। यह महाराज परीक्षितके लिए दुर्बोध्य था। इस कारण श्रीशुकदेव मुनिने उसके वास्तव अर्थका वर्णन किया। संसार-अनुभूतिके द्वार-स्वरूप पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं दस्युके समान मन अजितेन्द्रिय व्यक्तिको विषय-भोगोंमें लिप्त कराके उसके भगवदाराधनारूप परमधनका अपहरण कर लेते हैं। कुटुम्बी-जन सियार-भेड़ियेके समान मनुष्यके यत्नपूर्वक रक्षित द्रव्यका अपहरण करके अपने भोगोंमें व्यय कर देते हैं। गृहस्थाश्रम कर्मक्षेत्र है, उसका कर्मबीज सम्पूर्णरूपसे नष्ट नहीं होता। तात्कालिक इन्द्रिय-सुखमें प्रमत्त गृहासक्त व्यक्ति असत् कर्ममें रत रहकर भगवत् श्रीचरणोंको विस्मृत कर लेते हैं। कर्मके साक्षीस्वरूप जो देवतागण विराजमान हैं, वह उन्हें देख नहीं पाता। असत्-सङ्गके कारण वे पाखण्ड-मतका आश्रय कर लेते हैं, जिससे वे इस कालमें तो कष्ट पाते ही हैं, परकालमें भी कष्ट प्राप्त करते हैं। अर्थके लिए जीव आत्मीयोंको क्लेश प्रदान करनेमें कोई कसर नहीं छोड़ते और आत्मीयगण व्याकुल रहकर बड़ी अशान्तिसे जीवन यापन करते हैं।

प्रियव्रतके पौत्रोंने जिन नव वर्षका आधिपत्य ग्रहण किया था, वे नव वर्ष जम्बूद्वीपके अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त भूमण्डलमें और भी छह द्वीप हैं। जम्बूद्वीप दस लाख योजन विस्तृत है।

जम्बूद्वीपके अन्तर्गत प्रत्येक वर्षका परिमाण (भद्राश्व एवं केतुमालके अतिरिक्त) नौ सहस्र योजन है। आठ सीमा-निर्देशक पर्वतोंके द्वारा नौ वर्ष विभक्त हैं। विष्णुपादसे उद्भूत गङ्गा प्रत्येक वर्षमें ही बहुत-सी धाराओंमें प्रवाहित हो रही है। भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है, अन्य आठ वर्ष स्वर्गसुखभोगियोंके भोगस्थान हैं। नौ वर्षोंमें ही श्रीहरि नानारूपोंमें विराजमान रहकर पूजित होते हैं।

इलावृत-वर्षमें वैष्णव-प्रवर शम्भु पार्वतीके साथ श्रीहरिकी सङ्कर्षण-मूर्तिकी उपासना करते हैं। इधर यदि कोई अन्य पुरुष जाता है, तो भवानीके शापसे वह स्त्रीत्वको प्राप्त हो जाता है।

भद्राश्व-वर्षके अधिपति भद्रश्रवा भगवान्की हयग्रीव मूर्तिकी उपासना करते हैं। हरिवर्षमें भगवान् नृसिंहदेव अवस्थान करते हैं।

केतुमाल-वर्षमें भगवान् कामदेव-मूर्तिमें विराजमान हैं। रम्यक् वर्षमें मनु मत्स्यदेवकी उपासना करते हैं।

हिरण्मय-वर्षमें भगवान् कूर्ममूर्तिमें विराजमान हैं। उत्तर कुरुवर्षमें श्रीवराहदेव कुरुखण्डवासियोंके उपास्यरूपमें अवस्थान कर रहे हैं।

किम्पुरुष-वर्षवासी भगवान् रामचन्द्रकी उपासना करते हैं।

देवर्षि नारद भारतवर्षीय प्रजाजनोंके साथ परम-पुरुष भगवान्की उपासना करते हैं। यह वर्ष अन्यान्य वर्षोंकी अपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मलोकसे भी श्रेष्ठ है। कारण यह है कि ब्रह्मलोकसे भी जीवका पुनरावर्तन होता है, किन्तु इस भारतवर्षमें अपने वर्ण तथा आश्रम-धर्मको भगवान् विष्णुमें समर्पण कर देनेपर पुनरावर्तन नहीं होता। इस भारतवर्षमें जन्म ग्रहण करके भी जो भगवत्-सेवासे विरत रहता है, उसकी अवस्था अति शोचनीय है।

प्लक्ष, शाल्मली, कृश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर सभी द्वीपोंमें ही सात-सात वर्ष हैं। सभी द्वीप एक-एक समुद्रसे परिवेष्टित हैं। प्रत्येक वर्षमें भगवान् विष्णु विभिन्न मूर्तियोंमें पूजित होते हैं।

भू एवं भुवर्लोकके अन्तःस्थलमें सूर्यदेव अवस्थित हैं। इस स्थानका परिमाण पच्चीस कोटि योजन है। सौर-रथके संवत्सर नामक चक्रमें कालचक्र प्रतिष्ठित है। अनुष्टुपादि सात छन्द सूर्यके अश्व हैं। रथके युगकी लम्बाई नौ लाख योजन है। इसी रथमें अरुणदेव सातों

अश्वोंको जोतकर सूर्यको वहन करते हैं। आदित्यदेव नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तारवाले भूमण्डलका दो हजार योजनसे अधिक स्थान एक क्षणमें ही भ्रमण कर लेते हैं।

सूर्यमण्डलसे एक लाख योजन ऊपरमें चन्द्र ग्रह है। इसके प्रत्येक दो लाख योजन ऊपरी भाग पर अन्यान्य ग्रह अवस्थित हैं। ग्रहोंके ऊपरी भाग पर सप्तर्षि-मण्डलसे तेरह लाख योजनकी दूरी पर विष्णुका परम पद है। वहाँ पर इन्द्र, कश्यप, प्रजापति, अग्नि, धर्म इत्यादि द्वारा बहु-सम्मानित होकर ध्रुव विराजमान हैं। कालचक्रस्थ ज्योतिर्गण ध्रुवकी चारों ओर परिक्रमा करते हैं।

सूर्य एवं चन्द्रमण्डलके अधोदेशमें राहू नामक ग्रहकी अवस्थिति है। सूर्य और चन्द्रमाके अन्तरालमें (मध्यमें) राहूकी अवस्थिति 'ग्रहण' कही जाती है। ऋजु (सीधे-सरल) एवं वक्र भावसे उसके अवस्थान-क्रममें सर्व-ग्रास एवं अर्ध-ग्रास ग्रहण होता है। राहू ग्रहके दस लाख योजन नीचे सिद्ध, चारण, विद्याधर, यक्ष एवं राक्षसोंका वासस्थान है। इसके नीचे पृथ्वीके अधोदेशमें प्रत्येक दस लाख योजनकी दूरी पर सप्त पाताल वर्तमान हैं। वहाँ सूर्यालोकके प्रवेश न रहने पर भी नागोंके मस्तक पर स्थित मणियोंकी छटासे अन्धकार दूर हो जाता है। अतलमें मयदानवके पुत्र बलका वास है, वितलमें हरगौरीका वासस्थान है। सुतलमें महाभागवत बलि अवस्थान करते हैं। तलातलमें मयदानवका वास है। इसके नीचे महातल, रसातल एवं पातालमें सर्पोंका आवास-स्थल है।

पातालके मूलदेशमें भगवान् अनन्तदेव विराजमान हैं। उनके फण पर समग्र ब्रह्माण्ड सरसोंके दानेके समान अवस्थित है। उनके ललाट-देशसे संहारकारी रुद्रकी उत्पत्ति हुई है। ये अनन्तदेव समस्त जीवोंका सम्यक् रूपसे आकर्षण करते हैं, इस कारण उनका नाम सङ्कर्षण है। उनके ईक्षण-प्रभावसे प्रकृतिकी त्रिगुणात्मक सृष्टि, स्थिति और पालनादि कार्य सम्भव होते हैं, उनके प्रभाव अर्थात् महिमाका अन्त नहीं है।



॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गै जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

पञ्चमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

प्रियव्रत-चरित्र

श्रीराजोवाच—

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने।

गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे मुने (श्रीशुकदेव गोस्वामी)! महाराज प्रियव्रत तो आत्मानन्दमें सदैव विभोर रहनेवाले परम भागवत थे, फिर वे गृहस्थ धर्ममें किस प्रकार लीन हो गये? गृह तो कर्मबन्धन एवं स्वरूप-विस्मृतिका (स्वरूप-ज्ञानके आवरणका) मूल कारण है ॥ १ ॥

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ।

गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ मुने! ऐसे आत्माराम, फलाभिसन्धिरहित अर्थात् कर्मफलकी कामनाओंसे रहित निसङ्ग महापुरुषोंका गृहस्थाश्रममें आसक्त होना निश्चय ही उचित नहीं है ॥ २ ॥

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमः श्लोकपादयोः।

छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मर्षे! जिनका चित्त पवित्रकीर्ति भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी शीतल छायाका आश्रय लेकर प्रशान्त हो गया है, ऐसे महाभागवतजनोंकी मति निश्चय ही पत्नी, पुत्र, गृह, कुटुम्बादिमें कभी स्पृहा (आसक्ति) रख नहीं सकती ॥ ३ ॥

संशयोऽयं महान् ब्रह्मन् दारागारसुतादिषु।
सक्तस्य यत् सिद्धिरभूत् कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन्! हमें इस बातका बड़ा संशय है कि स्त्री, पुत्र एवं गृहादिमें आसक्त रहकर भी महाराज प्रियव्रतने किस प्रकार भगवत्-सामीप्यादि-रूप सिद्धि प्राप्त कर ली और किस प्रकार उनकी श्रीकृष्णमें अविचल भक्ति बनी रही ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच—

बाढमुक्तं भगवत उत्तमःश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस
आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां
शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! आपने जो कहा वह सत्य है, किन्तु जिनका चित्त उत्तमःश्लोक (शिव, ब्रह्मादि द्वारा वन्दनीय) श्रीहरिके चरणकमलोंके मकरन्द-रसमें (कमलके समान सुगन्धित, सुकुमार एवं लावण्यादि शोभायुक्त चरणयुगलके भक्तिरसरूप मधुप्रवाहमें) आविष्ट हो जाता है, वे परमहंस भागवतजन प्राणोंकी अपेक्षा प्रिय श्रीवासुदेवकी कथाको ही परम पदवी (परम कल्याणमय मार्ग)के रूपमें स्वीकार करते हैं, किञ्चित् संसार-भोगादि विघ्न-बाधाओंके कारण रुकावट आ जानेपर भी वे परमहंसोंके प्रिय श्रीवासुदेव भगवान्की लीला-कथारूपी पदवीको प्रायः नहीं छोड़ते ॥ ५ ॥

यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो
नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण
दीक्षिष्यमाणः अवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया
स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन
समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद् यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं
तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः ॥ ६ ॥

हे राजन्! मनुके पुत्र राजकुमार प्रियव्रत भगवद्भक्त थे। देवर्षि नारदके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे उन्हें परमार्थ तत्त्वका सहजमें

ही बोध हो गया था। वे आत्मतत्त्व चिन्तनके बाद सच्चिदानन्द लक्षणोंसे युक्त वास्तव-वस्तु तत्त्व अर्थात् भगवान्‌के सम्बन्धमें दिव्य ज्ञानरूपी दीक्षा प्राप्त करनेका संकल्प लेनेवाले ही थे, उसी समय पिता मनुने प्रियव्रतको शास्त्रोक्त श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न देखकर राज्य शासनके लिए आज्ञा दी, किन्तु राज्याधिकार प्राप्त करके असत् काम-क्रोधादिसे अपना पराभव अङ्गीकार करना ही पड़ता है, यह विचार करके उन्होंने अपने पिताकी आज्ञाका पालन नहीं किया, जब कि यह आज्ञा उल्लङ्घनके योग्य नहीं थी॥६॥

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसित
सकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः
स्वभवनादवततार ॥ ७ ॥

जो सत्त्वादि गुणोंके द्वारा विविध सगोंकी सृष्टि करनेवाले हैं और इस जगत्‌के कल्याणके विषयमें निरन्तर सोचते हुए जगत्‌के सभी लोगोंके अभिप्रायको जानते हैं, वे परम शक्तिशाली आदिदेव ब्रह्मा मूर्तिमान् समस्त वेदों एवं अपने पार्षदों मरीचि आदि ऋषियोंको साथ लेकर सत्यलोकसे प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुए॥७॥

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथम-
मरपरिवृढैरभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्य-
चारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥ ८ ॥

जब ब्रह्मा हंसवाहनपर सवार होकर नीचे उतरने लगे, तब आकाशमें उनकी प्रभा तारोंके पति चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थी। पथमें यहाँ-वहाँ विमानोंपर सवार इन्द्रादि प्रधान देवता उपहारोंके साथ उनकी पूजा कर रहे थे। सिद्ध, गन्धर्व, साध्य, चारण और मुनि उनका यशोकीर्तन कर रहे थे। इस प्रकार सर्वत्र आदर सम्मान पाते हुए एवं गन्धमादन पर्वतकी घाटीको प्रकाशित करते हुए ब्रह्मा प्रियव्रतके पास पहुँचे॥८॥

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः
सहसैवाभ्युत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥ ९ ॥

वहाँ गन्धमादनकी घाटीमें नारदने एकान्तमें प्रियव्रतको आत्मतत्त्वका
उपदेश प्रदान किया था और मनु भी अपने पुत्रको ले जानेके
लिए वहीं उपस्थित थे। उसी समय देवर्षि नारदने ब्रह्माके वाहन
हंसको देखा, तो समझ गये कि उनके पिता ब्रह्माका शुभागमन
हुआ है। वे स्वायम्भुव मनु और प्रियव्रतके साथ आसनसे तुरन्त
खड़े हो गये और हाथ जोड़कर परम आदरके साथ ब्रह्माकी
स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतार-
सुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच ॥ १० ॥

हे भारत! नारदने विधि-विधानसे पूजाकर मधुर स्तुति-वचनोंसे
उनके गुण, यश और उत्कृष्टताका वर्णन किया। तब आदिपुरुष
ब्रह्मा प्रसन्न होकर प्रियव्रतकी ओर मधुर-मन्द मुसकानसे देखते
हुए कहने लगे ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच—

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्।

वर्यं भवस्ते तत एष महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ ११ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे वत्स प्रियव्रत! मैं तुम्हें सत्य सिद्धान्त बतला
रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो—तुम, तुम्हारे पिता, तुम्हारे गुरु देवर्षि नारद
तथा मैं हम सभी परतन्त्र हैं और परम स्वतन्त्र परमेश्वरकी आज्ञाका
पालन करते हैं। इन्द्रियज ज्ञानके द्वारा उन अप्रमेय श्रीभगवान्को कभी
जान नहीं सकोगे—इसलिए उनपर कभी दोषारोपण मत करना ॥ ११ ॥

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा न योगवीर्येण मनीषया वा।

नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥ १२ ॥

कोई भी जीव तपस्या, ज्ञान, उत्तमयोग-प्रभाव, सामादि बुद्धि-बल,
अर्थ, धर्म अथवा अन्य किसी भी बलवान् शक्तिका आश्रय

लेकर अथवा निज शक्तिके द्वारा उनके विधानको टाल नहीं सकता ॥१२॥

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं शोकाय मोहाय सदा भयाय ।

सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥१३॥

हे वत्स ! समस्त जीव अव्यक्त ईश्वर द्वारा प्रदत्त देह धारणकर जन्म, मरण, शोक, मोह, भय, सुख, दुःखका भोग करते हैं तथा कर्म करनेको बाध्य होते हैं ॥१३॥

यद्वाचि तन्त्र्यां गुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।

सर्वे वहामो बलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥

हे वत्स ! जिस प्रकार नाकमें रस्सीसे नथे हुए बैल आदि चार पैरवाले पशु द्विपद मनुष्योंकी इच्छाके अधीन होकर उनका बोझ ढोते हैं, उसी प्रकार हे वत्स ! हम भी भगवान्की वेदवाणी रूप रस्सीसे सत्त्वादि गुणोंके भेदसे अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंको करनेके कारण ब्राह्मण, क्षत्रियादि नाम रूपी ग्रन्थिके सुदृढ़ बन्धनमें बँधकर भगवान्की इच्छानुसार ही कर्म करते हैं ॥१४॥

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्धहेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।

आस्थाय तत् तद्यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥१५॥

हे प्रियव्रत ! कर्मफल-प्रदाता भगवान् हमारे गुण-कर्मोंके अनुसार हमें देव, तिर्यकादि शरीर प्रदान करते हैं। उन-उन देहोंको स्वीकार करके हम ईश्वर प्रदत्त सुख-दुःखको उनकी इच्छानुसार उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति आँखवाले पुरुषके निर्देशोंको प्राप्तकर उसका अनुसरण करता है ॥१५॥

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात् स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।

यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान् न वृङ्क्ते ॥१६॥

हे प्रियव्रत ! मुक्त पुरुष कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धिसे रहित होकर अपने प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखका भोग उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार निद्रा टूटनेपर मनुष्य स्वप्नमें देखे हुए विषयको

स्मरण करता है, किन्तु वह उन गुण-कर्म और वासनाओंको स्वीकार नहीं करता, जिनके कारण दूसरे-दूसरे देह प्राप्त करने पड़ते हैं॥१६॥

भयः प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥१७॥

गृह छोड़कर वनमें चले जानेपर भी अजितेन्द्रिय पुरुषको संसारका भय बना ही रहता है, क्योंकि चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन—इन छह शत्रुओंसे उसका पीछा नहीं छूटता, इनसे उसका सम्बन्ध बना ही रहता है। जो इन्द्रियोंको जीतकर परमात्मामें ही रति रखता है, गृहस्थाश्रम उसका क्या बिगाड़ सकता है?॥१७॥

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्।

अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन् क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित्॥१८॥

जो इन (चक्षु, मनादि) छह शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें सबसे पहले घरमें ही रहकर इन्हें वशमें करनेका प्रयास करना चाहिए। शत्रुओंके क्षीण होनेपर राजा जिस प्रकार दुर्ग अथवा किसी भी स्थान पर विचरण कर सकता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति गृहस्थरूपी दुर्गका आश्रयकर षट् रिपुओंपर विजय प्राप्त कर सकता है। इसके बाद वह चाहे घरमें रहे अथवा वनमें विचरण करे॥१८॥

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोशदुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः।

भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान् विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व॥१९॥

हे प्रियव्रत! पद्मनाभ श्रीनारायणके चरणकमलके कोश-दुर्गका आश्रय लेकर तुम इन छहों शत्रुओंको विशेषरूपसे जीत चुके हो। अतः अब गृहस्थाश्रममें रहकर अपने प्रभुके दिये हुए भोगोंको भोगो, बादमें पुत्र, स्त्री आदि सब छोड़कर वनमें जाकर श्रीहरिकी आराधना करना॥१९॥

श्रीशुक उवाच—

इति समभिहितो महाभागवतो भगवत्स्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो
लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह ॥ २० ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब त्रिभुवन-गुरु ब्रह्माजीने इस प्रकार आदेश दिया, तब परम भागवत प्रियव्रतने छोटा (उनका पौत्र) होनेके कारण उनके वचनको यह कहते हुए बड़े आदरके साथ स्वीकार कर लिया कि “आपने जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा” ॥२०॥

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषम-
मभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं
प्रवर्तयन्नगात् ॥ २१ ॥

इसके बाद मनुके द्वारा यथाविधि सम्मान प्राप्त करके ब्रह्मा प्रियव्रत और नारदके सामने ही अन्तर्हित हो गये। उस समय (ब्रह्मा सोच रहे थे कि प्रियव्रतका योग भ्रष्ट हुआ है और नारदका भी शिष्यगत मनोरथ नष्ट हुआ है, अतः वे दोनों ही उन्हें कुटिल दृष्टिसे देख रहे होंगे, परन्तु ऐसा नहीं था।) प्रियव्रत एवं नारद दोनों ही उन्हें सरल भावसे देख रहे थे। निवृत्त प्रियव्रतको पुनः प्रवृत्तिमार्गमें प्रविष्ट करा दिया है—इस कारणसे ब्रह्माको बड़ा दुःख था। परब्रह्मके उस व्यवहारातीत स्वरूपका चिन्तन करते हुए वे अपने धाम चले गये, जो वाणी और मनके अगोचर है ॥२१॥

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरा-
मण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया
उपरराम ॥ २२ ॥

इधर ब्रह्माके द्वारा मनोवाञ्छा पूर्ण होनेपर स्वायम्भुव मनुने देवर्षि नारदकी आज्ञासे भूमण्डलके पालन और रक्षणके लिए अपने पुत्र प्रियव्रतका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं भोगवासनाओंके अति दुस्तर तथा विषमय संसार-जलाशयसे निवृत्त हो गये ॥२२॥

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिल-
जगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याडिघ्रयुगलानवरत-
ध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्द्धनो महतां
महीतलमनुशशास ॥ २३ ॥

इस प्रकार भूपति प्रियव्रतने ईश्वरकी इच्छासे राज्यभारको प्राप्त किया। जो अपने प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्के बन्धनको छुड़ा देते हैं—उन आदिपुरुष श्रीभगवान्‌के चरण-युगलोंके प्रतिक्षण चिन्तनसे यद्यपि प्रियव्रतके विषय—रागादि कल्मष पहले ही दग्ध हो चुके थे और चित्त परम शुद्ध हो गया था, तथापि ब्रह्मादि श्रेष्ठजनोंका मान रखनेके लिए वे भूमण्डलका शासन करने लगे ॥ २३ ॥

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मती नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान् दश भावयाम्बभूव कन्याञ्च यवीयसीमूर्जस्वती नाम ॥ २४ ॥

तदनन्तर प्रियव्रतने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया। उन्होंने पत्नीके गर्भसे अपने ही समान स्वभाव, गुण और पराक्रमसे विभूषित दस महत् पुत्र एवं ऊर्जस्वती नामकी एक कन्याको जन्म दिया। यह कन्या सबसे छोटी थी ॥ २४ ॥

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथि-
वीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः ॥ २५ ॥

परीक्षित्! इन दस पुत्रोंका अग्नि देवताके नामसे ही नामकरण हुआ—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र एवं कवि ॥ २५ ॥

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ॥ २६ ॥

इनमें कवि, महावीर और सवन—ये तीन नैष्ठिक (जितेन्द्रिय) ब्रह्मचारी थे। इन तीनोंने बाल्यकालसे ही ब्रह्मविद्याका अभ्यास

करते हुए अन्तमें पारमहंस्य धर्म अर्थात् संन्यासाश्रमको स्वीकार कर लिया था ॥२६॥

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरत-स्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः ॥ २७ ॥

संन्यासी होनेके कारण ये जितेन्द्रिय और परम ऋषि बन गये थे। वे हर पल, हर क्षण सम्पूर्ण जीवोंके आश्रय एवं संसार त्रस्त लोगोंके एकमात्र रक्षक भगवान् श्रीवासुदेवके चरणकमलोंका चिन्तन करते रहते थे। भक्तियोगके प्रभावसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था और उनमें समग्र चित् एवं अचित्के अधिष्ठान (अर्थात् चिद-अचित् शक्तिसे युक्त) भगवान्का आविर्भाव हो गया था। उन्होंने औपाधिक देह (देहादिमें अहंता, ममता) एवं मनोधर्मका परित्याग करके भगवत्-साधर्म्यको प्राप्त कर लिया था ॥२७॥

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः ॥ २८ ॥

प्रियव्रतकी और भी एक पत्नी थी। उसके गर्भसे उत्तम, तामस और रैवत नामके तीन पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया। ये तीनों अपने नामवाले तीन मन्वन्तरोंके अधिपति थे ॥२८॥

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसंभूतदोर्दण्डयुगलापीडित मौर्वी-गुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो रसम्भूतदोर्दण्ड बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमान-प्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकुरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमान-विवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे ॥ २९ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंके द्वारा संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेनेपर महामना प्रियव्रत ग्यारह अर्बुद (अरब) वर्षोंतक पृथ्वीका शासन करते रहे। जब वे अखण्ड पौरुषमयी और वीर्यवती भुजाओंसे धनुषकी डोरी

खींचकर टङ्कार करते थे, तब सभी धर्मद्रोही उस ध्वनिको सुनकर बिना युद्ध किये ही छिप जाया करते थे। उन्होंने विषयोंका भी निपुणतासे भोग किया था। पत्नी बर्हिष्मतीके हाव-भाव, विलास, लज्जा एवं संकोचके कारण मन्द-मन्द मुसकान, कटाक्ष-विक्षेप, शृङ्गार तथा मनोमुग्धकारी परिहासवचनोंसे उनका प्रणय दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। प्रतीत होता था कि महाराज प्रियव्रत विषयासक्तिके कारण विवेकज्ञानसे रहित होकर अपने आत्मस्वरूपको भूल गये हैं, परन्तु वास्तवमें वे विषयोंमें आसक्त नहीं थे॥२९॥

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्द्धनैव प्रतपत्यर्द्धनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभाव-स्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेण रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्ग एवः कुर्वाणं प्रियव्रतमागत्य चतुराननविधकारोऽयं न भवतीति निवारयामास॥३०॥

प्रियव्रतका शासन सुचारु रूपसे चल रहा था, तभी एक बार उन्होंने यह देखा कि तेजवान् सूर्य लोकालोक पर्वत तक किरणोंको बिखराते हुए जब सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, उस समय पृथ्वीका आधा भाग प्रकाशित रहता है और आधे भागमें अन्धकार छाया रहता है। यह आधा अन्धकार रहना उन्हें पसन्द नहीं आया। उन्होंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की—“मैं अपने प्रभावसे रात्रिको दिन बना डालूँगा।” इस अभिप्रायसे उन्होंने सूर्यके रथके समान वेगवान् अपने ज्योतिर्मय रथपर सवार होकर दूसरे सूर्यकी ही भाँति उनके पीछे-पीछे पृथ्वीके चारों ओर सात परिक्रमाएँ कर डालीं। भगवद् उपासनाके प्रभावसे उनका अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था, अतः यह कार्य उनके लिए असम्भव नहीं था। उन्होंने परिक्रमाएँ सम्पन्न की ही थीं कि उसी समय चतुरानन ब्रह्मा उनके समीप आये और उनसे कहा, हे वत्स! यह कार्य तुम्हारे अधिकारके अन्तर्गत नहीं है॥३०॥

ये वा उह तद्रथचरणनेमिकृताः परिखातास्तेसप्त सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः॥३१॥

इस प्रकार प्रियव्रतके रथके पहियोंके अग्रभागसे जो सात लकीरें बनीं, वे ही प्रसिद्ध सात समुद्र बन गये। इन सात समुद्रोंसे पृथ्वी सात द्वीपोंमें विभक्त हो गयी॥३१॥

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञाः तेषां परिमाणं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥ ३२ ॥

सात समुद्रोंके द्वारा पृथ्वीपर बने सात द्वीपोंके नाम हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर। हे राजन्! ये द्वीप परिणामानुसार क्रमशः एक दूसरेसे दुगुने हैं और समुद्रके बाहरी भागमें चारों दिशाओंमें फैले हुए हैं॥३२॥

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्तद्वीपपरिखा इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक् पृथक् परित उपकल्पिताः। तेषु जम्ब्वादिषु बर्हिष्मतीपतिरनुवृत्तानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहु हिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधा-तिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् यथासंख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार एक-एक समुद्रके बाहरी भागमें एक-एक द्वीप स्थित है, उसी प्रकार एक-एक द्वीपके बाहर भी एक-एक समुद्र है, इन समुद्रोंके नाम सुनो—लवण, इक्षु, मदिरा, घृत, दधि, दुग्ध, और जल—ये सात प्रकारके जलोंसे पूर्ण सात सागर हैं और सात द्वीपोंकी खाईके समान बने हुए हैं। सभी द्वीप ही सागरोंसे घिरे हुए हैं। इन द्वीपोंका जितना परिमाण है, उन समुद्रोंका परिमाण भी उतना ही है। परीक्षित्! बर्हिष्मती-पति प्रियव्रतने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र नामक सात पुत्रोंमें—से प्रत्येकको एक-एक द्वीपका राजा बना दिया॥३३॥

दुहितरञ्चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद्देवयानी नाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

प्रियव्रतने अपनी पुत्री ऊर्जस्वतीका विवाह शुक्राचार्यके साथ कर दिया। इसीसे देवयानी नामकी एक पुत्रीका जन्म हुआ॥३४॥

नैवविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य पुसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।

चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्॥ ३५ ॥

हे महाराज! जिन भक्तोंने उरुक्रम (अद्भुतशक्ति सम्पन्न) भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी रजके प्रभावसे भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—इन छह गुणोंपर विजय प्राप्त कर ली है, उनका इस प्रकारका पौरुष प्रकट होना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। वर्ण-बहिष्कृत अन्त्यज—चाण्डाल आदि नीच योनिका पुरुष भी यदि एक बार भगवान्‌के श्रीनामका उच्चारण कर लेता है, तो उसी क्षण वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥३५॥

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतित-
गुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेदइदमाह॥ ३६ ॥

एक बार असीमित बल पराक्रमशाली महाराज प्रियव्रत देवर्षि नारदजीके चरणोंकी शरण ग्रहण करने पर भी पुनः राज्यादि भोगोंकी प्राप्तिको प्रपञ्च (छलावा) मात्र समझकर उसके संसर्गमें स्वयंको अशान्त-सा मानने लगे और मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे—॥३६॥

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचित-
विषमविषयान्धकूपेतदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति
गर्हयाञ्चकार॥ ३७ ॥

अहो! मुझसे ऐसा कौन-सा अन्याय हो गया? मेरी इन्द्रियोंने मुझे इतने दिनोंसे अविद्या-जनित विषम विषयरूप अन्ध-कूपमें डाल रखा है। अब विषय-भोग बहुत हो गया, अब इससे मुझे और प्रयोजन नहीं है। हाय! मैं तो कामिनीके क्रीड़ामृगके समान हो गया। मुझे धिक्कार है, धिक्कार है! यह कहते हुए प्रियव्रत अपने-आपको कोसने लगे॥३७॥

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शनानुप्रवृत्तेभ्यः स्वपुत्रेभ्य इमां
यथादायं विभज्य भुक्तभोगाञ्च महिषीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय
स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं
पुनरेवानुससार ॥ ३८ ॥

परमपुरुष श्रीभगवान्की कृपासे उन्हें अपने स्वरूपकी उपलब्धि
हुई। हृदयमें विषयोंसे वैराग्य और श्रीहरिके लीला-विलासकी स्मृति
जाग उठी। उन्होंने सारी पृथ्वीका यथायोग्य विभाजन किया और
अपने पुत्रोंको सौंप दिया, साथ ही भुक्त-भोग साम्राज्य-लक्ष्मी और
अपनी पत्नीका मृतदेहके समान परित्याग कर दिया। वे पुनः देवर्षि
नारदजी द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्।

यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घनं सप्त वारिधीन् ॥ ३९ ॥

हे राजन्! महाराज प्रियव्रतकी महिमा सर्वविदित है। इस सम्बन्धमें
अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं—महाराज प्रियव्रतने जो कार्य किये,
उन्हें श्रीभगवान्के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता है। उन्होंने
रात्रिके अन्धकारको मिटानेके लिए अपने रथके पहियोंसे बनी हुई
लकीरोंसे ही सात समुद्र बना डाले ॥ ३९ ॥

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्धिरिवनादिभिः।

सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥ ४० ॥

महाराज प्रियव्रतने प्राणियोंके सुखके लिए द्वीप बना दिये।
तदनन्तर जीवोंमें पारस्परिक विवाद न हो, इसलिए प्रत्येक द्वीपमें
नदी, पर्वत और वनादिकी रचना करके उनकी सीमा भी निर्धारित
कर दी ॥ ४० ॥

भौमं दिव्यं मानुषञ्च महित्वं कर्मयोगजम्।

यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीप्रियव्रतविजयो नाम प्रथमोऽध्यायः।

परमपुरुष श्रीभगवान्के अनुगतजन नारद आदि ही प्रियव्रतके
प्रियजन थे। उन्होंने स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक एवं कर्म
और योगसे सिद्ध होनेवाले ऐश्वर्योंको नरकवत् समझा था ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

आग्नीध्र-चरित्र

श्रीशुक उवाच—

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः
प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार प्रियव्रत राज्य-
पालनादि कार्योसे मुक्त हो गये। उनकी आज्ञासे उनके पुत्र आग्नीध्र
इन कार्योमें संलग्न रहकर धार्मिक सिद्धान्तोंके आधारपर जम्बूद्वीपवासी
प्रजाओंका अपनी सन्तानके समान पालन करने लगे ॥१॥

स च कदाचित् पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां
भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्रयेण तपस्वी
आराधयाम्बभूव ॥ २ ॥

किसी समय राजा आग्नीध्र पितृलोककी प्राप्ति करानेवाले
सत्पुत्रकी कामनासे सुर-सुन्दरियोंकी क्रीडास्थली मन्दराचलकी घाटीमें
पहुँचे और वहाँ पुष्पादि पूजाके उपकरणोंका संग्रह करके तपके
लिए तत्पर होकर एकाग्रचित्तसे ब्रह्माकी आराधना करने लगे ॥२॥

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं
नामाप्सरसमभियापयामास ॥ ३ ॥

आदिपुरुष ब्रह्माको जब आग्नीध्रकी तपस्याके कारणके बारेमें
पता चला, तब उन्होंने देवसभाकी गायिका पूर्वचित्ति नामकी एक
श्रेष्ठ अप्सराको उनके समीप भेजा ॥३॥

सा च तदाश्रमोपवनमति रमणीयं विविधनिबिडविटपिविटपनिकर-
संश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः

प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामल-
जलाशयकमलाकरमुपबभ्राम ॥ ४ ॥

आग्नीध्रके आश्रमके समीप ही एक अतिशय रमणीय उपवन था। वहाँ नाना प्रकारके निविड़ एवं घने वृक्ष थे, जिनकी शाखाओं पर स्वर्ण लताएँ जड़ी हुई थीं। इन शाखाओंके ऊपर विराजित मयूरादि स्थलचारी विहंग-जोड़े षड्जादि मधुर स्वरोंसे कूजन कर रहे थे, जिसे सुनकर जलकुक्कुट, कारण्डव और हंसादि जलचर पक्षी भी विचित्र कलरव करने लगे थे। इससे वहाँके कमलोंसे सुशोभित निर्मल सरोवर गूँजने लगते थे। पूर्वचित्ति इसी आश्रमके निकट आकर भ्रमण करने लगी ॥४॥

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमान-
रुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलित-
नयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट ॥ ५ ॥

पूर्वचित्ति जब विलासपूर्ण पाद-विक्षेप एवं सुललित गति विलाससे चलती थी, तब उसके शृङ्गारात्मक लक्षण प्रदर्शित होते थे। उसके पग-पगपर मनोहर चरणाभूषण नूपुरोंसे रुन-झुन ध्वनि झंकृत हो उठती, जिसे सुनकर राजपुत्र आग्नीध्र ध्यानमें अधमूँदे नयन-कमलोंको कुछ और खोलकर उसे देखने लगे ॥५॥

तामेवाऽविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं
दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुर्धैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावय-
वैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासव-
सहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तन-
कलसकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो
मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच ॥ ६ ॥

उन्होंने देखा कि वह अप्सरा समीपमें ही भ्रमरीके समान पुष्पोंको सूँघ रही थी। उस अप्सराकी विलासमयी गति देवताओं तथा मनुष्योंके मन और नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी।

उसका विहार, लज्जा, विनयपूर्ण दृष्टि, सुमधुर स्वर, वाणी एवं नेत्रादि अङ्ग मनुष्योंके मनमें मानो कामदेवके लिए प्रवेश द्वार बना रहे थे। जब वह हँस-हँसकर बोलने लगती तब ऐसा प्रतीत होता कि उसके मुखसे अमृतमय मादक मधु झर रहा हो। उसके निःश्वासकी गन्धसे मदान्ध होकर भौंरे उसके मुखकमलको घेर लेते। इससे व्याकुल होकर वह कामिनी जल्दी-जल्दी पैर उठाकर चलती, तो उसके कुच-कलश, वेणी और करधनी हिलनेके कारण बड़े ही सुहावने लगते। आग्नीध्रने जैसे ही इस सुन्दरीको देखा, वैसे ही वे कामदेवके वशीभूत हो गये। कामके वशीभूत होनेके कारण उनका सारा ज्ञान धरा रह गया और उसके अधीन होकर उसे प्रसन्न करनेके लिए पागलकी भाँति उसको कभी पुरुषरूपमें और कभी स्त्रीरूपमें सम्बोधित करने लगे ॥६॥

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किंवा मृगान् मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥७॥

आग्नीध्रने कहा—हे मुनिवर्य! तुम कौन हो और इस पर्वत पर तुम क्या करना चाहते हो? तुम क्या ब्रह्मादि देवताओंके भी उपास्य परदेव भगवान्की माया हो? (दोनों भौंहोंकी ओर लक्ष्य करके) हे सखे! तुमने इन बिना डोरीके दो धनुषोंको क्या अपने लिए धारण कर रखा है अथवा इस संसाररूपी अरण्यमें मुझ जैसे अजितेन्द्रिय कामातुर मतवाले मृगोंका शिकार करना चाहते हो? ॥७॥

बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन् न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोस्तु ॥८॥

(कटाक्षकी ओर सङ्केत करके) तुम्हारे दोनों नेत्र शतदल कमलके समान तथा दोनों पलकें कमल-दलके समान हैं। शृङ्गारिकताके कारण ये अलसा रहे हैं। तुम्हारे बंकिम नेत्र जो अत्यन्त शक्तिशाली बाण हैं, वे पंखहीन (बाणके पिछले भागमें स्थित दीर्घशलाकासे रहित) होकर भी अतिशय शोभाशाली हैं, किन्तु इनका अग्रभाग अति तीक्ष्ण है। इस वनमें विचरण करती हुई तुम इन बाणोंको किसके ऊपर छोड़ना चाहती हो, मैं नहीं जानता। यहाँ तुम्हारा सामना करनेवाला कोई भी दिखायी नहीं पड़ता। जो भी हो, मुझ मन्दबुद्धिकी एकमात्र यही प्रार्थना है कि तुम्हारा यह पराक्रम मेरे मङ्गलके लिए ही हो॥८॥

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम्।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः॥९॥

(उस अप्सराके अङ्गोंकी सुगन्धसे लुब्ध कुछ भ्रमर उसका अनुगमन कर रहे थे—यह देखकर आग्नीध्र कहने लगे)—हे प्रभो! महामहिम! आपके ये शिष्य आपको चारों ओरसे घेरकर वेदाङ्गके साथ क्या सामवेदका गान कर रहे हैं? ऋषि जिस प्रकार वेदोंकी शाखाका सेवन करते हैं, उसी प्रकार आपके शिष्य भी आपकी चोटीसे गिरती हुई पुष्प-वृष्टिका सेवन कर रहे हैं॥९॥

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृण्वाम तुभ्यम्।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्गविटङ्गबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते॥१०॥

(नूपुर-झंकारकी ओर सङ्केत करके) हे ब्रह्मन्! ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे नूपुरोंके भीतर तीतर पक्षी है, उसकी बोली तो सुनायी दे रही है, परन्तु वह दिखायी नहीं दे रहा है। (पूर्वचित्तिके

परिधान वस्त्रोंमें एक पीले रङ्गका झीना वस्त्र उसके कटिदेशसे संलग्न था, जिसमें-से लावण्य झिलमिला रहा था—उसकी ओर सङ्केत करते हुए) हे सुन्दर नितम्बमण्डले! तुम्हारा कटिदेश तो श्याम वर्णका है, परन्तु वह कदम्बकुसुमकी कान्तिके समान पीले रङ्गका कैसे हो गया? (करधनीकी ओर दृष्टिपात करते हुए) इसमें अलातचक्र अर्थात् ज्वलन्त अङ्गारोंके मण्डलके समान वलयाकृति रेखा है, वह क्या है? (पहने हुए वस्त्रोंमें भी नितम्बकान्तिके कारण उन्होंने कल्पना की कि वस्त्र नहीं पहना है, अतः पूछने लगे) तुम्हारा वल्कल (परिधेय) वस्त्र कहाँ है? ॥१०॥

किं संभृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्-
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि ॥ ११ ॥

(दोनों स्तनोंकी ओर लक्ष्य करके) हे द्विजवर! शृङ्गके समान उन्नत, अतीव मनोहर तुम्हारे इन दोनों पयोधरोंमें क्या भरा है, अवश्य ही इनमें बहुमूल्य रत्न भरे हुए हैं। तुम्हारी कमर तो अत्यन्त पतली है, तो भी तुम इनका बोझ ढो रहे हो। वहाँ जाकर तो मेरी दृष्टि भी मानो अटक गयी है (स्तनोंमें लगे कुङ्कुम रागको लक्ष्य करके) तुमने अपने सींगोंपर (स्तनोंपर) अरुण वर्णका सुगन्धित यह लाल-लाल लेप-सा क्या लगा रखा है? यह कहाँसे आ गया? हे सौभाग्यवान्! तुम्हारे इस अङ्गरागकी गन्धसे मेरा सारा आश्रम सुवासित हो उठा है ॥११॥

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे यत्रत्य इत्थमुरसावयवावापूर्वौ।

अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति बहद्भुतं सरसराससुधादि वक्त्रे ॥ १२ ॥

हे मित्रवर! तुम अपने देशका एक बार मुझे दर्शन कराओ जहाँके लोग अपने वक्षःस्थलपर ऐसे अद्भुत अवयव धारण करते हैं, जिन्हें देखकर मेरे जैसे लोगोंके मन और नयन दोनों ही क्षुब्ध हो रहे हैं? उनके मधुर आलाप और मन्द-हास्यादि विलाससे

कल्पना की जा सकती है कि उनके मुखमें कितना अद्भुत अधरामृत रहता होगा ॥१२॥

का वात्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्कितशोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते ॥१३॥

हे सखे! तुम अपने जीवन धारणके लिए क्या खाते हो? ताम्बूल चर्वण करनेके कारण तुम्हारे मुखसे यह कैसी सुगन्ध निकल रही है! इससे प्रतीत होता है कि तुम विष्णुकी कला हो और यज्ञसे सम्बन्धित किसी पवित्र द्रव्यका भोजन करते हो। (यज्ञादिके एकमात्र भोक्ता विष्णु यज्ञीय नैवेद्यके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यका भोजन नहीं करते, अतः तुम उस भोजनका ही अवशेष ग्रहण करते हो।) तुम्हारा मुखमण्डल सरोवरकी शोभाको धारण कर रहा है। तुम्हारे कानोंमें दो रत्नजड़ित मकराकृति कुण्डल विराजमान हैं, जो निर्निमेष नेत्रवाले दो मकरके समान हैं। तुम्हारे दोनों नयन मछलीके समान चञ्चल हैं। इस प्रकार तुम्हारे मुख-सरोवरमें बिना पलकके दो मकर और दो चञ्चल मीन विहार कर रहे हैं। तुम्हारे दाँतोंकी धवल (सफेद) पंक्ति राजहंसोंकी पंक्तिके समान और घुँघराली अलकावलियाँ परिमलके लोभी भ्रमरोंके झुण्डके समान हैं ॥१३॥

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरुथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥१४॥

जब तुम अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस गेंदको उछालती हो, तब भ्रान्त चित्तवाले मेरे दोनों नेत्रोंको चञ्चल बना देती हो, साथ ही मेरे मनमें भी चञ्चलता उत्पन्न कर देती हो। तुम्हारे घुँघराले बालोंका बँधा हुआ बाँका जूड़ा खुल रहा है, तुम इसे

बाँधती क्यों नहीं? यह धूर्त पवन लम्पट पुरुषके समान तुममें
आसक्त होकर तुम्हारे नीवी-वस्त्रको उड़ा रहा है। क्या तुम्हें कुछ
सुध भी है? ॥१४॥

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोध्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किंवा प्रसीदति स वै भवभावनो मे ॥१५॥

हे तपोधन! तपस्वियोंको तपसे भ्रष्ट करनेवाला यह अद्भुत
रूप तुमने किस तपस्याके प्रभावसे प्राप्त किया है? हे बन्धो!
मुझे सुखी करनेके लिए मेरे साथ रहकर तपस्या करो—यह उचित
रहेगा अथवा कहीं विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीने मुझपर प्रसन्न होकर तुम्हें
मेरी पत्नी बनाकर तो नहीं भेजा है? ॥१५॥

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं
यस्मिन् मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम्।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥१६॥

द्विजदेव! सत्य ही ब्रह्माजीकी कृपासे तुम मुझे मिल गये हो।
अब मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। तुममें तो मेरे मन, नयन ऐसे
आविष्ट हो गये हैं कि वहाँसे हटना ही नहीं चाहते। हे चारु-शृङ्गि!
(सुन्दर वक्षःस्थलवाली!) मैं तुम्हारे अनुगत हूँ। जहाँ तुम्हारी
इच्छा हो, मुझे वहीं ले चलो। तुम्हारी ये मङ्गलमयी सखियाँ भी
अनुकुल होकर हमारे साथ ही रहें ॥१६॥

श्रीशुक उवाच—

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं
विबुधमतिरधिसभाजयामास ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! राजा आग्नीध्र देवतुल्य
बुद्धिमान् थे। स्त्रियोंको प्रसन्न करनेकी कलामें भी वे अतिशय

निपुण थे। उन्होंने ग्राम्य रसिकतामयी (रतिचातुर्यमयी) मीठी-मीठी बातोंसे पूर्वचित्तिको प्रसन्न कर लिया ॥१७॥

सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपविद्यावयःश्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान् बुभुजे ॥ १८ ॥

वीरश्रेष्ठ आग्नीध्रकी विद्या, बुद्धि, आयु, स्वभाव, श्री और उदारता देखकर पूर्वचित्तिका मन आकृष्ट हो गया। उसने जम्बूद्वीप अधिपति आग्नीध्रके साथ कई हजार वर्षोंतक पृथ्वी और स्वर्गके सुखोंका उपभोग किया ॥१८॥

तस्यामुह वा आत्मजान् स राजवर्य आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुष-
हरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्यकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान् नव
पुत्रानजनयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महाराज आग्नीध्रने पूर्वचित्तिके गर्भसे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नामके नौ पुत्र उत्पन्न किये ॥१९॥

सा तु सूत्वाथ सुतान् नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय
एवाजं देवमुपतस्थे ॥ २० ॥

पूर्वचित्तिने प्रतिवर्ष एक-एक करके नौ पुत्र उत्पन्न किये और उन पुत्रोंको राजभवनमें ही छोड़कर पुनः ब्रह्माजीकी उपासनाके लिए (अर्थात् अपने सङ्गीत कार्यके लिये) उनके पास उपस्थित हो गयी ॥२०॥

आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा
विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथा विभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ॥ २१ ॥

पूर्वचित्तिके नौ पुत्र माताका स्तनपान करनेके कारण स्वभावतः सुडौल और बलवान् शरीरवाले थे। पिता आग्नीध्रने अपने पुत्रोंके लिए उनके ही नामानुसार जम्बूद्वीपका यथोचित विभाग करके नौ

वर्ष (भूखण्ड) बना दिये। वे सब अपने-अपने वर्षका पालन करने लगे ॥२१॥

आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः
सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते ॥ २२ ॥

राजा आग्नीध्र स्वयंको विषय-भोगोंसे अतृप्त ही अनुभव करते रहे। हर क्षण वह उस अप्सराको ही परम पुरुषार्थ मानते थे। अतः वेदोक्त फलानुसार उन्हें अप्सरा लोककी प्राप्ति हुई। इस लोकमें पितृगण भी आनन्दपूर्वक भोग करते हैं ॥२२॥

सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितृर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं
लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देवदीधितिमितिसंज्ञा नवोदवहन् ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

पिताके परलोक चले जानेपर नाभि आदि नौ भाइयोंने मेरुकी नौ कन्याओंसे विवाह कर लिया। उनके नाम थे—मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देव-दीधिति ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

राजा नाभिका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहिता-
त्मायजत ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आग्नीध्रके पुत्र महाराज नाभि एवं उनकी पत्नी मेरुदेवी निःसन्तान थे। उन दोनोंने पुत्रकी कामनासे एकाग्रचित्त होकर भगवान् यज्ञेश्वर श्रीविष्णुकी आराधना की ॥१॥

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु
द्रव्यदेशकालमन्त्रत्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान्
भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया
गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार ॥ २ ॥

यद्यपि परम सुन्दर अङ्गोंवाले भगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक्, दक्षिणा और विधि—इन सात सम्पत्तिरूप उपायोंके द्वारा दुष्प्राप्य हैं, तथापि वे भक्तवत्सल हैं। अतः जब भक्त महाराज नाभिने विशुद्ध भावसे तथा श्रद्धा और भक्तिके साथ प्रवर्ग्य-यज्ञ प्रारम्भ किया तब अपने भक्तोंके अभिलाषित कार्यको सम्पन्न करनेके लिए भगवान्का चित्त उत्सुक हो उठा। स्वतन्त्र ईश्वर होनेपर भी वे भक्तोंके सम्मुख सुखप्रदायिनी, आनन्ददायिनी, नयनमन-विनोदकारिणी चतुर्भुज श्रीमूर्तिमें प्रकट हो गये ॥२॥

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं
कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुह-
वनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवर-
मणिमयमुकुटकुण्डलकटकटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषित-

मृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमान-
मर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

परीक्षित्! तेजोमय पुरुषोत्तम भगवानकी चार भुजाएँ थी, उन्होंने कटिदेशमें पीतवर्णका रेशमी वस्त्र पहन रखा था, वक्षःस्थलपर सुमनोहर श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित हो रहा था। चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म तथा गलेमें वनमाला एवं कौस्तुभमणि धारण कर रखे थे, अङ्ग-प्रत्यङ्गकी कान्तिको विकसित करनेवाले अत्युज्ज्वल श्रेष्ठ मणियों एवं रत्नोंसे जड़ित आभूषण—मुकुट, कुण्डल, वलय, कटिसूत्र, हार, केयूर तथा नूपुर शोभित थे। निर्धन व्यक्ति जिस प्रकार अपार धन प्राप्त करके आनन्दित होता है, उसी प्रकार ऋत्विक् सदस्य और गृहपति (यजमान) नाभि आदि सभी परम सुन्दर भगवन्मूर्तिको देखकर बड़े हर्षित हुए। उन्होंने मस्तक झुकाकर आदरके साथ प्रणाम किया और उपहार भेंट करके उनकी पूजा की। ऋत्विजोंने उनकी स्तुति की ॥३॥

ऋत्विज ऊचुः—

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्
सदुपशिक्षितम्। कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य
प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् सकलजननिकाय-
वृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ४ ॥

ऋत्विजोंने कहा—हे पूज्यतम! हम आपके सेवक हैं। यद्यपि आप परिपूर्ण हैं तो भी वात्सल्यवशतः हमारी पूजा स्वीकार करना आपके लिए उचित ही है। हम तो आपके दिव्य स्वरूपसे नितान्त अनभिज्ञ हैं। 'नमो नमः', 'नमो नमः'—आपको बार-बार नमस्कार है—साधुओंसे हमने यही कहना सीखा है। हम आपकी पूजा, परिचर्या, स्तवादि कुछ भी जानते नहीं हैं। जीवोंकी बुद्धि प्रकृतिके गुणोंमें आसक्त होती है, अतः जीव कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता; किन्तु आप प्रकृति, पुरुष एवं त्रिगुणोंसे अतीत परमेश्वर हैं। आपके

नाम, रूप और आकृति अप्राकृत और अधोक्षज हैं। प्रपञ्चके अन्तर्गत नाम, इन्द्रनीलमणि इत्यादि रूप और श्यामल-आकृतिकी आपके अप्राकृत नाम, रूप एवं आकृतिसे तुलना नहीं की जा सकती। अप्राकृत पदार्थमें प्राकृत जीवोंका बुद्धि-प्रवेश असम्भव है। निखिल लोकोंके कल्मष-विनाशकारी, कल्याणकारी आपके मङ्गलमय श्रेष्ठ गुणोंका कीर्तन जीवोंके लिए आशिक रूपसे ही सम्भव है। इससे अधिक उनकी सामर्थ्य नहीं है॥४॥

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसी-
दूर्वाङ्कुरैरपि संभृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि॥५॥

हे परिपूर्णस्वरूप! आपके भक्त अनुरागसे भरकर, प्रेमसे गद्गद वाणीसे आपकी स्तुति करते हैं। यदि वे सामान्य जल, शुद्ध पल्लव, तुलसी एवं दुर्वाङ्कुर द्वारा सुष्ठुभावसे आपकी प्रीतिपूर्वक पूजा करते हैं, तो आप निश्चय ही उस पूजासे भी परम सन्तुष्ट हो जाते हैं॥५॥

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे॥६॥

हम यह जो सम्पूर्ण अङ्गोंसे समृद्ध इस यज्ञको कर रहे हैं, इससे आपके प्रति अनुरागके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन हमें दिखाई नहीं देता॥६॥

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य
किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति॥७॥

जो पुरुषार्थ साक्षात् रूपसे, स्वतः सिद्ध होकर, अबाधित गतिसे, प्रचुर मात्रामें और क्षण-क्षण उत्पन्न होता है, वह पुरुषार्थरूप आनन्द आपका ही स्वरूप है। परन्तु, हे नाथ! हमें तो अनेक भोगोंकी कामना है। अतः हम जैसे सकामियोंके लिए आपकी पूजा ही सर्वपुरुषार्थप्रद है। यद्यपि सकाम पूजासे आपका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, परन्तु यही आराधना आपकी अनुग्रह-प्राप्तिका निमित्त मात्र है॥७॥

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष
प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानञ्चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित
एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ८ ॥

हे परात्पर पुरुष! हम तो धर्म-विषयसे नितान्त अनभिज्ञ हैं। हमें तो यह भी नहीं पता कि हमारा कल्याण किसमें है। जिस प्रकार बिना बुलाये और बिना सम्मान प्राप्त किये भी तत्त्वज्ञ महापुरुष अज्ञानियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार आप भी करुणावश हमें हमारी इच्छित वस्तुओं एवं अपवर्ग संज्ञक परम पदको प्रदान करनेके लिए प्रकट हुए हैं। हमने आपकी यथोचित पूजा नहीं की है, तब भी इस यज्ञमें पूजा-प्रार्थीके समान स्वयं आकर आपने यज्ञ-कौतुकदर्शी साधारण मनुष्योंके समान हमें दर्शन प्रदान किये हैं ॥ ८ ॥

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्
निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥ ९ ॥

हे पूज्यतम! आप वरदायकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आप वर प्रदान करनेके लिए ही राजा नाभिकी यज्ञशालामें आविर्भूत हुए हैं। आपने हमें दर्शन दिये, इससे बढ़कर हमारे लिए अन्य कोई वरदान नहीं हो सकता। अब हम और वर क्या माँगें? ॥ ९ ॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां
मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ॥ १० ॥

हे प्रभो! आत्माराम (भगवान् जिनमें सम्यक् रूपसे रमण करते हैं) मुनिगण भी निरन्तर आपके गुणोंका गान करते रहते हैं। जिन्होंने वैराग्य द्वारा और भी अधिक प्रज्वलित ज्ञानाग्निसे अपने अन्तःकरणके रागद्वेषादि सम्पूर्ण मलोंको जला डाला है, वे आपके समान गुणोंको प्राप्त कर लेते हैं। इन आत्माराम मुनियोंके लिए आपके गुणोंका गान परम मङ्गलका निकेतन-स्वरूप है ॥ १० ॥

अथ कथञ्चित् स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥ ११ ॥

यद्यपि आपके दर्शन प्राप्तकर हम कृतकृत्य हुए हैं, तथापि एक प्रार्थना करते हैं—यदि हम कभी विपथगामी, क्षुधार्त, पतित, अज्ञानाच्छन्न, दुरवस्थाग्रस्त, पीड़ित (ज्वरग्रस्त) अथवा मृत्युग्रस्त होकर आपका स्मरण करनेमें असमर्थ हो जायें, तो भी सर्वपापविनाशक एवं भक्तवात्सल्यादि गुणोंसे सम्बन्धित आपके नामोंका उच्चारण करते रहें ॥ ११ ॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥ १२ ॥

हम लोग निवेदन करनेके अयोग्य होनेपर भी आपसे एक और निवेदन करते हैं—आप स्वर्ग एवं अपवर्गके अधीश्वर हैं और सम्पूर्ण अभीष्टोंको प्रदान करनेवाले हैं। जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति कुबेरके पास पहुँचकर भी भूसा माँगता है, उसी प्रकार पुत्रको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले राजर्षि नाभि पुत्र-प्राप्तिकी अभिलाषासे आपकी आराधना कर रहे हैं ॥ १२ ॥

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषय-विषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः ॥ १३ ॥

हे प्रभो! आपकी माया दुर्ज्ञेय है, उसकी दुर्गम गतिका पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। जिन्होंने महापुरुषोंके चरणोंकी उपासना की है, एकमात्र वे ही मायासे निस्तार पा सकते हैं, अन्यथा ऐसा कोई नहीं है जो इससे मोहित न हुआ हो, उसके वशीभूत न हुआ हो अथवा विषय-विषके वेगसे जिसकी प्रकृति आच्छादित न हुई हो ॥ १३ ॥

यदुह वाव तव पुनरदभ्रकर्तारिह समाहूतस्तदर्थधियां मन्दानां नस्तद्
ददेवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिबोद्धुमविदुषाम् ॥ १४ ॥

हे देवदेव! हमारी बुद्धि पुत्रको ही परम पुरुषार्थ मानती है। हम मन्दमति यह भी नहीं जानते हैं कि हमारा वास्तविक कल्याण किसमें है। हे बहुकार्यकारिन्! हमने इस सामान्यसे यज्ञमें पुत्रकी कामनासे आपका आह्वान करके आपका अनादर किया है। अतः हे देवाधिदेव! आप अपने समदर्शिता गुणसे हमारी इस धृष्टताको कृपापूर्वक क्षमा कीजिये ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच—

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादित-
त्विगभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह ॥ १५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भारतवर्षाधिपति महाराज नाभिके पूज्य ऋत्विकोंने इस प्रकार गद्यात्मक स्तोत्रोंसे स्तुति करके भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना की, तब देवश्रेष्ठ भगवान्‌ने उनकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर अनुग्रहपूर्वक कहा— ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अहोबताहमृषयो भवद्विरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो
यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति। ममाहमेवाभिरूपः कैवल्याद्।
अथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति। ममैव हि मुखं यद्वि
जदेवकुलम् ॥ १६ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे ऋत्विजो! मैं आपकी स्तुतिसे सन्तुष्ट हूँ। आपलोग सत्यवादी महात्मा हैं। आपने यह जो वरदान माँगा है कि महाराज नाभिको मेरे समान पुत्र हो—वह वस्तुतः अति दुर्लभ है, क्योंकि मैं तो अद्वितीय पुरुष हूँ। मेरे समान मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं, तो भी ब्राह्मणोंके वचन मिथ्या नहीं होने चाहिए। तप, विद्या आदि द्वारा दीप्तमान् ब्राह्मण मेरे ही मुख हैं ॥ १६ ॥

तत्राग्नीध्रीयेऽंशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः ॥ १७ ॥

मैं अपने तुल्य किसी पुरुषको नहीं देख पा रहा हूँ। इसलिए मैं स्वयं ही अंशरूपमें आग्नीध्रके पुत्र महाराज नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे जन्म लूँगा ॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥ १८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। नाभिकी पत्नी मेरुदेवी अपने पतिके पास ही बैठी थीं। वे भी भगवान्‌के वचनोंको सुन रही थीं ॥१८॥

बर्हिषि तस्मिन्नेवं विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातवसनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवाविर्भावो नाम तृतीयोऽध्यायः।

हे विष्णुरात! इस प्रकार भगवान् उस यज्ञमें श्रेष्ठ ऋषियोंके द्वारा आराधित होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थी तथा याज्ञिक गृहस्थादिको अपने आचरण द्वारा उनके धर्म-प्रवर्तनके लिए तथा राजा नाभिका प्रिय साधन करनेके लिए उसके अन्तःपुरमें पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे शुद्धसत्त्व-विग्रह धारण कर प्रकट हुए ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके तीसरे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषभदेवका राज्यशासन

श्रीशुक उवाच—

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्य-
महाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चा-
वनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भूमिष्ठ होते ही नाभिनन्दनके
पाद-तलादिमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि भगवत् चिह्न देखे गये।
तदनन्तर समस्त प्राणियोंमें समता, शान्ति, जितेन्द्रियता, विषयोंसे
वैराग्य और अलौकिक ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण प्रतिदिन
उनका प्रभाव बढ़ने लगा। यह देखकर प्रजावर्ग, ब्राह्मणगण, देवतागण
और अमात्यादि सभीकी ऐकान्तिक अभिलाषा होने लगी कि वे ही
भूमण्डलके शासक बनें ॥१॥

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन
श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्याञ्च पिता ऋषभः इतीदं नाम चकार ॥ २ ॥

अपने पुत्रके सत्त्वप्रधान, सुन्दर एवं सुडौल शरीर, विपुल
गुणसम्पन्नता, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता
आदि गुणोंको देख महाराज नाभिने उसका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ
पुरुष) रखा ॥२॥

यस्य हि इन्द्रः स्पर्द्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य
भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्वं वर्षमजनाभं
नामाभ्यवर्षत् ॥ ३ ॥

एक बार ऐश्वर्यशाली इन्द्रने ईर्ष्याविश विरुद्धाचरण करते हुए
ऋषभजीके राज्य अजनाभ मण्डलमें वर्षा नहीं की। योगेश्वर

भगवान् ऋषभदेव उनके अभिप्रायको समझ गये और अवज्ञासूचक किञ्चित् मुसकानके साथ अपनी शक्तिके प्रभावसे अजनाभ खण्डको वर्षासे सम्पूर्णरूपसे सिञ्चित कर दिया ॥३॥

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः ॥४॥

राजा नाभि अपनी इच्छासे अपने अनुसार परम श्रेष्ठ पुत्र पाकर परमानन्दसे विभोर रहते थे। भगवान्की योगमायाके प्रभावसे 'मेरा पुत्र'—इस प्रकारकी बुद्धि रखकर वे मोहको प्राप्त हो गये थे। जिन पुराण-पुरुष भगवान्ने अपनी इच्छासे अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे भक्तवत्सलतावश मनुष्यवत् लीला की, उन्हींको राजा नाभि 'हे वत्स', 'हे तात' इस प्रकार गद्गदमयी वाणीसे सम्बोधित करते थे और अनुरागसे भरकर उनका लालन-पालनादि करते हुए परमानन्दमें डूबे रहते थे ॥४॥

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप ॥५॥

महाराज नाभि नगरवासी आदि प्रजाजनोंके मतको ही प्रमाण-स्वरूप मानते थे। जब उन्हें यह पता चला कि नागरिक और मन्त्रीमण्डल सभी ऋषभजीसे बड़ा प्रेम रखते हैं तो उन्होंने धर्मकी मर्यादाकी रक्षाके लिए अपने पुत्रका राज्याभिषेक करके उचित मार्गदर्शनके लिए उन्हें ब्राह्मणोंके हाथोंमें सौंप दिया तथा स्वयं पत्नी मेरुदेवीके साथ बदरिकाश्रम (सरस्वतीके तीरपर स्थित विशाल नामक तीर्थ विशेष) चले गये। वहाँ भगवद्-प्रसन्नता-विधानकारिणी तीव्र तपस्या तथा समाधि योगके द्वारा नर-नारयण नामसे कहे जानेवाले भगवान् वासुदेवकी उपासनामें लग गये और ठीक समय आनेपर भगवत्-महिमा-क्षेत्र श्रीवैकुण्ठधामको प्राप्त हो गये ॥५॥

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—
 को नु तत् कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत् पुमान्।
 अपत्यतामगाद् यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥६॥

हे पाण्डुपुत्र! पुराविद्गण नाभिराजका यशगान करते हुए इन दो श्लोकोंका पाठ करते हैं—राजर्षि नाभिके उदार कर्मोंका क्या कोई दूसरा पुरुष आचरण कर सकता है—जिनके विशुद्ध यज्ञानुष्ठानसे आकृष्ट होकर स्वयं श्रीहरिने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया था ॥६॥

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः।

यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥७॥

राजर्षि नाभिके समान ब्राह्मण भक्त भी कौन हो सकता है—जिनके यज्ञमें दक्षिणादि पूजासे सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणोंने मन्त्रबलसे यज्ञशालामें ही यज्ञेश्वर भगवान्को प्रकट करा दिया था ॥७॥

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः
 प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां
 धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नात—
 मभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास ॥८॥

पिताके वनके लिए प्रस्थान करनेपर भगवान् ऋषभदेवने अपने अजनाभ मण्डलको ही अपनी कर्मभूमि माना। जीवोंको शिक्षा प्रदान करनेके उद्देश्यसे उन्होंने गृहस्थोंके धर्मका आचरण करते हुए गुरुकुल-वासका आदर्श प्रस्तुत किया। [पुराणपुरुष भगवान् ऋषभदेवको गुरुकुलवास आदिकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु स्वयं धर्मका आचरण करके ही जीवोंको शिक्षा देनी चाहिए—इस न्यायसे गृहस्थाश्रमियोंको शिक्षा दी कि पहले गुरुकुलमें वास करके ब्रह्मचर्यका पालन करना आवश्यक है।] शिक्षा पूर्ण होनेके बाद उन्होंने गुरु दक्षिणा प्रदान की। इसके बाद गुरुका आदेश प्राप्त करके शास्त्र विहित श्रौत एवं स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए इन्द्रके द्वारा प्रदत्त जयन्ती नामकी पत्नीके गर्भसे अपने ही समान सौ पुत्रोंको जन्म दिया ॥८॥

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं
भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ९ ॥

ऋषभदेवके पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े, श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न और
महायोगी थे। उन्हींके नामपर इस अजनाभ खण्डको भारतवर्ष
कहा जाने लगा ॥ ९ ॥

तमनु कुशावर्त्त इलावर्त्तो ब्रह्मावर्त्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्
विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः ॥ १० ॥

महाराज भरतके छोटे जो निन्यानवे भाई थे, उनमें-से जो
नौ बड़े और श्रेष्ठ भाई थे, उनके नाम हैं—कुशावर्त्त, इलावर्त्त,
ब्रह्मावर्त्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ एवं कीकट ॥ १० ॥

कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं
वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्ठाद्वर्णयिष्यामः ॥ ११ ॥

इन पुत्रोंके अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन,
आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—महाराज भरतके ये नौ
भाई श्रीमद्भागवतके प्रामाणिक प्रचारक होनेके कारण महाभागवत
थे। ये सभी अपनी उत्कृष्ट भक्तिके कारण भगवान् श्रीवासुदेवकी
महिमासे मण्डित थे। चित्तको शान्ति प्रदान करनेवाले इनके
सुचरितोंका वसुदेव-नारद संवादमें वर्णन करूँगा ॥ ११ ॥

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया
यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः ॥ १२ ॥

इन उन्नीस पुत्रोंके अतिरिक्त ऋषभदेव एवं जयन्तीके इक्यासी
पुत्र और थे। ये सभी अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले,
अतिशय विनीत, वेदनिपुण और यज्ञपरायण थे। पुण्य कर्मों और
सदाचरणके कारण ये ब्राह्मण बन गये थे ॥ १२ ॥

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवल
आनन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत् कर्माण्यारम्भाणः कालेनानुगतं

धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको
धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ॥ १३ ॥

भगवान्के आवेशावतार होनेके कारण ऋषभदेव स्वतन्त्र पुरुष और अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप थे। उनका जन्म, मरणादि अनर्थ परम्परासे कभी कोई स्पर्श भी न था। वे राग, लोभादि दोषोंसे रहित, समस्त प्राणियोंके प्रति समदर्शी, परदुःखदुःखी और समस्त जीवोंके शुभचिन्तक थे। कालक्रमसे जो धर्म नष्टप्रायः हो गया था, वे उस वर्णाश्रम-धर्मादिरूप कर्मोंका आचरण करके उसका तत्त्व न जाननेवाले लोगोंको शिक्षा देते थे। ईश्वर होकर भी सामान्य जीवके समान आचरण करते हुए उन्होंने इस प्रकारकी शिक्षाके द्वारा धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग एवं मोक्ष संग्रहके लिए मनुष्यको गृहस्थाश्रममें नियमपूर्वक रहना सिखाया था। उन्होंने यही आदर्श स्थापित किया कि गृहस्थाश्रममें संयम बरतकर मनुष्य हरिसेवा-परायण हो सकता है ॥ १३ ॥

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥ १४ ॥

शीर्षस्थ अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग उसीका अनुसरण करते हैं ॥ १४ ॥

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दक्षितमार्गेण
सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास ॥ १५ ॥

यद्यपि ऋषभदेव समस्त धर्मका प्रतिपादन करनेवाले वेदोंके गूढ़ रहस्योंको जानते थे, तथापि उन्होंने ब्राह्मणोंके द्वारा बतलायी हुई सामादि विधियोंका आश्रय लेकर प्रजापर शासन किया था ॥ १५ ॥

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं
शतकृत्व इयाज ॥ १६ ॥

उन्होंने समस्त प्रकारके यज्ञोंके द्वारा यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुकी सौ बार आराधना की थी। उनके सभी यज्ञ व्रीहि-यवादि द्रव्य, पुण्यस्थान, वसन्तादि श्रेष्ठकाल, यौवन-आयु, श्रद्धा, ऋत्विक् और

(यज्ञेश्वर विष्णुका उच्छिष्ट प्राप्त करनेवाले) नाना देवताओंके उद्देश्यादिसे अतिशय समृद्ध हुआ करते थे॥१६॥

भगवत्तर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाच्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात् कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्त्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ॥ १७ ॥

जिस प्रकार आकाश-कुसुमादि जैसी कोई वस्तु माँगी नहीं जाती, उसी प्रकार जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्षका शासन कर रहे थे, तब इस देशमें कोई भी व्यक्ति अपने लिए किसी दूसरेसे कभी भी कुछ माँगता नहीं था। वस्तुतः सभी चाहते थे कि उनका अपने प्रभुके प्रति प्रत्येक क्षण अतिशय अनुराग बढ़ता रहे। इसके अतिरिक्त उनकी कोई कामना नहीं थी। यही नहीं, आकाश-कुसुमादि अविद्यमान वस्तुकी भाँति कोई किसीकी वस्तुकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था॥१७॥

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्त्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरिते चतुर्थोऽध्यायः।

एक बार भगवान् ऋषभदेव भ्रमण करते हुए ब्रह्मावर्त्त नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंकी सभा चल रही थी और राजाके सभी पुत्र बड़े मनोयोगसे ब्रह्मर्षियोंके उपदेशोंको सुन रहे थे। यद्यपि ऋषभदेवके सभी पुत्र संयतचित्त और प्रणय-विनयादि गुणोंसे युक्त थे, तथापि पिता ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको (आगे कहे जानेवाले) तत्त्वपूर्ण उपदेश दिये, जिससे वे शासन-प्रणालीमें भलीभाँति प्रशिक्षित हो सकें॥१८॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके चौथे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषभदेवका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं
अवधूतवृत्ति ग्रहण करना

श्रीऋषभ उवाच—

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विद्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यन्त्वनन्तम् ॥ १ ॥

श्रीऋषभदेवने कहा—हे पुत्रो! इस जगत्में देहधारी प्राणियोंमें नश्वर मानव देहको प्राप्त करके दुःखःदायी विषयोंका भोग करना कदापि उचित नहीं है। इस प्रकारके विषयभोग तो विष्टा-भोजी कुत्तों और सुअरोंको भी प्राप्त हो जाते हैं। इस देहसे तो भगवत्-सेवासे परिपूर्ण तपस्या करना ही उचित है। ऐसी तपस्यासे अन्तःकरण निर्मल होता है और हृदयके निर्मल हो जानेपर निर्विशेष एवं सविशेष दोनों प्रकारके ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्द विषय-भोगके समान अन्तयुक्त नहीं; बल्कि अपार एवं अनन्त होता है ॥१॥

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ २ ॥

पाण्डितोंकी उपासना दो प्रकारकी होती है—ब्रह्मोपासना एवं भगवदुपासना। इन पाण्डित्यपूर्ण महापुरुषोंकी सेवासे ब्रह्म-सायुज्यरूप मुक्ति और भक्तियुक्त भगवत्-पार्षदत्व साधनानुसार प्राप्त होता है। स्त्री-सङ्गियोंका सङ्ग नरकका द्वार-स्वरूप बतलाया गया है। जो

समदर्शी, भगवान्‌में निष्ठायुक्त, क्रोधरहित, समस्त प्राणियोंके हितमें रत एवं किसीके दोषको नहीं देखते—वे ही महापुरुष हैं ॥२॥

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न
प्रीतियुक्ता यावदथाश्च लोके ॥ ३ ॥

इसके अतिरिक्त जो मुझमें सौहार्द स्थापित करके मेरे प्रति प्रीतिको ही एकमात्र पुरुषार्थ मानते हैं, अन्य किसी वस्तुको नहीं, जो भोजन-पानादिमें लगे हुए विषयीजनोंकी असद् वार्ता और धन-जन-स्त्री-पुत्र, गृहादिमें रुचि नहीं रखते हैं और जो देह निर्वाहके उपयोगी अर्थके अतिरिक्त अधिक धनकी स्पृहा नहीं करते, वे महत् पुरुष हैं ॥३॥

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतये आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥ ४ ॥

इन्द्रिय-तर्पणके उद्देश्यसे जीव मतवाला-सा होकर पापादि कार्यमें लग जाता है, जिसके कारण जन्म-जन्मान्तरमें यह कष्टप्रद शरीर प्राप्त होता रहता है। वस्तुतः जीवका देह प्राकृत नहीं है, जीवात्माको प्राकृत देह नहीं मिलना चाहिए, किन्तु इन्द्रिय-तृप्तिके लिये जीव उसे प्राप्त करता रहता है। इसलिए क्लेशोत्पत्तिके मूल कारण विकर्मादि (परदारादि ग्रहणरूप पाप इत्यादि) की चेष्टाओंको मैं अच्छा नहीं मानता। जीवात्मा वस्तुतः देहादिमें लिप्त नहीं है, किन्तु अध्यासके कारण वह उसमें आसक्त रहता है ॥४॥

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ५ ॥

जब तक जीव आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा नहीं करता, तब तक उसे अविद्या-जनित क्लेश प्राप्त होते रहते हैं। आत्माका स्वरूप आवृत्त रहनेके कारण उसकी पाप-पुण्यादि कर्मोंमें रुचि बनी रहती है। इसीलिए मन कर्ममय स्वभावको प्राप्त कर लेता है और इसीसे देह-बन्धन प्राप्त होता है ॥५॥

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्यायात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥

(मन किस प्रकारसे कर्मात्मक हो जाता है, वही बतला रहे हैं—) पूर्वोक्त प्रकारसे जीवात्मा एवं परमात्माका विवेक अविद्या द्वारा आच्छादित हो जाता है, जिससे मन कर्मोंके अधीन हो जाता है और पुरुष कर्मनिष्ठ हो जाता है। अतः जब तक मुझ सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तबतक जीवको देह-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता ॥६॥

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥

ज्ञानवान् होनेपर भी जब तक जीवको यह उपलब्धि नहीं हो जाती कि विषय-सुखकी चेष्टाएँ अनर्थकारिणी हैं, तब तक स्वरूप-विस्मृतिके कारण वह मैथुन-सुख-प्रधान गृहादिमें आसक्त रहता है और उसमें नानाविध क्लेशोंको भोगता रहता है ॥७॥

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहंममेति ॥ ८ ॥

स्त्री और पुरुषके परस्पर मिलनेसे जो भाव होता है, वही भाव एक दूसरेके हृदयका दुर्भेद्य ग्रन्थि-स्वरूप है। उससे ही जीवोंका देह, गृह, धन एवं पुत्रादिमें मैं और मेरा बुद्धिरूप मोह होता है ॥८॥

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्मा-
न्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९ ॥

जिस समय मनुष्योंकी कर्मफलजनित सुदृढ हृदय-ग्रन्थि शिथिल होती है, उसी समय वे स्त्री-सङ्गसे निवृत्त हो जाते हैं। उनका संसार-मूल 'मैं' और 'मेरा' रूप अहङ्कार दूर हो जाता है। वे सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं और उन्हें परम-पदकी प्राप्ति हो जाती है ॥९॥

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ १० ॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥ ११ ॥
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्रियक्।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्व-
दसम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥ १२ ॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत् कुशलोऽहमाख्यम् ॥ १३ ॥

हे पुत्रो! परमहंस गुरुदेव और मुझमें ऐकान्तिक भक्ति, विषय-भोगादिसे वितृष्णा, शीतोष्णोदि द्वन्द्वोंमें सहिष्णुता, इस लोक और परलोकमें समस्त जीवोंको जो सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं इस तथ्यकी पर्यालोचना, तत्त्वातत्त्व-विचार, एकादशी आदि व्रतोंका अनुष्ठान, काम्य कर्मोंका त्याग, मेरी आराधनारूप कर्म, मुझसे सम्बन्धित कथाएँ, मेरे भक्तोंका नित्य सङ्ग, मेरा गुणानुकीर्तन, समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि और वैरभावका वर्जन, उपशम (क्रोध-शोकादिसे अभिभूत न होना) देह-गृहमें 'मैं'-'मेरा' बुद्धिका परित्याग, अध्यात्म शास्त्रोंका अभ्यास, निर्जन-वास, प्राण, मन एवं इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन, शास्त्रादिमें श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, निरन्तर कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान, व्यर्थकी बातोंसे विरत रहना, मेरे चिन्तनमें निपुणता और विज्ञान-समन्वित ज्ञान, योग—इन सबके द्वारा धैर्य, यत्न और विवेक युक्त होकर मनुष्य संसारके हेतुभूत 'अहङ्कार' नामक उपाधिको निरस्त कर दें॥१०-१३॥

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-

मविद्ययासादितमप्रमत्तः ।

अनेन योगेन यथोपदेशं

सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात्॥ १४॥

मैंने जिस प्रकारसे तुमलोगोंको उपदेश दिया, उसी प्रकारसे सावधान होकर इन उपायोंसे अविद्याजनित कर्मवासनारूप हृदयग्रन्थिको भलीभाँति काट डालो और तत्पश्चात् उन उपायोंमें भी आसक्ति मत रखो॥१४॥

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुः पिता

मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।

इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्

न योजयेत् कर्मसु कर्ममूढान् ।

कं योजयन् मनुजोऽर्थं लभेत

निपातयन् नष्टदृशं हि गर्ते॥ १५॥

यदि मेरा लोक और मेरी ही कृपा एकान्तरूपसे प्रार्थनीय है, तो पिता पुत्रको, गुरु शिष्योंको एवं राजा प्रजाओंको इसी प्रकारसे शिक्षा प्रदान करें। उपदेश देनेके बाद यदि वह उनका पालन न करे, तो उसपर क्रोध न करें। तत्त्वको न जानकर कर्मको ही पुरुषार्थ माननेवाले अज्ञानीको कर्ममें प्रवृत्त न होने दें। मोहान्ध व्यक्तियोंको काम्य-कर्मरूप संसार-कूपमें डालकर भला मनुष्य कौन-सा पुरुषार्थ प्राप्त कर लेंगे। कोई अन्धा व्यक्ति गड्ढेकी ओर बढ़ रहा है और उससे कहा जाय—इसी रास्तेसे चलो, तो जिस प्रकार उसे गड्ढेमें ढकेलनेसे अधर्म होता है, उसी प्रकार कर्मान्ध व्यक्तिको कर्ममें लगानेसे भगवत्-चरणोंमें अपराध होता है ॥१५॥

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-

र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः।

अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-

रनन्तदुःखञ्च न वेद मूढः ॥१६॥

जो मनुष्य अपने वास्तविक मङ्गलके उपायोंको नहीं जानते, वे नितान्त कामासक्त होकर विविध प्रकारके भोगोंकी अभिलाषा करते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति सामान्य इन्द्रिय-सुखके लिए परस्पर शत्रुता ठान लेते हैं और उससे उत्पन्न होनेवाले क्लेशोंको समझ भी नहीं पाते ॥१६॥

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चि-

दविद्यायामन्तरे वर्तमानम्।

दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं

प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥१७॥

अन्धे व्यक्तिको उल्टे रास्तेपर चलते देखकर कोई आँखवाला व्यक्ति उसे उस पथपर जानेके लिए निषेध करता है, उसी प्रकार ज्ञानवान्, दयाशील एवं पण्डित व्यक्ति किसी कुबुद्धि, संसारासक्त और विपथगामीको अज्ञान-जनित संसार-गर्तमें पड़े नहीं रहने देता ॥१७॥

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
 पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
 दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न
 मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम् ॥ १८ ॥

शुद्धभक्तिके उपदेशोंके द्वारा जो सिरपर नाचती हुई मृत्युरूप संसारसे रक्षा नहीं कर सकता, वह गुरु 'गुरु' नहीं है, वह स्वजन 'स्वजन' कहलाने योग्य नहीं है, वह पिता 'पिता' नहीं है अर्थात् उसका पुत्रोत्पत्तिके लिए प्रयत्न करना उचित नहीं है, वह माता 'माता' नहीं है, उस जननीका गर्भ-धारण करना अनुचित ही है, वह देवता 'देवता' नहीं है, अर्थात् जो देवता जीवकी संसारसे रक्षा नहीं कर सकता है, उसका मनुष्यके निकट पूजा ग्रहण करना उचित नहीं है, और वह पति 'पति' नहीं है, अर्थात् उसके द्वारा पाणिग्रहण करना उचित नहीं है। इस प्रकार जो जीवोंको भगवद्-वैमुख्यजनित अनर्थोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता, उन गुरु आदिका उसी प्रकार परित्याग कर देना चाहिए, जिस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा बलिने अपने गुरु शुक्राचार्यको, विभीषणने स्वजन रावणको, प्रह्लादने पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपुको, भरतने अपनी माता कैकेयीको, खट्वाङ्ग राजाने देवताओंको, याज्ञिक-ब्राह्मण-पत्नियोंने अपने पति याज्ञिक विप्रोंको भगवद्-विमुखताके कारण उनका परित्याग कर दिया था ॥१८॥

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
 सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
 पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरा-
 दतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ १९ ॥

पुत्रो! मेरा यह मनुष्य शरीर अवितर्क्य है (अर्थात् मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है, मैं प्राकृत जीवोंके समान कर्माधीन नहीं हूँ।) मेरा हृदय विशुद्ध सत्त्वात्मक है और जहाँ मुझे प्राप्त करानेवाला भक्तियोगसे पूर्ण धर्म विराजित है, वहीं मेरा वास है।

मैंने अधर्मका दूरसे ही परित्याग कर दिया है, इसलिए श्रेष्ठ व्यक्ति मुझे 'ऋषभ' कहते हैं ॥१९॥

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥ २० ॥

तुम लोग मेरे शुद्ध सत्त्वमय हृदयसे उत्पन्न हुए हो। अतः तुम सब मत्सरतादिका परित्याग करके अपने बड़े भाई भरतकी सेवा करो। भरतकी सेवा करनेसे मेरी भी सेवा हो जाएगी और प्रजा-पालनादिरूप कर्तव्य भी पूर्ण हो जायेंगे ॥२०॥

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीमृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ २१ ॥
देवाऽसुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥ २२ ॥

चेतन और अचेतन पदार्थोंमें प्रस्तरादि (पत्थर-चट्टानादि)की तुलनामें वृक्षादि स्थावर श्रेष्ठ हैं, उनसे जङ्गम अर्थात् कीट और साँप श्रेष्ठ हैं, साँपादिसे बुद्धिमान् पशु और पशुओंसे मानव श्रेष्ठ हैं। मानवोंसे भी देव-योनिके कारण भूत-प्रेत-प्रमथादि और उनसे भी गन्धर्व श्रेष्ठ हैं। इन गन्धर्वोंसे सिद्ध, सिद्धोंसे किन्नर और किन्नरोंकी भी अपेक्षा असुर श्रेष्ठ हैं। असुरोंसे देवता और देवताओंमें सर्वप्रधान इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्रकी भी अपेक्षा ब्रह्मा-पुत्र दक्षादि (प्रजापतिगण) श्रेष्ठ हैं, और इन पुत्रोंमें शङ्कर प्रधान हैं। शङ्कर ब्रह्माके बलसे बलवान् है, अतः उनकी अपेक्षा ब्रह्मा

श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मा मेरे अधीन हैं, इसलिए मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ। पुनः द्विज-श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे भी पूज्य हैं ॥२१-२२॥

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं नु।
यस्मिन् नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ २३ ॥

मुझे ब्राह्मणोंकी अपेक्षा कोई श्रेष्ठ दिखायी नहीं देता, इसलिए मैं किसीको उनके समान नहीं मानता। इस रहस्यको जाननेवाले मनुष्य श्रद्धाके साथ वैदिक नियमोंके अनुसार ब्राह्मण-मुखमें जो अन्न प्रदान करते हैं, वह मेरे लिये जितना तृप्तिदायक होता है, अग्निहोत्र यज्ञादिमें दिये हुए अन्नादिसे मुझे उतनी सन्तुष्टि नहीं मिलती ॥२३॥

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तिक्तिकानुभवश्च यत्र ॥ २४ ॥

वेद मेरी मूर्ति हैं। इस लोकमें ब्राह्मण ही वेदोंके अध्ययन-अध्यापन द्वारा मेरी विशुद्ध, मनोरम और चिरन्तन मूर्तिको धारण करते हैं। परम पवित्र सत्त्वगुण, शम (अन्तरेन्द्रिय निग्रह), दम (बाह्येन्द्रिय निग्रह), सत्य, अनुग्रह, तपस्या, सहिष्णुता, अनुभव (वेदार्थ ज्ञान) —ये आठों गुण ब्राह्मणोंमें नित्य विराजमान रहते हैं। इन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन श्रेष्ठ हो सकता है! ॥२४॥

मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ २५ ॥

मैं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ हूँ। मेरी अनन्त शक्तियाँ हैं। मैं स्वर्ग एवं मोक्षका अधिपति हूँ, तो भी शुद्ध ब्राह्मण भक्त मुझसे कुछ चाह नहीं

रखते। वे निष्किञ्चन रहकर मेरी भक्ति करते हैं। राज्यादि दूसरी वस्तुओंसे भला उनका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? ॥२५॥

सर्वाणि मद्भिष्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥ २६ ॥

पुत्रो! स्थावर-जङ्गमादि (अचल-चलादि) सभी प्राणियोंमें मेरा अधिष्ठान है। अतः ईर्ष्या-द्वेष आदिका परित्याग करके पद-पदपर सर्वदा सबका सम्मान करना, यही मेरी पूजा है ॥२६॥

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशात्र विमोक्तुमीशेत् ॥ २७ ॥

मेरी आराधना मन, चक्षु, वाणी एवं अन्यान्य इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका साक्षात् फल है। कोई भी जीव मेरी आराधनाके बिना मृत्यु-पाशसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता है ॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः
परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां
भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं
परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपरिपालनायाभिषिच्य स्वयं
भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश
आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावतात् प्रवव्राज ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यद्यपि महानुभाव परम सुहृद् भगवान् ऋषभदेवके पुत्र स्वयं ही सुशिक्षित थे, तथापि उन्होंने लोक-शिक्षाके लिए उन्हें इस प्रकार उपदेश प्रदान किये। उनके सौ पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े थे, जो परम भागवत और

भगवत्-भक्त-परायण थे। भगवान् ऋषभदेवने पृथ्वीके पालनके लिए उनका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं घरमें रहते हुए ही वस्त्र, आभूषणादि सबका परित्याग करके परम विरक्त भावसे केवल शरीर मात्रको धारण किये रखा, जिससे वासनारहित, कर्म-ग्रन्थि-रहित महामुनियोंके भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप पारमहंस्य धर्मकी शिक्षाका आदर्श स्थापित हो। गृहमें वे उन्मत्तके समान निर्वस्त्र रहे, बाल बिखरे हुए रहे और बादमें वे आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें स्थापित करके संन्यासके लिए ब्रह्मावर्त्तसे बाहर चले गये॥२८॥

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेशोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव॥ २९॥

हे राजन्! ऋषभदेव अवधूत वेश धारण करके लोगोंके बीच जड़, अन्धे, मूक, बहरे एवं पिशाचके समान उन्मत्त भावसे रहते। कोई उनसे बातचीत करना चाहता तो वे मौन धारण कर लेते, किसीके साथ कोई बात न करते॥२९॥

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिविरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादि ष्वनुपथमवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्त-र्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवा-सत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदुपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमा-वस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम॥ ३०॥

इधर-उधर घूमते हुए वे कभी नगरों, ग्रामों, खानों, किसानोंकी बस्तियों, पहाड़ी गाँवों, पुष्पवाटिकाओं, सेनाकी छावनियों, गोशालाओं, अहीरोंकी बस्तियों, यात्रियोंके सम्मिलन-स्थानोंकी ओर चले जाते, तो कभी पर्वतों, वनों और ऋषियोंके आश्रमोंकी ओर विचरण किया करते। जिस प्रकार जंगली हाथीको मक्खियाँ घेर लेती हैं, उसी प्रकार वे जहाँ-जहाँ भी जाते, उन-उन स्थानोंपर दुष्टलोग उन्हें डराते-धमकाते, मारते, उनपर पेशाब करते, थूका करते, पत्थर, विष्ठा एवं धूल फेंकते, अधोवायु छोड़ते और

गाली-गलौजसे उन्हें नाना प्रकारके क्लेश प्रदान करते, परन्तु वे इन सबकी ओर ध्यान भी नहीं देते। वे इस चैतन्य तत्त्वको जानते थे कि यह देह अचिद् वस्तुका परिणाम है और भ्रमके कारण लोग इसमें आत्मबुद्धि कर लेते हैं। वे स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप (अपने स्वरूप और परमात्माके स्वरूप) दोनोंकी ही अनुभूतिके साथ अपनी महिमामें (चिन्मयानन्द स्वरूपमें) स्थित रहते थे। उनको देहमें 'मैं' और 'मेरा'का अभिमान नहीं था। वे बिना किसी क्षोभके अकेले ही पृथ्वीपर यत्र-तत्र भ्रमण करते थे॥३०॥

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसयुगलवदनाद्यवयवविन्यासः
प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायत-
नयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन
पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमान-
कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहग्रहीत
इवादृश्यत ॥ ३१ ॥

परीक्षित्! उनके कर, चरण, वक्षःस्थल, विशाल बाहु, दोनों कन्धे और मुख इत्यादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग अतिशय सुकोमल थे। अतिशयोक्तम मुखमण्डल स्वाभाविक मुस्कानके द्वारा और भी शोभित होता था। नेत्र-युगल नवीन नलिन-दलके समान विशाल एवं अरुण वर्णके थे, उनकी आँखोंके तारे देखनेवालोंके सन्ताप हर लिया करते थे। उनके कपोल, कर्ण, कण्ठ एवं नासिका भी उसी प्रकारसे बहुत सुन्दर थे। मुखमण्डलपर सर्वदा मन्द-मन्द मुस्कान छायी रहती थी, जिससे पुरकामिनियोंके हृदयमें काम उद्दीप्त होने लगता था। मुखके आगे काली, जटिल एवं घुँघराली लटें लटकी रहती थीं, परन्तु शरीरके धूल-धूसरित होनेके कारण वे किसी ग्रहसे ग्रस्तकी भाँति दिखायी देते थे॥३१॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा
प्रतीपमिवाचक्षणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः

शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हृदति स्म चेष्टमान उच्चरित
आदिग्धोद्देशः ॥ ३२ ॥

जब भगवान् ऋषभदेवने देखा कि लोग उनके योग साधनमें साक्षात् रूपसे विघ्न डाल रहे हैं, तो उन्होंने उसके प्रतिकारके लिए कर्मको भी निन्दित माना और 'अजगर वृत्ति' धारण कर ली। तदनुसार एक स्थानपर लेटे हुए ही वे खाते-पीते और मल-मूत्रका परित्याग करते। वे त्यागे हुए मल-मूत्रमें लोट-पोट करते, जिससे उनके शरीरमें यहाँ-वहाँ विष्ठा सन जाती ॥ ३२ ॥

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्
सुरभिं चकार ॥ ३३ ॥

ऐसा होनेपर भी उनमें घृणाकी कोई आशङ्का न थी, क्योंकि उस मलमूत्रमें दुर्गन्धका लेशमात्र भी नहीं था। ऋषभदेवकी विष्ठाके सौरभसे वायु सुगन्धित होकर चारों ओर दस-दस योजन तकके स्थानको सुगन्धित कर देती थी ॥ ३३ ॥

एवं गोमृगकाकचर्या ब्रजं स्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः
पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥ ३४ ॥

परीक्षित्! इसी प्रकारसे गौ-वृत्ति, मृग-वृत्ति और काक-वृत्तिका आचरण करते हुए वे कभी चलते, कभी एक स्थानपर ठहर जाते, कभी बैठ जाते, कभी लेट जाते और गाय, मृग एवं कौएके समान ही खाते-पीते और मल-मूत्र त्यागते ॥ ३४ ॥

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरम-
महानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेवे
आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि
वैहायसमनोजवान्तर्द्धानि परकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि
नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ।

हे राजन्! भगवान् ऋषभदेवने योगियोंको योग-साधन प्रदर्शित करनेके उद्देश्यसे ही विविध योगोंका स्वयं अनुष्ठान किया था। वस्तुतः वे तो मुक्तिके अधीश्वर थे और उत्तरोत्तर सौगुना परिवर्द्धित होनेवाले अखण्ड आनन्दसे युक्त थे। सर्वभूतात्मा निज अंशी भगवान् वासुदेवसे उनका कोई व्यवधान अथवा भेद न था। उन्होंने अश्रु-पुलकादि लक्षणोंसे युक्त असीम प्रेममें सराबोर होकर समस्त फल प्राप्त कर लिये थे। अन्तरिक्षमें विचरण, मनके समान शीघ्र पहुँच जाना, अन्तर्धान हो जाना, परकायामें प्रवेश कर लेना, दूरकी वस्तुओंको देख लेना इत्यादि समस्त योग-सिद्धियाँ यदृच्छाक्रमसे उनके समीप उपस्थित हुई, परन्तु उन्होंने किसीको भी स्वीकार नहीं किया ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके पाँचवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

ऋषभदेवका देहत्याग

श्रीराजोवाच—

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि
पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन्! जो आत्माराम होते हैं, उनके योगसे उद्दीप्त ज्ञानाग्निसे राग आदि सम्पूर्ण कर्म-बीज ही जलकर नष्ट हो जाते हैं। उनके समीप योगैश्वर्यादि यदि स्वयं उपस्थित होते हैं तो भी वे सब उनके लिए कष्टप्रद नहीं होते। तब भगवान् ऋषभदेवने उन्हें स्वीकार क्यों नहीं किया? ॥१॥

श्रीऋषिरुवाच—

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य
शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते ॥ २ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आप सत्य ही कह रहे हैं। धूर्त व्याध जिस प्रकार अपने पकड़े हुए मृगोंपर—कहीं ये भाग न जायें, इसलिए पूरा विश्वास नहीं करता, उसी प्रकार इस लोकमें रहनेवाले महात्मागण भी अपने चञ्चल मनपर पूरा भरोसा नहीं करते ॥२॥

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।

यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥

पण्डितोंने कहा है—इस चञ्चल मनसे कभी मैत्री स्थापित मत करना। इस मनपर विश्वास करनेसे बहुत कालसे सञ्चित तपस्या भी नष्ट हो जाती है। जैसे भगवान् विष्णुके मोहिनीरूपका

दर्शन करनेसे शङ्करजी और मछलियोंका विहार देखनेसे सौभरि मुनि आदि समर्थ व्यक्तियोंका मन भी विचलित हो गया था॥३॥

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।

योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥४॥

व्यभिचारिणी स्त्री जिस प्रकार जार-पुरुष (उपपति)को सुयोग देकर अपने पतिका वध करवा डालती है, उसी प्रकार मनके ऊपर विश्वास करनेवाले योगियोंका असत् मन काम और कामके अनुचर क्रोधादिको अवसर प्रदान करके उन्हें योगसे पतित कर देता है॥४॥

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।

कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात् को नु तद्बुधः॥५॥

जिसके कारण काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, भय और कर्मबन्धन उपस्थित होते हैं, ऐसे मनपर भला पण्डितजन किस प्रकार विश्वास कर सकते हैं?॥५॥

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेशभाषाचरितैर विलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेन निरीक्ष्यमाण उपरतानु-वृत्तिरुपरराम॥६॥

ऋषभदेव समस्त लोकपालोंके शिरोमणि थे। उन्होंने अवधूत व्यवहृत विविध वेश, भाषा और आचरणका आश्रय लिया और जड़के समान रहे, जिससे वे अपने ईश्वरीय प्रभावको छिपा सकें। उन्होंने योगियोंको साम्पराय विधि अर्थात् देहत्याग-प्रक्रियाकी शिक्षा देनेके लिए अपने शरीरको त्याग करनेकी इच्छा करके अपने अंशी श्रीवासुदेवसे स्वयंको अभिन्न जानकर और मायासे मुक्त होकर लिङ्गदेह-अभिमानको त्याग दिया। इस प्रकार ऋषभदेवको संसारमें लौटकर नहीं आना पड़ा। जो ऋषभदेवके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए इस सूक्ष्म देहका परित्याग करता है, उसे इस जगत्में पुनः भौतिक देह धारण नहीं करना पड़ता॥६॥

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः कोङ्कवेङ्कटकुटकान् दक्षिणकर्णाटकान् देशान् यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्ये कृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्द्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥७॥

ऋषभदेवके हृदयसे देहाभिमान तो निकल ही गया था, फिर भी अपनी अवतार-लीलाको प्रकट करनेकी इच्छाके संस्कारवश उनकी देह इस पृथ्वीपर विचरण करने लगी। इस प्रकार भ्रमण करते हुए वे एक बार दक्षिण कर्णाटकके कोङ्क, वेङ्कट एवं कुटक आदि स्थानोंसे होते हुए दैववश कुटकाचलके समीप एक उपवनमें उपस्थित हुए। वहाँ मुखमें पत्थरके टुकड़े डालकर, केश बिखेरकर उन्मत्तके समान दिगम्बर वेशमें घूमने लगे ॥७॥

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह ॥८॥

उसी समय उस वनमें तेज हवा चलनेसे बाँसोंके परस्पर रगड़नेपर भीषण अग्नि प्रज्वलित हुई और उसने ऋषभदेवकी देहके साथ सारे वनको जला दिया ॥८॥

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्कटकुटकानां राजार्हत्रामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाषण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥९॥

हे राजन्! कलियुगमें ऋषभदेवकी पारमहंस्य-लीलाको सुनकर कोङ्क, वेङ्कट और कुटक देशका जैन राजा अर्हत उनके आचरणका अनुकरण करेगा। तब लोगोंके पूर्व-सञ्चित पापोंके फलसे कलियुगमें अधर्म प्रबल होनेपर वह मन्दबुद्धि राजा अर्हत मूर्खोंकी भाँति निर्भय होकर स्वधर्मका अर्थात् वैदिक-नियमका परित्याग करके अपनी बुद्धिसे वेद-विरुद्ध पाषण्डपूर्ण जैनादि धर्मरूप अनुचित मार्गका प्रचार करेगा। (यही जैन धर्मका आरम्भ है, अनेक धर्म इसी नास्तिक्यवादको ग्रहण करते रहेंगे।) ॥९॥

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायाविमोहिताः
स्वविधिनियोगशौचचारित्र्यविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना
अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो
ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥

इसके फलस्वरूप देवीमायासे विमोहित होकर लोग अपने-अपने
वर्णाश्रमोचित विधि-निषेधादि, शास्त्रपरक स्नान और सन्ध्योपासना
रूपी शौच एवं आचार छोड़ देंगे, देव-अवज्ञा रूपी कुव्रतोंका
अनुष्ठान करने लगेंगे, स्नान न करना, आचमन न करना,
अशुचि अवस्थामें रहना, केश नुचवाना (नौचकर उखाड़ना) आदि
अनाचारोंको स्वेच्छासे ग्रहण करेंगे। इस प्रकार अधर्म-प्रधान
कलियुगके प्रभावसे लोगोंकी बुद्धि नष्ट हो जायेगी। वे प्रायः वेद,
ब्राह्मण, भगवान् एवं भागवतके निन्दक हो जायेंगे ॥ १० ॥

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्वस्तास्तमस्यन्धे
स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥

वे अधम लोग अज्ञानवशतः वैदिक धर्मके शाश्वत नियमोंको न
मानकर और अन्ध-परम्परासे प्रेरित होकर अवैदिक, नवीन और मनमानी
प्रवृत्तिमें विश्वास करके स्वयं ही घोर तामिस्र नरकमें गिरेंगे ॥ ११ ॥

अयमवतारो रजसोपप्लुतलोककैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ १२ ॥

रजोगुणसे परिपूर्ण लोगोंको कैवल्य-पद (मोक्ष-मार्ग) की शिक्षा
देनेके लिए ही भगवान्का यह ऋषभदेव अवतार हुआ था ॥ १२ ॥

तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ १३ ॥

पण्डितगण ऋषभदेवके गुणोंका वर्णन करते हुए इस प्रकारसे
श्लोक गाया करते हैं—अहो! सात समुद्रोंसे घिरी इस पृथ्वीमें

बहुत-से द्वीप और वर्ष हैं, इनमें भारतवर्ष ही अतिशय पुण्यवान् है। इसी भारतवर्षमें लोग भगवान् मुरारिके ऋषभदेवादि विविध मङ्गलमय अवतार-चरितोंका गान करते हैं ॥१३॥

अहो नु वंशो यशसावदातः
 प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः।
 कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
 श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥ १४ ॥

अहो! महाराज प्रियव्रतके वंशकी कीर्ति कैसी सुनिर्मल है! इस वंशमें पुराण-पुरुष आदिदेव भगवान् श्रीनारायणने ऋषभावतार लेकर समस्त कर्म-फलोंसे मुक्ति दिलानेवाले पारमहंस्य धर्मका (नैष्कर्म्य-धर्मका) आचरण किया था ॥१४॥

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
 न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी।
 यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
 ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥ १५ ॥

अहो! जन्म-रहित (भगवान्) ऋषभदेवके इस मार्गपर अन्य कोई योगी क्या मनसे भी चल सकता है? अन्यान्य योगी जिन योग-सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिए लालायित होकर बहुत प्रकारके प्रयत्न करते हैं, उन्हें ऋषभदेवने अपने-आप प्राप्त होनेपर भी 'असत्' समझकर परित्याग कर दिया था ॥१५॥

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत
 ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणम्।
 परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो
 भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥ १६ ॥

राजन्! भगवान् ऋषभदेव समस्त वेद, लोक, देवता, गौ और ब्राह्मणोंके परम गुरु हैं। उनका यह पवित्र चरित्र मैंने तुम्हें श्रवण कराया, जो मनुष्योंके दुष्कर पापोंका हरण करनेवाला परमोत्कृष्ट

मङ्गलका निलय (आगार) है। इस चरितको जो अत्यन्त श्रद्धा एवं सरल चित्तसे श्रवण करते हैं अथवा दूसरोंको श्रवण कराते हैं, उनको भगवान् वासुदेवकी अव्यभिचारिणी अर्थात् अनन्य विशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है ॥१६॥

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापो-
पतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं
परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्वियन्ते भगवदीयत्वेनैव
परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥ १७ ॥

विविध पापोंसे भरे संसार-तापमें निरन्तर दग्ध होनेके कारण पण्डितगण अपनी आत्माको भगवद्-भक्ति-सुधारसमें स्नान कराते हैं, इसीसे उन्हें परमानन्दकी प्राप्ति होती है। यदि परम पुरुषार्थरूप मुक्ति स्वयं आकर उपस्थित हो भी जाय अथवा श्रीभगवान् इसे स्वयं प्रदान करें, तो भी उनके लिए उसका कोई महत्त्व नहीं होता। उन्होंने तो भगवद् विषयिणी भक्तिके प्रभावसे सभी पुरुषार्थोंको पहले ही भलीभाँति प्राप्त कर लिया होता है ॥१७॥

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥ १८ ॥

हे राजन्! भगवान् मुकुन्द पाण्डवों तथा यदुकुलके पालक, गुरु, उपास्य (इष्टदेव), सुहृद् (बन्धु) और कुलपति थे। अधिक क्या कहा जाय! भक्तवत्सलताके कारण वे कभी-कभी सेवक बनकर उनके अनेक कार्य भी करते थे। इस प्रकार जो उनका भजन करते हैं, उन्हें वे मुक्ति तो प्रदान कर सकते हैं, किन्तु भक्तियोग कभी किसीको सहज ही नहीं देते ॥१८॥

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।

लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यात्रमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीऋषभदेवानुचरितं नाम षष्ठोऽध्यायः।

परीक्षित्! भगवान् ऋषभदेव अपने स्वरूपकी अनुभूतिको ही परम उपलब्धि मानते थे, उन्हें किसी अन्य पुरुषार्थकी आकाङ्क्षा न थी। अनित्य देह-गृह आदिमें मग्न रहनेके कारण जिनकी बुद्धि अपने वास्तविक मङ्गलकी प्राप्तिके विषयमें चिरकालसे बेसुध थी, उन लोगोंपर अनुग्रह करते हुए उन्होंने निर्भय होकर भगवत्-तत्त्वका उपदेश दिया था, मैं उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार करता हूँ ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

भरत-चरित्र

श्रीशुक उवाच—

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय
सञ्चिन्तितस्दनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! परम भागवत महाराज
भरत अपने पिता भगवान् ऋषभदेवके सङ्कल्प मात्रसे ही (अर्थात्
ब्रह्मावर्त्तसे प्रस्थानके समय ऋषभदेवने भरतको राज्यपालनादि कार्यमें
नियुक्त करनेके लिए जो सङ्कल्प किया था) पृथ्वीकी रक्षाके लिए
नियुक्त हो गये और उनकी ही आज्ञासे उन्होंने विश्वरूपकी पुत्री
पञ्चजनीके साथ विवाह किया ॥१॥

तस्याम् उह वा आत्मजान् कात्स्न्येनानुरूपानात्मनः
पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं
सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति ॥ २ ॥

अहङ्कारसे जिस प्रकार शब्द-स्पर्शादि सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति
होती है, राजा भरतने भी उसी प्रकार पञ्चजनीके गर्भसे अपने
ही समान सद्गुणसम्पन्न पाँच पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनके नाम
थे—सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु ॥२॥

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥ ३ ॥

पहले इस वर्षका नाम अजनाभ वर्ष था। भरतके राजा बननेके
बादसे पण्डितजन इसे भारतवर्ष कहने लगे ॥३॥

स च बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि
वर्त्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्त्तमानाः पर्यपालयत् ॥ ४ ॥

पृथ्वीपति राजा भरत सर्वज्ञ थे। उन्होंने सर्वतोभावसे अपने धर्ममें प्रतिष्ठित एवं अपने कर्त्तव्यमें रत होकर पितामहके समान अपनी प्रजाका पालन किया॥४॥

इजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहताग्निहोत्रदर्श-
पूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना॥५॥

महाराज भरतने बड़ी श्रद्धाके साथ बहुत-से छोटे एवं बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया। उन्होंने होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा—इन चार प्रकारके ऋत्विजोंके द्वारा निर्देशित विधि-विधानोंके अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, अश्वमेधादि पशुयज्ञ और सोमयज्ञ सम्पन्न किये। उनके द्वारा कभी ये यज्ञ सर्वाङ्ग होते थे, तो कभी सभी अङ्ग अनुष्ठित नहीं होते थे। इस प्रकार इन यज्ञोंके द्वारा राजा भरतने भगवान्की उपासना की॥५॥

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत् तत् क्रियाफलं
धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया
साक्षात् कर्त्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान
आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो
देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत्॥६॥

अङ्ग और क्रियाओंके साथ अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते समय धर्म नामक जिस अपूर्व (अदृष्ट) का उदय होता है, वही यज्ञादि क्रियाओंका फल है। महाराज भरत इन सब क्रियाओंके फलको साक्षात्-कर्त्ता परदेवता-भगवान् वासुदेवकी प्रीतिके लिए उनको ही समर्पित कर देते थे। वे जानते थे कि भगवान् वासुदेव इन्द्रादि देवताओंके प्रकाशक, सकल मन्त्रोंके प्रतिपाद्य और सभी देवताओंके नियामक हैं। भगवान् वासुदेवको अर्पित उनकी बुद्धिरूपी आत्म कुशलतासे उनके रागादि दोष क्षीण होने लगे। याज्ञिक पुरोहित यज्ञमें आहुति देनेके लिए जब हवि (यज्ञ-सामग्री) हाथमें लेते, तब यजमान भरत यज्ञ-भागके भोक्ता इन्द्रादि देवताओंका भगवान् वासुदेवके चक्षु-बाहु इत्यादि अङ्गोंके

रूपमें ध्यान इस प्रकार करते अर्थात् 'इन्द्राय स्वाहा', इस मन्त्रके द्वारा मैं भगवान्की बाहुकी पूजा कर रहा हूँ, 'सूर्याय स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा मैं भगवान्के चक्षुओंकी पूजा कर रहा हूँ॥६॥

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत ॥७॥

इन विशुद्ध कर्मानुष्ठानोंके फलसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया और भगवान् वासुदेवके चरणोंमें उनकी भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। वसुदेवनन्दन ही उपासना भेदसे परमात्मा, ब्रह्म एवं भगवान् शब्दोंसे जाने जाते हैं। योगी लोग अपने हृदयमें जिनका ध्यान करते हैं, वे ही परमात्मा हैं, ज्ञानी जिसकी उपासना करते हैं—वे निर्विशेष ब्रह्म हैं, भक्तोंके उपास्यदेव पूर्णपुरुष भगवान् वासुदेव हैं। वे महापुरुषोंके लक्षणोंसे उपलक्षित हैं। शास्त्रोंमें उनका रूप प्रसिद्ध है—वे श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला और शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित हैं। नारदादि निजजनोंके हृदयमें वे चित्रपटके समान निश्चल (स्थिर) भावसे स्वतः ही पुरुषरूपमें प्रकाशित होते हैं॥७॥

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्त्वं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पत्तिकेतात्मनिकेतात् पुलहाश्रमं प्रवव्राज ॥८॥

प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार राजर्षि भरतका राज्यभोगादि काल एक करोड़ वर्ष तक निर्धारित था। इस निर्दिष्ट अवधिके बीत जानेपर उन्होंने वंश-परम्परासे प्राप्त सम्पत्तिको विधिपूर्वक अपने पुत्रोंमें विभाजित कर दिया और स्वयं समस्त सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण अपने राजभवनसे निकलकर तपस्याके लिए पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) चले गये॥८॥

यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन
संनिधाप्यत इच्छारूपेण ॥ ९ ॥

इस पुलहाश्रममें आज भी भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि वहाँके
भक्तोंकी इच्छानुसार श्रीमूर्ति धारण करते हैं और उन्हें दर्शन प्रदान
करते हैं ॥ ९ ॥

यत्राश्रमपदान्युभयतो नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा
सर्वतः पवित्रीकरोति ॥ १० ॥

इसी पुलहाश्रममें समस्त नदियोंमें श्रेष्ठ गण्डकी नदी है। यह
चक्राकार शालिग्राम शिलाओंके द्वारा आश्रमको सब ओरसे पवित्र
करती है। यहाँ सभी शिलाओंके ऊपर और नीचे नाभिका चिह्न
दिखायी देता है ॥ १० ॥

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने
विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो
भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपसंभृतोपशमः परां
निर्वृतिमवाप ॥ ११ ॥

इस पुलहाश्रमके उपवनमें महाराज भरतने अकेले ही रहकर
विविध प्रकारके पुष्प, किसलय (कोमल अङ्कुर), तुलसी, जल एवं
कन्द-मूल आदिसे भगवान् वासुदेवकी अर्चना की, जिससे उनका
चित्त शुद्ध हो गया और उनकी विषय सम्बन्धी सभी अभिलाषाएँ
दूर हो गयीं। शम-गुण (बाह्य एवं अन्तःकरणका निग्रह) का
आश्रय लेनेसे उन्हें परम शान्ति और प्रीतिके लक्षणोंसे युक्त
पराभक्तिकी प्राप्ति हुई ॥ ११ ॥

तयेत्यमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्द्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः
प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्प-
निरुद्धावलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन
परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां
न सस्मार ॥ १२ ॥

महाभागवत भरत निरन्तर भगवत्-सेवामें ही लीन रहने लगे। दिन-प्रतिदिन भगवान् वासुदेवमें उनका अनुराग बढ़नेके कारण उनके नित्यकर्मोंके नियम शिथिल होने लगे। उनकी देहमें रोमाञ्च, पुलकादि प्रेमके लक्षण उदित होते रहते, हृदय द्रवीभूत हो जाता, नेत्रोंसे आनन्दके अश्रु उमड़ आते, जिससे उनकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती। इस प्रकार अपने प्रेमप्रदाता भगवान्‌के अरुणवर्णीय चरणकमलोंके ध्यानके प्रभावसे उनका भक्तियोग समृद्ध होने लगा और उनका गम्भीर हृदयरूपी हृद (कुण्ड) परमानन्दरूपी जलसे भर गया। अब उनकी बुद्धि इस आनन्दसे भरे कुण्डमें ही डूबी रहती। वे भगवान्‌की जो नित्य सेवा-पूजा करते थे, उसका भी उन्हें स्मरण नहीं रहता॥१२॥

इत्थं धृतभगवद्भ्रत एणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिश-
कुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं
पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥१३॥

भगवद्-विषयक नियमोंका आश्रय लेकर महाराज भरत वस्त्रोंके रूपमें मृगचर्म पहनने लगे। त्रिसन्ध्या स्नान करनेके कारण गीले रहनेसे उनके केश कपिल (भूरे) वर्णकी घुँघराली जटाओंमें बदल गये, जिससे वे और भी सुशोभित होने लगे। वे उदित होनेवाले सूर्यमण्डलमें उसके मध्यवर्ती (हिरण्यमय) पुरुष नारायणकी ऋग्वेदके मन्त्रोंसे आराधना करते और इस प्रकार कहा करते—‘ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्ती’ अर्थात् सूर्यमण्डलके भीतर विराजित भगवान् श्रीनारायण सदा ध्येय हैं॥१३॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
स्वरेतसाऽदः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः॥१४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीभरतचरिते श्रीभगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः।

विशुद्ध सत्त्वात्मक, जगत्-प्रकाशक तथा भक्तोंके अभीष्ट प्रदाता भगवान् संकल्प मात्रसे ही अपने तेजके प्रभावसे इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। वे ही अन्तर्यामीरूपसे जगत्में प्रविष्ट होकर अपनी चिद्-शक्ति द्वारा अनित्य विषयोंकी आकाङ्क्षा करनेवाले जीवोंकी रक्षा करते हैं। बुद्धि-वृत्तिका प्रवर्तन करनेवाले उन भगदेवकी हम शरण ग्रहण करते हैं ॥१४॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके सातवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

भरतका मृगके मोहमें फँसकर
मृग-योनिमें जन्म लेना

श्रीशुक उवाच—

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको
ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्त्तत्रयमुदकान्त उपविवेश ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक दिन भरत
नित्य-नैमित्तिक क्रिया, शौच, स्नानादि आवश्यक कार्य समाप्त
करके प्रणवका जप करते हुए तीन मुहूर्त्त तक महानदी गण्डकीके
तटपर बैठे रहे ॥ १ ॥

तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम ॥ २ ॥

हे महाराज! उसी समय वहाँ प्याससे व्याकुल होकर एक हिरणी
अकेली ही नदी तटके समीप चली आयी ॥ २ ॥

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो
लोकभयङ्कर उदपतत् ॥ ३ ॥

वह बड़ी तृप्त होकर जल पी ही रही थी कि समीपमें ही
एक सिंह जोरसे गरज उठा। उसका यह भीषण गर्जन बड़ा ही
भयङ्कर था ॥ ३ ॥

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविकलवा चकितनिरीक्षणा
सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्
सहसैवोच्चक्राम ॥ ४ ॥

हिरणी एक तो स्वभावसे ही डरपोक और चकित नयनोंवाली
(दृष्टिवाली) होती है, उसपर सहसा भीषण गर्जन सुनकर वह हिरणी
और भी भयभीत हो गयी। उसका हृदय जोर-जोरसे धड़कने लगा।

वह चञ्चल नेत्रोंसे इधर-उधर देखने लगी। अभी उसकी प्यास बुझी भी न थी, तो भी भयभीत होनेके कारण हठात् ही उसने एक छलांग मारी और नदीके पार होनेका प्रयास करने गयी ॥४॥

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः
स्रोतसि निपपात ॥५॥

हे राजन्! यह हिरणी पूर्ण गर्भवती थी। अतः छलांग लगाते समय अतिशय वेग तथा भयके कारण उसकी गर्भस्थ सन्तान उसके योनि-मार्गसे निकलकर नदीके प्रवाहमें गिर पड़ी ॥५॥

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दयां
कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार ॥६॥

यह हिरणी अपने झुण्डसे बिछुड़ी हुई तो थी ही, अपने गर्भके गिर जाने, बलपूर्वक छलांग लगाने तथा सिंहके भयके कारण वह अतिशय पीड़ित हो गयी थी। वह एक पर्वतकी गुफामें जाकर गिर गयी और वहीं उसने प्राण त्याग दिये ॥६॥

तन्त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं
बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥७॥

राजर्षि भरत नदीके तटपर ही बैठे थे। उन्होंने देखा कि स्वजनोंसे बिछुड़कर दयनीय मृगशावक (मृगशिशु) नदीके प्रवाहमें बहता चला जा रहा है। इस दृश्यसे उनका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने आत्मीय बन्धुके समान उस मातृहीन नवजात मृगशावकको उठा लिया और उसे अपने आश्रममें ले आये ॥७॥

तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषण-
पालनप्रीणनलालनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय
एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥८॥

हे राजन्! उस मृगशावकमें भरतकी आसक्ति (अपनेपनका अभिमान) दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। दिन-रात उसका तृणादि भोजन जुटाना, व्याघ्रादिसे रक्षा करना, खुजलाहट आदिके द्वारा प्रीति करना

और चुम्बनादिके द्वारा उसके साथ लाड़-प्यार करनेमें ही व्यतीत होने लगे। इस कारण उनके स्नानादि नियम, अहिंसादि आचरण, भगवत्-परिचर्या आदि क्रियाएँ प्रतिदिन क्षीण होने लगीं और कुछ ही दिनोंमें उनका सारा धर्माचरण नष्ट हो गया ॥८॥

अहोबतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणञ्च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मयतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा ॥ ९ ॥

(भरतजी मन-ही-मनमें विचार करते) अहो! यह निराश्रय मृगशावक कालचक्रके वेगसे स्वजन, सुहृद् तथा बन्धुओंसे बिछुड़कर मेरे आश्रममें आ गया है। यह मुझे ही अपना माता, पिता, भ्राता, और जाति सहचर मानता है। मुझपर इसका ऐकान्तिक विश्वास है। मेरे अतिरिक्त यह किसीको नहीं जानता। इसका पालन करनेसे मेरे परमार्थकी हानि होगी—इस प्रकारका स्वार्थ भाव मुझे नहीं रखना चाहिए। इसका लालन-पालन करना, इसका पोषण करना और लाड़-प्यारसे सन्तुष्ट रखना मेरा कर्त्तव्य है। मैं ही इसकी एकमात्र शरण हूँ। जो शरणागतका अनादर करता है, वह पापका भागी होता है—यह मैं जानता हूँ। अतः इस आश्रितकी उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥९॥

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ १० ॥

समस्त प्रकारसे बाहरी विषयोंसे विरक्त होनेपर भी दीन-जनोंके परम सुहृद्, शिष्ट और सज्जन निश्चय ही शरणागतोंकी रक्षाके लिए अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थकी भी उपेक्षा कर देते हैं ॥१०॥

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ॥ ११ ॥

भरतका चित्त मृगशावकके स्नेह-पाशमें ऐसा बँध गया था कि वे उठते-बैठते, सोते-जागते, टहलते, स्नान एवं भोजनादि करते हुए उसीके विषयमें सोचते रहते थे॥११॥

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसाला-
वृकादिभ्यो भयमाशंसमानां यदा सह हरिणकुणकेन वनं
समाविशति ॥ १२ ॥

भरत जब कुश, कुसुम, समिधा, पत्र, फल, मूल एवं जलादि लानेके लिए वनमें जाते, तब उस शावकको इस आशङ्काके कारण अपने साथ ले जाते कि कहीं उनके पीछेसे कुत्ते अथवा भेड़िये आकर उसे खा न जाएँ॥१२॥

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः
कार्पण्यात् स्कन्धेनोद्वहति। एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन् मुदं
परमामवाप ॥ १३ ॥

मार्गपर चलते समय वे मृगशावकके बाल्य-सौकुमार्यपर मुग्ध हो जाते, उसकी ओर उनका चित्त खिंचता चला जाता और वे प्रेमसे विह्वल हो पड़ते। इस प्रकार स्नेह-वात्सल्यसे भरकर वे उस शावकको कभी कन्धेपर उठा लेते, कभी गोदमें रख लेते और कभी वक्षःस्थलपर रखकर अत्यन्त आदरके साथ दुलार करते हुए परम आनन्दित होते॥१३॥

क्रियायामनिर्वर्त्यमानायामन्तरालेष्युत्थायोत्थाय यदै नमभिचक्षीत तर्हि
वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति
स्ताद्वत्स ते सर्वत इति ॥ १४ ॥

प्रारम्भ की हुई देव-पूजादि नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ करते समय महाराज भरत बीच-बीचमें उठकर देखने लगते कि शावक कहाँ है? यदि वह प्रसन्न दिखायी देता, तो वर्षपति भरतजीका चित्त हर्षित हो जाता और वे उसे मङ्गल आशीष देते हुए कहते—हे वत्स! तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण हो॥१४॥

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण
हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं
महदभिरम्भित इति होवाच ॥ १५ ॥

दैवात् यदि वह किसी समय दिखायी नहीं देता तो उनका चित्त
उस प्रकार से अत्यन्त व्याकुल हो जाता, जिस प्रकार धन अपहरण कर
लिये जानेपर कृपण व्यक्तिका चित्त मोहग्रस्त हो जाता है। उत्कण्ठाके
कारण वे शावकके विरहमें विह्वल होकर दुःखी हो जाते और शोक
और मोहके वशीभूत होकर इस प्रकारसे विलाप करने लगते— ॥१५॥

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य
शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन्
सुजन इवागमिष्यति ॥ १६ ॥

अहो! मृत हिरणीका यह मृगछौना निराश्रय है! यद्यपि मैं
अतिशय अभद्र और हतभाग्य हूँ, मेरी बुद्धि भी शठतासे युक्त
और व्याधकी भाँति क्रूर है, तथापि वह तो मुझमें विश्वास रखता
है। सज्जन जिस प्रकार अपने अन्तःकरणके विशुद्ध भावोंके द्वारा
दुर्जनके द्वारा किये गये अपराधोंको भुलाकर पुनः उसपर विश्वास
करके उसके घर आया करता है, इसी प्रकार यह मृगछौना अपने
चित्तके सरलतादि गुणोंसे मेरे शाठ्यादि अपराधोंकी उपेक्षाकर मेरे
पास आयेगा क्या? ॥१६॥

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ॥ १७ ॥

आहा! क्या मैं उसे देख पाऊँगा? देवताओंके द्वारा सुरक्षित
इस आश्रमके उपवनमें क्या मैं उसे निभर्यतापूर्वक कोमल घास
चरते हुए पुनः देख सकूँगा? ॥१७॥

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा
भक्षयति ॥ १८ ॥

कहीं भेड़िया, कुत्ता, झुण्डमें चलनेवाला सुअर आदि अथवा
अकेले ही विचरण करनेवाले व्याघ्रादि उसे खा तो नहीं गये ॥१८॥

निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रयात्माद्यापि न मम
मृगवधून्यास आगच्छति ॥ १९ ॥

अहो! जिनके उदयसे सम्पूर्ण जगत्का मङ्गलोदय होता है
(केवल मेरे ही मङ्गलका उदय नहीं हुआ) वे वेदस्वरूप (मात्र मैं
ही वेदोक्त दया-धर्मसे विमुख हूँ) सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर जा रहे
हैं, किन्तु वह मृगवधू जाते समय अपना जो धन मेरे पास रख
गयी थी, वह धन मेरे पास अब तक लौटा क्यों नहीं? ॥ १९ ॥

अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो
विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन् ॥ २० ॥

वह मृगराजकुमार (अत्यन्त प्रीतिके कारण मृगशावकको
राजपुत्रके समान समझते हुए) क्या मुझ पुण्यहीन, हतभाग्यके
समीप पुनः लौटेगा और स्वभाव सुलभ विविध मनोहर दर्शनीय
क्रीड़ाओंसे मेरे असन्तोषको दूर करेगा? ॥ २० ॥

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनामीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित
आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति ॥ २१ ॥

अहो! जब वह क्रीड़ा करता था, तब मिथ्या ध्यानके बहाने
मैं अपनी आखें बन्द कर लेता था। तब वह प्रणय-कोपके
कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और सचकित होकर
मेरे समीप आकर अपने कोमल सींगोंकी नोकसे मेरा स्पर्श
करता। उसका स्पर्श मुझे जल-बिन्दुओंके समान सुखद प्रतीत
होता था ॥ २१ ॥

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास
ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते ॥ २२ ॥

जब मैं कुशके ऊपर यज्ञ-सामग्री रखता, तब वह खेलते-कूदते
हुए अपनी चञ्चलताके कारण कुशको खींच लेता, जिससे वह
सामग्री दूषित हो जाती। यह देखकर मैं उसे डाँटता तो वह
अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय खेल-कूद छोड़कर ऐसे चुपचाप

बैठ जाता मानो कोई मुनि-बालक अपनी इन्द्रियोंका संयम करके बैठा हो ॥२२॥

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनय-
कृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य
कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानञ्च सर्वतः कृतकौतुकं
द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति ॥ २३ ॥

(इस प्रकार विलाप करते हुए राजर्षि भरत उठे एवं बाहर गये।
वहाँ मृगशावकके पदचिह्नोंको देखकर वे कहने लगे—) अहो! मैं
नहीं जानता! इस भाग्यवती पृथ्वीने कौनसी तपस्या की है, जो यह
विनीत कृष्णसार-सुत (काले हिरणशिशु)के सूक्ष्म, सुन्दर, कोमल और
परम मङ्गलस्वरूप चरण-चिह्न धारण कर रही है और मृगधन लुट
जानेसे अति व्याकुल एवं शोकग्रस्त मुझे उस खोये-धनकी प्राप्तिका
मार्ग बता रही है। यह धरिणी स्वयं तो अपनी देहपर सर्वत्र ही
उन चिह्नोंको धारणकर विभूषित हो रही है और स्वर्ग-अपवर्गके
इच्छुक ब्राह्मणोंके लिए यज्ञस्थलीके समान प्रतीत हो रही है ॥२३॥

अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं
स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥ २४ ॥

(चन्द्रमाके उदित होनेपर चन्द्रमामें श्यामल मृग-चिह्नको देखकर
राजर्षि भरत उसे ही अपना मृग समझकर कहने लगते—)
दीनवत्सल भगवान् सोमदेवने मेरे आश्रमसे बिछुड़े हुए और
मातृविहीन मृगशावकपर कृपा की है। वे मृगपति सिंहके भयसे
उसे अपने ही पास रखकर उसकी रक्षा कर रहे हैं ॥२४॥

किंवात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं
मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृत-
मयगभस्तिभिः सुधयतीति च ॥ २५ ॥

(चन्द्रमाकी किरणोंका अनुभव करते हुए कहने लगे—) यह
मृगवधू-तनय जो मेरा ऐकान्तिक अनुगत था, मैंने ही उसे पुत्र

रूपमें अङ्गीकार किया था। उसके विरह-ज्वर-दावानल-शिखासे मेरा हृदय-पद्म जल रहा है। उसके विरहमें ये उडुपति चन्द्रमा मेरे प्रति अनुरागवशतः अपनी शीतल, शान्त और स्नेहयुक्त अमृतमयी किरणोंकी धारासे मुझे सुख देनेकी चेष्टा कर रहे हैं। ये (ओझाकी भाँति) मुखमें जल भरकर उसके कुल्लेसे मानो मुझपर छिड़काव कर रहे हैं, जिससे मेरा विरह-ज्वर शान्त हो जाय ॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्ध-
कर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणान् च।
कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया
प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य
राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत
आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जिन मनोरथोंका पूरा होना असम्भव था, भरतजीका चित्त उनसे ही व्याकुल रहने लगा। मृग-शिशुके रूपमें प्रकट होनेवाले अपने प्रारब्ध-कर्मोंके दोषके कारण राजर्षि भरत योगानुष्ठान एवं भगवदर्चन-रूपी स्वधर्मसे पतित हो गये। जिन्होंने दुस्त्यज्य अपने औरस (पत्नीसे उत्पन्न) पुत्रोंको भगवद् प्राप्तिमें बाधक समझकर परित्याग कर दिया था, उनकी उस विजातीय मृग-शिशुमें साक्षात् अपने पुत्रकी भाँति आसक्ति किस प्रकार हो गयी? वे उस मृगशावकके लालन-पालन, तोषण-पोषणमें इतने आसक्त हो गये कि आत्महितकी चिन्तासे भी उदासीन हो गये। मृगशिशुके प्रति आसक्ति रूपी विघ्न पड़नेसे उनका योग साधन नष्ट हो गया। राजन्! इसी समय प्रबल वेगशाली अटल भीषण काल उनके समक्ष इस प्रकार उपस्थित हो गया, मानो चूहेके बिलमें विषधर सर्प प्रवेश कर गया हो ॥२६॥

तदानीमपि पार्श्ववर्त्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग
एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु
न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप ॥ २७ ॥

मृत्युके समय उन्होंने देखा कि वह मृगशिशु उनके पास
बैठकर पुत्रके समान ही शोक व्यक्त कर रहा है। अतः प्राकृत,
भगवद्-विमुख व्यक्तिके समान उन्होंने मृगका, इस संसारका और
मनुष्य देहका भी परित्याग कर दिया। उस समय उनका चित्त
मृगमें ही लगा हुआ था, इसलिए दूसरे जन्ममें उन्हें मृग-शरीर ही
प्राप्त हुआ। हे राजन्! राजर्षि भरतकी देह नष्ट हो गयी, किन्तु
पूर्वजन्मके संस्कारके कारण उनकी स्मृति नष्ट नहीं हुई ॥२७॥

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य
भृशमनुतप्यमान आह ॥ २८ ॥

भगवान्की आराधनाके प्रभावसे इस मृगजन्ममें भी उन्हें
अपने पूर्वजन्मकी मृगासक्तिके कारण होनेवाली हरि-विमुखताकी
स्मृति बनी रही। वे बार-बार अनुताप करते हुए मन-ही-मन
कहते रहते— ॥२८॥

अहो कष्टं! भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य
विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे
तदनुश्रवणमननसङ्कीर्त्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन
समावेशितं समाहितं कात्स्न्येन मनस्तत् तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु
सुस्नाव ॥ २९ ॥

हाय! हाय! बड़े दुःखकी बात है कि मैं धीरजनोंके पथसे
भ्रष्ट हो गया। मैं स्त्री-पुत्रादिकी आसक्तिका परित्याग करके निर्जन
पुण्यारण्यमें रहकर जितेन्द्रिय हो गया था। वहाँ मैंने समस्त जीवोंके
आत्म-स्वरूप भगवान् वासुदेवके विषयमें श्रवण, मनन, सङ्कीर्त्तन,
आराधन और अनुस्मरणादि भक्तिके अङ्गोंमें ही अपने चित्तको
सुस्थिर कर रखा था। चित्तको उनमें ही पूरी तरह स्थापित एवं

सुदृढ़ करके मैंने अपने जीवनके हर पलको सार्थक कर लिया था और इसी प्रकारसे बहुत दिन बीत गये, किन्तु वही चित्त मृगशावकमें आसक्त हो गया और मैं अपनी भगवदाराधनासे बहुत दूर पतित हो गया ॥२९॥

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशील-
मुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्
प्रत्याजगाम ॥ ३० ॥

मृग-देहको प्राप्तकर भरतके मनमें वैराग्य उत्पन्न हो गया, किन्तु उन्होंने इसे व्यक्त नहीं किया। जहाँ उनका जन्म हुआ था, उस कालाञ्जर पर्वत एवं मृगी माताका त्याग करके वे मुनियोंके प्रिय शालग्राम नामके भगवत् क्षेत्रमें स्थित पुलस्त्य तथा पुलह ऋषिके आश्रममें लौट आये ॥३०॥

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः
शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन् मृगशरीरं
तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे आदिभरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः।

राजर्षि भरत पुनः सङ्ग-दोषसे अत्यन्त भयभीत और उद्विग्न होकर उसी आश्रममें एकाकी ही रहने लगे। वे सूखे पत्ते, तृण, लतादि खाकर मृगदेहके छूटनेकी प्रतीक्षा करने लगे। अन्तमें मृगासक्तिके कारण होनेवाले दोषकी समाप्तिका समय आनेपर उन्होंने विचारकर वहाँ स्थित गण्डकीके पवित्र जलमें अपने शरीरके आधे भागको डुबोये रखा और उस मृग-शरीरको त्याग दिया ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके आठवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

भरतका ब्राह्मणकुलमें जन्म

श्रीशुक उवाच—

अथ कस्यचिद्द्विजवरस्याङ्गिरसप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययन-
त्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्ज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुत-
शीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनञ्च यवीयस्यां
भार्यायाम्। यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं
चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः ॥ १-२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! आङ्गिरस गोत्रीय ब्राह्मणोंमें
एक अति श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, जो शम, दम, स्वाध्याय, गुरुके
निकट वेदाध्ययन, दान, सन्तोष, सहिष्णुता, विनय, विद्या, अनसूया
(ईर्ष्याराहित्य), आत्मज्ञान, भक्तियोग आदि गुणोंसे युक्त थे। वे प्रायः
समाधिमें ही रहा करते थे। इन ब्राह्मणकी बड़ी पत्नीके गर्भसे
नौ पुत्र उत्पन्न हुए। ये सभी शास्त्र-ज्ञान, चरित्र, सदाचार, रूप,
गुण और उदारतामें अपने पिताके ही समान थे। इन्हीं ब्राह्मणकी
छोटी पत्नीके गर्भसे एक ही समयमें एक पुत्र और एक कन्याने
जन्म लिया। विद्वान् लोग कहते हैं—इनमें जो पुत्र थे, वे ही
परम भागवत राजर्षि श्रेष्ठ भरत थे, जिन्हें मृगशरीर छोड़नेके बाद
अन्तमें ब्राह्मणत्व प्राप्त हुआ था ॥ १-२ ॥

तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमाना भगवतः कर्मबन्ध-
विध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः
प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मान-
मुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य ॥ ३ ॥

भगवान्के अनुग्रहसे भरतजीको अपने पूर्व जन्मकी पूरी शृङ्खलाका
स्मरण था। इस जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करके भी कहीं भगवद्विमुख

स्वजनोंके सङ्गसे मेरा पतन न हो जाय—इस आशङ्कासे वे प्रत्येक क्षण अपने हृदयमें भगवान्‌के उन चरणकमलोंका ध्यान करते, जिनके गुणानुवादके श्रवण, स्मरण एवं कीर्तनके द्वारा कर्मसे उत्पन्न समस्त बन्धनोंका विनाश हो जाता है। वे लोगोंके सामने स्वयंका उन्मत्त, जड़, अन्धे और बहरेके रूपमें प्रदर्शन करने लगे॥३॥

तस्यापि ह वा आत्मजस्य स विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात् संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन् कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयत्; अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति॥४॥

उनके पिताका चित्त पुत्र-स्नेहमें आसक्त था। अतः उन विप्रने विवाहसे पूर्व ब्रह्मचर्य आश्रमकी समाप्ति तक शास्त्रोक्त समस्त संस्कार करवानेकी इच्छासे उनका उपनयन संस्कार करवाया। भरतजीकी इच्छा न होनेपर भी उन्होंने भरतजीको कर्मके विधि-विधानके लिए शौच एवं आचमनकी विशेषरूपसे शिक्षा प्रदान की। प्रत्येक पिताका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रको शास्त्र विधियोंका पालन करना सिखाये॥४॥

स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति। छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरिन्नपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान् मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास॥५॥

किन्तु भरतजी तो अपने पिताके द्वारा समुचित रूपसे सिखलाये हुए शौच और आचमनादि उपदेशोंका उनके सम्मुख ही विपरीत आचरण करते थे, मानो उन्होंने कुछ सीखा ही न हो, जिससे उनके पिता उन्हें अकर्मण्य जानकर उन्हें उपदेश देनेका प्रयत्न छोड़ दें। वे मल-मूत्र आदि त्यागसे पहले ही मृत्तिका-शुद्धि और आचमनादि कर लेते, बादमें नहीं। इसके बाद पिताने सोचा कि पुत्र भरतको वेदाध्ययनादि करा दिया जाय। अतः सर्वप्रथम उन्होंने वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु (चैत्रादि चार मास) तक प्रणव एवं व्याहृतिके साथ त्रिपाद गायत्रीको सिखानेका प्रयास किया, किन्तु

हे परीक्षित्! वे भरतको भूः भुवः स्वःका (व्याहृतियोंके नामोंका) भी उच्चारण सिखा न पाये ॥५॥

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियम-
गुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन
भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन
स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः ॥६॥

इस प्रकारसे वे ब्राह्मण अपने पुत्र भरतको आत्म-स्वरूप सम्बन्धी-ज्ञान प्राप्त करानेका प्रयास करते रहे, क्योंकि अतिशय स्नेहके कारण उनका चित्त पुत्रमें ही आसक्त रहता था। हर बार उनका प्रयास असफल रहता था। पुनः पुत्रको अवश्य सुशिक्षित करना चाहिए—इस अनुचित आग्रहसे व्याकुल होकर उन्होंने पुत्रकी इच्छा न होनेपर भी नियमितरूपसे ब्रह्मचर्यके विधि-विधान यथा—व्रताचारीके शौच, अध्ययन, व्रतादि नियम तथा गुरु और अग्निकी शुश्रूषा इत्यादि सिखानेका प्रयत्न किया, परन्तु उनका सारा आग्रह विफल हो गया। पुत्रको विद्वान् बनानेकी जिस आशाको वे सँजोये हुए थे, वह अपूर्ण ही रही। वे ब्राह्मण घरमें आसक्तिके कारण अपने आपको भी भूल गये, किन्तु मृत्यु किसीको नहीं भूलती। यथासमय मृत्युने आकर ब्राह्मणको ग्रास कर लिया ॥६॥

अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य
स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात् ॥७॥

इसके बाद ब्राह्मणकी पतिव्रता छोटी पत्नी भी अपने गर्भसे उत्पन्न हुए जुड़वाँ बालकोंको सपत्नी (ब्राह्मणकी ज्येष्ठ पत्नी) के हाथोंमें सौंपकर पतिके साथ ही मरकर पतिलोक चली गयी ॥७॥

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो
न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धात्र्यवृत्सन् ॥८॥

पिताके परलोक-प्राप्तिके बाद भरतके सौतेले नौ भाइयोंने उन्हें मूर्ख मान लिया। उनकी शिक्षाके विषयमें पिताका जो महद् आग्रह

था, उन्होंने उसे पूर्ण नहीं किया। भरतके भाइयोंकी मति ऋक्, साम और यजुर्वेदके प्रतिपाद्य कर्मकाण्डमें आसक्त थी, उनकी बुद्धि भगवद्-भक्तिसे युक्त पराविद्यामें प्रवेश नहीं कर पायी थी, इसलिए वे भरतकी आत्मारामताका अनुभव नहीं कर सके ॥८॥

स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरमूकेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्चया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदत्रं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्। नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुख-दुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमसिना द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥९-१०॥

हे राजन्! इधर नीच स्वभाव, विवेकशून्य, द्विपद पशुके समान मनुष्य भरतको उन्मत्त, जड़, बधिर अथवा गूँगा कहकर सम्बोधित करते तो वे भी उनके साथ तदनुरूप ही व्यवहार करते अर्थात् उनके सम्बोधनके अनुसार वे उनके साथ उन्मत्त, बधिर इत्यादिके समान व्यवहार करने लगते। यदि कोई उनसे कुछ कराना चाहता तो वे उसकी इच्छा पूरी कर देते। वेतन लेकर, बिना वेतनके, माँगकर अथवा दैवात् जैसा भी भोजन मिल जाता, वह बिना स्वादके ही खा लेते थे। इन्द्रियोंकी सन्तुष्टि उनका प्रयोजन नहीं था। वे तो पहलेसे ही सुख-दुःखको उत्पन्न करनेवाले शुभाशुभ कर्मबन्धनसे मुक्त हो गये थे। उन्होंने स्वतःसिद्ध अप्राकृत अनुभवानन्दके साथ निजाभीष्ट श्रीकृष्ण-प्रतीतिको प्राप्त कर लिया था। अतः सुख-दुःखका हेतु और मान-अपमानादिसे उत्पन्न देहाभिमान उनमें नहीं था। उनका शरीर साँड़के समान पुष्ट एवं बलिष्ठ था और सारे अङ्ग सुदृढ़ थे। सर्दी हो या गर्मी अथवा आँधी हो या वर्षा, वे अपने शरीरको वस्त्रसे ढकते नहीं थे। वे भूमिपर ही सोते, कभी तेल

नहीं लगाते और स्नान नहीं करते जिसके कारण उनकी देह मलिन हो गयी थी। मैलकी परत जमा होनेसे उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार प्रकट नहीं होता था, जिस प्रकार धूल जम जानेसे महामणिका तेज छिप जाता है। वह कमरमें एक मटमैला कौपीन पहने रहते थे और उनके वक्षःस्थलपर भी काला-सा यज्ञोपवीत पड़ा रहता था। अज्ञानी व्यक्ति उन्हें अधम ब्राह्मण समझकर उनका तिरस्कार करते थे। हे राजन्! इस प्रकार वे मूर्ख लोगों द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित होकर इधर-उधर घूमा करते थे॥९-१०॥

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु समं विषमं न्यूनमधिकमिति न वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थाली-पुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति ॥ ११ ॥

वे दूसरोंका काम करके वेतनके रूपमें आहार मात्रकी ही अपेक्षा रखते हैं—यह देखकर उनके भाइयोंने उन्हें आहारका लोभ दिखाकर खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया, किन्तु जड़भरत यह नहीं जानते थे कि कहाँ मिट्टी डाली जाय, कहाँकी भूमि समतल या ऊँची-नीची रखी जाय। उनके भाई उन्हें चावलकी कनी, खली, भूसा, घुन लगे उड़द, बरतनमें जले हुए अन्नकी खुरचन जो कुछ भी खानेके लिए देते, वे उसीको अमृत समझकर खा लिया करते थे॥११॥

अथ कदाचित् कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमाल-भतापत्यकामः ॥ १२ ॥

किसी समय एक शूद्र दस्युओंके सामन्त (सरदार)ने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीके निकट नरको ही पशु बनाकर बलि देनेके लिए सङ्कल्प किया॥१२॥

तस्य ह दैवविमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसावृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन् ॥ १३ ॥

वह जिस पुरुषकी बलि देना चाहता था, दैवयोगसे वह बन्धन तोड़कर भाग गया। उस चोरोंके सरदारके अनुचर उस नरपशुको खोजनेके लिए चारों दिशाओंमें भागे, किन्तु वह कहीं भी नहीं मिला। घूमते-घूमते वे घोर अन्धकारमयी रात्रिके दूसरे प्रहरमें एक खेतपर पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न कोई ब्राह्मण पुत्र एक ऊँचे स्थानपर बैठकर मृग एवं वराहादि पशुओंसे खेतकी रक्षा कर रहा है ॥१३॥

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तुकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः ॥ १४ ॥

उन्होंने देखा कि स्थूलता आदि गुणोंके कारण यह भरत सुलक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष-पशु है, अतः इसीसे हमारे स्वामीका कार्य सिद्ध हो जायेगा। यह निश्चय करके उन्होंने भरतजीको रस्सीसे बाँध लिया। हर्षसे उन लोगोंका मुख खिल गया और वे हँसते हुए उन्हें चण्डीके मन्दिरमें ले गये ॥१४॥

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाच्छाद्य भूषणालेपस्रक्त्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्य-लाजकिशलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्ग-पणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः ॥ १५ ॥

चोरोंके सरदारने आङ्गिरस-पुत्र भरतजीको मनमाने विधानानुसार स्नान कराया और नये वस्त्र पहनाये। इसके बाद उन्हें पशुओंके समान ही अलङ्कार, गन्ध, तिलक, चन्दन, मालादि द्वारा विभूषित करके भोजन करवाया। भोजनके बाद कल्पित नर-पशुकी (भरतजीकी) धूप, दीप, माल्य, खील, नूतनपत्र, दुर्वाङ्कुर एवं फलादि उपहारोंके द्वारा हिंसा-विधान के द्वारा पूजा सम्पन्न की। तत्पश्चात् उच्च गीत, स्तुति एवं मृदङ्ग तथा पणवादिका उच्च स्वरसे शब्द करते हुए उन पुरुष-पशुको भद्रकालीके सामने मुख नीचे करके बिठा दिया ॥१५॥

अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालं निशितमुपाददे ॥ १६ ॥

दस्युराजने मुख्य पुरोहित-कर्मके लिए जिस डाकूको नियुक्त किया था, उसने इन उपकल्पित नर-पशुके रक्त द्वारा भद्रकाली देवीको तृप्त करनेकी इच्छासे भद्रकाली-मन्त्रसे अभिमन्त्रित की हुई एक तीक्ष्ण धारवाली भयङ्कर तलवार निकाल ली ॥ १६ ॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलाधीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालभनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली ॥ १७ ॥

परीक्षित्! इन डाकुओंका स्वभाव रज एवं तमोगुणसे आच्छादित था। वे धनमें इतने मतवाले हो रहे थे कि उनके मनमें मर्यादाका लेशमात्र भी स्थान न था। इसी कारणसे वे भगवान्के अंशभूत ब्राह्मणको तुच्छ समझ रहे थे और स्वेच्छाचारितावश कुपथगामी हो रहे थे। हिंसा ही उनका क्रीड़ोत्सव था। इसी कारण वे पूर्वोक्त बलि-कर्मके लिए तत्पर हो गये थे। आपत्ति कालमें जिस हिंसाका अनुमोदन किया जाता है, उसमें भी समस्त प्राणियोंके सुहृद्, शत्रुहीन, भगवद्गतचित्त, ब्रह्मर्षि-पुत्रका वध कभी भी विहित न था। देवी भद्रकाली धर्म-विरोधी साधनाका प्रयास करनेवाले उन शूद्रोंका अति क्रूर, अकरणीय, ब्रह्महिंसासे पूर्ण भगवद्-विरोधी-कर्म समझ गयी जिसके कारण उनका शरीर अति दुःसह ब्रह्मतेजसे सन्तप्त होने लगा। वे शीघ्र ही प्रतिमाको विदीर्ण करके बाहर निकल आयीं ॥ १७ ॥

भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटो-पातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां वृषलानां तेनैवासिना विवृक्वणशीर्ष्णां गलात् स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपाषैदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया ॥ १८ ॥

अत्यधिक असहनशीलता और क्रोधावेशके वेगसे उन देवीकी भौंह रूपी शाखाएँ हिलने लगीं, भीषण दाढ़ें बाहर निकल आयीं, लाल-लाल नेत्र विघूर्णित होने लगे—इससे उनका मुखमण्डल अत्यन्त भयङ्कर हो उठा। वे क्रोधसे भरकर इस प्रकार अट्टहास करने लगीं, मानो सम्पूर्ण संसारका संहार कर डालेंगी। वे प्रतिमासे उछलीं और तुरन्त ही उन डाकुओंके सिर उसी तलवारसे काट डाले, जिस तलवारसे वे जड़भरतकी बलि देनेके लिए उद्यत थे। उस समय उन सभीके छिन्न मस्तकोंसे रक्तरूपमें अति उष्ण आसव (मद्य) निकलने लगा, भद्रकाली देवी अपनी डाकिनी इत्यादि सहचरियोंके साथ उस आसवका पान करने लगीं। अतिशय रक्त-पानसे उन्मत्त होकर देवीने उसी समय अपने पार्षदोंके साथ उच्च स्वरसे गाना और नाचना आरम्भ कर दिया और उन डाकुओंके कटे हुए सिरोंको गेंदके समान उछाल-उछाल कर खेलने लगीं॥१८॥

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्येनात्मने फलति॥१९॥

महापुरुषके प्रति किये गये हिंसारूप अपराधका फल अनिष्टकारीको इसी प्रकारसे स्वयं ही भुगतना पड़ता है॥१९॥

न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरच्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैरभिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम्॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीजड़भरतचरिते नवमोऽध्यायः।

हे विष्णुरात! जिनकी देहादिमें आत्माभिमान रूप दुर्भेद्य हृत्-ग्रन्थिका छेदन हो चुका है, उनका हृदय सदैव समस्त व्यक्तियोंके कल्याण-चिन्तनमें ही लगा रहता है, वे किसीका अपकार नहीं करते और न किसीसे शत्रुता रखते हैं। भगवान् असुरोंके (भक्तविरोधियोंके) लिये सर्व-संहारक-काल एवं सर्वश्रेष्ठ अरि-स्वरूप

हैं। भक्त-रक्षणमें सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले सुदर्शन-चक्रधारी भगवान् विष्णु शिष्ट-पालन एवं दुष्ट-दलनादि रूपमें उनकी रक्षा करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌के भयनाशक चरणकमलोंका सर्वत्र ही आश्रय लिया है, ऐसे परम-भागवत, परमहंसका अपना सिर-छेदन काल उपस्थित होनेपर भी विचलित (क्षुब्ध) न होना कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है॥२०॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके नवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

जड़भरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच—

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहकपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्धः एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक समय सिन्धु और सौवीर राज्योंका राजा रहूगण कपिलाश्रम जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीके तीरपर पहुँचा, तब उसकी पालकी उठानेवाले प्रधान कहारको एक और कहारकी आवश्यकता पड़ी। कहारकी खोज करते-करते उन्हें दैवयोगसे जड़भरत मिल गये। कहारोंने उनके बलिष्ठ शरीर, सुदृढ़ अङ्ग और तरुण अवस्थाको देखकर विचार किया कि यह तो गधे एवं घोड़ोंके समान बोझा ढोनेमें समर्थ प्रतीत होता है। ऐसा विचारकर उन लोगोंने जड़भरतको पूर्व वाहकोंके साथ बलपूर्वक पालकी ढोनेमें लगा दिया। महानुभाव भरतजी यद्यपि इस कार्यके लिए उपयुक्त नहीं थे, तथापि बलपूर्वक जोत दिये जानेके कारण वे पालकी ढोनेके लिए बाध्य हो गये ॥ १ ॥

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेन समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह—हे वोढारः साध्वतिक्रामत किमिति विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

पालकी ढोते समय द्विजवर भरत कहीं चींटी आदि प्राणियोंकी हिंसा न हो जाय, इस भयसे आगेकी एक बाण (तीन फुट) पृथ्वीको देखनेके लिए रुक जाते, जिससे अन्य कहारोंसे उनकी चालकी सङ्गति नहीं बैठती और पालकी हिलने लगती। यह देखकर

राजा रहुगण वाहकोंसे कहने लगा—अरे! इस प्रकारसे पालकीको ऊँची-नीची करके क्यों ले जा रहे हो? ठीकसे चलो ॥२॥

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायातुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः ॥ ३ ॥

राजा रहुगणके इन तिरस्कारपूर्ण वचनोंको सुनकर कहारोंने दण्डके भयसे राजासे निवेदन किया— ॥३॥

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमुह वयं पारयाम इति ॥ ४ ॥

हे राजन्! हम अपने-अपने कार्यमें किञ्चित् भी असावधान नहीं हैं। हम तो आपकी आज्ञानुसार पालकीको ठीक प्रकारसे वहन कर रहे हैं, किन्तु अभी-अभी यह नया मनुष्य जो इसमें लगाया गया है, वह जल्दी-जल्दी नहीं चल रहा है। यही कारण है कि हम इसके साथ पालकीको ठीक प्रकारसे वहन नहीं कर पा रहे हैं ॥४॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहुगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह ॥ ५ ॥

राजा रहुगणने दण्डसे भयभीत वाहकोंके कातर वचनोंको सुनकर विचार किया कि एकके सङ्गके दोषसे सभी दोषी हो सकते हैं। इसलिए अभी इसका प्रतिकार न किया गया तो धीरे-धीरे सभी कहारोंकी चालमें तालमेल सम्भव नहीं होगा। यह विचारकर राजा रहुगण महापुरुषोंकी सेवा-परायण एवं परम-धार्मिक होने पर भी राजस्वभावके कारण हठात् ही क्रोधित हो उठा। भरतजीका ब्रह्मतेज भस्मसे आच्छादित अग्निके समान था। राजा रहुगणकी मति रजोगुणसे आच्छन्न थी। वह भरतजीसे व्यङ्ग्यपूर्वक कहने लगा— ॥५॥

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान्
सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर
एते संघट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशये
स्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहंममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो
ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ॥ ६ ॥

हाय! बड़े कष्टकी बात है! अरे भाई! तुम निश्चय ही अत्यन्त
क्लान्त हो गये हो। तुम अकेले ही बड़ी देरसे इतनी दूरतक
पालकी ढोकर लाये हो। बुढ़ापेके कारण क्या अधिक थक गये
हो? हे सखे! तुम्हारा शरीर भी बलिष्ठ नहीं है और न ही तुम्हारे
अङ्ग ही सुदृढ़ हैं। ये सब वाहक भी तुम्हारा सहयोग नहीं कर
रहे हैं न!—राजा रहूगणने जब इस प्रकार परिहासके साथ उनका
तिरस्कार किया, तो भी भरतजी मौन धारण करके पहलेके ही
समान पालकी वहन करते रहे। वे तो मायारचित द्रव्य (पञ्च
महाभूत), गुण (शब्दादि पञ्च तन्मात्रा), कर्म (पाप-पुण्यादि) एवं
वासनामय सूक्ष्म शरीरमें तथा हाथ-पैर आदि अवयवोंसे युक्त
अनात्म स्थूल शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' रूप मिथ्या ज्ञानके आरोपसे
सदा सर्वदा निवृत्त होकर ब्रह्मभूत हो गये थे ॥ ६ ॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः
किमिदमरे त्वं जीवन्मृतोसि मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि
प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा स्वां
प्रकृतिं भजिष्यसीति ॥ ७ ॥

पालकी पुनः पूर्ववत् हिलने लगी। यह देखकर राजा रहूगण
अत्यन्त क्रोधित हो गया और कहने लगा—अरे दुष्ट! तू यह क्या
कर रहा है? तू जीवित ही मर गया है क्या? मैं तेरा स्वामी
हूँ। तू मेरा अनादर करके मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है,
दण्डपाणि यम जिस प्रकार लोगोंके लिए दण्डका विधान करते
हैं, उसी प्रकार मैं भी तुझ अवज्ञाकारीको दण्ड देता हूँ, जिससे
तू सचेत हो जायेगा ॥ ७ ॥

एवं बह्वबद्धमभिभाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

रहूगणको अपने राजा होनेका अभिमान था। रज एवं तमो गुणोंके कारण उसका अहङ्कार बहुत बढ़ गया था, जिससे उसने भगवान्‌के प्रिय निकेतन परम-भागवत भरतजीका तिरस्कार कर डाला। रहूगण अपनेको पण्डित समझता था, पर योगियोंकी विचित्र कथनी और करनीको वह नहीं जानता था। उसकी ऐसी मति देखकर समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा, देहात्म-बुद्धिरहित, परम-भागवत भरत बिना किसी अहङ्कारके मन्द-मन्द मुसकुराते हुए कहने लगे— ॥ ८ ॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ भरतने कहा—हे वीर! आपने जो कहा वह सत्य है, मात्र उलाहना नहीं है। आपके वचनोंमें कोई विरोधाभास भी नहीं है। परन्तु यदि भार है तो वह शरीर द्वारा वहन किया जा रहा है, मैं (आत्मा) वहन नहीं कर रहा। यदि भार मेरी आत्मा द्वारा ढोया जाता, तो आपके सब वचन विरुद्ध होते हैं। मैं देहसे पृथक् हूँ, अतः मैं वाहक नहीं हूँ। पालकी ढोनेमें मेरा कोई श्रम नहीं है। मार्गमें जानेवाले आप हैं। आपका (लौकिक) गन्तव्य स्थान यदि मेरी आत्माका भी (पारलौकिक) गन्तव्य स्थान होता तो मेरे जानेमें श्रमसाध्य कष्ट हो सकता था। किन्तु मेरा ऐसा कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए मुझे कष्ट भी नहीं है। यदि कोई मार्ग भी है, तो वह भी चलनेवालेके लिए ही है। आपने जो यह कहा कि 'मैं बलिष्ठ नहीं हूँ' तो यह भी मूर्खजनोचित

(शरीर तथा आत्माका अन्तर नहीं जानने वालेका) व्यवहार है। आपकी ये बातें (दुर्बलता-स्थूलता) स्थूल देहके लिए उपयुक्त हैं। पण्डितजन आत्माके उद्देश्यसे ऐसी बातें नहीं कहा करते। अतः मेरी यह देह ही स्थूल है, मैं (आत्मा) स्थूल नहीं हूँ॥९॥

स्थौल्यं काश्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृभयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥१०॥

स्थूलता, कृशता, आधि (मानसिक-पीड़ा), व्याधि (शारीरिक-पीड़ा), क्षुधा (भूख), तृष्णा (प्यास), भय, कलह, विषय-भोग-वासना, जरा (वृद्धावस्था), निद्रा, विषयासक्ति, क्रोध, देहात्मबुद्धि, शोक और मोह आदि देहाभिमानके साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः देहाभिमान जीवको ही मोटापन, दुबलापन आदि होते हैं, पर मुझमें तो देहाभिमान है ही नहीं। फलतः मुझमें इस प्रकारसे स्थूलता, कृशता इत्यादि भी नहीं है॥१०॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम्।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः॥११॥

हे राजन्! आपने जो मुझे 'जीवित ही मरा हुआ'—कहा, इस विषयमें मेरा कहना यह है कि मात्र मैं ही 'जीवन्मृत' नहीं हूँ, मैं देख रहा हूँ कि परिणामशील वस्तु मात्रका ही आदि और अन्त है। आपने जो यह कहा कि 'स्वामीके आदेशका उल्लङ्घन कर रहे हो' तो इस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि "हे पूज्य! स्वामी और सेवकका भाव यदि किसीके लिए नित्य होता, तो 'पालकी वहन करनेके लिए इसे लगा दो' यह आपका आदेश अनुचित नहीं होता, (उचित ही होता), किन्तु यदि कालवशतः आपका राज्य नष्ट हो जाय और मुझे राज्य प्राप्त हो जाय, तो

सब विपरीत हो जायेगा। अभी आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ, तब मैं आपका स्वामी हो जाऊँगा और आप मेरे सेवक” ॥११॥

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यत्र व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्य-
मथापि राजन् करवाम किं ते ॥१२॥

यदि आप यह कहना चाहते हैं कि जब तक मैं राजा हूँ तब तक तुम मेरे सेवक ही हो, तो इस सन्दर्भमें मेरा कहना यह है कि मैं राजा हूँ अथवा मैं सेवक हूँ—इस प्रकारकी भेद-बुद्धिका अवकाश मात्र व्यवहारके लिए ही है, इस ‘मैं’ और ‘मेरा’में व्यवहारके अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता। अरे! यहाँ कौन राजा है और कौन सेवक है? फिर भी यदि आप अपनेको राजा समझते हैं, तो कहिये, आपकी क्या सेवा करूँ? ॥१२॥

उन्मत्तमत्तजडवत् स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।
अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

हे राजन्! आपने यह जो मुझसे कहा—‘अरे तू बड़ा उन्मत्त है, मैं तेरा उपचार करता हूँ, जिससे तेरे होश ठिकाने आ जायेंगे’—इसपर मैं यह कहना चाहता हूँ कि उन्मत्त, मत्त अथवा जड़के समान रहनेपर भी वस्तुतः मैंने ब्रह्मात्मनिष्ठाको प्राप्त किया है, मुझे दण्ड देकर अथवा मुझे कुछ सिखाकर (होशमें लाकर) आपके किस स्वार्थकी सिद्धि होगी? पागलके लिये आपका दण्ड रस्सी पीटने जैसा होगा। आपकी दृष्टिमें यदि मैं प्रमत्त और संसारी हूँ, तो भी मेरे लिए आपका दण्ड विधान पिसे हुएको पीसनेके समान निष्फल ही होगा। कारण—पागलको दण्डित करनेसे उसका पागलपन शान्त नहीं होता, अपितु और बढ़ जाता है ॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य स मुनिवर उपशमशील
उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मरब्धं व्यपनयन् राजयानमपि
तथैवोवाह ॥ १४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा रहूगणने परम भागवत
श्रीभरतजीको जो भी तिरस्कारपूर्ण वचन कहे थे, शान्तचित्त मुनिवर
भरतने उन सभी वचनोंका विशेष अर्थके द्वारा यथायथ उत्तर दे
दिया। देहमें आत्मबुद्धिका कारण अविद्या है, वह उनमें थी नहीं।
दैत्यवशतः 'मैं भक्त हूँ' वे ऐसा अभिमान भी नहीं करते थे।
इसलिए साधारण जीवके समान 'मैं पालकी-वहन रूप भोगके द्वारा
प्रारब्ध कर्मफलका क्षय कर रहा हूँ'—इस प्रकार विचार करके वे
पूर्ववत् राजाकी पालकीको वहन करते रहे ॥१४॥

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धया-
धिकृताधिकारस्तद्बुद्धदयग्रन्थिविमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं
त्वरयावरुह्य शिरसा तत्पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय
उवाच ॥ १५ ॥

हे पाण्डवेय (परीक्षित्)! सिन्धु-सौवीर शासक रहूगण उत्तम
श्रद्धाके कारण तत्त्व-जिज्ञासाका पूर्ण अधिकारी था। द्विजश्रेष्ठ
भरतजीके योग-शास्त्रोंसे सम्मत एवं हृदय-ग्रन्थिका विच्छेद करनेवाले
बहुत-से वचनोंको सुनकर उसका राजमद दूर हो गया। वह शीघ्र
ही पालकीसे उतर पड़ा और भरतजीके चरणकमलोंमें मस्तक
रखकर क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहने लगा ॥१५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥ १६ ॥

हे ब्राह्मण! प्रच्छन्नरूपसे इस संसारमें विचरण करनेवाले आप कौन हैं? क्या आप ब्राह्मण अथवा साधुपुरुषोंमें-से कोई हैं? क्योंकि आपने यज्ञ-सूत्र धारण कर रखा है। अथवा आप दत्तात्रेयादिमें-से कोई महाज्ञाननिष्ठ अवधूत हैं। आप किस महात्माके शिष्य हैं? कहाँ रहते हैं? यहाँ आपका आगमन किस कारणसे हुआ है? यदि हमारे कल्याणके लिए आपका आगमन हुआ है तो क्या आप विशुद्ध-सत्त्वमय-मूर्ति नारायणावतार मुनि कपिल ही तो नहीं हैं? ॥१६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा
त्र त्र्यक्षसशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ १७ ॥

हे महानुभाव! मैं देवराज इन्द्रके वज्रसे भयभीत नहीं होता, शूलपाणिके शूलसे भी मुझे डर नहीं लगता। यमके दण्डसे भी मुझे कोई भय नहीं है और न ही मैं अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु अथवा कुबेरके अस्त्रोंसे डरता हूँ, परन्तु ब्राह्मणोंके अपमानरूप अपराधसे मुझे बड़ा भय लगता है ॥१७॥

तद्ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेतुम् ॥ १८ ॥

आपके विज्ञानवीर्य अर्थात् विज्ञानयुक्त (अध्यात्म सम्बन्धित विशिष्ट) ज्ञानका प्रभाव प्रच्छन्न है। आप विषयी लोगोंके सङ्गका परित्याग करके अचिन्त्य एवं अनन्त महिमासे युक्त होकर भी पागलके समान क्यों विचरण कर रहे हैं? कृपा करके यह बतलाइये। हे महात्मन्! आपने योगके गूढ़ रहस्योंसे युक्त जो वचन कहे हैं, मेरी बुद्धि उनकी थाह नहीं पा रही है। मैं उन्हें समझ नहीं पा रहा हूँ ॥१८॥

अहञ्च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
 विदां मुनीनां प्रवरं गुरुं वै।
 प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं यत्
 साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥ १९ ॥

योगेश्वरोंमें अति प्रधान, आत्मतत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ, मुनियोंके भी परम गुरु, साक्षात् भगवान्के अवतार कपिल इस जगत्में ज्ञान प्रदान करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं। मैं उनसे यह पूछने जा रहा था कि इस संसारमें प्राणियोंके लिए एकमात्र आश्रय-वस्तु अर्थात् शरण लेने योग्य कौन हैं? ॥१९॥

स वै भवान् लोकनिरीक्षणार्थ-
 मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित्।
 योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
 कथं विचक्षीत गृहानुबद्धः ॥ २० ॥

आप वही भगवान्के अवतार कपिलदेव तो नहीं हैं? क्या आप साधु-असाधुकी परीक्षा लेनेके लिए ही अपने लक्षणोंका संगोपन करके इस प्रकार विचरण कर रहे हैं। यदि ऐसा ही है, तो मेरे जैसे विवेकरहित गृहासक्त व्यक्ति आप जैसे योगेश्वरोंके आचरणको किस प्रकार समझ सकते हैं? ॥२०॥

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
 भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये।
 यथासतोदानयनाद्यभावात्
 समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥ २१ ॥

हे प्रभो! आपने कहा है 'मुझे कष्ट नहीं होता', किन्तु मेरा अनुभव यह है कि आत्माके देहसे भिन्न होनेपर भी देहसे किया गया युद्धादि कर्म-जनित श्रम आत्मामें ही लक्षित होता है। देखिये, जब आप भार ढो रहे थे, तब निश्चय ही आपको श्रम साध्य कष्ट हुआ होगा—मैं ऐसा अनुमान करता हूँ। और आपने यह भी कहा है कि 'राजा और सेवकमें भेद-बुद्धि व्यवहार मात्र ही है, सत्य नहीं'।

किन्तु इस व्यावहारिक जगत्के समस्त घटादि द्रव्य मिथ्या होनेपर भी उन घटादिके द्वारा जल-ग्रहणादि कार्य किस प्रकार मिथ्या हो सकते हैं? अतः प्रमाणित होता है कि व्यवहार मार्ग ही सत्य है॥२१॥

स्थाल्यग्नितापात् पयसोऽपि ताप
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात्॥ २२ ॥

आपने यह भी कहा है कि स्थूलता आदि औपाधिक धर्म मेरा नित्य धर्म नहीं है, क्योंकि इससे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु बतलाइये, औपाधिक धर्म मिथ्या किस प्रकार है? अग्निके तापसे बटलोई गर्म होती है, जिससे उसमें रखा दूध उबलने लगता है, उबलते दूधमें डाले गये चावलोंका बहिर्भाग पकता है और उसके बाद धीरे-धीरे चावलके कणोंका भीतरी भाग भी पक जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रियामें कोई भी अंश मिथ्या नहीं है। अग्निके सम्बन्धसे जिस प्रकार चावलादि पकते हैं, उसी प्रकार जीवात्माको देह, इन्द्रिय, प्राण और मनके सम्बन्धसे श्रमादि कष्टोंका अनुभव होता है और इनका कारण यही औपाधिक धर्म ही होता है॥२२॥

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम्॥ २३ ॥

आपने कहा है कि 'राजा और प्रजाका भाव नित्य नहीं है', किन्तु अनित्य होनेपर भी जिस समय जो व्यक्ति राजा होता है, उस समय उच्छृंखल प्रजाजनोंका शासन और शिष्ट प्रजाओंका पालन करना उसका कर्तव्य होता है। और आपने यह भी कहा कि जड़ एवं उन्मत्तको शिक्षा देना पिसी हुई वस्तुको पीसनेके समान निरर्थक है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् अच्युतका दास है, वह कभी भी व्यर्थके कार्य नहीं कर सकता। जड़ व्यक्तिको

शिक्षा देकर भी यदि उसकी जड़ताको दूर नहीं कर सके, तो भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेके कारण उपदेशककी वह चेष्टा व्यर्थ नहीं होती। भगवान्‌ अच्युतकी आराधना ही स्वधर्म है, इसके द्वारा सचेष्ट व्यक्तिकी सम्पूर्ण पाप-राशि नष्ट हो जाती है ॥२३॥

तन्मे भवान् नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्त्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥ २४ ॥

आपने जो कहा, वह सब मुझे तो विपरीत ही जान पड़ रहा है। हे आर्त्तबन्धो! मैंने राजमदसे मतवाला होकर आप-जैसे परम भागवतका तिरस्कार किया है। यद्यपि मैं अत्यन्त अपराधी हूँ, तो भी आप मेरे प्रति कृपा दृष्टि कीजिये। आपकी कृपा प्राप्त करके मैं साधुओंके प्रति किये गये अपमानरूप अपराधसे मुक्त हो जाऊँगा ॥२४॥

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतस्तवापि ।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्-
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीजड़भरतरहूगणसंवादे दशमोऽध्यायः ।

हे प्रभो! विश्व-सुहृद् भगवान्‌ आपके सखा हैं, सभीके प्रति आपकी समान दृष्टि है, अपनी देहमें भी आपकी आत्म-बुद्धि नहीं है। मैंने जो आपका तिरस्कार किया, उससे यद्यपि आपमें कुछ भी विकार नहीं हुआ, तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेके कारण उसके फलसे मेरा जैसा व्यक्ति शूलपाणि शङ्करकी भाँति विशेष सामर्थ्यवान्‌ होनेपर भी अति शीघ्र विनष्ट हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके दसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः

राजा रहुगणको भरत मुनिका उपदेश

श्रीब्राह्मण उवाच—

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेतं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥

श्रीब्राह्मणने (जड़ भरतने) कहा—राजन्! आप विज्ञ नहीं हैं, पर विज्ञों जैसी बातें करते हैं। अतः आप विज्ञोंमें श्रेष्ठ नहीं माने जा सकते। विवेकीजन तत्त्व-विचारके आधारपर स्वामी-सेवक, सुख-दुःख इत्यादि लौकिक व्यवहारोंका आदर नहीं करते। ऐसे व्यवहार सत्य भी नहीं होते ॥१॥

तथैव राजनुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादिषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥

हे राजन्! राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक आदि तो लौकिक व्यवहार हैं तथा उसीके समान वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थजनोचित यज्ञोंसे सम्बन्धित विधि-विधानोंमें ही विस्तारसे शोभा पाते हैं। अतः ये दोनों ही सत्य नहीं हैं। उनसे रागादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्रायः नहीं हो पाती ॥२॥

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्-
वरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

स्वप्नमें प्राप्त सुख-भोग जाग्रतावस्थामें मिथ्या, हेय एवं व्यर्थ स्वतः ही अनुभव होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थोंके प्राप्य ऐहिक एवं पारलौकिक सुख जबतक स्वयं ही हेय एवं तुच्छ प्रतीत नहीं होते, तबतक सर्वश्रेष्ठ वैदिक वचन भी उस मनुष्यमें तत्त्वज्ञानका उदय नहीं करा सकते ॥३॥

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम्।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलञ्चेतरं वा ॥४॥

जबतक मनुष्योंका मन सत्त्व, रज एवं तमोगुणके अधीन रहता है, तबतक उनका यह मन उन्मत्त हाथीके समान ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंके सहयोगसे स्वतन्त्रतापूर्वक शुभाशुभ कर्मोंका विस्तार करता रहता है ॥४॥

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।
बिभ्रत् पृथङ्नामभि रूपभेद
मन्तर्बहिष्ट्वञ्च पुरैस्तनोति ॥५॥

पाप-पुण्यादि कामनाओंसे भरा हुआ यह मन काम-क्रोधादि विकारोंसे ग्रस्त रहता है और विषयोंमें आसक्त होकर मायिक सत्त्व, रज एवं तमो गुणोंसे सञ्चालित होता है। ग्यारह इन्द्रियों और पञ्चमहाभूत—इन सोलह कलाओंमें मन प्रधान है। यह मन ही पृथक्-पृथक् नामोंसे देव-तिर्यगादि विभिन्न देह धारण करता है। देह धारणसे ही जीवकी उत्कृष्टता एवं निकृष्टता (उच्चता एवं निम्नता) प्रकटित होती है ॥५॥

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तञ्च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥६॥

मायाके द्वारा रचित यह मन औपाधिक देहको धारण करनेवाले जीवका आलिङ्गनकर संसारचक्रमें उसकी प्रवञ्चना करते हुए उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त कराता है और कालचक्रसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि एवं मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी सृष्टि कराता है ॥६॥

तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥

मन जबतक जीवको इस संसारमें भ्रमण कराता है, तब तक 'मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ' आदि स्थूल एवं सूक्ष्म देह-आत्माभिमान रूप बहुत प्रकारके जीवके भोग्य व्यवहार प्रकाशित होते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानियोंका निर्देश है कि जिस प्रकार उत्तम एवं अधम योनियोंकी प्राप्ति करानेवाला मन है, उसी प्रकार बन्धन एवं मोक्ष-प्राप्तिका हेतु भी मन ही है ॥७॥

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्त्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

जीवोंका मन जब विषयोंमें आसक्त होता है, तब उसे सांसारिक दुःखोंको भोगना पड़ता है और जब भोगोंमें अनासक्ति होती है, तब यही मन मुक्तिका कारण बन जाता है। दीपाग्नि जिस समय घीकी वर्त्तिका (बाती) को जला डालती है, तब वह धूँसे आवृत होती हुई कृष्णवर्णकी लौ बन जाती है, किन्तु अन्य समयमें स्व-स्वरूप शुभ्र-दीप्तिमें ही प्रदर्शित होती है। मन भी इसी प्रकार

मायिक गुणों एवं कर्मोंसे आबद्ध होकर नाना वृत्तियोंका आश्रय करता है, अन्यथा अपने स्वभावको ही धारण करता है ॥८॥

एकादशासन् मनसो हि वृत्तयः
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरञ्च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥

हे ज्ञानवीर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहङ्कार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं। शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ ज्ञानेन्द्रियोंका विषय हैं, विसर्गादि पाँच क्रियाएँ कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं, देह-गृहमें आत्मबुद्धि अहङ्कारका विषय है—इस प्रकार पण्डितोंने ग्यारह वृत्तियोंका वर्णन किया है ॥९॥

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा 'ज्ञानाकार-वृत्ति'के विषय होते हैं। प्रजल्प, शिल्प (लेना-देना), गमन, मलत्याग और सम्भोग—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके द्वारा 'कार्याकार वृत्ति'के विषय होते हैं। देह-गृहादिमें 'मेरा' अभिमान ग्यारहवीं वृत्तिका विषय है। 'यह शरीर मैं हूँ' इस प्रकारके अहङ्कारको कोई-कोई बारहवीं वृत्तिके रूपमें भी निदर्शन करते हैं। इस अहङ्काररूपी बारहवीं वृत्तिका विषय है—शय्या अर्थात् देह। अर्थात् उनके मतमें (अहङ्कारके सहित शयन करनेके कारण) शय्या नामक देह बारहवीं वृत्तिका विषय है। इस प्रकार अहङ्कारका कार्य-क्षेत्र शरीर है ॥१०॥

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥ ११ ॥

द्रव्य अर्थात् विषय, स्वभाव अर्थात् परिणाम-हेतु, आशय अर्थात् संस्कार, कर्म अर्थात् अदृष्ट और गुण-क्षोभक-काल—ये निमित्त कारण हैं। इनके ही द्वारा चित्तके विकार पहले सौ प्रकारके होते हैं, बादमें हजार प्रकारके और इस तरह ये विकार कोटि-कोटि भेदोंमें परिणत हो जाते हैं। इतने प्रकारके होनेपर भी ये विकार स्वतः अथवा परस्पर मिश्रणसे नहीं होते, अपितु परमेश्वरकी अनन्त शक्तिसे होते हैं ॥११॥

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती
जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥ १२ ॥

ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञ (मुक्तजीव)का कोई सम्बन्ध नहीं है। मायाके द्वारा रचित यह अशुद्ध मन जीवकी उपाधि स्वरूप है, इसलिए यह भगवद्-विमुख कर्म कराता हुआ संसार-बन्धनमें डाल देता है। इस मनकी अनन्त विभूतियाँ हैं, जो अनादिकालसे वर्तमान हैं। ये जाग्रत एवं स्वप्नावस्थामें आविर्भूत होती हैं और सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थामें तिरोहित हो जाती हैं। संसारसे मुक्त क्षेत्रज्ञ जीवात्मा मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता है ॥१२॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात् स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥ १३ ॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४ ॥

(जीवात्मा एवं परमात्माके भेदसे क्षेत्रज्ञ दो प्रकारके हैं, उनमेंसे पहले जीवात्मा-स्वरूप क्षेत्रज्ञकी बात कहकर अब परमात्मा-स्वरूप क्षेत्रज्ञका वर्णन करते हैं—) क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापी, जगत्-कारण, पूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, जन्मादिसे रहित और ब्रह्मादिके भी ईश्वर हैं। वे नारायण समस्त जीवोंके आश्रय, षडैश्वर्य-पूर्ण भगवान् और समस्त प्राणियोंके आवास-स्वरूप वासुदेव हैं। वे ही अपनी मायासे सभी जीवात्माओंमें उनके नियामक रूपमें विद्यमान रहते हैं। वायु जिस प्रकार प्राणरूपमें स्थावर-जंगम आदि समस्त प्राणियोंमें प्रवेश करके उन्हें नियमित करती है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा परमपुरुष वासुदेव भी अपने अंशरूपसे इस विश्व-प्रपञ्चमें प्रवेश करके उसपर आधिपत्य करते हैं॥१३-१४॥

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥१५॥

हे नरनाथ! ज्ञानोदयके द्वारा मायाका तिरस्कार करते हुए जीव जबतक असद्-सङ्गसे रहित होकर एवं काम-क्रोधादि षड्-रिपुओंपर विजय प्राप्त करके आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता, तबतक वह इस संसार-चक्रमें भटकता ही रहता है॥१५॥

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते॥१६॥

आत्माका उपाधिरूप मन जीवोंके संसार तापका मूल कारण है। जीव जबतक इस तथ्यको नहीं जान लेता, तबतक उसे संसारकी विभिन्न योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। यह मन शोक, मोह, रोग, राग, लोभ तथा वैर—इन सबसे सर्वदा ग्रस्त रहकर झूठी ममता और व्यर्थके बन्धन उत्पन्न करता है॥१६॥

भ्रातृव्यमेतं तददभ्रवीर्य-
 मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
 गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
 जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे एकादशोऽध्यायः ।

यह मन ही अत्यन्त प्रबल शत्रु है। इसकी उपेक्षा करनेसे
 इसका पराक्रम (प्रभाव) बढ़ता चला जाता है। यह अवास्तव
 होनेपर भी जीवके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर देता है।
 हे राजन्! श्रीगुरुके चरणकमलोंकी आराधना एवं श्रीहरि उपासनारूपी
 अस्त्रके द्वारा बड़ी सावधानीके साथ इस मनका आप स्वयं ही
 विनाश कीजिए ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके ग्यारहवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त ।

द्वादशोऽध्यायः

रहूगणके प्रश्न और जड़ भरतका समाधान

श्रीरहूगण उवाच—

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥

राजा रहूगणने कहा—हे अवधूत! आप ईश्वरसे अभिन्न विग्रह हैं। आपने जगत्का उद्धार करनेके लिए यह देह धारण किया है। आपके परमानन्दमय स्वरूपके प्रभावसे शास्त्रोंके समस्त विवाद निरस्त हो गये हैं। हे द्विज-बन्धु! एक जड़ ब्राह्मणके वेशमें आप नित्यज्ञानमय-स्वरूपको जन-समाजकी दृष्टिसे गोपन किये हुए हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥१॥

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-
ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २ ॥

हे ब्राह्मण! विष्ठादिसे परिपूर्ण देहमें अभिमानरूपी सर्पने मेरी विवेक-दृष्टिको डूँस लिया था। ऐसी अवस्थामें मेरे लिए आपके वचन उसी प्रकार अमृतमय महा-औषध स्वरूप हैं, जिस प्रकार ज्वरसे तप्त व्यक्तिके लिए सुस्वादुष्ट ओषधि और धूपसे सन्तप्त व्यक्तिके लिए सुशीतल जल अमृतमय होते हैं ॥२॥

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम्।

अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे॥३॥

मुझे जिन-जिन विषयोंमें सन्देह है, उन्हें मैं आपके समक्ष बादमें निवेदन करूँगा। अभी आपने जो अध्यात्मयोगसे युक्त उपदेश दिये हैं, वे मेरे लिए अतिशय दुर्बोध्य हैं, आप उन्हें इस प्रकारसे समझायें कि वे मुझे स्पष्ट एवं सहज रूपसे बोधगम्य हो सकें। मेरे चित्तमें उन्हें जाननेके लिए अतिशय उत्कण्ठा हो रही है॥३॥

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम्।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे॥४॥

हे योगेश्वर! आपने कहा—दूर तक गमनादि क्रियाओंका फल जो श्रमादि है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा अनुभव होता है, किन्तु इस श्रमादिका अस्तित्व व्यवहारमूलक ही है अर्थात् कहने मात्रके लिए ही है—इससे वास्तव-तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता। आपके इन वचनोंसे मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है॥४॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्रयोरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥५॥
अंसेऽधि दावीं शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः॥६॥

ब्रह्मज्ञ भरतजीने कहा—पार्थिव विकारोंके समूहोंमें—से यदि कोई शरीर किसी कारणसे पृथ्वीपर विचरण करता है, तब वह भारवाही

नामसे कथित होता है (और जो चल-फिर नहीं सकता, उसे पाषाण आदि कहा जाता है। इन पाषाणोंसे मनुष्य शरीरका भेद ही क्या है?) जो पार्थिव विकार सचल हैं, उनके दो चरणोंके ऊपरके भागमें क्रमशः टखने, पिंडलियाँ, घुटने, जंघाएँ, कमर, वक्षःस्थल, गले और कन्धे हैं। उनके कन्धोंके ऊपर काठकी बनी पालकी और पालकीमें 'सौवीरराज' नामक प्रसिद्ध एक और पार्थिव विकार बैठा हुआ है। इस विकारमयी देहको ही आप 'मैं सिन्धुदेशका राजा हूँ', ऐसा समझकर प्रबल अहङ्कारमें अन्धे होकर अपनेको सुखी मान रहे हैं। (जबकि निरभिमानीयोंके लिए वैसा सुख-दुःख कुछ भी नहीं है।) ॥५-६॥

शोच्यानिमांस्त्वं ह्यधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृहन् निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥७॥

ये सब दीन-दुःखी कहार पालकी वहन करनेके कारण अत्यन्त कष्ट उठा रहे हैं, इनकी अवस्था बड़ी शोचनीय है। आपने इन्हें बलपूर्वक बिना वेतनके ही पकड़कर पालकी ढोनेमें लगा रखा है और इनका निग्रह कर रहे हैं। वास्तवमें तो आप बड़े ही क्रूर और धृष्ट हैं, किन्तु महापुरुषोंकी सभामें बढ़-चढ़कर बातें बनाते हो कि 'मैं सबका रक्षक हूँ।' यह मिथ्या कहना आपको शोभा नहीं देता। अतः आत्म-अनात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोंकी सभामें आपको कौन सम्मान दे सकता है ॥७॥

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवज्ज्व नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम् ॥८॥

हम जो सर्वदा ही पृथ्वीपर स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी उत्पत्ति एवं विनाश देख रहे हैं, वे सब पृथ्वीके ही विकार मात्र हैं, पृथ्वीसे

ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही मिल जाते हैं। जितनी भी परिणामशील (आदि एवं अन्तसे युक्त) वस्तुएँ हैं, वे सब नाममात्रके लिए ही भिन्न दिखायी देती हैं, वे पृथ्वीकी ही रूपान्तर मात्र हैं। जैसे जल लाना आदि कार्य-भेदसे जिसका सत्य रूपमें अनुमान किया जाता है, उन सब व्यवहारोंका भी मूल कारण पृथ्वीके अतिरिक्त और क्या हो सकता है, तुम स्वयं ही निर्णय करो॥८॥

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात् परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः॥९॥

यह मान लेनेसे भी क्या पृथ्वीकी सत्यता सिद्ध होती है, ऐसा नहीं है। पृथ्वी-शब्द-वाच्य सभी पार्थिव वस्तुओंकी सत्ता नाम-मात्रसे ही है—मिथ्या कहकर ही इनका निरूपण हुआ है। परमाणु पुञ्जीभूत होकर पृथ्वीरूपी स्थूल अवयवीको उत्पन्न करते हैं—पृथ्वीका अपना उपादान कारण इन अति सूक्ष्म परमाणुओंमें लय हो जाता है। ये परमाणु भी नित्य नहीं हैं—ये अदृश्य हैं—इनको स्वीकार न करनेसे पृथ्वी आदि स्थूल कार्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। वादीगण (वैशेषिकादि) अज्ञानताके कारण मनसे इन परमाणुओंकी कल्पना कर लेते हैं। अतः जैसे परमाणु नित्य नहीं है, वैसे ही परमाणुओंके विविध संगठनसे रचित घट, पटादि भी सत्य नहीं हैं॥९॥

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद् य-
दसच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥१०॥

पृथ्वीकी ही भाँति अन्य वस्तुओंमें जो कृश (सूक्ष्म), स्थूल, अणु (अतिसूक्ष्म), बृहत् (अतिस्थूल), सत् (कार्य), असत् (कारण), चेतन, अचेतन और इनके अतिरिक्त जो कुछ भी द्वैतयुक्त वस्तुएँ इस जगत्में हैं, वे सभी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म नामसे

प्रसिद्ध हैं तथा उनको अनादि अविद्यासे उत्पन्न जानना चाहिए।
(सभी भ्रमसे ही उत्पन्न हैं, वास्तवमें इनकी सत्यता नहीं है) ॥१०॥

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरन्त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ ११ ॥

[अच्छा, तो फिर सत्य क्या है? इसके उत्तरमें भरतजी कह रहे हैं—] अद्वयज्ञान ही सत्य है, यही विशुद्ध (गुणातीत), परमार्थ (मोक्षप्रद), एक (अद्वितीय), सर्वव्यापक एवं निर्विकल्प ज्ञान है। (इसके द्वारा अद्वयज्ञानकी प्रथम प्रतीति—‘ब्रह्म’ लक्षित होते हैं) एवं प्रत्यक् (समस्त जीवोंके अन्तरमें विराजमान) और प्रशान्त (क्षोभरहित) रूपमें योगियों द्वारा जो अनुभूति होती है (वह अद्वयज्ञानकी द्वितीय प्रतीति ‘परमात्मा’ हैं) और इस ज्ञानकी पूर्ण प्रतीतिका नाम भगवान् है। विद्वान् इनको वासुदेव कहते हैं। [वे ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा और आश्रय, परमात्माके अंशी एवं भक्तोंकी उपास्य वस्तु हैं।] ॥११॥

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥ १२ ॥

हे राजा रहूगण! महाभागवतोंकी चरणरेणुसे अपनेको पूर्णरूपसे अभिषिक्त किये बिना केवल ब्रह्मचर्य, गृहस्थी, वानप्रस्थ, संन्यास आदिसे अथवा जल, अग्नि एवं सूर्य इत्यादि देवताओंकी उपासनासे भगवत्-तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१२॥

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥ १३ ॥

महाभागवतोंकी सभामें भगवान्‌के गुणानुवादकी ही चर्चा होती है, जिसके कारण सांसारिक-विषय-वार्त्ताओंके प्रसङ्गके लिए अवसर ही नहीं रहता। उनके मुखसे निकली भगवद्-कथाओंको आदर एवं मनोयोगके साथ श्रवण करनेसे मोक्ष चाहनेवालोंकी मुक्तिकी कामना भी दूर हो जाती है और भगवान्‌ वासुदेवमें शुद्धारति उदित हो जाती है ॥१३॥

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥ १४ ॥

मैं पहले भरत नामका एक राजा था। दृष्ट (ऐहिक-प्रत्यक्ष अनुभव) एवं श्रुत अर्थात् वेदोंसे ज्ञान प्राप्त करके विषयरूप आसक्तियोंसे मुक्त होकर भगवान्‌की आराधना करता था। दैवात् एक मृगशिशुमें आसक्त हो जानेसे मैं अपने उद्देश्यमें विफल हो गया और मृग-योनिको प्राप्त हुआ ॥१४॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥ १५ ॥

हे वीर! श्रीहरिकी अर्चनाके प्रभावसे मृग-देहमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही। इसीलिए अब मैं जनसङ्गसे भयभीत होकर अकेले ही अलक्षितरूपसे विचरण करता हूँ ॥१५॥

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनैवेह विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः।

जीवको मनुष्य जन्म प्राप्त करके परमभागवत भक्तोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा अपने अज्ञानका छेदन कर डालना चाहिये। भगवान्‌के गुण-कर्मादि लीला-कथाओंके श्रवणसे भगवत-स्मृति बनी रहती है, जिससे मनुष्य भवसागरको अनायास ही पार करके भगवद्-धामको प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके बारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

भवाटवीका वर्णन और रहूगण राजाका संशय नाश

श्रीब्राह्मण उवाच—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दते ॥ १ ॥

ब्रह्मज्ञ भरतजीने कहा—हे राजन्! यह संसार-मार्ग अति दुस्तरणीय है। जीव इस संसारमें भगवान्की मायामें अभिनिवष्ट हो जाता है और सत्त्व, रज एवं तमोगुणोंमें विभक्त शुभ-अशुभ एवं मिश्रित समस्त कर्मोंको ही अपना परम कर्त्तव्य मानकर उन्हींके निर्वाहमें लगा रहता है। इसीसे धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गमें उसकी आसक्ति हो जाती है। वह वणिक्की भाँति सुखकी आशा लिए चारों दिशाओंमें भटकते हुए भवाटवी (संसाररूपी जङ्गल)में फँस जाता है, पर उसे सुख प्राप्त नहीं होता ॥१॥

यस्यामिमे षण्णरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥ २ ॥

महाराज! उस जङ्गलमें छह डाकू (लुटेरे) हैं। इस व्यापारी समाजका नायक बड़ा ही दुष्ट है। उसके नेतृत्वमें जब यह वणिक् विभिन्न देशोंमें भ्रमण करते-करते किसी दुःख-बहुल जङ्गलमें पहुँचता है, तब ये छह लुटेरे बलपूर्वक इसका सर्वस्व लूट लेते हैं। भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंके झुण्डमें घुसकर उन्हें खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार भवाटवीमें इसके साथ रहनेवाले गीदड़ (पत्नी-पुत्र)

ही इसके अन्तःकरणरूपी घरमें प्रवेशकर इसके चित्तरूपी धनको इधर-उधर खींचने लगते हैं ॥२॥

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित् तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित् क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

यह जङ्गल असंख्य तृण (घास), गुल्म (झाड़ी) एवं सघन लताओंके द्वारा आच्छन्न बड़ा ही दुर्गम (काम्य-कर्मादिसे परिपूर्ण गृह) है। वणिक्तुल्य जीव वहाँ मच्छरोंके समान दुर्जनोंके उपद्रवसे अतिशय पीड़ित रहते हैं। कभी ये जीव काल्पनिक गन्धर्वनगरके समान देह-गृहादि अनित्य वस्तुओंको ही नित्य मान लेते हैं और कभी क्षणभरके लिए चमकनेवाले, टूटे हुए महावेगवान् उल्काकार पिशाचके समान स्वर्णको ही परम उपादेय वस्तु मानते हैं ॥३॥

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

हे राजन्! यह वणिक् गृह-धन-कुटुम्बी इत्यादिमें 'मैं-मेरा' बुद्धि रखकर इस भवाटवीमें इधर-उधर भटकता रहता है। जब चक्रवात (बवण्डर)से उठी धूलके द्वारा सारी दिशाएँ ढक जाती हैं, तब उसकी आँखें भी धूलि-कणोंसे भर जाती हैं जिससे उसे दिशाओंका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् चक्रवाततुल्य स्त्री और उससे उठनेवाले धूलतुल्य काम-वेगसे चित्तके आक्रान्त होने पर उस कामान्ध वणिक्को ऋतुमती स्त्रीके अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता ॥४॥

अदृश्याङ्गिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिव्यथितान्तरात्मा ।

अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्द्रितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

कभी इस वणिक्को दिखायी न देनेवाले झींगुरोंके कर्णकटु शब्द सुनायी पड़ते हैं (अर्थात् दुर्जनोंके अप्रत्यक्ष कटु वचनोंसे उसे मानसिक कष्ट होता है), तो कभी उल्लुओं (दुष्टों)के कर्कश कथनसे उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो जाती है और कभी-कभी तो वह भूखसे व्याकुल होकर अधर्म-वृक्षका आश्रय करता है (भिक्षाके लिए जीव अधार्मिक लोगोंकी सेवा करता है), कभी मरीचिकामें जल-पान करनेकी आशासे उसकी ओर दौड़ता है। (अर्थात् जो दरिद्रको अन्नादिका दान नहीं करते, वह उन कृपणजनोंके पास भिक्षाके लिए जाता है, परन्तु वहाँ उसे केवल कष्ट मात्र ही प्राप्त होता है भिक्षा नहीं।) ॥५॥

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्निपतो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हतासुः ॥ ६ ॥

और हे रहूगण! कभी वह जल-शून्य नदियोंकी ओर दौड़ता है, परन्तु उसमें गिर जानेसे उसके सारे अङ्ग टूट जाते हैं। इस प्रकार उसे जल तो प्राप्त नहीं होता, बल्कि कष्ट ही मिलता है। यह संसारी जीव सुख प्राप्ति की आशासे इहलोक एवं परलोकमें दुःख-प्रदायक पाखण्ड-मतका आश्रय लेता है, जिसमें उसे दुःखके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। कभी भोजनका अभाव होनेपर वह दानियोंके पास जाकर भोजनादिकी याचना करता है और कभी दावाग्निके समान घरमें निवास करते हुए शोकानलसे सन्तप्त एवं दुःखी रहता है। कभी यक्षके समान राजागण उसके प्राण-तुल्य धनका अपहरण कर लेते हैं और वह निर्वेदको प्राप्त होकर मृतप्राय हो जाता है ॥६॥

शूरैर्हतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
 शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम्।
 क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
 प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥

कभी किसी स्थानपर कोई अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्ति जब उसका सर्वस्व हरण कर लेता है, तब वह अत्यन्त विषादग्रस्त हो जाता है और उसके लिए शोक करते-करते मूर्च्छित हो जाता है और कभी गन्धर्व-नगरके समान पिता-पुत्र-धन एवं ऐश्वर्यके बीच स्वयंको परम शान्तिको प्राप्त हुआ मानकर मुहूर्तभरके लिए सुखका अनुभव करता है ॥७॥

चलन् क्वचित् कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
 र्नगान् रुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
 पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निर्दितः
 कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥

कभी पर्वतपर चढ़ना चाहता है (अर्थात् पर्वतके समान मनमें बड़ी-बड़ी कामनाएँ लेकर चलना आरम्भ करता है), उस समय पादुकादिके अभावसे उसके पैरोंमें काँटे-कंकड़ चुभ जाते हैं और इस कारण वह दुःखी हो जाता है। (अर्थात् जीव कभी-कभी शास्त्रोंमें वर्णित पर्वतारोहणके समान सुदुष्कर कर्मानुष्ठान करनेकी इच्छा करता है, किन्तु सहायक-सम्पदके अभावमें उन कार्योंकी पूर्णतामें अनेक विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं। तब 'मैं किस प्रकारसे इस कार्यको सम्पूर्ण करूँगा'—इस चिन्तासे व्याकुल होकर सर्वदा ही अनमना रहता है।) कभी कोई कुटुम्बासक्त व्यक्ति जठरानलकी ज्वाला (भूख)से पीड़ित होकर सब समय स्त्री, पुत्रादिपर क्रोध प्रकट करता है ॥८॥

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
 नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।

दष्टः स्म शते क्व च दन्दशूकै-
रन्ध्रोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥

और कभी भवाटवीमें अजगर सर्पादि उस व्यापारीको डँस लेते हैं, जिनके विषसे वह मूर्छित हो जाता है और वनमें फँके हुए शवके समान पड़ा रहता है, उसे कुछ सूझता नहीं (अर्थात् अजगर-सर्पके समान निद्रामें डूबकर मानव सुख-दुःखादि कुछ भी अनुभव नहीं कर पाता)। कभी हिंसक पशु उसे काट खाते हैं (अर्थात् दुर्जन लोग उसे नाना प्रकारकी पीड़ा प्रदान करते हैं), तब वह विवेक-रहित होकर घन-तमसावृत अन्ध-कूपमें गिर जाता है (अर्थात् दुःखादिसे परिपूर्ण माया-मोहके नारकीय जीवनमें निमग्न हो जाता है) ॥९॥

कर्हिस्मचित् क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिव्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रं प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तांस्ततोऽन्ये ॥ १० ॥

कभी वह किसी स्थानपर थोड़ा-बहुत मधु (अर्थात् परस्त्री सुख) खोजने जाता है, पर वहाँ भी मधुमक्खियोंसे (अर्थात् उस स्त्रीके पति, श्वसुरादि आत्मीयजनोंसे) प्रताड़ित होकर कष्ट भोगता है। धनादि व्यय करके बहुत कष्टसे यद्यपि किञ्चित् मधु (परस्त्रीके साथ रति सुख) प्राप्त हो भी जाय, तो दूसरे कामी पुरुष उस मधु (स्त्री)का अपहरण कर लेते हैं और वह उसका भोग कर ही नहीं पाता ॥१०॥

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

इस जगत्में बहुत-से लोग शीत-ग्रीष्म, आँधी-वर्षा इत्यादिसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते और दुःखी रहते हैं। कुछ तो थोड़ा-बहुत द्रव्य

खरीदकर परस्पर विनिमय (लेन-देन) करते हैं। वे धनके लोभसे दूसरोंको ठगते हैं और इस प्रकार पारस्परिक शत्रुता बढ़ा लेते हैं ॥११॥

क्वचित् क्वचित् क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२ ॥

इस भवाटवीमें किसी-किसी स्थानपर धनहीन दरिद्र व्यक्ति धनके अभावमें शय्या, आसन, रहनेका स्थान एवं विहारके लिए सवारी आदि दूसरोंसे माँगते हैं। माँगनेपर भी जब उनकी इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं, तब वे पराये धनके अपहरणकी अनुचित चेष्टा करते हैं और फिर उनके द्वारा अपमानित होते हैं ॥१२॥

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन् मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्पिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः ॥ १३ ॥

कहीं वे परस्पर धन-विनिमय आदिके द्वारा शत्रुताकी वृद्धि कर लेते हैं, तो कहीं परस्पर विवाहादि विशेष सम्बन्ध स्थापित करके इस भवाटवीमें भ्रमण करते हैं और कठोर परिश्रम, धनक्षय एवं रोगादिसे पीड़ित होकर मृतप्राय हो जाते हैं ॥१३॥

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥ १४ ॥

हे वीर ! वणिकोंका समुदाय दुःखी एवं मृतप्राय माता-पिता आदि साथियोंका परित्याग करके नवजात पुत्र आदि नवीन साथियोंको लेकर इस भवाटवीमें आगे बढ़ता है, परन्तु इनमें-से किसी भी सामर्थ्यशाली व्यक्तित्वने आजतक न तो भगवद्-भक्ति-योगको प्राप्त किया है और न ही संसारसे अतीत श्रीहरिको ॥१४॥

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः।
मृधे शयीरन् न तु तद् व्रजन्ति
यत्र्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥ १५ ॥

जो बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति दिग्गजोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, वे भी 'यह भूमि मेरी है'—इस प्रकारके अभिमानके वशीभूत होकर एक दूसरेके साथ शत्रुता करके संग्राम क्षेत्रमें प्राणोंका त्याग कर देते हैं। वे भगवान्‌के उस परमपदको प्राप्त नहीं कर सकते, जो ईर्ष्या-द्वेष रहित परमहंसोंको प्राप्त होता है ॥१५॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित् कदाचिद्धरिचक्रतल्लसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥ १६ ॥

कभी जीवात्मा भवाटवीमें वृक्षके लतादि अङ्गोंका आश्रय लेता है और उन लताओंपर बैठे हुए पक्षियोंकी अस्फुट कल-ध्वनिको सुननेकी इच्छा करता है (अर्थात् स्त्री-सङ्ग और उसके मुखसे बातें सुनकर सुख-सन्तोष प्राप्त करता हुआ पुत्रके मुखको देखनेकी अभिलाषा करता है) और कभी सिंहके भयसे डरकर कङ्क, गीध और बगुलादिके साथ मित्रता करता है (अर्थात् काल-चक्रके भयसे डरकर वञ्चक, कुबुद्धि और पाखण्डीजनोंके साथ मिल जाता है।) ॥१६॥

तैर्विज्वितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान्।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७ ॥

और फिर उनसे भी वञ्चित होकर वह हंसकुलमें प्रविष्ट हो जाता है (अर्थात् पाखण्डियोंका आश्रय लेनेसे शुभ फल प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है, यह देखकर वह ब्राह्मण-कुलमें पुनः

प्रविष्ट होता है), किन्तु उनके आचरण एवं विधि-विधानोंसे अपना अभीष्ट (मनोगत) पूर्ण न होते देखकर वह बन्दरोंके पास जाकर उनकी सङ्गति कर लेता है और उनकी जातिके ही अनुकूल क्रीड़ा करता हुआ अपनी इन्द्रियोंके तर्पणमें लग जाता है, वह विषयीजनोंका मुख देख-देखकर विषयोंमें ऐसा मुग्ध हो जाता है कि उसे अपने मरण-कालका भी स्मरण नहीं रहता ॥१७॥

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित् प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥

वहाँ वृक्षोंमें क्रीड़ा करता हुआ अर्थात् गृहमें रमण करते-करते सम्भोगेच्छाके लिए स्त्रीके चरणोंसे प्रताड़ित होनेपर भी वह स्त्रीको छोड़ नहीं पाता। कभी वह गिरि कन्दराओंकी भाँति भयानक असाध्य रोगोंसे ग्रस्त होकर वहाँ स्थित हाथीके समान मृत्युके भयसे लता-वल्लरियोंके समान प्राचीन कर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ लटका रहता है ॥१८॥

अतः कथञ्चित् स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमन् जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥

हे शत्रुसूदन! जीव इतने कष्ट एवं विपत्तियोंसे मुक्त हो भी जाय, तो भी पूर्वकी भाँति ही प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् विषयी जीवनमें ही प्रवेश करता है। इस प्रकार भगवन्मायाके वशीभूत होकर वह आसक्ति-पथपर प्रवेश करके भवाटवीमें भटकता रहता है और भगवान्को कभी जान ही नहीं पाता ॥१९॥

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तराति पारम् ॥ २० ॥

हे महाराज रहूगण! आप भी मायासे प्रेरित होकर इस प्रवृत्ति-मार्गमें उलझे हुए हैं। अब आप दण्ड प्रदानादि राज व्यवहार छोड़कर समस्त जीवोंसे मित्रता करें एवं विषय-भोगोंका त्याग कर हरि सेवासे प्राप्त ज्ञान रूपी तीक्ष्ण तलवारकी सहायतासे माया-पाशको छिन्न-भिन्न करके इस संसार-सागरको पार करें ॥ २० ॥

श्रीराजोवाच—

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ २१ ॥

राजा रहूगणने कहा—अहो! यह मनुष्य जन्म ही समस्त जन्मोंसे श्रेष्ठ है। स्वर्गमें देव-जन्म भी इससे उत्कृष्ट नहीं है। पुनः स्वर्गमें देवतादिके रूपमें जन्म ग्रहण करनेसे क्या लाभ है? वहाँ भगवान् हृषीकेशके यशकीर्तनके प्रभावसे निर्मल चित्तवाले आप जैसे महात्माओंका अधिक सङ्ग प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२ ॥

आपकी चरण-धूलिकी प्राप्ति मात्रसे ही जीव निष्पाप होकर ब्रह्मादिके लिए भी दुर्लभ शुद्ध भक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपके मुहूर्त मात्रके सङ्गसे ही मेरे कुतर्कका मूल कारण अविवेक अर्थात् संसार-मोह नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
 नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः।
 ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
 श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्॥ २३ ॥

(हाय! हाय! मैंने आपको अपनी पालकी ढोनेमें लगाकर बहुत बड़ा अपराध कर डाला। आप यदि स्वयंको प्रकाशित करके मुझे न समझाते, तो मेरे जैसे अपराधीकी क्या गति होती—इस प्रकार विचार करते हुए राजा रहूगण कहने लगे—) महद्जनोंके लिए मेरा नमस्कार है! बालकों तथा युवकोंके लिये मेरा नमस्कार है। क्रीडारत विप्र बालकोंके रूपमें और जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण अवधूत-वेशमें पृथ्वीपर विचरण कर रहे हैं, उन सबको मेरा नमस्कार है। उन सबकी कृपासे मुझ जैसे अपराधी राजाओंका कल्याण हो॥२३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं
 विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन
 सकरुणमभिवन्दितचरणः पूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां
 विचचार॥ २४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे उत्तरानन्दन परीक्षित! महानुभाव भरतका मन एवं इन्द्रियोंकी तरङ्गोंका वेग शान्त हो गया था तथा अन्तःकरण पूर्ण समुद्रके समान अक्षुब्ध हो गया था। सिन्धु सौवीर देशके राजा रहूगणने यद्यपि उनका अपमान किया था, तथापि उन्होंने अहैतुकी कृपा करके राजाको आत्मतत्त्वका उपदेश दिया था। इसके बाद महाराज रहूगणने अति दैन्यके साथ उनके चरणोंकी वन्दना की। महाराज भरत पुनः पूर्ववत् सारे विश्वमें भ्रमण करने लगे॥२४॥

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपिताञ्च देहात्ममतिं विससर्ज्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः॥ २५ ॥

परीक्षित्! सौवीर-पति राजा रहूगणने परम-भागवत भरतजीसे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति समझकर अविद्या द्वारा कल्पित देहमें आत्म-बुद्धिका परित्याग कर दिया। हे राजन्! भगवदाश्रित भक्तोंके चरणाश्रयकी महिमा ही ऐसी है, जिसका आश्रय करनेसे जीवका देहाभिमान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥ २५ ॥

श्रीराजोवाच—

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतद् दुरधिगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीब्राह्मणरहूगणसंवादे भवाटव्युपवर्णनं
नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

राजा परीक्षित्ने कहा—हे भागवतश्रेष्ठ! आप सर्वज्ञ हैं। आपने वणिक्के माध्यमसे जीवोंके संसार-मार्गका रूपक-वचनोंसे जो आख्यान प्रस्तुत किया है, उससे विवेकी जन बुद्धि-बलसे जान सकते हैं कि इन्द्रियाँ दस्युके समान हैं और पुत्र-कलत्रादि शृगालके समान हैं किन्तु इस प्रकारके बोधका उदय बुद्धिकी शक्तिसे रहित अल्पबुद्धिवालोंके लिए सम्भव नहीं है। यह रूपक अतिशय दुर्बोध्य है, अतः आप (उनके भी कल्याणके लिए) इसके वास्तविक अर्थको दृष्टान्त द्वारा सहज, सरल और बोधगम्यरूपमें स्पष्ट करें॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके तेरहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

भवाटवीका यथार्थ अभिप्राय

स होवाच—

स एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशल-
समवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य
द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन् दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित
ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा
वणिक्सारथोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां
संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं
हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे ॥ १ ॥

महाराज परीक्षित्के इस प्रकार प्रश्न करनेपर परम भागवत श्रील
शुकदेव गोस्वामी अतिशय आनन्दमें भरकर कहने लगे—महाराज !
अर्थोपार्जनमें लगे हुए वणिक् जिस प्रकार धनके लिए कण्टकोंसे
परिपूर्ण दुर्गम पथपर चलते-चलते घोर जङ्गलमें भटक जाते हैं,
उसी प्रकार सभी प्राणी मायाधीश भगवान् विष्णुकी अधीनस्थ
मायासे प्रेरित होकर दुर्गम प्रवृत्ति मार्गमें चलते-चलते भवाटवीमें
भटकने लगते हैं। इसी कारणसे ऐसे प्राणी भगवदभिन्न श्रीगुरुदेवके
चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले मधुकरों अर्थात् भक्तोंके द्वारा अनुष्ठित
भक्ति मार्गको आजतक प्राप्त नहीं कर पाये हैं। देहाभिमानी जीव
सत्त्वादि गुणोंके भेदसे शुभ, अशुभ एवं मिश्रित—तीन प्रकारके कर्म
करके उन कर्मोंके फलानुसार देव-तिर्यक् आदि योनियोंको प्राप्त
करते हैं और इन विभिन्न प्रकारकी देहोंके द्वारा वे संयोग-वियोग
जनित सुख-दुःखरूप अनादि संसारका अनुभव करते हैं। पाँच
ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—ये छह संसारके अनुभवके द्वारस्वरूप हैं।
इन्हींकी सहायतासे जीव अपनी-अपनी देहोंसे किये हुए कर्मोंके

फलोंको भोगता है। भगवान्की बहिरङ्गा शक्ति मायाके अधीन होकर जो भी कर्म किये जाते हैं, कभी तो वे निष्फल हो जाते हैं और कभी बहुत-से विघ्नोंसे उनमें रुकावट आ जाती है। भगवदभिन्न श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले महात्माओंकी पदवी (भक्ति) ही आध्यात्मिकादि तीनों पापोंका विनाश करनेमें समर्थ है परन्तु अमङ्गलकारी भवाटवीके पथिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते॥१॥

यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते, तद्यथा पुरुषस्य धनं यत् कञ्चिद्धर्मोपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात् परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तन्तु साम्पराय उदाहरन्ति। तद्धर्म्यं धनं दर्शन-स्पर्शन-श्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पसमवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य तथा विलुम्पन्ति॥२॥

इन्द्रियोंको जिन्हें दस्यु कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि ये अपने कर्मोंसे दस्यु कही जाती हैं। किसी पुरुषके द्वारा बहुत कष्टसे उपार्जित धर्मोपयोगी थोड़े-बहुत धनको जिस प्रकार चोर चुरा ले जाते हैं, उसी प्रकार दस्युके समान इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों अर्थात् असद् विषयोंके दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, आस्वादन, आघ्राण, सङ्कल्प एवं अध्यवसायादि चेष्टाओंके द्वारा गृहोचित भोगोंका उपभोग करानेके लिये धन का व्यय करा देती हैं, अजितेन्द्रिय कुबुद्धि व्यापारीका परमपुरुषकी आराधनाके लिये अथवा पारलौकिक धर्मके लिये उपार्जित यत्किञ्चित् धन है, जिसे पारलौकिक धर्म कहा जाता है, उस धर्मरूप धनका भी दस्युरूप इन्द्रियाँ अपहरण कर लेती हैं। (उपार्जित धनका पारलौकिक धर्ममें व्यय निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है।)॥२॥

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकशृगाला एवानिच्छतोऽपिकदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत् संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपहरन्ति॥३॥

हे राजन्! इस संसारमें कुटुम्बी जो केवल नामसे ही स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं, किन्तु उनके कार्य भेड़ियों और गीदड़के समान होते हैं। भेड़िया जिस प्रकार पालकोंसे संरक्षित भेड़ोंको बलपूर्वक उठा ले जाता है, उसी प्रकार ये स्त्री, पुत्रादि भी अत्यन्त लोभी गृहस्थाश्रमी व्यक्तिके अतिशय यत्नपूर्वक उपार्जित और रक्षित धनको उसके समक्ष ही उसकी इच्छा न रहने पर भी बलपूर्वक हरण कर ले जाते हैं ॥३॥

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्धिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन् न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः ॥४॥

जिस प्रकार प्रत्येक वर्ष खेतको जोतकर समस्त घास-फूसको जड़से खोदकर खेतका परिष्कार किया जाता है, किन्तु तब भी इन तृण-गुल्मादिके बीज पूरी तरह नष्ट नहीं होते तथा बीज बोनेके बाद खेतीका समय आनेपर वह खेत पुनः घास-फूस, झाड़-झंखाड़ आदिसे भरकर गह्वर (कुञ्ज) के समान हो जाता है। उसी प्रकार यह गृहाश्रम कर्मक्षेत्र स्वरूप है। इसमें सारे कर्म एक बारमें ही उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि यह (गृहाश्रम) काम्य कर्मोंके भाण्डके समान है। जिस प्रकार कर्पूरके बर्तनमें कर्पूरके न रहनेपर भी उसकी सुगन्ध बनी रहती है, उसी प्रकार वासनाओंका सम्पूर्ण क्षय न होनेके कारण कर्मोंका भी सम्पूर्णरूपसे नाश नहीं होता ॥४॥

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्कर-
मूषिकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित् परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्य-
विद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति
मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ॥५॥

कभी गृहस्थाश्रममें आसक्त व्यक्तिकी धन-सम्पत्तिको डास एवं मच्छरके समान नीच व्यक्ति और पतङ्गे, टिड्डी, शिकारी पक्षी एवं चोरके समान तस्कर अत्यन्त क्षति पहुँचाते हैं, तब भी वह संसार-मार्गमें ही भटकता रहता है। उसका चित्त अविद्या, कामनाओं

एवं कर्मोंसे कलुषित रहता है। वह भ्रमित-सा गन्धर्वनगरके समान अनित्य एवं असत्य इस मर्त्यलोकको ही सत्यरूपमें देखता है ॥५॥

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति पानभोजन-
व्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥

कभी इस गन्धर्वपुरमें वही जीव खान-पान एवं स्त्री-सङ्ग आदि व्यसनोसे लालायित होकर मृगतृष्णाके जलके समान मिथ्या विषयोंके पीछे दौड़ता रहता है ॥६॥

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः
सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम् ॥ ७ ॥

हे राजा रहूँगा! स्वर्णको हिंसा, परस्त्री गमन, द्यूत, मद्यपान इत्यादि बहुत प्रकारके दोषोंका आकर माना गया है। इतना ही नहीं, यह एक प्रकारका पीले रंगका मल है। जिनकी बुद्धि रजोगुणसे प्रेरित है, वे ही इसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। सर्दीके कारण ठिठुरता व्यक्ति जिस प्रकार अग्निका ताप प्राप्त करनेके लिए अग्निके समान जाज्वल्यमान पिशाचको देखकर उसे अग्नि मान उसकी ओर धावित होता है, उसी प्रकार स्वर्णाभिलाषी व्यक्ति विष्ठाकी ओर ही दौड़ता है ॥७॥

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां
संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति ॥ ८ ॥

कभी वह अपना जीवन धारण करनेके लिए उपयोगी निवास-स्थान, जल और धन आदि बहुत प्रकारकी उपयोगी वस्तुओंमें आसक्त होकर संसार-अटवीमें इधर-उधर दौड़ता रहता है ॥८॥

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत
इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षो दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति ॥ ९ ॥

कभी बवण्डरके समान सुन्दर स्त्री उसे अपनी गोदमें बिठा लेती है। उस समय उड़ती हुई रजके समान काम-वेगसे उसका विवेक नष्ट हो जाता है और कामान्ध होकर वह विधि-मार्गकी

मर्यादाका उल्लङ्घन कर लेता है। चन्द्र, सूर्यादि देवता उसके इस मर्यादातिक्रमणके साक्षी स्वरूप हैं, पर वह मोहान्ध जीव अपने नेत्रोंसे उन्हें भी रात्रिके समान ही देखता है। आसक्ति द्वारा पराजित हुआ-सा वह जान ही नहीं पाता कि उसके कर्मोंको विभिन्न देवता देख रहे हैं ॥९॥

क्वचित् सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिधानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तथैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥ १० ॥

कभी मनुष्य अपने-आप ही एक-आध बार यह धारणा कर लेता है कि विषय विफल एवं दुःखदायी हैं, किन्तु देहात्मबुद्धि होनेके कारण उसकी इस प्रकारकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह मरु-मरीचिकाके जलके समान विषयोंकी ओर पुनः दौड़ने लगता है ॥१०॥

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः ॥ ११ ॥

कभी शत्रु एवं राजा उल्लूके समान प्रत्यक्षरूपसे और झींगुरके समान अप्रत्यक्षरूपसे उसको उग्रता एवं गर्वपूर्ण कठोर वचन कहकर उसकी भर्त्सना एवं प्रताड़ना करते हैं। ये कर्णकटु शब्द उसके कानोंमें शूलके समान प्रतीत होते हैं और वह हृदयमें बड़ी वेदनाका अनुभव करता है ॥११॥

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्कराद्यपुण्यद्रुमलता-विषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान् जीवन्मृतान् स्वयं जीवन् म्रियमाण उपधावति ॥ १२ ॥

जीव पूर्व-सञ्चित पुण्योंके भोगोंका क्षय होनेपर जीवित रहते हुए भी मृतकके समान हो जाता है। तब वह उन धनवानोंके पास जाता है, जो कारस्कर आदि अपवित्र वृक्षों, दूषित लताओं और जहरीले कुँएँके समान हैं। इन धनिकोंका धन इस लोक और परलोक दोनोंके ही काम नहीं आता, क्योंकि वे स्वयं ही जीवन्मृत हैं ॥१२॥

एकदा असत्प्रसङ्गात्रिकृतमतिर्व्युदकस्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाषण्डमभियाति ॥ १३ ॥

संसाराटवीमें भटकनेके कारण कभी-कभी असत् सङ्गसे जीवकी बुद्धि वञ्चित हो जाती है। जल-रहित नदीमें गिरनेसे जिस प्रकार तत्क्षण ही मस्तक फूट जाता है और बादमें भी बहुत कष्ट होता है, उसी प्रकारसे यह वञ्चित पुरुष वेद-विरुद्ध एवं पाषण्डपूर्ण मत-मतान्तरोंका आश्रय लेकर वर्तमान काल और भविष्यमें भी दुःख प्राप्त करता है ॥१३॥

यदा तु क्षुत्पिपासार्दितः परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति ॥ १४ ॥

इस संसारमें मनुष्य क्षुधा, पिपासा इत्यादि अथवा उत्कट यातनाके कारण ज्ञान-रहित होने लगता है या दूसरोंको कष्ट देकर भी जब अपनी प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त नहीं कर पाता, तब यदि वह तृणके समान तुच्छ वस्तुको भी यदि अपने पिता, पुत्र या सगे-सम्बन्धियोंके पास देख लेता है, तो उसके लिए उन लोगोंको बहुत उत्पीड़ित करता है ॥१४॥

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत् प्रियार्थविधुरमसुखोदकं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥ १५ ॥

यह गृह दावानलके समान है। इसमें सुखका लेशमात्र भी नहीं है, दुःख ही इसका चरम फल है, चिरन्तन सुखके लिए कोई वस्तु इसमें अनुकूल नहीं है। जीव इस प्रकारके घरको प्राप्त करके शोकानलमें दग्ध होता रहता है और कभी 'मैं बड़ा मन्दभागा हूँ', 'मेरी कोई सुकृति नहीं है'—इस प्रकार सोच-सोच कर खिन्न एवं विपन्न रहता है ॥१५॥

क्वचित् कालविषमितराजकुलरक्षसापहतप्रियतमधनासुर्मृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते ॥ १६ ॥

हे राजन्! साधारणतः राजा राक्षसोंके समान होते हैं। कभी-कभी ये प्रतिकूल होकर प्रजाके प्राणोंके समान परम प्रिय धनका (कर के रूपमें) अपहरण कर लेते हैं, जिससे प्राणी सुख-दुःखकी अनुभूतिरूप जीवन-चिह्नोंसे रहित होकर मृतवत् हो जाते हैं॥१६॥

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिं
क्षणमनुभवति ॥ १७ ॥

किसी समय भवाटवीका पथिक यह मान लेता है कि मेरे पिता एवं पितामह ही मेरे पुत्र एवं पौत्रके रूपमें लौट आये हैं—इस विचारसे वह क्षण भरके लिए स्वप्न-सुखके समान सुखका अनुभव करता है॥१७॥

क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लौकिकव्यसन-
कर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति ॥ १८ ॥

गृहस्थाश्रममें अश्वमेधादि यज्ञ, विवाह एवं यज्ञोपवीत संस्कार आदि जो भी कर्त्तव्य हैं, उनके अनुष्ठानोंकी विधि पहाड़के समान विशाल है। जो व्यक्ति इन कर्मोंरूपी पहाड़के पार जाना चाहता है, उसका चित्त अति तुच्छ लौकिक कर्मकाण्डकी ओर आकृष्ट हो जाता है। पर्वतोंके सूक्ष्माग्रमें कंकड़ एवं काँटोंसे भरे हुए प्रदेशमें पाँव रखनेसे जो चुभन होती है, उसी प्रकारके कष्टको अनुष्ठानरूप पर्वतारोहणके लिए प्रयासवान् जीवको भोगना पड़ता है॥१८॥

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय
क्रुध्यति ॥ १९ ॥

कभी यह जीव देहमें स्थित जठरानल (शारीरिक भूख एवं प्यास) से इतना विचलित हो जाता है कि उसका धैर्य टूट जाता है और वह पुत्र-पत्नी आदि आत्मीयोंके ऊपर क्रोध करने लगता है॥१९॥

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते
नान्यत् किञ्चन वेद शव इवापविद्धः ॥ २० ॥

हे राजन्! निद्रा अजगरके समान है। यह निद्रा-सर्प संसार मार्गमें भ्रमणशील व्यक्तियोंको डस लेता है, तब वे अज्ञानान्धकूपमें खोये हुए-से सुदूर निर्जन वनमें परित्यक्त शवकी भाँति पड़े रहते हैं। उस समय जीवको अपनी कोई सुध-बुध नहीं रहती ॥२०॥

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेना-
नुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत् पतति ॥ २१ ॥

कभी-कभी दन्दशूक अर्थात् सर्प, राक्षसादि हिंसक स्वभाववाले दुर्जनोंके द्वारा पीटे जानेपर उस जीवके गर्वरूपी दाँत टूट जाते हैं, जिससे उसे विश्राम करनेका भी अवसर नहीं मिलता। उसका हृदय क्षण-क्षण व्यथित रहता है और विवेक दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगता है। अन्ततः वह अन्धके समान महामोहान्धकूपमें गिर जाता है ॥२१॥

कर्हिस्मचित् काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो
राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये ॥ २२ ॥

कभी वह जीव अत्यन्त तुच्छ मधुकणोंके समान विषय-भोगोंको ढूँढ़ता हुआ परधन एवं परस्त्रीका अपहरण करना आरम्भ कर देता है, जिससे राजा और गृहस्वामीके द्वारा ताड़ित एवं तिरस्कृत होकर घोर नरकके समान कारागारमें बन्दी हो जाता है ॥२२॥

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति ॥ २३ ॥

इसीसे पण्डितजन कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें लगे हुए जीवके लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकारके कर्म ही उसके लिये दुःखरूपी आधार-भूमिके स्रोत अथवा संसाररूप जन्मभूमिके स्रोत हैं। ये कर्म ही जीवके अगले जन्मके संसारको पल्लवित एवं पोषित करते हैं ॥२३॥

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र
इत्यनवस्थितिः ॥ २४ ॥

दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करके जीव यदि किसी प्रकारसे बन्धन, प्रहारादिसे मुक्त हो भी जाय, तब देवदत्त नामका कोई

दूसरा व्यक्ति उससे उसकी सारी वस्तुएँ छीन लेता है। पुनः विष्णुमित्र नामक कोई तीसरा व्यक्ति उस देवदत्तसे अपहृत द्रव्यका पुनः हरण कर लेता है। इस प्रकार एक हाथसे दूसरे हाथमें हस्तान्तरित होता हुआ धन कहीं भी नहीं ठहरता। कोई भी उसका उपभोग नहीं कर पाता॥२४॥

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकधिभौतिकाध्यात्मिकीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते॥२५॥

कभी यह जीव शीत, वात आदि बहुतसे आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक क्लेशोंको सहनेमें असमर्थ होकर इनका प्रतिकार नहीं कर पाता और अपार चिन्तासे दुःखी हो जाता है॥२५॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्र-मप्यपहरन् यत् किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्॥२६॥

परस्पर धनका लेन-देन करके एक व्यक्ति अन्य किसी व्यक्तिके एक कौड़ी मात्र अथवा उससे भी कम धनका अपहरण कर लेता है, तो धनकी उस ठगीके कारण उन दोनोंका आपसमें वैर हो जाता है॥२६॥

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमान-प्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्याविमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरा-मरणादयः॥२७॥

इस संसारमें ये पूर्वोक्त महाकष्ट तो हैं ही, इनके अतिरिक्त सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक प्रकारके विघ्न भी हैं॥२७॥

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानस्तद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोक-विवेष्टितापहतहृदय आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति॥२८॥

कभी देवमायारूपिणी स्त्रीकी भुज-लताओंसे आलिङ्गित होकर जीवके आत्मज्ञानरूपी विवेक एवं भगवद् उपासनारूपी विज्ञान ध्वस्त हो जाते हैं। तब उसका हृदय स्त्रीके लिए विहार-भवन निर्माण करनेके लिये व्यग्र हो जाता है और उस विहार भवनमें उसीके आश्रयमें रहनेवाले पुत्र, पुत्र-वधू एवं पुत्री आदिके साथ वार्त्तालाप, दृष्टिपात आदि कार्य-कलापोंमें आसक्त होकर वह अजितेन्द्रिय जीव अपार अन्धकार-नरकमें जा पड़ता है॥२८॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात् परमाण्वादि-
द्विपराद्धापवर्गकालोपलक्षणात् परिवर्त्तितेन वयसा रंहसा हरत
आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं
कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाषण्डदेवताः
कङ्कगृध्रबककरटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते॥ २९॥

परमेश भगवान् विष्णुके चक्रका नाम हरिचक्र है। यह चक्र परमाणुसे द्विपरार्ध तक फैला हुआ काल-स्वरूप है। यह निरन्तर घूमता रहता है और ब्रह्मासे लेकर तृण-गुल्मादि तक सभी प्राणियोंके बाल्य और यौवनादिका अति शीघ्र ही हरण करता जाता है। कोई भी इसका प्रतिकार करनेमें समर्थ नहीं है। यह कालचक्र भगवान्का निज अस्त्र है, अतः बहुत सतर्क रहता है। इस कालचक्रसे भयभीत होकर जीव चक्रायुध साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी अवज्ञा करके गीध, बगुला, कङ्क और कौवेके समान शिष्टाचार रहित होकर आर्यशास्त्र से बहिष्कृत, मूल-प्रमाणसे रहित, कल्पित, पाखण्डी एवं अप्रमाणिक शास्त्रोंमें वर्णित उपास्य देवताओंका आश्रय लेता है। गीध, बगुले, कङ्क और वाय (कौआ) जिस प्रकार सिंहसे भयभीत प्राणीकी रक्षा नहीं कर सकते, उसी प्रकार ये मानव निर्मित देवता कालचक्रसे जीवका परित्राण नहीं कर सकते॥२९॥

यदा तु पाषण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां
शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्त्तकर्मनुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव

तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः
कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः ॥ ३० ॥

पाखण्डी स्वयं तो वञ्चित होते ही हैं, उनका आश्रय लेने वाले जीव उनसे और भी अधिक वञ्चित होकर ब्राह्मणोंका आश्रय लेते हैं किन्तु ब्राह्मणोंके उपनयनादि श्रौत एवं स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधनारूपी आचरण उनके लिए रुचिकर नहीं होते। तब वे शूद्राचारका अनुसरण करते हैं। शूद्रगण विधवा-विवाह, मूल्य देकर परित्यक्ता स्त्रीके साथ परिणय इत्यादि करके स्त्री-सङ्ग करते हैं, जबकि शास्त्रोंमें इस प्रकारके आचरणका निषेध है। ऐसे लोग वानरोंके समान कुटुम्बके भरण-पोषणके अतिरिक्त और कोई अग्निहोत्रादि क्रिया नहीं करते ॥३०॥

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुख-
निरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः ॥ ३१ ॥

यह जीव शूद्र समाजमें प्रविष्ट होकर निर्बाध गतिसे (मुक्त भावसे) स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करता है, जिससे उसकी बुद्धि अतिशय मन्द हो जाती है। एक-दूसरेका मुँह देखनेमें (इन्द्रिय-तुष्टिमें) और ग्राम्य कर्मोंमें (सांसारिक कर्मोंमें) वह इतना व्यस्त हो जाता है कि सिरपर सवार मृत्युकालको भी भूल जाता है ॥३१॥

क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो
व्यवायक्षणः ॥ ३२ ॥

राजन्! वानर जिस प्रकार वृक्षपर क्रीड़ा करते-करते (उछलते-कूदते) व्याधके जालमें फँस जाते हैं और अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होते हैं, उसी प्रकार यह जीव भी भौतिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये गृहमें आसक्त होकर पत्नी-पुत्रादिमें प्रीतियुक्त रहता है तथा मैथुनोत्सवमें रत रहकर संसार-बन्धनसे आत्म-रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है ॥३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात् तमसि गिरिकन्दरप्राये ॥ ३३ ॥

इस संसार-मार्गमें पड़कर जीव जब भगवद् आराधनाका त्याग करके पाप कर्मोंमें आसक्त हो जाता है, तब उसे आध्यात्मिकादि तीनों तापोंका भोग करना पड़ता है और अन्ततः वह मृत्युरूपी हाथीसे डरकर गिरि-गुफाके समान घोर अन्धकारमें गिर पड़ता है ॥ ३३ ॥

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयधिषणया विषण्ण आस्ते ॥ ३४ ॥

कभी वह शीत-वात इत्यादि बहुत प्रकारके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंको सहन नहीं कर पाता, तब वह विषम विषयोंकी चिन्तामें दुःखी हो जाता है ॥ ३४ ॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत् किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन द्वेषं गच्छति ॥ ३५ ॥

कभी एक दूसरेके साथ धनका लेन-देन करते-करते मनुष्य ठगी आदि उपायोंसे जो कुछ धन प्राप्त करते हैं, उससे एक-दूसरेके शत्रु हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

क्वचित् क्वचित् क्षीणधनः शय्यासनाद्युपभोगविहीनो यावदप्रतिलब्ध-मनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥ ३६ ॥

कभी-कभी धन न रहनेके कारण शय्या, आसन आदि भोग्य वस्तुओंका अभाव हो जाता है, जब वह अपनी मनचाही वस्तु सदुपायों द्वारा प्राप्त नहीं कर पाता, तब वह चोरी आदि असद् उपायोंसे (अवैध तरीकोंसे) धन प्राप्त करनेका प्रयास करता है, जिसके कारण लोगोंसे उसे अपमानित होना पड़ता है ॥ ३६ ॥

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति ॥ ३७ ॥

इस प्रकार अर्थासक्तिके कारण पारस्परिक शत्रुता बढ़ जाती है। कभी पूर्ववासनाके कारण पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करनेके

लिए विवाहादि सम्बन्धमें बँध जाते हैं और जब शत्रुता बढ़ती है, तो वैवाहिक सम्बन्धोंका विच्छेद हो जाता है ॥३७॥

एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमुह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् बिभ्यद्विनदन् विवहन् संहृष्यन् गायन् नह्यमानः साधुर्वर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थस्तमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥ ३८ ॥

इस प्रकार इस संसारमें बहुत प्रकारके कष्टों एवं विघ्न-बाधाओंसे पीड़ित होकर जीव आपत्ति-विपत्तियोंमें फँसता चला जाता है। अन्य कोई विपन्न व्यक्ति यथा पितादिके रूपमें पुरुष मर जाता है, तो वह उससे मोह छोड़कर नवजात पुत्रादिको ग्रहण कर उसमें आसक्त हो जाता है। कभी वह किसीके लिए शोक करता है और कभी किसीके मोहमें मूर्च्छित हो जाता है। किसी स्थितिमें वह डरता है और कभी चीत्कार कर उठता है। कभी वह किसीका लालन-पालन करता है तो कभी अति प्रसन्नताका अनुभव कर गाने लगता है और इस प्रकार संसारसे बँधा ही रहता है। जीव भगवान्से अनादि कालसे बहिर्मुखताके कारण ही नित्य बद्ध है और इसी कारण ही इस भवाटवीमें भटकता रहता है। तत्त्वज्ञानी भगवद्-पदको ही इस संसार सागरसे पार जानेका एकमात्र उपाय बतलाते हैं। साधु-सङ्गके बिना आज तक कोई भी संसार सागरको पार नहीं कर सका है। नित्यबद्ध जीव वैष्णव सङ्गको छोड़कर प्रवृत्तिमार्गसे मुक्त नहीं हो सकते और न ही भगवद्-सेवाको प्राप्त कर सकते हैं ॥३८॥

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यत्र्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥ ३९ ॥

भक्तियोगके द्वारा भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। समस्त जीवोंके सुहृत्, शान्त, जितेन्द्रिय मुनि ही भक्तियोगके द्वारा भगवान्को सहजतासे प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु संसारमें आसक्त रहनेवालोंके लिए यह कदापि सम्भव नहीं है ॥३९॥

यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किन्तु परं
मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य
स्वयमुपसंहृताः ॥ ४० ॥

बड़े-बड़े दिग्विजयी और यज्ञ-मार्गके अनुष्ठानोंमें व्यस्त रहनेवाले
राजर्षि भी इस संसारको पारकर भगवद्-सेवा प्राप्त नहीं कर
पाते। ये राजागण 'यह भूमि मेरी है' इस अभिमानसे परस्पर
शत्रुता कर लेते हैं एवं जिस भूमिके लिए शत्रुता की थी, उसे
यहीं छोड़कर संग्राम-क्षेत्रमें स्वयं भी विनष्ट हो सदाके लिए शयन
कर जाते हैं ॥ ४० ॥

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चित्ररकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं
संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥ ४१ ॥

इस प्रकार मनुष्य कर्म-वल्ली (कर्म-लता) का आश्रय लेकर
स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंको प्राप्त कर भी लेते हैं और नारकीय गतिसे
मुक्त हो भी जाते हैं, किन्तु पुण्योंके क्षीण होनेपर उन्हें फिर इस
मर्त्यलोकमें आना ही पड़ता है ॥ ४१ ॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।

नानुवर्त्तार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥ ४२ ॥

मुनिवर शुकदेवने पूर्वोक्त प्रकारसे भरतजीके द्वारा वर्णित
विषयोंकी व्याख्या करके उनके द्वारा अनुष्ठित कार्योंका संक्षिप्त
परिचय देते हुए कहा—हे महाराज! पण्डितगण राजर्षि भरतके
सम्बन्धमें इस प्रकार कहते हैं—जिस प्रकार मक्खियाँ पक्षीराज
गरुड़के मार्गका अनुसरण करनेमें किसी प्रकार योग्य नहीं हो
सकतीं, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर कोई भी राजा आज तक अपने
मनके द्वारा भी ऋषभनन्दन राजर्षि भरतके मार्गका अनुसरण
करनेमें समर्थ नहीं हुआ है ॥ ४२ ॥

यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।

जहौ युवैव मलवदुत्तमः श्लोकलालसः ॥ ४३ ॥

राजर्षि भरतने यौवनकालमें ही भगवद्-भावमें आसक्त होकर मनोरम स्त्री, पुत्र, सुहृत्, राज्य आदि समस्त दुस्त्यज्य विषयोंको विष्ठाके समान हेय समझकर अनायास ही परित्याग कर दिया था, इस प्रकारका त्याग दूसरोंके लिए बहुत कठिन है ॥ ४३ ॥

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्

प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।

नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-

सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४ ॥

उन्होंने अति दुस्त्यज्य राज्य, पुत्र, कलत्र, धन यहाँ तक कि जो सर्वदा उनके अनुग्रहकी प्राप्तिके लिए उनकी ओर दृष्टिपात करती हैं, उन सुरजनों द्वारा प्रार्थनीय लक्ष्मीका भी परित्याग कर दिया। यह उनके लिए उपयुक्त ही था; क्योंकि जिन महापुरुषोंका चित्त सर्वदा भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणारविन्दकी सेवामें अनुरक्त रहता है, उनके लिए मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है ॥ ४४ ॥

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय

योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।

नारायणाय हरये नम इत्युदारं

हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥ ४५ ॥

राजर्षि भरतने मृग शरीरका त्याग करते समय उच्च स्वरसे कहा था—स्वयं यज्ञस्वरूप, यज्ञादि अनुष्ठानोंके ‘अपूर्व’ आदि फल-दाता, समस्त धर्मोंके विधायक, रक्षक, कर्तव्य-कार्यमें मूर्तिमान् कौशल-स्वरूप, तत्त्वज्ञानपरक-योगसे अभिन्न मूर्ति, सांख्य-ज्ञान जिनका प्रधान फल है अर्थात् सांख्य-ज्ञानके जो प्रतिपाद्य हैं और जो समस्त जगत्की कारणीभूत मायाको (प्रकृतिको) नियन्त्रित करते हैं, जीवोंमें जो सूक्ष्मरूपसे अनुस्यूत रहते हैं, ऐसे परम

मनोहर भगवान्के श्रीचरणोंमें दास्यभावसे युक्त होकर आत्म-समर्पण करता हूँ ॥४५॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेभरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यमापवर्ग्यञ्चानुशृणोत्याख्यात्यभिनन्दति च सर्वा ह्येवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीभरतोपाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

राजन्! भागवतजन भरतजीके शुद्ध गुणों एवं कर्मोंका समादर करते हैं। जो साधकजन भरतजीके मङ्गलजनक, परमायुवर्द्धक, धनवृद्धिकर, यशस्कर, स्वर्ग एवं मोक्ष-प्रदायक चरित्रका श्रवण, कीर्तन अथवा अनुमोदन करते हैं, वे अपने समस्त अभीष्टोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं। उन्हें दूसरोंसे कुछ भी धन माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके चौदहवे अध्यायका श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज भरतके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमुह वाव केचित् पाषण्डिन
ऋषभपदवीमनुवर्त्तमानञ्चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया
पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भरतके पुत्रको सुमतिके नामसे
जाना जाता है। इन्हें ऋषभदेवकी पदवी (जीवन्मुक्ति मार्ग) का
अनुगमन करते देखकर कितने ही वेदाचरणसे विमुख दुर्जन लोग
पापाचरणमें तत्पर हो जायेंगे और अपनी दुर्बुद्धिसे इनकी कलियुगमें
अवेद-प्रतिपाद्य बुद्ध-भगवान्‌के रूपमें कल्पना कर लेंगे अर्थात्
साक्षात् रूपमें भगवान् बुद्ध ही अवतीर्ण हुए हैं—इस प्रकार
मनगढ़न्त धारणा कर लेंगे ॥१॥

तस्माद्वृद्धसेनायां देवताजिन्नामा पुत्रोऽभवत् ॥ २ ॥

उन्हीं सुमतिकी पत्नी वृद्धसेनाके गर्भसे देवताजित् नामक एक
पुत्रका जन्म हुआ ॥२॥

अथासुर्या तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य
सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः ॥ ३ ॥

देवताजित्‌की पत्नी आसुरीके गर्भसे देवद्युम्न नामका एक पुत्र
उत्पन्न हुआ। देवद्युम्नकी पत्नी धेनुमतीके गर्भसे परमेष्ठी नामका
पुत्र और परमेष्ठीकी सुवर्चला नामकी पत्नीके गर्भसे प्रतीह नामके
एक पुत्रका जन्म हुआ ॥३॥

य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार ॥ ४ ॥

प्रतीहने आत्मविद्याका प्रचार-प्रसार किया, जिससे वे स्वयं शुद्ध हुए और परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी साक्षात् रूपमें उपलब्धि की ॥४॥

प्रतीहात् सुवर्चलायां प्रतिहर्तादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम् ॥५॥

प्रतीहकी पत्नी सुवर्चलाके गर्भसे प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों ही वैदिक यज्ञादिके अनुष्ठानोंमें निपुण थे। प्रतिहर्ताकी पत्नी स्तुतिके गर्भसे अज और भूमा नामक दो पुत्रोंका जन्म हुआ ॥५॥

भूमन् ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावाद्विरुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्याञ्च पृथुषेणस्तस्मात्प्रक्त आकूत्यां जज्ञे नक्तादृतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत यः साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलात्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः ॥६॥

भूमाकी पत्नी ऋषिकुल्याके गर्भसे उद्गीथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उद्गीथकी पत्नी देवकुल्यासे प्रस्ताव नामक पुत्र और प्रस्तावकी पत्नी विरुत्सारके गर्भसे विभु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विभुकी पत्नी रतिके गर्भसे पृथुसेन और पृथुसेनकी पत्नी आकूतिके गर्भसे नक्त नामक पुत्रने जन्म ग्रहण किया। नक्तकी पत्नी ऋति थी। ऋतिके गर्भसे पुण्यकीर्ति राजर्षि-श्रेष्ठका गयका जन्म हुआ। जो भगवान् विष्णु जगत् पालनके लिए नित्य सत्त्वगुणको धारण करते हैं, गय साक्षात् उन्हीं भगवान् विष्णुके अंश थे। भगवत्-ज्ञानादि लक्षणोंके कारण ही महापुरुषोंमें इनकी गणना की जाती है ॥६॥

स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासन-लक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयापादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्षणशः परिभावितविशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमान-ब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमज्जुगुपत् ॥७॥

(राजाका धर्म दो प्रकारका है—राज्याभिषिक्त होकर प्रजापालनादि रूपी एक प्रकारका धर्म और गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञानुष्ठानादि द्वितीय प्रकारका धर्म।) राजा गयने प्रजाओंका पालन (जिससे अवांछित तत्त्वों द्वारा उनकी सम्पत्तिको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे), पोषण (अन्नादि द्वारा उनका पुष्टिकरण), प्रीणन (प्रजाओंको प्रिय वस्तु प्रदान करके उनका तुष्टिकरण), उपलालन (मधुर वचनोंसे उन्हें हर्षित करना), अनुशासन (शिक्षा द्वारा सन्मार्गमें प्रेरित करना)—इन सब गुणोंसे युक्त राजधर्म और याग-यज्ञादि गृहस्थाश्रमोचित धर्म—इन दोनों ही प्रकारके धर्मोंका आचरण किया था। वे सर्वात्मा, परमपुरुष, परात्पर (ब्रह्मादि श्रेष्ठ पुरुषोंसे भी परमश्रेष्ठ), परब्रह्म, भगवान् वासुदेवमें तन, मन और वचनसे समर्पित हो गये थे और पूरी तरह परमार्थ-स्वरूप ही बन गये थे। भगवान्में सर्वतोभावसे शरणागतिरूप पारमार्थिक धर्म एवं ब्रह्मविद् भागवतजनोंकी निरन्तर चरण-सेवा रूपी भक्तियोगसे उनकी बुद्धि विशुद्ध एवं परिष्कृत हो गयी थी। इसीसे विशुद्ध भाव प्राप्तकर—उनकी देहात्मबुद्धि भी दूर हो गयी थी। वह अपने चित्तमें स्वयं प्रकाशवान् ब्रह्ममें आत्मानन्दकी उपलब्धि करते थे और अनासक्त होकर समग्र पृथ्वीका पालन करते थे॥७॥

तस्येमा गाथाः पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति ॥८॥

हे परीक्षित, पुराणविद् पण्डित राजा गयकी महिमाका इस प्रकार कीर्तन करते हैं—॥८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
 र्यज्वाभिमानि बहुविद्धर्मगोप्ता।
 समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
 सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ९ ॥

अहो! कौन राजा अपने कर्मोंके द्वारा राजर्षि गयके समकक्ष ठहर सकता है! वे श्रुतिविहित यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, मनस्वी,

बहुत-से शास्त्रोंको जाननेवाले, धर्मके रक्षक, सभी प्रकारके वैभवोंसे युक्त, महापुरुषोंकी सभाके अध्यक्ष और साधुओंके सेवक थे। वे साक्षात् भगवान्‌के अंश थे॥९॥

यमभ्यषिञ्चन् परया मुदा सतीः
सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्धिः।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः ॥ १० ॥

दक्षकी श्रद्धा, मैत्री, दया आदि पतिव्रतपरायणा पुत्रियोंके आशीर्वाद अव्यर्थ हैं। इन्होंने गङ्गादि सरिताओंके साथ मिलकर परम हर्षके साथ राजा गयका अभिषेक किया था एवं विभिन्न आशीर्वाद दिये थे। गाय जिस प्रकार स्नेहाभिभूत होकर बछड़ेको दूध देती है, उसी प्रकार इनके प्रजापालनादि उत्तम गुणोंको बछड़ेके रूपमें देखकर पृथ्वीरूपी गायके स्तनोंसे दूध क्षरित होने लगता था। इनकी इच्छा न रहनेपर भी पृथ्वी इनकी समस्त मनोकामनाओंको पूर्ण करती थी॥१०॥

छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजहुरथो बलिं नृपाः।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा
यदाशिषां षठमंशं परेत्य ॥ ११ ॥

यद्यपि गय राजाकी कोई कामना नहीं थी, तब भी समस्त वेद एवं वेदविहित अनुष्ठान उनके लिये विविध प्रकारके भोगोंका दोहन करते थे अर्थात् उनकी समस्त इच्छाओंकी पूर्ति होती थी। समस्त राजा युद्धस्थलपर उनके धर्मयुद्धसे सन्तुष्ट होकर उन्हें विविध भेटें प्रदान करते थे। ब्राह्मण उनकी दक्षिणादिसे पूजित एवं सम्मानित होकर उन्हें परलोकमें मिलनेवाले उपभोगोंके लिए अपने-अपने धर्मका छठवाँ भाग प्रदान करते थे॥११॥

यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग-
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥ १२ ॥

राजा गयके यज्ञमें प्रचुररूपसे सोमपान होता था। इन्द्र उनके यज्ञमें सोमपान करके अतिशय मत्त हो जाते थे। यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु भी साक्षात् रूपसे इनके यज्ञमें प्रकट होकर इनके द्वारा श्रद्धा एवं निर्मल तथा दृढ़ भक्तिभावसे समर्पित यज्ञफलको परम आदरके साथ ग्रहण करते थे ॥ १२ ॥

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद्रयस्य ॥ १३ ॥

जिन सर्वात्मा भगवान् के सन्तुष्ट होनेपर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, तृण अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक सम्पूर्ण जगत् तत्काल प्रसन्न हो जाता है, उन सर्वान्तर्यामी स्वभावतः आनन्दस्वरूप भगवान् विष्णुने गय राजाके यज्ञमें “मैं प्रसन्न हुआ” यह कहकर अपने श्रीमुखारविन्दसे अपनी प्रसन्नताको व्यक्त किया था ॥ १३ ॥

गयात् गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरविरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुः
चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट ॥ १४ ॥

तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्
सरघायां मधुनामाभवत्। मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां
मन्थु-प्रमन्थु जज्ञाते। मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो भूषणायां त्वष्टाजनिष्ट
त्वष्टुर्विरोचनायां विरजः विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च
विषूच्यां किलाजायत ॥ १५ ॥

गयन्तीके गर्भसे महाराज गयके चित्ररथ, सुगति और अविरोधन नामक तीन पुत्रोंने जन्म लिया। चित्ररथने ऊर्णाके गर्भसे सम्राट्

नामक पुत्रको जन्म दिया। सम्राट्की भार्या उत्कला थी। उसके गर्भसे मरीचिका जन्म हुआ। मरीचिने बिन्दुमतीके गर्भसे बिन्दुमान् नामक पुत्र उत्पन्न किया। बिन्दुमान्की पत्नी सरघाके गर्भसे मधु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मधुकी पत्नी सुमनासे वीरव्रतका जन्म हुआ। वीरव्रतकी पत्नी भोजाके गर्भसे मन्थु और प्रमन्थु नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। मन्थुने सत्याके गर्भसे यौवन नामक पुत्रको जन्म दिया। यौवनने भूषणाके उदरसे त्वष्टाको जन्म दिया। त्वष्टाने विरोचनाके गर्भसे विरज नामक पुत्रको और विरजने विषूचीके गर्भसे शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्याको जन्म दिया। इन सबमें शतजित् ही सर्वश्रेष्ठ थे॥१४—१५॥

तत्रायं श्लोकः—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः।

अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां श्रीप्रियव्रतवंशानुकीर्तनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

विरजके गुणगानके सम्बन्धमें एक श्लोक प्रसिद्ध है—
विष्णुने जिस प्रकार अपने प्रभावसे देवताओंको अलङ्कृत किया था,
विरजने उसी प्रकार प्रियव्रतके वंशमें जन्म लेकर अपनी कीर्तिके
द्वारा इस वंशको विभूषित किया था॥१६॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके पन्द्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

भुवन कोशका वर्णन

श्रीराजोवाच—

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र यत्र चासौ
ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! सूर्यदेव जितनी दूरी तक
ताप प्रदान करते हैं और जिन-जिन स्थानोंपर शुक्ल एवं कृष्ण
पक्षके साथ चन्द्रमा दिखायी देते हैं, आपने वहाँ तक पृथ्वीका
विस्तार बतलाया है ॥ १ ॥

तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ताः
यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन् खलु सूचितः
एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपने बतलाया था कि पृथ्वीपर प्रियव्रत राजाके
रथचक्रसे सात परिखाओं (लकीरों) द्वारा सात समुद्र बन गये थे,
जिसके कारण इस पृथ्वीपर सात द्वीपोंका विभाजन हो गया था।
आपने इन सात द्वीपोंके नाम, परिमाण एवं लक्षण आदि भेदोंका
सामान्यरूपसे वर्णन किया था। अब मैं समस्त द्वीपोंका परिमाण
और लक्षणोंके साथ पूरा विवरण जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम
आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं
तदुहैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति ॥ ३ ॥

जो मन भगवान्के जिस गुणमय स्थूल स्वरूप अर्थात् विराट्
विग्रहमें निवेशित हो सकता है, वही मन भगवान् वासुदेवके
शुद्ध-सत्त्वमय, अप्राकृत एवं स्वप्रकाश स्वरूपमें भी लगनेमें समर्थ

हो सकता है। हे गुरुवर! आप उसी ब्रह्माण्डात्मक स्थूल स्वरूपके विषयमें बतलाइये ॥३॥

श्रीऋषिरुवाच—

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः स्थानविशेषाणां नामरूपतः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात् प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः ॥४॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान्की सत्त्वादि गुण-परिमाण-रूपा-ब्रह्माण्डात्मिका माया-विभूतिका अन्त नहीं है। मनुष्यको यदि देवताओंकी आयु भी प्राप्त हो जाय, तो भी उन मायिक विभूतियोंके अन्तर्गत जो लोक हैं, वाणी एवं मनसे उनके नामों एवं रूपोंकी अवधिको जाना नहीं जा सकता। अतः मैं केवल प्रधान-प्रधान द्वीपोंके नाम, रूप, परिमाण एवं लक्षणोंका उल्लेख करते हुए उनकी भौगोलिक व्याख्या करूँगा ॥४॥

यो वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम् ॥५॥

भूमण्डल एक कमलके समान है। सातों द्वीप उसके कोष हैं। जम्बूद्वीप इस कोषका मध्यवर्ती स्थल है। इस जम्बूद्वीपका विस्तार (लम्बाई एवं चौड़ाई) दस लाख योजन परिमित है, जो पद्म-पत्रकी भाँति गोलाकार है ॥५॥

यस्मिन् नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति ॥६॥

इस जम्बूद्वीपमें नौ वर्ष हैं। भद्राश्व एवं केतुमाल वर्षको छोड़कर प्रत्येक वर्षका परिमाण नौ सहस्र योजन है। (हिमालय आदि) आठ सीमाओंका निदर्शन करनेवाले पर्वतोंसे इन नौ वर्षोंका सुन्दर रूपसे विभाजन हुआ है ॥६॥

एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्ष यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुद्वीपायामसमुद्राहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य

मूर्द्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः ॥ ७ ॥

इन नौ वर्षोंके अन्तर्गत इलावृत नामका और एक (दसवाँ) वर्ष है, जो कमलकोशके मध्यभागमें स्थित है। इस इलावृतके ठीक बीचोंबीच सुमेरु पर्वत है। यह सम्पूर्ण रूपसे स्वर्ण-निर्मित है और सभी सुप्रसिद्ध पर्वतोंका राजा है। वस्तुतः सुमेरु भूमण्डलरूप पद्म-कोशकी कर्णिका स्वरूप है। इस सुमेरुका विस्तार जम्बूद्वीपके विस्तारके समान एक लाख योजन है। इसका शिखर भाग बत्तीस हजार योजन और तलहटी सोलह हजार योजन विस्तृत है। यह पर्वत सोलह हजार योजन पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट है। अतः पृथ्वीके बाहरसे इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन देखी जाती है ॥ ७ ॥

उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्यमयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रयोजनपृथक् एकैकशः पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव हसन्ति ॥ ८ ॥

इलावृत वर्षके उत्तरमें क्रमशः नील, श्वेत एवं शृङ्गवान् ये तीन पर्वत—रम्यक्, हिरण्यमय एवं कुरुवर्षकी सीमाओंको विभाजित करते हैं। ये तीनों ही पर्वत लम्बाईमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर लवण समुद्र तक विस्तृत हैं। इनमें—से प्रत्येक पर्वतका विस्तार दो हजार योजन है। पूर्व-पूर्व पर्वतोंकी अपेक्षा बाद वाले पर्वत केवल लम्बाईमें ही एकादशांश कम हैं, ऊँचाई एवं चौड़ाईमें नहीं ॥ ८ ॥

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासंख्यम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार इलावृत-वर्षके दक्षिणकी ओर निषध, हेमकूट और हिमालय—ये तीनों पर्वत क्रमसे विराजमान हैं। ये तीनों ही नीलादि पर्वतोंके समान पूर्व दिशाकी ओर फैले हुए हैं और दस-दस

हजार योजन ऊँचे हैं। इनके द्वारा क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्षकी सीमाओंका विभाग होता है ॥९॥

तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते ॥ १० ॥

इसी प्रकार इलावृत वर्षकी पश्चिम एवं पूर्व दिशामें यथाक्रमसे माल्यवान् और गन्धमादन नामके सीमा निर्धारित करनेवाले दो पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत उत्तरमें नील और दक्षिणमें निषेध पर्वत तक फैले हुए हैं। इन दोनोंका ही विस्तार दो-दो हजार योजन है और ये केतुमाल एवं भद्राश्व वर्षकी सीमाको सूचित करते हैं ॥१०॥

मन्दरो मेरुमन्दरः सुपाश्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः ॥ ११ ॥

सुमेरु पर्वतकी चारों दिशाओंमें मन्दर, मेरुमन्दर, सुपाश्व एवं कुमुद नामके चार पर्वत सुमेरुकी मेखलाके समान सजे हुए हैं। इन चारों पर्वतोंमें-से प्रत्येककी लम्बाई एवं ऊँचाई दस हजार योजन है ॥११॥

चतुर्ध्वेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः ॥ १२ ॥

इन चारों पर्वतोंके चारों ओर आम, जामुन, कदम्ब और वटके चार अति श्रेष्ठ वृक्ष हैं और पर्वतकी चार ध्वजाओंके समान सुशोभित हैं। इन वृक्षोंकी लम्बाई सौ योजन और ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। इनकी शाखाएँ ग्यारह सौ योजन तक फैली हुई हैं ॥१२॥

हृदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति ॥ १३ ॥

देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति ॥ १४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! चारों पर्वतोंके मध्यभागमें चार सरोवर भी हैं। उनमें पहला दुग्धसे परिपूर्ण है, दूसरा मधुसे, तीसरा इक्षुरससे एवं चौथा विशुद्ध जलसे भरा हुआ है। सिद्ध, चारणादि उपदेवता इनका सेवन करके अनायास ही अणिमादि योग-सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ चार देवोद्यान हैं, जिनके नाम हैं नन्दन, चित्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र ॥१३-१४॥

येष्वमरपरिवृढाः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणै-
रुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति ॥ १५ ॥

उत्तम देवतागण अपनी-अपनी प्रेयसियों—अर्थात् प्रधान-प्रधान सुरवनिताओं एवं भूषणस्वरूपा श्रेष्ठ रमणियोंके साथ मिलकर इन उद्यानोंमें विहार करते हैं। उस समय गन्धर्वगण उनकी महिमाका गान करते हैं ॥१५॥

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि
फलान्यमृतकल्पानि निपतन्ति ॥ १६ ॥

मन्दर पर्वतके निम्न प्रदेशमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा (देवचूत नामक) एक आम्रमृक्ष है। इसके अग्रभागसे गिरिशृङ्गकी भाँति बड़े-बड़े अमृतके समान सुमिष्ट एवं स्वादिष्ट फल गिरते हैं ॥१६॥

तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम
नदी मन्दरगिरिशिखरात्रिपतन्ती पूर्वेणैलावृतमुपप्लावयति ॥ १७ ॥

अत्यन्त ऊँचाईसे गिरनेके कारण ये फल विदीर्ण हो जाते हैं, जिससे इनके भीतरसे अति मधुर, सुवासित अरुण (लाल) रंगका बहुत-सा रस बहने लगता है। यह रस अन्य वस्तुओंके सौरभसे मिलकर और अधिक सुगन्धित हो जाता है। यह रस जब जलके साथ मिलता है, तब अरुणोदा नामकी एक नदीके रूपमें परिणत हो जाता है। यह नदी मन्दर पर्वतके शिखरसे निकलकर इलावृत वर्षकी पूर्व दिशासे होकर बहती हुई उसे सींचती है ॥१७॥

यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो
दशयोजनं समन्तादनुवासयति ॥ १८ ॥

श्रीपार्वतीजीकी अनुचरी यक्षवधुएँ जब इस अरुणोदा नदीका
सेवन करती हैं, तब उनके शरीरोंसे भी वही सुगन्ध निकलती है।
वायु इन यक्षणियोंके सुगन्धित अङ्गोंके संस्पर्शसे सुवासित होकर
दस योजन पर्यन्त वायुमण्डलको आमोदित कर देती है ॥ १८ ॥

एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां
रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती
दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति ॥ १९ ॥

इसी प्रकार जम्बू वृक्षके फल भी गज-शरीरके समान विशाल
होते हैं एवं इनकी गुठली बहुत छोटी होती है। इसके फल भी
ऊँचाईसे गिरनेके कारण फट जाते हैं। इनका रस जम्बू नदीका
रूप धारण कर लेता है। यह जम्बू नदी मेरु पर्वतकी दस योजन
ऊँची चोटीसे भूमिपर गिरकर अपने उत्पत्ति स्थान इलावृतके
दक्षिणांशसे आरम्भ होकर सम्पूर्ण इलावृत भूखण्डको अपने रससे
आप्लावित करती है ॥ १९ ॥

तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना
वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं
भवति ॥ २० ॥

यदुह वाव विबुधादयः सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्या-
भरणरूपेण खलु धारयन्ति ॥ २१ ॥

इस नदीके दोनों किनारोंकी मिट्टी इस जम्बू रससे आर्द्र हो
जाती है। वायु तथा सूर्यके संयोगसे परिपक्व होनेपर यह रस
जाम्बूनद नामक स्वर्ण बन जाता है। इस स्वर्णसे देवलोकमें
अलङ्कार बनाये जाते हैं। देवतागण अपनी युवा पत्नियोंके साथ
इसी स्वर्णसे निर्मित वलय, कटिसूत्र एवं मुकुट आदि आभूषणोंको
धारण करते हैं ॥ २०-२१ ॥

यस्तु महाकदम्बः सुपाश्वर्पाश्वर्निरूढस्तस्य कोटरेभ्यो
विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपाश्वर् शिखरात्
पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति ॥ २२ ॥

सुपाश्वर् पर्वतके पाश्वर्में एक विशाल कदम्बका प्रसिद्ध वृक्ष है। इसके कोटर देशसे पाँच मधु धाराएँ निकलती हैं। इनमें-से प्रत्येकका परिमाण पाँच व्याम है। (दोनों हाथोंके फैलानेपर जो दूरी हाती है, उसे व्याम कहा जाता है—यह दूरी लगभग आठ फुट होती है) ये धाराएँ सुपाश्वर् पर्वतके पाश्वर्में शिखर देशसे गिरती हुई अपने-अपने उत्पत्ति स्थान पश्चिमांशसे आरम्भ होकर सम्पूर्ण इलावृत वर्षको आमोदित करती हैं ॥२२॥

या ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो वायुः समन्ताच्छतयो-
जनमनुवासयति ॥ २३ ॥

जो लोग इन पाँचों मधुधाराओंका पान करते हैं, वायु उनके मुखसे निकली गन्धसे सुवासित होकर अपने चारों ओर सौ-सौ योजन तकके वायुमण्डलको आमोदित कर देती है ॥२३॥

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो
नीचीनाः पयोदधिमधुघृतगुडात्राद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सर्व एव
कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात् पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति ॥ २४ ॥

इसी प्रकार कुमुद पर्वतमें शतवल्श (शतस्कन्ध)नामका जो प्रसिद्ध वट-वृक्ष है, उसकी सौ प्रमुख शाखाएँ हैं। इन शाखाओंसे अनेक जड़ें निकली हुई हैं, जिनसे बहुत-सी नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। ये नदियाँ नीचेकी ओर बहती हुई कुमुद-पर्वतके शिखरसे गिरती हैं और उत्तर दिशामें प्रवाहित होते हुए इलावृत-वर्षके निवासियोंका परम उपकार करती हैं। ये सभी नदियाँ दधि, दूध, मधु, घृत, गुड़, अन्न, वस्त्र, शय्या, आसन, आभूषण इत्यादि समस्त अभिलषित द्रव्योंको प्रदान करती हैं ॥२४॥

यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां बलीपलितक्लमस्वेद-
दौर्गन्ध्यजरामयापमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति
यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव ॥ २५ ॥

इन नदियोंसे उत्पन्न दुग्धादि द्रव्योंका सेवन करनेसे प्रजाकी
त्वचामें कभी भी झुर्रियाँ, सफेद बाल, क्लान्ति, पसीना, पसीनेसे
उत्पन्न दुर्गन्ध, बुढ़ापा, रोग, असामयिक मृत्यु, सर्दी एवं गर्मीके
कारण कान्तिहीन हो जाना और अङ्ग-भङ्ग आदि क्लेश नहीं होते।
वहाँकी प्रजा सम्पूर्ण जीवन अतिशय सुखपूर्वक बिताती है ॥ २५ ॥

कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशितिवास-
कपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसर्षभनागकालञ्जरनीरदादयो विंशतिगिरयो
मेरोः कर्णिकाया इव केशरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः ॥ २६ ॥

सुमेरु पर्वतके मूलदेशमें उसके चारों ओर कुरङ्ग, कुरर,
कुसुम्भ, वैकङ्क, त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध, शितिवास,
कपिल, शङ्ख, वैदूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालञ्जर और
नीरद आदि बीस पर्वत हैं। ये सभी पर्वत कर्णिका-स्वरूप सुमेरु
पर्वतकी केसरके समान हैं ॥ २६ ॥

जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं
पृथुतुङ्गौ भवतः। एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ
प्रागायतौ। एवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरौ। अष्टाभिरेतैः परिवृतोऽग्निरिव
परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः ॥ २७ ॥

इन सबके अतिरिक्त सुमेरु पर्वतके पूर्वमें जठर एवं देवकूट
नामक दो पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत उत्तर-दक्षिणमें अठारह हजार
योजन लम्बे और दो-दो योजन चौड़े एवं ऊँचे हैं। इसी प्रकार
इसके पश्चिममें पवन एवं पारियात्र, दक्षिणकी ओर कैलाश और
करवीर तथा उत्तरकी ओर त्रिशृङ्ग और मकर नामके पर्वत हैं।
इन सभीका परिमाण जठर एवं देवकूटके समान ही है। इन आठों

पर्वतोंसे चारों ओर घिरकर काञ्चनगिरि अर्थात् सुमेरु पर्वत सब प्रकारसे अग्निके समान दीप्त हो रहा है ॥२७॥

मेरोर्मूर्द्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति ॥ २८ ॥

इस पर्वतके ऊपरी भागमें बीचोंबीच भगवान् ब्रह्माजीकी पुरी स्थित है। उसका परिमाण एक करोड़ योजन है। यह पुरी स्वर्णसे बनी हुई है और आकारमें समचौरस है। पण्डित इस पुरीको 'शातकौम्भी पुरी' कहते हैं ॥२८॥

तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं षोडशोऽध्यायः ।

इस ब्रह्मपुरीके चारों ओर यथाक्रमसे पूर्वादि दिशाओंमें उनके अधिपति इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं। इन सभी पुरियोंका परिमाण ब्रह्मपुरीके परिमाणसे एक चौथाई है ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके सोलहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

सप्तदशोऽध्यायः

गङ्गाजीका विवरण और महादेव शङ्करकृत
सङ्कर्षणकी स्तुति

श्रीशुक उवाच—

तत्र ह भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादा-
ङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोद्धर्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा
तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलाप-
होपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता
कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्द्धन्यवततार यत् तद्विष्णुपदमाहुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यज्ञमूर्ति साक्षात् भगवान्
विष्णुने महाराज बलिकी यज्ञशालामें पहुँचकर त्रिविक्रम मूर्तिको
धारणकर जिस समय अपने चरणका विस्तार किया, उस समय
उन्होंने दायें चरणसे भूमिको नापते हुए जैसे ही बायें चरणको ऊपर
उठाया, उनके बायें पैरके अङ्गुठेके नखसे अण्ड-कटाहके ऊपरी
भागमें छिद्र बन गया। इस छिद्रसे पृथ्वी आदि आठ आवरणोंके
बाहरसे कारणार्णवकी एक चिन्मयी जलधाराने ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया।
भगवान्के चरण-कमलको पखारनेसे उसमें लगी हुई लाल रङ्गकी
केसरसे वह जलधारा भी लाल हो गयी। हे राजन्! इस धाराके
स्पर्श मात्रसे ही विश्व-ब्रह्माण्डके पापोंका प्रक्षालन होता है, किन्तु
वह स्वयं सदैव अतिशय निर्मल रहती है। भूमण्डलमें अवतरित
होनेसे पूर्व यह धारा साक्षात् भगवान्के पादपद्मसे आविर्भूत होनेके
कारण 'भगवत्पदी' नामसे जानी जाती है। तब इसके जाहवी,
भागीरथी आदि नाम न थे। हजारों युगोंका दीर्घकाल बीतनेपर यह
धारा ब्रह्माण्डके सर्वोपरि स्थित ध्रुवलोकमें उतरी और 'विष्णुपदी'
कहलाई। पण्डितगण इस ध्रुवलोकको ही विष्णुपद कहते हैं ॥ १ ॥

यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवता-
चरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं
क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुटुमल
विगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण
शिरसा बिभर्ति ॥ २ ॥

महाराज उत्तानपादके पुत्र दृढसंकल्प एवं परम भागवत ध्रुव
इसी विष्णुलोकमें रहते हैं। 'यह हमारे कुलदेवता भगवान् श्रीहरिका
चरणोदक है'—ऐसा मानकर ध्रुव आज भी इस गङ्गाजलको बड़े
आदरके साथ अपने मस्तकपर धारण करते हैं। महात्मा ध्रुवका
हृदय निरन्तर बढ़ते हुए भक्तियोगके कारण अतिशय आर्द्र रहता
है। उत्कण्ठाके कारण विवश एवं कुछ-कुछ मुँदे हुए उनके
नयन-कमलोंसे निर्मल अर्थात् कपटतारहित अश्रुधारा बहती रहती
है और सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित दिखायी देता है ॥२॥

ततः सप्तर्ष्यस्तत्प्रभावाभिज्ञा इयं ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावतीति
भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो
मुक्तिमिवागतां मुमुक्षु इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्धहन्ति ॥ ३ ॥

ध्रुवलोकके नीचे मरीचि, वशिष्ठ, अत्रि आदि सप्तर्षियोंका वास
है। ये गङ्गाके प्रभावको बहुत अच्छी तरहसे जानते हैं। अतः
“यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है, इसकी अपेक्षा और कुछ
श्रेष्ठ नहीं है”—इस प्रकार निश्चय करके ये आज भी गङ्गाजलकी
धाराओंको अपनी-अपनी जटाओंमें धारण करते हैं तथा सर्वात्मा
भगवान् वासुदेवमें अविच्छिन्न (निरन्तर) भक्तियोग प्राप्त करके
धर्मादि अन्यान्य पुरुषार्थों और आत्मज्ञान आदिकी भी उपेक्षा
करते हैं। मुमुक्षु जिस प्रकार मुक्तिका बहुत आदर करते हैं, उसी
प्रकार ये सप्तर्षि भगवान् विष्णुके चरणारविन्दसे निःसृत गङ्गाको
भक्ति-भावसे अङ्गीकार करते हैं ॥३॥

ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डल-
मावार्यं ब्रह्मसदने निपतति ॥४॥

तत्पश्चात् यह चिन्मयी धारा सप्तर्षि-मण्डलसे अनन्त विमानोंके सहयोगसे आकाश-मार्गसे नीचेकी ओर उतरती है। वहाँ चन्द्रलोकको आप्लावित करती हुई सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित ब्रह्माजीके आवास ब्रह्मपुरीमें गिरती है ॥४॥

तत्र चतुर्द्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्यन्दन्ती
नदनदीपतिमेवाभिनिविशति। सीतालकनन्दा वङ्क्षुर्भद्रेति ॥५॥

यहाँ गङ्गा चार धाराओंमें विभक्त होकर पृथक्-पृथक् चारों दिशाओंमें वेगपूर्वक प्रवाहित होती हुई सरित्पति समुद्रमें मिल जाती है। इन चार धाराओंको सीता, अलकनन्दा, वङ्क्षु (गङ्गाकी एक शाखा) एवं भद्राके नामसे जाना जाता है ॥५॥

सीता तु ब्रह्मसदनात् केशराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः
प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्द्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्वं वर्षं प्राच्यां दिशि
क्षारसमुद्रमभिप्रविशति ॥६॥

इनमें-से सीता नामकी धारा ब्रह्मपुरीसे होकर बहती हुई केशराचलके प्रधान-प्रधान शिखरोंपर गिरती है। वहाँसे नीचे गिरती हुई यह गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर उभरती है और वहाँसे भद्राश्ववर्षको आप्लावित करती हुई पूर्वकी ओर लवण-सागरमें मिल जाती है ॥६॥

एवं माल्यवच्छिखरात्रिष्यतन्ती ततः अनुपरतवेगा केतुमालमभि
वङ्क्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति ॥७॥

इसी प्रकार वङ्क्षु नामक धारा माल्यवान् गिरिके शिखरोंपर गिरती है। वहाँसे प्रपातके रूपमें गिरती हुई अबाधित गतिसे केतुमाल वर्षको आप्लावित करती है और तत्पश्चात् पश्चिम दिशामें समुद्रमें प्रवेश करती है ॥७॥

भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्रिरिशिखरमतिहाय
शृङ्गवतः शृङ्गादधः स्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि
लवणार्णवमभिप्रविशति ॥ ८ ॥

भद्रा नामकी धारा भी उत्तर दिशामें सुमेरु-शिखर पर पहुँचती है वहाँ-से
कुमुद पर्वतके शिखरपर ऊर्ध्वकी ओर चलती हुई नीलगिरिके
शिखरपर, इसके बाद श्वेत पर्वतके शिखरपर तथा वहाँसे शृङ्गवान्
पर्वतोंकी चोटियोंसे नीचेकी ओर बहती है। तत्पश्चात् उत्तर कुरुदेशमें
होकर उत्तरकी ओर प्रवाहित होती हुई सागरमें मिल जाती है ॥ ८ ॥

तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य
हेमकूटहिमकटान्यतिरभसतररंहसा लुठन्ती भारतमभिवर्ष दक्षिणस्यां
दिशि लवणजलधिमभिप्रविशति (यस्यां स्नानार्थञ्चागच्छतः पुंसः पदे
पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति) ॥ ९ ॥

इसी प्रकार अलकानन्दा भी दक्षिण दिशामें स्थित ब्रह्मपुरीसे
बहती हुई बहुत-से गिरि-शिखरोंको लाँघती हुई अति तीव्र वेगके
साथ हेमकूट एवं हिमकूटको आप्लावित करती हुई भारतवर्षमें
आगमन करती है। यहाँ यह दक्षिणकी ओर खारे समुद्रमें मिल
जाती है। इसमें स्नान करनेके लिए आनेवाले पुरुषोंको पद-पद
पर अश्वमेध और राजसूयादि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं है ॥ ९ ॥

अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेवादिगिरिदुहितरः
शतशः ॥ १० ॥

सुमेरु इत्यादि पर्वतोंसे बहुत प्रकारकी छोटी-बड़ी नद-नदियाँ
निकलती हैं और प्रत्येक वर्षमें शत-शत धाराओंके रूपमें प्रवाहित
होती हैं ॥ १० ॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां
पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमस्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ॥ ११ ॥

सभी वर्षोंमें भारतवर्षको ही कर्मक्षेत्र कहा जाता है। पण्डितगण
कहते हैं—अन्य आठ वर्ष स्वर्गीय पुण्यात्माओंके स्वर्गभोगसे बचे

हुए पुण्योंके उपभोगके स्थान हैं। दिव्य स्वर्ग, भौम स्वर्ग और बिल स्वर्ग—ये तीन प्रकारके स्वर्ग हैं। इनमें—से भौमस्वर्गका स्थान ये आठ वर्ष हैं॥११॥

एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैक-
गर्भकलत्राणां त्रेतायुगसमः कालो वर्तते॥१२॥

इन आठों वर्षोंमें जो लोग वास करते हैं, उनकी परमायु मनुष्य प्रमाणके अनुसार दस हजार वर्षोंकी होती है। वे सभी देवतुल्य होते हैं। उनमें दस हजार हाथियोंका बल होता है। उनके शरीर वज्रके समान सुदृढ़ होते हैं तथा वे सदैव यौवन, बल एवं हर्षसे सम्पन्न रहते हैं। स्त्री तथा पुरुष दीर्घकाल तक इन्द्रिय-सुखोंका भोग करते हैं। अन्तमें सम्भोग-सुख समाप्त होनेपर जब परमायुका एक वर्ष शेष रहता है, तब स्त्रियाँ मात्र एक बार गर्भ धारण करती हैं। इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुग बना रहता है॥१२॥

यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः सर्वर्तुकुसुमस्तबक-
फलकिसलयश्रिया नानम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिर-
काननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविध-
नववनरुहामोदप्रमुदितराजहंसकलहंसजलकुक्कुटकारंडवसारसचक्रवाकादि-
भिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः
सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावलोककृष्ट-
मनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति॥१३॥

इन सभी वर्षोंमें समस्त ऋतुओंके पुष्प-गुच्छ, फल एवं किसलय (नवीन पल्लवों) के भारसे झुके हुए वृक्ष एवं उनपर आश्रित लताओंसे सुशोभित वन हैं। इन वनोंमें आश्रमोंकी अपार शोभा होती है। उनमें वर्षोंकी सीमाओंको सूचित करनेवाले दो-दो पर्वतोंके मध्य जलाशय हैं, जिनमें नाना प्रकारके कमल प्रस्फुटित रहते हैं। उनकी सुगन्धसे आमोदित होकर राजहंस, कलहंस, जलकुक्कुट, कारण्डव, सारस, चक्रवाक आदि पक्षी तरह-तरहकी बोली बोलते हैं और

मधुकर-निकर सुमधुर गुञ्जार करते हैं। उन वर्षोंमें रहनेवाले देवेश्वरगण उन उपवनों एवं जलाशयोंमें परमानन्दके साथ विहार एवं जल-क्रीड़ा करते हैं। उस समय परम सुन्दरी सुराङ्गनाएँ कामोत्तेजित होकर हास, विलास एवं तिरछी चितवनसे उन देवेश्वरादियोंके नयन एवं हृदयोंको आकर्षित करती हैं। इन देवाधिपतियोंके सेवक पुष्पमाला, चन्दन आदि सामग्रियोंसे उनकी सेवा करते हैं॥१३॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान् नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते॥ १४॥

इन नौ वर्षोंमें परमपुरुष भगवान् नारायण अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए सङ्कर्षणादि अपने व्यूह-तत्त्वोंके साथ आज भी विराजमान हैं॥१४॥

इलावृते तु भगवान् भव एक एव पुमान् न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः शापनिमित्तज्ञः। यत्प्रवेष्टुः स्त्रीभावस्तत् पश्चाद् वक्ष्यामः॥ १५॥

इलावृत वर्षमें ऐश्वर्यशाली भगवान् शिव ही एकमात्र पुरुष हैं, वहाँ अन्य कोई पुरुष नहीं है। जो भवानीके शापकी कथासे परिचित हैं, वे उस स्थानपर कभी भी प्रवेश नहीं करते हैं। जो यह नहीं जानते, उन्हें वहाँ प्रवेश करनेपर तत्काल ही स्त्री बन जाना पड़ता है। इस शापकी कथा मैं तुम्हें बाद (नवम स्कन्ध) में बतलाऊँगा॥१५॥

भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रैरवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्भूतैर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति॥ १६॥

इस इलावृत वर्षमें भगवान् भव सदैव भवानीकी सौ अरब अनुचरियोंके द्वारा सेवित होते हैं। भगवान् नारायणकी वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षण—इन चार मूर्तियोंमें चौथी मूर्ति जो सङ्कर्षण है यह मूर्ति शुद्ध चिन्मयी होनेपर भी जगत्संहार आदि तामसिक कार्योंके कारण व्यावहारिक रूपसे 'तामसी' कही जाती

है। भगवान् शिव इस मूर्तिको अपना अंशी अथवा मूल कारण जानकर उनमें अपने चित्तको सम्पूर्णरूपसे युक्त करके इस मन्त्रको जपते हुए उनकी उपासना करते हैं॥१६॥

श्रीभगवानुवाच—

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानानन्तायाव्यक्ताय नम इति॥१७॥

(परम ऐश्वर्यशाली भगवान् शिव इस मन्त्रसे श्रीसङ्कर्षणकी स्तुति करते हैं—) प्रणवके उच्चारणके साथ मैं उन महापुरुष भगवान्को नमस्कार करता हूँ, जो समस्त गुणोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, किन्तु स्वयं अप्रमेय एवं अनन्त हैं॥१७॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम्।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम्॥१८॥

हे भजनीय प्रभो! आप परम ईश्वर हैं। आपके अभयचरणारविन्द भक्तोंके भयको दूर कर देते हैं। आप ऐश्वर्यादि षड्गुणोंके श्रेष्ठ आश्रय-स्थल हैं। भक्तोंके सम्मुख आप अपना भक्त-पालक-स्वरूप पूर्णतया प्रकटित करते हैं। हे प्रभो! आप भक्तोंको संसारसे मुक्त करते हैं और अभक्तोंको इस संसारमें आसक्त कर बन्धनमें डाल देते हैं। हे परमेश! मैं आपका भजन करता हूँ॥१८॥

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः॥१९॥

हम लोग क्रोधके आवेगको जीत नहीं पाये हैं, इसलिए राग-द्वेषादिके कारण हमारी दृष्टि मायिक विषयोंमें लिप्त हो जाती है। आप परमेश्वर हैं, आप नियमन करनेके लिए जब विश्वका

निरीक्षण करते हैं तो आपकी दृष्टि हमारे समान इन मायिक विषयोंमें अणुमात्र भी लिप्त नहीं होती। अतएव इन्द्रियोंको जीतनेकी इच्छा रखनेवाला कौन मुमुक्षु व्यक्ति हे भगवन्! आपकी सेवा नहीं करेगा!॥१९॥

असदृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे हिया
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः॥ २० ॥

जिनकी दृष्टि असती (कुत्सित) है, उनके सम्मुख भगवान् मधु-आसव-पान करनेके कारण रक्त-नेत्र, विवेकहीन और उन्मत्त पुरुषके समान भयङ्कर मूर्तिमें प्रतीत होते हैं (वस्तुतः वे स्वयं नित्यानन्द स्वरूप हैं, बद्धजीवके समान उनमें विवेकादिका अभाव नहीं है)। अर्चन करते समय नागवधुएँ जिनके चरणोंके स्पर्शसे ही मोहित एवं उन्मत्त हो जाती हैं परन्तु लज्जाके कारण अन्यान्य अङ्गोंका अर्चन कर ही नहीं पातीं। भला, कौन ऐसा है जो उन भगवान्का आदर नहीं करेगा!॥२०॥

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित् स्थितं
भूमण्डलं मूर्द्धसहस्रधामसु॥ २१ ॥

ऋषिगण जिनको विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयका कारण बतलाते हैं और प्राकृत सत्त्वादि गुणोंसे रहित होनेके कारण 'अनन्त' कहते हैं, उन्हीं अनन्तदेवके सहस्रफणरूप धामके ऊपर एक स्थानपर यह भूमण्डल सरसोंके एक दानेके समान रखा हुआ है। हे अनन्तदेव! आपकी गणना किसीसे नहीं की जा सकती। हे प्रभो! ऐसा कौन है जो आपकी आराधना नहीं करेगा॥२१॥

यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्यो भगवानजः किल।

यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
 वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥ २२ ॥
 एते वयं यस्य वशे महात्मनः
 स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः।
 महानहं वैकृततामसैन्द्रियाः
 सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥ २३ ॥

जिनसे बुद्धिके आश्रय-स्वरूप (आगार-स्वरूप) एवं रजोगुण-प्रधान महत्-तत्त्व संज्ञक शरीरसे सम्पन्न ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्माजीसे अहङ्कार-स्वरूप मैं (रुद्र) जन्म प्राप्त करके अपने त्रिगुणात्मक तेजके प्रभावसे देवता, पञ्चभूत एवं इन्द्रियोंकी सृष्टि करता हूँ, जिन महात्माके अनुग्रहसे वशीभूत होकर देवता, भूत, इन्द्रियाँ, ब्रह्मा और मैं रुद्र सभी डोरीमें बँधे हुए पक्षीके समान नियन्त्रित होकर इस विश्वकी सृष्टि करनेमें समर्थ होते हैं, उन्हीं भगवान् अनन्तदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२२-२३॥

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
 मायां जनोऽयं गुणसङ्गमोहितः।
 न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
 तस्मै नमस्तद्विलयोदयात्मने ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां पञ्चम स्कन्धे भुवनकोशे श्रीसङ्कर्षणस्तोत्रं नाम
 सप्तदशोऽध्यायः।

जिनकी माया हमें कर्म-बन्धनमें आबद्ध कर देती है, माया-मुग्ध मेरे जैसे व्यक्ति जिनकी कृपाके बिना उससे निस्तारका उपाय भी जान नहीं सकते, जिनसे इस विश्वकी सृष्टि एवं लय होता है। उन्हीं समस्त कारणोंके कारण भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२४॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके सत्रहवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

भद्राश्व आदि छह वर्षों तथा वहाँके उपास्य
भगवान् हयग्रीव, नृसिंहदेव आदिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे
साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण
समाधिना सन्निधाप्येदमभिगुणन्त उपधावन्ति ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसी प्रकार भद्राश्व वर्षमें
धर्मके पुत्र 'भद्रश्रवा' नामके वर्षपति और उनके प्रधान सेवक
वास करते हैं। वे साक्षात् भगवान् वासुदेवकी अति प्रिय धर्ममयी
'हयग्रीव' मूर्तिको परम समाधि योगसे हृदयमें स्थापित करके मन्त्रादि
उच्चारणके साथ स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

श्रीभद्रश्रवस ऊचुः—

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥ २ ॥

श्रीभद्रश्रवा और उनके सेवक कहते हैं—हम भगवान् धर्मको
नमस्कार करते हैं, जो जीवकी अविद्या रूप मलिनताको दूरकर
विशेष रूपसे चित्तका विशेषरूपसे शोधन करते हैं ॥ २ ॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घनन्तं जनोऽयं हि मिषन् न पश्यति।
ध्यायन्नसदयर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३ ॥

अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! मनुष्य प्राणोंका अपहरण
करनेवाली मृत्युको देखकर भी देखते नहीं हैं। अपने मृत पिता
अथवा पुत्रका दाह संस्कार करके जीवित पिता अथवा पुत्र उसके

ही धनसे तुच्छ विषय-सुखोंका भोग करनेकी आशासे जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं॥३॥

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम्॥४॥

हे अज ! यद्यपि वेदान्तविद्याका अध्ययन करनेवाले ज्ञानी एवं विवेकी जन विश्वको नश्वर मानते हैं और समाधिके समय इसके नश्वरत्वका प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव करते हैं तथापि वे भी आपकी मायाके द्वारा मुग्ध हो जाते हैं। यह आपकी ही लीला है ! हे प्रभो ! वास्तवमें आपकी माया बड़ी चमत्कारमयी है। हम आपको नमस्कार करते हैं॥४॥

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुनि॥५॥

आप मायाके आवरणसे रहित एवं अकर्ता हैं तो भी वेदोंमें विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसरूप जो आपके कार्य बतलाये गये हैं, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह उपयुक्त ही है, क्योंकि आपकी अचिन्त्य शक्तिसे सब कुछ सम्भव है। आप कार्यके कारण हैं, सभीकी आत्मा हैं और सबसे पृथक् भी हैं—यह आपकी अचिन्त्य शक्तिका ही परिचय है॥५॥

वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति॥६॥

कल्पके अन्तमें अज्ञानने दैत्यका रूप धारण किया और वेदोंका अपहरण करके रसातलमें ले गया। तब जिन्होंने हयग्रीव (घोड़े एवं

मनुष्यका संयुक्त) रूप धारण करके रसातलसे उनका उद्धार किया था एवं ब्रह्माजीके द्वारा प्रार्थना करनेपर समस्त वेदोंको उन्हें सौंप दिया था, उन्हीं सत्यसङ्कल्प भगवान्को हम नमस्कार करते हैं॥६॥

हरिवर्षे चापि भगवान् नरहरिरूपेणास्ते तद्रूपग्रहण-
निमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये। तद्वयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो
दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह
तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदञ्चोदाहरति॥७॥

हे राजन्! हरिवर्षखण्डमें भगवान् नृसिंहरूपमें विराजमान रहते हैं। भगवान्ने किसलिये नृसिंह विग्रह धारण किया था, वह मैं तुम्हें बादमें (सातवे स्कन्धमें) बतलाऊँगा। भागवत-श्रेष्ठ प्रह्लादजी महापुरुषोंके गुणोंके आवास-स्वरूप हैं। उनका चरित्र दैत्य-दानव कुल (और आत्म-कल्याणके इच्छुक व्यक्तियों)को पवित्र करनेवाला है। प्रह्लाद इस वर्षके निवासियोंके साथ निरन्तर अव्यभिचारी भक्तियोगके साथ नृसिंह-विग्रहकी आराधना करते हैं। वे इस प्रकारसे मन्त्र जाप एवं पाठादि करते हैं॥७॥

ॐ नमो भगवते श्रीनरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव
वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ
स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः ॐ क्षौम् इति॥८॥

भगवान् श्रीनृसिंहदेवको नमस्कार है। आप समस्त तेजोंके तेज हैं। हे वज्रनख, हे वज्रदंष्ट्र! आप हमारी कर्मवासनाओंको दग्ध कर दें, हमारे अज्ञानान्धकारका विनाश कर दें। आप हमारे अन्तःकरणमें अभयदान देते हुए प्रकाशित हों॥८॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥९॥

सम्पूर्ण विश्वका मङ्गल हो। दुष्ट व्यक्ति अनुकूल हों। समस्त प्राणी अपनी बुद्धिसे एक-दूसरेके कल्याणका चिन्तन करें। सभीका मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो। हम सबकी बुद्धि निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्रीहरिमें लग जाय ॥९॥

माऽगारदारात्मजवित्तबन्धुषु

सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः।

यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्

सिद्ध्यत्यदूरात्र तथेन्द्रियप्रियः ॥ १० ॥

हे प्रभो! किसी भी विषयमें हमारी आसक्ति न हो। यदि आसक्ति हो भी, तो घर, स्त्री, पुत्र, धन अथवा बन्धुओंमें न हो, बल्कि भगवत्-प्रिय जनोंमें ही उदित हो। जो आत्मतत्त्ववित् पुरुष केवल प्राण धारणके ही उपयुक्त आहारसे सन्तुष्ट रहते हैं, वे बहुत शीघ्र कृतकृत्य हो जाते हैं। परन्तु इन्द्रिय-लोलुप मनुष्योंको इस तरह सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥१०॥

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं

तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम्।

हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं

को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥ ११ ॥

भगवत्-प्रिय भक्तोंके सङ्गसे ही भगवान् मुकुन्दके विक्रमशाली चरित्रोंको जाना जा सकता है। भगवान् मुकुन्दके पराक्रमका वैभव असाधारण क्षमतासे युक्त हैं। जो व्यक्ति कर्णादि इन्द्रियोंके द्वारा उनकी कथाओंका निरन्तर सेवन करते हैं, वे कथाएँ उनके हृदयमें प्रवेश करके उनके सम्पूर्ण दैहिक एवं मानसिक कल्मषका शोधन कर देती हैं। गङ्गा आदि तीर्थोंका बारम्बार सेवन किये जानेसे केवल दैहिक कल्मषका ही विनाश होता है, वासनारूपी अनर्थ (कल्मष) नष्ट नहीं होते। अतः कौन ऐसा विवेकी व्यक्ति होगा, जो भगवत्-भक्तोंकी सेवा नहीं करेगा? ॥११॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
 सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
 हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
 मनोरथेनासति धावतो बहिः॥ १२॥

भगवान् विष्णुमें जिसकी निष्काम सेवा-प्रवृत्ति विद्यमान है, उसके हृदयमें धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यके साथ समस्त देवता भलीभाँति विराजते हैं। जो भगवान् श्रीहरिका भक्त नहीं है, अन्यान्य अभिलाषाओंके कारण कर्म-ज्ञान-योगमें लगा हुआ है और गृह आदिमें आसक्त है, उसकी श्रीहरिमें केवला-भक्ति नहीं हो सकती। जो मनोधर्मके द्वारा काल्पनिक, असत् एवं बाहरी विषयोंकी ओर भागता हो, उसमें महान् पुरुषोंके गुणोंकी सम्भावना किस प्रकार हो सकती है?॥१२॥

हरिर्हि साक्षाद्भगवाञ्छरीरिणा-
 मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।
 हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
 तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम्॥ १३॥

मछलियोंके लिए जल ही जैसे प्रिय वस्तु—जीवनका आधार है, उसी प्रकार साक्षात् भगवान् श्रीहरि सभी प्राणियोंके प्रियतम आत्मा हैं। महद् गुणोंसे युक्त व्यक्ति यदि श्रीहरिका परित्यागकर गृह, धन, पुत्रादिमें आसक्त रहता है, तो उस स्थितिमें शूद्र आदि निम्न जातिके स्त्री-पुरुषोंके बीचमें ही आयुके आधारपर उसका बड़प्पन माना जा सकता है। ऐसे लोगोंका तुच्छ पार्थिव महत्त्व तो हो सकता है, किन्तु ज्ञानादिके द्वारा जो यथार्थ गौरव है, वह उनका नहीं होता॥१३॥

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
 मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
 हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
 नृसिंहपादं भजताकुतोभयम्॥ १४॥ इति

अतएव हे असुरो! तुम लोग घर आदिको छोड़कर भगवान् श्रीनृसिंहके निर्भय चरणकमलोंका भजन करो। उनके चरणारविन्द

ही निर्भयताके शरण-स्थल हैं। गृहकी आसक्ति ही राग, तृष्णा, विषाद, क्रोध, मान, स्पृहा, भय, दैन्य, आदिका मूलकारण है। इसलिए इस गृहको जन्म-मरणादि संसार-मालाका आलवाल (चक्र) स्वरूप माना गया है ॥१४॥

केतुमालेऽपि भगवान् कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितृणां पुत्राणाञ्च तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते निपतन्ति ॥ १५ ॥

हे राजन्! केतुमाल वर्षमें भगवान् विष्णु लक्ष्मीके एवं प्रजापति संवत्सरके छत्तीस हजार पुत्र-पुत्रियोंका प्रिय करनेके लिए प्रद्युम्न-रूप (कामदेव-स्वरूप) में विराजमान है। प्रजापति संवत्सरकी पुत्रियाँ रातकी तथा उनके पुत्र दिनके नियामक देवता हैं। इनकी संख्या मनुष्यकी सौ वर्षकी आयुके दिन एवं रातके बराबर अर्थात् छत्तीस-छत्तीस हजार वर्ष है। वे ही उस वर्षके अधिपति हैं। वत्सरकी कन्याएँ परमपुरुषके महान् अस्त्र-सुदर्शन चक्रके तेजसे उद्विग्न हो जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक वर्षके अन्तमें उनके गर्भ गिर जाते हैं ॥१५॥

अतीवसुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते ॥ १६ ॥

इस केतुमाल वर्षमें भगवान् प्रद्युम्नका गतिविलास अतिशय सुललित होता है। उनकी चितवन सुन्दर, मृदु, मधुर मुस्कानसे युक्त अति मनोहर होती है। जब वे अपनी भौंहोंको किञ्चित् ऊपर उठाकर लीलापूर्वक लक्ष्मीजीको देखते हैं, तब उनकी शोभा और भी बढ़ जाती है। वे अपने मुख-पद्मकी इस शोभासे लक्ष्मीजीको आनन्द प्रदान करते हैं तथा स्वयं भी अपनी इन्द्रियोंको चरितार्थ करते हैं ॥१६॥

तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमादेवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदञ्चोदाहरति ॥ १७ ॥

श्रीलक्ष्मीदेवी संवत्सरकी अवधिकी रात्रियोंमें रात्रिके अधिष्ठातृ देवता एवं दिनमें दिनके अधिष्ठातृ देवताओंके साथ मिलकर परम समाधि योगसे भगवान्‌के इस कृपामयरूपकी उपासना करती हैं और इस प्रकारके मन्त्रोका उच्चारण करके उनकी स्तुति करती हैं॥१७॥

ॐ ह्रां ह्रीं हूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुण-विशेषविलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणाञ्चाधिपतये षोडशकलाय छन्दोमयायात्रमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात् इति॥१८॥

भगवान् हृषीकेशको हमारा नमस्कार है। सम्पूर्ण श्रेष्ठ वस्तुओंमें आप ही परिलक्षित होते हैं। आप ही क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति एवं चित्त-शक्ति तथा उनके विषयोंके (सङ्कल्प, अध्यवसाय आदिके) अधिपति हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच विषय—ये सोलह पदार्थ आपके अंश हैं। आप वेदमय, अन्नमय, अमृतमय (परमानन्द प्रकाशत्वके कारण-स्वरूप) एवं सर्वदेवमय हैं। आप ही स्वयं मानसिक, ऐन्द्रियक एवं शारीरिक बलस्वरूप हैं। आप साहस, बल एवं तेजके कारण हैं। आप ही कान्त और आप ही काम हैं। हम ॐ ह्रां ह्रीं हूं ॐ—इन बीजमन्त्रोंके साथ आपको नमस्कार करते हैं। आप हमारे प्रति इस लोक और परलोक दोनोंमें अनुकूल हों॥१८॥

स्त्रियो ब्रतैस्त्वा हृषीकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम्।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनार्थं यतोऽस्वतन्त्राः॥१९॥

हे प्रभो! आप स्वयं ही इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं। इस संसारमें स्त्रियाँ ब्रतादिके द्वारा आपकी आराधना करके अन्य पतियोंकी प्रार्थना करती हैं, उनके वे पति अपने प्रिय पुत्र, धन एवं परमायुकी रक्षा नहीं कर सकते हैं। वे लौकिक पति तो स्वयं ही परतन्त्र हैं अर्थात् वे काल, कर्म एवं गुणादिके अधीन हैं॥१९॥

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
 समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
 स एक एवेतरथा मिथो भयं
 नैवात्मलाभादधि मन्यते परम्॥ २० ॥

पति तो उसे कहा जाता है, जो स्वयं किसीसे डरता नहीं और जो भयातुर हैं, उनकी भी सभी प्रकारसे रक्षा करे। अतः एकमात्र आप ही सबके पति हैं, आपके अतिरिक्त और कोई पति हो ही नहीं सकता। आप यदि पति नहीं होते, तो आप दूसरोंसे भयभीत होते। शास्त्रोंको जाननेवाले आप परमात्माकी सेवा-प्राप्तिके अतिरिक्त किसी और वस्तुको श्रेष्ठ नहीं मानते॥२०॥

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
 निकामयेत् साखिलकामलम्पटा।
 तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
 यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते॥ २१ ॥

हे भगवन्! जो स्त्री ऐकान्तिक भावसे एकमात्र पति-स्वरूप आपके चरण-कमलोंकी सेवाकी कामनासे आपका भजन करती है, सत्य, सत्य ही उसकी अन्य समस्त कामनाओंसे आसक्ति हट जाती है। फलकी कामनासे रहित आपकी सेवा करनेवाली स्त्रियोंकी समस्त कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं, परन्तु जो स्त्री आपकी ऐकान्तिक परिचर्या न करके अन्य फलोंकी कामनासे आपका अर्चन करती हैं, तो आप उसे केवल उसका मनोवाञ्छित फल प्रदान कर देते हैं। भोगकी समाप्तिपर जब वह फल विनष्ट हो जाता है, तो फिर उस स्त्रीको सन्तप्त होना पड़ता है। अतः आपसे इस प्रकारके फलोंकी प्रार्थना करनेकी कोई सार्थकता नहीं है॥२१॥

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
 स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः।
 ऋते भवत्पादपरायणात्र मां
 विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित॥ २२ ॥

हे अजित ! इन्द्रिय सुख-भोगमें आविष्ट चित्तवाले ब्रह्मा, रुद्र, और अन्यान्य सुर एवं असुर मुझे प्राप्त करनेके लिए उग्र तपस्या करते हैं, किन्तु आपके श्रीचरणोंमें अनुरक्तिके बिना वे मेरे कटाक्ष मात्रसे विलसित ऐश्वर्यको भी प्राप्त नहीं कर सकते। मेरा हृदय तो आपमें ही संलग्न रहता है। अतः मैं आपके भक्तोंपर ही अनुग्रह कर सकती हूँ, दूसरे मेरा अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकते॥२२॥

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत् त्वदधायि सात्वताम्।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुः॥ २३॥ इति

हे अच्युत ! आपके कर-कमलसे सम्पूर्ण आशिषोंका वर्षण होता है, इसलिए साधुगण इनकी वन्दना करते हैं। आप अपने भक्तोंके सिरपर इन्हीं कर-कमलोंको रखते हैं। आप कृपापूर्वक मेरे सिरपर भी अपने इन करकमलोंको संस्थापित कीजिये। हे वरेण्य ! आपने मुझे कपटतासे ही स्वर्ण रेखा चिह्न रूपमें वक्षःस्थलपर धारण कर रखा है। मेरे प्रति आपका आदर दिखावा मात्र है, वास्तविक कृपा तो आप अपने अन्तरङ्ग भक्तोंपर ही करते हैं। आप ईश्वर हैं, आपकी लीलाओंके आशयको भला कौन जान सकता है?॥२३॥

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः
प्राक् प्रदर्शितम्। स इदानीमपि महाभक्तियोगेनाराधयतीदञ्चोदाहरति॥ २४॥

रम्यकवर्षमें चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें (प्रलय कालमें) भगवान्ने वहाँके अधिपति वैवस्वत मनुको अपनी मत्स्यावताररूप अतिशय प्रिय मूर्तिको दिखलाया था। वे मनु आज भी ऐकान्तिक भक्तिके साथ उस अवतार-स्वरूपकी आराधना करते हैं और मन्त्रादि द्वारा इस प्रकारसे जाप करते हैं॥२४॥

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः; सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे
बलाय महामत्स्याय नम इति॥ २५॥

शुद्ध-सत्त्वस्वरूप भगवान्को हमारा नमस्कार है। आप मुख्यप्राण, शारीरिक बल, बुद्धिकी शक्ति तथा ज्ञानेन्द्रिय-शक्तिके नियन्ता (मूल स्रोत) रूपमें तत्-तत् स्वरूपमें भी कहे जाते हैं। हम महामत्स्य-अवतार भगवान्को नमस्कार करते हैं॥२५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-

रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः।

स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-

त्राम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम्॥ २६ ॥

हे भगवन्! नट जिस प्रकार कठ-पुतलियोंको अपने वशमें रखता है, उसी प्रकार आपने ब्राह्मण आदि नामोंके द्वारा इस विश्वको अपने नियन्त्रणमें कर रखा है। आप ही सबके ईश्वर हैं। आप समस्त प्राणियोंके भीतर (प्राणरूपसे) और बाहर (वायुरूपसे) विचरण करते हैं, तथापि ब्रह्मादि लोकपालगण आपको देख नहीं सकते। आपका वेदात्मक नाद अतीव उच्च है, अर्थात् आपकी सुमहान् ध्वनि वेदरूपमें प्रकाशित हो रही है। वेद ही आपके अस्तित्वकी प्रत्येक पदमें उच्च स्वरसे घोषणा कर रहे हैं॥२६॥

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा

हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च।

पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः

सरीसृपं स्थाणुं यदत्र दृश्यते॥ २७ ॥

हे प्रभो! इन्द्रादि लोकपालगण मात्सर्य-ज्वरसे अभिभूत हैं। आपको छोड़कर उन्होंने पृथक्-पृथक् रूपसे अथवा एक साथ मिलकर कितना भी यत्न किया, परन्तु मनुष्य-पशु, स्थावर-जङ्गम आदि किसी भी परिदृश्यमान (दिखायी देनेवाली) वस्तुकी रक्षा नहीं कर पाये। आप ही प्राणरूपमें सबके पालक एवं ईश्वर हैं॥२७॥

भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षौणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम्।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नमः इति ॥ २८ ॥

हे सर्वशक्तिमान्! यह वसुन्धरा समस्त ओषधि एवं लताओंकी आश्रय स्वरूपा है। प्रलयकालमें यह पृथ्वी जब उत्ताल तरङ्गमालाओंसे युक्त सागरमें डूब गयी थी, उस समय हे अज-स्वरूप! आपने प्रबल उत्साहसे मेरे साथ विचरण किया था। आप इस संसारके समस्त प्राणियोंके नियन्ता स्वरूप हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २८ ॥

हिरण्यमयेऽपि भगवान् निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य
तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति;
मन्त्रमिमञ्चानुजपति ॥ २९ ॥

हिरण्यमय वर्षमें भगवान् विष्णु कूर्म शरीर धारण करके विराजमान रहते हैं। पितरोंके अधिपति अर्यमा उस वर्षमें रहनेवाले लोगोंके साथ भगवान्के इस प्रियतम कच्छप-श्रीविग्रहकी उपासना करते हैं और यह मन्त्र निरन्तर जपते रहते हैं ॥ २९ ॥

ॐ नमो भगवतेऽकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणाय
नमोऽनुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमोऽवस्थानाय
नमस्ते ॥ ३० ॥ इति

भगवान् कूर्मदेवको नमस्कार है। हे विशाल आकृति विशिष्ट सुन्दर शरीर! सम्पूर्ण शुद्ध सत्त्वगुण ही आपका विग्रह है अर्थात् आप शुद्ध सत्त्व मूर्ति हैं। जलमें विचरण करनेके कारण आपके स्थानको कोई जान नहीं सकता; आपको नमस्कार है। आप कालकी मर्यादाके बाहर हैं, आपको कोई बाँध नहीं सकता। आप सर्वव्यापक हैं और सभीके आधार स्वरूप हैं। हे कूर्मरूप! आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
 मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम्।
 संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्
 तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥ ३१ ॥

हे भगवन्! आपकी अपनी माया शक्तिसे प्रकटित (सृजनात्मक शक्तियोंसे अभिव्यक्त) यह जो दृश्य-प्रपञ्च पृथ्वी आदि नानाविध प्राकृत रूप प्रकाशित हो रहा है, यह सब आपका स्वरूपभूत रूप नहीं है, अतः आपका विराट् रूप अलीक अर्थात् कल्पित है। आपका स्वरूप नर, गौ, पशु, पक्षी आदि बहुतसे रूपोंमें निरूपित हो रहा है। इनकी संख्याका निर्णय करना भी बहुत कठिन है। आपके नित्य रूपका भलीभाँति वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ ३१ ॥

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
 चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम्।
 द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
 द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥ ३२ ॥

हे देव! जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि चराचर, देवता, ऋषि, पितर, भूत और इन्द्रियाँ एवं स्वर्ग, अन्तरीक्ष, भूलोक, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह तथा नक्षत्र ये सभी आपके ही नाम हैं। आप अद्वय वस्तु हैं। आपके अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह विश्व अनित्य होनेपर भी मिथ्या नहीं है। यह आपका प्राकृत रूप है। (इसलिए श्रुतियोंमें कहा गया है कि 'परिदृश्यमान् समस्त ही विद्वानोंकी प्रतीतिमें ब्रह्म है।' इस श्लोकके द्वारा प्रपञ्चका मिथ्यात्व खण्डित हुआ है।) ॥ ३२ ॥

यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
 रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम्।
 संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
 तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति ॥ ३३ ॥

हे प्रभो! आपके नाम, रूप और आकृतिके न जाने कितने प्रकारके भेद हैं, उनकी गिनती नहीं की जा सकती। फिर भी कपिलादि मुनिगण चौबीस तत्त्वोंकी कल्पना करते हैं। जिस तत्त्वज्ञानके उदय होने पर यह संख्या निवृत्त हो जाती है, आप वही सांख्य-सिद्धान्त-स्वरूप हैं अर्थात् सांख्य-ज्ञानके एकमात्र उद्देश्य हैं। निरीश्वर कपिलादि सांख्यकार आपके स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं। वे केवल संख्याकी गणना करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥३३॥

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान् यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते। तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति। इमाञ्च परमामुपनिषदमावर्त्तयति॥ ३४॥

हे राजन्! उत्तरकुरुवर्षमें भगवान् यज्ञपुरुष वराहरूपमें प्रकटित होकर विराजमान हैं। पृथ्वीदेवी कुरुखण्डवासी लोगोंके साथ मिलकर अविचलित भक्तियोगसे उनकी आराधना करती हैं और उपनिषद्के इस परमोत्कृष्ट मन्त्रका बार-बार जप करती हैं॥३४॥

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते इति॥ ३५॥

हम परमपुरुष भगवान्को नमस्कार करती हैं। मन्त्रके द्वारा ही आपके यथार्थ स्वरूपको जाना जा सकता है। आप यज्ञ एवं क्रतु स्वरूप हैं। अतः बड़े-बड़े सभी यज्ञानुष्ठान आपके अङ्ग हैं। आप यज्ञके अधिष्ठाता शुद्ध-सत्त्व-स्वरूप हैं। कलियुगमें आपका अवतार प्रच्छन्न है, इसलिए आप 'त्रियुग' नामसे जाने जाते हैं। आशय यह है कि आप 'त्रि-युगल' ऐश्वर्योंसे युक्त षडैश्वर्यशाली रूपमें 'त्रियुग' हैं। आपको नमस्कार है॥३५॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम्।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने॥ ३६॥

जिस प्रकार काष्ठके भीतर अग्नि विद्यमान होनपर भी अप्रकाशित रहती है किन्तु जानकार लोग मन्थन द्वारा उस अग्निको प्रकाशित कर लेते हैं, उसी प्रकार तत्त्वविद् एवं निपुण व्यक्ति आपके दर्शनकी अभिलाषासे शरीर, श्रोत्र (नाम, गुण एवं लीलाका श्रवण) एवं वाक् इन्द्रियोंमें गुणानुवाद (कीर्तनादि दृढ़ अभ्यास) रूपमें आपका अन्वेषण करते हैं। विवेक, साधन, मन, कर्म और कर्मफल द्वारा तो आपका स्वरूप अप्रकाशित रहता है। आप स्वप्रकाश वस्तु (स्वतः प्रकट होने वाले) हैं। जो व्यक्ति आपके स्वरूपके दर्शनके अभिलाषी होकर मन्थन (भगवान्‌के नाम, रूपादिका पुनः-पुनः भक्तोंके मनमें स्थापन होना ही मन्थन है) आदि साधनोंके द्वारा प्रयत्न करते हैं, उनसे प्रसन्न होकर आप अपने परमात्म स्वरूपको स्वयं ही प्रकाशित करते हैं। आपको नमस्कार है ॥३६॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-

मायागुणैर्वस्तु निरीक्षितात्मने।

अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-

र्निस्तमायाकृतये नमो नमः ॥ ३७ ॥

शब्दादि विषय, इन्द्रियोंके व्यापार (क्रिया), वाक् आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, देह, काल और अहङ्कार—ये सभी मायाके कार्य हैं। मायाके इन कार्योंके दर्शनसे कार्यके कारण रूपमें जो वस्तु दिखायी दे रही है, आप वही परमात्मा हैं। आपका यह स्वरूप मायाके सम्पर्कसे रहित है। तत्त्व-विचार एवं यम-नियमादि द्वारा जिनकी बुद्धिकी वृत्तियाँ अवरुद्ध हो गयी हैं, वे ही आपके स्वरूपको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। हमारा आपको नमस्कार है ॥३७॥

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं

यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः।

माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं

ग्राव्यो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥ ३८ ॥

हे भगवन्! जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपको प्रिय नहीं है, तथापि अनिच्छा होनेपर भी आप जीवोंके लिए यह सब कार्य करते हैं। प्रकृति जड़ है, किन्तु आपके ईक्षणसे सञ्चालित होकर अपने सत्त्व, रज और तमोगुणके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि आदि कार्य करती है। (जड़रूपा प्रकृतिसे किस प्रकार सृष्टि हो सकती है? इसके उत्तरमें कहते हैं)—लोहा जिस प्रकार चुम्बक द्वारा आकृष्ट होकर उसकी ओर खिंचता चला जाता है, माया भी उसी प्रकार आपके ईक्षणके प्रभावसे सृष्टि आदि कार्य करती है। अतः हे गुण और कर्मोंके साक्षी स्वरूप! आपको नमस्कार है ॥३८॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिशूकरः।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभूमिति ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां
संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशे
श्रीवर्षदेवस्तुतिर्नामाष्टादशोऽध्यायः।

हाथी जिस प्रकार दाँतोंके अग्रभागमें पद्मनालको रखकर क्रीड़ा करते हुए जलाशयसे बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार आप भी आदि-वराहरूपमें प्रतिद्वन्द्वी गजके समान हिरण्याक्षका वध करके रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको दाढ़ोंकी नोकपर रखकर प्रलय-पयोधिसे बाहर निकाल लाये थे ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके अठारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष वर्ष और भारतवर्षका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं
रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह
किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! किम्पुरुष वर्षमें परम
भागवत श्रीहनुमानजी जगत्के कारण श्रीलक्ष्मणजीके बड़े भाई,
सीतापति भगवान् श्रीरामचन्द्रके श्रीचरणोंके सान्निध्यमें अपने चित्तको
भलीभाँति युक्त करके अन्य किन्नरोंके सहित नित्य-निरन्तर उनकी
उपासना करते हैं ॥१॥

आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां
समुपशृणोति स्वयञ्चेदं गायति ॥ २ ॥

किम्पुरुषमें रहनेवाले गन्धर्व भगवान् श्रीरामचन्द्रकी परम
कल्याणमयी कथाओंका गान करते हैं। हनुमानजी किम्पुरुष-पति
आर्ष्टिषेणके साथ इन कथा-चरित्तोंको बड़ी प्रीतिसे सुनते हैं
और स्वयं इस मन्त्रका जप करते हुए उनकी इस प्रकार स्तुति
करते हैं ॥२॥

ॐ नमो भगवते उत्तमःश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय
नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो
ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नमः इति ॥ ३ ॥

‘हम ॐकार स्वरूप, पवित्र कीर्ति, भगवान् श्रीरामचन्द्रको
नमस्कार करते हैं, जिनमें आर्षगणोंके (सत्पुरुषोंके) सर्वश्रेष्ठ लक्षण,
स्वभाव और सदाचार विद्यमान हैं, जो सर्वदा ही संयत-चित्त हैं

और लोक-रञ्जनके लिए लौकिक आचरणका अनुकरण करते हैं। जो साधुताकी परीक्षाके लिए कसौटीके समान हैं अर्थात् जिन पर कृपालुता इत्यादि सद्गुणोंका निर्धारण किया जा सकता है। जो समस्त साधुओंके मुकुटमणि हैं, जो ब्राह्मणोंके भक्त हैं—ऐसे महापुरुष, राजाओंके राजा श्रीरामचन्द्रजीको हम ॐकार बीजमन्त्रके उच्चारणके साथ पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं॥३॥

यत् तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

जो मायाके सम्बन्धसे रहित, विशुद्ध अनुभव-स्वरूप हैं। वेदान्तमें जो 'अद्वितीय' रूपमें विख्यात हैं; जिनकी स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे मायिक गुणोंकी कार्यरूप जाग्रत आदि विविध अवस्थाएँ दूरसे ही निरस्त हो जाती हैं, जो 'प्रत्यक्' स्वरूप हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे जिनका दर्शन नहीं किया जा सकता, जो प्राकृत नाम-रूप-रहित हैं, केवल शुद्धचित्त-द्वारा ही जिनके अप्राकृत स्वरूपको जाना जा सकता है। हम अति सुदृढ़ भावसे उन्हीं साक्षात् परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण ग्रहण करते हैं॥४॥

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ५ ॥

राक्षसोंका अधिपति रावण मनुष्यके अतिरिक्त किसी औरके द्वारा अवध्य था। उसीका वध करनेके लिए भगवान् रामचन्द्र स्वयं इस जगत्में अवतीर्ण हुए थे। केवल रावण-वध ही उनके अवतारका कारण था, ऐसा नहीं। उनके अवतारका प्रधान उद्देश्य मर्त्य-जीवोंको यह शिक्षा देना था कि स्त्री-सङ्ग भौतिक दुःखोंका

मूल कारण है। भगवान् श्रीराम तो विश्वात्मा परमेश्वर एवं अपने स्वरूपमें ही आनन्दका उपभोग करते हैं। उन्हें सीता-विरह-जन्य दुःख किस प्रकार हो सकता है? ॥५॥

न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणञ्चापि विहातुमर्हति ॥६॥

(श्रीरामलीला प्राकृत कामादिमें आसक्त किसी बद्ध जीवकी लीला नहीं है) हे प्रभो! वे त्रिलोकीमें किसी भी विषयमें आसक्त नहीं हैं। वे आत्मविद् भक्तोंकी आत्मा और उनके परम बन्धु एवं षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् वासुदेव हैं। कहा जाता है कि स्त्रीके विरहसे आप मोहको प्राप्त हो गये थे अथवा लक्ष्मण तथा जगन्माता लक्ष्मी स्वरूपिणी सीतादेवीका परित्याग किया था, यह कदापि सम्भव नहीं है। वस्तुतः मनुष्य शिक्षाके लिए ये उनके बाहरी आचरण हैं ॥६॥

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥७॥

प्राकृत सत्कुलमें जन्म, सौन्दर्य, वाक्-चातुरी, बुद्धि अथवा सद्-योनि ये सब महानुभाव श्रीरामचन्द्रकी प्रसन्नताके कारण नहीं हो सकते। देखिये, हम वनचर हैं—न तो हमारी कुलीनता है और न ही हममें सुन्दरता या वाग्विलास है तथापि लक्ष्मणके बड़े भाई भगवान् श्रीरामचन्द्रने हमारे साथ मित्रता की है ॥७॥

सुरोऽसुरो वाथ नरोऽथ वानरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत् कोशलान् दिवम् इति ॥८॥

सभीको अपने अन्तःकरणमें नराकृति परब्रह्म श्रीरामचन्द्रका भजन करना चाहिए चाहे वे देव, असुर, मनुष्य अथवा पशु, पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो। उनके भजनके लिए कठोर तप अथवा साधना करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे तो किञ्चित्मात्र भजनसे ही अनुग्रहके द्वारा सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब उन्होंने अपने दिव्यधाम वैकुण्ठमें पदार्पण किया था तब वे समस्त अयोध्या-वासियोंको (पशु-पक्षियोंको) भी अपने साथ ले गये थे॥८॥

भारतेऽपि वर्षे भगवान् नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्त-गतिश्चरति॥ ९ ॥

भगवान्की महिमा अचिन्त्य है; वे अनुग्रहकर अपने आत्मतत्त्वविद् भक्तोंको शिक्षा देनेके लिए भारतवर्षके बदरिकाश्रम-क्षेत्रमें नर-नारायण मूर्तिमें प्रकटित होकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन्द्रिय संयम एवं निरहङ्कार गुणोंके द्वारा कल्पकी अवधि तक तपस्यामें रत रहेंगे। इस तपस्यासे उनका अपना तो कोई प्रयोजन नहीं, मनुष्योंको अवश्य ही इससे आत्म-साक्षात्कार अर्थात् 'त्वं पदार्थ' ज्ञानकी प्राप्ति होती है॥९॥

तं भगवान् नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णैरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्ति-भावेनोपसरति इदञ्चाभिगृणाति॥ १० ॥

पञ्चरात्रनामक-सात्वत तन्त्रमें स्वयं भगवान् द्वारा कहे हुए सांख्यज्ञान एवं योगा-शास्त्रादिके साथ भगवान्की महिमा बतलायी गयी है। इस पञ्चरात्रका सावर्णि मनुको उपदेश करते हुए देवर्षि नारद भारतवर्षकी वर्ण एवं आश्रम धर्मके अनुयायी प्रजाओंके साथ परम भक्ति भावसे भगवान् नर-नारायणकी सेवा करते हैं और इन वचनोंसे भगवान्का गुणानुवाद (स्तुति) करते हैं॥१०॥

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति॥ ११ ॥

ॐकार-स्वरूप, परमहंस, जितेन्द्रिय, निरहङ्कार, निष्किञ्चनोंके धन, शान्तस्वभाव, महाभागवतोंके गुरु, आत्मारामोंके अधिपति ऋषिप्रवर भगवान् नर-नारायणको पुनः-पुनः नमस्कार है ॥११॥

गायति चेदम्—

कर्त्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
द्रष्टुर्न दृश्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥ १२ ॥

राजन्! देवर्षि नारद उनकी आराधना करते हुए इस प्रकार और भी गाते हैं—जो इस परिदृश्यमान विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके कर्त्ता होकर भी कर्त्ताके अभिमानसे रहित हैं। देहमें रहते हुए भी जो भूख, प्यासादि दैहिक धर्मोंसे अभिभूत नहीं होते। द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्य विषयोंसे दूषित नहीं होती। उन्हीं अनासक्त एवं प्रपञ्चसे निवृत्त, समस्तके साक्षी-स्वरूप परमात्माको हमारा नमस्कार है ॥१२॥

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्यादधीतो ज्ज्ञितदुष्कलेवरः ॥ १३ ॥

हे योगेश्वर! आत्मवित् भगवान् ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ)ने योगसाधनाकी निपुणता यही बतलायी है कि अन्तकालमें सभी योगी संसार-क्लेशके कारण-स्वरूप देहात्माके अभिमानको छोड़कर भक्तियोगके द्वारा निर्गुण आपमें अपना चित्त लगायें ॥१३॥

यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन्।
शङ्केत विद्वान् कुक्कलेवरात्ययाद्—
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥ १४ ॥

लौकिक एवं पारलौकिक फलोंके भोगोंमें लगे हुए मूर्ख व्यक्ति जिस प्रकार स्त्री-पुत्र एवं धनादिकी चिन्ता करते रहते हैं और इसीलिए विष्ठादिसे भरे हुए इस कुत्सित शरीरको परित्याग करनेसे डरते हैं, शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी यदि इसी प्रकार मृत्युसे डरते हैं, तो उनके शास्त्रोंका अभ्यास केवल परिश्रम ही है, यह जान लेना चाहिए ॥१४॥

तत्रः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
 त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
 भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
 विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावम् इति ॥ १५ ॥

अतएव हे प्रभो! हे अधोक्षज! आपमें जो चित्तको स्थिर करनेवाला ज्ञानयोग है, आप हमें वही प्रदान कीजिये, जिससे हम अपने अस्थिर मनको वशमें कर सकें। हम आपकी मायासे मोहित हैं, इसलिये मलमूत्रसे भरी इस देहके प्रति मैं-मेरा की बुद्धिसे समर्पित हैं। आप अपनी स्वभाव सिद्ध, निरुपाधिक प्रेमाभक्ति प्रदान कर इस अहंता-ममताका छेदन कर डालिये (विषयोंके प्रति जो हमारी स्वाभाविक आसक्ति है, हमारा वही अनुराग, वही आसक्ति आपमें हो) ॥१५॥

भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवः मलयो मङ्गलप्रस्थो
 मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोण्वः सह्यो देवगिरिऋष्यमूकः
 श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारिपात्रो
 द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्द्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकीलः
 कामगिरिरिति चान्ये शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च
 सन्त्यसंख्याताः ॥ १६ ॥

परीक्षित्! इलावृत वर्षके समान इस भारत वर्षमें भी अनेक पर्वत एवं नदियाँ हैं—मलय, मङ्गलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोण्व (कोल्लक), सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेङ्कट, महेन्द्र, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्षगिरि, पारिपात्र, द्रोण, चित्रकूट,

गोवर्द्धन, रैवत, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील एवं कामगिरि तथा इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों-हजारों पर्वत हैं। उनके तटप्रान्तोंसे निकलकर असंख्य नद-नदियाँ प्रवाहित होते हैं ॥१६॥

एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति। चन्द्रवशा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्त्ता तुङ्गभद्रा कृष्णवेण्वा भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृशद्रु ती गोमती सरयूरोधवती सप्तवती सुषोमा शतद्रुश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः ॥१७॥

उनमें ब्रह्मपुत्र और शोण यह दो नद एवं चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्त्ता, तुङ्गभद्रा, कृष्णवेण्वा, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, शोण, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, ओघवती, षष्ठवती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रु, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी और विश्वा—ये सभी सर्वप्रधान महानदियाँ हैं। ये नदियाँ अपने नाम मात्रसे ही जीवोंको पवित्र करनेवाली हैं। भारतवासी इन नदियोंका मनमें स्मरण करते हैं। कभी-कभी जाकर इनका स्पर्श और इनमें स्नान भी करते हैं ॥१७॥

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति ॥१८॥

इस वर्षमें जन्म ग्रहण करनेवाले पुरुषोंको अपने किये हुए सत्त्व, रज और तमोगुणके कर्मोंके अनुसार क्रमशः दैवी, मानुषी और नारकी आदि नाना प्रकारकी योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी वर्षमें जीवोंको अपने-अपने विगत कर्मोंके अनुसार विभिन्न प्रकारकी

योनियाँ मिलती हैं और इसी वर्षमें अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम धर्मको भगवान् विष्णुको समर्पण करनेपर क्रमशः कर्मबन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥१८॥

योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः ॥ १९ ॥

(अपवर्गका स्वरूप कैसा है और वह किस प्रकारसे प्राप्त होता है, यह बतला रहे हैं) जन्म-जन्मान्तरकी सुकृतियोंके फलसे जिस समय भगवद्भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है उस समय उनके सङ्गसे देव, तिर्यक्, मनुष्यादि योनियोंमें जन्म ग्रहणके कारण काम्यकर्म और उनका मूल जो अविद्याकी गाँठ है, वह छिन्न हो जाती है एवं उसके फलसे सम्पूर्ण जीवोंके रागादि दोषोंसे रहित, वाणीसे अगोचर, निराधार (स्वयं-ही-स्वयंके आश्रयस्वरूप) परमात्मा भगवान् वासुदेवमें अहैतुक भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। यही अपवर्ग है, यही फलाभिसन्धिरहित भक्तियोग है ॥१९॥

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो वतैषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥ २० ॥

मनुष्य जन्ममें ही समस्त पुरुषार्थोंको प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए देवता भी मनुष्य जन्मकी इस प्रकारसे महिमा गाते हैं—अहो! भारतवर्षमें जन्मे मनुष्योंने ऐसी कौनसी महापुण्यशाली तपस्या की है? अथवा स्वयं भगवान् श्रीहरि इनपर बिना साधनाके ही क्यों प्रसन्न होते हैं? क्योंकि जिस भारत-भूमिमें मनुष्य-जन्म प्राप्तिके लिए हम इच्छा करते हैं, इन्होंने उसी भारतके आँगनमें मुकुन्द-सेवाकी उपयोगी मानवयोनिको प्राप्त किया है ॥२०॥

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
 र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
 न यत्र नारायणपादपङ्कज-
 स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥ २१ ॥

हमें दुष्कर यज्ञ, तपस्या, व्रत और दानादिके फलसे जो स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है, इस तुच्छ फल अर्थात् स्वर्ग-प्राप्तिकी सार्थकता भला क्या है? अरे, इस स्थानपर तो श्रीनारायणके पादपद्मका स्मरण आदि भी सम्भव नहीं है। यहाँ तो अतिशय इन्द्रिय तर्पणोत्सव अर्थात् अत्यधिक भोगोंके कारण भगवत्-स्मृति शीघ्र ही लुप्त हो जाती है॥२१॥

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
 क्षणायुषां भारतभूजयो वरः।
 क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
 संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥ २२ ॥

ब्रह्मलोकमें द्विपरार्द्धकाल आयुकी अपेक्षा भारत भूमिमें अल्पायु होकर जन्म ग्रहण करना श्रेष्ठ है क्योंकि ब्रह्मलोकसे भी तो पुनः वापस आनेकी सम्भावना रहती है। मर्त्यवासियोंकी देह क्षणभङ्गुर एवं आयु अल्प होनेपर भी धीर पुरुष अल्पकालमें ही अपने कृत कर्मोंको भगवान् श्रीहरिमें समर्पण करके श्रीहरिके अभयपदको प्राप्त कर सकते हैं। वहाँसे पुनः लौटना नहीं होता॥२२॥

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
 न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
 न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
 सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥ २३ ॥

जहाँ भगवत्-कथारूपी सुधा-सरिता प्रवाहित नहीं होती, जहाँ उसके उद्गमस्थान वैष्णवी नदी-तटपर आश्रित भगवद् भक्तोंका निवास नहीं है, जहाँ नृत्य-गीत-वाद्यादि महोत्सवके साथ यज्ञेश्वर श्रीहरिकी सङ्कीर्तन यज्ञसे आराधना नहीं होती, वह चाहे ब्रह्मलोक भी क्यों न हो, सुमेधावीजन वहाँ कभी नहीं निवास करते॥२३॥

प्राप्ता नृजातिस्त्विह ये च जन्तवो
 ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
 न चेद् यतेरत्रपुनर्भवाय ते
 भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥ २४ ॥

इस भारतवर्षमें चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों एवं क्षिति आदि द्रव्य-सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण (भगवद् भजनोपयोगी) मानव-देह प्राप्त करके भी जो मनुष्य ज्ञान-कर्मादिके बन्धनसे मुक्त होकर भक्तियोगके लिए यत्न नहीं करते, वे तो वनमें विहार करनेवाले पक्षियोंके समान पुनः बन्धनमें बँध जाते हैं अर्थात् फलादिके लोभसे उसी वृक्षपर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियोंके समान फिर बन्धनमें पड़ जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार पाशबद्ध पक्षी एक बार व्याधके बन्धनसे किसी प्रकारसे मुक्त होकर वृक्षपर पुनः विहार करने लग जाता है किन्तु असावधानी दोषके कारण वह फिरसे व्याधकी फाँसीमें फँस जाता है, उसी प्रकार भारत भूमिमें भगवद् भक्तिमय मोक्षको प्राप्त कराने वाली मनुष्य योनि प्राप्त करके भी मानव अपने-अपने कर्मदोषके कारण बन्धनको प्राप्त होता है ॥२४॥

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
 निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
 एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा गृह्णाति
 पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥ २५ ॥

अहो! भारतवासी बड़े सौभाग्यशाली हैं। जब ये विधि, मन्त्र एवं चरु पुरोडाशादि आदि भिन्न-भिन्न द्रव्योंके योगसे बनी हविको तद्-तद् देवताओंके (सूर्य, सोम, इन्द्रके) उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक प्रदान करते हैं, तब पृथक्-पृथक् इन्द्रादि विभिन्न नामसे पुकारे जानेपर भी सर्वाङ्ग भगवान् श्रीहरि ही समस्त द्रव्योंको हर्षके साथ ग्रहण करते हैं। वे चारों प्रकारके पुरुषार्थको प्रदान करनेमें समर्थ हैं किन्तु स्वयं परिपूर्णस्वरूप भगवान् होकर भी हवि आदिकी उपेक्षा नहीं करते ॥२५॥

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
 नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
 स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
 मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥ २६ ॥

सकाम भक्त भगवान्से जब कुछ माँगते हैं, तो भगवान् उनकी माँगी हुई वस्तुओंको प्रदान तो कर देते हैं, यह सत्य है, किन्तु जिससे पुनः-पुनः कामनाओंका उदय होता है, वे ऐसा वर प्रदान नहीं करते। भगवान्के चरणकमल समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। जो उनके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छा न रखकर उनका भजन करते हैं, उन्हें भी वे स्वयं ही अपने चरणकमल प्रदान कर देते हैं॥२६॥

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
 स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
 तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्-
 वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति॥ २७ ॥

अतः हम जो भलीभाँति किये गये यज्ञ, वेदाध्ययन और अन्यान्य सत्कर्मोंके अनुष्ठानोंके पुण्यफलसे इन स्वर्गादि सुखोंका उपभोग कर रहे हैं, यदि इन पुण्योंका किञ्चित् मात्र फल भी बचा हुआ हो, तो हमारा भारतवर्षमें ही हरिस्मरणके उपयोगी मानव-जन्म हो—यही हमारी प्रार्थना है; क्योंकि भगवान् श्रीहरि इस वर्षमें भक्तोंका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण
 इमां महीं परितो निखनद्विरुपकल्पितान्॥ २८ ॥

तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मन्दरहरिणः
 पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति॥ २९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे भारतोत्तम परीक्षित्! कुछ विद्वानोंका मानना है कि जम्बूद्वीपमें और आठ उपद्वीप हैं। राजा सगरके पुत्रोंने घोड़ेको ढूँढते हुए चारों ओरसे पृथ्वीको खोद डाला था, जिससे इन उपद्वीपोंका विभाग हो गया था। इन द्वीपोंके नाम हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्त्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लंका॥२८-२९॥

एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णितः
इति॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः।

हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार जम्बूद्वीपके वर्ष-विभाजनके सम्बन्धमें
जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना था, ठीक वैसा ही तुम्हें सुना दिया॥३०॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके उन्नीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

प्लक्षादि छह द्वीपों तथा लोकालोक
पर्वतका वर्णन

श्रीऋषिरुवाच—

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते ॥ १ ॥

ऋषिवर श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अब मैं परिमाण, लक्षण एवं आकारके आधारपर प्लक्षादि छह द्वीपोंके वर्ष-विभागका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्बूवाख्येन। लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन। प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्यातिकरो हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वः। तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वस्तं द्वीपं सप्त वर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम ॥ २ ॥

सुमेरु जिस प्रकार जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी लवण-समुद्रसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपका विस्तार जैसे एक लाख योजन है, उसी प्रकार लवण-समुद्रका परिमाण भी एक लाख योजन है। खाई जिस प्रकार बाहरी उपवनसे घिरी रहती है, उसी प्रकार लवण-समुद्र भी प्लक्ष द्वीपके द्वारा घिरा हुआ है। प्लक्ष द्वीपका विस्तार लवण-समुद्रसे दुगुना अर्थात् दो लाख योजन है। इस द्वीपमें प्लक्ष (पाकर) नामका एक महावृक्ष है। यह वृक्ष स्वर्णमय है और इसका परिमाण जम्बूवृक्षके समान है। इसके मूलमें सात ज्वालाओंवाली अग्नि विराजमान है। इस वृक्षके कारण ही इस द्वीपका नाम प्लक्ष द्वीप पड़ गया। इस द्वीपके

अधिपति प्रियव्रतके पुत्र इध्मजिह्व थे। उन्होंने इस द्वीपको अपने सात पुत्रोंके नामानुसार सात वर्षोंमें विभाजित कर दिया और एक-एक वर्ष एक-एक पुत्रको सौंपकर वे स्वयं भगवद्-भक्ति प्राप्तकरके संसारसे मुक्त हो गये॥२॥

शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतमभयमिति वर्षाणि। तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः। मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुवर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः। अरुणा नृम्णा आङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरेति महानद्यः। यासां जलोपस्पर्शनविधूतजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते॥३-४॥

सातों द्वीपोंका नाम सात पुत्रोंके नामोंपर रखा गया यथा—शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय। इन सात वर्षोंमें सात पर्वत और सात नदियाँ प्रसिद्ध हैं। मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुवर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल—ये सात पर्वत सात वर्षोंकी सीमाओंको सूचित करनेवाले हैं। अरुणा, नृम्णा, आङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा—ये सात महानदियाँ हैं। प्लक्षवर्षमें रहनेवाले लोग चार वर्णोंमें विभाजित हैं—हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन और सत्याङ्ग। ये सभी इन नदियोंके जलका स्पर्श करके या इनमें स्नान करके रज-मल एवं तम-मलको दूर करके स्वयंको पवित्र करते हैं। इनकी आयु एक हजार वर्षकी होती है। इनका सौन्दर्य देवताओंके अनुरूप होता है और सन्तानोत्पत्तिका प्रकार भी वैसा ही होता है। ये त्रयीविद्यासे तीनों वेदोंमें वर्णित कर्ममार्गका आश्रय लेकर स्वर्गके द्वारभूत सूर्यके आत्म-स्वरूप (परमात्मा-रूप) भगवान्का भजन करते हैं॥३-४॥

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत् सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः।

अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमही इति॥५॥

उनकी उपासनाका मन्त्र इस प्रकार है—हम सर्वव्यापक पुराणपुरुष भगवान् विष्णुकी प्रतिमूर्ति—स्वरूप सूर्यदेवके शरणागत हैं। वे (सूर्य) अनुष्ठान-योग्य धर्म (आराध्य) प्रतीत होनेवाले (ऋत) धर्म (परब्रह्म), ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेवाले वेद तथा शुभाशुभ (सम्मुख शुभ कार्यो एवं फलोंके तथा पीठ पीछे अशुभ कार्यो एवं फलोंके) अधिष्ठाता हैं ॥५॥

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते ॥६॥

हे राजन्! प्लक्षादि (पाकर) पाँचों द्वीपोंमें सभी मनुष्योंकी आयु, ओज (मनोबल), इन्द्रियबल, दैहिकबल, साहस, बुद्धि, पराक्रम और स्वभावसिद्ध बुद्धि एक ही समान होते हैं ॥६॥

प्लक्षस्तु समानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते ॥७॥

प्लक्षद्वीप जिस प्रकार अपने समान दो लाख योजन विस्तार वाले इक्षु-समुद्रसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार प्लक्षद्वीपसे दुगुना अर्थात् चार लाख योजन विस्तार वाला शाल्मली द्वीप अपने समान परिमाणवाले मदिराके सागरसे घिरकर विद्यमान है ॥७॥

यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा। यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतच्छन्दःस्तुतः पतत्रिराजस्य सा द्वीपहृतये उपलक्ष्यते ॥८॥

इस शाल्मली (सेमर) द्वीपमें एक शाल्मली (सेमर) वृक्ष है। यह वृक्ष प्लक्ष (पाकर) वृक्षके समान विशाल अर्थात् सौ योजन चौड़ा एवं ग्यारह सौ योजन ऊँचा है। इस वृक्षके नामानुसार ही इस द्वीपका नाम शाल्मली है। पण्डितोंका कहना है कि शाल्मली (सेमल) वृक्षमें भगवान् विष्णुके वाहन स्वर्णिम पङ्क्तोंवाले पक्षीराज गरुडका निवास है। श्रीगरुड छन्द अर्थात् वेदमन्त्रोंसे भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हैं ॥८॥

तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि
सप्त वर्षाणि व्यभजत्। सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्हं
पारिभद्रमाप्यायनमभिज्ञातमिति ॥ ९ ॥

प्रियव्रतके पुत्र यज्ञबाहु शाल्मली द्वीपके अधिपति थे। उन्होंने
इस द्वीपको अपने सात पुत्रोंके नामानुसार सात वर्षोंमें विभक्त करके
प्रत्येक पुत्रको एक-एक वर्ष प्रदान कर दिया। उनके सात पुत्रोंके
नाम हैं—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ह, पारिभद्र, आप्यायन
और अभिज्ञात ॥ ९ ॥

तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः। सुरसः शतशृङ्गो वामदेवः
कुन्दः कुमुदः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति। अनुमती सिनीवाली सरस्वती
कुहू रजनी नन्दा राकेति ॥ १० ॥

इन सुरोचनादि सात विभागोंमें सुरस, शतशृङ्ग, वामदेव, कुन्द,
कुमुद, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति—ये सात पर्वत हैं तथा अनुमति,
सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका—ये सात
नदियाँ हैं ॥ १० ॥

तद्वर्षपुरुषाः श्रुतिधरवीर्यधरवसुन्धरेषुन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं
सोममात्मानं वेदेन यजन्ते ॥ ११ ॥

इस वर्षके निवासियोंके भी चार वर्ण हैं, जो श्रुतधर, वीर्यधर,
वसुन्धर, और इषुन्धर नामसे विख्यात हैं। ये अपने-अपने वर्ण
और आश्रमोचित धर्मानुसार वेदमय भगवदात्मक चन्द्रमाकी उपासना
करते हैं ॥ ११ ॥

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः।

अन्धः प्रजानां सर्वासां राजा नः सोम आस्त्विति ॥ १२ ॥

शाल्मली द्वीपवासी इस प्रकार स्तुति करते हैं—जो देवता एवं
पितरोंको अन्नादि प्रदान करनेके उद्देश्यसे अपनी किरणोंके द्वारा
एक मासको शुक्ल तथा कृष्ण नामक दो पक्षोंमें विभाजित करते
हैं, उन सोमदेव (चन्द्रमा) को नमस्कार है। (इसका तात्पर्य यह

है कि श्राद्धादि कार्यके लिए कालकी अपेक्षा होती है, अकालमें 'स्वाहा', 'स्वधा' इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक देवलोक एवं पितृलोकके वासियोंको हव्य-कव्यादि प्रदान करना निषिद्ध है। चन्द्रमा ही उस कालके विभाजन-कर्त्ता हैं। वे ही हम सब प्रजाओंके अधिपति हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे अनुकूल हों॥१२॥

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः
कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्वीपाख्यापनो ज्वलन इवापरः
सुशष्परोचिषा दिशो विराजयति॥१३॥

मदिरा-समुद्रके बाहरी भागमें उसके परिमाणसे दुगुना अर्थात् आठ लाख योजन विस्तृत कुशद्वीप है। पहले जिस शाल्मली द्वीपके विषयमें बतलाया था, वह द्वीप जिस प्रकार अपने समान मदिरा-सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार कुशद्वीप भी अपने समान घृत-सागरसे घिरा हुआ है। कुशद्वीपमें देवनिर्मित एक कुशका वृक्ष है। यह दूसरे अग्निदेवके समान है, जिसकी कोमल शिखाओंसे सारी दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं। इसी कुशनामक वृक्षके कारण ही कुशद्वीप नाम हुआ है॥१३॥

तद्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन् हिरण्यरेता नाम स्वं
द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत्
वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तसत्यव्रतविप्रनामदेवनामभ्यः॥१४॥

हे राजन्! प्रियव्रत-पुत्र हिरण्यरेता इस द्वीपके अधिपति थे। उन्होंने भी इस द्वीपको सात भागोंमें विभाजितकर उन्हें अपने सात पुत्रोंको प्रदान कर दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिए वनमें चले गये। हिरण्यरेताके पुत्रोंके नाम थे—वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, सत्यव्रत, विप्रनाम और देवनाम॥१४॥

वभ्रुतेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव।
वभ्रुश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण
इति। रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता
मन्त्रमालेति॥१५॥

इन सात द्वीपोंमें सात सीमान्त पर्वत हैं, जिनके नाम हैं—वभ्रु, चतुःशृङ्ग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण तथा रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला—ये सात प्रसिद्ध नदियाँ हैं॥१५॥

यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदःस्वरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते॥१६॥

कुशद्वीपवासी कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक नामके चार वर्णोंमें विभाजित हैं। ये नदियोंमें स्नान करते हैं और पवित्र होकर भगवद्-भजनके अनुकूल कर्म कौशलसे भगवान्की अग्नि-स्वरूपमें उपासना करते हैं॥१६॥

परस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट्।

देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यज इति॥१७॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे अग्ने! आप साक्षात् परमब्रह्म श्रीहरिके अङ्ग-स्वरूप हैं। आप श्रीहरिको यज्ञीय हवि पहुँचाते हैं। हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि हम परमपुरुष भगवान्के अंश-स्वरूप इन्द्रादि देवताओंको जो हविष्य प्रदान करते हैं, आप वह हविष्य देवताओंके अंशी भगवान्को समर्पित कर दें॥१७॥

तथा घृतोदाद् बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः समानेन क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तः वृत्तो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन। यस्मिन् क्रौञ्चनामा पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्त्तक आस्ते॥१८॥

घृत सागरके बाहरी भागमें क्रौञ्चद्वीप है। इसका परिमाण घृत-सागरसे दुगुना अर्थात् सोलह लाख योजन है। कुशद्वीप जिस प्रकार घृत सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार क्रौञ्चद्वीप भी अपने ही समान विस्तारवाले क्षीर-सागर (दुग्ध-सागर) से घिरा हुआ है। क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामका एक विशाल पर्वत है। इसी पर्वतराजके कारण इस द्वीपका नाम क्रौञ्च पड़ा॥१८॥

योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनाभिषिच्यमानो
भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव ॥ १९ ॥

यद्यपि श्रीस्वामीकार्तिकेयके अस्त्र-प्रहारसे इस क्रौञ्चप्रदेशके
तटप्रदेश एवं लता कुञ्जादि विनष्ट हो गये थे, तथापि अपने चारों
ओर स्थित क्षीरसागरके जलसे अभिसिञ्चित होने और वरुणदेव
द्वारा सुरक्षित होनेसे यह पर्वत निर्भय हो गया ॥ १९ ॥

तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे द्वीपे वर्षाणि
सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त ऋक्थादीन् वर्षपान्
निवेश्य स्वयं भगवान् भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य
हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम ॥ २० ॥

प्रियव्रत-पुत्र घृतपृष्ठ इस द्वीपके अधिपति हैं। वे स्वयं बड़े
ज्ञानवान् हैं। घृतपृष्ठने अपने द्वीपको अपने सात पुत्रोंके नामानुसार
सात वर्षोंमें विभाजित कर दिया और स्वयं सभीके आत्म-स्वरूप,
परम कल्याणमय, परम गुणी भगवान् श्रीहरिके चरण-कमलोंमें
शरणागत हो गये थे ॥ २० ॥

आत्मा मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति
घृतपृष्ठसुताः। तेषां वर्षागिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः। शुक्लो
वर्द्धमानो भोजन उपबर्हणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति। अभया
अमृतौघा आर्यका तीर्थवती रूपवती पवित्रवती शुक्लेति ॥ २१ ॥

घृतपृष्ठके सातों पुत्रोंके नाम हैं—आत्मा, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा,
भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति। इनके सातों वर्षोंकी (देशोंकी)
सीमाओंको सूचित करनेवाले सात पर्वतोंके नाम हैं—शुक्ल, वर्द्धमान,
भोजन, उपबर्हण, नन्द, नन्दन, एवं सर्वतोभद्र और सात नदियोंके
नाम हैं—अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती
और शुक्ला ॥ २१ ॥

यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषर्षभद्रविणदेवकसंज्ञा
वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते ॥ २२ ॥

क्रौञ्चवासियोंके चार वर्ण हैं—पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक। ये सभी नदियोंके पवित्र जलका सेवन करते हैं तथा इनके जलसे अञ्जलि भरकर भगवान्की जलमय मूर्तिकी उपासना करते हैं ॥२२॥

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवःस्वरः।

ता नः पुनन्त्वमीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ॥ २३ ॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे जल! आपको भगवान्से सामर्थ्य प्राप्त है, इसलिए आप भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं। आप अपने स्वरूपसे ही पापोंका नाश करनेवाले हैं। हम आपका स्पर्श करते हैं, आप हमारे शरीरको पवित्र करें ॥२३॥

एवं पुरस्तात् क्षीरोदात् परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन दधिमण्डोदेन परिवृत्तः यस्मिन् हि शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशकः। यस्य ह महासुरभिगन्धस्तद्-द्वीपमनुवासयति ॥ २४ ॥

इस क्षीर-समुद्रके बाहरी भागमें शाकद्वीप है। इस द्वीपका विस्तार बत्तीस लाख योजन है। पहले जिस क्रौञ्च द्वीपके विषयमें बतलाया गया था कि वह अपने ही समान विस्तारवाले क्षीर सागरसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार शाकद्वीप भी दधि-समुद्र से परिवेष्टित है। यहाँ शाक नामका महावृक्ष होनेके कारण इस द्वीपका नाम शाकद्वीप है। इस महावृक्षकी मनोहर सुगन्धसे सम्पूर्ण शाकद्वीप सुवासित हो रहा है ॥२४॥

तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः। सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजववेपमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान् निधाप्याधि-पतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश ॥ २५ ॥

इस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतके पुत्र मेधातिथि थे। उन्होंने इस द्वीपको अपने सात पुत्रों—पुरोजव, मनोजव, वेपमान, धूम्रानीक,

चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधारके नामानुसार सात वर्षोंमें विभक्त कर दिया और प्रत्येकको एक-एक वर्षका अधिपति नियुक्त कर वे स्वयं भगवान् अनन्तदेवमें अपने चित्तको अर्पितकर तपस्याके लिए तपोवनमें चले गये॥२५॥

एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति। अनघा आयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति॥ २६॥

इन सात वर्षोंमें ईशान, उरुशृङ्ग, शतकेसर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महानस नामक सीमा-पर्वत हैं और अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चनदी, सहस्रस्रुति और निजधृति नामकी सात नदियाँ हैं॥२६॥

तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते॥ २७॥

इस वर्षमें रहनेवाले ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत, और अनुव्रत नामक चार वर्णोंके पुरुष प्राणायामादि द्वारा रजोगुण एवं तमोगुणको विनष्ट करके परम समाधि योगसे वायुरूपमें श्रीभगवान्की आराधना करते हैं॥२७॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः।

अन्तर्यामीश्वरः साक्षात् पातु नो यद्वशे स्फुटम्॥ २८॥

वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—जो प्राण, अपान आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंसे प्राणियोंके अन्तरमें प्रविष्ट होकर समस्त प्राणियोंको धारण करते हैं, जो सभीके अन्तर्यामी साक्षात् ईश्वर हैं, यह परिदृश्यमान् जगत् जिनके अधीन है, वे प्रभु हमारी रक्षा करें॥२८॥

एवमेव दधिमण्डोदात् परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपक्लिप्तः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतः। यस्मिन् बृहत् पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम्॥ २९॥

इस प्रकार दधि-समुद्रके बाहरी भागमें पुष्कर द्वीप है। इस द्वीपका परिमाण शाकद्वीपके परिमाणसे दुगुना है। यह चारों ओर अपने ही समान विस्तारवाले स्वादिष्ट जलके सागरसे घिरा हुआ है। इस द्वीपमें एक विशाल पुष्कर (कमल) है; उसमें अग्निकी शिखाके समान असंख्य निर्मल स्वर्णिम कमलकी पंखुड़ियाँ दीप्त हो रही हैं। इस कमलपत्रको ज्ञानीजन पद्मयोनि ब्रह्माका आसन मानते हैं॥२९॥

तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलो-
ऽयुतयोजनोच्छ्रायायामः। यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि
लोकपालानामिन्द्रादीनाम्। यदुपरिष्ठात् सूर्यरथस्य मेरुं परिक्रामतः
संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति॥ ३० ॥

इस द्वीपके बीचोंबीच पूर्व और पश्चिम वर्षोंकी सीमाका निर्धारण करनेवाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है। उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई दस हजार योजन है। इस पर्वतके चारों ओर इन्द्रादि लोकपालोंकी चार पुरियाँ हैं। इसपर मेरु पर्वतके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यके रथका संवत्सरात्मक चक्र उत्तरायण एवं दक्षिणायन कालका भोग करता हुआ देवताओंकी चारों पुरियोंके ऊर्ध्वभागमें लौकिक चक्र (कोल्हूके पहिये) के समान घूमता है॥३०॥

तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रियव्रतो वीतिहोत्रो नाम तस्यात्मजौ
रमणकधातकनामानौ वर्षपती नियुज्य स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील
एवास्ते॥ ३१ ॥

प्रियव्रतके पुत्र वीतिहोत्र इस द्वीपके अधिपति हैं। वीतिहोत्रने रमणक और धातक नामके अपने दोनों पुत्रोंको पूर्व एवं पश्चिम वर्षोंका अधिपति नियुक्त कर दिया और स्वयं अपने बड़े भाई मेधातिथिके समान भगवद्-उपासनामें लग गये॥३१॥

तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाराधयन्ति
इदञ्चोदाहरन्ति॥ ३२ ॥

इस वर्षके निवासी स्वयम्भू-मूर्ति श्रीब्रह्मारूप भगवान्की सकाम भावसे वन्दनादि द्वारा आराधना करते हैं। वे इस प्रकार स्तुति करते हैं—॥३२॥

यत् तत् कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत्।

भेदेनैकान्तमद्वैतं तस्मै भगवते नमः इति॥३३॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चिताम् एति—अर्थात् जो एक सौ जन्मों तक वर्णाश्रम धर्मके नियमोंका निष्ठासे पालन करता है, उसे ब्रह्मा-पदकी प्राप्ति होती है—इस भागवतीय वचनोंके अनुसार जो (ब्रह्मा) कर्मफलोंके मूर्ति स्वरूप हैं, जिनसे वेद प्रकाशित होते हैं, भगवान्के प्रति ऐकान्तिक निष्ठा होनेके कारण जो उनसे अभिन्न हैं; सेव्य-सेवक भावसे जिन ब्रह्माजीकी स्तुति करना कर्तव्य है, हम उन्हीं ब्रह्मामूर्ति भगवान्को नमस्कार करते हैं॥३३॥

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्लिप्तः॥३४॥

तत्पश्चात् इस शुद्ध जल-सागरके बाहरी भागमें सूर्यादिके आलोकसे युक्त और आलोकसे रहित स्थान है। इन दोनों स्थानोंके विभाजनके लिए इन दोनोंके बीचोंबीच लोकालोक पर्वत बना हुआ है॥३४॥

यावन्मानसोत्तरमेवोर्न्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यादर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित् पुनः प्रत्युपलभ्यते; तस्मात् सर्वसत्त्वपरिहृतासीत्॥३५॥

सुमेरु पर्वतके मध्यसे मानसोत्तर पर्वत तक जो भूमि है, शुद्धजल सागरके बाहरी भागमें भी उतनी ही भूमि है। वहाँ बहुत-से प्राणी रहते हैं। इसके बाद लोकालोक पर्वत है। इस पर्वतसे शुद्ध दधि-समुद्र तक एक काञ्चनमयी भूमि है। यह भूमि दर्पणके समान स्वच्छ है। उसमें कोई वस्तु गिर भी जाय, तो वह मिलती नहीं है। इसलिए सभीने इस भूमिका त्याग कर रखा है॥३५॥

लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकाऽलोकस्या-
न्तर्वर्तिनावस्थाप्यते ॥ ३६ ॥

लोकालोक पर्वत सूर्यादिसे प्रकाशित एवं अप्रकाशित स्थानोंके मध्यमें स्थित है। दोनों स्थानोंको पृथक्-पृथक् करनेके कारण ही इसे लोकालोक पर्वत कहा जाता है ॥ ३६ ॥

स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितः यस्मात् सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनास्त्रीन् लोकानावितन्वाना न कदाचित् पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः ॥ ३७ ॥

परमेश्वरने इस लोकालोक पर्वतको भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनों लोकोंकी बाहरी सीमाके रूपमें संस्थापित किया है। सूर्यादि लोकसे ध्रुवलोक तक समस्त ज्योतिर्मय मण्डलकी किरणें चारों दिशाओंमें व्याप्त मण्डलके अन्तर्गत स्थित त्रिलोकीमें व्याप्त हो रही हैं, लेकिन इस लोकालोकके प्रतिबन्धक होनेके कारण ये किरणें कभी इस मण्डलके बाहर नहीं पहुँच पातीं। यह पर्वत ध्रुवलोकसे भी ऊँचा और बहुत दूर तक फैला हुआ है ॥ ३७ ॥

एतावान् लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः
कविभिः। स तु पञ्चाशत्कोटिगुणितस्य भूगोलकस्य तुरीयभागोऽयं
लोकालोकाचलः ॥ ३८ ॥

विद्वानोंने परिमाण, लक्षण और आकारके अनुसार लोक-रचनाका इतना ही विस्तार बतलाया है। सम्पूर्ण भूगोल (भू-सम्बन्धित ब्रह्माण्ड-गोलोक)का व्यास पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन इस लोकालोक पर्वतका विस्तार है ॥ ३८ ॥

तदुपरिष्ठाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणा विनिवेशिता ये
द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोक-
स्थितिहेतवः ॥ ३९ ॥

लोकालोक पर्वतके ऊपर जगद्गुरु ब्रह्माजीने चार दिशाओंमें चार गजपति नियुक्त किये हैं, जिनके नाम हैं—ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन और अपराजित। ये चारों दिग्गज सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके कारण-रूप हैं अर्थात् लोकोंको धारण किये हुए हैं ॥३९॥

तेषां स्वविभूतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानाञ्च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान् परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्दोर्दण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन् गिरिवरे समन्तात् सकललोकस्वस्तय आस्ते ॥४०॥

परमैश्वर्यरूप, परव्योमपति, महापुरुष, अन्तर्यामी भगवान् अपने विशुद्ध-सत्त्वमय अप्राकृत रूपको प्रकटित कर निज पार्षदोंमें सर्वश्रेष्ठ विश्वक्सेन आदिके साथ स्वांशभूत दिग्गज और महेन्द्रादि लोकपालोंकी शक्तियोंको बढ़ाने और समस्त जीवोंके कल्याणके लिए गिरिवर लोकालोक पर्वतपर विराजमान रहते हैं। इस स्थानपर भगवान्के 'भग' शब्द वाच्य धर्म, ज्ञान और वैराग्यादि छह प्रकारके ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्ट महासिद्धियाँ प्रकाशित होती हैं। श्रीभगवान् अपने चार भुजदण्डोंमें शङ्ख, चक्रादि आयुधोंसे अलङ्कृत होकर परम शोभाको धारण करते हैं ॥४०॥

आकल्पमेष एवं गतो भगवानात्मयोगमायाविरचितविविध-लोकयात्रागोपीथायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार यह विविध लोकयात्रा भगवान्की चिच्छक्ति स्वरूपिणी योगमाया द्वारा विरचित है। भगवान् अपनी शक्तिसे विरचित इन लोकोंके संरक्षणके लिए स्वयं अन्तर्यामी रहकर बाहरसे विविध ऐश्वर्यमयी श्रीमूर्तियोंको प्रकटित करते हैं ॥४१॥

योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणञ्च व्याख्यातं यद्वहि-लोकालोकाचलात्, ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति ॥ ४२ ॥

हे राजन्! लोकालोक पर्वतके बाहर जिस अलोक वर्षका मैंने वर्णन किया है; वह मध्य भाग तक विस्तृत है। लोकालोकके अन्तवर्त्ती भूभागका जितना विस्तार है, उसीके समान अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन अलोक वर्षका परिमाण कहा गया है। विद्वानोंका कहना है कि इस अलोक वर्षके बाद मुमुक्षुओंका गन्तव्य स्थान है। यह स्थान रज एवं तमो मलसे रहित होनेके कारण परम विशुद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण जब द्विजपुत्रको लेने गये थे, तब उन्होंने अर्जुनको यह स्थान दिखलाया था ॥४२॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।

सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ ४३ ॥

ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य स्थित है। भूलोक एवं भुवर्लोकका मध्यवर्त्ती जो भाग है, वही अन्तरीक्ष है। सूर्य एवं ब्रह्माण्ड-गोलोकके मध्यस्थानका परिमाण पच्चीस करोड़ योजन है ॥४३॥

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत् ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः।

हिरण्यगर्भ इति यद्विरण्याण्डसमुद्भवः ॥ ४४ ॥

इस अचेतन अर्थात् मृत अण्डमें सूर्य वैराजरूप (स्थूल अथवा समष्टि शरीरमें अर्थात् सभी जीवात्माओंमें) में प्रविष्ट हैं, इसलिए उनका नाम मार्तण्ड है। सूर्यको हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है क्योंकि सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर (भौतिक शरीर अर्थात् विशाल भौतिक गोलक) महत्-तत्त्व शरीर ज्योतिर्मय हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से उनका वैराजरूप स्थूल शरीर प्रकट हुआ है ॥४४॥

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा।

स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥ ४५ ॥

हे महाराज! सूर्यके द्वारा ही दिशाएँ, आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, भोग-स्थान, मोक्ष-स्थान, नरक, अतलादि समस्त लोकों तथा समस्त भागोंका विभाग होता है ॥४५॥

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपखगवीरुधाम्।
 सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे समुद्रद्वीपवर्णनं नाम विंशोऽध्यायः।

सूर्य ही समस्त देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, लता, वृषादि
 समस्त जीवोंकी समष्टिके आधाररूप हैं, वे ही समस्त जीवोंके
 अभिन्नात्म (जीवन एवं आत्मा) स्वरूप हैं और वे ही नेत्रेन्द्रियके
 अधिष्ठाता हैं। सूर्यकी उपस्थितिमें ही सब देख सकते हैं, इसलिये
 वे दृग् अर्थात् दृष्टिके ईश्वर कहे जाते हैं ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके बीसवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

कालचक्रमें भ्रमण करते हुए सूर्यकी गतिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

एतावानेव भूवलयस्य सन्निवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भूमण्डलका इतना ही परिमाण (लम्बाईमें पचास करोड़ और ऊँचाईमें पच्चीस करोड़ योजन) है, जो मैंने तुम्हें परिमाण और लक्षणके साथ बतला दिया ॥ १ ॥

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनाम्। ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम् ॥ २ ॥

गेहूँके दानेके दो दलोंमेंसे निचले दलका परिमाण जान लिया जाय तो उसके आधारपर ऊपरी दलका परिमाण भी निर्दिष्ट किया जा सकता है, इसी प्रकार स्वर्ग-तत्त्वादिको जाननेवाले पण्डित भौगोलिक परिमाणके अनुसार स्वर्ग-मण्डलका परिमाण बतलाते हैं। भूगोलक एवं स्वर्गलोकका मध्यवर्ती स्थान आकाश है, इसे अन्तरिक्ष (बाह्य आकाश) भी कहते हैं। यह भूगोलकके ऊपर और स्वर्गलोकके नीचे अवस्थित है ॥ २ ॥

यन्मध्यगतो भगवांस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा। स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभि-
रान्द्यक्षैप्रसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमस्थानेषु यथासवनमभिपद्यमानो
मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते ॥ ३ ॥

आकाशके मध्यभागमें स्थित ताप प्रदानकारी ग्रहोंके राजा भगवान् सूर्य अपने तेज एवं अङ्ग-कान्तिके प्रभावसे तीनों लोकोंको उद्दीप्त एवं प्रकाशित करते हैं। उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत्—इन तीनों नामोंके अनुसार उनकी मन्द, तीव्र और समान—तीन गतियाँ

हैं। सूर्य इन त्रिविध गतियोंसे समयके अनुसार मकरादि राशियोंमें आरोहण, कर्कादिमें अवरोहण और विषुवत् आदि समान स्थानोंपर विचरण करते हुए दिन एवं रात्रिको बड़ा, छोटा एवं समान करते हैं॥३॥

यदा मेषतुल्योर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति। यदा वृषभादिषु पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्द्धन्ते। हसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु॥४॥

सूर्य जब मेष एवं तुला राशिपर अवस्थित होते हैं, तब दिन और रात समान होते हैं। जब वे वृषभादि पाँच राशियोंमें विचरण करते हैं, उस समय प्रत्येक मासमें एक-एक घड़ी करके रात्रिमान कम होता जाता है और दिन बढ़ते जाते हैं॥४॥

यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु राशिषु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति॥५॥

जिस समय वे वृश्चिक इत्यादि पाँच राशियोंमें भ्रमण करते हैं, तब दिन और रातका परिमाण विपरीत हो जाता है अर्थात् दिन क्रमशः छोटे होते जाते हैं और रात्रियाँ क्रमशः बड़ी होती जाती हैं॥५॥

यावदक्षिणायनमहानि वर्द्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः॥६॥

इस प्रकार सूर्य जब दक्षिणायनकी ओर जाते हैं, तब दिन बढ़ते हैं और जब उत्तरायणकी ओर चलते हैं, उस समय रात्रियाँ बढ़ती हैं॥६॥

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि च योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्त्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्याम् मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्धारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानि भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम्॥७॥

हे राजन्! सूर्यकी इस प्रकारकी गतिके आधारपर पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मानसोत्तर पर्वतकी चारों दिशाओंमें मण्डलाकार

रूपमें भ्रमण करते हुए सूर्यका परिक्रमा पथ नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तृत है। इस पर्वतपर सुमेरुके पूर्वकी ओर—इन्द्रकी देवधानी, दक्षिणमें यमकी संयमनी, पश्चिममें वरुणकी निम्लोचनी और उत्तर दिशामें चन्द्रमाकी विभावरी नामकी पुरी है। इन सभी पुरियोंमें काल-विशेषानुसार सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त और अर्द्ध रात्रि होते हैं। उदयादिसे ही जीवोंकी कार्योंमें प्रवृत्ति और उनसे ही निवृत्ति होती है॥७॥

तत्रत्यानां दिवसमध्यगत एव सदादित्यस्तपति सव्येन चलन् दक्षिणेन करोति। यत्रोदेति तस्य समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति ते तत्र गतं न पश्यन्ति येऽस्तमनुपश्येरन्॥८॥

जो लोग सुमेरुपर रहते हैं, उनके लिए सूर्य सदैव मध्याह्न कालमें ही ताप प्रदान करते हैं। यद्यपि वे अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी ओर जाते हुए स्वाभाविक गतिके अनुसार सुमेरुको बाईं ओर रखकर चलते हैं, तथापि दक्षिणावर्त्त-प्रवर्त्तक-प्रवाह नामक वायु द्वारा घुमाये जाते हुए ज्योतिष्चक्रके कारण वे प्रतिदिन सुमेरुको दाईं ओर रखकर जाते हुए प्रतीत होते हैं। वे जिस स्थानपर लोगोंके सम्मुख पहले उदित होते हैं, ठीक उसी समय विपरीत दिशामें रहनेवाले लोगोंके सामने अस्त होते दिखायी देते हैं। पुनः जब वे आकाशके मध्य अवस्थित होकर जिस स्थानपर प्राणियोंको पसीना-पसीना कर देनेवाला ताप प्रदान कर रहे होते हैं—ठीक उसी समय उस स्थानकी विपरीत दिशाके लोगोंके लिए मध्यरात्रि होती है। अतएव जहाँ रहकर लोग सूर्यको अस्ताचलगामी होते देख रहे हैं, वे ही लोग विपरीत दिशा (चन्द्रमाके निवास-स्थान सौम्य दिशा)में जायें, तो उन्हें सूर्यास्त दिखायी नहीं देगा॥८॥

यदा चैन्द्रयाः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशभिर्घटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्द्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति। एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीञ्च पुनः॥९॥

सूर्य जब इन्द्रपुरीसे यमपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं, तब पंद्रह घड़ी (छह घंटों) में वे सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख पच्चीस हजारसे अधिक (२,३७,७५,०००) योजन पार करके यमपुरीमें पहुँचते हैं। वहाँसे वे वरुणकी पुरी वारुणीसे चन्द्रदेवकी पुरीमें और चान्द्रीसे (विभावरीसे) पुनः इन्द्रकी पुरीकी ओर लौटते हैं ॥९॥

तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वाभिनिम्लोचन्ति ॥ १० ॥

इसी प्रकार चन्द्रादि अन्यान्य ग्रहादि भी नक्षत्रोंके साथ ज्योतिष्चक्रमें उदित होते हैं और नक्षत्रोंके साथ ही अस्त हो जाते हैं ॥१०॥

एवं मुहूर्त्तेन चतुर्दशलक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौररथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्त्तते पुरीषु ॥ ११ ॥

इस प्रकार सूर्यदेवका त्रयीमय अर्थात् वेदमय रथ एक मुहूर्त्तमें चौत्तीस लाख आठ सौ (३४,००,८००) योजन की गतिसे चलता हुआ इन चारों पुरियोंमें भ्रमण करता है ॥११॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्णेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति। तस्याक्षो मेरोर्मूर्द्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति ॥ १२ ॥

इस सौररथमें एक चक्र है जिसे संवत्सर कहा जाता है। बारह महीने इसके बारह 'अर' अर्थात् प्रान्तभाग हैं, छह ऋतुएँ छह नेमियाँ अर्थात् अग्रभाग हैं, तीन चातुर्मास इसके तीन भागोंमें विभाजित नाभि अर्थात् मध्यभाग हैं। इसके अक्ष (अर्थात् धुरी) का एक सिरा सुमेरु पर्वतकी चोटीपर तथा दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर टिका हुआ है। रथचक्र इस अक्षमें संलग्न होकर कोल्हूके पहियेके समान दिन-रात घूमता रहता है ॥१२॥

तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमाणेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः ॥ १३ ॥

इस चक्रकी और एक धुरी है, जिसका पूर्व भाग सुमेरु मानसोत्तरकी लम्बाई एक करोड़ सत्तावन लाख पचास हजारके (१,५७,५०,०००) विस्तारवाली धुरीसे जुड़ा हुआ है और इस दूसरी धुरीका विस्तार प्रथम अक्षसे चौथाई अर्थात् उन्तालीस लाख साढ़े सैंतीस हजार (३९,३७,५००) योजन है। तैलयन्त्रके (धुरेके) समान इसका ऊपरी भाग वायुकी रस्सी द्वारा ध्रुवलोकसे संलग्न है ॥१३॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान्
रविरथयुगः यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तरुणयोजिता वहन्ति
देवमादित्यम् ॥ १४ ॥

हे महाराज! सौर रथमें बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लम्बा और इसका एक चौथाई भाग अर्थात् नौ लाख योजन चौड़ा है। रथके युग (जूआ) की लम्बाई भी नौ लाख योजन है। इसमें अरुणदेवने गायत्री आदि (गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् तथा पंक्ति) सातों छन्दोंके नामपर सात अश्व जोत रखे हैं, ये अश्व ही आदित्यदेवको वहन करते हैं ॥१४॥

पुरस्तात् सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि
किलास्ते ॥ १५ ॥

अरुणदेव सूर्य-रथके अश्वोंको हाँकने अर्थात् सारथि-कर्ममें नियुक्त होकर सूर्यदेवके सम्मुख रहते हुए भी अपनी बाईं ओरसे पीछे मुड़कर उन्हें देखते रहते हैं ॥१५॥

तथा बालिखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं
सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति ॥ १६ ॥

अँगूठेके आकारके साठ हजार बालिखिल्य ऋषि भगवान् सूर्यके लिए स्तुति करनेके लिए नियुक्त हैं। वे आगे रहकर सूर्यदेवकी स्तुति करते हैं ॥१६॥

तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा
इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं
नाना नामानं पृथङ्नामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते ॥ १७ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस
और देवता आदि जो एक-एक करके संख्यामें चौदह होते हैं,
किन्तु जोड़ेमें रहनेके कारण सात भागोंमें विभक्त हैं—ये प्रत्येक
मासमें अलग-अलग नाम धारण करके पृथक्-पृथक् कर्मोंके द्वारा
प्रत्येक मासमें विभिन्न नामधारी सूर्य तथा सर्वान्तर्यामी भगवान्की
उपासना करते हैं ॥ १७ ॥

लक्षोत्तरसार्द्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवल्यस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं
द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां
संहितायां वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रे श्रीसूर्यरथवर्णनं
नामैकविंशोऽध्यायः ।

हे महाराज! इस प्रकार सूर्य देव नौ करोड़ इक्यावन लाख
योजन विस्तारवाले भूमण्डलकी एक क्षणमें दो हजार दो योजनकी
गतिसे परिक्रमा करते हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके इक्कीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

द्वाविंशोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन

श्रीराजोवाच—

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवञ्च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो
राशीनामभिमुखं प्रचलितञ्चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं
कथमनुमिमीमहीति ॥ १ ॥

महाराज परीक्षितने कहा—हे प्रभो! आपने यह बतलाया
है—भगवान् आदित्य जिस समय ध्रुवलोक और सुमेरु पर्वतको
दायें रखकर चलते हैं, ठीक उसी समय वे राशियोंकी ओर
अभिमुख होते हुए उन्हें अपने बायें रखकर आगे बढ़ते हैं—एक
ही वस्तुकी एक ही साथ दोनों दिशाओंमें गति सम्भव नहीं है।
अतः हम यह किस प्रकार मान सकते हैं? ॥१॥

स होवाच—

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां
गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वात्। एवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन
कालचक्रेण ध्रुवं मेरुञ्च प्रदक्षिणतः परिधावता सह परिधावमानानां
तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे
चोपलभ्यमानत्वात् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! कुम्हारके घूमते हुए
चाकपर बैठी हुई चींटियाँ चाकके घूमनेपर उसके साथ ही घूमती
प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तवमें उनकी गति चाककी गतिसे भिन्न
होती है। कभी वे चाकके एक भागमें दिखायी देती हैं और
कभी दूसरे भागमें, इसी प्रकार नक्षत्र एवं राशियाँ भी सुमेरु एवं
ध्रुवलोकको अपने दायीं ओर रखकर कालचक्रके साथ भ्रमण करते

हैं। इसी कारण इन ग्रहोंकी गति कालचक्रके अनुरूप दिखायी देती है, परन्तु कालचक्रके अन्तर्गत दौड़नेवाले सूर्यादि एवं अन्य ग्रहोंकी गति उनकी गतिसे भिन्न है। कालभेदके कारण सूर्यादि एवं अन्य ग्रह विभिन्न राशियों एवं नक्षत्रोंमें भिन्न गतिके साथ स्वीकृत हुए हैं ॥२॥

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षात्रारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥ ३ ॥

जगत्के मूलकारण आदिपुरुष भगवान् नारायण हैं। वेदज्ञ पण्डितोंके द्वारा वेद-स्तुतिसे उपासना किये जानेपर वे सूर्यरूपमें अवस्थित होकर लोकहितार्थ कर्मशुद्धिके निमित्तभूत अपने ऋक्-यजु-साम त्रयीरूप काल विग्रहको बारह भागोंमें विभाजित करके वसन्तादि छह ऋतुओंमें प्राणियोंके कर्मभोगके अनुसार शीत-उष्णादि गुणोंका विधान करते हैं ॥३॥

तमेनमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति ॥ ४ ॥

इस प्रकार इस लोकमें वर्णाश्रम धर्मका अनुसरण करनेवाले लोग वेदोक्त अग्निहोत्रादि नानाविध छोटे-बड़े कर्मोंसे सूर्यरूपमें अवस्थित आदिपुरुष भगवान् नारायणकी इन्द्रादि देवताओंके रूपमें तथा अष्टाङ्ग योगादि द्वारा अन्तर्यामी परमात्मरूपमें श्रद्धापूर्वक उपासना करके अनायास ही आत्मकल्याण कर लेते हैं ॥४॥

अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञकान् संवत्सरावयवान् मासः पक्षद्वयं सपादर्क्षद्वयं दिवा नक्तञ्चेद्युपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत, स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः ॥ ५ ॥

समस्त लोकोंके आत्मस्वरूप भगवान् नारायणके सान्निध्यके कारण आदित्यदेव स्वर्गलोक एवं मर्त्यलोकके मध्यवर्ती आन्तरीक्षोंके (नक्षत्रोंके) मध्यस्थल कालचक्रमें स्थित मेषादि राशियोंमें अवस्थित होकर द्वादश राशियोंके नामानुसार बारह मासोंका भोग करते हैं। ये बारह महीने संवत्सरके अवयव (अङ्ग) हैं। चान्द्रमानके अनुसार प्रत्येक मास दो पक्षका, पितृमानसे एक रात और एक दिनका तथा सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका होता है। सूर्यदेव जितने कालमें संवत्सरके छठे भाग अर्थात् दो राशिका भोग करते हैं, उस कालको ऋतु कहा जाता है। यह ऋतु भी संवत्सरका ही एक अवयव है ॥५॥

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्या प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते ॥६॥

इस प्रकार सूर्यदेव जितने समयमें आकाश-मण्डलके आधे भागका मार्ग तय करते हैं अर्थात् छह महीनोंका भोग करते हैं, उतना समय अयन कहलाता है ॥६॥

अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कात्स्न्येन स ह भुञ्जीत, तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिदावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्विशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति ॥७॥

सूर्यदेव अपनी मन्द, शीघ्र एवं समान गतिसे जितने समय तक स्वर्गमण्डल, भूमण्डल और नभमण्डलका सर्वतोभावसे भोग करते हैं अर्थात् उनका एक चक्कर लगाते हैं, उतने समयको पण्डितगण संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर—इन पाँच नामोंसे जानते हैं ॥७॥

एवं चन्द्रमा अर्कगर्भस्तिभ्य उपरिष्ठाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं स्वपादक्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमुग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते ॥८॥

सूर्य मण्डलसे एक लाख योजन (भूतलसे दो लाख योजन) ऊपरकी दूरीपर चन्द्र-ग्रह दिखायी देता है। चन्द्रदेव गतिमय

सूर्यसे भी अधिक उग्र आचरणवाले हैं। वे अपनी द्रुत गतिसे एक मासमें सूर्यके एक वर्षका, सवा दो दिनोंमें सूर्यके एक मासका और एक-एक दिनमें सूर्यके एक-एक पक्षका भोग कर लेते हैं ॥८॥

अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणामपक्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते ॥ ९ ॥

शुक्ल-पक्षमें बढ़ती कलाओं द्वारा चन्द्र शुक्ल पक्षमें देवताओंके लिए दिन और पितरोंके लिए रात्रि तथा कृष्ण-पक्षमें घटती कलाओं द्वारा देवताओंके लिए रात्रि और पितरोंके लिए दिन उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार तीस मुहूर्तोंमें वे एक-एक नक्षत्रोंको पार करते हैं। अमृतमय और अन्नमय होनेके कारण वे समस्त जीवोंके प्राण हैं। जीवोंके जीवनके कारण उन्हें 'जीव' भी कहा जाता है ॥९॥

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात् सर्वमय इति वर्णयन्ति ॥ १० ॥

सोलह कलाओंसे युक्त भगवद्-विभूतिरूप चन्द्रमा मनके अधिष्ठाता रूपमें मनोमय, ओषधि-पति रूपमें अन्नमय और समस्त प्राणियोंके जीवन स्वरूप होनेके कारण अमृतमय हैं। वे देव, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष-लतादि सभीके प्राणोंका पोषण करते हैं, अतएव पण्डित उन्हें 'सर्वमय' कहते हैं ॥१०॥

तत उपरिष्ठादिद्वलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान्की इच्छासे चन्द्रमण्डलके दो लाख योजन (भूतलसे पाँच लाख योजन) ऊपर कालचक्रमें कई नक्षत्र नियुक्त हैं। ये सुमेरु पर्वतको दाईं ओर रखकर भ्रमण करते हैं (सूर्यादि ग्रहोंके

समान इनकी भिन्न-भिन्न गति नहीं है)। अभिजित् नक्षत्रके साथ नक्षत्रोंकी संख्या अट्ठाईस है ॥११॥

तत उपरिष्ठादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात् सहैवार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः ॥ १२ ॥

नक्षत्रमण्डलसे दो लाख योजन (भूतलसे सात लाख योजन) ऊपर शुक्रग्रह वर्तमान है। सूर्यकी शीघ्र, मन्द एवं समान गतियोंके अनुसार शूक्र ग्रह कभी सूर्यके साथ-साथ रहता है एवं कभी उनके आगे अथवा पीछे चलता है। शुक्र वृष्टिके प्रतिबन्धक ग्रहोंका नाश कर देता है। इसके सञ्चारसे प्रायः वर्षा होती है। ज्ञानियोंका मानना है कि यह ग्रह प्राणियोंके लिए सर्वदा हितकारी है ॥१२॥

उशनसा बुधो व्याख्यातः। तत उपरिष्ठाद् द्विलक्षयोजनतो बुधः उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृत्। यदाकाद्व्यतिरिच्यते तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते ॥ १३ ॥

बुध ग्रहकी व्याख्या शुक्रग्रहके समान की जाती है, अर्थात् वे शुक्रके समान कभी सूर्यके आगे, कभी पीछे और कभी उनके साथ चलते हैं। शुक्र ग्रहके दो लाख योजन ऊपर (अर्थात् भूतलसे नौ लाख योजन ऊपर) ये चन्द्र-तनय बुध वर्तमान हैं। ये भी प्रायः सभी लोगोंके लिए मङ्गलकारी हैं। जब ये सूर्यकी गतिका उल्लङ्घन करते हैं—तब प्रबल आँधी, जलरहित बादल, अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि आदि अनेक प्रकारके भयोंके सूचक होते हैं ॥१३॥

अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन् द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः ॥ १४ ॥

बुध-मण्डलसे दो लाख योजन (अर्थात् भूतलसे ग्यारह लाख योजन) ऊपर मंगल ग्रह स्थित है। यदि यह वक्रगतिसे न चले,

तो यह तीन पक्षोंमें एक-एक करके बारह राशियोंको पार करता है। यह अशुभ ग्रह है और प्रायः दुःखकारी है ॥१४॥

तत उपरिष्ठाद्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं प्रचरति यदि न वक्रः स्यात् प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य ॥ १५ ॥

मङ्गलमण्डलके दो लाख योजन (भूतलसे तेरह लाख योजन ऊपर) बृहस्पति ग्रह है। यदि ये वक्रगतिसे न चलें तो एक-एक परिवत्सरमें एक-एक राशिको भोगते हैं। ये प्रायः ब्राह्मणोंके लिए शुभकारी होते हैं ॥१५॥

तत उपरिष्ठाद्योजनलक्षद्वयात् प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन् राशौ त्रिंशतं त्रिंशतं मासान् विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः ॥ १६ ॥

बृहस्पतिमण्डलसे दो लाख योजन (भूतलसे पन्द्रह लाख योजन) ऊपर शनैश्चर ग्रह दिखायी देते हैं। ये एक-एक राशियोंमें तीस-तीस महीने रहते हैं। सम्पूर्ण राशियोंको पार करनेमें इन्हें तीस अनुवत्सर लग जाते हैं। शनि ग्रह प्रायः सभीके लिए अशान्तिदायक है ॥१६॥

तत उत्तरस्मादृषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत् परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रामन्ति ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रवर्णने द्वाविंशोऽध्यायः ।

शनिमण्डलसे ग्यारह लाख योजनकी दूरी अर्थात् भूतलसे छब्बीस लाख योजन दूर सप्तर्षिमण्डल अवस्थित है। कश्यपादि सातों ऋषि जीवोंके मङ्गलका चिन्तन करते हुए विष्णुके परमपद ध्रुवलोककी प्रदक्षिणा करते हैं ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके बाईसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

त्रयोविंशोऽध्यायः

शिशुमार चक्र और उसके आश्रय
ध्रुवलोकका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अथ तस्मात् परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते। तस्य महानुभाव उपवर्णितः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! सप्तर्षि मण्डलके तेरह लाख योजनकी दूरीपर जो स्थान है, पण्डित उसे भगवान् विष्णुका परम पद कहते हैं। यहाँ उत्तानपादके पुत्र महाभागवत ध्रुव कल्पजीव्यरूपमें अभी भी विराजमान हैं। ध्रुव कल्प तक रहनेवाले समस्त जीवात्माओंके प्राणाधार हैं। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति कश्यप और धर्म—ये सब एक साथ मिलकर एक ही समय बड़े सम्मानके साथ ध्रुवको दायें रखकर उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। इस लोकमें ध्रुवकी भगवद्-आराधना और राज्य-पालनादिरूप माहात्म्यका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ ॥१॥

स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते ॥ २ ॥

अविश्रान्त, अव्यक्त गति भगवदात्मक काल जिन ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्गणोंको भ्रमण कराता है, परमेश्वरने उन सभी आन्तरिक्षों (ग्रह-नक्षत्रों) के आश्रयरूपमें ध्रुवलोकको नियुक्त कर रखा है।

ध्रुवलोक आधार-स्तम्भके समान एक स्थानपर स्थिर रहकर निरन्तर प्रकाशित हो रहा है॥२॥

यथा मेधीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्ति एवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परितः क्रामन्ति। नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति॥३॥

जिस प्रकार दाँव चलानेके समय अनाजको डंठलसे अलग करनेवाले बैलोंको क्रमशः दाँवके मध्यस्थानमें गड़े हुए मेधी-स्तम्भ अर्थात् खम्भेके पास, मध्य और दूर रखकर छोटी, बड़ी एवं मध्यम रस्सीसे नाथ दिया जाता है और वे अपने-अपने स्थानोंसे हटे बिना स्तम्भका मण्डलाकाररूपमें परिभ्रमण करते हैं, उसी प्रकार सूर्यादि ग्रह ऊपर और नीचेके स्थानोंके विभागके अनुसार इस कालचक्रमें ईश्वरके द्वारा नियुक्त होकर ध्रुवलोकका आश्रय लिये हुए हैं, जो वायु द्वारा घुमाये जाते हुए कल्पके अन्ततक अपनी-अपनी कक्षाओंमें उसके चारों ओर परिक्रमा करते रहते हैं। आकाशमें मेघ एवं बाजादि पक्षी पूर्वकृत कर्मोंका आश्रय लेकर जिस प्रकार वायुके अधीन रहकर नभोमण्डलमें परिभ्रमण करते हैं, कभी भी गिरते नहीं है, उसी प्रकार ये ग्रह भी पुरुषाधिष्ठित मायाके अधीन रहकर पूर्व कर्म निर्मित गतिके अनुसार भ्रमण करते हैं, पृथ्वीपर कभी गिरते नहीं। ये कल्पान्ततक ऐसे ही घूमते रहेंगे॥३॥

केचिदेतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति॥४॥

कुछ सिद्धान्तविदोंका कहना है कि यह ज्योतिष्कचक्र शिशुमाराकृति अर्थात् जलजन्तु विशेष (सूँस मछली) के रूपमें उपलक्षित होता

है। कोई-कोई वासुदेव श्रीकृष्णकी उपासनामें चित्त लगानेके लिए इसे उनका दृश्य-स्वरूप मानकर इसका ध्यान करते हैं ॥४॥

यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पस्तस्य लाङ्गुले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयस्तस्य दक्षिणावर्त्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राणि उपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति। पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः ॥५॥

इस शिशुमारका शरीर कुण्डली मारे हुए है। इसका मुख नीचेकी ओर है। इसकी पूँछके सिरेपर ध्रुव स्थित है। पूँछके सिरेसे नीचेके भागके मध्यमें प्रजापति, अग्नि, इन्द्र, और धर्म तथा पूँछकी जड़में धाता एवं विधाता स्थित हैं। इसके कटिदेशमें सप्तर्षि अधिष्ठित हैं। कुण्डलीबद्ध शिशुमारका शरीर दाहिनी ओर मुड़ा हुआ है। इस अवस्थामें इसके दायें भागमें अभिजितसे लेकर पुनर्वसु तक चौदह नक्षत्र हैं एवं बायें भागमें पुष्यसे लेकर उत्तराषाढा तक भी चौदह नक्षत्र स्थित हैं। जब शिशुमार कुण्डलाकार देहसे युक्त रहता है, तब इसके दोनों भागोंके अवयवोंकी संख्या समान होती है। इसकी पीठपर अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा नामके तीन नक्षत्रोंका समूह) है और उदरमें आकाश-गङ्गा स्थित है ॥५॥

पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योराद्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्द्वनिष्ठा मूलञ्च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववध्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वेषु प्रातिलोम्येन युञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत् ॥६॥

प्रिय परीक्षित्! पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र यथाक्रमसे इस शिशुमारके दायें ओर बायें कटि-प्रदेशमें स्थित हैं। इसके दायें ओर बायें

चरणमें आर्द्रा और आश्लेषा, दायें एवं बायें नथुनोंमें अभिजित् एवं उत्तराषाढा, दायें और बायें नेत्रोंमें श्रवणा और पूर्वाषाढा, दायें एवं बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघासे लेकर अनुराधा तक दक्षिणायनके आठ नक्षत्र इसके बायें भागकी पसलियोंमें तथा प्रतिलोम (विपरीत) क्रमसे उत्तरायणके मृगशिरासे पूर्वभाद्रपद तक आठ नक्षत्र दायें भागकी पसलियोंमें अवस्थित हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा इसके दायें और बायें कन्धेपर स्थित हैं ॥६॥

उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखे चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशनास्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः ॥ ७ ॥

शिशुमारकी ऊपरी थूथनीपर अगस्त्य, नीचेकी ठोढ़ीपर यम, मुखमें मङ्गल, उपस्थमें शनि, ककुदपर बृहस्पति, वक्षःस्थलपर आदित्य, हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीकुमार, प्राण एवं अपानमें बुध, गलदेशमें राहु, समस्त अङ्गोंमें केतु और रोमोंमें तारे अवस्थित हैं ॥७॥

एतदुहैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति ॥ ८ ॥

हे महाराज! इस प्रकार शिशुमारकी आकृतिका वर्णन हुआ, यही भगवान् विष्णुका सर्वदेवमय स्वरूप है। प्रतिदिन सन्ध्याके समय संयत एवं मौन होकर इस रूपका ध्यान करना चाहिये और इस मन्त्रका जप करते हुए उपासना करनी चाहिये—हे ज्योतिर्गणोंके आश्रय! हे कालचक्र रूप! सर्वदेवाधिपति परम पुरुष हम आपको नमस्कार करते हैं और आपके स्वरूपका ध्यान करते हैं ॥८॥

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम्।

नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे शिशुमारसंस्थानं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः।

इस प्रकार जो पूर्वोक्त मन्त्रसे समस्त ग्रह एवं नक्षत्रादिके
आश्रयीभूत शिशुमार विग्रह भगवान्का प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—तीनों
कालों में जप करते हैं, उनके पापोंका नाश हो जाता है। जो
तीनों सन्ध्याओंमें उनको नमस्कार करते हैं अथवा उनका स्मरण
करते हैं, उनके तत्कालीन पाप अविलम्ब नष्ट हो जाते हैं॥९॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके तेईसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

राहू आदिकी स्थिति, नीचेके अतल
आदि लोकोंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अधस्तात् सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं
ग्रहत्वञ्चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य
तात जन्म कर्माणि चोपरिष्ठाद् वक्ष्यामः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! कुछ पौराणिकोंका कहना है कि सूर्यसे दस हजार योजन नीचे राहु ग्रह नक्षत्रके समान विचरण करता है। यह सिंहिका—पुत्र असुराधम ग्रहत्व एवं देवत्व प्राप्त करनेके लिए सम्पूर्णरूपसे अयोग्य था तथापि इसे भगवान्की कृपासे इन दोनोंकी प्राप्ति हुई। वत्स! इसके जन्म और समस्त कर्मोंका मैं बादमें वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

यदधस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसाहस्रं
सोमस्य। त्रयोदशसाहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद् वैरानुबन्धः
सूर्यचन्द्रमसावभिधावति ॥ २ ॥

सूर्यदेवका तापप्रदानकारी मण्डल दस हजार योजन है और चन्द्रलोक बारह हजार योजन फैला हुआ है। राहूमण्डलका विस्तार तेरह हजार योजन है। पुराकालमें अमृतपानके समय राहु देवताके वेशमें सूर्य और चन्द्रके मध्य आकर बैठ गया था, उस समय सूर्य और चन्द्रमाने उसका भेद खोल दिया था। अतः उनके साथ उसकी शत्रुता हो गयी; इसी कारण यह आज भी प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको उनपर आक्रमण करता है और उन्हें लोगोंकी आँखोंके सामनेसे ओझल करनेका प्रयास करता है ॥ २ ॥

तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्त्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्त्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्त्तते तदुपरागमिति वदति लोकः ॥ ३ ॥

चन्द्र एवं सूर्यके द्वारा बतलाये जानेपर भगवान् विष्णुने इन दोनोंकी रक्षाके लिए अपना परमप्रिय महाशक्तिशाली सुदर्शन नामक चक्रायुध नियुक्त कर रखा है। इस चक्रका तेज अतीव दुःसह है; यह निरन्तर घूमता रहता है। राहू इसके सामने मुहूर्त्त भर (४८ मिनट) ठहरकर ही उद्विग्न और चकित होने लगता है तथा काँपते हृदयसे दूरसे ही लौट आता है। सूर्य एवं चन्द्रमाके बीचमें राहूके मुहूर्त्त भर ठहरनेको ही लोग ग्रहण कहते हैं ॥३॥

ततोऽधस्तात् सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ॥ ४ ॥

राहूग्रहसे दस हजार योजन नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधरोंका वासस्थान है ॥४॥

ततोऽधस्तात् यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते ॥ ५ ॥

इसके नीचे यक्ष, राक्षस, पिशाच और भूत-प्रेतोंका विहार स्थल अन्तरीक्ष है। जितनी दूर तक वायु प्रवाहित होती है और मेघ विचरण करते देखे जाते हैं, उतनी दूर तक अन्तरिक्षका विस्तार है ॥५॥

ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तरं इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येन-सुपर्णादयः पतन्निप्रवरा उत्पतन्तीति ॥ ६ ॥

इससे नीचे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथ्वी वर्त्तमान है। जितनी दूर तक हंस, भास (गिद्ध), बाज एवं सुपर्णादि प्रधान-प्रधान पक्षी उड़ सकते हैं, उतनी ही दूर तक पृथ्वीकी सीमा बतलायी जाती है ॥६॥

उपवर्णितं भूमेर्यथासन्निवेशावस्थानम्। अवनैरप्यधस्तात् सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ताः। अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ॥ ७ ॥

महाराज! भूमिके जिस-जिस स्थानपर जिस-जिस भागमें जो स्थिति है, वह मैं पहले ही बतला चुका हूँ। पृथ्वीके नीचे प्रत्येक दस-दस हजार योजनकी दूरीपर अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये सात भू-विवर (भूगर्भ—स्थित बिल या लोक) हैं। भूमण्डलका लम्बाई, चौड़ाईमें जितना परिमाण है, उतना ही इनका परिमाण माना गया है ॥७॥

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्त-कलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति ॥ ८ ॥

इन सात विवरोंको बिल-स्वर्ग कहा जाता है; इनमें जो भवन, उद्यान, क्रीड़ा-स्थान और विहार-भूमि आदि हैं, वे सब स्वर्गके भवनादिकी अपेक्षा अधिक काम, भोग, ऐश्वर्य, आनन्द, प्रभाव और सम्पत्ति द्वारा सुसमृद्ध हैं। इन सब स्थानोंपर दैत्य, दानव और नाग गृहस्थ (गृहस्वामियोंके) समान रहते हैं। इनके पुत्र, पत्नी-बन्धु एवं अनुचर सर्वदा इनके अधीन रहते हैं और आनन्दमें डूबे रहते हैं। इन्द्रादि सामर्थ्यवान् देवताओंके आनन्द भोगमें बाधा आ सकती है, किन्तु इनके भोगोंमें किसी भी प्रकारके कण्टक अथवा विघ्न नहीं आ सकते। यहाँके लोग मायाके वशीभूत होकर आमोद-प्रमोदमें सदा मत्त रहते हैं ॥८॥

येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो नाना-मणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादि-भिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकशारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलङ्कृताश्चकासति ॥ ९ ॥

हे महाराज! इन सभी बिल-स्वर्गोंमें परम मायावी मय दानव द्वारा बनायी हुई बहुत-सी दानव-पुरियाँ सुशोभित हो रही हैं। इनमें उत्तम-उत्तम मणियोंसे बने हुए भवन, प्राकार, गोपुर, सभागृह,

देवालय, चत्वर (मन्दिराङ्गण) एवं उत्तम-उत्तम मणियोंसे निर्मित प्रजावासियोंके विश्राम-गृहादि विद्यमान हैं। उन विवरोंके अधिपतियोंके सुन्दर और भव्य सदन नाग, असुर, कबूतर-कबूतरी एवं तोता-मैना आदिसे भरे हुए हैं; इनसे समलङ्कृत होकर ये कृत्रिम भू-भाग अति मनोहर शोभा धारण करते हैं ॥९॥

उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभग-
किसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः
समिथुनविविधविहङ्गजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घन
क्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्वारनीलोत्पल लोहितशतपत्रादिवनेषु
कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमर-
लोकश्रियमतिशयितानि ॥ १० ॥

वहाँ जितने भी उद्यान हैं, वे सब स्वर्गलोककी शोभाको तिरस्कार करनेवाले हैं। इनमें विराजित नानाविध वृक्ष, लताओं द्वारा आलिङ्गित होनेसे बड़े आकर्षक लगते हैं। इनकी शाखाएँ, फल, पुष्पोंके गुच्छों और कोमल नवीन पल्लवोंके भारसे झुकी होनेके कारण ऐसी मनोहर शोभा धारण करती हैं कि इनको देखते ही मन एवं प्राण आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठते हैं। जलाशयोंकी शोभाका क्या कहना! ये स्वच्छ एवं मीठे जलसे परिपूर्ण रहते हैं। इनमें मछलियाँ आदि जलचर जब उछलते-कूदते हुए खिलवाड़ करते हैं, तब इनका जल आलोड़ित और तरङ्गायित होने लगता है। इसमें खिले हुए पुष्पोंकी भरमार (सज्जा) देखकर प्रतीत होता है, मानो कुमुदिनी, कुवलय, कह्वार तथा नील और लाल कमलोंका एक परम सुन्दर वन है, जिसमें चक्रवाकादि पक्षियोंके जोड़े नीड़ बनाकर वास करते हैं। अनवरत रूपसे विहार करनेके कारण ये आकुलचित्त हो पड़ते हैं और विविध प्रकारकी मीठी बोलियोंसे सारे वनको मुखरित कर देते हैं। इस कलरवको सुनकर इतना अधिक आह्लाद होता है कि मन और इन्द्रियोंमें उत्सव-सा छा जाता है, ऐसा लगता है कि इनकी शोभाने अमरलोकके सौन्दर्यको भी तिरस्कृत कर रखा है ॥१०॥

यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते ॥ ११ ॥

इन सभी भू-विवरोंमें सूर्यका आलोक नहीं रहता, इसलिए दिन और रात रूप कालका विभाग नहीं होता है। कालसे सम्बन्धित किसी प्रकारके भयकी यहाँ सम्भावना नहीं है ॥ ११ ॥

यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वतस्तमः प्रबाधन्ते ॥ १२ ॥

यहाँ बड़े-बड़े सर्प वास करते हैं, जिनके मस्तकपर स्थित मणियोंकी प्रभासे चारों दिशाओंका अन्धकार दूर हो जाता है ॥ १२ ॥

न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिररसायनाशनपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदः क्लमो ग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति ॥ १३ ॥

बिल-स्वर्गोंके अधिवासी दिव्य ओषधियोंके रसका पान करते हैं, वे दिव्य रसायनोंका भोजन करते हैं और दिव्य रसोंसे स्नानादि करते हैं। इसी कारण उन्हें कोई शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा नहीं होती। बाल पक जाना, झुर्रियाँ पड़ जाना, बुढ़ापा आ जाना, देहका कान्तिहीन हो जाना, शरीरमें दुर्गन्ध आना, पसीना बहना, थक जाना, अनुत्साहित हो जाना और वयसके कारण बुढ़ापादि अवस्थाका होना—ये सब किसीमें देखे नहीं जाते, इनकी तो वहाँ सम्भावना ही नहीं रहती है ॥ १३ ॥

न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात् ॥ १४ ॥

वहाँके सभी प्राणी मङ्गलस्वरूप हैं। भगवान्‌के तेजस्वरूप सुदर्शन नामक चक्रके अतिरिक्त यम भी उन लोगोंके ऊपर अपना प्रभाव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ १४ ॥

यस्मिन् प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च ॥ १५ ॥

भगवत्-तेजरूप सुदर्शन चक्रके मात्र एक बार ही प्रवेश कर लेनेपर असुर रमणियाँ भयभीत हो जाती हैं और उनका गर्भपात हो जाता है ॥१५॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति। येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्माया याः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै बिलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति। यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्य-युतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कथ्यते मदान्ध इव ॥ १६ ॥

महाराज! अब अतलादि भू-विवरोंका वर्णन क्रमशः श्रवण कीजिये। अतलमें मय दानवका पुत्र 'बल' नामक असुर वास करता है। बलने वहाँ छियानवे प्रकारकी माया रच रखी है। कोई-कोई मायावी आज भी उनमें-से कुछ मायाओंको धारण करनेमें समर्थ हैं। मय दानवने जब जैभाई ली, तो उसके मुख-विवरसे स्वैरिणी (सवर्ण रेता), कामिनी (असवर्ण रेता) और पुंश्चली (चञ्चला) इन तीन प्रकारकी नारियोंकी उत्पत्ति हुई। स्वैरिणी अपने ही वर्णके पुरुषके साथ तथा कामिनी किसी भी वर्गके पुरुषके साथ रमण करती है। पुंश्चली तो बार-बार अपना पति बदलती है। यदि कोई पुरुष अतलमें प्रवेश कर जाय, तो ये रमणियाँ उसे हाटक-रसका पान कराके उसमें सम्भोग करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न करा देती हैं। अपने असाधारण विलास यथा-मोहक चितवन, अनुरागयुक्त हास्य, एकान्त भाषण और आलिङ्गनादि द्वारा उन पुरुषोंके साथ अपनी-अपनी इच्छानुसार रमण करती हैं। इस हाटक नामके रसके सेवनसे पुरुषमें दस हजार हाथियोंके समान बल आ जाता है और वे मदान्धके समान "मैं ईश्वर हूँ", मैं सिद्ध हूँ", इस प्रकार अपनी प्रशंसा करने लगता है ॥१६॥

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान् हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूयास्ते। यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण। यत्तच्चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति। तन्निष्ठयूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति ॥ १७ ॥

अतलसे नीचे वितलमें भगवान् हाटकेश्वर महादेव अपने अनुचर भूतगणोंके साथ रहते हैं। प्रजापति ब्रह्माकी सृष्टिकी अभिवृद्धिके लिए ये भवानीके साथ मिथुनी भावसे रहते हैं। श्रीहर एवं गौरीके तेजसे वितल लोकमें हाटकी नामकी नदी प्रवाहित हो रही है। जब वायुके प्रभावसे अग्नि प्रज्वलित होकर, इस नदीके जलका पान करके उसे थूकता है, तो 'हाटक' नामक स्वर्णकी उत्पत्ति होती है। असुर-राजाओंके अन्तःपुरोंमें स्त्री एवं पुरुष सभी हाटक-स्वर्णसे बने आभूषणोंको धारण करते हैं ॥ १७ ॥

ततोऽधस्तात् सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराध्यंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि ॥ १८ ॥

वितलके नीचे सुतल लोक वर्तमान है। यहाँ विरोचन-पुत्र महायशस्वी पुण्यश्लोक बलि महाराज आज भी वास करते हैं। भगवान् विष्णु राजा इन्द्रका प्रिय साधनेके लिए अदितिके गर्भसे वटु वामन रूपमें अवतीर्ण हुए और बलिसे त्रिपाद भूमिकी याचनाके छलसे तीनों लोक छीन लिये, अन्तमें उनपर कृपा करके उन्हें वितलके राज-पदपर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। राजा बलि जिस सम्पत्तिसे समृद्धिमान हैं, वैसी इन्द्रादिके लिए भी दुर्लभ है। वे स्वधर्माचरण द्वारा अपने आराध्य भगवान्की आज भी निर्भीक चित्तसे उपासना करते हैं ॥ १८ ॥

नो एवैतत् साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परमया श्रद्धया परमादरेण समाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यदिबलनिलयैश्वर्यम् ॥ १९ ॥

हे राजन्! बलि महाराजने भगवान् वामनदेवको जो त्रिपादभूमि दान की थी, उस भूमिदानका साक्षात् फल सुतलका ऐश्वर्य भोग है—ऐसा नहीं है अर्थात् दानके कारण उन्हें बिल-स्वर्ग प्राप्त नहीं हुआ है। जो अनन्त जीवोंके जीवन स्वरूप हैं, जीवोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, जो समस्त जीवोंके नियन्ता आत्माराम पुरुष हैं, उन स्वयं भगवान् वासुदेवको महाराज बलिने दानके लिए परम पवित्र पात्ररूपमें प्राप्त करके परम श्रद्धा, अत्यधिक आदर और समाहित चित्तसे भूमि-दान किया था। वे श्रद्धा आदि साक्षात् अपवर्ग अर्थात् भगवत्-प्राप्तिके द्वार-स्वरूप हैं। बिल-स्वर्गके सुखादि ऐश्वर्य तो अनित्य हैं, अतः वे इसका साक्षात् फल नहीं हो सकते ॥ १९ ॥

यस्य ह वाव क्षुत्पतनप्रखलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति। यस्य हैव प्रतिबाधनन्तु मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ॥ २० ॥

(त्रिलोकीके दानकी बात ही क्या है! भगवान्से दूर रहकर भी यदि कोई भक्तिके साथ पत्र-पुष्पादि दान करता है, तो उस दानके फलसे वह नामाभास रूपी सुकृतिसे अनायास ही कर्म-बन्धनोंको ध्वंस कर लेता है)। हे परीक्षित! मनुष्य भूख लगने, गिरने और फिसलनेके समय विवश होकर अर्थात् अनिच्छासे ही यदि एक बार भी उनके नामका उच्चारण करता है, तो दुर्वार कर्मबन्धनसे अनायास ही मुक्त हो जाता है, जब कि मुक्तिकी कामना करनेवाले कर्म-मूल-स्वरूप संसारका छेदन करनेके लिए अष्टाङ्ग योग और सांख्यादि विविध कष्टोंको सहते हैं, परन्तु सफल नहीं होते ॥ २० ॥

तद्भगवतामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतमे च ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा भगवान् श्रीहरि अपने नारदादि भक्तोंके हाथों अपने आपको बेच देते हैं अर्थात् उन्हें प्रेमानन्द प्रदान करते हैं और सनकादि जैसे ब्रह्म-ज्ञानियोंको वे अपनी परमात्म-स्वरूप-अनुभूति रूप ब्रह्मानन्दादिका दान करते हैं। अतः भगवान्को भूमिदानके फलस्वरूप बलि महाराजको सुतल लोकके आधिपत्यकी प्राप्ति हुई—ऐसा नहीं है, भगवान् तो प्रेमके वशीभूत हैं उनके प्रति आत्मनिवेदनका साक्षात् फल प्रेमानन्दकी प्राप्ति है। भक्तोंके अधीन भगवान् उनकी प्रेमरज्जुसे बँधे हुए हैं। यही कारण है कि बलि महाराजके द्वारपर वे स्वयं द्वारपाल होकर विराजमान हैं ॥२१॥

न वै भगवान् नूनममुष्यानुजग्राह। यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं
मायामयं भोगैश्वर्यमेवातनुतेति ॥ २२ ॥

महाराज बलिपर अनुग्रह करनेके लिए भगवान्ने उन्हें ऐश्वर्य-भोग प्रदान किये थे—ऐसा कदापि नहीं है, क्योंकि भोगैश्वर्य मायामय है—यह भगवान्की विस्मृति करा देता है, उन्हें स्मृति-पथपर आने ही नहीं देता ॥२२॥

यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहतस्वशरीरावशेषित-
लोकत्रयो वरुणपाशैः सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्याञ्चापविद्ध इति होवाच ॥ २३ ॥

(महाराज, अब मैं बलि राजाकी ऐकान्तिक भक्ति एवं भगवदनुग्रह-प्राप्तिके विषयमें वर्णन कर रहा हूँ, आप श्रवण कीजिये) जब श्रीभगवान्ने सर्वस्व-हरणका और कोई उपाय न देखा, तो उन्होंने याचनाके छलसे शरीर मात्रको छोड़कर राजा बलिसे त्रिलोकीका आधिपत्य छीन लिया एवं इससे भी जब सन्तोष न मिला तो उन्हें वरुणपाशमें दृढ़तापूर्वक बाँधकर पर्वतकी गुफामें फेंक दिया। बन्दी राजा बलिने गिरि-गुफामें फेंक दिये जानेपर भी इस प्रकार कहा— ॥२३॥

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेण आत्मानमयाचत आत्मनश्चाशिषो नो एव तद्वास्यम्। अति गम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम्॥ २४॥

अहो! कितने दुःखकी बात है। देवराज इन्द्रने अपने अनन्य सहाय एवं मन्त्रणाके लिये बृहस्पतिका अपने सचिवके रूपमें वरण किया, किन्तु यह इन्द्र विद्वान् होनेपर भी परमार्थ-विषयमें नितान्त अनभिज्ञ रहा और इसको परामर्श देनेवाले बृहस्पति भी वैसे ही निकले क्योंकि इन्होंने इन्द्रको यथार्थ तत्त्वपरक उपदेश नहीं दिया। भगवान् वामनदेव इन्द्रके द्वारपर खड़े थे, इन्द्रने उनसे दास्यकी प्रार्थना न करके उन्हें मेरे पास अपने इन्द्रिय-भोगके उद्देश्यसे त्रिलोकीका आधिपत्य माँगनेके लिए भेज दिया। अरे, यह त्रिलोकाधिपत्य तो अति तुच्छ है जो कि कालके द्वारा ध्वंसशील है। दुरन्तवीर्य कालके एकांश मन्वन्तर तक ही तीनों लोक रहते हैं। मन्वन्तर समाप्त होते ही इन्द्रिय-भोग्य जड़-पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं॥ २४॥

यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वब्रे न तु स्वं पित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि॥ २५॥

एकमात्र मेरे पितामह प्रह्लाद ही पुरुषार्थको यथार्थ जाननेवाले थे। जब उनके पिता हिरण्यकशिपुकी मृत्यु हुई, तब श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लाद महाराजको उनके पिताका राज्य देना चाहा, यहाँ तक कि वे उन्हें अपना अभय मोक्षपद भी देना चाहते थे किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विचार किया कि ये धन-सम्पत्ति, मोक्ष आदि श्रीभगवान्का साक्षात् अनुग्रह नहीं है, बल्कि ये तो भगवद्-भावको विनष्ट करते हैं। अतः उन्होंने भगवान्से केवल उनका दास्य ही माँगा॥ २५॥

तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः
परिहीनभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति ॥ २६ ॥

मेरे तो राग-द्वेषादि भाव अभी क्षीण भी नहीं हुए हैं, इसीलिए मैं भगवान्‌के अनुग्रह-प्राप्तिसे वञ्चित हूँ। मेरे जैसा कौन व्यक्ति महानुभाव प्रह्लादके आचरणका अनुसरण करनेकी सोच भी सकेगा? ॥२६॥

तस्यानुचरितमुपरिष्ठाद्विस्तरिष्यते। यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरु-
नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयः। येनाङ्गुष्ठेन
पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः ॥ २७ ॥

हे राजन्! महाराज बलिकी महिमाका क्या वर्णन करूँ? अखिल-जगत्-गुरु भगवान् नारायण अपने भक्तोंके प्रति दयापूर्ण हृदयसे हाथमें गदा लिये राजा बलिके द्वारपर खड़े रहते हैं। दशानन रावण जब दिग्विजयके लिए महाराज बलिके द्वारपर उपस्थित हुआ था, तब द्वारपालरूपी भगवान्‌ने अपने पैरके अँगूठेसे उसको दस हजार योजन दूर फेंक दिया था। राजा बलिका चरित्र मैं तुम्हें विस्तारपूर्वक बाद (आठवे स्कन्ध) में बतलाऊँगा ॥२७॥

ततोऽधस्तात् तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता
त्रिपुरारिणा त्रिलोक्याः शं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो
मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते ॥ २८ ॥

सुतलके नीचे तलातल है; त्रिपुराधिपति दानवराज मय यहीं पर वास करता है। मय मायावियोंका गुरु है। महादेवजीने तीनों लोकोंके कल्याणकी इच्छासे पहले तो मयके तीनों पुरोंको जला दिया था, किन्तु बादमें प्रसन्न होकर पुनः उसे वहाँका अधिकार दे दिया था। उसी समयसे दानवराज मय त्रिपुरारि महादेवजी द्वारा सभी प्रकारसे सुरक्षित और अपने अनुचरोंके द्वारा सम्मानित होकर यहाँ रहता है। वह सोचता है कि उसे भगवान्‌के चक्रसे भी डर नहीं लगता ॥२८॥

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम
गणः कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्रिराजाधिपतेः
पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्
प्रमत्ता विहरन्ति ॥ २९ ॥

तलातलके नीचे महातल है। इसमें कद्रु-पुत्र सर्पोंका वास है।
ये बहुतसे फणोंको धारण करनेवाले और क्रोधित स्वभावके हैं।
इन सर्पोंमें कुहक, तक्षक, कालिय और सुषेण आदि प्रधान-प्रधान
सर्प दीर्घकाय अवश्य हैं परन्तु भगवद्वाहन पक्षीराज गरुडके भयसे
निरन्तर उद्विग्न एवं चिन्तित होकर अपने-अपने स्त्री, पुत्र, बन्धु
और कुटुम्बियोंके साथ अलग-अलग स्थानोंपर प्रमत्तताके साथ
वास करते हैं ॥ २९ ॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः
कालकेया हिरण्यपुरवासिनः इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो
महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा
प्रतिहतबलावलेपा बिलेशया इव वसन्ति। ये वै सरमयेन्द्रदूत्या
वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति ॥ ३० ॥

महातलके नीचे रसातल है; यहाँ पणि नामसे प्रसिद्ध दैत्य
और दानव रहते हैं। निवातकवच, कालकेय, हिरण्यपुरवासी—ये
तीन प्रकारके देव-विरोधी दानव सर्पादिके समान विवरोंका आश्रय
लेकर लुक-छिपकर रहते हैं। ये जन्मसे ही महाबलशाली और
महासाहसी होते हैं। जिन भगवान् श्रीहरिके तेजसे सारे ही लोक
देदीप्यमान हो रहे हैं, उन्हींके प्रभावसे इन दानवोंका बलाभिमान
चूर्ण-चूर्ण रहता है। इन्द्रदूती सरमाने जिस मन्त्रात्मक वाक्य 'हता
इन्द्रेण पणयः शयध्वम्' (हे पणिगण! तुम लोग इन्द्रके द्वारा
मृत्युको प्राप्तकर पृथ्वीपर सो जाओगे) का उच्चारण किया था,
उसके कारण ये देवराज इन्द्रसे भी भयभीत रहते हैं ॥ ३० ॥

ततोऽधस्तात् पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिक-
महाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो
महामर्षा निवसन्ति। येषामुह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु
विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा
विधमन्ति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे विवरतलोपवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।

रसातलके नीचे पाताल है; वहाँ शङ्ख, कुलिक, महाशङ्ख, श्वेत,
धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शङ्खचूड़, कम्बल, अश्वतर, और देवदत्त आदि
बड़े-बड़े फणधारी और अति क्रोधी स्वभावके नागलोक-पति महासर्प
वास करते हैं। इनमें वासुकि प्रमुख हैं। इन सर्पोंमें किसीके पाँच,
किसीके सात, किसीके दस और किसीके हजार फण हैं। इन
फणोंमें उत्कृष्ट मणियाँ संलग्न हैं, जो सदा जगमगाती रहती हैं।
इन मणियोंकी चमकसे पाताल-विवरका समस्त अन्धकार दूर हो
जाता है ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके चौबीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चविंशोऽध्यायः

श्रीसङ्कर्षणदेवका वर्णन और उनकी स्तुति

श्रीशुक उवाच—

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला
भगवतस्तामसी समाख्याता अनन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः
सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणं इत्याचक्षते ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! पाताल लोकके नीचे तलदेशसे तीस हजार योजनकी दूरीपर भगवान्की एक नित्य तामसी कला विराजमान है, जिसका नाम 'अनन्त' है। (यह मूर्ति वस्तुतः विशुद्ध सत्त्वमय है, जो तमोगुणके अवतार रुद्रके अन्तरमें विद्यमान रहकर संहार आदि कार्य करती है; इसलिए इसे तमोमयी कहा जाता है। तमोगुणी देवता भगवान् शिवके आराध्य होनेके कारण 'अनन्त' भगवान् कभी-कभी तामसी कहे जाते हैं।) यह अनन्त नामक कला जीवोंके 'मैं—इसका भोक्ता हूँ, यह मेरा भोग्य है,' इस प्रकार अभिमान-स्वरूप अहङ्कारके अधिष्ठातारूपमें भोक्ता एवं भोग्यको अथवा द्रष्टा एवं दृश्यको परस्पर आकर्षित करती है। इसलिए सात्वत (वैष्णव) गण इसे सङ्कर्षण कहते हैं ॥ १ ॥

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव
शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ॥ २ ॥

सम्पूर्ण क्षितिमण्डल इन सहस्रशीर्षा अनन्त मूर्ति भगवान् सङ्कर्षणके मात्र एक फणपर रखा हुआ सरसोंके दानेके समान लक्षित होता है ॥ २ ॥

यस्य ह वा इदं कालेनोपसज्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण
सङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत् ॥ ३ ॥

प्रलयकाल आनेपर अनन्तदेव जब इस विश्वका संहार करनेकी इच्छा करते हैं, तब क्रोधवश इनकी कुटिल भूकुटियोंके मध्यभागसे सङ्कर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं। इनके व्यूहमें ग्यारह रुद्र हैं। उन सभीके तीन नेत्र होते हैं और ये अपने हाथोंमें तीन नोकोंवाले शूल लिये रहते हैं ॥३॥

यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वादर्शेष्वहिपतयः सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि परिस्फुरत्-कुण्डलप्रभामण्डलीमण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति ॥ ४ ॥

भगवान् सङ्कर्षणके चरणकमलोंका नखरूपी मणिमण्डल अति स्वच्छ, अरुणवर्णीय एवं दर्पणके समान देदीप्यमान है। नागपतिगण श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जब ऐकान्तिक भक्तिसे इन्हें प्रणाम करते हैं तब उन्हें इस नख-मणि-मण्डलमें अत्युज्ज्वल कुण्डलोंकी कान्तिसे मण्डित एवं कपोलोंकी कान्तिसे युक्त अपने-अपने सुदर्शन मुखारविन्दकी शोभाका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, जिससे उनका चित्त अतिशय आनन्दसे भर जाता है। अपनी मनोहरताको देखकर वे हर्षमें डूब जाते हैं ॥४॥

यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसित-विशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेना-वलिम्पमानास्तदभिमर्षणोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्त-दनुरागमदमुदितमदविधूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति ॥ ५ ॥

अनेक नागराज-कुमारियाँ अपने-अपने मङ्गलकी कामनासे जब सङ्कर्षणदेवके सुभग अङ्गमण्डलपर मनोहर वलयसे विभूषित, सुनिर्मल, शुभ्रवर्ण, सुन्दर, मनोरम, विशाल, रुचिर एवं शुभ्र रजतके स्तम्भके (चाँदीके खम्भेके) समान चारों भुजाओंमें अगुरु, चन्दन एवं कुङ्कुमादिसे युक्त पङ्कानुलेपन करती हैं, तब उनके श्रीहस्त-कमलोंके संस्पर्शसे उन्मथित होनेके कारण उनके

हृदयमें कन्दर्पका आवेश हो उठता है; इसलिए वे ललित, मधुर, मनोहर मुस्कानके साथ भगवान् अनन्तदेवके मुखारविन्दको सलज्ज नेत्रोंसे देखने लगती हैं, जो अनुराग एवं मदनसे मुदित सदा मद-विघूर्णित ईषत् सुशोभित हैं ॥५॥

स एष भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते ॥६॥

ये सङ्कर्षणदेव असीम-अनन्त-कल्याणके गुण-सागर आदिदेव भगवान्से अभिन्न हैं। वे असहिष्णुता एवं क्रोधके वेगका संवरणकर प्राणियोंके मङ्गलके लिए यहाँ (अपने श्रीधाममें) (भगवान् सङ्कर्षण अनन्त गुणोंके कारण ही अनन्त कहलाते हैं) नित्य विराजमान हैं ॥६॥

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदित-
विकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षद-
विबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवनवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकर-
व्रातमधुगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो
हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्महेन्द्रवारणेन्द्र इव काञ्चनीं
कक्षामुदारलीलो बिभर्ति ॥७॥

सुर, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण भगवान् अनन्तका निरन्तर ध्यान करते हैं। उनके नेत्र प्रेम-मदसे मुदित, उत्फुल्ल, चञ्चल एवं विह्वल रहते हैं। सुललित वचनामृतके द्वारा वे अपने पार्षद एवं देवयूथपतियोंको सर्वदा सन्तुष्ट करते हैं। उनके श्रीअङ्गोंपर नीलवसन, कानोंमें एक कुण्डल झिलमिलाता रहता है। दोनों हाथ सुभग और सुन्दर हैं। पीठपर हल विराजमान है। उनकी लीला अति उदार है। देवराज इन्द्रका ऐरावत जिस प्रकार गलेमें काञ्चन शृङ्खला अर्थात् स्वर्ण निर्मित हार धारण करता है, ये भी इसी प्रकार गलेमें नवीन वैजयन्ती माला धारण करते हैं, इस मालामें ग्रथित तुलसी दलोंकी कान्ति कभी म्लान नहीं होती। इस वैजयन्ती-मालाके मधुर रस सौरभसे मतवाले होकर

भ्रमर मधुर गुञ्जार करते हैं, जिससे इसकी शोभा-श्री और भी अपूर्व हो जाती है ॥७॥

य एष एवमनुश्रुतोऽभिध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासना-
ग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु
निर्भिनत्ति। तस्यानुभावान् भगवान् स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा
सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास ॥ ८ ॥

इस प्रकार गुरुमुखसे श्रीअनन्तदेवकी महिमा सुनकर जो मुमुक्षु
व्यक्ति उनका ध्यान करते हैं, श्रीभगवान् सङ्कर्षण उनके सत्त्व,
रज एवं तमोगुणसे भरे हृदयके अन्तःस्थलमें प्रविष्ट होकर उनकी
अनादिकालसे सञ्चित कर्मवासना जनित अज्ञानमयी हृदय-ग्रन्थि-रूपी
संसारका शीघ्र ही नाश कर देते हैं। एक बार ब्रह्माजीके पुत्र
नारदने अपने पिता ब्रह्माजीकी सभामें तुम्बरु नामक गन्धर्वके साथ
इनकी महिमाका इस प्रकार गान किया था ॥८॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन्।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात् कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥

इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके कारण-स्वरूप—प्राकृत
सत्त्वादि तीनों गुण जिन सङ्कर्षणके ईक्षणके (दृष्टिके) प्रभावसे
अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, जिनका स्वरूप अनन्त
(ध्रुव) एवं अनादि (अकृत) है, जो सत्स्वरूप एक (अकेले)
होकर भी अपनेमें अर्थात् अपने शरीरके रोमकूपोंमें अनेक
ब्रह्माण्डोंको धारण करते हैं, मनुष्य किस प्रकार उनके तत्त्वको
जान सकते हैं? ॥९॥

मूर्ति नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥ १० ॥

जिनसे कार्य-कारणात्मक यह विश्व प्रकाशित हो रहा है, उन सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् ने हमारे प्रति बहुत कृपा कर अपनी शुद्ध सत्त्वमयी मूर्तियोंको (अवतारोंको) प्रकट किया है। वे उदार-वीर्य अर्थात् प्रभूत प्रभावशाली हैं। भक्तोंके दुरन्त हाथीके समान मनोको आकर्षित करनेके लिए एवं चित्त-विनोदके लिये वे अति सुन्दर सिंह-शावकके समान गोवर्धन धारण, पृथ्वी धारण आदि पवित्र लीलाएँ करते हैं ॥१०॥

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्त्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा।
हन्त्यहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥११॥

जिनके नामको साधुगुरुके मुखसे सुनकर कोई अकस्मात् ही जप करने लगता है अथवा कोई आर्त्त या पतित व्यक्ति परिहास छलसे एक बार उच्चारण कर लेता है, तो ऐसे व्यक्ति न केवल स्वयं शुद्ध होते हैं, बल्कि अपने सान्निध्यसे दूसरे मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको भी नष्ट कर डालते हैं। अतः मुमुक्षु व्यक्ति भगवान् शेषके अतिरिक्त और किसीका आश्रय क्यों करेंगे? ॥११॥

मूर्द्धन्यर्पितमणुवत् सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम्।
आनन्त्यादविमितविक्रमस्य भूमनः
को वीर्याण्यपिगणयेत् सहस्रजिह्वः ॥१२॥

अनन्त होनेके कारण उनके पराक्रमको कोई सीमित नहीं कर सकता। जिनके सहस्र मस्तकोंमें-से मात्र एक मस्तकपर गिरि, नदी, सागर और जन्तुओंके साथ रखा यह भूमण्डल अणुके समान प्रतीत होता है, उन अनन्तदेवके प्रभावका वर्णन कोई हजार जिह्वाएँ प्राप्त करके भी नहीं कर सकता ॥१२॥

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
 दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
 मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
 यो लीलया क्षमां स्थितये बिभर्ति ॥ १३ ॥

इस प्रकार भगवान् अनन्तदेवका अद्भुत प्रभाव विद्यमान है। वस्तुतः उनके पराक्रमका कोई अन्त नहीं है। उनके गुण, यश, शौर्य एवं गौरवका विस्तार बहुत अधिक है। वे स्वयं ही स्वयंके आधार हैं अर्थात् वे सभी प्रकारसे स्वतन्त्र हैं। रसातलके मूलदेशमें (पातालमें) अवस्थित रहकर लोक-रक्षणके लिए लीला करते हुए वे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं ॥ १३ ॥

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता
 यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान् कामयमानैः ॥ १४ ॥

हे राजन्! मैंने गुरुमुखसे जो सुना था, वह सब तुम्हें सुना दिया। कर्मी जनोके (बद्ध जीवोंके) कर्म एवं कामनाओंकी विभिन्न गतियाँ रची गयी हैं। सकाम व्यक्ति इन सब गतियोंको (लोक-लोकान्तरोको) प्राप्त करते हुए इस संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ १४ ॥

एतावतीर्हि राजन् पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय
 उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत् कथयामीति ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे श्रीसङ्कर्षणमाहात्म्यं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ।

हे महाराज! इस लोकमें प्रवृत्तिमय धर्ममें रत रहनेके फलस्वरूप ये सब उच्च एवं निम्नादि भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। तुमने जिस प्रकार प्रश्न पूछे थे, उनके अनुसार ही मैंने यह सब वर्णन किया। अब और क्या कहूँ, बतलाओ ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके पच्चीसवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त ।

षड्विंशोऽध्यायः नारकीय गतियोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने कहा—हे महर्षे! सब लोकोंमें यह भिन्न-भिन्न भोग-वैचित्र्य अर्थात् ऊँची-नीची गतियाँ क्यों होती हैं, कृपाकर यह बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीऋषिरुवाच—

त्रिगुणत्वात् कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति ॥ २ ॥

शुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! कर्म करनेवाले कर्त्ता तीन प्रकारके होते हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इन कर्त्ताओंकी तीन प्रकारकी श्रद्धाके कारण कर्मोंकी गति भी भिन्न-भिन्न होती है अर्थात् सात्त्विक श्रद्धाके कारण कर्म करनेवाला सुखी, राजसी श्रद्धाके कारण कर्म करनेवाला सुखी और दुःखी तथा तामसी श्रद्धाके कारण कर्म करनेवाला दुःखी एवं विमूढ़ होता है। श्रद्धाके तारतम्यसे सुखादिका तारतम्य होता है। भिन्न-भिन्न श्रद्धाके कारण भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। कालभेदसे सभी जीवोंको सभी प्रकारकी गतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥

अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः श्रद्धाया वैसादृश्यात् कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्ययाकृतकामानां तत्परिणाम-लक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः ॥ ३ ॥

अतः केवल धर्म करनेवालोंकी ही अलग-अलग श्रद्धाके कारण फलोंमें (स्वर्गिक गतियोंमें) विभिन्नता होती है, ऐसा नहीं

है। जो निषिद्ध कर्मोंको करते हैं, उनका भी श्रद्धाके तारतम्यमें कर्म फल (नारकीय लोक) भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। प्रमादवश अर्थात् भूलसे अधर्म करनेवालेको कम कष्ट, करणीय एवं अकरणीयके ज्ञाता अर्थात् जानकर अधर्म करनेवालेको मध्यम कष्ट और नास्तिकतावश अधर्म करनेवालेको बहुत अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। अनादि कालसे ही अज्ञानवश अनेकानेक कामनाओंके परिणामस्वरूप जीवोंको हजार-हजारों नारकीय गतियाँ प्राप्त होती हैं। मैं इनका विस्तारसे वर्णन करूँगा॥३॥

श्रीराजोवाच—

नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिःखिलोक्या अहोस्विदन्तराल इति॥४॥

राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन्! ये नरक क्या पृथ्वीके किसी स्थान विशेषमें हैं अथवा त्रिलोकीसे बाहर अथवा अन्दर किसी स्थानपर हैं?॥४॥

श्रीऋषिरुवाच—

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्ठाच्च जलात् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति॥५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—नरक त्रिलोकीके भीतर ही हैं। ये ब्रह्माण्डके दक्षिणकी ओर भूतलके नीचे तथा गर्भोदकसे ऊपर स्थित है। यहाँ अग्निष्वात्ता आदि पितरगण परम समाधि योगसे भगवान्का ध्यान करते हैं और अपने-अपने गोत्रधर व्यक्तियोंके लिए मङ्गलकी कामना करते हुए वास करते हैं॥५॥

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषुपरेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति॥६॥

इस नरक लोकमें सूर्यपुत्र शक्तिशाली यम अपने पार्षदोंके सहित रहते हैं और भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए मृत्युके बाद वहाँ दूतोंके द्वारा अपने अधिकारमें लाये हुए प्राणियोंको उनके कर्मानुसार दोषादोषका विचार करके दण्ड प्रदान करते हैं ॥६॥

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति। अथ तांस्ते राजन् नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामः। तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं शूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तशूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः ॥७॥

कोई-कोई इस स्थानपर नरकोंकी संख्या इक्कीस बतलाते हैं। हे महाराज! मैं नाम, रूप और लक्षणोंका निर्देश करते हुए इन सभी नरकोंके विषयमें वर्णन कर रहा हूँ, आप श्रवण कीजिए—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि एवं अयःपान। इनके अतिरिक्त क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात और भी नरक हैं। कुल मिलाकर ये अट्ठाईस नरक अनेक प्रकारकी यन्त्रणाओंके स्थान हैं ॥७॥

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलात्रिपात्यते। अनशनानुदपान-दण्डताडनसन्तर्ज्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये ॥८॥

हे राजन्! जो व्यक्ति इस पृथ्वीपर दूसरोंके धन, स्त्री एवं पुत्रका अपहरण करता है, यमराजके अति भयङ्कर दूत उसे कालपाशमें बाँधकर पूर्वोक्त नरकोंमें-से तामिस्र नरकमें बलपूर्वक डाल देते हैं। यह तामिस्र

नरक घोर अन्धकारसे आच्छन्न है। यहाँपर लाये गये प्राणियोंको अन्न-जल नहीं मिलता। दण्ड, ताड़ना और भय दिखलाना आदि अनेक प्रकारकी यातनाओंसे उन्हें पीड़ित किया जाता है। इस प्रकारके कष्टोंसे दुःखी होकर वे एकाएक मूर्च्छित हो जाते हैं ॥८॥

एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते। यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा हि वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति ॥९॥

जो दूसरेको ठग करके उसकी पत्नीका भोग करता है, उसे अन्धतामिस्र नरकमें जाना पड़ता है। किसी वृक्षको गिराये जानेसे पहले लोग जिस प्रकार उसकी जड़को काटते हैं, उसी प्रकार नरकमें डालनेसे पहले यमदूत उस पापीको अनेक प्रकारकी यातनाएँ प्रदान करते हैं, जिनकी वेदनासे उस जीवकी बुद्धि एवं दृष्टिशक्ति विनष्ट हो जाती है। इसी कारण इस नरकको पण्डितोंने अन्धतामिस्र कहा है ॥९॥

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति ॥१०॥

इस संसारमें जो व्यक्ति देह एवं धनके लिए 'मैं-मेरा'—इस प्रकारकी बुद्धि करके दूसरे प्राणियोंकी हिंसा द्वारा निरन्तर स्वयंका तथा अपनी देहसे सम्पर्क रखनेवाले आत्मीय-स्वजनोंका पोषण करता है, उसे अपनी देह एवं कुटुम्बका परित्याग करके इसी प्राणी-द्रोह-जनित पापके फलस्वरूप अकेले ही रौरव नरकमें जाना पड़ता है ॥१०॥

ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातना उपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहुः। रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः ॥११॥

इस लोकमें जो व्यक्ति जिन प्राणियोंको प्रपीड़ित करता है, मृत्युके बाद जब वह अपने किये कर्मोंके फलस्वरूप

यम-यातनाको प्राप्त होता है, उस समय वे हिंसित प्राणी 'रुरु' बनकर उसे काटते हैं। इसीलिए सुधीजन इस नरकको 'रौरव' कहते हैं। रुरु एक प्रकारका प्राणी है, जो सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाला है ॥११॥

एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः ॥१२॥

इसी प्रकार महारौरव नरक है। हिंसामें लगे हुए लोगोंको इस नरककी प्राप्ति होती है। दूसरेके मांससे अपनी देहका पोषण करनेवाले इन नारकीय प्राणियोंके मांसको खानेके लिए क्रव्याद नामक रुरु उन्हें नानाविध पीड़ाएँ प्रदान करता है ॥१२॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति ॥१३॥

इस संसारमें जो निष्ठुर व्यक्ति अपने-अपने प्राणोंकी पुष्टिके लिए पशु अथवा पक्षियोंकी हत्याकर उनका रन्धन करते हैं, मृत्युके बाद परलोकमें यमदूतगण नरमांस-भोजी राक्षसोंसे भी अधिक घृणित इन निष्ठुर व्यक्तियोंको 'कुम्भीपाक' नामक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तेलमें राँधते हैं ॥१३॥

यस्त्विह ब्रह्मधुक् स कालसूत्रसंज्ञके नरकेऽयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्ते खले उपर्यधस्तादन्यर्काभ्यामभितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्याञ्च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि ॥१४॥

इस लोकमें जो ब्रह्मघाती है, वह कालसूत्र नामक नरकमें जाता है। इस नरककी परिधि दस हजार योजन है। यह ताँबेसे बना हुआ समतल स्थान है। नीचेसे अग्नि और ऊपरसे सूर्यके प्रखर तापसे यह मैदान अत्यन्त तपा हुआ रहता है। ब्रह्महत्यारा जब इस स्थानपर पहुँचता है, तब उसका शरीर भूख-प्याससे अन्दरसे

एवं बाहरसे दग्ध होता रहता है। इस कारण वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है और कभी छटपटाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगता है। पशु देहमें जितनी संख्यामें रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह इस यातनाको सहता रहता है॥१४॥

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाषण्डश्चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतो धारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाषण्डानुगमनफलं भुङ्क्ते॥१५॥

इस संसारमें जो व्यक्ति आपात् काल उपस्थित न होनेपर भी वेदमार्गसे भ्रष्ट होकर पाखण्ड धर्म अर्थात् वेद-विरुद्ध मार्गका अवलम्बन करता है, यमदूत उसे 'असिपत्रवन' नामक नरकमें डालकर कोड़ोंसे मारते हैं। कोड़ोंके प्रहारकी यातनासे वह इस नरकमें इधर-उधर दौड़ता रहता है तथा दोनों ओर धारवाली तलवारके समान तीक्ष्ण तालपत्रोंकी (ताड़ वृक्षोंकी पत्तियोंकी) धारसे उसके सर्वांग क्षत-विक्षत हो जाते हैं। तब वह विषम-यन्त्रणासे अधीर होकर 'हाय, हाय! मर गया, मर गया' इस प्रकार कहते हुए पद-पदपर मूर्च्छित होता है। अपने धर्मका त्यागकर पाखण्ड मत अपनानेवालेको इस प्रकारका दण्ड प्राप्त होता है॥१५॥

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वादण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीररदण्डं स पापीयान् नरकेऽमुत्र शूकरमुखे निपतति। तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुदण्ड आर्त्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः॥१६॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष दण्डदानके अयोग्य व्यक्तियोंको दण्ड प्रदान करते हैं अथवा अदण्डनीय ब्राह्मणको शारीरिक दण्ड देते हैं, वे पापी परलोकमें जाकर शूकरमुख नामक नरकमें गिरते हैं। वहाँ अति बलशाली यमदूतगण कोल्हूमें पेरे गये गन्नेके समान उसके अङ्गोंको निष्पीडित करते हैं, तब वे आर्त्त

स्वरसे रोते चिल्लाते हैं। इस संसारमें निर्दोष व्यक्ति जिस प्रकार अकारण सताये जानेपर मूर्च्छित होता है, उसी प्रकार वे पापी जीवात्मा वहाँ हाय, हाय करते हुए मूर्च्छित हो जाते हैं॥१६॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति। तत्र हासौ तैस्तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृप-मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः॥ १७॥

भगवान्ने खटमलादि जीवोंके लिए मनुष्योंके रक्तपानरूपी वृत्ति निर्धारित की है, उन्हें विवेक नहीं दिया है, इसी कारणसे दूसरोंके कष्टका अनुभव नहीं कर सकते; किन्तु उन्होंने मनुष्योंके लिए ब्राह्मणादि स्वभावके अनुसार विधि एवं निषेधकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ निर्दिष्ट की हैं और उन्हें विवेक भी दिया है। वे अपनी अनुभूतियोंसे दूसरोंकी वेदना जान सकते हैं। अतः विवेकी होकर भी जो मनुष्य इन विवेकहीन जीवोंको पीड़ित करते हैं, वे इस हिंसाजनित पापके कारण परलोकमें 'अन्धकूप' नामक नरकमें गिरते हैं। उन पापियोंने पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, मच्छर, जूँ, खटमल एवं मक्खी आदि जिन जीवोंकी पहले हिंसा की थी, वे ही सब उन्हें यहाँ चारों ओरसे काटते हैं। इससे उनका निद्रासुख एक बारमें ही समाप्त हो जाता है। यन्त्रणासे अस्थिर हो जानेके कारण उसे विश्राम-स्थान भी नहीं मिलता। जीव जिस प्रकार तिर्यगादि घृणि त योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कष्ट पाता है, उसी प्रकार वह अन्धकारमें घूमता हुआ पीड़ित होता रहता है॥१७॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत् किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति। तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत् तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयति॥ १८॥

जो व्यक्ति किसी भक्ष्य द्रव्यके प्राप्त होनेपर अतिथि-बालक-वृद्धोंको उसका यथायथ भाग न देकर स्वयं ही खा लेता है और जो पञ्चविध यज्ञका अनुष्ठान नहीं करता, उसे कौएके समान कहा गया है। ऐसा व्यक्ति परलोकमें 'कृमिभोजन' नामक अति निकृष्ट नरकमें जाता है। इस नरकमें एक लाख योजन विशाल एक कृमिकुण्ड है। उसे इस कुण्डमें कीड़ा बनकर रहना पड़ता है, जहाँ वह कीड़ोंको खाता है और दूसरे कीड़े उसे नोचते-खाते रहते हैं। इस प्रकार जो लोग दूसरोंको भाग न देकर सारी वस्तु स्वयं ही भोग कर लेते हैं अथवा बिना यज्ञ किये द्रव्योंको ग्रहण करते हैं—जबतक उसके पापोंका क्षय नहीं हो जाता, उस समय तक अर्थात् प्रायश्चित्त पूरा न होनेतक उसका नानाविध यन्त्रणाओंको भोगना अवश्यम्भावी है ॥१८॥

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्यापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कृषन्ति ॥ १९ ॥

हे राजन्! इस लोकमें जो व्यक्ति प्राण सङ्कट उपस्थित न होनेपर भी ब्राह्मण अथवा दूसरे व्यक्तिके हिरण्य (सुवर्ण) एवं रत्नादि धनको चुरा लेता है अथवा बलपूर्वक छीन लेता है, परलोकमें यमदूत सन्दंश नामक नरकमें डालकर लौहमय अग्निके पिण्डों एवं सण्डासियों द्वारा उसकी खालके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥१९॥

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियं पुरुषोऽगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया शूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियञ्च पुरुषरूपया शूर्म्या ॥ २० ॥

और इस लोकमें जो व्यक्ति अगम्या स्त्रीसे और जो स्त्री अगम्य पुरुषसे अभिगमन करती है, मृत्युके बाद यमदूत उस पुरुष अथवा स्त्रीको तप्तशूर्मि नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे मारते

हैं और पुरुषको तप्त लौहमयी स्त्रीमूर्तिसे और स्त्रीको उसी प्रकार तप्त लौहमयी पुरुषमूर्तिसे आलिङ्गन कराते हैं ॥२०॥

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं
वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति ॥ २१ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें पशु आदिके साथ व्यभिचार करता है, मरनेके बाद यम किंकर उसे वज्रकण्टकशाल्मली नामक नरकमें डाल देते हैं। इस नरकमें एक शाल्मली (सेमर)का वृक्ष है, जिसके काँटोंकी चुभन वज्रके समान है। यमदूत उस पापीको उस वृक्षके ऊपर चढ़ाकर नीचेकी ओर खींचते हैं, जिससे उसका सारा शरीर छिल जाता है ॥२१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वाऽपाषण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाधेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांस-वसावाहिन्यामुपतप्यन्ते ॥ २२ ॥

इस लोकमें जो राजा अथवा राजपुरुष सत्कुलमें उत्पन्न होकर भी धर्मकी निर्दिष्ट मर्यादाओंका उल्लङ्घन करते हैं, वे व्यक्ति इस कारणसे परलोकमें वैतरणी नामक नदीमें गिरते हैं। यह नदी नरककी खाई स्वरूप है। इसमें जितने भी हिंस्र जलजन्तु हैं, वे उस पापिष्ठको खाते रहते हैं, तथापि उसके प्राण नहीं निकलते। विष्ठा, मूत्र, पीव, शोणित, केश, नख, हड्डी, मज्जा, मांस और चर्बीको वहन करनेवाली इस नदीमें पड़े हुए वे भीषण यन्त्रणाको भोगते हैं और अपने पापमय कर्मोंका स्मरण करते हुए सन्तप्त होते रहते हैं ॥२२॥

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्या चरन्ति, ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्म-लालापूर्णाणवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति ॥ २३ ॥

जो इस संसारमें शूद्राओं (वेश्याओं)के पति बनकर शौच, आचार एवं नियमसे भ्रष्ट हो जाते हैं एवं लज्जारहित होकर पशुके समान स्वेच्छाचरण करते हैं, मृत्युके बाद वे 'पूयोद' नामक नरकमें पीव, विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा और लारसे भरे हुए समुद्रमें फेंक दिये जाते हैं। जहाँ उन्हें इन अति घृणित पदार्थोंको खाना पड़ता है ॥२३॥

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान् निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति ॥ २४ ॥

इस लोकमें जो ब्राह्मणादि उच्च वर्गके पुरुष कुत्तों एवं गधोंको पालते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य समयमें शिकारमें आसक्ति होनेसे बाहर जाकर शास्त्रोंके विपरीत (अवैध) पशुओंका वध करते हैं, मृत्युके बाद यमदूतगण उन्हें 'प्राणिविरोध' (प्राणरोध) नामक नरकमें डालकर बाणोंसे बीध डालते हैं ॥२४॥

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिन् लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति ॥ २५ ॥

जो दाम्भिक व्यक्ति इस लोकमें मात्र पाखण्डपूर्ण मिथ्या अभिमान प्रकाशित करनेके लिए यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और यज्ञोंमें पशु-वध करते हैं, परलोकमें उन्हें 'वैशस' नामक नरकमें डाला जाता है। वहाँ यमदूत उन्हें अपार यातना देकर उनका वध कर देते हैं ॥२५॥

यस्त्विह वै सवर्णा भार्या द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति ॥ २६ ॥

इस लोकमें जो द्विज कामान्ध होकर अपनी सवर्णा भार्याको वशीभूत करनेके लिए अपने वीर्यका पान कराता है, परलोकमें यमके अनुचर उसे 'लाला-भक्ष' नामक नरकमें डाल देते हैं और उसे वहाँ स्थित वीर्य-नदीके वीर्यका पान कराते हैं ॥२६॥

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति
राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेतान् यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः
सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति ॥ २७ ॥

इस लोकमें जो अपनी जीविकाके लिए लूटपाटको अपनी
वृत्ति बना लेते हैं, जो दूसरोंके घरोंको जला देते हैं, दूसरोंके
प्राण-नाशके लिए उन्हें विष पिला देते हैं, इसके अतिरिक्त जो
राजा अथवा राजकर्मचारी ग्रामवासियों अथवा व्यवसायियोंकी हत्या
करते हैं, ऐसे लोग मृत्युके बाद 'सारमेयादन' नामक नरकको
प्राप्त होते हैं, जहाँ सात सौ बीस यमके अनुचर कुत्ते यमदूतोंके
आदेशपर अपनी वज्रके समान दाढ़ोंसे आनन्दपूर्वक उनका भक्षण
करते हैं ॥ २७ ॥

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित् स
वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रयाद्गिरिमूर्ध्नः
सम्पात्यते। यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत् तिलशो
विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति ॥ २८ ॥

जो व्यक्ति इस लोकमें साक्षी देते समय, क्रय-विक्रयमें अथवा
दानके समय किसी प्रकारका झूठ बोलता है, परलोकमें यमदूत
उसे सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचे मुख करके अवीचिमत्
नामक नरकमें डाल देते हैं। इस नरकका कोई आधार स्थान
नहीं है। यहाँकी पथरीली भूमि जलके समान प्रतीत होती है।
इस जलमें वीचि अर्थात् तरङ्ग नहीं है—इसीलिए इसे 'अवीचि'
कहा जाता है। इसमें गिरनेसे पापियोंके शरीरोंके तिल-तिल करके
टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु मृत्यु नहीं होती। यमके दूतगण
पुनः उन्हें ऊपर ले जाते हैं और वहाँसे बार-बार नरकमें गिराकर
बहुत-सी यातनाएँ देते हैं ॥ २८ ॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां
व्रतस्थो वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये
वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति ॥ २९ ॥

इस लोकमें जो ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणी सुरापान करते हैं अथवा कोई व्रत धारण करनेवाला या कोई क्षत्रिय, वैश्य प्रमादवश सुरापान करता है, यमदूत उन्हें अयःपान नामक नरकमें ले जाते हैं और वहाँ अपने पैरोंको उनके वक्षःस्थल पर रखकर उत्तप्त अग्निसे गलाये हुए कृष्णवर्ण लोहेको उनके मुखमें डालते हैं ॥२९॥

अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचार-वर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरये अवाक्शिरा निपातितो दुरन्तयातना ह्यश्नुते ॥ ३० ॥

इस संसारमें जो झूठी प्रतिष्ठाके कारण अधम होनेपर भी स्वयंको 'मैं महान् हूँ' ऐसा मानकर अहंकारवश अपनेसे जन्म, तपस्या, विद्या, आचार, वर्ण और आश्रमादि पदवीमें सभी प्रकारसे श्रेष्ठ व्यक्तियोंका सम्मान नहीं करते, वे जीवित होते हुए भी मरे हुएके समान हैं। मृत्युके बाद यमदूत उन्हें नीचे मुख करके 'क्षारकर्दम' नामक नरकमें डाल देते हैं। वहाँ उन्हें अति कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती है ॥३०॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून् खादन्ति तांश्च ताश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव सुधितिनावदायासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः ॥ ३१ ॥

इस संसारमें जो पुरुष नरमेध आदि यज्ञोंसे भैरव और भद्रकाली आदि देवताओंकी पूजा करके नर-बलिके रूपमें पशु और स्त्रियोंका बलिदान करके उनका माँस खाते हैं, मृत्युके बाद वे सभी वध किये गये जीव यमालयमें राक्षस होकर कसाईके समान अपने सुतीक्ष्ण खड्गसे उनका वध कर देते हैं। जिन्होंने इस लोकमें नरमेध यज्ञ करके बड़े आनन्दके साथ नृत्य-गान करते हुए जिन पशुओंका रक्त पिया था, वे सभी नररूपी हिंसित जीव 'रक्षोगण भोजन' नामक नरकमें अपने वध किये जानेवालेका उसी प्रकार लहू पीकर नाचते-गाते हुए आनन्दित होते हैं ॥३१॥

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपश्रितानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून् शूलसूत्रादिषु प्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्याञ्चाभिहताः कङ्क-वटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति ॥ ३२ ॥

इस लोकमें जो निरपराध पशु जीनेकी इच्छासे जीवनकी रक्षाके लिए व्याकुल होकर ग्राम अथवा अरण्यमें आश्रय लेते हैं, उन सब निरीह प्राणियोंको जो नानाविध उपायोंसे विश्वास दिलाकर बछेसे (काँटेसे) बीँधते हैं अथवा रस्सीसे बाँध देते हैं तथा उन्हें खिलौना बनाकर उनके साथ खिलवाड़ करते हुए उन्हें यातना देते हैं, वे मृत्युके उपरान्त परलोकमें 'शूलप्रोत' नामक नरकमें ले जाये जाते हैं। वहाँ उनकी देहको शूलादिसे बेधा जाता है और वे भूख-प्याससे व्याकुल हो पड़ते हैं। चारों ओरसे गिद्ध और बटेर आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी आकर उन्हें नोंचते हैं। इस प्रकार यम-यातनासे व्याकुल होकर वे अपने किये पापोंका स्मरण करते हैं ॥ ३२ ॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपस्पृश्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान् ॥ ३३ ॥

इस लोकमें जो मनुष्य सर्पादि दुष्ट स्वभाववाले प्राणियोंके समान क्रोधित होकर प्राणियोंको उत्पीड़ित करते हैं, वे परलोकमें 'दन्दशूक' नामक नरकमें गिरते हैं। हे राजन्! इस नरकमें पाँचमुख अथवा सात मुखोंवाले सर्प उन्हें चूहोंके समान निगल लेते हैं ॥ ३३ ॥

ये त्विह वा अन्धावटकुशूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति ॥ ३४ ॥

इस लोकमें जो मनुष्य प्राणियोंको अन्धकूप, खत्ती (अन्न भण्डार गृह अथवा भूसा-गृह) एवं पर्वतोंकी गुफामें बन्द करके पीड़ित करते हैं, वे 'अवट-निरोधन' नामक नरकमें जाते हैं।

यहाँ अन्ध-कूपादिमें विषमिश्रित अग्नि और धुँसे उनकी श्वास घुटने लगती है। इसी प्रकारकी अनेक यातनाएँ उन्हें झेलनी पड़ती है ॥३४॥

यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान् वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्द्विधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्रकङ्काकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति ॥ ३५ ॥

इस लोकमें जो गृहस्थ अतिथि-अभ्यागतको देखकर बार-बार क्रोध करने लगता है और उसे पापमयी कुटिल दृष्टिसे ऐसे देखता है, मानो उसे दग्धकर डालेगा, ऐसे व्यक्तिको 'पर्यावर्त्तन' नामक नरकमें जाना पड़ता है। वहाँ वज्रके समान कठोर चोंचवाले गीध, कौए और बटेरादि पक्षी उस पाप-दृष्टि व्यक्तिकी दोनों आँखोंको बलपूर्वक निकाल लेते हैं ॥३५॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिषङ्गी अर्थ-व्ययविनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति। यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति ॥ ३६ ॥

इस लोकमें जो धनके मदसे मतवाला होकर 'मैं श्रेष्ठ हूँ'—इस अहङ्कारसे अपनी दृष्टि टेढ़ी बनाये रखता है, कोई मेरे धनका अपहरण न कर ले—इस आशङ्कासे गुरुजनोंके प्रति भी जो संदिग्ध रहता है, धन-क्षयकी चिन्तासे जिनका हृदय और मुख शुष्क रहते हैं, ऐसे व्यक्तिको किसी प्रकारकी शान्ति नहीं मिलती। पिशाचके समान अर्थका उपार्जन, वर्द्धन और रक्षणादिमें अपने चित्तको लगाकर वह जो पाप कर्म करता है, उस कारण उसे परलोकमें 'सूचीमुख' नामक नरकमें जाना पड़ता है। वहाँ यमदूत उस धन-पिशाच पापीके सर्वाङ्गको दर्जीके समान सुई-धागेसे सिल देते हैं ॥३६॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति। तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निर्विशन्ति ॥ ३७ ॥

महाराज परीक्षित्! यमालयमें इस प्रकारके सैकड़ों-हजारों नरक हैं। जिन अधार्मिकोंके विषयमें यहाँ उल्लेख किया गया है और जिनके विषयमें नहीं बतलाया है, उन्हें सभी नरकोंमें बारी-बारीसे जाना पड़ता है। और जो धार्मिक हैं, वे स्वर्गादि पुण्य लोकोंमें जाते हैं, किन्तु पाप-पुण्य समाप्त होनेपर वे पापी एवं पुण्यात्मा दोनों ही पुनः जन्म लेनेके लिए इस पृथ्वीपर लौट आते हैं ॥ ३७ ॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः। एतावानेवाण्डकोषो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उद्गीयते। यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद ॥ ३८ ॥

इन धर्म और अधर्मसे अतिरिक्त निवृत्ति पथके विषयमें मैं तुम्हें पहले ही (द्वितीय स्कन्धमें) बतला चुका हूँ। पुराणोंमें ऐसा वर्णन है कि यह ब्रह्माण्डकोष चौदह भागोंमें विभक्त है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् नारायणका अपनी मायाके गुणोंसे युक्त विराट् रूप है। भगवान्के इस स्थूलरूपको जो श्रद्धाके साथ वर्णन, पठन अथवा श्रवण करता है और दूसरोंको भी कराता है, उसकी बुद्धि श्रद्धा एवं भक्तियोगके कारण क्रमशः शुद्ध होती जाती है। उपनिषदोंमें भगवान्के स्थूलरूपका वर्णन बुद्धिसे परे बतलाया गया है, तो भी उसका अनुभव किया जा सकता है ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा यथा स्थूल-सूक्ष्म-रूपं भगवतो यतिः।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥ ३९ ॥

निवृत्तिपंथी यति भगवान्के स्थूल एवं सूक्ष्मरूपके विषयमें ठीकसे सुनकर पहले भगवान्के स्थूल विराट् रूपका चिन्तन करते हुए मनको वशीभूत करें, बादमें बुद्धिसे धीरे-धीरे सूक्ष्म स्वरूपमें अर्थात् भक्तियोगका आश्रय लें एवं भक्तोंके गन्तव्य भगवान्में चित्त लगाएँ ॥३९॥

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभः समुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां पञ्चमस्कन्धे नरकवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः।

हे राजन्! मैंने तुम्हें पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशाएँ, नरक और नक्षत्रमण्डल आदि लोकोंकी संस्थितिके विषयमें बतलाया—यही समस्त प्राणियोंके आश्रयीभूत भगवान्का परम अद्भुत स्थूल शरीर है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके छब्बीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमः स्कन्धः समाप्तः।





षष्ठ स्कन्धकी कथाका सार

श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर कथा, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन है। इनमें पूर्व-पूर्व स्कन्धोंमें 'सर्ग', 'विसर्ग' एवं 'स्थान' वर्णित हुए थे, इस स्कन्धमें पोषणका वर्णन है।

महाराज परीक्षितने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा, 'किस साधनसे जीवका नरककी यातनासे परित्राण हो सकता है?' तब श्रीशुकदेव गोस्वामीने बतलाया, इस कालमें काय, मन एवं वाक्यके द्वारा पापाचरण करके जीव यदि इसी जन्ममें उसका यथोचित प्रायश्चित्त नहीं करता है तो मृत्युके पश्चात् उन समस्त पापकर्मोंके फलस्वरूप वह नरक प्राप्त करता है और असीम यन्त्रणाका भोग करता है। कर्म तथा ज्ञान मार्गमें विविध प्रायश्चित्तोंके द्वारा पाप विनष्ट हो सकते हों, तो भी पापका मूल अविद्या नष्ट नहीं होती और पापमें पुनः प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्तियोगके प्रभावसे ही यह पाप-प्रवृत्ति समूल ध्वंस हो सकती है। जो एक बार भी श्रीकृष्णमें चित्त अर्पण कर सके, तो उसे यम अथवा यमदूतोंका दर्शन नहीं करना पड़ता। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका सुनी जाती है।

कान्यकुब्जवासी ब्राह्मण अजामिल वेद-निष्ठ और सदाचार-सम्पन्न था, लेकिन प्राक्तन (पूर्व-सञ्चित) कर्मफलके कारण किसी शूद्रामें (वेश्यामें) आसक्त होनेके कारण वह सदाचारसे भ्रष्ट हो गया। अजामिलका जब मृत्युकाल उपस्थित हुआ, तो यमदूतको देखकर वह भयभीत हो गया। तब उसने इसी शूद्रा पत्नीके गर्भसे उत्पन्न दस पुत्रोंमें-से कनिष्ठ पुत्रको 'नारायण' कहकर बुलाया—यह उसका साङ्केत्य नामाभास था, इसके परिणाम-स्वरूप विष्णुदूत वहाँ आये और उसे यमदूतोंके पाशसे मुक्त किया। यमदूतोंने विष्णुदूतोंसे जिज्ञासा की कि यह घोर पापी अजामिल यमदण्डके योग्य क्यों नहीं है?

तब विष्णुदूतोंने उत्तर दिया—ब्राह्मणके ‘नारायण’ नामाभाससे कोटि जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त हो गया है। शास्त्रविहित प्रायश्चित्तके द्वारा पापकी शान्ति होनेपर भी उससे पापीकी पाप-प्रवृत्ति दूर नहीं होती; किन्तु भगवान् श्रीहरिके नामाभाससे पापके मूलका ही उच्छेद हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इन दूतोंके परस्पर कथोपकथन-श्रवणसे अजामिल धर्म-तत्त्वको भलीभाँति जान गया और आत्मकृत पूर्वपापोंके लिए अनुताप करने लगा। वह वहाँसे ‘हरिद्वार’ नामक तीर्थस्थल पर चला गया और ऐकान्तिक भक्तियोगसे समाधिमें निमग्न हो गया। यथासमय पूर्व दृष्ट विष्णुदूतोंका वहाँ आगमन हुआ और वे उसे स्वर्ग-विमानमें आरोहण कराके विष्णुलोक ले गये।

यमदूतोंने यमराजके समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन किया और विशेषरूपसे यह जाननेकी प्रार्थना की कि ‘कौन यमदण्ड्य है’ और ‘कौन यम-अदण्ड्य’। यम बतलाने लगे—‘सनातन धर्म अत्यन्त निगूढ़ है, उसे भगवान् और भक्तोंके अलावा कोई नहीं जान सकता। यम इत्यादि द्वादश महाजन भगवान्की कृपासे इस तत्त्वको किञ्चित् मात्र जानते हैं। निरपराध नाम-संकीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हरिभक्त कभी भी यमदण्ड्य नहीं होते। जो भगवान्के नामादिका निष्कपट भावसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण अथवा उनकी वन्दना नहीं करता, वही यमदण्ड्य है। जो श्रीहरिको विस्मृत करके अत्यन्त गृहासक्त है, वह भी यमदण्ड्य है। श्रीहरिके नामादिका असम्यक् उच्चारण पाप-हरणादि इतने कार्य कर सकता है, जो बहु-कष्ट-साध्य कर्मादिसे भी नहीं हो सकते। अजामिल इसका दृष्टान्त-स्थल है।

श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षितकी प्रार्थनाके अनुसार पुनः जीव-सृष्टिके विषयमें वर्णन करने लगे। उन्होंने कहना आरम्भ किया कि प्रजापति दक्षने प्रजाकी सृष्टिके निमित्त ‘श्रीहंसगुह्य’ स्तोत्र द्वारा श्रीहरिको सन्तुष्ट किया। भगवान् श्रीहरिने दक्षको असिक्नी नामकी कन्यासे विवाह करनेका आदेश दिया और वे अन्तर्धान हो गये। प्रजापति दक्षने अयुत संख्यक पुत्र उत्पन्न किये और उन पुत्रोंको प्रजाकी सृष्टि करनेका आदेश दिया। इसपर वे पुत्र ‘नारायणसर’ नामक तीर्थमें तपस्याके लिए चले गये। वहाँ देवर्षि नारदके उपदेशसे वे प्रजा-सृष्टि कार्यसे

विरक्त हो गये और पारमहंस-धर्ममें अनुरक्त हो गये। दक्ष अपने पुत्रोंको इस स्थितिमें देख शोकाकुल हो गये। उन्होंने पुनः सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें सृष्टि करनेके लिए आदेश दिया। वे भी बड़े भाइयोंके पथका अनुवर्त्तन करते हुए श्रीनारदजीके उपदेशसे श्रीविष्णुकी आराधनामें नियुक्त हो गये। इसपर दक्षने देवर्षि नारदका तिरस्कार करते हुए अभिशाप दिया कि वे (श्रीनारद) लोकमें कोई भी स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

दक्षने साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं और उन्हें चन्द्र, कश्यप, धर्म इत्यादिको प्रदान कर दिया। इन्हीं कन्याओंसे देव, दानव, मनुष्य, नाग, पशु, पक्षी इत्यादि असंख्य जीव उत्पन्न हुए, जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व भर गया।

एक बार देवराज इन्द्र सुर-सिंहासन पर विराजमान थे। इसी समय देवगुरु बृहस्पति वहाँ उपस्थित हुए। ऐश्वर्यमदोन्मत्त इन्द्रने उनके प्रति किसी प्रकारका सम्मान प्रदर्शन नहीं किया, इसपर बृहस्पति सभा त्यागकर चले गये। गुरुकी अवमाननाका फल यह हुआ कि इन्द्र युद्धमें शीघ्र ही दैत्योंसे पराजित होकर सिंहासनसे च्युत हो गये। अन्तमें त्वष्टा-तनय विश्वरूपको पुरोहितके रूपमें वरण करके और उनकी कृपासे 'नारायण-कवच' प्राप्त करके इन्द्रने पुनः सुर-सिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया।

इन्द्रने जब देखा कि पुरोहित विश्वरूप गोपनीयरूपसे असुरोंको यज्ञ-भाग प्रदान कर रहे हैं, तो उन्होंने विश्वरूपके मस्तकका छेदन कर दिया और इस ब्रह्महत्या-पापको भूमि, जल, वृक्ष एवं स्त्रियोंमें विभक्त कर दिया। विश्वरूपके पिता त्वष्टाने इन्द्र-वधकी कामनासे यज्ञ किया, किन्तु स्वरक्रमादिका व्यतिक्रम होनेके कारण फल विपरीत हुआ। उन्होंने इन्द्रके शत्रु-वर्द्धनकी कामना की थी, किन्तु इन्द्र जिसके शत्रु हैं, उस वृत्रासुरकी उत्पत्ति हो गयी। वृत्रासुरके प्रभावसे निस्तेज होकर देवगण भगवान्‌के शरणागत हुए। भगवान्‌ने उनको दधीचि मुनिके समीप भेजा और उनसे उनकी अस्थि-दानकी प्रार्थना करनेका निर्देश दिया। दधीचि मुनिकी अस्थियोंसे निर्मित वज्रसे वृत्रासुरका वध हुआ।

वृत्रासुरका वध करके इन्द्र ब्रह्म-हत्याके पापसे सुखी नहीं रह पाये और वहाँसे निर्मुक्तिका उपाय सोचते-सोचते मानसरोवर चले गये। वहाँ लक्ष्मीदेवीकी कृपासे संरक्षित रहे। सहस्र वर्षोंतक वे वहीं अवस्थित रहे। इस समय राजा नहुष इन्द्रके प्रतिनिधिके रूपमें कार्य करते रहे किन्तु शचीदेवीके प्रति भोग-बुद्धिके अपराधके कारण वे सर्पयोनिको प्राप्त हुए।

वृत्रासुर पूर्वजन्ममें शूरसेन राजा चित्रकेतुके नामसे विख्यात थे। पहले तो वे निःसन्तान थे, बादमें महर्षि अङ्गिराके वरदानसे उनकी प्रथम पत्नीसे एक पुत्रने जन्म ग्रहण किया। इससे उनकी अन्य पत्नियाँ अनादरका अनुभव करने लगीं और प्रतिहिंसाके आवेशमें बालकको विष पिलाकर मार डाला। राजा पुत्र-शोकसे अत्यन्त कातर हो पड़े। उसी समय महर्षि अङ्गिराके साथ देवर्षि नारदका वहाँ आगमन हुआ। उन्होंने मृत बालकको पुनर्जीवित करके चित्रकेतुमें ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उस बालकके मुखसे जीवतत्त्वको इस प्रकार प्रकट किया, 'जीवात्मा निजकर्मवश नाना योनियोंमें भ्रमण करती है, देहादिमें ही माता-पिताका सम्बन्ध है, देहत्याग करने पर किसीके साथ कोई सम्बन्ध रहता नहीं; अतः उसके लिए शोक करना निरर्थक है।' इस प्रकार अपने मृत पुत्रके मुखसे तत्त्वोपदेश श्रवण करके चित्रकेतु और उनकी पत्नियोंका शोक दूर हुआ। देवर्षि नारदकी कृपासे महाराज चित्रकेतुको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें सात दिनोंके अन्दर ही श्रीसङ्कर्षणदेवका दर्शन प्राप्त हुए।

एक बार मुनियोंकी सभामें महादेव पार्वतीका आलिङ्गन किये हुए बैठे थे, यह देखकर चित्रकेतु हँस पड़े। परमहंस महादेवके प्रति चित्रकेतुकी ऐसी अवज्ञा देखकर पार्वतीदेवी क्रुद्ध हो गयीं तथा उन्हें अभिशाप दे दिया कि—“चित्रकेतो! तुम्हारा जन्म असुर-कुलमें होगा।” चित्रकेतु पार्वतीके अभिशापसे किञ्चित् मात्र भी भयभीत नहीं हुए और धीर-स्थिर चित्तसे कहने लगे—“जीव प्राक्तन कर्मफलसे ही ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। कोई भी किसीके सुख-दुःखका हेतु नहीं है।” इस प्रकार चित्रकेतु ही वृत्रासुरके रूपमें आविर्भूत हुए। यह सब देखकर महाभागवत महादेव अति आनन्दित हुए।

और भगवद्भक्तोंकी महिमाका वर्णन करने लगे। इस प्रसङ्गमें उन्होंने भगवद्भक्तोंमें निर्भीकता, स्वर्ग एवं नरकमें तुल्य-बोध, ईश्वराभिमानी देवताओंमें भगवत्स्वरूप उपलब्धिका अभाव, चित्रकेतुके साथ अपना अप्राकृत बन्धुत्व एवं उनके (चित्रकेतुके) परिहासका गूढ़ रहस्य इत्यादि विषय पार्वती एवं अन्यान्य सभासदोंको बतलाये। परमभक्त चित्रकेतु देवीको अभिशाप देनेमें परम समर्थ थे परन्तु उन्होंने उन्हें अभिशाप न देकर उनके द्वारा प्रदत्त शापको सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया। साधुओंके लक्षण ऐसे ही होते हैं।

सृष्टिका पुनः वर्णन हुआ है। इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजीने अदिति एवं दितिके वंशका विस्तृत वर्णन किया है। अदितिके पुत्रोंसे बहुत सन्तानें उत्पन्न हुईं। दितिके दो पुत्र थे—हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु। हिरण्यकशिपुसे प्रह्लादका आविर्भाव हुआ। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके विष्णुके हाथोंसे मारे जानेपर दिति पुत्र-हत्याके प्रतिशोधके लिए कृतसङ्कल्प हो गयी तथा इन्द्रको ही हत्याका मूल कारण जानकर इन्द्र-विनाशक पुत्र-प्राप्तिके लिए कश्यपकी सेवा करने लगी। सेवासे सन्तुष्ट होकर कश्यपने दितिको कतिपय नियमोंके साथ संवत्सर-व्रत धारण करनेका उपदेश दिया और सचेत किया—“वैगुण्य घटने पर विपरीत फल होगा।” दितिके व्रत धारण करनेपर छिद्रान्वेषी इन्द्रने दैवात् उसके व्रत-वैगुण्यको देख लिया और योगबलसे उसके गर्भमें प्रवेश कर गर्भस्थ सन्तानको उनचास खण्डोंमें विभक्त कर दिया। भगवद् इच्छासे ही वे जीवित थे। इन्द्रके शत्रु होनेके स्थान पर वे उनके मित्रके रूपमें उनचास-मरुत् नामसे प्रसिद्ध हुए।





श्रीमद्भागवतम्

षष्ठः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

अजामिल उपाख्यान
विष्णुदूतों और यमदूतोंका संवाद

श्रीपरीक्षिदुवाच—

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा।

क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥

परीक्षित् महाराजने कहा—हे भगवन्! आपने पहले (द्वितीय स्कन्धमें) निवृत्ति-मार्गका यथावत् वर्णन किया है। उसमें यह बतलाया था कि इस निवृत्तिमार्गसे जीव क्रमशः अर्चिरादि लोकोंको प्राप्त करके ब्रह्माजीके निकट उपस्थित होता है और उनके साथ मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है ॥१॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने।

योऽसावलीन प्रकृतेर्गुणसर्गः पुनःपुनः ॥ २ ॥

हे मुनिवर! इसके साथ ही (तृतीय स्कन्धमें) आपने प्रवृत्ति मार्गके विषयमें भी बतलाया था कि जब तक प्रकृति अर्थात् मायासे निवृत्ति न हो, तबतक जीवोंकी कामात्मता एवं अजितेन्द्रियता बनी रहती है, अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिए बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होते रहते हैं, यही प्रवृत्ति-मार्गका स्वरूप है; इस मार्गसे जीवोंको स्वर्गादि सुख-भोगोंकी प्राप्ति भी होती है ॥२॥

अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।

मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३ ॥

अधर्मके फलस्वरूप जो नानाविध नरकोंकी प्राप्ति होती है, उसका भी आपने भलीभाँति (पञ्चम स्कन्धमें) वर्णन किया। जिस मन्वन्तरमें स्वायम्भुव मनु आविर्भूत होते हैं, उस आदि (प्रथम) मन्वन्तरके बारेमें भी चतुर्थ स्कन्धके प्रथम भागमें आपने बतलाया है ॥३॥

प्रियव्रतोत्तानपदोर्वशस्तच्चरितानि च ।

द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४ ॥

धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।

ज्योतिषां विवराणाञ्च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५ ॥

आपने (चौथे और पाँचवे स्कन्धमें) प्रियव्रत एवं उत्तानपादके वंशों एवं चरित्रोंका भी वर्णन किया। सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरिने जिस प्रकार वर्ष, समुद्र, नदी, उद्यान, वनस्पति इत्यादिकी सृष्टि की है, उनके विभाग, लक्षण एवं परिमाणका निर्देश करते हुए आपने उनके द्वारा रचित भूमण्डल, ज्योतिष्वक्र एवं पातालादि लोकोंका भी वर्णन किया ॥४-५॥

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः ।

नानोग्रयातनान् नेयात् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे महाभाग! अब आप कृपापूर्वक वे सब साधन-उपाय बतलाएँ, जिनका अनुष्ठान करके जीवोंको नानाविध असह्य यातनामय नरकोंमें जाना ही न पड़े ॥६॥

श्रीशुक उवाच—

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः

कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।

ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति

ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस जन्ममें मनुष्य मन, वाणी एवं शरीरसे जो पापाचरण करता है, यदि वह इसी जन्ममें उन सभी पापोंका जो मन, वचन एवं शरीरसे यथाविधि (मनु आदि द्वारा बतलायी गयी धर्म विधिके अनुसार) प्रायश्चित्त नहीं करता तो मृत्युके पश्चात् वह भीषण यातनाओंसे पूर्ण उन सभी लोकोंको प्राप्त होता है, जिनके विषयमें मैंने तुम्हें पाँचवे स्कन्धके अन्तमें बतलाया था ॥७॥

तस्मात् पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥८॥

अतएव जरावस्था एवं मृत्युसे पूर्व ही शरीरके सक्षम रहते हुए शीघ्रातिशीघ्र पापोंके प्रायश्चित्त-अनुष्ठानके लिये प्रयत्न करना उचित है (नहीं तो समय बीत जानेपर दुगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता है)। कुशल सुचिकित्सक जिस प्रकार रोगोंको छोटा एवं बड़ा जानकर उनके अनुरूप चिकित्सा करता है, उसी प्रकार पापोंकी गुरुता और लघुताको जानकर उनके अनुसार शीघ्र ही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये ॥८॥

श्रीराजोवाच—

दृष्टश्रुताभ्यां यत् पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम्।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥९॥

महाराज परीक्षित्ने कहा—हे मुनि! पाप करनेपर इस लोकमें राजदण्ड और लोकनिन्दादि एवं परलोकमें नरक-प्राप्ति होती है—यह देख-सुनकर लोग समझ ही सकते हैं कि पाप उनके लिये कितना अहितकर है। यह जानकर प्रायश्चित्त करनेके बाद भी मनुष्य पाप-कर्म करनेके लिये पुनः विवश हो जाते हैं। अतः द्वादशवर्षीय कष्टसाध्य व्रतादिको किस प्रकार प्रायश्चित्त कहा जा

सकता है। प्रायश्चित्त करनेके बाद भी पुनः-पुनः पापमें प्रवृत्ति होती है, फिर उसे प्रायश्चित्त कैसे कहेंगे? ॥९॥

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत् पुनः।

प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥१०॥

कभी मनुष्य पापसे छूट भी जाता है, पर कुछ समय बाद ही पुनः पाप करने लगता है। अतः मैं समझता हूँ कि ऐसा कर्मकाण्डीय प्रायश्चित्त हाथीके स्नानके समान निरर्थक है। (हाथी स्नानोपरान्त पुनः अपने शरीरको मलिन करने लगता है) ॥१०॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।

अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥११॥

वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! पापाचरण कर्म हैं, पुनः चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त भी कर्म हैं। अतएव कर्मोंके द्वारा कर्मोंके जड़ सहित नष्ट होनेकी आशा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्तादि कर्मोंके अधिकारी सभी पुरुष अविद्याग्रस्त हैं। प्रायश्चित्त द्वारा एक बार पाप नष्ट हो भी जाय तो भी अविद्याका क्षय न होनेसे संस्कारवश पुनः-पुनः दूसरे पापोंके अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। (हे राजन्! यदि आप पूछें कि, 'वास्तविक प्रायश्चित्त' क्या है, तो उसका उत्तर है—अविद्याका नाश करनेवाला भगवद्-ज्ञान ही एकमात्र वास्तविक प्रायश्चित्त है) ॥११॥

नाशनतः पथ्यमेवात्र व्याधयोऽभिभवन्ति हि।

एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते ॥१२॥

महाराज! जिस सुपथ्यसे रोग उत्पन्न होनेकी आशङ्का नहीं होती, उसका जो भलीभाँति सेवन करते हैं, उन्हें रोग अपने वशीभूत नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उससे क्रमशः पूर्व व्याधियोंकी भी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार जो नियम पालन करके चलते

हैं, वे पापवासनाओंसे मुक्त होकर क्रमानुसार तत्त्वज्ञानके अधिकारी हो जाते हैं और अपना कल्याण करनेमें समर्थ हो जाते हैं ॥१२॥

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च।

त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च ॥१३॥

देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः।

क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥१४॥

चित्तकी एकाग्रता, ब्रह्मचर्य, आंतरिक एवं बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह अन्नादिका दान, सत्य भाषण, पवित्रता, अहिंसादि यम, दम तथा जपादि नियम-पालन करनेसे धर्मरहस्यविद् श्रद्धावान् तत्त्वज्ञानी पुरुष तन, मन, वचनसे किये गये पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर डालते हैं, जिस प्रकार अग्नि बाँसोंके झुरमुटको जला डालती है ॥१३-१४॥

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।

अघं धुन्वन्ति कार्तस्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१५॥

(अग्निसे बाँसोंके झुरमुटके विनाशका उदाहरण देकर जिस तपस्या, ब्रह्मचर्यादिके आधारपर पाप-नाशकी बात कही गयी है, उसमें भी पुनः पापाङ्कुरोंके उत्पन्न होनेकी आशङ्का रहती है क्योंकि बाँसोंका झुरमुट जड़ सहित पूरी तरह नष्ट हो, इसके पहले ही अग्नि बुझ जाती है। अतः इस प्रकारके प्रायश्चित्तोंके विषयमें सुनकर परीक्षित् महाराज पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हुए। यह देखकर वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने उनके समक्ष भक्तोंके मतका उल्लेख करते हुए कहा—) परीक्षित्! कुछ (भक्ति-प्रधान पुरुष बड़े ही दुर्लभ हैं) वासुदेव-परायण पुरुष तपस्यादिकी अपेक्षा किये बिना केवल भक्तिके प्रभावसे ही पापोंको उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार सूर्य कुहरेको नष्ट कर देता है। ऐकान्तिक भक्तोंके लिये पापोंका नाश आनुषङ्गिक फल है। (जिस प्रकार प्रकाश प्रदान करना ही सूर्यका मुख्य कार्य है, शीतका विनाश तो उसका गौण कार्य है, उसी प्रकार भगवत्सेवा और प्रेमप्राप्ति ही भक्तिका मुख्य फल है एवं अविद्या वा पापादिका विनाश उसका

गौण फल है; जैसे सूर्य उदित होनेपर कुहरा सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार केवलाभक्ति उदित होनेपर जीवोंकी पाप करनेकी प्रवृत्ति भी पूर्णतया नष्ट हो जाती है) ॥१५॥

न तथा ह्यधवान् राजन् पूयेत तपादिभिः।

यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया ॥ १६ ॥

हे राजन्! पापी पुरुष भगवद् भक्तोंके निरन्तर सङ्ग और उनकी सेवाके प्रभावसे श्रीकृष्णके प्रति आत्मसमर्पित होकर (शरणागत और सेवोन्मुख होकर) जिस प्रकार पवित्र हो सकते हैं, निश्चय ही वैसी पवित्रता वे तपस्यादिसे भी प्राप्त नहीं कर सकते ॥१६॥

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः।

सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥ १७ ॥

इस जगत्में एकमात्र भक्तिमार्ग ही मङ्गलमय, विघ्नादि भयसे रहित, शास्त्रसम्मत उत्तम पथ है। इस भक्तिमार्गपर ही नारायण-परायण, निष्काम, सुशील, साधुजन विचरण करते हैं ॥१७॥

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।

न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥ १८ ॥

हे राजेन्द्र! जिस प्रकार समस्त नदियाँ मिलकर भी मदिरासे भरे पात्रको शुद्ध नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कर्मकाण्डीय बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंका अनुष्ठान भी नारायण-विमुख व्यक्तिको पवित्र नहीं कर सकता ॥१८॥

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-

निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।

न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्

स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ १९ ॥

इस संसारमें जिन्होंने केवल एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अपने मनको अभिनिविष्ट किया है (यथार्थ-अनुभवकी बात तो दूर रहे) अर्थात् जिनका चित्त श्रीकृष्णके गुणोंके प्रति

किञ्चित्मात्र भी आसक्त हो गया है अथवा जिनके हृदयोंमें कृष्ण-रतिका किञ्चित्मात्र आभास भी उदित हो गया है, उनके सारे प्रायश्चित्त हो गये, उन्हें और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। इन लोगोंको स्वप्नमें भी यम अथवा पाशधारी यमदूतोंके दर्शन नहीं होते ॥१९॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥ २० ॥

इस विषयमें महात्मा लोग दृष्टान्तरूपमें एक इतिहास सुनाया करते हैं, जिसमें विष्णुदूतों एवं यमदूतोंका संवाद है। तुम भी यह इतिहास सुनो ॥२०॥

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्वासीपतिरजामिलः।

नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥ २१ ॥

कान्यकुब्ज देशमें अजामिल नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसने एक शूद्रासे (वेश्यासे) विवाह किया था। शूद्राके संसर्गसे उस ब्राह्मणका सारा सदाचार नष्ट हो गया ॥२१॥

बन्धक्षैः कैतवैश्चोर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः।

बिभ्रत् कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥ २२ ॥

अजामिल पासोंके छलसे दूसरोंको जूएमें हरा देता, यात्रियोंको बाँधकर उनका सब कुछ लूट लेता, चोरी, धोखा-धड़ी करता, ठग लेता। इस प्रकार लोकनिन्दित अपवित्र वृत्तिका आश्रय लेकर वह सभी प्राणियोंको बहुत कष्ट देकर अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करता था ॥२२॥

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान्।

कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः ॥ २३ ॥

हे राजन्! इस प्रकार दुराचार करते हुए वह अपने बच्चोंका लालन-पालन करता रहा और इसीमें उसकी दीर्घायुके अट्ठासी वर्ष बीत गये ॥२३॥

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषान्तु योऽवमः।

बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम्॥ २४॥

इस वृद्ध अजामिलके दस पुत्र थे। उनमें सबसे छोटा पुत्र आयुमें बहुत-ही छोटा था। उसका नाम था नारायण। छोटा होनेके कारण नारायण अपने माता-पिताको अतिशय प्रिय था॥२४॥

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि।

निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम्॥ २५॥

वृद्ध अजामिल उस बालककी तोतली-मीठी बोलीसे आकृष्ट होकर सर्वदा उसकी बालसुलभ क्रीड़ाओंको देखता रहता और उसका चित्त अतिशय आनन्दमें डूब जाता। वह अपना हृदय उसपर निछावर कर देता॥२५॥

भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकं स्नेहयन्त्रितः।

भोजयन् पाययन् मूढो न वेदागतमन्तकम्॥ २६॥

मूर्ख अजामिल उस बालकके स्नेहमें ऐसा बँध गया था कि जब वह स्वयं भोजन करता, तब उसे भी अपने साथ भोजन कराता। जब वह पानी पीता तो उसे भी पानी पिलाता। इन सब कार्योंमें व्यस्त रहनेसे उसे यह ज्ञान ही नहीं रहा कि मृत्यु उसके सिरपर आ पहुँची है॥२६॥

स एवं वर्त्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।

मतिञ्चकार तनये बाले नारायणाद्धये॥ २७॥

बालक नारायणके स्नेहमें मुग्ध हुआ अजामिल अपना जीवन काल व्यतीत कर रहा था कि उसका मृत्युकाल उपस्थित हो गया। तब भी वह मूर्ख अपने पुत्र नारायणके विषयमें ही चिन्ता कर रहा था। (नारायण नाम-ग्रहणके परम माहात्म्यके कारण उसकी भक्ति भी बढ़ रही थी)॥२७॥

स पाशहस्तांस्त्रीन् दृष्ट्वा पुरुषानतिदारुणान्।

वक्रतुण्डानूद्धर्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्॥ २८॥

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥ २९ ॥

उसी समय अजामिलने देखा कि तीन यमदूत उसकी जीवात्माको लेने आये हैं। उनकी आकृति अति भीषण है, उनके हाथोंमें पाश है, रोएँ खड़े हुए हैं। उन्हें देखते ही अजामिल बड़ा व्याकुल हो गया। उसका पुत्र बालक नारायण दूर खेलनेमें व्यस्त था। अजामिलने उसे उच्च स्वरसे पुकारा—‘नारायण!’ ॥२८-२९॥

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्तनम्।
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥ ३० ॥

हे महाराज! मरते समय अजामिलके मुखसे अपने स्वामी भगवान् विष्णुका नाम-संकीर्तन सुनकर और उसीको हरि-कीर्तन (अपराध रहित साङ्केत्यरूप नामाभास) मानकर भगवान् विष्णुके पार्षद बड़े वेगसे वहाँ आ पहुँचे ॥३०॥

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम्।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥ ३१ ॥

उस समय यमदूत दासीपति अजामिलके शरीरमें-से जीवात्माको (उसके सूक्ष्मशरीरको) निकाल ही रहे थे कि तभी विष्णुदूतोंने बलपूर्वक उन्हें रोक दिया ॥३१॥

ऊर्चुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

उनके रोकनेपर वैवस्वतोंमें प्रधान सूर्य-पुत्र यमराजके दूतोंने भगवान् विष्णुके दूतोंसे कहा—तुम लोग कौन हो? धर्मराजकी आज्ञाका निषेध क्यों कर रहे हो? ॥३२॥

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ।
किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥ ३३ ॥

तुम लोग किसके दूत हो? कहाँसे आये हो? इस पापिष्ठ अजामिलको ले जानेसे क्यों रोक रहे हो? क्या तुम

लोग कोई देवता हो, उपदेवता हो? अथवा कोई सिद्धश्रेष्ठ हो? ॥३३॥

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।

किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥ ३४ ॥

सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।

धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥ ३५ ॥

दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन तेजसा ।

किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान् नो निषेधथ ॥ ३६ ॥

हम देख रहे हैं कि तुम सबके नेत्र कमल-पत्रके समान विशाल हैं, सभीने रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा है, सभीके मस्तकोंपर किरीट, कानोंमें कुण्डल, गलोंमें कमलोंकी माला सुशोभित हो रही है। सभी नव-यौवनसे पूर्ण हैं, सभीकी आजानुलबित मनोहर चारों भुजाओंमें धनुष, तरकस, गदा, शङ्ख, चक्र एवं कमल सुशोभित हो रहे हैं। तुम सभीके तेजसे दिशाओंका अन्धकार नष्ट हो रहा है और सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। हम धर्मराजके किङ्कर हैं, तुम लोग हमें किसलिये रोक रहे हो? ॥३४-३६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्ते यमदूतैस्ते वासुदेवोक्तकारिणः ।

तान् प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्हादया गिरा ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! यमदूतोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् वासुदेवके आज्ञाकारी विष्णुदूत मुस्कुराये और मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहने लगे ॥३७॥

श्रीविष्णुदूता ऊचुः—

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।

ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्चाधर्मस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥

श्रीविष्णुके दूतोंने कहा—यदि तुम लोग धर्मराजके आज्ञाकारी सेवक हो, तो हमें धर्मका स्वरूप और अधर्मके लक्षण बतलाओ ॥३८॥

कथंस्विद्ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम्।

दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित् कतिचित्रणाम् ॥ ३९ ॥

तुम्हारे दण्डकी व्यवस्था कैसी है? किस कारणवश दण्ड दिया जाता है? किसे दण्ड दिया जाता है? क्या सभी कर्मालोग दण्डनीय हैं अथवा उनमें-से कुछ ही दण्डके पात्र हैं? ॥३९॥

यमदूता ऊचुः—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥ ४० ॥

यमदूतोंने कहा—वेदोंमें जिसे कर्तव्यके रूपमें बतलाया गया है, वही धर्म है और इसके विपरीत जो निषिद्ध है, उसे करना अधर्म है। हमने सुना है कि वेद ही साक्षात्-प्रमाण हैं क्योंकि वे भगवान् नारायणके स्वाभाविक निःश्वासरूप हैं ॥४०॥

येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः।

गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥ ४१ ॥

जो अपने धाममें रहकर सङ्कल्प मात्रसे ही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्राणियोंको उनके शान्तत्वादि गुण, ब्राह्मणादि नाम, अध्ययनादि क्रिया और वर्णाश्रमादि रूपोंके द्वारा यथायथरूपमें प्रकाशित करते हैं, वे ही नारायण हैं ॥४१॥

सूर्योऽग्निः खं मरुद्देवः सोमः सन्ध्याहनी दिशः।

कं कृः स्वयं धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥ ४२ ॥

सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवता, चन्द्र, सन्ध्या, दिन, रात दिशाएँ जल, पृथ्वी और स्वयं धर्म—ये सभी जीवोंके कर्मोंके साक्षी हैं ॥४२॥

एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते।

सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥ ४३ ॥

इन सभीकी साक्षीसे अधर्मका पता चल जाता है, जिससे अधर्मोंके दण्डका निर्णय होता है। सभी पापकर्म

करनेवाले मनुष्य अपने किये कर्मोंके अनुसार दण्डके पात्र होते हैं ॥४३॥

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः।

कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान् न ह्यकर्मकृत् ॥४४॥

हे निष्पाप पुरुषो! कर्मियोंके द्वारा पाप एवं पुण्य दोनों करनेकी सम्भावना रहती है क्योंकि उनका सत्त्वादि गुणोंसे सम्बन्ध रहता है। देहधारी सभी व्यक्ति क्षणमात्रके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकते। अतएव कर्मियोंसे पाप होना अवश्यम्भावी है; अतः सभी कर्मी दण्डनीय हैं ॥४४॥

येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः।

स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥४५॥

इस लोकमें जो लोग जिस परिमाणमें और जिस प्रकारसे धर्म अथवा अधर्म करते हैं परलोकमें वे लोग उसी प्रकारसे और उतने ही परिमाणमें अपने कर्मोंका भोग करते हैं ॥४५॥

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते।

भूतेषु गुणवैचित्र्यात् तथान्यत्रानुमीयते ॥४६॥

हे देवश्रेष्ठजनो, इस लोकमें जैसे सत्त्वादि तीन गुणोंके वैचित्र्यके कारण प्राणियोंकी (शान्त, भयङ्कर, मूर्ख, सुखी-दुःखी और मध्यवर्ती-सुख-दुःख दोनों) तथा धार्मिक-अधार्मिक और उनके बीचकी) त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं। उसी प्रकार परकालमें मृत्युके बाद भी तीन प्रकारकी दशाएँ देखी जाती हैं ॥४६॥

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा।

एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्मार्थमनिदर्शनम् ॥४७॥

जिस प्रकार वर्तमान वसन्तादि काल भूत एवं भविष्यमें आनेवाली वसन्तादि ऋतुओंके पुष्प-फलादि गुणोंका अनुमान करा देता है, उसी प्रकार यह वर्तमान जन्म अतीत एवं भविष्यत् जन्मके धर्मार्थ दोनों प्रकारके कर्मोंका निदर्शन-स्वरूप होता है ॥४७॥

मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति।

अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥ ४८ ॥

सर्वज्ञ एवं ब्रह्मतुल्य यमदेव अपनी संयमनी पुरीमें रहकर (अथवा प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें अवस्थित रहकर) मनसे ही जीवोंके पूर्वकृत आचरणोंको देख सकते हैं एवं उसीके अनुसार वहीं रहकर मनसे ही उनके भविष्यके आचरणकी मीमांसा भी कर लेते हैं ॥ ४८ ॥

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि।

न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥ ४९ ॥

निद्रामें सोया हुआ अज्ञानी व्यक्ति जिस प्रकार स्वप्नमें देखी गयी कल्पित देहको ही सर्वस्व मान लेता है—अर्थात् उसमें ही आत्मबुद्धि कर लेता है, उसी प्रकार पूर्व जन्मोंकी स्मृति नष्ट होनेसे अविद्या उपाधिसे ग्रस्त जीव पूर्व-पूर्व कर्मोंसे अभिव्यक्त वर्तमान देहादिमें मैं-मेराकी बुद्धि कर लेता है और अपने पूर्व जन्मोंके विषयमें कुछ भी नहीं जान पाता ॥ ४९ ॥

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः।

एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥ ५० ॥

सिद्धपुरुषो! जीव अकेले ही इस शरीरकी हस्तादि पाँच कर्मेन्द्रियोंसे लेना-देना, चलना-फिरना आदि अपने अभिलषित कर्म करता है एवं श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्शादि पाँच विषयोंका उपभोग करता है। सोलहवाँ पदार्थ जो मन है, उसके साथ मिलकर सत्रहवाँ तत्त्व जीव स्वयं अकेले ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं मन—इन सोलहके सहयोगसे विषयोंको भोगता रहता है ॥ ५० ॥

तदेतत् षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत्।

धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥ ५१ ॥

दस इन्द्रियों, शब्द स्पर्शादि पाँच तन्मात्राओं और मन—इन सोलह कलाओंसे युक्त, सत्त्वादि तीन गुणोंका कार्यभूत, दुर्लभ्य,

प्रबल इच्छाओंसे निर्मित यह लिङ्ग देह जीवको पुनः-पुनः हर्ष-शोक, भय एवं पीड़ा देनेवाले इस संसारमें डाल देता है ॥५१॥

देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन् कर्माणि कार्यते।

कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति ॥५२॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें न कर पानेवाला मूर्ख देहधारी जीव इस लिङ्ग शरीरकी प्रेरणासे कर्म करनेके लिये बाध्य होता है, यथा—रेशमका कीड़ा जिस प्रकार अपने मुखसे तन्तु निकालकार जाल बनाता है और उसी जालमें फँस जाता है, उसे जालसे बाहर निकलनेका कोई रास्ता नहीं मिलता, उसी प्रकार जीव भी अपने कर्मजालमें आबद्ध होकर मोहको प्राप्त हो जाता है और कर्मोंसे मुक्तिका कोई उपाय खोज भी नहीं पाता है ॥५२॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥५३॥

कोई भी जीव कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। पूर्व संस्कार जनित राग, मोहादि बलपूर्वक उसे वशीभूतकर कर्म करनेके लिये बाध्य करते हैं ॥५३॥

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।

यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥

जीव द्वारा किये गये पुण्य-पापात्मक कर्म जब फलोन्मुख होते हैं, तब उन्हें अदृष्ट कहा जाता है। यह अदृष्ट ही जीवके जन्मका मूल कारण है। उसी अदृष्टको लेकर जीव प्रबल कर्मवासनारूप पिताके समान (पुरुषरूप) अथवा माताके समान (स्त्रीरूप) स्थूल एवं सूक्ष्म देह प्राप्त करता है ॥५४॥

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः।

आसीत् स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥५५॥

प्रकृतिका संसर्ग होनेसे ही मनुष्यको इस प्रकारसे विपर्यय अर्थात् स्वरूप-भ्रमसे उत्पन्न संसार प्राप्त होता है किन्तु

भगवद्-भजनके प्रभावसे यह संसार शीघ्र समाप्त भी हो जाता है ॥५५॥

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवाङ्मन्त्रविच्छुचिः ॥५६॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूरनहङ्कृतः।
सर्वभूतसुहृत् साधुर्मितवागनसूयकः ॥५७॥

हे देवशिरोमणियो! यह ब्राह्मण (अजामिल) पहले शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, सत्स्वभाव, सदाचार, क्षमादि सद्गुणोंका आलय था। यह व्रतनिष्ठ, कोमलचित्त, जितेन्द्रिय, सत्यविद्, मन्त्रज्ञ एवं पवित्र था। गुरु, अग्नि, अतिथि, तथा वृद्धादिकी सेवामें लगा रहता था। इसमें अहङ्कार न था। यह समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला, सुहृद्, साधु, मधुर बोलनेवाला एवं ईर्ष्यादिसे रहित था ॥५६-५७॥

एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद्द्विजः।
आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥५८॥
ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया।
पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥५९॥
मत्तया विशलथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम्।
क्रीडन्तमनुगायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥६०॥

एक बार यह ब्राह्मण अपने पिताके आदेशसे फल, पुष्प, समिधा और कुशादि लानेके लिये वनमें जा रहा था। फल-फूलादिका संग्रह करके जब वह वनसे घर लौट रहा था, उसी समय रास्तेमें उसने एक कामुक शूद्रको लज्जाका परित्यागकर एक शूद्राणीके (वेश्याके) साथ हँसते, गाते और विहार करते देखा। मद्य-पानके कारण उस शूद्राणीके नेत्र ईषत् घूर्णित (चञ्चल) हो रहे थे और मदोन्मत्तताके कारण उसके कटि-प्रदेशसे नीवि-बन्धन स्खलित हो रहा था ॥५८-६०॥

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम्।
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥६१॥

हे निष्पाप पुरुषो! शूद्रकी भुजाओंमें अङ्गराग आदि कामोद्दीपक वस्तुएँ लगी थीं और वह उनसे उस शूद्राणीका आलिङ्गन कर रहा था। इस दृश्यको देखकर यह ब्राह्मण सहसा ही विमोहित हो कामके वशीभूत हो गया ॥६१॥

स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्।

न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥६२॥

उसके पास जितना भी धैर्य एवं शास्त्रज्ञान था, उसकी सहायतासे और अपने बुद्धि-बलसे वह अपने चित्तको संयत करनेकी चेष्टा करने लगा, किन्तु कामदेवके प्रबल वेगसे चञ्चल हुए अपने मनका वह निग्रह नहीं कर पाया ॥६२॥

तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः।

तामेव मनसा ध्यायन् स्वधर्माद्विरराम ह ॥६३॥

इस शूद्राणीको लक्ष्य बनाकर प्रारब्ध कर्मरूप ग्रहने कन्दर्पके वेशमें अजामिलको ग्रसित कर लिया, जिससे उसका सारा उत्तम ज्ञान लुप्त हो गया। वह मन-ही-मन उस शूद्राणीका चिन्तन करने लगा और अपने धर्मसे भ्रष्ट हो गया ॥६३॥

तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता।

ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा ॥६४॥

अजामिलके पिताने जिस धनका उपार्जन किया था, वह उससे शूद्राणीको सन्तुष्ट करने लगा। जिन भौतिक मनोहर वस्तुओंसे उस वेश्याका चित्त प्रसन्न हो सकता था, वह उन वस्तुओंके लिए निरन्तर चेष्टा करता रहता ॥६४॥

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्बिताम्।

विससर्जाचिरात् पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥६५॥

उस वाराङ्गनाके (वेश्याके) कटाक्ष-बाणसे ब्राह्मण अजामिलका चित्त ऐसा बिंध गया कि उसने सत्कुलमें उत्पन्न अपनी नवयौवना

विवाहिता ब्राह्मणी पत्नीका तत्काल त्याग कर दिया और पाप-कर्ममें प्रवृत्त हो गया ॥६५॥

यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम्।

बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥६६॥

यह मन्दबुद्धि ब्राह्मण न्याय अथवा अन्याय किसी भी प्रकारसे धन उपार्जन करके उस शूद्राणीके बड़े परिवारका पालन-पोषण करने में लीन हो गया ॥६६॥

यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यार्यतिगर्हितः।

अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥६७॥

यह द्विज शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन करके मनमाना आचरण करता था। उसने शूद्राणीके मलके समान परित्यज्य अन्नको ग्रहण करते हुए इस प्रकारके अशुद्ध आचरणमें जीवनका बहुत-सा समय बिता दिया। अति निन्दित कर्मोंके कारण उसका जीवन अत्यन्त पापमय हो गया ॥६७॥

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम्।

नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने श्रीविष्णुयमपुरुषसंवादे
प्रथमोऽध्यायः।

उसने अबतक अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। अतएव हम इसे दण्डपाणि यमके पास ले जायेंगे। वहाँ यह अपने पापोंके अनुसार दण्ड प्राप्त करके शुद्ध हो जायेगा ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

विष्णुदूतों द्वारा हरिनामकी अद्भुत महिमाका निरूपण
और अजामिलका परमधाम-गमन

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं ते भगवद्भूता यमदूताभिभाषितम्।
उपधार्याथ तान् राजन् प्रत्याहुर्नयकोविदाः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विष्णुके नीतिशास्त्रमें
कुशल दूतोंने यमदूतोंके मुखसे इन सब वचनोंको सुननेके बाद
इस प्रकार उत्तर दिया ॥१॥

श्रीविष्णुदूता ऊचुः—

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम्।
यत्रादण्डेष्वपापेषु दण्डो यैश्चियते वृथा ॥ २ ॥

श्रीविष्णुदूतोंने कहा—अहो! बड़े खेदकी बात है! धर्मज्ञोंकी
सभाका अधर्मने स्पर्श कर लिया, जो कि धर्ममें भी अधर्म देख
रहे हैं। जो निष्पाप हैं, दण्डके योग्य नहीं हैं, उनके लिये भी
वहाँ दण्डकी व्यवस्था की गयी है ॥२॥

प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः ॥ ३ ॥

जो साधु पिताके समान वात्सल्य भावसे प्रजाका पालन करते
हैं, गुरुके समान धर्मोपदेश करते हैं, सर्वत्र समदर्शी हैं, इन यमादि
साधुओंमें भी यदि अदण्डनीयोंको दण्ड-प्रदानादिरूप विषमताका
व्यवहार देखा जाय तो प्रजा किसकी शरणमें जायेगी ॥३॥

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही अनुकरण करते हैं। वे जिसे 'प्रमाण' रूपमें स्थापित करते हैं, लोग उसीके अनुगामी हो जाते हैं॥४॥

यस्याङ्गे शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः।

स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः॥५॥

स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम्।

विश्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति॥६॥

जो मनुष्य अबोध पशुके समान अपना धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं जानते, वे परवश पशुओंके समान अपने पालनकर्ता स्वामीकी गोदीमें अपना मस्तक रखकर निश्चिन्त भावसे सो जाते हैं। इस प्रकार जो स्वामी दयाद्रुचित और विश्वासपात्र हैं, जिन्हें अपना परम हितैषी समझकर प्राणियोंने आत्मसमर्पण कर रखा है, वे स्वामी किस प्रकार इन समस्त विश्वस्तचित, समर्पितात्म और अबोध प्राणियोंको पीड़ित कर सकते हैं। यह तो कभी भी सम्भव नहीं है॥५-६॥

अयं हि कृतनिर्वेशोजन्मकोट्यंहसामपि।

यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥७॥

अजामिलने केवल एक जन्मके पापोंका ही प्रायश्चित्त किया हो, ऐसा नहीं है। इसने तो कोटि-कोटि जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है। इसने विवशतापूर्वक ही सही, परन्तु मोक्ष-प्राप्तिके उपायस्वरूप परम मङ्गलमय हरिनामका (नामाभास) उच्चारण किया है॥७॥

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।

यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥८॥

यह अजामिल पहले भी भोजनादिके समय 'वत्स नारायण' शीघ्र आओ—इस प्रकार पुत्रके लाड़-प्यारके उद्देश्यसे चार अक्षरवाले नारायणनामका उच्चारण (नामाभास) करता था। उसीसे इस पापीके अनेक जन्मोंसे अर्जित पापोंका नाश हो गया है॥८॥

स्तेनः सुरापो मित्रधृग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
 स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९ ॥
 सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
 नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥ १० ॥

स्वर्णादि बहुमूल्य वस्तुओंको चुरानेवाले, मद्यपान करनेवाले, मित्रके साथ द्रोह करनेवाले, ब्रह्मघाती, गुरु-पत्नीसे अभिगमन करनेवाले, स्त्रीकी हत्या करनेवाले, गौ, पिता अथवा राजाकी हत्या करनेवाले तथा और भी जो बड़े-से बड़े महापापी हैं—उनके लिये भगवान् श्रीविष्णुके नामोंका उच्चारण ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है। जो इन नामोंका उच्चारण करता है, उसके सम्बन्धमें भगवान् विष्णुकी, 'यह व्यक्ति मेरा निजजन है, इसकी सर्वतोभावसे रक्षा करना मेरा कर्तव्य है—इस प्रकारकी आत्मीय बुद्धि हो जाती है ॥ ९-१० ॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
 स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
 यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
 स्तदुत्तमःश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥ ११ ॥

पापी व्यक्ति श्रीहरिके नामोंका उच्चारण करके जिस प्रकारसे पवित्र हो जाते हैं, ब्रह्मवादी मनु आदिके द्वारा विहित चान्द्रायणादि व्रत अथवा बड़े-से-बड़े प्रायश्चित्तसे भी वे उस प्रकार पवित्र नहीं हो सकते। उत्तमश्लोक श्रीभगवान्के ऐश्वर्य-माधुर्य, सौन्दर्य आदि गुणोंको प्रकाशित करनेवाले नामोंका उच्चारण कष्टसाध्य व्रतोंके समान केवल पापोंका ही क्षय नहीं करता ॥ ११ ॥

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
 मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।
 तत् कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
 गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥ १२ ॥

प्रायश्चित्तसे चित्त भलीभाँति निर्मल नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन पुनः असत्पथकी ओर दौड़ता है। अतएव जो

पापोंको जड़से उखाड़ डालना चाहते हैं, उनके लिये भगवान् श्रीहरिके नामोंका गुण-कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है। यह नाम-सङ्कीर्तन ही पापकी जड़—अविद्याका विनाश करके चित्तका संशोधन करनेमें समर्थ है ॥१२॥

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्।

यदसौ भगवन्नाम प्रियमाणः समग्रहीत् ॥ १३ ॥

इस व्यक्तिने मरणासन्न अवस्थामें भगवान्के नामका सम्पूर्णरूपसे उच्चारण किया है। इसीसे इसके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया है। अतः तुम लोग इसे नरकादि पापके मार्गपर मत ले जाओ ॥१३॥

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥ १४ ॥

शास्त्रतत्त्वविद् महात्मा जानते हैं कि चाहे (पुत्रादि) अन्य वस्तुओंको लक्ष्य करके हो, किसीका उपहास करनेके छलसे हो, गीत-आलाप पूर्ण करनेके लिये हो अथवा अश्रद्धासे ही क्यों न हो, वैकुण्ठ-वस्तु भगवान्का नाम लेनेसे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो जाता है ॥१४॥

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः।

हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाः ॥ १५ ॥

ऊँचे भवनादिसे गिरनेपर, रास्तेमें चलते-चलते फिसलनेपर, किसी भी प्रकारसे अङ्ग-भग्न होनेपर, सर्पादि द्वारा डस लिये जानेपर, ज्वरादि रोगसे सन्तप्त होनेपर, चोट लगनेपर अथवा विवश होनेपर भी जो व्यक्ति 'हरि'—इन दो अक्षरोंका उच्चारण करता है, उसे कभी भी नरककी यातनाएँ नहीं भोगनी पड़तीं ॥१५॥

गुरूणाञ्च लघूनाञ्च गुरूणि च लघूनि च।

प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥ १६ ॥

महर्षियोंने विशेषरूपसे विचार करके प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें यह व्यवस्था की है कि बड़े पापका बड़ा और छोटे पापका छोटा

प्रायश्चित्त करना चाहिये, परन्तु हरिनाममें इस प्रकारकी व्यवस्था मूल्य नहीं रखती, क्योंकि नाम-स्मरण मात्रसे ही पापियोंके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं॥१६॥

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥१७॥

तप, दान, व्रतादि प्रायश्चित्तोंसे पापियोंके पाप तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु पुनः अधार्मिक कार्य किये जानेसे हृदयकी मलिनता अथवा पापके मूलभूत चित्तवृत्तिरूपी संस्कार नष्ट नहीं होते। अधर्मसे मलिन हुआ हृदय तो भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवासे ही शुद्ध होता है॥१७॥

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमःश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥१८॥

जिस प्रकार अग्नि तिनकोंके समूहको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यदि कोई जानकर अथवा अनजानेमें उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌के नामोंका कीर्तन करता है तो उसके सारे पाप भस्मसात् हो जाते हैं॥१८॥

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥१९॥

जिस प्रकार शक्तिशाली ओषधिका प्रभाव न जानकर भी यदि उसका सेवन किया जाय, तो वह सेवन करनेवालेपर अपना प्रभाव दिखलाती ही है। उसी प्रकार अनजानेमें भी हरिनाम उच्चारित किये जानेपर वह उच्चारण करनेवालेको अवश्य ही उसका फल प्रदान करता है। वस्तु-शक्ति कभी भी श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं रखती; वह स्वतः ही अपना प्रभाव दिखलाती है॥१९॥

श्रीशुक उवाच—

त एवं सुविनिर्णीय धर्म भागवतं नृप।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन्॥२०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार भगवान्‌के पार्षदोंने भागवत-धर्मका भलीभाँति निरूपण करके उस ब्राह्मणको यमपाशसे छुड़ाकर उसकी मृत्युसे रक्षा की॥२०॥

इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिकम्।

यमराज्ञे यथा सर्वमाचक्षुररिंदम॥२१॥

हे अरिसूदन! विष्णु-दूतोंसे इस प्रकारके उत्तर पाकर यमदूत यमराजके समीप गये और जो कुछ घटित हुआ था, उन्हें वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥२१॥

द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः।

ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान् दर्शनोत्सवः॥२२॥

अजामिल मृत्यु-पाशसे मुक्त होकर निर्भय और स्वस्थ हो गया। उसने विष्णुदूतोंको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनके दर्शनसे परम आनन्दमें निमग्न हो गया॥२२॥

तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः।

सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ॥२३॥

हे निष्पाप! परम पुरुष श्रीभगवान्‌के अनुचरोंने देखा कि अजामिल कुछ बोलना चाहता है, किन्तु वे उसी क्षण उसके सामने ही अन्तर्धान हो गये॥२३॥

अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः।

धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैवेद्यञ्च गुणाश्रयम्॥२४॥

भक्तिमान् भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः।

अनुतापो महानासीत् स्मरतोऽशुभमात्मनः॥२५॥

अजामिलने यमदूतों और विष्णुदूतोंके वार्तालापमें वेदत्रयीके प्रतिपाद्य सगुण (प्रवृत्ति-विषयक) धर्म और भगवत्-प्रणीत गुणातीत शुद्ध भागवत धर्मको सुना और उनके मुखसे श्रीभगवन्नामकी महिमा सुनी, तब उसके हृदयमें अविलम्ब भक्तिका उदय हो गया। उस समय वह अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मोंका स्मरण करके बहुत पश्चाताप करने लगा॥२४-२५॥

अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः।

येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना॥ २६ ॥

वह (मन-ही-मन) कहने लगा—अहो! इन्द्रियोंके वशीभूत होकर मेरी कैसी कष्टदायक स्थिति हो गयी है। मैंने शूद्राके गर्भसे पुत्रोंको उत्पन्न करके अपने ब्राह्मणत्वको ही नष्ट कर डाला॥ २६ ॥

धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम्।

हित्वा बालां सर्ती योऽहं सुरापीमसतीमगाम्॥ २७ ॥

ओह! मैंने सज्जनोंद्वारा निन्दित समस्त दुष्कर्म किये, मुझको धिक्कार है। मैं तो ब्राह्मण कुलके लिये कलङ्क ही हूँ। मदिरा पीनेवाली कुलटामें आसक्त होकर मैंने अपनी तरुणी साध्वी स्त्रीका परित्याग कर दिया॥ २७ ॥

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ।

अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत्॥ २८ ॥

मेरे माता-पिता दोनों ही वृद्ध और अनाथ थे। मेरे अतिरिक्त उनका न कोई और पुत्र था और न ही कोई बन्धु। हाय! उन्हें कितने कष्टमें रहना पड़ा। मैंने नीच व्यक्तिके समान कृतघ्न होकर उन्हें इस प्रकार असहाय अवस्थामें छोड़ दिया॥ २८ ॥

सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे।

धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः॥ २९ ॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरे जैसे महापापीको उस अति भीषण नरकमें गिरना होगा—जहाँ धर्मघाती कामी व्यक्ति यम यन्त्रणाओंका भोग करते हैं॥ २९ ॥

किमिदं स्वप्न आहोस्वित् साक्षाद्दृष्टमिहाद्भुतम्।

क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन् पाशपाणयः॥ ३० ॥

यह अद्भुत दृश्य क्या मैंने स्वप्नमें देखा अथवा जाग्रत अवस्थामें साक्षात् अनुभव किया। हाथमें पाश लिये हुए जो भयङ्कर पुरुष मुझे घसीट रहे थे, वे अब कहाँ चले गये?॥ ३० ॥

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः ।

व्यामोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ॥ ३१ ॥

वे मुझे अपने फंदेमें बाँधकर पृथ्वीके नीचे नरकमें ले जा रहे थे कि तभी चार सुन्दर, सिद्ध पुरुषोंने मुझे मुक्त कर दिया। वे चारों भी न जाने कहाँ चले गये? ॥ ३१ ॥

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।

भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥ ३२ ॥

यद्यपि मैं दुर्भागा हूँ—मेरा हृदय पापोंसे कलुषित है, तथापि पूर्व-पूर्व जन्मोंकी सुकृतियोंके फलस्वरूप मुझे उन चार देवश्रेष्ठ पुरुषोंका दर्शन प्राप्त हुआ। उनकी श्रीमूर्तिके दर्शनसे मेरा चित्त अति प्रसन्न हो रहा है ॥ ३२ ॥

अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।

वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥ ३३ ॥

यदि पूर्व सुकृतियाँ न रही होतीं तो ऐसे दुःसमयमें (मृत्युकालमें) मुझ जैसे शूद्रागामी, अपवित्र और मरणासन्नकी जिह्वा किस प्रकारसे वैकुण्ठ नामका उच्चारण कर सकती थी? ॥ ३३ ॥

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।

क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

कहाँ तो मैं कपटी, पापी, विप्रत्वका नाश करनेवाला, निर्लज्ज और कहाँ यह मङ्गलस्वरूप श्रीभगवान्का 'नारायण' नाम ॥ ३४ ॥

सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः ।

यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥ ३५ ॥

अब मैं महापापी मन, प्राण और इन्द्रियोंको संयत करके इस प्रकारसे प्रयत्न करूँगा कि पुनः महामोहान्धकार संसारमें न गिर पड़ूँ ॥ ३५ ॥

विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम्।
 सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ३६ ॥
 मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्यात्ममायया।
 विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः ॥ ३७ ॥

देहादिमें आत्म-बुद्धि होनेसे विषयोंके प्रति भोगवासना होती है और भोगवासनाके कारण मायिक शुभाशुभ कर्मोंमें आसक्ति होती है—यही जीवका बन्धन है—अब मैं इस बन्धनसे स्वयंको मुक्त करूँगा। श्रीहरिकी मायाने ही रमणीके रूपमें मुझे वशीभूत किया है। मैं बड़ा ही अधम हूँ। मैं उस स्त्रीके कहनेपर वशीभूत पशुके समान नाचता रहा। अब मैं इस मायाके ग्राससे मुक्त हो जाऊँगा, भोगोंकी इच्छाओंको त्याग दूँगा, समस्त जीवोंके प्रति सुहृद्, हितकारी और करुण बन जाऊँगा और निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें लीन रहूँगा ॥ ३६-३७ ॥

ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिम्।
 धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ॥ ३८ ॥

भगवन्नाम-कीर्तन और भगवद्भक्तोंके सङ्गसे मेरा चित्त शुद्ध हो गया है। अब मैं मिथ्या प्रलोभनोंके चक्करमें नहीं पड़ूँगा। सत्य-वस्तुमें मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है। अब मैं देहादिमें मैं और मेराकी बुद्धिका त्याग करके अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें निविष्ट कर दूँगा ॥ ३८ ॥

श्रीशुक उवाच—

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु।
 गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! क्षणमात्र साधुसङ्गके प्रभावसे ही अजामिलमें इस प्रकारका सुदृढ़ वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह पुत्रासक्ति आदि समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर हरिद्वारकी ओर चला गया ॥ ३९ ॥

स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमास्थितः।

प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥४०॥

हरिद्वार पहुँचकर अजामिल भक्तियोग-साधनमें लग गया। इस भक्तिके प्रभावसे उसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे मुक्त हो गयीं और चित्त श्रीभगवान्‌में समाहित हो गया ॥४०॥

ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना।

युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥४१॥

इसके पश्चात् अजामिलने आत्मसमाधि (चित्तकी एकाग्रता) द्वारा अपनी देह और इन्द्रियोंसे अपने चित्तको हटाकर उसे भगवान्‌के सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दमयस्वरूपमें नियुक्त कर दिया ॥४१॥

यद्दुपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः।

उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः ॥४२॥

इस प्रकार अजामिलकी बुद्धि श्रीभगवान्‌के प्रति निश्चल हो गयी। एक बार उस ब्राह्मणके सम्मुख कुछ पुरुष प्रकट हुए। ये वे ही चारों पुरुष थे जिन्हें उसने पहले भी देखा था। अजामिलने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥४२॥

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु।

सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्त्तिनाम् ॥४३॥

उनके दर्शनके पश्चात् शीघ्र ही अजामिलने इस हरिद्वार-तीर्थमें अपनी जड़-देहको त्याग दिया और तत्क्षण ही भगवद्-पार्श्ववर्त्ती-सेवकोंके स्वरूपको प्राप्त कर लिया ॥४३॥

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः।

हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥४४॥

वह परमपुरुष श्रीहरिके उन्हीं किङ्करोँके साथ स्वर्णमय विमानपर आरुढ़ होकर आकाश-मार्गसे श्रीपति, श्रीहरिके पास वैकुण्ठ धाम चला गया ॥४४॥

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
 दास्याः पतिः पतितो गह्वर्कर्मणा।
 निपात्यमानो निरये हतव्रतः
 सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥ ४५ ॥

अजामिलने अपना सारा धर्म-कर्म त्याग दिया था। उसके स्वदार-नियमादि जितने भी व्रत थे वे सब नष्ट हो गये थे। चोरी आदि निन्दित कर्मोंके कारण वह पतित हो गया था। ब्राह्मण होनेपर भी उसने शूद्राका सङ्ग किया था। यमदूत उसे नरक ले जा रहे थे, किन्तु भगवान् नारायणके नामाभास उच्चारणके प्रभावसे वह तत्क्षणात् ही यम-पाशसे मुक्त हो गया ॥४५॥

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
 मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात्।
 न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो
 रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥ ४६ ॥

अतः जो भव-बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिये तीर्थपाद श्रीभगवान्के नाम-संकीर्तनकी अपेक्षा पापोंको समूल नष्ट करनेवाली और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। नाम-संकीर्तनसे चित्त पुनः कर्मोंमें लिप्त नहीं होता, जबकि लौकिक प्रायश्चित्तादिके बाद भी वह पुनः रजो एवं तमोगुणसे मलिन हो जाता है ॥४६॥

य एवं परमं गुह्यमितिहासमघापहम्।
 शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥ ४७ ॥
 न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः।
 यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥ ४८ ॥

जो इस परम गुह्य सर्व-पाप-विनाशक इतिहासको श्रद्धापूर्वक भक्तिके साथ श्रवण-कीर्तन करता है, वह पापी और कालके वश होनेपर भी नरकको प्राप्त नहीं होता। यमदूत उसे कभी देख भी नहीं सकते। विष्णुलोकमें उसकी पूजा होती है ॥४७-४८॥

प्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥

अहो! मरते समय भीषण यन्त्रणाको भोगते हुए अजामिल
जैसे महापातकीने पुत्रको बुलानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के नामका
उच्चारण किया और भगवद्धामको प्राप्त हो गया, तब जो निरपराध
व्यक्ति श्रद्धाके साथ हरिनामका निरन्तर कीर्तन करता है, उसे
भगवान्‌के धामकी प्राप्ति होगी—इसमें सन्देह क्या है। यही स्थिर
सिद्धान्त है ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

यम और यमदूतोंका संवाद

श्रीराजोवाच—

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तानपि धर्मराजः।
एवं हताज्ञो विहतान् मुरारे—
नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम्॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ऋषिवर! समस्त लोक जिनके वशमें हैं, उन यमराजकी आज्ञा इस प्रकारसे भङ्ग कर दी गयी। भगवान् विष्णुके दूतोंसे पराजित हुए अपने दूतोंके मुखसे जब यमराजने सारा वृत्तान्त सुना, तब उन्होंने अपने दूतोंसे क्या कहा?॥१॥

यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत्।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम्॥ २ ॥

हे मुनिवर! यमदेवकी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ हो, ऐसा पहले कभी नहीं सुना गया, अतः इस विषयमें लोगोंको सन्देह होगा ही। आपके अतिरिक्त कोई और इस संशयका छेदन नहीं कर सकता—यह मेरा दृढ़ विश्वास है, अतएव कृपा करके इस संशयको दूर कीजिये॥२॥

श्रीशुक उवाच—

भगवत्पुरुषै राजन् याम्याः प्रतिहतोद्यमाः।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम्॥ ३ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवद्पार्षदोंद्वारा विफल-प्रयास यमदूतोंने संयमनीपुरीके अधीश्वर अपने प्रभु यमके समीप जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥३॥

श्रीयमदूता ऊचुः—

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो।

त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥ ४ ॥

यमदूतोंने कहा—हे प्रभो, यह बतलाइए, इस जीवलोकपर शासन करनेवाले कितने लोग हैं? सत्त्व, रज एवं तमोगुणके वशीभूत होकर कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके शुभ-अशुभ कर्म करनेवाले इन जीवोंके कर्मफलदाता तथा शासनकर्त्ता और कौन-कौन हैं ॥ ४ ॥

यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः।

कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥ ५ ॥

यदि जगत्में बहुत-से दण्डधारी शासनकर्त्ता हैं, तो उनमें परस्पर मत विरोध होनेसे किसीको पाप-फल (दुःख) अथवा पुण्य-फल (सुख) कुछ भी प्राप्त नहीं होगा और यदि मतमें ऐक्य रहा तो जीवोंको दोनों ही फलोंकी प्राप्ति होगी ॥ ५ ॥

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम्।

शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ ६ ॥

कर्मीजन बहुत-से हैं, उनके कर्मफलोंकी व्यवस्था करनके लिए बहुत-से शासनकर्त्ता हो सकते हैं, ऐसा होनेसे कोई दोष नहीं है क्योंकि उनका शासन-कार्य औपचारिक मात्र है। जैसे एक ही चक्रवर्त्ती राजा मुख्य शासनकर्त्ता होता है, उसके अधीन मण्डलमें रहनेवाले शासकोंका शासन नाममात्रका ही होता है ॥ ६ ॥

अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः।

शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥ ७ ॥

अतः हम तो यही जानते हैं कि मुख्य शासनकर्त्ता एक ही होता है, बहुत-से नहीं हो सकते। आप ही देवताओंके सहित समस्त प्राणियोंके अधीश्वर हैं और मनुष्योंके पाप-पुण्योंके निर्णायक भी एकमात्र आप ही हैं ॥ ७ ॥

तस्य ते विहतो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्बिता ॥८॥

किन्तु अब हम देख रहे हैं कि संसारमें आपके द्वारा निर्णीत दण्डको स्वीकार नहीं किया जाता। चार अद्भुत-मूर्ति सिद्ध पुरुषोंने आपके आदेशका उल्लङ्घन किया है ॥८॥

नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान्।
व्यामोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान् प्रसह्य ते ॥९॥

हम लोग आपके आदेशसे एक पापीको यातना-गृहकी (नारकीय लोकोंकी) ओर ले जा रहे थे, किन्तु उन सिद्ध पुरुषोंने बलपूर्वक उसके पाश-बन्धनका छेदन करके उसे मुक्त कर दिया ॥९॥

तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम्।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥१०॥

उस पापीके मुखसे 'नारायण', यह शब्द उच्चारित हुआ ही था कि वे दूत अति द्रुत गतिसे "माभैर्माभैः" (डरो मत, डरो मत) कहते-कहते वहाँ उपस्थित हो गये। हम आपसे उनके विषयमें जानना चाहते हैं। हे प्रभो! यदि आप हमारा मङ्गल चाहते हैं, तो हमें बतलाइये कि वे कौन थे? ॥१०॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः।
प्रीतः स्वदूतान् प्रत्याह स्मरन् पादाम्बुजं हरेः ॥११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दूतोंके प्रश्नमें 'नारायण', यह नाम सुनते ही प्रजाका नियन्त्रण करनेवाले यमदेव परम प्रसन्न हो गये। वे श्रीहरिके चरणकमलोंका स्मरण करते हुए अपने दूतोंसे इस प्रकार कहने लगे ॥११॥

श्रीयम उवाच—

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः ॥ १२ ॥

यमराजने कहा—हे दूतो ! तुम लोग मुझे ही सर्वश्रेष्ठ समझते हो, ऐसा नहीं है। मुझसे, इन्द्र तथा चन्द्र आदि प्रमुख लोकपालकोंसे भी श्रेष्ठ और एक जन हैं, जो सम्पूर्ण चराचर जीवोंके अधीश्वर हैं। उनके ही अंशभूत ब्रह्मा, विष्णु और शिवसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं। सूतमें वस्त्रके समान यह समस्त विश्व उनमें ही ओतप्रोत भावसे अवस्थित है। समस्त विश्व नथे हुए बैलके समान उनके अधीन है ॥१२॥

यो नामभिर्वाचि जनं निजायां
बध्नाति तन्त्र्यामिव दामभिर्गाः।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥ १३ ॥

इस जगत्में जिस प्रकार रस्सीसे बैलोंको बाँध लिया जाता है, भगवान्ने भी उसी प्रकार अपने वेदवचनोंसे ब्राह्मण आदि नाम-रूपके बन्धनमें सभीको बाँध रखा है। सभी उस नाम और कर्म-बन्धनसे बद्ध होकर भयपूर्वक उनकी पूजा करते हैं और उन्हें उपहार समर्पण करते हैं अर्थात् अपने-अपने कर्मों द्वारा उनकी आराधना करते हैं ॥१३॥

अहं महेन्द्रो निवर्ततिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनो विरिञ्चिः।
आदित्य विश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥ १४ ॥

अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
 भृगवादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
 यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
 सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥ १५ ॥

मैं, इन्द्र, निऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, महादेव, पवन, ब्रह्मा, सूर्य, विश्वावसु, अष्ट वसु, साध्यगण, मरुद्गण, रुद्रगण, सिद्धगण, मरीचि आदि अन्यान्य विश्वस्रष्टा, बृहस्पति-प्रमुख देवश्रेष्ठगण तथा रज एवं तमोगुणके स्पर्शसे रहित भृगु आदि सत्त्व-प्रधान मुनिगण भी उनकी लीला-चेष्टाओंको जाननेमें असमर्थ हैं, तब उनकी मायासे मोहित अन्य जीव उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं ॥ १४-१५ ॥

यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
 हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते ।
 आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
 चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम् ॥ १६ ॥

शरीरके विभिन्न अवयव (घट, पटादि रूपवान् पदार्थ) जिस प्रकार अपने प्रकाशक चक्षुओंको नहीं देख सकते, वैसे ही जीव भी स्थावर-जङ्गमके अन्तरमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान श्रीभगवान्का इन्द्रिय, (सविकल्पक) मन, प्राण (कर्मेन्द्रिय), हृदय (निर्विकल्पक चित्त) अथवा वाणीसे निर्णय नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
 परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
 प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
 श्चरिन्त तद्रूपगुणस्वभावाः ॥ १७ ॥

परम स्वतन्त्र, मायाधीश, परमपुरुष श्रीहरि सबके अधीश्वर हैं। उनके अनुचरगण भी प्रायः अपने स्वामीके रूप, गुण तथा स्वभावके समान ही बड़े मनोहर होते हैं; वे प्रायः इस पृथ्वीपर विचरण करते रहते हैं ॥ १७ ॥

भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
 दुर्दर्शलङ्घानि महाद्भुतानि।
 रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
 मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥ १८ ॥

भगवान् विष्णुके ये सेवक देवताओंके भी पूज्य हैं। उनका अलौकिक रूप दर्शन अति दुर्लभ है। वे भगवान्‌के भक्तोंकी शत्रुओंके कवलसे, मुझसे और अग्नि, जल आदि समस्त प्राकृतिक उत्पातोंसे सब प्रकारसे रक्षा करते हैं ॥ १८ ॥

धर्म तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
 न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
 न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
 कृतो नु विद्याधरचारणादयः ॥ १९ ॥

सत्य-धर्म साक्षात् भगवान् द्वारा प्रणीत है। भृगु आदि सत्त्वगुण प्रधान ऋषिगण, देवता, प्रधान-प्रधान सिद्धगण, असुर अथवा मनुष्य कोई भी उस धर्मको निश्चित रूपसे नहीं जानता। विद्याधर एवं चारणोंकी बात तो बहुत दूर है ॥ १९ ॥

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
 प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिवैयासकिर्वयम् ॥ २० ॥
 द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
 गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २१ ॥

हे दूतो! स्वयम्भू (ब्रह्मा), देवर्षिनारद, शम्भु, सनत्कुमार देवहूतिनन्दन-कपिल, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक महाराज, भीष्म, बलि महाराज, शुकदेव और मैं (यम)—हम बारह जन भागवतके धर्म-तत्त्वको जानते हैं। यह धर्म अतिशय निर्मल, गोपनीय एवं दुर्बोध्य है। जीव यदि इसे जान लें तो वे मुक्त होकर भगवान्‌के परम पदकी सेवा प्राप्त कर लेते हैं ॥ २०-२१ ॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
 भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् वासुदेवका जो नामसंकीर्तन आदि भक्तियोग है, इस जगत्में जीवोंके लिए बस वही परम धर्म कहा गया है॥२२॥

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।

अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥ २३ ॥

हे वत्सगण! (प्रिय पुत्रो!) श्रीहरिके नामोच्चारणका माहात्म्य तो देखो! अजामिल जैसे महापापीने पुत्रको बुलानेके उद्देश्यसे एक बार ही भगवान् विष्णुके नामका उच्चारण किया। इस नामाभासरूपी स्मरणके प्रभावसे ही वह मृत्युपाशसे मुक्त हो गया॥२३॥

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां

संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।

विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि

नारायणेति प्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥ २४ ॥

अतएव श्रीभगवान्के गुण, कर्म और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बड़ा फल नहीं है, निरपराध होकर उनके नाम-गुण आदिके अशुद्ध उच्चारण अथवा नामाभाससे ही सर्वथा पाप-हरण आदि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। अजामिल इसका दृष्टान्त है। इस महापापी अजामिलने मरणकालमें विवश होकर अस्वस्थ चित्तसे 'नारायण' कहते हुए अपने पुत्रको पुकारा, इस प्रकारकी विष्णु-स्मृतिसे ही उसे मुक्ति प्राप्त हो गयी॥२४॥

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं

देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।

त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां

वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥ २५ ॥

(नाम-संकीर्तनसे ही यदि मुक्ति सुलभ है, तो विद्वज्जन कर्म-योग आदिका उपदेश क्यों करते हैं, इसके उत्तरमें कहते हैं)—भागवत-धर्मके तत्त्वको जाननेवाले बारह महाजनोंके अतिरिक्त

याज्ञवल्क्य, जैमिनि आदि अन्यान्य धर्मशास्त्र-प्रणेताओंकी बुद्धि प्रायः दैवी मायासे अतिशय विमोहित हो जाती है, अतः वे नाम-संकीर्तन रूपी परम भागवत-धर्मको जान नहीं सकते। उनका चित्त ऋक्, यजुः और साम—इस वेदत्रयीके अर्थवाद रूपी मनोहर वाणियोंसे जड़ीभूत रहता है। वे द्रव्य-संग्रह, अनुष्ठान एवं मन्त्र आदि-द्वारा विस्तृत, अतिकष्टसाध्य दर्शपौर्णमासी आदि तुच्छ एवं अनित्य फलप्रद कर्मयज्ञोंमें ही लगे रहते हैं। अत्यन्त सरल, सुखसाध्य, सुगमातिसुगम चतुर्वर्गाधिकारी अर्थात् सभी वर्ण तथा आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुलभ्य, परमार्थ फलप्रदाता जो नाम-संकीर्तन है—उसकी महिमाको वे नहीं जानते॥२५॥

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥ २६॥

इन समस्त विषयोंपर विचारकर बुद्धिमान व्यक्ति सर्वान्तकरणसे अखिल कल्याणगुणोंके आकर भगवान् वासुदेवके नाम-संकीर्तन रूपी भक्तियोगका ही विधान करते हैं। वे मेरे दण्डके योग्य नहीं हैं, वे तो कभी पाप कर ही नहीं सकते, यदि प्रमादवश कभी उनसे पाप हो भी जाय तो भगवान् श्रीहरिके नामसंकीर्तनके प्रभावसे उस पापका ध्वंस हो जाता है॥२६॥

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥ २७॥

समस्त प्राणियोंको समानरूपसे देखनेवाले जो साधुपुरुष श्रीभगवान्‌के शरणापन्न हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्धगण जिनके पवित्र चरित्रोंका गान करते रहते हैं। भगवान् श्रीहरिकी कौमोदकी गदा जिनकी सभी प्रकारसे रक्षा करती है। तुमलोग कभी भूलसे भी उनके

निकट मत जाना। ब्रह्मा, मैं और काल तक भी उन्हें दण्ड देनेमें समर्थ नहीं हैं॥२७॥

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसजै-
र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान्॥ २८ ॥

निष्किञ्चन परमहंसगण तो असत्-संग त्यागकर भगवान् श्रीमुकुन्दके पादारविन्दके मकरन्दरसका निरन्तर पान करते रहते हैं, परन्तु जो इस दिव्य रससे विमुख हैं, ऐसे असद् व्यक्ति नरकके द्वार-स्वरूप-घर-गृहस्थीमें ही ऐकान्तिकरूपसे आसक्त रहते हैं। हे दूतो! उन्हें ही तुमलोग मेरे समीप लाया करो॥२८॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥ २९ ॥

जिस पापीकी जिह्वा एक बार भी कृष्ण-नाम, गुण आदिका कीर्तन नहीं करती, जिसका चित्त एक बार भी उनके श्रीचरणकमलोंका स्मरण नहीं करता, जिसका मस्तक एक बार भी उनके चरणोंमें प्रणत नहीं होता, जो कभी भी वैष्णव-व्रत आदिका अनुष्ठान नहीं करता, उसे ही तुम लोग मेरे पास लाया करो॥२९॥

तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत् कृतं न।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने॥ ३० ॥

(यमराज अपने दूतोंके अपराधसे स्वयंको ही अपराधी मानकर श्रीभगवान्के समीप क्षमा-प्रार्थना करने लगे) — हे पुराणपुरुष भगवान् नारायण! मेरे दूतोंने जो अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिये।

हम आपके सेवक हैं, अनजानेमें ही आपके प्रति अपराध कर बैठे हैं, हम अज्ञानी होनेपर भी आपके ही निजजन हैं और आपकी आज्ञा पानेके लिए अञ्जलि बाँधकर सदा उत्सुक रहते हैं। अतः परम महिमान्वित, परम श्रेष्ठ भगवान् नारायणके लिए यही योग्य है कि वे हमें क्षमा कर दें। हे परम पुरुष! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥३०॥

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमहसाम्।

महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतिम्॥३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुनन्दन! इस प्रसङ्गसे तुम यह भलीभाँति जान लो कि श्रीहरिनाम संकीर्तन बड़े-से-बड़े पाप यहाँ तक कि पापकी वासनाको निर्मूल कर देता है। श्रीनामसंकीर्तन अखिल जगत्का मङ्गलस्वरूप है॥३१॥

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।

यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥३२॥

भगवान् श्रीहरिकी पापहरण करनेवाली अत्युत्तम माहात्म्य-कथाके निरन्तर श्रवण एवं कीर्तनसे अनायास ही भक्तिका उदय हो जाता है। यह भक्ति जिस प्रकारसे अन्तःकरणको विशुद्ध करती है, उस प्रकारकी शुद्धि व्रत आदिसे भी नहीं होती॥३२॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिङ् न पुनर्विसृष्ट-

मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु।

अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-

मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात्॥३३॥

श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मधुपानव्रती भागवतगण नरक आदि दुःख प्रदान करनेवाले मायिकगुणोंको तुच्छ समझकर उनका परित्याग कर देते हैं और पुनः उनमें रत नहीं होते। इसके विपरीत जो उन चरणोंकी सेवासे अनभिज्ञ एवं काम आदिमें आसक्त हैं, वे अपने पाप आदि दोषका विनाश करनेके लिये कर्मकाण्डीय

प्रायश्चित्त करते हैं। इससे उनका चित्त विशुद्ध नहीं होता और वे पाप-कर्मोंमें पुनः लिप्त हो जाते हैं॥३३॥

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं
संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना

द्रष्टुञ्च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन्॥३४॥

यमदूत अपने स्वामी यमराजके मुखसे भगवान् श्रीहरिका ऐसा माहात्म्य सुनकर अति विस्मित हो गये। उसी समयसे वे भगवद्-चरणाश्रित व्यक्तियोंको देखते ही अहे! यह हमारा काल है, इस प्रकारकी आशङ्का करके उन्हें पुनः देखनेसे भी भयभीत होते हैं॥३४॥

इतिहासमिमं गुह्यं भगवान् कुम्भसम्भवः।

कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन्॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीअजामिलोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः।

हे राजन्! महर्षि अगस्त्य भगवान् श्रीहरिकी पूजामें मग्न रहकर मलयाचल पर्वतपर रहा करते थे। उसी समय उन्होंने मुझे यह पौराणिक गोपनीय इतिहास सुनाया था॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

दक्षके द्वारा भगवान्की स्तुति और भगवान्का आविर्भाव

श्रीराजोवाच—

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ १ ॥
तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन् यथा।
अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान् परः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—भगवन्! आपने स्वायम्भुव मन्वन्तर (तृतीय स्कन्ध) में देवता, असुर, मनुष्य, नाग एवं मृग आदि पशु-पक्षियोंके सृष्टि-वृत्तान्तका संक्षेपमें वर्णन किया—अब मैं आपसे उसीको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। परम पुरुष भगवान्ने जिस शक्ति-द्वारा और जिस प्रकारसे वयष्टि सर्ग अथवा अवान्तर सर्गकी सृष्टि की, उस शक्तिके विषयमें तथा किस प्रकार उन्होंने सृष्टिकी रचना की? यह जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है ॥१-२॥

श्रीसूत उवाच—

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः।
प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

श्रीसूतजीने कहा—हे मुनियोंमें श्रेष्ठ शौनकादि ऋषियो! राजर्षि परीक्षित्के इस प्रश्नको सुनकर महायोगी श्रीशुकदेव गोस्वामीने इस प्रश्नकी प्रशंसाकर इस प्रकार उत्तर दिया ॥३॥

श्रीशुक उवाच—

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः।
अन्तः समुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गा द्रुमैर्वृताम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्। जब राजा प्राचीनबर्हि के दसों पुत्र—प्रचेतागण समुद्रसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि सारी पृथ्वी वृक्षोंसे ढक गयी है। (नारदजीके उपदेशसे राजा प्राचीनबर्हि संसारसे विरक्त होकर घर-बार छोड़कर वनमें चले गये थे। इससे पृथ्वीमें अराजकता फैल गयी। खेती आदि न होनेसे पृथ्वी वृक्षोंसे आच्छादित हो गयी थी)॥४॥

द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः।

मुखतो वायुमग्निञ्च ससृजुस्तद्विधक्षया॥५॥

निराहार कठोर तपस्याके बलसे प्रचेता वृक्षोंके प्रति अत्यधिक क्रोधित हो उठे और उन्हें जला डालनेकी इच्छासे मुखसे वायु एवं अग्निकी सृष्टि करने लगे॥५॥

ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरुद्वह।

राजोवाच महान् सोमो मन्युं प्रशमयन्निव॥६॥

हे परीक्षित्! उस अग्नि एवं वायुसे वृक्षराशि सम्पूर्णरूपसे जलने लगी। यह देखकर वनस्पतियोंके राजा सदाशय चन्द्रदेव प्रचेताओंका क्रोध शान्त करनेके लिये इस प्रकार कहने लगे॥६॥

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ।

विवर्द्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः॥७॥

हे महात्माओ! इन दीन वृक्षावलियोंको जलाकर क्षार करना आप लोगोंके लिए उचित नहीं है। आप तो प्रजाकी अभिवृद्धि चाहनेवाले तथा उनके पालनकर्त्ता हैं॥७॥

अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः।

वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः॥८॥

अहो! ब्रह्मादि प्रजापतियोंके भी स्वामी, विभु (चराचरव्यापी) और अव्यय (अविकारी) भगवान् श्रीहरिने जीवोंके भोजनके लिये इन वनस्पतियों एवं ओषधियोंकी सृष्टि की है। (आप भी तो प्रजापति हैं, अपनी प्रजाओंकी इन भोज्य-वस्तुओंको इस प्रकार

नष्ट करना उचित नहीं है। भोजन-सामग्री विनष्ट होनेपर तो प्रजा भी नष्ट हो जायेगी) ॥८॥

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम्।

अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदाञ्च चतुष्पदः ॥९॥

अचर (स्थावर) पुष्प-फल आदि पदार्थ, चर (जङ्गम) भ्रमर आदि जीवोंके भोजन हैं, पैरोंसे हीन तृण आदि पदार्थ चार पैरोंवाले गाय-भैंसादिके भोजन हैं, बिना हाथोंवाले मृग आदि पशु पंजोंवाले व्याघ्रादिके भक्ष्य हैं तथा चार पैरवाले (चौपाये) हिरन एवं स्थावर धान आदि दो पैरोंवाले मनुष्योंके भोज्य पदार्थ हैं ॥९॥

यूयञ्च पित्रान्वादिष्टा देवदेवेन चानघाः।

प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुमर्हथ ॥१०॥

हे विशुद्ध आत्माओ! आप लोगोंके पिता प्राचीनबर्हि एवं देवाधिदेव भगवान्ने आपको प्रजाकी सृष्टि करनेका आदेश दिया है। अतः प्रजाके जीवन धारणके लिये उपयोगी वृक्षों एवं ओषधियोंको दहन करना आपके लिये कैसे उचित हो सकता है ॥१०॥

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्।

पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥११॥

आपके पिता-पितामह-प्रपितामह आदिने जिस जीव-रक्षण रूपी सन्मार्गका सेवन किया है, आप लोग भी उसी पथका अनुकरण करें। आप अपने इस उद्दीप्त क्रोधको शान्त करें, क्रोध करना आपके लिये युक्तियुक्त नहीं है ॥११॥

तोकानां पितरौ बन्धू दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः।

पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत् ॥१२॥

जिस प्रकार माता-पिता बालकका लालन-पालन करनेसे उसके बन्धु, पलकें नेत्रोंकी रक्षाके कारण उनकी बन्धु, स्त्रीका भरण-पोषण एवं रक्षण करनेसे पति उसका बन्धु, भिक्षुकका अन्न, वस्त्रादिसे पोषण करनेसे गृहस्थ उसका बन्धु होता है और

जैसे ज्ञानी, अज्ञानीका बन्धु होता है उसी प्रकार प्रजाओंके रक्षक एवं जीविकाप्रद होनेसे प्रजापति राजा ही प्रजाका बन्धु होता है। अतः प्रजाके वृक्षोंको नष्ट करना आपके लिये अनुचित है॥१२॥

अन्तर्द्वेषु भूतानामात्मास्ते हरिरीश्वरः।

सर्वं तद्विषयमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ॥१३॥

स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंके देहान्तःकरणमें जगदीश्वर श्रीहरि आत्मारूपमें विराजमान हैं। अतः आप इस स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वका उनके ही अधिष्ठानके रूपमें दर्शन करें। इस प्रकार दर्शन करके आपने पहले भी श्रीहरिको सन्तुष्ट किया था। अतः इन प्राणियोंके प्रति आपका द्रोह अनुचित है॥१३॥

यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम्।

आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्त्तते॥१४॥

जो व्यक्ति अकस्मात् उत्पन्न देहस्थ उत्कट क्रोधको आत्म-विचार द्वारा नियंत्रित कर लेते हैं, वे दुःखके हेतुभूत इस संसारको पार करनेमें समर्थ हो जाते हैं॥१४॥

अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः।

वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम्॥१५॥

अब इन दीन वृक्षोंको और अधिक जलानेकी आवश्यकता नहीं है। जो भस्मसात् होनेसे बच गये हैं, उन वृक्षोंका और आपका मङ्गल हो। यह 'मारिषा' नामकी शुभ लक्षणोंसे युक्त कन्या है, जिसका पालन-पोषण वृक्षोंने किया है। आप इसे पत्नीके रूपमें स्वीकार करें॥१५॥

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप।

सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मोपयेमिरे॥१६॥

हे राजन्! राजा सोमदेवने इस प्रकारसे उन्हें सान्त्वना देकर तथा 'प्रम्लोचा' नामकी अप्सराके गर्भसे उत्पन्न उस रूपवती कन्याको (उठे हुए सुन्दर नितम्बों वालीको) उन्हें प्रदान कर वहाँ

से प्रस्थान किया। उन दस प्रचेताओंने धार्मिक पद्धतिके अनुसार उस कन्यासे विवाह कर लिया॥१६॥

तेभ्यस्तस्यां समभवदक्षः प्राचेतसः किल।

यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितान्नयः॥१७॥

इन दस प्रचेताओंने मारिषाके गर्भसे 'प्राचेतस' नामक दक्षको उत्पन्न किया। इस दक्ष द्वारा उत्पन्न प्रजा-सृष्टिसे तीनों लोक भर गये॥१७॥

यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः।

रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु॥१८॥

दक्ष प्राचेतस अपनी पुत्रियोंसे बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने जिस प्रकार अपने सङ्कल्प एवं बलसे प्राणियोंकी सृष्टि की, वह तुम ध्यानपूर्वक मेरे निकट श्रवण करो॥१८॥

मनसैवासृजत् पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः।

देवासुरमनुष्यादीन् नभःस्थलजलौकसः॥१९॥

सर्वप्रथम प्रजापति दक्षने अपने सङ्कल्पसे देव, असुर, मनुष्य, खेचर, भूचर एवं जलचर आदि प्रजाओंकी सृष्टि की॥१९॥

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः।

विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरदुष्करं तपः॥२०॥

किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके द्वारा सृष्ट प्रजाकी अभिवृद्धि नहीं हो रही है, तब वे विन्ध्याचलके निकट किसी पर्वतपर जाकर दुष्कर तपस्या करने लगे॥२०॥

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम्।

उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम्॥२१॥

इस पर्वतपर पापोंको हरनेवाला अघमर्षण नामक एक श्रेष्ठ तीर्थ विद्यमान है। प्रजापति दक्ष उसी तीर्थमें त्रिकाल आचमन और सन्ध्यादि करते और तपस्याके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करते॥२१॥

अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् ।
तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद्यतो हरिः ॥ २२ ॥

प्रजापति दक्षने जिस 'हंसगुह्य' नामक स्तोत्रसे अधोक्षज श्रीहरिकी स्तुति की थी एवं जिस स्तुतिसे भगवान् श्रीहरि दक्षसे अत्यन्त प्रसन्न हुए, वह मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करूँगा ॥ २२ ॥

श्रीप्रजापतिरुवाच—

नमः परायवितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥ २३ ॥

दक्ष प्रजापतिने सुविख्यात 'हंसगुह्य' नामक स्तवसे अधोक्षज श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की—जो जीव, माया और मायिक पदार्थोंसे परे, सर्वश्रेष्ठ हैं एवं अव्यभिचारी ज्ञानेच्छा शक्तिसे (यथार्थ अनुभूति चिच्छक्तिसे) युक्त हैं, जो जीव और मायाके नियन्ता और प्रवर्तक हैं, जिन्होंने मायिक तीनों गुणोंके परिणामभूत, अनित्य पृथ्वी आदि विषयोंको अपने भोग्य ज्ञानके आधारपर सत्य मान रखा है अथवा गुणादिके परिणामभूत तत्त्वमें ही 'यह देवता है,' 'यह मनुष्य है' इस प्रकारकी बुद्धि कर रखी है, ऐसे मनुष्य जिनके स्वरूपको देख नहीं सकते; जो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अतीत, स्वतः प्रमाण और अपरिच्छिन्न हैं, जो कारणानन्तरसे उत्पन्न नहीं अर्थात् स्वयं ही स्वयंको प्रकाशित करनेवाले परात्परतत्त्व हैं—मैं उनको नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥ २४ ॥

रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्दादि विषय जिस प्रकार तत्प्रकाशक इन्द्रियोंके प्रकाशकत्वको नहीं जान पाते, उसी प्रकार जीव इस

देह-पुरमें रहकर भी जीव-देहमें विराजमान प्रपञ्चाधीश विभुचित् परमेश्वरको और उनके प्रवर्तकत्व या हृषीकेशत्वको नहीं जान पाते, ऐसे महेश्वर (परम नियन्ता) को मैं प्रणाम करता हूँ। (इस देहरूपी पुरमें आप सहचररूपसे वास करते हैं, किन्तु आपके सख्य भावको जाना नहीं जा सकता) ॥२४॥

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥ २५ ॥

प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, पृथ्वी आदि समस्त स्थूलभूत और शब्दादि पांच तन्मात्राएँ अपने स्वरूपको, अन्यान्य इन्द्रियोंके स्वरूपको और इन दोनोंसे श्रेष्ठ उनके तद्-तद् अधिष्ठातृ देवताओंके स्वरूपको जान नहीं सकते; क्योंकि ये सब जड़ हैं, किन्तु जीव चेतन तत्त्व है वह स्वयंको, देहादिको, उसके मूलभूत सत्त्वादि गुणोंको जान सकता है तथापि इन सब विषयोंको जानकर भी जीव, जिस सर्वज्ञ एवं अनन्तस्वरूपको जाननेमें समर्थ नहीं है, मैं ऐसे परमेश्वरकी स्तुति करता हूँ ॥२५॥

यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥ २६ ॥

जब चित्तकी उपरति हो जाती है अर्थात् जाग्रत अथवा स्वप्नावस्थाकी भाँति चित्तमें विक्षेप (विचलन) नहीं होता और सुषुप्ति अवस्थाके समान चित्तका लय न होकर, चित्त समाधिस्थ हो जाता है, तब नाम एवं रूपकी उद्भावनक इस चित्तकी दर्शन-क्रिया एवं स्मृति-क्रिया दोनोंका ही सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकारकी समाधि अवस्थामें जो जीवके चित्तरूपी सद्ममें अपने सच्चिदानन्द

स्वरूपको प्रकाशित करते हैं, शुद्ध अन्तःकरणमें प्रवेश करनेवाले
उन्हीं भगवान् परमहंसको मेरा नमस्कार है ॥२६॥

मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्धिः।
वर्हिं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥ २७ ॥
स वै ममाशेषविशेषमाया-
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार कर्मकाण्डीय यज्ञमें निपुण मनीषिगण काष्ठके भीतर
गूढ़ भावसे विद्यमान अलौकिक अग्निको सामिधेनी नामक पंद्रह
मन्त्रोंके द्वारा बाहर प्रकट कर देते हैं, उसी प्रकार विवेकीगण
भी सत्त्व, रज एवं तम, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन और पञ्च
तन्मात्राएँ, पञ्च महाभूत एवं दस इन्द्रियाँ-अपनी इन सत्ताईस
तत्त्वात्मिका शक्तियोंसे आवृत्त हृदयके अन्तर्देशमें अवस्थित जिन
परमात्माका ध्यान करते हैं, वे मेरे प्रति प्रसन्न हों। कार्य-कारणात्मक
प्रपञ्चरूपी जितनी भी मायिक विचित्रताएँ हैं—उनका नेति-नेति
(निषेध होनेपर) इस विवेकसे त्याग अथवा वैराग्य होनेपर जब
मोक्ष-सुख (स्वरूप-सिद्धिमें सेवा-सुख) उपस्थित होता है, तब
जिनकी अनुभूति होती है, जो चित्तमें उदित सभी नामोंके (ब्रह्मादिसे
तृण पर्यन्त) वाच्य हैं, जो अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं, वे मेरे प्रति
प्रसन्न हों ॥२७-२८॥

यद्यत्रिरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा ओत यस्य।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥ २९ ॥

वचनोंके द्वारा जिन वस्तुओंका उल्लेख किया जाता है, बुद्धिके द्वारा जिन तत्त्वोंका निर्णय किया जाता है, इन्द्रियोंसे जिन वस्तुओंको ग्रहण किया जाता है तथा मनसे जिनके सम्बन्धमें संकल्प किया जाता है—ये सभी गुणोंके कार्य-रूप हैं; इनसे आपके वास्तविक स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है। जो स्वयं गुणातीत हैं और गुणोंके विनाश एवं उत्पत्तिके कारण (अधिष्ठान) हैं, जो गुण-त्रयीके आदि एवं अन्तमें विराजमान हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ॥२९॥

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम्॥ ३० ॥

यह जगत् जिनमें अधिष्ठित है, जिनसे प्रकट हुआ है, बिना किसी आश्रयके जिनके द्वारा निर्मित है, जो प्रत्येक वस्तुके स्वामी हैं, प्रत्येक वस्तु जिनको अर्पण करनेके लिये है, जो परम अभीप्सित (लक्ष्य) हैं, जो चाहे स्वयं कार्य करते हों अथवा दूसरोंसे कराते हों, जो स्वयं प्रयोज्य कर्त्ता अथवा स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। जो समस्त उच्च-नीच कारणोंके एकमात्र परम कारण होनेसे परब्रह्म कहलाते हैं, जो समस्त वस्तुओंसे पहले विद्यमान थे, जिनका अन्य कोई कारण नहीं है, जो समस्त कारणोंके कारण हैं, जो अन्यनिरपेक्ष हैं—जिनका सजातीय और विजातीय कोई नहीं है, मैं उनको नमस्कार करता हूँ॥३०॥

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥ ३१ ॥

जिनकी मायाविद्या आदि शक्तियाँ, जड़ीय द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं स्वभाववाद आदिके आश्रयमें वादी-प्रतिवादी पण्डितोंके विवाद एवं संवादकी (मतभेद एवं मतैक्यकी) एकमात्र कारण हैं तथा

जिनकी शक्तिके प्रभावसे स्वयंको पण्डित माननेवाले व्यक्तियोंमें आत्ममोह उत्पन्न होता है, उन अनन्त सच्चिदानन्द गुणशाली सर्वव्यापी श्रीभगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ॥३१॥

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-
रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत् तत्॥३२॥

परमात्माकी उपासनाका वर्णन करने वाले योग (भक्ति) शास्त्र सच्चित् प्रतीतिके आश्रयमें तत्त्ववस्तुके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रकृतिवादके आश्रित ज्ञानशास्त्र सांख्य-निर्विशेष विचारके कारण तत्त्ववस्तुके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, उस 'अस्ति' एवं 'नास्ति'के विचारको लेकर द्वन्द्वरत विरुद्धधर्माश्रित दोनों शास्त्र एक परब्रह्म वस्तुमें ही स्थित (पर्यवसित) कहे जायेंगे, क्योंकि दोनोंका मत भिन्न होनेपर भी भाव और अभावके परे जो एक अधिष्ठान वस्तु है, दोनों उसी बृहत् उभयनिष्ठ परब्रह्मका निरूपण करते हैं, मैं उन्हीं परब्रह्म स्वरूपको नमस्कार करता हूँ॥३२॥

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भजे स मह्यं परमः प्रसीदतु॥३३॥

अचिन्त्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न जो भगवान् हैं, वे प्राकृत जड़ बुद्धिवाले जीवोंके लिये देश, काल, वस्तु इत्यादि परिच्छेदोंसे रहित तथा प्राकृत नाम, रूपादिसे रहित हैं, लेकिन अपने चरण-कमलोंका भजन करनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये वे सदैव जन्म-लीलादिका प्रदर्शन करते हैं और उसीके अनुसार नाम-रूप धारण करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्द विग्रह परमेश्वर मेरे प्रति प्रसन्न हों॥३३॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
 यथाशयं देहगतो विभाति।
 यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
 स ईश्वरो मे कुरुतां मनोरथम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार वायु पार्थिव पङ्कजादिकी गंध लेकर नानाविध सुगन्धोंसे सुगन्धित हो जाती है और अरूप होनेपर भी धूसर, कृष्णादि वर्ण धारण करनेसे नाना रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार समस्त देहोंमें अन्तर्यामीरूपमें स्थित भगवान् भी उपासकोंकी पूर्व कामनाओंके अनुसार अर्वाचीन (विद्धा) उपासना-प्रणालियोंसे पूजित होकर गणेशादि नाना देवताओंके रूपमें उनके निकट प्रकट होते हैं, वे परमेश्वर मेरे मनोरथोंको पूर्ण करें, अन्य देवताओंसे मेरा क्या प्रयोजन है ॥ ३४ ॥

श्रीशुक उवाच—

इति स्तुतः संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे।
 प्रादुरासीत् कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः ॥ ३५ ॥
 कृतपादः सुपर्णासे प्रलम्बाष्टमहाभुजः।
 चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः ॥ ३६ ॥
 पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः।
 वनमालानिवीताङ्गो लसत् श्रीवत्सकौस्तुभः ॥ ३७ ॥
 महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः।
 काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः ॥ ३८ ॥
 त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत्त्रिभुवनेश्वरः।
 वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः।
 स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥ ३९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्! भगवान् भक्तवत्सल श्रीहरि दक्षकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर उसी 'अघमर्षण' नामक पर्वतपर प्रकट हुए। उनके चरण-कमल गरुड़के कंधेपर

रखे हुए थे, आजानुलम्बित आठों भुजाओंमें चक्र, शङ्ख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष, पाश और गदा—ये आठ अस्त्र देदीप्यमान हो रहे थे, वस्त्र एवं दुपट्टा पीत वर्णके थे, अङ्गकांति मेघके समान श्यामल थी, नयन और वदन प्रसन्न थे, गलेसे पैरों तक वनमाला सुशोभित हो रही थी, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स नामक मनोहर रोमावली एवं कौस्तुभ-मणि विराजमान थीं, मस्तकपर मुकुट जगमगा रहा था, कानोंपर मकराकृति कुण्डलोंकी अपूर्व शोभा विकीर्ण हो रही थी, मणिबन्धमें वलय, भुजाओंमें अङ्गद, अँगुलियोंमें अंगुठियाँ, कटिप्रदेशमें करधनी एवं चरणोंमें नूपुर थे। इस प्रकार अतिशय सुन्दर शोभाको धारण किये हुए अखिल लोकनाथ श्रीहरिने त्रैलोक्य विमोहन श्रीपुरुषोत्तम नामक रूप धारण कर रखा था। नारद, नन्दादि पार्षद, इन्द्रादि लोकपाल, सिद्ध, गन्धर्व एवं चारण उनके चारों ओर खड़े थे। सभी उनके दोनों ओर एवं पीछे रहकर स्तवपाठ एवं स्तुति कर रहे थे॥३५-३९॥

रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः।

ननाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः॥४०॥

श्रीभगवान्‌के इस त्रैलोक्य-विमोहन परम आश्चर्यमय रूपको देखकर दक्ष प्रजापति पहले तो भयभीत हुए, परन्तु बादमें अत्यन्त आनन्दित होकर उन्होंने भूमिपर गिरकर भगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम किया॥४०॥

न किञ्चनोदीरयितुमशकत् तीव्रया मुदा।

आपूरितमनोद्वारैर्हृदिन्य इव निझरैः॥४१॥

जिस प्रकार झरनोंके जल-प्रवाहसे नदियों पूर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार अत्यधिक आनन्दके उद्रेकसे दक्ष प्रजापतिकी वाक् आदि सारी इन्द्रियाँ परिपूर्ण हो गयीं, अतः वे कुछ और न बोल सके॥४१॥

तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम्।

चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः॥४२॥

प्रजापति भगवान्के सम्मुख नम्रतासे मस्तक झुकाकर खड़े थे। उनके कुछ न बोलनेपर भी समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी भगवान् जनार्दन उनकी भक्ति और प्रजावृद्धिकी कामना को जानते थे। अतः भगवान्ने दक्षसे इस प्रकार कहा ॥४२॥

श्रीभगवानुवाच—

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान्।

यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥४३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाभाग प्राचेतस! तुमने मेरे प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखकर परम भक्तिभावको प्राप्त किया है। अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गयी है ॥४३॥

प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः।

ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः ॥४४॥

हे प्रजापते! तुमने इस विश्वकी अभिवृद्धिके लिये तपस्या की है, जिसके कारण मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। मेरी यही इच्छा है कि प्रजाकी अभिवृद्धि एवं समृद्धि हो ॥४४॥

ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः।

विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥४५॥

ब्रह्मा, शिव, मनुष्य, लोकपाल और तुम सब प्रजापति मेरी ही विभूति अर्थात् गुणावतार हो और तुम सभी प्राणियोंकी अभिवृद्धि करनेवाले हो ॥४५॥

तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाकृतिः।

अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः ॥४६॥

हे ब्रह्मन्! तपस्या अर्थात् यम-नियमके साथ ध्यान मेरा हृदय है, विद्या (वैदिक ज्ञान) अर्थात् अङ्ग-उपाङ्ग, साङ्ग-मन्त्रजप मेरा शरीर है, नैमित्तिक क्रिया अर्थात् ध्यानादिका विषय-भावना शब्दसे वाच्य जो पुरुषोंका व्यापार (कर्म) है, वह मेरी आकृति है, भली-भाँति सम्पन्न होनेवाले यज्ञ मेरे अङ्ग हैं, यज्ञानुष्ठानसे

उत्पन्न होनेवाला 'अपूर्व' (अदृश्य) अर्थात् सुकृति मेरा मन है एवं यज्ञोंके भोक्ता सुरगण मेरे प्राण हैं ॥४६॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः।

संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ॥४७॥

इस विश्वकी सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। उस समय अन्तर्ग्राहक अन्तःकरणादि अथवा अन्य बहिर्ग्राह्य विषय कुछ भी न था। इन्द्रियवृत्ति द्वारा अप्रकट (अनभिव्यक्त) एकमात्र चैतन्य ही सर्वत्र प्रसुप्तके समान छा रहा था ॥४७॥

मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः।

यदासीत् तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः ॥४८॥

मैं अनन्त गुणोंका आधार और स्वयं भी अनन्त अर्थात् सर्वव्यापक हूँ। मेरी मायासे अर्थात् मुझसे ही यह ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है, इसी ब्रह्माण्डसे तुम्हारे कारणभूत अयोनिज स्वयम्भू ब्रह्मा आविर्भूत हुए हैं ॥४८॥

स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः।

मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि ॥४९॥

अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम्।

नव विश्वसृजो युष्मान् येनादावसृजद्विभुः ॥५०॥

मेरी शक्ति सञ्चारित होनेपर देवश्रेष्ठ स्वयम्भू सृष्टिकार्यमें उद्यत तो अवश्य हुए, किन्तु स्वयंको इस कार्यमें असमर्थ जानकर वे मेरे द्वारा उपदेश प्राप्तकर तत्क्षण तपस्यामें रत हो गये। उसी घोर तपस्याके प्रभावसे उन्होंने सर्वप्रथम तुम नौ विश्वस्रष्टाओंकी सृष्टि की ॥४९-५०॥

एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः।

असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥५१॥

हे प्रजेश दक्ष! यह पञ्चजन नामक प्रजापतिकी कन्या असिक्नी है, तुम इसे पत्नीरूपमें ग्रहण करो ॥५१॥

मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः ।

मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥५२॥

तुम स्त्री-पुरुषके रतिरूप धर्मका आश्रय लेकर रति-धर्मशीला इस कन्याके गर्भसे भूरि-भूरि प्रजाओंकी सृष्टि कर सकोगे ॥५२॥

त्वत्तोऽधस्तात् प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया ।

मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥५३॥

तुम्हारे बाद समस्त प्रजा मेरी मायाके वशीभूत होकर मिथुनी धर्मसे ही पुत्रादि उत्पन्न करेगी और वह मुझे पूजाकी सामग्री भेंट करती रहेगी ॥५३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः ।

स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीहंसगुह्यस्तवो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! विश्वभावन श्रीभगवान् हरि यह कहकर दक्षके सम्मुख ही इस प्रकार अन्तर्हित हो गये, जिस प्रकार स्वप्नमें देखी कोई वस्तु स्वप्नके भग्न होनेपर लुप्त हो जाती है ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके चौथे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त ।

पञ्चमोऽध्यायः

देवर्षि नादरजीके उपदेशसे दक्षपुत्रोंको संसारसे विरक्ति
तथा नारदजीको दक्षका शाप

श्रीशुक उवाच—

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! प्रजापति दक्षने भगवान् विष्णुकी मायासे संवर्द्धित होकर और उनकी शक्तिसे सामर्थ्य प्राप्त करके पञ्चजनकी पुत्री असिकनीसे हर्यश्व नामक दस हजार पुत्रोंको जन्म दिया ॥१॥

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥

हे राजन्! दक्षके सभी पुत्र स्वभाव एवं आचारमें एक ही समान थे। उनके पिताने उन्हें प्रजाकी सृष्टि करनेके लिये आदेश दिया, जिससे वे सभी तपस्याके लिए पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥२॥

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥

पश्चिम दिशामें जिस स्थानपर सिन्धु-नदीका समुद्रके साथ संगम होता है, वहीं मुनि एवं सिद्धगणों-द्वारा सेवित अतिशय विशाल “नारायण-सर” नामक एक महान तीर्थ है ॥३॥

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्द्धूतमलाशयाः।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥

तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः।
प्रजाविवृद्धये यत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्श ह ॥ ५ ॥

दक्षपुत्र हर्यश्वोने उस तीर्थमें पहुँचकर स्नान-आचमन करनेके लिये जलका स्पर्श किया ही था कि उनके हृदयका मल सम्पूर्णरूपसे धुल गया और उनकी पारमंहस्यधर्ममें मति हो गयी। पिताने उन्हें प्रजा-संवर्द्धनका आदेश दिया था, अतः वे बाध्य होकर प्रजाकी सृष्टिके लिये उग्र तपस्या करने लगे। जब देवर्षि नारदने देखा कि हर्यश्वगण भागवत धर्ममें रुचि होनेपर भी प्रजावृद्धिके लिये तत्पर हैं, तब वे उनके निकट आये और उनसे कहा ॥४-५॥

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
 अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥६॥
 तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम्।
 बहुरूपां स्त्रियञ्चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥७॥
 नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम्।
 क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमि ॥८॥

श्रीनारदजीने कहा—अरे हर्यश्वगण! तुम लोगोंने पृथ्वीके छोरको तो देखा ही नहीं है। वहाँ एक राज्य है, जिसमें एक ही पुरुष विराजमान है। वहाँ एक बिल है, जहाँसे किसीको भी बाहर निकलते नहीं देखा गया है, वहाँ एक स्त्री है, जो बहुरूपिणी है तथा जो एक पुरुष है, वह उस पुंश्चलीका (असतीका) पति है। एक नदी है, जो दोनों दिशाओंकी ओर प्रवाहित होती है। एक घर है, जो पच्चीस पदार्थोंसे बना है, एक हंस है, जो अनेक प्रकारकी ध्वनियाँ करता है। एक प्रकारका पदार्थ है, जो तेज क्षुरों एवं वज्र द्वारा निर्मित है एवं सदैव घूमता रहता है। तुम लोग यह सब देखो। वस्तुतः तुम लोग पालक होनेपर भी अज्ञ हो। अपने सर्वज्ञ पिताके उचित आदेशको जब तक समझ नहीं लोगे और इन उपर्युक्त वस्तुओंको देख नहीं लोगे, तबतक प्रजाकी सृष्टि किस प्रकार करोगे ॥६-८॥

कथं स्वपितुरादेशमाविद्वांसो विपश्चितः।
 अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ॥९॥

अहो! तुम्हारे पिता सर्वज्ञ थे। उनका यथार्थ आदेश क्या है, तुम लोग वह नहीं जानते, अतः हे मूर्खों! अज्ञ होनेपर तुम किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि करोगे॥९॥

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।
 वाचःकूटन्तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया॥१०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! हर्यश्वगण स्वाभाविक विचार शक्तिसम्पन्न थे। वे देवर्षि नारदके कटु वचनोंको सुनकर स्वयं ही उनकी बातोंपर आत्म-बुद्धिसे विचार-विश्लेषण करने लगे॥१०॥

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम्।
 अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥११॥

‘भू’ शब्दका अर्थ है—भूमि अथवा क्षेत्र। जीवका उपाधिभूत लिङ्गशरीर ही इस क्षेत्रके समान सुख-दुःखकी उत्पत्तिका स्थान है। यह जीवोंके अनादि बन्धनका मूल है। इसका अन्त अर्थात् नाश देखे बिना मोक्षके अनुपयोगी अनित्य कर्मोंको करनेसे भला क्या लाभ होगा? अतः कर्म-निर्वाणके लिये ही यत्न करना उचित है॥११॥

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् स्वाश्रयः परः।
 तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥१२॥

(वहाँ एक राज्य है, उसमें मात्र एक ही पुरुष है, देवर्षि नारदके इस कथनका तात्पर्य यह है कि) जो एकमात्र वस्तु है वह ईश्वर है। ईश्वर सबके साक्षी और छह ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं। वे स्वयं ही अपने आश्रय हैं। माया उनका स्पर्श नहीं कर सकती, वे नित्यमुक्त एवं परतत्त्व हैं। उन्हें जाने बिना मनुष्य जो भी कर्म करते हैं, वे सभी कर्म असत् है, क्योंकि वे कर्म भगवान्के लिये अर्पित नहीं हैं। अतः इन कर्मोंको करनेसे क्या लाभ?॥१२॥

पुमान् नैवेति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा।

प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १३ ॥

(वहाँ एक बिल है, जिससे किसीको भी बाहर निकलते नहीं देखा गया, इस उक्तिका तात्पर्य यह है कि) पातालमें प्रवेश करनेपर जिस प्रकार वहाँसे कोई बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार ज्योतिर्मय ब्रह्मधामको प्राप्त करनेके बाद वहाँसे संसारमें पुनः लौटना नहीं पड़ता। मनुष्य ब्रह्म-वस्तु अर्थात् भगवान्को न जानकर अनित्य स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये जो असत् कर्मानुष्ठान करते हैं, उनसे क्या फल मिलेगा? (अतः वैकुण्ठ प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना उचित है) ॥१३॥

नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता।

तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १४ ॥

‘बहुरूपिणी स्त्री’—इस कथनका आशय यह है कि बुद्धि ही सत्त्व, रज आदि गुणोंको धारण करनेवाली व्यभिचारी स्त्रीके समान है, जो पुरुषको मोहमें डाल देती है। मनुष्य इस बुद्धिका अन्त न पाकर जो असत् कर्म करते हैं, उनसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? (विवेकके द्वारा बुद्धिको कृष्णोन्मुखी करना चाहिये) ॥१४॥

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत्।

तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १५ ॥

(वहाँ एक पुरुष है, ‘जो पुंश्चलीका स्वामी’ है, इस कथनका अभिप्राय यह है कि) कुलटा स्त्रीका पति होनेसे जैसे मनुष्यकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बुद्धिके संसर्गसे जीवकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। सभी जीव बुद्धिकी सुख एवं दुःख रूपी दो प्रकारकी गति—अर्थात् स्वर्ग एवं नरकादि भोगोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस जीव तत्त्वको जाने बिना जो अविवेकी पुरुष अनित्य कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उनकी भला क्या सार्थकता है? (अतः आत्माके सद्विवेचन द्वारा उद्धार करना चाहिये) ॥१५॥

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम्।

मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १६ ॥

(एक नदी है—जो दोनों दिशाओंकी ओर प्रवाहित होती है, इस कथनका गूढ़ार्थ यह है कि) सृष्टि एवं प्रलयकारिणी माया ही दोनों तटोंकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदीका स्वरूप है। इस नदीके जल-प्रवाहमें जो गिर जाता है, उस व्यक्तिके वहाँसे निकलनेके लिये दो पथ हैं—तपस्या एवं विद्या। इन दोनों ही स्थानोंपर बाधा देनेके लिये क्रोध एवं अहङ्कारादिके रूपमें माया नदी बड़े वेगसे बहती है। जो इस वेगसे विवश हो इसमें निमग्न हो जाते हैं उन्हें इस माया नदीके तत्त्वको बिना जाने मायिक कर्मोंको करनेसे क्या उपलब्ध होगा? (अतः लौकिक प्रतिष्ठादिका परित्याग करके तपस्या एवं विद्यादिसे माया नदीको पार करना चाहिये)॥१६॥

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणः।

अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १७ ॥

एक घर है, जो पच्चीस पदार्थोंसे बना हुआ है, इस वचनका भावार्थ यह है कि अद्भुत-दर्शन, अन्तर्यामी पुरुष—पच्चीस तत्त्वों (पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन और जीव) के आश्रय एवं प्रकाशक हैं। वे ही कार्य एवं कारणके संयोगकर्त्ता हैं। उन्हें सेव्यरूपमें जाने बिना मिथ्या स्वतन्त्रताके अभिमानसे असत् सकाम कर्मोंको करनेसे क्या प्राप्त होगा? (समस्त प्राकृत वस्तुएँ विष्णुगत होनेसे निर्मल एवं अप्राकृत हैं और नित्य धर्मसे युक्त हैं। अतः निज प्रतिबिम्बताका परित्याग करनेपर विष्णुरूपी दर्पणके धर्मकी प्राप्त होती है। इसलिये देह, मनादि सभी कुछ श्रीहरिको अर्पित करना चाहिये)॥१७॥

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम्।

विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत्॥ १८ ॥

(वहाँ एक हंस है जो विचित्र ध्वनि करता है—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि) ईश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले

शास्त्रोंमें 'चित्' एवं 'जड़'—ये दो वस्तुएँ विद्यमान हैं। ये शास्त्र हंस स्वरूप हैं, हंस जिस प्रकार मिश्रित नीर-क्षीरको अलग कर देता है, उसी प्रकार चित् एवं जड़ पदार्थको अलग-अलग ज्ञापित करा देनेके कारण शास्त्र हंस नामसे जाने जाते हैं। इन शास्त्रोंमें बन्धन एवं मोक्षका उपदेश करनेवाले विविध प्रकारके वचन हैं। इन शास्त्रोंका परित्याग करके मूर्ख व्यक्ति जो बहिर्मुख कर्म करते हैं, उनसे क्या सिद्ध होगा? ॥१८॥

कालचक्रं भ्रमि तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत्।

स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १९ ॥

(तीक्ष्ण छुरे एवं वज्रादिसे निर्मित और स्वयं भ्रमणशील इस कथनका सङ्केत यह है कि) वज्र एवं सुतीक्ष्ण छुरोंसे बना कालचक्र ही वह वस्तु है, जो निरन्तर घूमता रहता है। यही सारे जगत्को परिचालित करता हुआ स्वतन्त्ररूपसे भ्रमण कर रहा है। इस कालचक्रको जाने बिना जो कर्म फलोंको नित्य जानकर काम्य कर्म करते हैं, उन्हें भला क्या प्राप्त होनेवाला है ॥१९॥

शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्त्तकम्।

कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत् ॥ २० ॥

तुम्हारे पिताका यथार्थ आदेश क्या है—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि उपनयनादि संस्कारोंसे जीवोंको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, शास्त्र ही उसका कारण हैं एवं यथार्थ उपदेश देनेके कारण शास्त्र ही वास्तविक पिता हैं। उन उपदेशोंका तात्पर्य निवृत्ति मार्गमें ही निहित है। इस निवृत्तिमार्गपरक आदेशको जाने बिना जो गुणमय प्रवृत्तिपरक मार्गमें आस्था रखते हैं, वे जागतिक पिताके आदेशका पालन कर सृष्टि आदि कार्योंमें भला कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ॥२०॥

इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एकचेतसः।

प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्त्तनम् ॥ २१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! नारदजीके वचनोंसे सभी हर्यश्व एकमत हो गये। उन्होंने देवर्षि नारदकी प्रदक्षिणा की और उस पथपर चल दिये, जहाँसे कोई लौटता नहीं है॥२१॥

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे।

अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः॥२२॥

षड्जादि स्वर-(ष, ऋ, ग, म, प, ध, नि) ब्रह्मस्वरूप हैं, क्योंकि ये सामवेदसे प्रकट हुए हैं। मुनिवर नारदके लीलागानके (भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवादके) प्रभावसे इस स्वरब्रह्ममें (वीणा-यन्त्रमें) सर्वेन्द्रियाकर्षक हृषीकेश श्रीकृष्णका साक्षात् आविर्भाव हुआ है। तब (हर्यश्वोंका उद्धार करनेके बाद) श्रीनारद भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें चित्तको सम्पूर्ण रूपसे स्थिर करके लोक-लोकान्तरोंमें विचरण करने लगे॥२२॥

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम्।

अन्वतप्यत कः शोचन् सुप्रजस्त्वं शुचां पदम्॥२३॥

उनके सुशील पुत्र पिताकी आज्ञा-पालन रूपी स्वधर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं, प्रजापति दक्ष श्रीनारदसे यह कथा सुनकर अत्यन्त शोक करने लगे। सत्पुत्रोंका अभाव शोकका कारण (निलय) है, अतः दक्ष भला शोकसे व्याकुल क्यों न होते?॥२३॥

स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः।

पुत्रानजनयद्वक्षः सबलाश्वान् सहस्रिणः॥२४॥

प्रजापति दक्ष इस प्रकार शोक कर रहे थे कि ब्रह्माजीने उन्हें सांत्वना दी, तब दक्ष प्रजापतिने अपनी पत्नी पञ्चजनीके गर्भसे पुनः सबलाश्व नामके एक हजार पुत्रोंको उत्पन्न किया॥२४॥

ते च पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः।

नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः॥२५॥

पिता दक्षने सबलाश्वादियोंको भी सृष्टि करनेके लिये आदेश दिया। पिताका आदेश पालन करनेके लिये वे तपस्याका महान व्रत धारण करके उसी 'नारायण' सरोवर नामक तीर्थमें पहुँचे,

जहाँ उनके बड़े भाइयोंने देवर्षि नारदके उपदेशोंसे भक्ति-भावको प्राप्त किया था॥२५॥

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्द्धूतमलाशयाः ।

जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तत्र महत्तपः॥२६॥

नाराण्य-सरोवरके पवित्र जलका स्पर्श करते ही उनके हृदयका सारा मल धुल गया। विशुद्ध चित्तसे वे प्रणव द्वारा सम्पुट लगाकर (यथा ॐ नमो नारायणाय) मन्त्र जप करते हुए महान् तपस्यामें लग गये॥२६॥

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान् कतिचिद्वायुभोजनाः ।

आराधयन् मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम्॥२७॥

ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।

विशुद्धसत्त्वधिष्याय महाहंसाय धीमहि॥२८॥

उन्होंने कुछ महीनों तक केवल जलपान किया और कुछ महीनों तक केवल वायुका ही भक्षण किया। 'हम प्रणवके उच्चारणके साथ महापुरुष श्रीनारायणको नमस्कार करते हैं; वे विशुद्ध सत्त्वगुणोंके आश्रय हैं और परमहंस स्वरूप हैं; हम उनका ध्यान करते हैं', इस मन्त्रका जप करते हुए वे मन्त्राधिष्ठाता श्रीविष्णुकी आराधना करने लगे॥२७-२८॥

इति तानपि राजेन्द्र प्रजासर्गधियो मुनिः ।

उपेत्य नारदः प्राह वाचःकूटानि पूर्ववत्॥२९॥

हे राजेन्द्र! मुनिवर श्रीनारदने देखा कि सबलाश्व प्रजा-सृष्टिकी कामनासे तपस्यामें लगे हुये हैं, तब वे उनके पास जाकर पूर्वकी भाँति परोक्षवादपूर्ण (पहले जैसे ही) कूट-वचन कहने लगे॥२९॥

दाक्षायणाः संशृणुत गदतो निगमं मम ।

अन्विच्छतानुपदर्वी भ्रातृणां भ्रातृवत्सलाः॥३०॥

देवर्षि नारदने कहा—हे दक्षपुत्रो! तुम मेरे उपदेशोंको ध्यानपूर्वक सुनो। तुम लोग अपने भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते हो, अतः बड़े भाइयोंके मार्गका ही अनुसरण करो॥३०॥

भ्रातृणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित्।

स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥ ३१ ॥

जो भाई धर्मतत्त्वको जानता है, वह भाइयों द्वारा स्वीकृत यथार्थ-मार्गका अनुसरण करता है। ऐसे पुण्यवान्-पुरुष मरुत् आदि भ्रातृ-वत्सल देवताओंके साथ आमोद-प्रमोदके भागी होते हैं ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः।

तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातृणामेव मारिष ॥ ३२ ॥

हे आर्य! जिनके दर्शन व्यर्थ नहीं होते, वे अमोघदर्शी श्रीनारद इन सब गूढ़ वचनोंको कहकर वहाँसे चल दिये। इधर सबलाश्वोंने भी अपने भाइयोंके मार्गका अनुसरण किया ॥ ३२ ॥

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः।

नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥ ३३ ॥

परीक्षित! वे भगवत्सेवोन्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त सर्वोत्कृष्ट पथ-भगवत्-प्राप्तिके अनुकूल भक्ति मार्गकी ओर चले थे। संसारकी ओर आजतक वे उसी प्रकार नहीं लौटे जिस प्रकार बीती रात्रियाँ न लौटती हैं, न लौटेंगी ॥ ३३ ॥

एतस्मिन् काले उत्पातान् बहून् पश्यन् प्रजापतिः।

पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥ ३४ ॥

इसी समय प्रजापति दक्षने अनेक प्रकारके अपशकुन देखे तथा पहलेकी भाँति नारदजीने मेरे इन पुत्रोंको भी भ्रष्ट कर डाला है, यह समाचार भी सुना ॥ ३४ ॥

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः।

देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥ ३५ ॥

पुत्रोंकी पारमहंस्य धर्ममें निष्ठा हो गयी है, यह सुनकर पुत्र-शोकके कारण प्रजापति दक्षका सारा विवेक नष्ट हो गया।

नारदजीको अपने समीप देखते ही क्रोधसे उनके होंठ फड़कने लगे और उन्होंने नारदजीसे इस प्रकार कहा—॥३५॥

दक्ष उवाच—

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया।

असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥ ३६ ॥

दक्ष प्रजापतिने कहा—अहो! तुमने केवल साधुका वेश धारण कर रखा है, किन्तु तुम साधु नहीं हो। साधु तो मैं हूँ, तुमने मेरे पुत्रोंको निवृत्ति-पथ दिखाकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है ॥३६॥

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।

विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणगण जन्म लेनेके साथ ही मनुष्य ऋषि-ऋण, देव-ऋण एवं पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी हो जाते हैं। ब्रह्मचर्यसे ऋषि-ऋण, यज्ञोंसे देव-ऋण एवं सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है, किन्तु मेरे पुत्र पूर्वोक्त त्रिविध गुणोंसे मुक्त नहीं हुए एवं उन्होंने अपने कर्मोंका ठीक प्रकारसे विचार भी नहीं किया। अतएव रे पापिष्ठ (विश्वासघातिन्)! तुम उनके इहलोक (विषय-भोगोंको त्याग कराके) और परलोक (वैराग्य-पथ दिखाकर) अर्थात् तीनों ऋण पूरा किये बिना ही मोक्ष धर्ममें लगाकर दोनों ही लोकोंकी मङ्गल प्राप्तिमें बाधक बन गये ॥३७॥

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः।

पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार जीव हिंसा करते हुए तुमने अपने स्वामी श्रीहरिके अमल यशको कलङ्कित किया है। तुमने अबोध बालकोंकी शास्त्र विहित कर्मनिष्ठा-मति ही नष्ट कर दी। तुम बड़े निष्ठुर और निर्लज्ज हो, भगवान्‌के पार्षदोंके साथ तुम किस प्रकार विचरण कर सकते हो ॥३८॥

ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम्॥ ३९ ॥

अरे! भागवतजन तो सभी प्राणियोंपर दया करनेके लिये व्यग्र रहते हैं, परन्तु तुम तो उनसे भिन्न ही हो। तुम लोगोंके साथ मित्रता भङ्ग करवाते हो और जिनका कोई शत्रु नहीं है, उनसे भी वैर ठनवा लेनेमें तत्पर रहते हो। लोगोंका इस प्रकारसे अहित करनेमें तुम्हें लज्जा नहीं आती॥३९॥

नेत्थं पुंसां विरागः स्यात् त्वया केवलिना मृषा।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिवृत्तनम्॥ ४० ॥

यदि तुम यह समझते हो कि वैराग्य द्वारा चित्तकी विषयोंसे निवृत्ति हो जाती है और चित्तके शान्त होनेपर सारे स्नेह-बन्धन कट जाते हैं तो यह तुम्हारा भ्रम है। मैं इस विषयमें तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि पूर्ण ज्ञान जाग्रत हुए बिना तुम्हारे समान केवल पाखण्ड-वेश धारण करनेसे मनुष्योंको वैराग्य नहीं होता॥४०॥

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्यते स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः॥ ४१ ॥

विषयोंका भोग किये बिना यह नहीं जाना जा सकता कि विषय ही दुःखका कारण हैं। इसलिये विषयोंका भोग करनेसे ही उनकी कटुता, तीक्ष्णता एवं दुःखोंके मूल कारणत्वका बोध होनेपर स्वयं ही जैसा सहज वैराग्य होता है, वह तुम्हारे समान दूसरोंकी बुद्धि चला देनेसे (बुद्धिकी विच्युति कर देनेसे) उत्पन्न नहीं होता॥४१॥

यत्रस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम्।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम्॥ ४२ ॥

हम वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्म-मर्यादाकी रक्षा करते हैं; हम ही साधु एवं गृहस्थ हैं अर्थात् फलभोगपरायण वैदिक कर्मानुसार देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ—इन पाँच

प्रकारके यज्ञ-व्रतोंको करनेके कारण गृहव्रती कहलाते हैं। पहले भी तुमने मेरे पुत्रोंको निवृत्ति पथपर भटकाकर ऐसा ही अपकार किया था, जिसे सहना बड़ा कठिन था; किन्तु तब मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया था॥४२॥

तन्तुकृन्तन यत्रस्त्वमभद्रमचरः पुनः।

तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥४३॥

हे पुत्रनाशक! क्या तुम हमारी वंशपरम्पराका उच्छेद करनेपर ही उतारु हो गये हो; तुमने पुनः मेरे प्रति वही अमङ्गल कार्य किया है! रे मूढ! इसी कारणवश तुम्हें लोक लोकान्तरोंमें भटकना पड़ेगा, तुम्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान प्राप्त नहीं होगा॥४३॥

श्रीशुक उवाच—

प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः।

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीनारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्, साधु-शिरोमणि नारदजीने ‘आपके वचन सत्य हों’ ऐसा कहकर प्रजापतिके वचनोंको स्वीकार कर लिया। यद्यपि वे पलटकर शाप देनेमें समर्थ थे, किन्तु उन्होंने शाप न देकर दक्षके अपकारको सह लिया। यही साधुओंका स्वभाव है॥४४॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके पाँचवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

प्रजापतिकी साठ कन्याओंके वंशका विवरण

श्रीशुक उवाच—

ततः प्रचेतसोऽसिकन्यामनुनीतः स्वयम्भुवा।

षष्टि सञ्जनयामास दुहितुः पितृवत्सलाः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसके पश्चात् ब्रह्माजीके बार-बार अनुरोध करनेपर दक्ष प्रजापति प्रचेताने असिकनी नामक अपनी पत्नीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं, जो सभी अपने पितासे बहुत प्रेम करती थीं ॥१॥

दश धर्माय कायादाद्विषट् त्रिनव चेन्दवे।

भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे ताक्षाय चापराः ॥ २ ॥

दक्ष प्रजापतिने उनमेंसे दस कन्याओंका धर्मसे, तेरहका कश्यपसे, सत्ताईसका चन्द्रमासे, दोका भूत नामक मुनिसे, दोका अङ्गिरासे, दोका कृशाश्वसे और शेष चारका ताक्ष्यनामक कश्यपसे विवाह कर दिया ॥२॥

नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानाञ्च मे शृणु।

यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥ ३ ॥

अब तुम इन दक्ष कन्याओं और उनकी सन्तानोंका नाम मुझसे श्रवण करो। इन्हींके पुत्र-पौत्र आदि स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल तीनों लोकोंमें फैले हुए हैं ॥३॥

भानुर्लम्बा ककुद्दयामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती।

वसुर्मुहूर्ता संकल्पा धर्मपत्न्यः सुतान् शृणु ॥ ४ ॥

भानु, लम्बा, ककुद्, यामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और सङ्कल्पा—ये दस धर्मकी पत्नियाँ थीं। अब इनके पुत्रोंके नाम सुनो ॥४॥

भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्त्वः ॥५॥

हे राजन्! भानुके गर्भसे देवऋषभका जन्म और देवऋषभसे इन्द्रसेनका जन्म हुआ। लम्बाके गर्भसे विद्योतका और विद्योतसे मेघोंका जन्म हुआ ॥५॥

ककुदः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः।
भुवो दुर्गाणि यामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥६॥

ककुदके गर्भसे सङ्कट हुए और सङ्कटसे कीकट-तनयका जन्म हुआ। इसके बाद कीकटसे भूतलपर स्थित समस्त दुर्गों (किलों) के अभिमानी देवताओंने जन्म लिया। यामिका पुत्र हुआ स्वर्ग और स्वर्गसे नन्दिने जन्म ग्रहण किया ॥६॥

विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजास्तान् प्रचक्षते।
साध्योगणश्च साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥७॥

विश्वाके पुत्र विश्वेदेव हुए। उनकी कोई सन्तान नहीं थी। साध्यासे साध्यगणोंका जन्म हुआ और साध्योंसे अर्थसिद्धिने जन्म ग्रहण किया ॥७॥

मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्या बभूवतुः।
जयन्तो वासुदेवांश्च उपेन्द्र इति यं विदुः ॥८॥

मरुत्वतीके गर्भसे दो पुत्र-मरुत्वान् और जयन्तने जन्म ग्रहण किया। जयन्त भगवान् वासुदेवके अंश हैं। (अदितिके पुत्र उपेन्द्रके समान) जयन्त भी जगत्में उपेन्द्रके नामसे विख्यात हैं ॥८॥

मौहूर्त्तिका देवगणा मुहूर्त्तायाश्च जज्ञिरे।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥९॥

मुहूर्त्ताके गर्भसे मौहूर्त्ति नामक देवताओंने जन्म ग्रहण किया। ये अपने-अपने कालमें प्राणियोंको उनके कर्मानुसार कर्मफल प्रदान करते हैं ॥९॥

सङ्कल्पायास्तु सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः।
 वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥ १० ॥
 द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वास्तुर्विभावसुः।
 द्रोणस्याभिमतः पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥ ११ ॥

सङ्कल्पाका पुत्र हुआ सङ्कल्प और उस सङ्कल्पसे काम उत्पन्न हुआ। वसुके पुत्र अष्टवसु नामसे प्रसिद्ध हुए, उनके नाम मुझसे सुनो—द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वास्तु एवं विभावसु। इनमें—से द्रोण नामक वसुकी पत्नी अभिमतिके गर्भसे हर्ष, शोक और भय आदि उत्पन्न हुए ॥ १०-११ ॥

प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः।
 ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥ १२ ॥

प्राणकी पत्नी ऊर्जस्वतीसे सह, आयु और पुरोजव इन तीन पुत्रोंका जन्म हुआ। ध्रुवकी पत्नी थी धरणी, जिसके गर्भसे विविध नगरोंका जन्म हुआ ॥ १२ ॥

अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः।
 अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥ १३ ॥

अर्ककी पत्नी वासनाके गर्भसे तर्ष (तृष्णा) आदि बहुत—से पुत्र उत्पन्न हुए। अग्नि नामक वसुकी पत्नी धारासे भी द्रविणक आदि अनेक पुत्र हुए ॥ १३ ॥

स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः।
 दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥ १४ ॥

अग्निकी दूसरी पत्नी कृत्तिकासे स्कन्द (कार्तिकेय) हुए। स्कन्दसे विशाखादि पुत्रोंका जन्म हुआ। दोष नामक वसुकी पत्नीका नाम था शर्वरी, जिसके गर्भसे शिशुमारने जन्म ग्रहण किया। शिशुमार भगवान् विष्णुके अंश (कलावतार) हैं ॥ १४ ॥

वास्तोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्माकृतीपतिः।
 ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद्विश्वे साध्या मनोः सुताः ॥ १५ ॥

वास्तु नामक वसुकी पत्नी आङ्गिरसी थी; उसके गर्भसे शिल्पकारोंके आचार्य विश्वकर्माने जन्म ग्रहण किया। ये ही आकृतीके पति थे। इन विश्वकर्मासे चाक्षुष मनु उत्पन्न हुए। इन मनुके पुत्र ही विश्वेदेव और साध्यगणके नामसे जाने जाते हैं॥१५॥

विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम्।

पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु॥१६॥

विभावसुकी पत्नी उषासे व्युष्ट, रोचिष और आतप ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् आतपसे पञ्चयामकी (दिवसकी) उत्पत्ति हुई; इसीके कारण सभी प्राणी अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं॥१६॥

सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः।

रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः॥१७॥

अजैकपादहिर्ब्रध्नो बहुरूपो महानिति।

रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोरा प्रेतविनायकाः॥१८॥

भूतकी पत्नी सरूपाने कोटि-कोटि रुद्र उत्पन्न किये, जिनमें ग्यारह प्रधान हैं—उनके नाम श्रवण करो—रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, बहुरूप और महान्। भूतकी दूसरी पत्नी भूतासे ग्याहरवे प्रधान रुद्र महान्के पार्षद, भयङ्कर प्रेत और विनायकादिका जन्म हुआ॥१७—१८॥

प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितृनथ।

अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत् सती॥१९॥

प्रजापति अङ्गिराकी स्वधा और सती नामकी दो पत्नियाँ थीं; इनमें-से स्वधा नामकी पत्नीने पितृगणोंको (पितरोंको) एवं सतीने अथर्वाङ्गिरस नामक वेदको ही पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया था अर्थात् कल्पना कर ली थी॥१९॥

कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेतुमजीजनत्।

धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम्॥२०॥

कृशाश्वकी पहली पत्नी अर्चिस्से धूमकेतुका जन्म हुआ एवं धिषणाके गर्भसे वेदशिरा, देवल, वयुन एवं मनु इन चार पुत्रोंका जन्म हुआ॥२०॥

ताक्ष्यस्य विनता कद्रुः पतङ्गी यामिनीति च।
पतङ्ग्यसूत पतगान् यामिनी शलभानथ॥ २१ ॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद् यज्ञेशवाहनम्।
सूर्यसूतमनूरुञ्च कद्रुर्नागाननेकशः॥ २२ ॥

ताक्ष्य नामक कश्यपकी चार पत्नियाँ थी—विनता, कद्रु, पतङ्गी और यामिनी। उनमें पतङ्गी नामक भार्यासे पतग (पक्षी) और यामिनीसे शलभ (टिड्डी) उत्पन्न हुए। सुपर्णा (विनता)से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें पहले साक्षात् भगवान् विष्णुके वाहन गरुड एवं दूसरे सूर्यके सारथि अनुरु (अरुण) हैं। कद्रूके गर्भसे नागोंका जन्म हुआ॥२१-२२॥

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत।
दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः॥ २३ ॥

हे भारत! कृत्तिकादि सत्ताईस तारकाएँ (नक्षत्राभिमानिनियाँ) चन्द्रमाकी पत्नियाँ थीं। चन्द्रमा अपनी समस्त पत्नियोंकी उपेक्षा करके रोहिणीकी ओर अतिशय अनुरागी हो गये थे। अपनी अन्यान्य कन्याओंका दुःख देखकर दक्ष प्रजापति कुपित हो गये और उन्होंने चन्द्रमाको 'तुम क्षयरोगसे ग्रस्त हो जाओ' यह अभिशाप दे दिया था। इसी कारण उनकी पत्नियोंके गर्भसे कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई॥२३॥

पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः।
शृणु नामानि लोकानां मातृणां शङ्कराणि च॥ २४ ॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत्।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला॥ २५ ॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः।
तिमेर्यादोगणा आसन् श्वापदाः सरमासुताः॥ २६ ॥

तदनन्तर चन्द्रने विविध नम्रतापूर्ण वचनोंसे दक्षको सन्तुष्ट करके कृष्णपक्षमें खण्डित कलाओंका शुक्लपक्षमें वृद्धि होनेका वरदान तो प्राप्त कर लिया, किन्तु सन्तान प्राप्त न कर सके। हे राजन्! अब कश्यप प्रजापतिकी पत्नियोंके नाम श्रवण करो—इन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ये समस्त लोकोंकी माताएँ हैं। इनके नाम सुननेसे परम कल्याण होता है। इन लोकमाताओंके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि। इनमें तिमिके गर्भसे जलजन्तु और सरमाके गर्भसे श्वापद अर्थात् सिंह तथा बाघ आदि हिंसक पशुओंका जन्म हुआ॥२४-२६॥

सुरभेर्महिषाः गावो ये चान्ये द्विशफा नृप।

ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः॥२७॥

हे महाराज! सुरभिसे गाय, भैंस और दो खुरवाले अन्यान्य पशुओंका जन्म हुआ। ताम्रासे बाज, गीध आदि शिकारी पक्षियोंने जन्म लिया और मुनिसे अप्सरायें उत्पन्न हुई॥२७॥

दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः।

इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः॥२८॥

क्रोधवशासे दन्दशूक नामक सर्प, अन्य सरीसृप (रेंगनेवाले) जन्तु एवं मच्छरादि उत्पन्न हुए। इलाके गर्भसे वृक्ष एवं लतादिने तथा सुरसासे राक्षसोंने जन्म लिया॥२८॥

अरिष्टायास्तु गन्धर्वाः काष्ठायाः द्विशफेतराः।

सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकान् शृणु॥२९॥

द्विमूर्द्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः।

अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः॥३०॥

पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः।

धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जयः॥३१॥

अरिष्टाके गर्भसे गन्धर्व एवं काष्ठाके गर्भसे एक खुर वाले अश्व आदि पशुओंका जन्म हुआ। हे राजन्! दनुके गर्भसे इकसठ पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें-से अठारह प्रमुख थे। उनके नाम हैं—द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शङ्कुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोमा वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय ॥२९-३१॥

स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल।

वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥३२॥

स्वर्भानुकी सुप्रभा नामकी एक कन्या थी, जिसके साथ नमुचिने विवाह किया था और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे नहुषके महाबली पुत्र ययातिने विवाह किया ॥३२॥

वैश्वानरसुतायाश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः।

उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥३३॥

उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप।

पुलोमां कालकाञ्च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥३४॥

उपयेमेऽथ भगवान् कश्यपो ब्रह्मचोदितः।

पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥३५॥

तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता।

जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥३६॥

दनुके पुत्र वैश्वानरकी चार अति सुन्दर कन्यायें थीं—उपदानवी हयशिरा, पुलोमा और कालका। इनमें उपदानवीका विवाह हिरण्याक्षसे एवं हयशिराका विवाह क्रतुसे हुआ। इसके बाद ब्रह्माजीके अनुरोधपर प्रजापति कश्यपने वैश्वानरकी शेष दो कन्याओं पुलोमा और कालकासे विवाह कर लिया। इनके गर्भसे निवातकवच आदि साठ हजार दानव पुत्र हुए, जो पौलोम और कालकेय नामसे प्रसिद्ध हुए। ये अत्यन्त बलशाली एवं युद्धमें निपुण थे और सर्वदा ऋषि-मुनियोंके यज्ञ-कर्मोंमें विघ्न डाला करते थे।

हे राजन्! तुम्हारे पितामह अर्जुनने स्वर्गमें निवास करते समय इन यज्ञ विघ्नकारी दानवोंको अकेले ही मार डाला था। इसी कारण वे इन्द्रके अत्यन्त प्रियपात्र बन गये थे॥३३-३६॥

विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतज्वैकमजीजनत्।

राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागताः॥३७॥

विप्रचित्तिकी पत्नी सिंहिकाके गर्भसे एक सौ एक पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़ा था राहु और दूसरे सभी सौ पुत्र केतु थे। इन सभीने प्रभावशाली ग्रहोंमें स्थान प्राप्त कर लिया था॥३७॥

अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः।

यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद्विभुः॥३८॥

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः।

धाता विधाता वरुणो मित्रः शत्रु उरुक्रमः॥३९॥

परीक्षित्! अब मैं अदितिकी वंश परम्पराका विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक श्रवण करो! इस वंशमें ही सर्वव्यापक भगवान् नारायण अपने अंशरूपमें अवतीर्ण हुए थे। अदितिके पुत्र थे—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शत्रु और उरुक्रम॥३८-३९॥

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयतः वै मनुम्।

मिथुनञ्च महाभागा यमं देवं यमीं तथा।

सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि॥४०॥

विवस्वान् सूर्यदेवकी पत्नी संज्ञासे श्राद्धदेव नामक मनुने जन्म लिया और इसी महाभाग्यवती संज्ञासे यमदेव एवं यमी (यमुना) यमजरूपमें उत्पन्न हुए। संज्ञाने ही घोड़ीका रूप धारण करके पृथ्वीपर विचरण करते हुए सूर्य द्वारा दो अश्विनी कुमारोंको जन्म दिया था॥४०॥

छाया शनैश्चरं लेभे सार्वर्णिं च मनुन्ततः।

कन्याञ्च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम्॥४१॥

विवस्वान् सूर्यकी दूसरी पत्नीका नाम था छाया, जिससे शनैश्चर एवं सावर्णिमनु नामके दो पुत्र हुए एवं तपती नामकी कन्या उत्पन्न हुई। तपतीने संवरणका पतिरूपमें वरण किया ॥४१॥

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः।

यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता ॥४२॥

अर्यमाकी पत्नी मातृकाके गर्भसे बहुत-से ज्ञानवान् पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया। ये सभी पुत्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके ज्ञानसे युक्त थे। अर्यमाके इन पुत्रोंमें आत्मानुसन्धानकी प्रवृत्ति देखकर ब्रह्माजीने इन्हींके आधारपर मनुष्यजाति की सृष्टि (ब्राह्मणादि वर्णोंकी कल्पना) की थी। (श्रुतियोंमें कहा गया है कि मनुष्य जातिमें ही आत्मानुसन्धान भावका विशेषरूपसे विकास हुआ है।) ॥४२॥

पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत् पुरा।

योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः ॥४३॥

पूषाकी कोई सन्तान नहीं थी। उनके दाँत भी नहीं थे, इसलिये वे पिसा हुआ अन्न ही खाते थे। पूर्वकालमें जब शिवजी दक्षपर कोप कर रहे थे, तब ये अपने दाँत दिखाकर हँस रहे थे, इसलिये शिवजीके गण वीरभद्रने इनके दाँत तोड़ दिये थे ॥४३॥

त्वष्टुर्देत्यात्मजा भार्या रचना नाम कन्यका।

संनिवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥४४॥

दैत्योंकी आत्मजा (पुत्री) कुमारी रचना त्वष्टा प्रजापतिकी पत्नी थी, उसके गर्भसे प्रजापति द्वारा दो महाबलशाली पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया—जिनके नाम संनिवेश एवं विश्वरूप थे ॥४४॥

तं वव्रिरे सुरगणाः स्वस्त्रीयं द्विषतामपि।

विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे दक्षकन्यावंशो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

विश्वरूप देवताओंके चिरशत्रु दैत्योंके भांजे थे। जब कुलगुरु बृहस्पतिने देवताओंकी उपेक्षा करके उनका परित्याग कर दिया, तब उन देवताओंने पौरोहित्य-कर्मके लिये इन्हें ही अपना आचार्य बना लिया था ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

बृहस्पतिके द्वारा देवताओंका त्याग और विश्वरूपका
देवगुरुके रूपमें वरण

श्रीराजोवाच—

कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः ।

एतदाचक्ष्व भगवन् शिष्याणामक्रमं गुरौ ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन्! कुलगुरु बृहस्पतिजीने अपने
शिष्य देवताओंको किस कारणवश त्याग दिया? देवताओंने अपने
गुरुके प्रति ऐसा क्या अपराध कर दिया था, आप मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।

मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप ॥ २ ॥

विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः ।

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३ ॥

विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतंगोरगैः ।

निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत ॥ ४ ॥

उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः ।

पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥ ५ ॥

युक्तश्चिह्नैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः ।

विराजमानः पौलम्या सहाध्वंसनया भृशम् ॥ ६ ॥

स यदा परमाचार्य देवानामात्मनश्च ह ।

नाभ्यनन्दत संप्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ ७ ॥

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।

नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—महाराज ! त्रिभुवनका ऐश्वर्य प्राप्त करके देवराज इन्द्र मदोन्मत्त होकर धर्ममर्यादा एवं सत्पथका उल्लङ्घन करने लगे। एक समय वे सभामण्डपमें अपनी पत्नी शचीके साथ सिंहासनपर विराजमान थे। मरुद्गण, वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण ऋभुगण, विश्वेदेवगण, साध्यगण, दोनों अश्विनी कुमार, सिद्ध, चारण, गन्धर्वगण और ब्रह्मवादी मुनि उनके चारों ओर विराजमान थे। विद्याधर, अप्सराएँ, किन्नर, पक्षी एवं नाग उनकी सेवा और स्तुति कर रहे थे। अप्सराएँ एवं गन्धर्व अति सुललित स्वरमें उनका यशोगान कर रहे थे। उनके सिरके ऊपर चन्द्रमण्डलके समान मनोहर, शुभ्र राजछत्र सुशोभित था तथा चँवर, व्यजन (पंखा) आदि चक्रवर्ती महाराजोचित समस्त सामग्रियाँ यथास्थान सुसज्जित थीं। इसी समय देवताओंके एवं स्वयं देवराज इन्द्रके परमगुरु एवं सुर-असुर सभीके पूजनीय मुनिश्रेष्ठ बृहस्पति सभामण्डलमें उपस्थित हुए। अपने सम्मुख देवगुरु बृहस्पतिको आया देखकर भी देवराज इन्द्र अपने सिंहासनसे नहीं उठे और न ही उन्हें आसनादि प्रदान करके उनका अभिनन्दन किया। यहाँ तक कि गुरुके प्रति गौरव प्रदर्शनके लिये किञ्चित्मात्र भी हिले-डुले नहीं ॥२-८॥

ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः।

आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वान् श्रीमदविक्रियाम् ॥९॥

तब भविष्यको जाननेवाले बृहस्पति देवराज इन्द्रके इस प्रकारके असद् व्यवहारको देखकर समझ गये कि इन्द्र ऐश्वर्य-मदमें मत्त हो रहा है। वे इन्द्रको शापादिके द्वारा शासित करनेमें समर्थ थे, किन्तु वे मौन रहकर उसी क्षण सभामण्डपको छोड़कर अपने घर चले आये ॥९॥

तर्ह्येव प्रतिबुद्ध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः।

गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥१०॥

देवगुरु बृहस्पतिके सभामण्डपसे चले जानेपर देवराज इन्द्रको सुधि आई कि उन्होंने गुरुदेवकी अवहेलना की है। यह स्मरण करके वे भरी सभामें अपनी अतिशय निन्दा करने लगे ॥१०॥

अहो बत मयासाधु कृतं वै दम्भबुद्धिना।

यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः॥११॥

अहो! यह मैंने क्या अनर्थ कर दिया। अपनी अल्पबुद्धिके कारण मैं ऐश्वर्य-मदमें मतवाला हो गया। मैंने सभा-मण्डपमें उपस्थित गुरुदेवका अभिनन्दन तो किया नहीं, तिरस्कार कर बैठा॥११॥

को गृध्येत् पण्डितो लक्ष्मीं त्रिपिष्टपपतेरपि।

ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः॥१२॥

सात्त्विक प्रवृत्तिवाले देवताओंका राजा होकर भी मैं इस सामान्यसे धनके मदमें मतवाला होकर अहङ्कार-ग्रस्त हो गया। कौन ज्ञानवान् व्यक्ति मेरे इस तुच्छ धनको चाहेगा। हाय! हाय! मेरे ऐसे धनको धिक्कार है॥१२॥

ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन्न कञ्चन।

प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्म ते न परं विदुः॥१३॥

जो लोग यह कहते हैं कि यदि चक्रवर्ती-सम्राट् राजसिंहासनपर बैठा है तो उसे किसी राजा अथवा ब्राह्मणादिके स्वागतमें सिंहासनसे नहीं उठना चाहिये, तो यही समझना चाहिये कि वह धर्मके उत्कृष्ट नियमोंको नहीं जानता॥१३॥

तेषां कुपथदेष्टृणां पततां तमसि ह्यधः।

ये श्रद्धधुर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव॥१४॥

जो तमोगुणी दूसरोंको कुपथका उपदेश देते हैं और जो श्रद्धाके साथ उनके वचनोंपर विश्वास करते हैं, वे पत्थरकी नौकासे नदी पार करनेकी इच्छावाले व्यक्तियोंके समान डूब जाते हैं। जिस प्रकार पहले पत्थरकी नाव स्वयं डूबती है, उसके बाद उसमें सवार लोग डूब जाते हैं, उसी प्रकार कुपथका उपदेश करनेवाला पहले स्वयं नरकमें गिरता है, बादमें उसके अनुयायी भी नरकमें जाते हैं॥१४॥

अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम्।

प्रसादयिष्ये निशठः शीष्णां तच्चरणं स्पृशन् ॥ १५ ॥

जो भी हुआ, अब मैं शठताका परित्याग करके सरल और विनीत भावसे ज्ञानके अथाह सागर—देवगुरु, ब्राह्मणश्रेष्ठ, श्रीमान् बृहस्पतिजीके चरणोंमें सिर-झुकाकर उन्हें प्रसन्न करूँगा ॥ १५ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान् गृहात्।

बृहस्पतिर्गतोऽदृश्यां गतिमध्यात्ममायया ॥ १६ ॥

देवराज इन्द्र इस प्रकार चिन्तन कर ही रहे थे कि परम शक्तिमान् बृहस्पति उनके भावोंको जान गये। वे अपने घरसे निकल गये और अपने योगबलसे शीघ्र ही अदृश्य हो गये ॥ १६ ॥

गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट्।

ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः ॥ १७ ॥

देवराज इन्द्र देवताओंके साथ देवगुरु बृहस्पतिकी खोज करने लगे। किन्तु वे कहीं भी उन्हें खोज न पाये। वे चिन्ता करने लगे—हाय! गुरुदेव मुझसे अप्रसन्न हो गये। अब असुरोंसे हमारी रक्षा कैसे होगी, कोई मार्ग दिखायी नहीं देता। देवराज समस्त देवताओंसे घिरे हुए थे, तथापि उनके चित्तमें शांति न थी ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्वे आश्रित्यौशनसं मतम्।

देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥ १८ ॥

इधर दुष्टबुद्धि आतयायी असुरोंने देवराजकी इस दुर्दशाका समाचार सुनकर दैत्यगुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे अस्त्रादि धारण कर लिये और देवताओंपर आक्रमण कर दिया ॥ १८ ॥

तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निभिन्नाङ्गोरुबाहवः।

ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥ १९ ॥

असुरोंके तीखे बाणोंके प्रहारसे देवताओंके सिर, जाँघ, बाहु आदि अङ्ग क्षत-विक्षत होने लगे। वे और कोई उपाय न देखकर देवराज इन्द्रके साथ नतमस्तक होकर ब्रह्माजीकी शरणमें पहुँचे ॥ १९ ॥

तांस्तथाभ्यर्क्षितान् वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः।

कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन्॥२०॥

सामर्थ्यवान् स्वयम्भू ब्रह्माजीने दैत्योंके बाणोंके प्रहारसे आहत हुए देवताओंको बड़े ही कातर भावसे आते देखा, तब उनका हृदय अत्यन्त करुणासे भर गया। वे उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगे॥२०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत्।

ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत॥२१॥

ब्रह्माजीने कहा—हे श्रेष्ठ देवताओ! तुम लोग ऐश्वर्य-मदसे ऐसे मतवाले हो गये कि तुमने अपने सम्मुख उपस्थित ब्रह्मज्ञानी, संयमी एवं ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिजीका सत्कार नहीं किया। यह बड़े दुःखकी बात है। अहो! तुमने तो बड़ा अन्यायपूर्ण कार्य किया है॥२१॥

तस्यायमनयस्यासीत् परेभ्यो वः पराभवः।

प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानाञ्च यत् सुराः॥२२॥

इस अनीतिपूर्ण आचरणका ही यह परिणाम है कि शत्रुओंसे तुम्हारी पराजय हुई है। यदि ऐसा न होता तो इतने शक्तिशाली होनेपर भी इन निर्बल दैत्य शत्रुओंसे तुम्हारी हार कैसे होती। हे देवताओ! ये असुरगण युद्धमें कितनी ही बार तुम लोगोंसे हारे हैं॥२२॥

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात्।

सम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः।

आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः॥२३॥

हे इन्द्र! पहले तुम्हारे शत्रु दैत्योंने अपने गुरु भृगु-शिष्य शुक्राचार्यका इसी प्रकार तिरस्कार किया था, जिससे उनका बल क्षीण हो गया था और अब उन्होंने श्रद्धापूर्वक गुरुकी आराधना

कर उन्हें प्रसन्न करके पुनः इस प्रकार बल प्राप्त किया है। देखो! शुक्राचार्यके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति होनेके कारण ही वे इतने शक्तिशाली हो गये कि अब वे मेरा धाम भी अनायास ही हरण कर सकते हैं। (देखो, गुरुका सम्मान और अपमान ही जगत्में सम्पद् और विपद्का कारण है)॥२३॥

त्रिपिष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-
मन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम्॥ २४॥

शुक्राचार्यके शिष्य दैत्यगण आज अपने गुरुके अभेद्य-मन्त्रों (जिनकी मन्त्रणा अथवा आदेश दूसरा जान नहीं सकता) से सम्पन्न एवं दृढ़प्रतिज्ञ होकर देवताओंको कुछ समझते ही नहीं हैं। देखो, गाय, ब्राह्मण और स्वयं भगवान् गोविन्द जिन राजाओंपर अनुग्रह करते हैं—उनका कभी भी अमङ्गल नहीं होता। (इनके अतिरिक्त सभी व्यक्तियोंका पग-पगपर सर्वदा अशुभ ही होता है)॥२४॥

तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम्।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म॥ २५॥

इस समय तुम लोग एक कार्य करो। शीघ्र ही त्वष्टाके पुत्र 'विश्वरूप'के पास जाकर उनकी गुरुरूपमें सेवा करो। वे तपस्वी, आत्मज्ञानी और संयमी ब्राह्मण हैं। तुम्हारे सत्कार और पूजासे सन्तुष्ट होनेपर वे तुम्हारे मनोरथको पूर्ण कर देंगे। उनमें एक दोष है कि वे असुरोंके पक्षपाती हैं, परंतु तुम इसपर ध्यान न देकर असुरोंके प्रति उनके झुकावको स्वीकार कर लेना॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

त एवमुदिता राजन् ब्रह्मणा विगतज्वराः।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपब्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन्॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! ब्रह्माजीसे इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर देवताओंका सन्ताप कुछ कम हो गया। वे त्वष्टा-पुत्र विश्वरूप ऋषिके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर इस प्रकार कहने लगे॥२६॥

श्रीदेवा ऊचुः—

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते।

कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः॥२७॥

देवताओंने कहा—हे प्रिय विश्वरूप! तुम्हारा मङ्गल हो। हम सभी देवतागण अतिथिरूपमें तुम्हारे आश्रयमें आये हैं। हम तुम्हारे पिता तुल्य हैं, अतः तुम हमारी समयोचित अभिलाषा पूर्ण करो॥२७॥

पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम्।

अपि पुत्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम्॥२८॥

हे ब्रह्मन्! जो पुत्रवान हैं उनके सत्पुत्रोंका यही परमधर्म है कि वे अपने पितृजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करें। यदि वे ब्रह्मचारी हों, तब उनके विषयमें कहना ही क्या?॥२८॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।

भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः॥२९॥

दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम्।

अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥३०॥

जो यज्ञोपवीत आदि प्रदान करके साङ्गोपनिषद् वेदोंका अध्ययन कराता है, वह आचार्य साक्षात् वेदकी मूर्ति है। इसी प्रकार पिता ब्रह्माकी मूर्ति, भ्राता इन्द्रकी मूर्ति, माता साक्षात् पृथ्वीकी मूर्ति, बहिन दयाकी मूर्ति, अतिथि स्वयं धर्मकी मूर्ति, अभ्यागत अग्निदेवकी मूर्ति तथा सभी प्राणी सर्वात्मक भगवान् श्रीविष्णुकी मूर्ति हैं (अतः सभी प्राणियोंमें आत्मदृष्टि रखनी चाहिये)॥२९-३०॥

तस्मात् पितृणामार्त्तानामार्त्ति परपराभवम्।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि॥ ३१ ॥

हे वत्स! हम लोग शत्रुओंसे हार जानेके कारण बड़े दुःखी हैं। शत्रुसे पराभवरूपी हमारे दुःखको तुम अपने तपोबलसे दूर कर दो। हमने जो प्रार्थनाएँ की हैं, उन्हें पूर्ण करो॥ ३१ ॥

वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम्।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा॥ ३२ ॥

तुम ब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हो। अतः वर्णमात्रसे ही तुम सभीके गुरु हो। हम तुम्हें अपने आचार्यके रूपमें वरण करते हैं, क्योंकि तुम्हारे तपोबलके प्रभावसे हम शत्रुओंको सहज ही पराजित करके विजय प्राप्त कर लेंगे॥ ३२ ॥

न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम्।
छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम्॥ ३३ ॥

तुम हमसे छोटे हो, यह सोचकर मनमें किसी प्रकारकी आलोचनाकी आशङ्का मत करो क्योंकि प्रयोजनके अनुसार छोटोंकी चरण-वन्दना करनेसे कोई निन्दा नहीं होती। वास्तवमें देखो तो वैदिक मन्त्रोंको छोड़कर गुरुता (बड़प्पन) सर्वत्र आयुसे ही निर्धारित होती है, किन्तु वैदिक-कार्योंमें वेदोंका ज्ञान ही गुरुताका कारण होता है। अतः मन्त्र प्रदान करनेसे तुम हमारे ज्येष्ठ एवं पूज्य हो जाओगे॥ ३३ ॥

श्रीऋषिरुवाच—

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा॥ ३४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित! जब देवताओंने इस प्रकार महातपस्वी विश्वरूपसे पुरोहित बननेकी प्रार्थना की, तो वे देवताओंसे प्रसन्न हो गये और सुमधुर वचनोंसे इस प्रकार कहने लगे॥ ३४ ॥

श्रीविश्वरूप उवाच—

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्च उपव्ययम्।
कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम्।
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते ॥ ३५ ॥

श्रीविश्वरूपने कहा—हे देवताओ! पुरोहित कर्मसे पूर्वसिद्ध ब्रह्मतेजका क्षय होता है, इसलिये धर्मपरायण मुनियोंने इसकी निन्दा की है परन्तु मेरे जैसे व्यक्तिको आप जैसे लोकपालोंकी प्रार्थनाको अस्वीकार नहीं करना चाहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे आपसे अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी हैं। अतः हे नाथगण! आपके आदेशको अस्वीकार न करनेमें ही मेरा स्वार्थ है ॥ ३५ ॥

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोच्छनं
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः।
कथं विगर्ह्य नु करोम्यधीश्वराः
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥ ३६ ॥

हे अधीश्वरगण! शीलोच्छन अर्थात् फसल कटनेपर भूस्वामी द्वारा उपेक्षित धान्यादि और हाट (बाजार) उठ जानेपर गिरे हुए दाने ही हम निष्किञ्चनोंका धन हैं। यही हमारी जीविका-वृत्ति है। इसीका निर्वाह करते हुये गृहस्थाश्रममें रहनेवाले साधुओंको पुण्य-कर्म करते रहना चाहिये। जिसकी बुद्धि बिगड़ गयी है, वही पुरोहित-कर्मसे प्राप्त धनके द्वारा आनन्द भोग करता है। बतलाइये! मैं इस प्रकारके पौरोहित्यको कैसे स्वीकार करूँ? ॥ ३६ ॥

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत्।
भवतां प्रार्थितं सर्व प्राणैरर्थैश्च साधये ॥ ३७ ॥

तथापि आप सब मेरे गुरुजन हैं। मैं अपना धन एवं जीवन अर्पण करके भी आपकी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा। पौरोहित्य अतिशय निन्दित होनेपर भी आपकी इस छोटी-सी प्रार्थनाको

पूर्ण करूँगा। अतः मैं अपना धन एवं जीवन अर्पण करके भी आपकी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा॥३७॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः।

पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना॥३८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजन्! विश्वरूप महातपस्वी थे। देवताओंसे इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे उनके द्वारा पुरोहितरूपमें वरण कर लिये जानेपर परम उत्साह एवं लगनसे उनके लिये पौरोहित्य कर्म करने लगे॥३८॥

सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया।

आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः॥३९॥

यद्यपि शुक्राचार्यने अपनी विद्यासे देवताओंके शत्रु असुरोंकी श्रीसम्पत्तिको सुरक्षित कर दिया था, तथापि अत्यन्त तेजस्वी विश्वरूपने नारायण-कवचरूप विद्यासे दैत्योंकी सम्पत्ति छीनकर इन्द्रको प्रदान कर दी॥३९॥

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः।

तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीविश्वरूपोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः॥

सहस्राक्ष इन्द्रने इस नारायण-कवच विद्याके बलसे सुरक्षित होकर दैत्य सेनानियोंको जीत लिया। उदारमति विश्वरूपने ही इस विद्याको देवराज इन्द्रको प्रदान किया था॥४०॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके सातवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

विश्वरूप द्वारा इन्द्रको नारायण कवचका उपदेश

श्रीराजोवाच—

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान्।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम्।
यथाततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥

राजा परीक्षितने कहा—हे महात्मन्! जिस वैष्णवी विद्यासे रक्षित होकर देवराज इन्द्रने अपने शत्रुओंको उनके वाहनोके साथ अनायास ही परास्त करके तीनों लोकोंकी सम्पत्तिका उपभोग किया था और जिसके द्वारा संरक्षित होकर उन्होंने युद्धमें वध करनेके लिए तैयार शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी, उस 'नारायण कवच' विद्याके विषयमें मुझे बतलाइए ॥ १-२ ॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते।
नारायणाख्यं वर्माहं तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जब देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित बना लिया, तब इन्द्रके जिज्ञासा करनेपर उन्होंने नारायण कवचके विषयमें जो वर्णन किया था, वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम इसे ध्यानपूर्वक श्रवण करो ॥ ३ ॥

श्रीविश्वरूप उवाच—

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥

नारायणपरं वर्म सन्नह्येद् भय आगते।
 पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
 मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्गारादीनि विन्यसेत्।
 ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥

विश्वरूपने कहा—यदि किसी प्रकारका सङ्कट अथवा भय उपस्थित हो जाय, तो सर्वप्रथम हाथ-पैर धोकर आचमन करे। उसके बाद हाथमें कुश ग्रहण करके उत्तर-मुख होकर मौन धारण कर ले तथा शुद्ध भावसे अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर मन्त्रोंसे अङ्गन्यास एवं करन्यास करके नारायण-कवचसे अपने आपको बाँध ले—पहले दोनों पैर, इसके बाद क्रमशः दोनों घुटने, दोनों जाँघें, उदर, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और मस्तकपर यथाक्रमसे ओंकारादि मन्त्रसे विन्यास करे अर्थात् “ॐ नमो नारायणाय” इस अष्टाक्षर मन्त्रसे पूर्वोक्त आठ अङ्गोंमें ओंकारादि क्रमसे विन्यास करे। इसके बाद विपरीत भावसे उत्पत्ति-न्यास और संहार-न्यास करे अर्थात् सिरसे पैरों तक आठ अङ्गोंमें ओंकारादि आठ वर्णोंका विन्यास करे अथवा विपरीतभावसे अर्थात् ‘य’ से ‘ॐ’ अर्थात् सारे वर्णोंको पैरोंसे मस्तक तक संहार-न्यास करके पुनः ‘ॐ’ से ‘य’ तक समस्त वर्णोंको सिरसे पैरों तक क्रमशः उत्पत्ति-न्यास करे। इस प्रकार उत्पत्ति-न्यास और संहार-न्यास करना चाहिए ॥४-६॥

करन्यासं ततः कुर्याद्द्वादशाक्षरविद्यया।

प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् ‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’ इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे करन्यास करे। उक्त मन्त्रके एक-एक अक्षरको प्रणवयुक्त करके दायें हाथकी तर्जनीसे आरम्भ करके बायें हाथकी तर्जनी तक आठ अङ्गुलियोंमें क्रमसे आठ वर्णोंका न्यास करे। इसके बाद बचे हुये चार अक्षरोंसे दोनों हाथोंके प्रत्येक अङ्गूठेके आदि एवं अन्तिम पर्वमें न्यास करे ॥७॥

न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्द्धनि।
 षकारन्तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया न्यसेत् ॥ ८ ॥
 वेकारं नेत्रयोर्युज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु।
 मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद्बुधः ॥ ९ ॥
 सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत्।
 ॐ विष्णवे नम इति ॥ १० ॥

इसके बाद 'ॐ' विष्णवे नमः—इस षडक्षर मन्त्रसे इस प्रकार न्यास करे—यथा हृदयमें 'ॐ' इस वर्णका न्यास करे, क्रमशः मस्तकमें 'वि' यह वर्ण, दोनों भौंहोंके बीचमें 'ष' कार, शिखामें 'ण' कार, दोनों नेत्रोंके बीचमें 'भ' यह वर्ण और शरीरके सभी संधि-स्थलोंपर 'न' कारका न्यास करे। तत्पश्चात् मन्त्रजपकर्त्ता विज्ञ व्यक्ति 'म' कार का 'अस्त्र' रूपमें चिन्तन करके स्वयं मन्त्रस्वरूप हो जाय। इसके पश्चात् 'म' कारका 'विसर्ग', 'अस्त्र' एवं अन्तमें 'फट्' के साथ संयोग करके अर्थात् 'मः अस्त्राय फट्' इस मन्त्रसे पूर्व आदि समस्त दिशाओंमें न्यास करके दिग्बन्ध करे। इस तरह सम्पूर्ण दिशाएँ इस मन्त्रसे उसके लिये सुरक्षा-कवचके रूपमें हो जाएँगी ॥ ८-१० ॥

आत्मानं परमं ध्यायेद्ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम्।
 विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥ ११ ॥

इस प्रकारसे न्यास-समाप्त होनेके पश्चात् स्वयंको ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छह शक्तियोंसे युक्त करके ध्येय वस्तु (इष्टदेव) परमात्माका ध्यान करे अर्थात् "ना देवो देवमर्चयेत्"—इस शास्त्र-वचनके अनुसार स्वयंको ध्येय वस्तुके अनुरूप-उससे अभिन्न रूपमें चिन्तन करे। तत्पश्चात् ज्ञान-तपस्या और तेजकी मूर्तिस्वरूप तथा सत्कर्मोंके आश्रयरूप 'नारायण कवच' नामक मन्त्रका जप करे ॥ ११ ॥

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
 न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
 दरारिचर्मासिगदेषुचाप -
 पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥ १२ ॥

जो पक्षीराज गरुडजीकी पीठपर अपने चरण-कमलोंको स्थापित कर अपनी आठ भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, ढाल, तलवार गदा, बाण, धनुष और पाश धारण करके विराजमान हैं, वे ही अणिमादि अष्ट-ऐश्वर्यमयी सिद्धियोंसे युक्त ऊँकारस्वरूप अष्टबाहु श्रीहरि मेरी सदा-सर्वदा रक्षा करें ॥ १२ ॥

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
 र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
 स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
 त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥ १३ ॥

मत्स्यरूपधारी भगवान् हिंसक जलजन्तुरूपी वरुण-पाशसे मेरी रक्षा करें। माया-बलसे ब्रह्मचारीका रूप धारण करनेवाले भगवान् वामन स्थलपर तथा विश्वरूपी त्रिविक्रम भगवान् आकाशमण्डलमें मेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥

दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
 पायानृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
 विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
 दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥ १४ ॥

जिनके घोर अट्टहाससे सारी दिशाएँ गूँज उठी थीं और असुर-रमणियोंके गर्भ गिर गये थे, वे असुर-यूथपति-हिरण्यकशिपुके शत्रु भगवान् श्रीनृसिंहदेव वनमें एवं युद्धक्षेत्रके अग्रभाग आदि भयङ्कर स्थानोंमें मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
 स्वदंष्ट्रयोत्रीतधरो वराहः ।

रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद्धरताग्रजोऽस्मान् ॥ १५ ॥

जो अपने अङ्गरूपी यज्ञोंसे यज्ञेश्वररूपमें विख्यात हैं और जो पृथ्वीको अपनी तीक्ष्ण दाढ़ोंके अग्रभागमें धारण कर रसातलसे ऊपर उठा लाये थे—वे भगवान् वराह मार्गमें मेरी रक्षा करें। भगवान् परशुराम पर्वतके शिखरोंपर और लक्ष्मणके साथ भरतजीके बड़े भाई भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रवासमें मेरी रक्षा करें ॥१५॥

मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादात्—
नारायणः पातु नरश्च हासात्।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥ १६ ॥

भगवान् नारायण अभिचार (मारण-मोहन) इत्यादि उग्रधर्मोंसे और कर्त्तव्य-कर्मोंके उल्लङ्घन आदि विविध प्रमादोंसे मेरी रक्षा करें। ऋषिश्रेष्ठ नर मिथ्या गर्वसे मेरी रक्षा करें। योगेश्वर दत्तात्रेयरूपी भगवान् योग-भ्रंश अर्थात् योगसे पतनरूपी प्रमादादि विघ्नोंसे मेरी रक्षा करें और गुणोंके स्वामी कपिलरूपी भगवान् कर्म-बन्धन अर्थात् संसाररूपी भव-बन्धनसे मेरी रक्षा करें ॥१६॥

सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा—
द्ध्यशीर्षा मां पथि देवहेलनात्।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मा निरयादशेषात् ॥ १७ ॥

भगवान् सनत्कुमार काम-वेगसे, हयग्रीव भगवान् पथपर चलते समय देव-विग्रहोंको नमस्कारादि न करनेके अपराधसे, देवर्षि नारद भगवद् अर्चनमें सम्भावित बत्तीस प्रकारके अपराधोंसे मेरी रक्षा करें। भगवान् कूर्मदेव सब प्रकारके नरकोंसे मेरी रक्षा करें ॥१७॥

धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्या-
 द्वन्द्वद्वाद्यादृषभो निर्जितात्मा।
 यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्-
 बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः ॥ १८ ॥

श्रीभगवान् धन्वन्तरिरूपमें कुपथ्य अर्थात् शरीरमें रोग उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंका भक्षण करनेसे, अन्तर तथा बाह्य इन्द्रियोंको जीतनेवाले ऋषभदेव शीत-उष्णादि द्वन्द्वजनित भयसे, भगवान् यज्ञावतार लोकापवादसे, बलभद्र भगवान् लोगोंद्वारा किये जानेवाले उत्पीड़नसे तथा शेषरूपमें भगवान् क्रोधान्ध सर्पोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १८ ॥

द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्-
 बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात्।
 कलिकः कलेः कालमलात् प्रपातु।
 धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनवेदव्यास अज्ञानसे तथा बुद्धदेव वेदविरुद्ध आचरण एवं आलस्यवश वैदिक अनुष्ठानोंमें विमुखतारूपी प्रमादसे मेरी रक्षा करें और धर्मकी रक्षाके लिये जिन्हें श्रेष्ठ अवतार माना जाता है, वे भगवान् कल्किदेव निकृष्ट एवं पाप-बहुल कलिसे मेरी रक्षा करें ॥ १९ ॥

मां केशवो गदया प्रातरव्याद्-
 गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः।
 नारायणः प्राह उदात्तशक्ति-
 र्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥ २० ॥

मथुराधिपति भगवान् केशव अपनी गदासे प्रातःकाल अर्थात् प्रथम पाँच घड़ी (सूर्योदयके बाद छह दण्ड तक, एक घड़ी चौबीस मिनट की होती है) और वृन्दावनाधिपति भगवान् गोविन्द वंशी लेकर दिन चढ़नेपर (छह घड़ीसे दस घड़ी तक), समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न भगवान् नारायण दोपहरके पूर्व

(ग्यारह घड़ीसे पंद्रह घड़ी तक) पूर्वाह्न कालमें और शत्रुओंको मारनेके लिये चक्रराज सुदर्शनको धारण करनेवाले भगवान् विष्णु दोपहरमें (सोलह घड़ीसे बीस घड़ी तक) मेरी रक्षा करें॥२०॥

देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा सायं त्रिधामावतु माधवो माम्।

दोषे हृषीकेश उताद्धरात्रे निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः॥२१॥

अपराह्णमें (दिनके पाँचवे भाग-इक्कीस घड़ीसे पच्चीस घड़ी तक) प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदन मेरी रक्षा करें, सायंकाल (छब्बीस घड़ीसे तीस घड़ी तक) त्रिधाम (सत्, चित, और आनन्दके विग्रह) ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर-त्रिमूर्तिधारी माधव मेरी रक्षा करें। प्रदोष (सन्ध्या) कालमें अर्थात् रात्रिकी प्रथम चार घड़ी तक हृषीकेश, अर्धरात्रिसे पूर्व तथा अर्धरात्रिके समय अर्थात् पाँच घड़ीसे आरंभ कर चौदह घड़ी तक और पंद्रह घड़ीसे सोलह घड़ी तक भगवान् पद्मनाभ अकेले ही मेरी रक्षा करें॥२१॥

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः।

दामोदरोऽव्यादनसन्ध्यं प्रभाते विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः॥२२॥

मध्यकालके पश्चात् और अरुणोदय कालसे पूर्व तक श्रीवत्सचिन्हधारी भगवान् मेरी रक्षा करें, उषाकाल अर्थात् रात्रिकी अन्तिम चार घड़ियोंमें भगवान् जनार्दन तलवार धारण करके मेरी रक्षा करें, प्रभात-कालमें (सूर्योदयसे पूर्व) भगवान् दामोदर और प्रत्येक सन्ध्याके समय कालमूर्ति भगवान् विश्वेश्वर मेरी रक्षा करें॥२२॥

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत् समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम्।

दन्दग्धि दन्दग्धिरसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हुताशः॥२३॥

हे सुदर्शन चक्र! आपके प्रान्त भाग प्रलयकालीन अग्निके समान प्रखर एवं तीक्ष्ण हैं। आप भगवान् द्वारा नियुक्त होकर दशों दिशाओंमें भ्रमण करते हैं। जैसे अग्नि वायुके सहयोगसे तृणादिको भस्म कर देती है, उसी प्रकार आप हमारी शत्रु सेनाको भस्मीभूत कर दें॥२३॥

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्ड निष्पिण्डयजितप्रियासि।

कुष्माण्डवैनायकयक्षरक्षोभूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्॥ २४॥

हे कौमोदकी गदा! आपसे निकलनेवाली चिनगारियोंका स्पर्श वज्रके समान प्रखर और कठोर है। आप भगवान्की अति प्रिया हैं, और मैं उनका सेवक हूँ। अतः आप हमारे शत्रु कुष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत, तथा ग्रहगणोंको भली-भाँति कुचलकर नष्ट कर दीजिये॥२४॥

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृपिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन्।

दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितोभीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन्॥ २५॥

हे शङ्कराज पाञ्चजन्य! आप श्रीकृष्णके मुखकी श्वाससे सदैव पूरित होकर ऐसी भयङ्कर ध्वनि करें, जिससे शत्रुओंका हृदय काँप जाय। आप राक्षस, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच एवं अन्यान्य भयङ्कर दिखनेवाले ब्रह्मराक्षसोंको भगा दें॥२५॥

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्यमीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि।

चक्षुषि चर्मन् शतचन्द्र छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम्॥ २६॥

हे तीक्ष्णधार खड्गराज! आप भगवानकी प्रेरणासे सञ्चालित होकर मेरी शत्रु-सेनाका छेदनकर, उन्हें खण्ड-विखण्ड कर डालें। हे शत-शत चन्द्राकारोंसे युक्त ढाल! आप पापात्मा शत्रुओंकी आँखें भींध दें और भयङ्कर दृष्टिवालोंको अन्धा बना दें॥२६॥

यन्त्रो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च।

सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योऽहोभ्य एव वा॥ २७॥

सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपानुकीर्तनात्।

प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः॥ २८॥

आदित्यादि नवग्रह, धूमकेतु आदि उल्कापात, दुष्ट मनुष्य, सर्प, बिच्छु आदि रेंगनेवाले जन्तु, सिंह, व्याघ्रादि हिंसक प्राणी, प्रेतादि, जल, अग्नि, विद्युत आदिके उपद्रव एवं पापोंसे हमें जो भी भय हों और हमारे मङ्गलके विरोधी जो समस्त भाव हों वे सभी भगवान्के नाम एवं रूपके गुणानुवादसे शीघ्र ही नष्ट हो जाएँ॥२७-२८॥

गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः।

रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥ २९ ॥

बृहद्, रथन्तर आदि सामवेदीय मन्त्रोंसे जिनकी स्तुति होती है, वे वेदमूर्ति परमपूज्य प्रभु गरुड और भगवान् विष्वक्सेन अपने नामोंके प्रभावसे समस्त दुःखोंसे मेरी रक्षा करें ॥ २९ ॥

सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः।

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीहरिके नाम, रूप, वाहन, अस्त्र आदि और प्रमुख पार्षदगण हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी समस्त प्रकारकी (संभावित) विपत्तियोंसे रक्षा करें ॥ ३० ॥

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्।

सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥ ३१ ॥

स्थूल-सूक्ष्मात्मक (मूर्ति और अमूर्तस्वरूप) यह जगत् वस्तुतः भगवानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि वस्तु-तत्त्वके विचारसे जगत् वास्तव-वस्तु भगवान्का ही कार्यस्वरूप है। जगत्के कारणस्वरूप भगवान्से एक भी वस्तु पृथक् नहीं है—यदि यह सत्य है, तो उन सत्यस्वरूप वास्तव-वस्तु भगवान्द्वारा हमारी समस्त विपत्तियाँ विनष्ट हो जाएँ ॥ ३१ ॥

तथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम्।

भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥ ३२ ॥

तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः।

पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३३ ॥

ईश्वर, जीव, माया और जगत्—ये सभी वस्तुएँ हैं। वस्तु-तत्त्व विचारसे इनमें किसी प्रकारका पार्थक्य नहीं है—इस प्रकारकी भावनावाले व्यक्तियोंके लिये वास्तव वस्तु भगवान्-वस्तु-तत्त्व विचारसे अभिन्न हैं, तो भी कृपाशक्ति बलसे वे जिस प्रकार कौस्तुभादि भूषण, सुदर्शनादि आयुध और चतुर्भुज-द्विभुजादि मूर्ति

(चिह्न अथवा लक्षण) धारण करते हैं, उसी प्रकार विद्वत्-प्रतीतिके सत्य प्रमाणके अनुसार भगवान् अद्भुत स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं—ऐसे सर्वज्ञ भगवान् श्रीहरि सर्वत्र सभी अवस्थाओंमें सर्वदा मेरी रक्षा करें। (आयुध भूषणादि उनकी जो शक्तियाँ हैं—वे सभी भेदरहित हैं। उनकी विविध शक्तियोंमें कोई अन्तर नहीं है, इसीलिये वे अद्वयतत्त्व कहलाते हैं)।

तात्पर्य यह है कि मनीषीगण (मध्वाचार्यादि) सत्यप्रमाण (वष्णुपुराण) के अनुसार यह प्रमाणित करते हैं कि भगवान् के सुदर्शन चक्रादि आयुध, कौस्तुभादि भूषण, श्रीराम, श्रीकृष्णादि नाम, उनकी द्विभुज, चतुर्भुजादि मूर्तियाँ (चिह्न)—सभी भगवान् से विकल्परहित अर्थात् भेदरहित हैं। सभीमें चिन्मयत्व होनेके कारण एकरूपत्व है—अतः सभी आयुध, भूषण, नाम, लक्षण (चिह्न) भगवत्-स्वरूपसे अभिन्न हैं। भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिभूत मायाशक्तिसे सदैव युक्त रहते हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वदेशगत एवं सर्वकालव्यापी हैं। उनके अस्त्राति, भूषणादि, नामादि एवं मूर्तियोंमें से किसीकी पूजा करनेसे उनकी ही पूजा होती है। सर्वत्र उनकी शक्तियाँ निहित हैं ॥३२-३३॥

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्तादन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः।

प्रहापयल्लोकभयं स्वनेन स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥ ३४ ॥

जो (श्रीनृसिंहदेव) भीषण गर्जना करते हैं अथवा जो (प्रह्लाद महाराज) अपने प्रभुके नाम-कीर्तनके प्रभावसे भक्तोंके भयको सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देते हैं और जो (श्रीनृसिंहदेव) अपने तेजसे तेजस्वियोंके अर्थात् दिग्गज—विष, शस्त्र, जल, अग्नि, वायु आदिके तेजको आच्छादित करते हैं, वे भगवान् नृसिंहदेव और उनके भक्त महाराज प्रह्लाद दिशा-विदिशा, ऊपर-नीचे, अन्दर एवं बाहर सर्वत्र मेरी रक्षा करें ॥३४॥

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम्।

विजेष्यसेऽञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥ ३५ ॥

हे इन्द्र! यह नारायण नामक कवच मैंने तुम्हें सुना दिया। तुम इस कवचको धारण करके निश्चित ही असुर-सेनापतियोंपर विजय प्राप्त कर सकोगे॥३५॥

एतद्धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा।

पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते॥ ३६॥

इस कवचको धारण करनेवाला पुरुष जिसे भी देख लेता है अथवा जिसे भी अपने पैरोंसे छू लेता है, वह तत्काल ही भयसे मुक्त हो जाता है॥३६॥

न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्।

राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित्॥ ३७॥

जो व्यक्ति इस नारायण कवच नामकी वैष्णवी विद्याको धारण कर लेते हैं, उन्हें कभी भी राजा, दस्यु, गृहादि अथवा व्याधि आदिसे किसी भी प्रकारका भय नहीं होता॥३७॥

इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः।

योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि॥ ३८॥

हे देवेन्द्र! प्राचीन कालमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण था। उसने इस नारायणात्मिका विद्याको धारणकरके योगबलसे मरुभूमिमें अपनी देहका परित्याग किया था॥३८॥

तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा।

ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः॥ ३९॥

जिस मरुभूमिमें उस ब्राह्मणने अपने शरीरका परित्याग किया था, एक बार उसके ऊपरसे गन्धर्वराज चित्ररथ बहुत-सी स्त्रियोंके साथ विमानपर सवार होकर जा रहे थे॥३९॥

गगनात्र्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः।

स वालिखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः।

प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात्॥ ४०॥

उस स्थानको लांघनेके कारण चित्ररथ तत्क्षण ही अधोमुख होकर विमानके साथ ही नीचे गिर पड़े। इसके बाद वालिखिल्य मुनिके उपदेशानुसार चित्ररथने कौशिककी अस्थियोंको एकत्रित करके पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीमें प्रवाहित कर दिया। उन्होंने स्वयं भी नदीमें स्नान किया और अत्यधिक विस्मित होकर अपने धाम गन्धर्वलोक चले गये। (वालिखिल्य मुनिने चित्ररथको बतलाया कि यदि तुम इन अस्थियोंको यहाँसे नदीमें प्रवाहित नहीं करोगे तो इस स्थानसे जा नहीं पाओगे) गन्धर्वराज चित्ररथ मुनिका उपदेश श्रवणकर उन अस्थियोंको सरस्वती नदीमें प्रवाहित कर वहाँसे जानेमें सफल हुए। नारायण कवच धारण करनेका ऐसा प्रभाव है ॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः।

तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥४१॥

एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः।

त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीनारायणवर्मोपदेशो नामाष्टमोऽध्यायः ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! जो व्यक्ति भय उपस्थित होनेपर इस नारायण-कवचको सुनता है अथवा जो इसे श्रद्धाके साथ धारण करता है, वह समस्त प्राणियोंका पूज्य हो जाता है और समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है। राजन्! शतक्रतु इन्द्रने विश्वरूपसे इस विद्याको प्राप्त करके असुरोंको पराजित कर दिया और वे त्रिभुवनकी सम्पत्तिका उपभोग करने लगे ॥४१-४२॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके आठवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

विश्वरूपका वध, वृत्रासुर द्वारा देवताओंकी पराजय
भगवान्की प्रेरणासे देवताओंका दधीचि ऋषिके पास जाना

श्रीशुक उवाच—

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत।

सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! उस देवपुरोहित
विश्वरूपके तीन मस्तक थे। एक का नाम 'सोमपीथ' था—जिससे
वे सोमरसका पान करते थे, दूसरेका नाम 'सुरापीथ' था—
जिससे वे सुरापान करते थे और तीसरे का नाम 'अन्नाद' था, जिससे
वे अन्न भोजन करते थे ॥१॥

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः।

अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥

हे राजन्! देवता विश्वरूपके पिता-पक्षसे सम्बन्धित थे।
विश्वरूप प्रत्यक्षरूपसे ही अति विनीत भावसे 'इन्द्राय इदम्' (यह
भाग इन्द्रके लिये है) 'अग्नये इदम्' (यह भाग अग्निके लिये है)
—आदि मन्त्रोंसे बड़े उच्च स्वरसे अग्नि आदि देवताओंके उद्देश्यसे
हविष्य (यज्ञका भाग) प्रदान करते थे ॥२॥

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।

यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥

देवताओंके लिये यज्ञ करते हुए भी विश्वरूप मातृस्नेहवशतः
अर्थात् मातृसम्बन्धी मातामहपक्षीय असुरोंमें प्रीतिके कारण देवताओंकी
वञ्चना करते हुए उन्हें भी गुप्तरूपसे हविर्भाग (यज्ञका भाग)
प्रदान करते थे ॥३॥

तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्गुषा ॥ ४ ॥

एक समय देवराज इन्द्रने जान लिया कि विश्वरूप देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी यज्ञका भाग देते हैं। इस प्रकार तो ये धर्मकी आड़में कपट कर रहे हैं, इससे तो असुरोंकी वृद्धि हो जायेगी। इन्द्र इस सम्भावनासे डर गये और उनके इस अपराधके कारण अत्यन्त क्रोधित होकर उन्होंने तत्काल ही विश्वरूपके तीनों सिर काट डाले ॥४॥

सोमपीथन्तु यत् तस्य शिर आसीत् कपिञ्जलः।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत् स तित्तिरिः ॥ ५ ॥

उनका सोमपीथ नामक सिर-कपिञ्जल पक्षी (पपीहा/चातक), सुरापीथ नामक सिर कलविङ्क पक्षी (गौरैया) और अन्नाद नामक सिर तीतर पक्षी बन गया ॥५॥

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये।
भूम्यम्बुदुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

विश्वरूपके वधके कारण देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप लगा। यद्यपि वे (ईश्वरकी विभूति-रूप अधिकृत भक्त होनेके कारण) इस पापको दूर करने में समर्थ थे तथापि उन्होंने हाथ जोड़कर अनुताप करते हुए इस पापको ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अनुताप करते हुये एक वर्ष बीत जानेपर अपनी देहमें स्थित पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) की शुद्धिके लिये अथवा लोकनिन्दासे बचनेके लिये उन्होंने ब्रह्महत्या रूपी पापको भूमि, जल, वृक्ष एवं स्त्री—इन चार भागोंमें विभक्त कर दिया ॥६॥

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

भूमिपर कहीं गड्ढा होनेपर वह स्वतः ही भर जायेगा, इन्द्रसे इस प्रकारका वरदान प्राप्त करके भूमिने इन्द्रकृत ब्रह्महत्याके पापका चतुर्थांश भाग स्वीकार कर लिया। आज भी यह पाप ऊसर भूमिके रूपमें दिखायी देता है। (पापयुक्त होनेके कारण ऊसर भूमिपर वेदाध्ययन आदि पुण्य कर्म निषिद्ध हैं) ॥७॥

तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्दुमाः।

तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥

वृक्षोंने इन्द्रसे अपना कोई भी भाग कटनेपर पुनः उत्पन्न होनेका वरदान प्राप्त करके इन्द्रकृत ब्रह्महत्याके पापका चतुर्थांश भाग ग्रहण कर लिया। आज भी वृक्षोंके निर्यास (द्रव) रूपमें वह पाप दिखायी देता है। (इसी कारणसे वृक्ष-निर्यास अभक्ष्य है) ॥८॥

शश्वत्कामवरेणाहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः।

रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥

स्त्रियोंने, इन्द्रसे यह वरदान प्राप्त करके कि गर्भके लिये हानिकारक न होने पर वे गर्भकालमें भी सर्वदा पुरुषोंका सङ्ग कर सकेंगी, इन्द्रकृत ब्रह्महत्याका चतुर्थांश भाग ग्रहण कर लिया। आज भी प्रत्येक मासमें रजोरूपमें यह पाप देखा जाता है। (इसी कारणसे रजस्वला स्त्री अस्पृश्य है एवं भगवत्सेवादि कार्योंमें अव्यवहार्य है) ॥९॥

द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम्।

तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन् ॥ १० ॥

जलने यह वरदान प्राप्त किया कि वह अन्य वस्तुओं (दुग्धादि) में मिश्रित होनेपर उस वस्तुकी वृद्धि करेगा तथा खर्च होनेपर भी निर्झरादिके रूपमें बढ़ता रहेगा—इन्द्रके पापका एक अंश ग्रहण कर लिया। आज भी जलमें यह पाप बुद्बुद एवं फेनके रूपमें दिखायी देता है। बुद्बुद अथवा फेनयुक्त जलपान करनेसे पाप ही ग्रहण होता है इसलिये उसे हटाकर जल ग्रहण करना चाहिए ॥१०॥

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम्॥११॥

विश्वरूपके वधके पश्चात् उनके पिता त्वष्टाने इन्द्रका विनाश करनेके लिए इन्द्रके शत्रुकी उत्पत्तिकी कामनासे एक यज्ञ आरम्भ किया। इस यज्ञमें आहुति डालते समय उन्होंने इस प्रकार उच्चारण किया—इन्द्रशत्रो! विवर्द्धस्व अर्थात् हे इन्द्रके शत्रु! तुम्हारी आयु वर्द्धित हो? तुम शीघ्र ही अपने शत्रु इन्द्रका विनाश करो।

[इस स्थान पर 'इन्द्रशत्रो' पदमें इन्द्रके शत्रु—इन्द्रशत्रु इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समासके अभिप्रायसे ही त्वष्टाने सम्बोधन किया था, किन्तु स्वर उच्चारणके दोषसे इन्द्र ही जिसका शत्रु है, यह उच्चरित हो गया। इसलिए इस यज्ञमें इन्द्रका शत्रु उत्पन्न न होकर इन्द्र ही जिसका शत्रु है—उस वृत्रासुरका जन्म हो गया। तत्पुरुष समाससे 'इन्द्रशत्रु' पदकी निष्पत्ति होनेसे पूर्वपद 'इन्द्र' शब्द अनुदात्त होगा और बहुव्रीहि समासमें निष्पन्न होनेसे पूर्वपद 'इन्द्र' शब्द उदात्त होगा। किन्तु त्वष्टाने दैवात् (दुर्भाग्यवश) इन्द्र शब्द उदात्त स्वरमें उच्चारित किया था—इसलिए यह विपरीत कार्य हो गया। शिक्षाशास्त्रोंमें भी इस सम्बन्धमें प्रमाण देखे जाते हैं]॥११॥

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः।

कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा॥१२॥

यज्ञ समाप्त होनेपर अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) से एक भयङ्कर आकृतिवाला असुर उत्पन्न हुआ, जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह साक्षात् कालात्मा हो, जो प्रलयके अन्तमें ब्रह्माण्ड का नाश कर देगा॥१२॥

विष्वग्विवर्द्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम्॥१३॥
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम्।
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी॥१४॥

नृत्यन्तमुन्नदन्तञ्च चालयन्तं पदा महीम्।
 दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम्॥१५॥
 लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम्।
 महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।
 वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश॥१६॥

उस असुरका शरीर दिन-प्रतिदिन द्रुत गतिसे चारों ओरसे चलाये गये बाणोंके समान प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसका शरीर जले हुये पर्वतके समान अत्यन्त विशाल और काला था। उसके अङ्गोंकी दीप्ति सन्ध्याकालीन मेघोंके समान थी। उसके बाल और दाढ़ी-मूँछ तपे हुये तौबेके समान पिङ्गल (लाल) वर्णके एवं दोनों नेत्र मध्याह्नकालीन सूर्यके समान प्रचण्ड थे। जब वह तीन नोंकवाले देदीप्यमान त्रिशूलको हाथमें लेकर उच्च ध्वनिके साथ नाचता था, तब सारी पृथ्वी उसके पदभारसे काँपने लगती थी। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसने स्वर्ग और पृथ्वीको अपने त्रिशूलपर उठा रखा हो। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वतकी गुफाके समान उसका विशाल शरीर अपने मुखमण्डलसे आकाशका पान करना चाहता है, जिह्वासे नक्षत्रमण्डलको चाट लेना चाहता है और अपनी विशाल एवं भयङ्कर दाढ़ोंसे तीनों लोकोंको निगल लेना चाहता है। ऐसे भयानक असुरको देखकर सभी लोग डर गये और दसों दिशाओंमें (चारों ओर) भागने लगे॥१३-१६॥

येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना।

स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥१७॥

त्वष्टाके इस (तमोगुणी) भयानक असुर पुत्रने अपने तपोबलसे समस्त लोकोंको आवृत्त कर रखा था। अतः परम दारुण (क्रूर) इस पापात्माने 'वृत्र' अर्थात् सारे लोकोंको आच्छादित करनेवाला—इस अर्थके कारण वृत्रासुर नाम प्राप्त किया था॥१७॥

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः।

स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत् तानि कृत्स्नशः॥१८॥

इसके पश्चात् इन्द्रादि देवता अपनी-अपनी सैन्य-दलोंके साथ उसके समीप गये और अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे उसपर प्रहार करने लगे, किन्तु उस वृत्रने समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको निगल लिया॥१८॥

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः।

प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥ १९ ॥

उस असुरका ऐसा बल देखकर देवताओंके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे निराश एवं दुःखी होकर निस्तेज-से हो गये। अतः सभी मिलकर एकाग्रचित्तसे सर्वान्तर्यामी आदिपुरुष भगवान् नारायणकी उपासना करने लगे॥१९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका

ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः।

हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ

बिभेति यस्मादरणं ततोऽस्तु नः ॥ २० ॥

देवताओंने कहा—वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पञ्च महाभूतोंसे तीनों लोकोंकी सृष्टि हुई है। इस त्रिलोकीके अधिपति ब्रह्मादि देवगण एवं उनकी अपेक्षा अर्वाचीन हम सभी देवता कालके भयसे भयभीत होकर जिनकी पूजा करते हैं—वे परमेश्वर ही हमारी रक्षा करें॥२०॥

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं

स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।

विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः

श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम् ॥ २१ ॥

जो निरहङ्कार हैं, जिनके लिये कुछ भी आश्चर्य नहीं है, अर्थात् जो किसी भी घटनासे आश्चर्यचकित नहीं होते, जो अपने स्वरूपभूत परमानन्दमें ही सर्वथा पूर्णकाम रहते हैं, जो उपाधि अथवा परिच्छेद-रहित, सम एवं प्रशान्त अर्थात् रागादिसे रहित हैं, उनको

छोड़कर जो व्यक्ति किसी दूसरेकी शरण लेता है, वह महामूर्ख निश्चय ही कुत्तेकी पूँछ पकड़कर भव-सागरको पार करना चाहता है। (जब स्वयं कुत्ता ही सागर पार नहीं कर सकता, तब उसकी पूँछ पकड़नेवाला व्यक्ति किस प्रकार सागरको पार कर सकता है। कुत्तेकी पूँछ पकड़नेवाला व्यक्ति जिस प्रकार सागरमें डूब जाता है, उसी प्रकार परमेश्वरका परित्याग कर जो अन्य उपायोंका अवलम्बन करते हैं, वे सभी दुःख-सागरमें डूब जाते हैं) ॥२१॥

यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम्।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयादुरन्तात्
त्राताश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम् ॥ २२ ॥

सत्यव्रत नामक मनु भगवान्की जिस मत्स्य मूर्तिके विशाल सींगोंपर पृथ्वी रूपी अपनी नौकाको बाँधकर प्रलयकालीन महासङ्कटसे अनायास ही बच गये थे, हम आज उन्हीं मत्स्य भगवान्के शरणागत हुए हैं। वे इस दुरन्त वृत्रासुररूपी भयसे हमारी रक्षा करें ॥२२॥

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार
तस्माद्भयाद् येन स नोऽस्तु पारः ॥ २३ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें भयङ्कर प्रलय-सलिलमें वायुके प्रचण्ड वेगसे उठी उत्ताल तरङ्गोंकी भीषण गर्जनासे ब्रह्माजी भगवान् नारायणके नाभिकमलसे प्रलयजलमें प्रायः गिर ही पड़े थे। इस असहाय अवस्थामें ब्रह्माजी जिनकी सहायतासे बच पाये थे, वे भगवान् ही हमारी इस विपत्तिमें रक्षा करें ॥२३॥

य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानु सृजाम विश्वम्।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥ २४ ॥

एकमात्र अद्वितीय तत्त्व भगवान् अपने माया-बल बहिरङ्गा शक्तिसे हमारी सृष्टि करते हैं और उनके अनुग्रहसे हम विश्वकी रचना करते हैं। वे हमारे सम्मुख अन्तर्यामीरूपमें विराजमान हैं, तो भी हम उनके दर्शन कर नहीं पाते। इसका कारण यह है कि हम सब स्वयंको पृथक् तथा स्वतन्त्र ईश्वर मानकर अभिमान करते हैं ॥२४॥

यो नः सपत्नैर्भृशमर्घ्यमानान्
 देवर्षितिर्यङ्मनुषु नित्य एव।
 कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
 कृत्वात्मसात् पाति युगे युगे च ॥ २५ ॥
 तमेव देवं वयमात्मदैवतं
 परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
 ब्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
 स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥ २६ ॥

शत्रुओं द्वारा प्रपीडित होनेपर हमें अपना मानकर—जो सच्चिदानन्द भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके बलसे वामन, परशुराम, नृसिंह, मत्स्य, कूर्म, वराहादि नाना शरीर धारण करके देवता, ऋषि, तिर्यक् और मनुष्यादिके बीच अवतीर्ण होकर युग-युगमें हमारी रक्षा करते हैं, जो समस्त जीवोंके उपास्यदेव हैं, जो समस्त कारणोंके कारण हैं, जो प्रकृति एवं पुरुष-इन दोनों रूपोंमें और विश्व-स्वरूप होकर भी विश्वसे भिन्न हैं (अर्थात् इस प्रपञ्चके समान विकारयुक्त नहीं हैं,) हम उन्हीं शरणागत-वत्सल भगवान्की शरण ग्रहण करते हैं। वे महानुभाव उदार शिरोमणि श्रीभगवान् हमारा कल्याण करें ॥२५-२६॥

श्रीशुक उवाच—

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम्।
 प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तुति करनेपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीहरि पहले तो उनके हृद्देशमें और बादमें सम्मुख आविर्भूत हुए (अन्यान्य उत्तम स्थान दैत्योंसे आक्रान्त हो गये थे, इसलिए उन्होंने निर्जन स्थानपर बैठकर स्तुति की थी)॥२७॥

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ।

पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविकलवाः।

दण्डवत् पतिता राजन् शनैरुत्थाय तुष्टुवुः॥ २९ ॥

हे राजन्! भगवान्के ही समान भगवत् सारूप्य प्राप्त सुनन्द आदि सोलह पार्षद उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनकी सेवा कर रहे थे। वे सभी श्रीवत्सचिन्ह और कौस्तुभमणिको छोड़कर अन्यान्य सब प्रकारके आभूषणोंसे अलङ्कृत थे। शारदीय प्रफुल्लित कमल-पत्रके समान नेत्रोंवाले भगवान्का दर्शन करके देवतागण आनन्दमें विभोर हो गये। उन्होंने भूमिपर गिरकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और धीरे-धीरे उठकर पुनः भगवान्की स्तुति करने लगे॥२८-२९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः।

नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये॥ ३० ॥

देवताओंने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञवीर्य अर्थात् यज्ञादिके कारण स्वर्गादि फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं तथा कालान्तरमें स्वर्गादि फलोंका विनाश करनेवाले कालस्वरूप भी आप ही हैं। यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंके विनाशके लिए आप चक्रका संचालन करनेके कारण असुरसंहारक, देवपालक आदि अति शोभन एवं सुललित नाम धारण करते हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं॥३०॥

यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम्।

नार्वीचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति॥ ३१ ॥

हे धाता! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनोंसे प्राप्त होनेवाली स्वर्ग, अपवर्ग और नरक—इन तीन प्रकारकी गतियोंके एकमात्र नियामक आप ही हैं। आपका परमधाम वैकुण्ठ है। विसर्ग अर्थात् आपकी नानाविध दृश्यसृष्टिकी रचनाके बाद हमारी उत्पत्ति हुई है, इसलिए हम जैसे अर्वाचीन व्यक्ति आपके परमपदको जान नहीं सकते। अतः हम केवल आपको नमस्कार करते हैं॥३१॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्॥३२॥

हे भगवन्! हे नारायण! हे वासुदेव! हे आदिपुरुष! हे महापुरुष! हे महानुभव! हे परममङ्गल! हे मङ्गलकारिन्! हे परम कल्याण! हे परम कारुणिक! हे निर्विकार! हे जगदाधार! हे लोकैकनाथ! हे सर्वेश्वर! हे लक्ष्मीनाथ! परमहंस परिव्राजकगण अष्टाङ्गयोग साधनाके द्वारा समाधियोगसे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त करते हैं, इससे शुद्धान्तःकरणमें जो भगवद्-भजनरूपी पारमहंस्य धर्म प्रकट होता है, उससे चित्तके तमोगुणरूपी (अज्ञानरूपी) कपाट खुल जाते हैं और आत्मलोक अर्थात् प्रत्यक्स्वरूप प्रकाशित होता है। उस समय जो निजसुखस्वरूपकी उपलब्धि अथवा अनुभूति होती है, आप वे ही सुख-स्वरूप हैं। आपको कोई जान नहीं सकता, अतएव हम आपको नमस्कार करते हैं॥३२॥

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि॥३३॥

आप किसी भी आश्रय अथवा प्राकृत शरीरसे रहित हैं। आपको हमारी किसी भी प्रकारकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है। आप इस जगत्के उपादान कारण होकर भी निर्विकार एवं आत्मस्वरूप

हैं तथा स्वयं निर्गुण होनेपर भी इस मायागुणमय विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं। आपकी लीलाका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है॥३३॥

अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलफलमुपाददाति। आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः॥३४॥

हे भगवन्! हम यह भी समझ नहीं पाते कि देवदत्तादि संसारी जीव जिस प्रकार संसारमें गृहादिका निर्माण करके शुभाशुभ फल प्राप्त करते हैं? क्या आप ब्रह्मस्वरूप होकर भी इस जगत्में गुणकार्यभूत-जीव शरीरमें प्रवेश करके कालकर्मादिके अधीन होकर अपने किये हुए कुशल और अकुशल कर्मोंके फलोंको भोगते हैं? अथवा आत्माराम, उपशमशील (शान्तस्वभाव) और नित्यचित्शक्तिसे युक्त होकर केवल साक्षीरूपमें विराजते हैं?॥३४॥

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमितगुणगणे ईश्वरेऽन-
वगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिला-
न्तःकरणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये
केवल एवात्ममायामन्तर्द्वाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति
स्वरूपद्वयाभावात्॥३५॥

हे देव! आपमें परस्पर विरोधी सभी धर्मोंका समावेश है क्योंकि आप भगवान् हैं। आप अपरिमित गुणोंके आगार हैं। आपकी महिमा कोई नहीं जान सकता। वैशेषिकादि नव्य शास्त्रोंमें विकल्प (इस प्रकार से अथवा उस प्रकार से), वितर्क (इस स्थानपर क्या युक्तियुक्त है), विचार (ऐसा ही होना चाहिये) और प्रमाणाभास (अवैध प्रमाण) की सहायता लेकर कुतर्क विद्यमान रहते हैं। मिथ्या सिद्धान्तोंसे जिनका चित्त भ्रमित एवं क्षुब्ध हो गया है, वे प्रकृत-वस्तुरूप आपका संस्पर्श भी नहीं कर सकते। उनके दुराग्रहके कारण जो विवाद उपस्थित होता है, उससे आप अगोचर हैं। आप सम्पूर्ण माया-प्रपञ्चसे दूर रहते हैं। आप अद्वितीय हैं, आपमें कर्तृत्व-अकर्तृत्व, सुख-दुःख

आदि कोई विरोधी धर्म है ही नहीं। आपकी अघटनघटनपटीयसी आत्ममाया अर्थात् चिच्छक्तिके कारण आपके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, आप सभी कुछ करनेमें समर्थ है। इसी कारण आपकी स्वाभाविक स्थिति बन्धन और मुक्ति आदि द्वैतसे रहित है॥३५॥

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्॥ ३६ ॥

हे भगवन्! जिस प्रकार रस्सीका टुकड़ा यथार्थ बुद्धिवाले व्यक्तियोंको रस्सीरूपमें ही दिखायी देता है और वे उससे कभी भी भयभीत नहीं होते, किन्तु भ्रान्त व्यक्ति उसीको सर्प समझकर भयभीत हो जाते हैं। आप भी इसी प्रकार समबुद्धिसे युक्त ज्ञानी व्यक्तियोंको अभय प्रदान करते हैं और विषम बुद्धि अर्थात् अज्ञानियोंको भयभीत कर देते हैं। सच तो यह है कि जीव अपनी-अपनी बुद्धिके भेदसे ही भयभीत एवं निर्भय होते हैं, आपमें सम-विषम भाव नहीं है॥३६॥

**स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः
सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित
एक एव पर्यवशेषितः॥ ३७ ॥**

विचार करके देखा जाय, तो आप नानारूपोंमें प्रतीत होते हैं। आप ही समस्त प्रपञ्चमें परमार्थभूत, सत्स्वरूप, समस्त जगत्के कारण-रूप, सर्वेश्वर, महत् आदिके कारणीभूत और सभी जीवोंके प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तर्यामी हैं। समस्त बुद्धि, इन्द्रियों एवं विषयोंके प्रकाशकरूपमें आपको ही देखा जाता है। आपसे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह जड़प्रायः है। श्रुतियोंमें भी नेति-नेति आदि क्रमसे माया, मायिक वस्तुमात्र सभी पदार्थोंके निषेधसे एक मात्र आप ही अवशिष्ट रहते हैं। आपसे भिन्न और कुछ भी नहीं है॥३७॥

**अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि
निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टिश्रुतिविषयसुखलेशाभासाः
परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां
निरतनिर्वृतमनसः कथमुह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला**

ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्तवच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्त्तः ॥ ३८ ॥

हे मधुसूदन! जो आपकी महिमाके अमृत-समुद्रका एक बिन्दु भी ग्रहण कर लेता है, उसके हृदयमें नित्य-निरन्तर परमानन्दामृतकी धारा बहने लगती है। उसे पहले देखे एवं सुने हुए मायिक विषयोंके सुखाभासका विस्मरण हो जाता है। वह भोगाङ्काक्षासे रहित होकर परम भागवत हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंके प्रिय, सुहृद्, सर्वात्मा एवं ऐश्वर्यवान् आपमें चित्त समर्पित करके परम सुखी रहता है। आपके ये भक्त अपने पुरुषार्थमें निपुण हैं एवं आप ही इनकी आत्मा और प्रिय सुहृद् हैं। आपके इन भक्तोंको पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता। आप ही बतायें कि वे आपकी चरणाम्बुज-सेवाका परित्याग किस प्रकार कर सकते हैं? ॥३८॥

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवन् जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥ ३९ ॥

हे त्रिभुवनस्वरूप! हे त्रिभुवनजनक (तीनों लोकोंमें जिनकी दृष्टि है)! हे त्रिविक्रम (वामनरूपधारी)! हे त्रिनयन (नृसिंहरूपधारी—तीनों लोकोंमें जिनकी दृष्टि है)! हे त्रिलोकमनोहारी। दैत्य, दानव और मनुष्य आदि आपकी विभूतियाँ हैं। हे दण्डधर! जब-जब दैत्योंका अभ्युत्थान होता है, आप उस समय अपनी मायाशक्तिके बलसे कभी वामनादि देवतारूपमें कभी राम-कृष्णादि मनुष्यरूपमें, कभी वराहादि पशुरूपमें कभी हयग्रीव-नृसिंहादि मिश्रितरूपमें और कभी मत्स्य-कूर्मादि जलचरोंके रूपमें अवतार लेते हैं और असुरोंको उनके अपराधानुसार दण्ड देते हैं। हे भगवन्! यदि आप इस वृत्रासुरको वधके योग्य समझते हों तो इसका नाश कर दीजिए ॥३९॥

अस्माकं तावकानां तततत नतानां हरे तव चरणनलिन-
युगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरेणात्मसात्कृतानामनुकम्पानु-
रञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकनेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया
चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम् ॥ ४० ॥

हे रक्षक! हे पितामह! हे अनघ! हे हरे! हम आपके
चरणारविन्दोंमें सदैव सिर झुकाये रहते हैं। आपके चरणारविन्दके
ध्यानमें ही हमारा चित्त सदैव निमग्न रहता है। आपने अपना
श्रीविग्रह प्रकट करके हमें अपना निजजन कहकर स्वीकार किया
है। आप अपनी अनुकम्पासे रञ्जित विशद, शीतल एवं मृदु हास्यसे
युक्त अपने अवलोकन एवं सुमधुर वचनोंके द्वारा वृत्रासुरके कारण
उत्पन्न होनेवाले हमारे मनस्तापको दूर कीजिए ॥ ४० ॥

अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमाया
विनोदस्य सकलजीविकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगा-
त्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानो-
पलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात्
परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वार्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद्वि-
स्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥ ४१ ॥

हे भगवन्! आप अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति
एवं लयकी कारणभूत अपनी अन्तरङ्गा शक्ति योगमायाके साथ
सर्वदा विनोद-विलास करते हैं। आप समस्त जीवोंके हृदयमें
ब्रह्म और अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें एवं बाहर प्रकृतिके रूपमें
विराजमान रहते हैं। आप देश, काल और देहकी जो बाल,
पौगण्डादि अवस्थाएँ हैं, उन सबका अतिक्रमण न करके उन्हें
स्वीकार कर लेते हैं। सभी देवतादि जीवोंके उपादान कारणरूपमें
और प्रकाशकरूपमें आप ही प्रतीत हो रहे हैं। आप बुद्धि आदि
समस्त प्रत्ययोंके साक्षी, परब्रह्म एवं परमात्मा हैं। गुणोंसे आप
विकृत नहीं हो सकते, क्योंकि आपका स्वरूप आकाशके समान
निर्मल, सर्वगत (सर्वव्यापक) होनेपर भी अस्पृश्य है। हे प्रभो!

जिस प्रकार अग्निकी अंशभूत चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार इन चिनगारियोंके समान हम भी आपके सम्मुख क्या अपना कोई स्वार्थ प्रकट कर सकते हैं? आप सब कुछ जानते हैं। आपसे कुछ भी छिपा नहीं है॥४१॥

अतएव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४२ ॥

आप सर्वज्ञ हैं। जिस कार्य सिद्धिकी कामनासे हम आपके चरणकमलोंकी छायामें उपस्थित हुए हैं, आप हमारे उस अभिप्रायको भलीभाँति जानते हैं। आप परमगुरु हैं। आप स्वयं ही हमारे कार्यको सम्पन्न करें। आपके इन चरणकमलोंकी छायामें शरणागत भक्तोंकी विविध पापजनित संसार-श्रान्तिका (संसारमें भ्रमणशील परिश्रमका) उपशम हो जाता है॥४२॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम्।

ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च॥४३॥

अतएव हे ईश! आप त्वष्टाके पुत्र इस वृत्रासुरको मार डालिये। यह हमारा तेज, अस्त्र-शस्त्र एवं आयुधादि सभी कुछ निगल जाता है। अब तो यह तीनों भुवनोंको ही निगल लेना चाहता है। हे परम नियन्ता! इसका संहार कीजिए॥४३॥

हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय

कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय।

सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-

वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते॥४४॥

आप अति विशुद्ध हृदयाकाशमें रहनेवाले, चित्त-वृत्ति आदिके साक्षी, अनादि, उज्ज्वल यशसे युक्त, सदानन्द कृष्णस्वरूप हैं। आपका स्वरूप शुद्ध भक्तों द्वारा ज्ञेय है। संसारमें भटकते हुए प्राणी जब आपके शरणागत होते हैं, तब अन्तमें उनके जीवनकी

सार्थकता हो जाती है क्योंकि सर्वोत्तम फलके रूपमें आप उन्हें प्राप्त हो जाते हैं। हे हरे! हम आपको नमस्कार करते हैं ॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

अथैवमीडितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः।

समुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! देवताओंने जब अत्यन्त आदरसे इस प्रकार श्रीहरिकी स्तुति की, तब उसे सुनकर भगवान् प्रसन्न हो गये और देवताओंसे इस प्रकार कहने लगे— ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठ मदुपस्थानविद्यया।

आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवराज! तुम लोगोंने जिस प्रकारसे ज्ञानयुक्त स्तुतिसे मेरा स्तवन किया है, मैं उसे सुनकर तुम लोगोंसे अति प्रसन्न हुआ हूँ। ऐसे ज्ञानसे संसारके प्रति आसक्ति हट जाती है, मेरे ऐश्वर्यकी स्मृति होने लगती है और मेरे प्रति भक्ति उदित हो जाती है ॥४६॥

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः।

मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मतो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥ ४७ ॥

हे बुद्धिमान् देवताओंमें श्रेष्ठगण! यद्यपि मेरे प्रसन्न होनेपर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती, तथापि तत्त्वज्ञानी मेरे अनन्यभक्त मेरे अतिरिक्त और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते ॥४७॥

न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक्।

तस्य तानिच्छतो यच्छेद् यदि सोऽपि तथाविधः ॥ ४८ ॥

जो गुणजात विषय-प्रपञ्चको ही तात्त्विकरूपसे सत्य समझते हैं, वे कृपण हैं। वे कभी भी आत्म कल्याणको जान नहीं सकते। ऐसे विषयोंके इच्छुक व्यक्तियोंको यदि कोई उनकी

अभीष्ट वस्तु देता है, तो वह देनेवाला भी उनके समान ही मूर्ख है ॥४८॥

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।

न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥४९॥

जो स्वयं परमानन्द-प्राप्तिके साधन भगवद्-भजनमें अग्रणी हैं, वे कभी भी अज्ञान व्यक्तिको प्रवृत्ति-मार्गका उपदेश देकर उन्हें कर्मोंमें नहीं फँसा सकते। (सहायता करना तो दूरकी बात है) रोगी कुपथ्यकी इच्छा करे तो भी सदैव उसे कुपथ्य ग्रहण करनेके लिए कभी प्रोत्साहित नहीं करता ॥४९॥

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।

विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥५०॥

हे मघवन् (इन्द्र)! तुम्हारा कल्याण हो! महर्षि दधीचि समस्त ऋषियोंमें श्रेष्ठ हैं। तुम उनके पास जाओ! उनका शरीर विद्या, व्रत एवं तपस्यासे अति सुदृढ़ हो गया है। तुम शीघ्र जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो। विलम्ब मत करो ॥५०॥

स वा अधिगतो दध्यङ्ङशिवभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।

यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥५१॥

ऋषि दधीचिने (दध्यञ्चने) स्वयं ही ब्रह्मविद्याको प्राप्त किया था और उन्होंने इस ब्रह्मज्ञानको अश्विनीकुमारोंको दिया था। दधीचिने अश्वशिर (घोड़ेका मुख) धारण करके ब्रह्मज्ञान बतलाया था, इसीलिये उनके द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान अश्वशिरके (अश्वशिर मन्त्रके) नामसे जाना जाता है। इस उपदेशको प्राप्त करके दोनों ऋषिकुमार जीवन्मुक्त हो गये थे ॥५१॥

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम्।

विश्वरूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वमथास्ततः ॥५२॥

अथर्ववेदी दधीचिने मेरे स्वरूपभूत दुर्भेद्य नारायण कवचको प्राप्त करके उसे त्वष्टाको दिया और त्वष्टाने इसे विश्वरूपको

प्रदान किया और विश्वरूपने तुम लोगोंको इसका उपदेश किया। इस विद्या-बलसे ही दधीचिका शरीर अति सुदृढ़ एवं पुष्ट हो गया है। तुमलोग उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें अपना शरीर प्रदान कर दें॥५२॥

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः।
येन वृत्रशिरो हर्त्ता मत्तेज उपबृंहितः॥५३॥

तुम लोगोंकी ओरसे दोनों अश्विनी कुमार उनसे शरीर-दानके लिए याचना करें, वे उन्हें अपना शरीर अवश्य प्रदान करेंगे। इस विषयमें कोई सन्देह मत करना; क्योंकि ऋषि दधीचि धर्मके मार्गको भलीभाँति जानते हैं। जब वे अपना शरीर दान कर देंगे, तब विश्वकर्मा उनकी अस्थियोंसे आयुध-श्रेष्ठ वज्रका निर्माण करेंगे॥५३॥

तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान्॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीभगवदुपदेशो नाम नवमोऽध्यायः॥

मेरे तेजसे अतिशय तेजवान होकर तुम उस वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट लोगे। वृत्रासुरके मर जानेपर तुम्हें अपना तेज, अस्त्र-शस्त्र और सम्पत्ति पुनः प्राप्त हो जायेंगे और तुम्हारा मङ्गल होगा। त्रिभुवनको निगलनेकी क्षमता रखनेवाला यह महासुर तुम लोगोंको मार डालेगा—ऐसी शङ्का कभी मत करना। जो मेरे शरणागत हैं, मुझसे युक्त हैं, उन्हें कोई नहीं मार सकता॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके नवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

देवताओं द्वारा दधीचि ऋषिकी अस्थियोंसे वज्र-निर्माण
और वृत्रासुरकी सेनापर आक्रमण

श्रीबादरायणिरुवाच—

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः।
पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विश्वभावन श्रीहरि
इन्द्रको इस प्रकार आदेश प्रदान करके देवताओंके समक्ष ही उस
स्थानसे अन्तर्हित हो गये ॥१॥

तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान्।
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥

हे राजन्! भगवान्की आज्ञानुसार देवता अथर्वके पुत्र उदारचित्त
दधीचिके पास गये और उनसे शरीर-दानके लिये प्रार्थना की।
दधीचि उनकी प्रार्थना सुनकर प्रसन्न हुए, परंतु उनसे धार्मिक
उपदेशोंको सुननेके लिए छलपूर्वक हँसते हुए कहने लगे ॥२॥

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम्।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥

हे देवताओ! तुम लोग इन्द्रियाधिष्ठाता देवता होकर भी यह
नहीं जानते कि देहधारी जीवोंको मृत्युके समय असहनीय वेदना
होती है। यह यन्त्रणा इतनी कष्टदायक होती है कि यह जीवकी
चेतनाका हरण करके उसे मूर्च्छित कर देती है ॥३॥

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

इस संसारमें जीवोंके लिए देह ही एकमात्र प्रियतम वस्तु है। अतः जो जीवित रहनेकी अभिलाषा करते हैं, उनके लिए इस देहकी सब प्रकारसे रक्षा करना युक्तियुक्त है। अतः यदि स्वयं विष्णु भी अतिथिके रूपमें उपस्थित होकर देहकी याचना करें, तो उन्हें भी कौन अपनी देह देनेके लिए उत्साहित होगा ॥४॥

श्रीदेवा ऊचुः—

किं नु तदुस्त्यजं ब्रह्मन् पुंसां भूतानुकम्पिनाम्।

भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेऽद्यकर्मणाम् ॥५॥

देवताओंने कहा—हे ब्रह्मन्! बड़े-बड़े यशस्वी पुण्यवान् जिनके कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियोंपर दया करनेवाले आप जैसे महात्मा परोपकारके लिये क्या नहीं कर सकते। इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो आपके लिए अदेय हो ॥५॥

नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम्।

यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥६॥

ये याचक भी बड़े स्वार्थी होते हैं, दूसरों (दाताओं) के कष्टको समझ नहीं सकते। याचक यदि दाताके कष्टोंको समझ जाएँ, तो दानके लिए प्रार्थना करें ही क्यों? इसी प्रकार दान देनेमें समर्थ व्यक्ति यदि याचककी विपत्ति समझ जाय, तो वह याचकको न ही क्यों कहेगा? ॥६॥

श्रीऋषिरुवाच—

धर्म वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः।

एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम् ॥७॥

दधीचि ऋषिने कहा—मैंने आप लोगोंके मुखसे धर्मकी बातोंको सुननेकी इच्छासे ही आपको देह देनेके लिए निषेध किया था। यह देह मुझे अतिशय प्रिय है, तो भी एक दिन मुझे इसे छोड़ना ही पड़ेगा। अतः इस देहको मैं आपके उपकारके लिए त्यागता हूँ ॥७॥

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्म न यशः पुमान्।

ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥

हे देवताओ! जो मनुष्य प्राणियोंपर दयाके वशीभूत होकर इस अनित्य देहसे धर्म एवं यशका उपार्जन करनेका प्रयास नहीं करता, वह स्थावर वृक्षादिसे भी अधिक शोचनीय है ॥ ८ ॥

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।

यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति प्राणियोंके दुःखमें दुःखी एवं आनन्दमें आनन्दित होते हैं, पुण्यश्लोक व्यक्ति उनके धर्मको ही अविनाशी कहकर उनकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।

यन्नापकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यैः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥ १० ॥

इस देहको मृत्युके उपरान्त कुत्ते और सियार खा जाते हैं, यह अपने किसी कामकी नहीं है, क्षण भरमें नष्ट होनेवाली है। इस देहके समान ही धन, पुत्रादि आत्मीयवर्ग आदि सभी नश्वर हैं। मरणधर्मी मनुष्य यदि इनसे दूसरोंका उपकार नहीं करता, तो उसका जीवन केवल दुःखोंका ही भागी होता है ॥ १० ॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।

परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयन् जहौ ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! अथर्व-पुत्र ऋषि दधीचिने अपने अस्थि-दानका निश्चय करके परब्रह्म भगवान्में क्षेत्रज्ञ आत्माको एकीभूत करके (मनको भगवान्में नियुक्त करके) पाञ्चभौतिक देहका त्याग कर दिया ॥ ११ ॥

यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग्ध्वस्तबन्धनः ।

आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥ १२ ॥

उस समय उन्होंने इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि आदिको वशीभूत करके समाधिमें परमात्म तत्त्वका दर्शन किया। उस समय उनके सारे बन्धन छूट गये। उन्हें पता ही नहीं चला कि उनकी देह उनसे कब पृथक् हो गयी ॥१२॥

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा।

मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥ १३ ॥

वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत।

स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् देवराज इन्द्रने दधीचि मुनिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा द्वारा वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करवाया। इसके पश्चात् उसे धारण करके वे ऐरावत हाथीपर सवार हुए। उस समय इन्द्र दधीचि मुनिकी शक्तिसे शक्तिवान् और भगवत् तेजसे प्रकाशवान् हो रहे थे। सारे देवता उन्हें घेरे हुए थे। मुनिगण उनकी स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार अत्यन्त शोभायमान होकर वे तीनों लोकोंको हर्षित कर रहे थे ॥१३-१४॥

वृत्रमभ्यद्रवच्छत्रुमसुरानीकयूथपैः ।

पर्यस्तमोजसा राजन् क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥ १५ ॥

राजा परीक्षित्! रुद्र जिस प्रकार अत्यन्त क्रोधित होकर अन्तक (यमराज) को मारनेके लिए दौड़े थे, उसी प्रकार इन्द्र क्रोधित होकर बड़े वेगके साथ असुर सेनासे घिरे हुए शत्रु वृत्रासुरकी ओर दौड़ पड़े ॥१५॥

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः।

त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे ॥ १६ ॥

तदनन्तर वैवस्वत मन्वन्तरकी पहली चतुर्युगीके प्रथम सत्ययुगकी समाप्ति और त्रेतायुगके प्रारम्भमें नर्मदा नदीके किनारे देवताओं एवं दैत्योंमें अति भीषण युद्ध हुआ ॥१६॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः ।
 मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥ १७ ॥
 दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।
 नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुरःसराः ॥ १८ ॥

हे राजन्! वृत्रासुरादि प्रमुख असुरोंने युद्ध-प्राङ्गणमें देखा कि मरुत्पति इन्द्र वज्र धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं। उनके साथ रुद्रगण, आदित्यगण, अश्विनीकुमार, पितृगण, बह्निगण, ऋभुगण, साध्यगण, विश्वेदेवगण भी उपस्थित हैं। इन्द्रका यह शक्ति-वैभव असुरोंके लिए असह्य हो गया ॥ १७-१८ ॥

नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्द्धा ऋषभोऽसुरः ।
 हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९ ॥
 पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः ।
 दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥ २० ॥
 सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः ।
 प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥ २१ ॥
 अभ्यर्दयन्नसम्भ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः ।
 गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः ॥ २२ ॥

असुरोंमें स्वर्णालङ्कारोंसे सुसज्जित नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्द्धा, ऋषभ, असुर, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल सम्मिलित थे। उनकी ओरसे सैकड़ों-हजारों दैत्य, दानव यक्ष, राक्षस (मनुष्य-भक्षक) तथा सुमाली, माली आदि दुर्दान्त असुर स्वर्णाभूषणोंसे सुसज्जित होकर सिंहके समान निर्भीकतापूर्वक गर्जना कर रहे थे। यद्यपि देवराज इन्द्रकी सेनाको साक्षात् काल भी नहीं जीत सकता था तो भी असुर उनके विजय-पथमें बाधा उत्पन्न करनेके लिए गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर तथा तोमर आदि अस्त्रोंसे उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ १९-२२ ॥

शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः ।

सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥ २३ ॥

उन असुरोंने चारों दिशाओंसे त्रिशूल, कुठार, खड्ग, तलवार, शतघ्नी एवं भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे आक्रमण करते हुए देवताओंकी सेनाके सभी प्रमुख नायकोंको तितर-बितर कर दिया ॥ २३ ॥

न तेऽदृश्यन्त सञ्छन्नाः शरजालैः समन्ततः ।

पुङ्खानुपुङ्खं पतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः ॥ २४ ॥

आकाशमें मेघोंके छा जानेपर जिस प्रकार तारे दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार चारों दिशाओंसे एकके बाद एक गिरनेवाले बाणोंसे आच्छादित हो जानेके कारण देवतागण दिखायी नहीं पड़ रहे थे ॥ २४ ॥

न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यसेदुः सुरसैनिकान् ।

छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥ २५ ॥

परीक्षित्! अस्त्र-शस्त्रोंकी यह वर्षा देवताओं तक पहुँच ही नहीं पाई अर्थात् उनके ऊपर बाणादि गिरे ही नहीं, क्योंकि हस्तलाघव (द्रुतगतिसे बाण चलानेके अभ्यास) के कारण देवतागण लक्ष्य स्थानपर पहुँचनेसे पहले आकाश-मार्गमें ही उन शस्त्रास्त्रोंको खण्ड-खण्ड कर डालते थे ॥ २५ ॥

अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।

अभ्यवर्षन् सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥ २६ ॥

असुरोंने जब देखा कि उनके अस्त्र-शस्त्र सब समाप्त हो चुके हैं, तब वे देवसेनाके ऊपर पर्वतोंके शिखर, वृक्ष तथा पत्थर फेंकने लगे। देवताओंने पहलेकी भाँति उनको भी आकाशमें ही चूर्ण-विचूर्ण कर दिया ॥ २६ ॥

तानक्षतान् स्वस्तिमतो निशाम्य शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।

द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गैरविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७ ॥

वृत्रासुरके सैनिकोंने देखा कि विविध अस्त्र-शस्त्रोंके घातक प्रहारसे भी देव-सैनिक अक्षत और कुशल ही बने हुए हैं, वृक्ष, प्रस्तर और पर्वतोंके शिखरोंके प्रहारोंसे भी उनकी कोई क्षति नहीं हुई है, यह देखकर वे अत्यन्त भयभीत हो गये ॥२७॥

सर्वे प्रयासा अभवन् विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता उषती रूक्षवाचः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार तुच्छ व्यक्ति क्रोधमें भरकर महापुरुषोंके प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं, परन्तु महद् व्यक्ति उनसे क्षुब्ध नहीं होते; अतः वे कटुवचन निष्फल ही रह जाते हैं, उसी प्रकार असुर देवताओं पर बार-बार प्रतिकूल आचरण कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण देवताओंके सहायक थे। अतः उनके सारे प्रयास विफल हो गये ॥२८॥

ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥ २९ ॥

भगवान् श्रीहरिके प्रति असुरोंकी भक्ति न होनेके कारण युद्ध करनेका उनका सारा गर्व चकनाचूर हो गया। देवताओंने उनका धैर्य-शौर्य, बल-पौरुष सब कुछ छीन लिया। अपने सारे प्रयत्नोंको विफल होता देख असुरोंने युद्ध-भूमिमें अपने प्रमुख सेनानायक वृत्रासुरका परित्याग करके युद्धसे भागनेका निश्चय कर लिया ॥२९॥

वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत्।
पलायितं प्रेक्ष्य बलञ्च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥ ३० ॥

धीर-प्रवीर वृत्रासुरने जब देखा कि उसके अनुयायी शत्रुओंसे अत्यधिक भयभीत होकर पलायन कर रहे हैं एवं परमवीर कहलाये जाने वाले उसके ऐकान्तिक शरणागत असुरगण भी युद्ध-भूमि छोड़कर भाग रहे हैं तो वह हँसकर इस प्रकार कहने लगा— ॥३०॥

कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनां-
जगाद वाचं पुरुषप्रवीरः।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वन् शम्बर मे शृणुध्वम् ॥ ३१ ॥

हे राजन्! पुरुष-प्रवीर वृत्रासुरके वचन शूरता-वीरताको अभिव्यक्त करनेवाले, देश, काल तथा परिस्थितिके अनुसार कहे जानेवाले और मनस्वियोंके मनोंको भी आकर्षित करनेवाले थे। उसने कहा—हे विप्रचित्ति! हे नमुचि! हे पुलोमा! हे मय! हे अनर्वा! हे शम्बर! तुम सभी मेरे वचनोंको सुनो ॥३१॥

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।
लोको यशश्चाथ तातो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥ ३२ ॥

इस संसारमें जीव मात्रकी ही मृत्यु अवश्यसम्भावी है। आजतक कोई भी इसके प्रतिकारका उपाय ढूँढ़ नहीं पाया है। भगवान्ने भी इसके बचावका कोई उपाय नहीं बतलाया है। जिस मृत्युसे इस लोकमें यश और परलोकमें स्वर्गलोककी सम्भावना रहती है, तब कौन व्यक्ति ऐसी समुचित एवं यशस्वी मृत्युका वरण नहीं करेगा? ॥३२॥

द्वौ सन्मताविह मृत्यु दुरापौ
यद्ब्रह्मसन्धारणया जितासुः।
कलेवरं योगरतो विजह्याद्-
यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीइन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः।

योगमार्गमें चलते हुये प्राणादि इन्द्रियोंको संयमित करके भगवत्
चिन्तनमें शरीरका त्याग करना एक प्रकारकी मृत्यु है और
युद्धक्षेत्रमें पीठ न दिखाकर शत्रुओंका सामना करते हुए शरीरको
त्यागकर वीरगति प्राप्त करना दूसरे प्रकारकी मृत्यु है। धर्मशास्त्रोंमें
कहा गया है कि ये दोनों प्रकारकी मृत्यु ही श्रेष्ठ एवं दुर्लभ
हैं (तुमलोग भला, ऐसा शुभ अवसर क्यों खो रहे हो) ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके दसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

वज्रधारी इन्द्रके साथ युद्धमें वृत्रासुरकी ज्ञान, बल और भक्ति सम्बन्धी भगवत्प्रार्थना और भगवत्प्राप्ति

श्रीशुक उवाच—

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः।

नैवागृह्णन् भयसन्त्रस्ताः पलायनपरा नृप॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! असुर सेनाधिपति वृत्रासुर इस प्रकार धर्मोपदेश कर रहा था, किन्तु युद्धसे भागनेवाले उन असुरोंका हृदय अति व्याकुल हो रहा था। अत्यन्त भयभीत होनेके कारण उन लोगोंने कुछ भी नहीं सुना॥१॥

विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः।

कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत्॥२॥

दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः।

तान् निवार्यौजसा राजत्रिभर्तस्येदमुवाच ह॥३॥

हे राजन्! देवता समयकी अनुकूलताको देखकर असुर सेनाको खदेड़ रहे थे और वे निराश्रय होकर बिखर गये थे। असुर-श्रेष्ठ, इन्द्र-शत्रु-वृत्रासुर असुरोंकी यह कायरता देखकर अत्यन्त दुःखी हो गया और अन्तमें इतना असहिष्णु हो गया कि उसने क्रोधमें भरकर बलपूर्वक देवसेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया और तिरस्कार करते हुए इस प्रकार कहने लगा॥२-३॥

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः।

न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम्॥४॥

हे देवताओ! इन भागनेवाले सभी असुरोंने माताके गर्भसे मलमूत्रके समान व्यर्थमें ही जन्म ग्रहण किया है। वस्तुतः इनका

जन्म ग्रहण करना निरर्थक ही है। ऐसे कायर शत्रुओंको, जो भयसे पलायन कर रहे हैं, उन्हें पीछेसे मारनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? जो स्वयंको वीर मानकर अभिमान करते हैं, उनके द्वारा अपनी मृत्युसे भयभीत लोगोंका वध करना उचित नहीं है। इससे न तो उनकी प्रशंसा होती है और न ही स्वर्गकी प्राप्ति ॥४॥

यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि।

अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद्ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥५॥

यदि तुम्हें युद्धमें अपनी वीरता दिखानेमें विश्वास है, अन्तःकरणमें धैर्य है और जीवित रहकर विषयभोगोंकी अभिलाषा नहीं है, तो हे क्षुद्र देवताओ! क्षणभरके लिए मेरे सम्मुख ठहरो ॥५॥

एवं सुरगणान् क्रुद्धो भीषयन् वपुषा रिपून्।

व्यनदत् सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥६॥

वृत्रासुर महाबलशाली था। उसने क्रुद्ध होकर अपना विशाल शरीर दिखलाकर देवताओंको भयभीत करते हुए अत्यन्त भीषण सिंहनाद किया, जिससे सारे जीव मूर्च्छित हो गये ॥६॥

तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै।

निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥७॥

देवतागण वृत्रासुरके इस भीषण सिंहनादको सुनकर अचेत होकर भूमिपर इस प्रकार गिर पड़े मानो उनपर बिजली गिर पड़ी हो ॥७॥

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं

निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः।

गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा

नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥८॥

रण-प्राङ्गणमें उन्मत्त हुआ वृत्रासुर त्रिशूल हाथमें लेकर उसे बलपूर्वक उछालने लगा। उसके वेगसे पृथ्वी काँपने लगी, जिससे भयभीत होकर देवताओंने आँखें मूँद लीं। मदमत्त यूथपति हाथी

जिस प्रकार नरकटके वनको रौंद देता है, उसी प्रकार वृत्रासुर मूर्च्छित देवताओंको अपने पैरोंसे कुचलने लगा ॥८॥

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम्।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहं
जग्राह वामेन करेण लीलया ॥ ९ ॥

देवराज इन्द्रने यह देखकर अत्यन्त क्रोधसे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले अपने शत्रुकी ओर एक अत्यन्त शक्तिशाली गदा फेंकी। वृत्रासुरने अपने सम्मुख तीव्रतासे आती हुई इस दुःसह गदाको अनायास ही बायें हाथसे पकड़ लिया ॥९॥

स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोरुविक्रमः।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन् मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्वृप ॥ १० ॥

हे राजन्! इसके पश्चात् अति विक्रमशाली इन्द्रशत्रु वृत्रासुरने अतिशय क्रोधित होकर संग्राम-क्षेत्रमें उच्च स्वरसे गर्जना करते हुए उसी गदासे इन्द्रके वाहन ऐरावतके सिरपर प्रहार किया। उसके इस अद्भुत कार्यकी स्वपक्षके एवं शत्रुपक्षके सभी सैनिक प्रशंसा करने लगे ॥१०॥

ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा।
अपासरद्वित्रमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक् सप्तधनुर्भृशार्तः ॥ ११ ॥

वृत्रासुरके गदा-प्रहारसे ऐरावतका मुख विदीर्ण हो गया। मुख फट जानेसे ऐरावत अत्यन्त पीड़ित होकर खून उगलता हुआ वज्रसे आहत पर्वतके समान तीव्र वेदनासे पीड़ित होकर घूमता-घामता पीठपर इन्द्रको लिये हुए ही अट्टाईस हाथ दूर जा गिरा ॥११॥

न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे
 प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा।
 इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श-
 वीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥ १२ ॥

ऐरावतको विषादग्रस्त देखकर देवराज इन्द्रका चित्त दुःखी हो गया। इस अवसरपर धर्मप्राण वृत्रासुरने इन्द्रके ऊपर पुनः गदा नहीं चलायी, परन्तु इन्द्रने इसी बीच अमृतस्नावी अपने हाथोंके स्पर्शसे ऐरावतके घावकी व्यथाको दूर कर दिया और उसी स्थानपर आ डटे ॥ १२ ॥

स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
 वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य।
 स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
 शोकेन मोहेन हसन् जगाद ॥ १३ ॥

हे राजन्! वृत्रासुरने जब अपने भाई विश्वरूपके हत्यारे, अपने शत्रु इन्द्रको युद्धकी इच्छासे वज्र धारण किये हुए अपने सम्मुख खड़े देखा तो उसे उनके द्वारा किये हुए भ्रातृ-हननरूपी निष्ठुर पापकर्मका स्मरण हो आया। वह शोक और मोहसे भ्रमित होकर हँसते-हँसते कहने लगा ॥ १३ ॥

वृत्र उवाच—

दिष्ट्या भवान् मे समवस्थितो रिपु-
 र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
 दिष्ट्याऽनृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
 मच्छूलनिर्भिन्नदृशद्धृदाचिरात् ॥ १४ ॥

वृत्रासुरने कहा—जिस व्यक्तिने ब्राह्मणका, गुरुका और मेरे भाईका वध किया है; आज भाग्यवश वही मेरे सम्मुख शत्रु बनकर खड़ा—है—यह कितने सौभाग्यकी बात है! रे पापिष्ठ! यदि मेरा शूल तुम्हारे पत्थरके समान हृदयको विदीर्ण कर डालता है, तो मैं आज शीघ्र ही भ्रातृ-ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
 गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
 विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
 पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥ १५ ॥

इन्द्र! तुमने स्वर्गकी कामनासे आत्मज्ञानी, निष्पाप, दीक्षित और विशेषरूपसे अपने गुरु एवं मेरे भाई ब्राह्मण विश्वरूपका पुरोहितके रूपमें वरण किया था। तुमने उसे विश्वास दिलाकर उसके तीनों सिरोंको इस प्रकार काट डाला, जिस प्रकार स्वर्गकामी याज्ञिकपुरुष निर्दयतापूर्वक पशुका सिर काट डालता है ॥१५॥

श्रीहृदयाकीर्त्तिभिरुज्झितं त्वां
 स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
 कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
 मस्पृष्टवर्हिं समदन्ति गृध्राः ॥ १६ ॥

सम्पत्ति, लज्जा, दया, कीर्त्ति आदि सद्गुणोंने तुम्हें छोड़ दिया है। राक्षस भी तुम्हारे कर्मोंकी निन्दा करते हैं। मैं अब अपने त्रिशूलसे तुम्हारे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा, जिससे तुम्हारी मृत्यु अत्यन्त कष्टप्रद होगी। अग्नि भी तुम्हारी देहका स्पर्श नहीं करेगी, अपितु गीध ही तुम्हारे शरीरको नोंच-नोंच कर खायेंगे ॥१६॥

अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा
 यत् उद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम्।
 तैर्भूतनाथान् सगणान् निशात-
 त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥ १७ ॥

ये अन्यान्य देवतागण भी मेरे प्रभावको न जानकर तुम्हारे जैसे क्रुरस्वभावका अनुकरण करके अस्त्र-शस्त्र धारण कर मुझपर प्रहार कर रहे हैं। तुम यह निश्चय ही जान लो कि मेरा यह तीक्ष्ण त्रिशूल उनकी गरदन काट देगा और उन कटे सिरों द्वारा भूतप्रेतादि गणोंके साथ भैरवादि भूतनाथोंको मैं बलि चढ़ाऊँगा ॥१७॥

अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये॥१८॥

और यदि हे वीर इन्द्र! तुम इस संग्राममें वीरतापूर्वक मेरी सेनाको छिन्न-भिन्न करके मेरा सिर काट डालते हो, तो मैं अपनी यह देह पशु-पक्षियोंको बलिरूपमें समर्पित कर दूँगा और कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर श्रीनारदादि धीर-प्रवीर भक्तोंकी पदवीको प्राप्त कर लूँगा॥१८॥

सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम्।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रः
स्यान्निष्फलः कृपणार्थेव याच्ञा॥१९॥

हे सुरपते! मैं तुम्हारे सामने शत्रुरूपमें खड़ा हूँ। तुम अपना यह अमोघ वज्र मुझ पर क्यों नहीं छोड़ते? तुमने मेरे ऊपर जो गदा चलायी, वह तो उसी प्रकार विफल हो गयी, जिस प्रकार कृपणसे की गयी प्रार्थना व्यर्थ हो जाती है, किन्तु तुमने यह जो वज्र धारण कर रखा है, तुम इसे चलाओ, यह विफल नहीं होगा। इस विषयमें किसी प्रकारका सन्देह मत करो॥१९॥

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधिचेस्तपसा च तेजितः।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयश्रीर्गुणास्ततः॥२०॥

हे इन्द्र! तुम्हारा यह वज्र भगवान् श्रीहरिके तेज और ऋषि दधीचिकी तपस्यासे अतिशय तेजस्वी हो गया है। तुम्हें स्वयं भगवान् विष्णुने आज्ञा भी दी है। अतः तुम इस वज्रसे मेरा वध कर सकते हो। भगवान् श्रीहरि जिस पक्षको अपना आश्रय

प्रदान करते हैं, उस ओर जय, सम्पद् और सन्तोषादि सद्गुण सदैव निवास करते हैं ॥२०॥

अहं समाधाय मनो यथाह
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ॥ २१ ॥

तुम्हारे वज्रके वेगसे संसार-बन्धनका हेतुभूत मेरा यह शरीर खण्ड-विखण्ड हो जायेगा। तब मैं इस लोकका परित्याग करके भगवान् सङ्कर्षणके चरणारविन्दमें अपने चित्तको समर्पित करके भगवद् भक्त नारदादि मुनियोंके समान गतिको प्राप्त कर लूँगा ॥२१॥

पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्।
न राति यद्वेष उद्वेग आधि-
र्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः ॥ २२ ॥

जो भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावसे चित्तको समर्पित करते हैं और भगवान् भी जिन्हें अपने निजजनके रूपमें स्वीकार करते हैं, उन्हें वे स्वर्ग, मर्त्य एवं पातालादि लोकोंकी सम्पत्ति प्रदान नहीं करते। इन तीनों लोकोंकी सम्पत्तियोंसे शत्रुता, उद्वेग, मनस्ताप, गर्व, कलह आदि उत्पन्न होते हैं। इनके नाश होनेपर दुःख होता है और इनके संरक्षण एवं अभिवर्द्धनके लिए अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है ॥२२॥

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्रः।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥ २३ ॥

हे इन्द्र! हमारे स्वामी भगवान् श्रीहरि अपने भक्तोंके त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, कामके लिए कृत प्रयासोंका वर्जन कर देते हैं। वस्तुतः

इससे ही उनकी कृपाका अनुमान होता है। ऐसा भगवत् कृपा-प्रसाद निष्किञ्चन भगवद्-भक्तोंको ही प्राप्य है, जिनका चित्त विषयोंमें आविष्ट है, उनके लिए तो यह कृपा अत्यन्त दुर्लभ है॥२३॥

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥ २४॥

वृत्रासुर ध्यानमें आविर्भूत भगवान्को देखकर प्रार्थना करने लगा—हे हरे! जो आपके चरणकमलोंके आश्रयमें रहते हैं, क्या मैं पुनः आपके उन दासोंका अनुदास बन सकूँगा, हे प्राणपति! जिससे मेरा मन सदैव आपके गुणोंका स्मरण करता रहे, वाणी सदैव आपके गुणोंका गान करती रहे और शरीर आपकी सेवामें सदा-सर्वदा नियुक्त रहे॥२४॥

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ २५॥

हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपकी सेवा त्यागकर ध्रुवलोक, ब्रह्मलोक, पृथ्वीका एकछत्र साम्राज्य एवं अणिमादि अष्ट योग-सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त नहीं करना चाहता। आपके विरहमें मेरे प्राण रह भी जायें, तो ये सब मुझे क्या सुख प्रदान करेंगे॥२५॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ २६॥

हे कमललोचन! जिनके अभी पंख भी उत्पन्न नहीं हुए हैं, ऐसे पक्षी-शावक जिस प्रकार अपनी माताके आगमनकी प्रतीक्षा

करते हैं; जैसे रस्सियोंसे बँधे छोटे-छोटे बछड़े भूखसे पीड़ित होनेपर गायके दुहे जानेकी प्रतीक्षा करते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी पतिके दर्शनके लिए उत्कण्ठित रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी आपके दर्शनके लिये व्यग्र हो रहा है॥२६॥

ममोत्तमःश्लोकजनेषु सख्यं

संसारचक्रे ध्रमतः स्वकर्मभिः।

त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-

ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे वृत्रवाक्यं नाम एकादशोऽध्यायः।

हे नाथ! मैं अपने कर्मोंके कारण इस संसार चक्रमें भटक रहा हूँ। अतः आपके पुण्यकीर्ति भक्त जहाँ भी हो, मुझे उनका सङ्ग प्राप्त होता रहे, उनके साथ मेरी मैत्री स्थापित हो एवं आपकी मायासे मेरा चित्त जो देह, पुत्र, पत्नी और गृह आदिमें आसक्त है—आप इतनी कृपा करें कि वह अब और आसक्त न रहे॥२७॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके ग्यारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध

श्रीऋषिरुवाच—

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत् सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! युद्धमें विजयकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक श्रेष्ठ है—यह विचार करके वृत्रासुरने अपने शरीरका त्याग करनेकी इच्छासे त्रिशूल धारण कर देवराज इन्द्रपर उसी प्रकार आक्रमण कर दिया, जिस प्रकार प्रलयकालीन जलमें कैटभ-दैत्य भगवान् विष्णुपर प्रहार करनेके लिए दौड़ा था ॥१॥

ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥

इसके पश्चात् असुर-श्रेष्ठ महावीर वृत्रासुरने क्रोधित होकर युगान्तकालीन प्रचण्ड अग्निकी लपटोंके समान तीक्ष्ण नोकोंवाले अपने त्रिशूलको घुमाकर बड़े वेगसे इन्द्रपर चला दिया और उच्च स्वरसे कहा—अरे पापी! ले, मैं तेरा वध करता हूँ ॥२॥

ख आपतत् तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजञ्च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३ ॥

ग्रह तथा उल्काके समान चक्कर काटते हुए उस त्रिशूलको आकाश-मार्गसे अपनी ओर आते देखकर देवराज इन्द्रने निर्भीकतासे अपने शतपर्वविशिष्ट (सौ गाँठोंवाले) वज्रसे उस त्रिशूलको एवं सर्पराज वासुकिके शरीरके समान विशाल आकृतिवाली वृत्रासुरकी एक भुजाको भी काट दिया॥३॥

छित्रैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम्।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रञ्च हस्तात्र्यपतन्मघोनः॥४॥

अपनी एक भुजाके कट जानेसे वृत्रासुर अत्यन्त क्रोधित हो गया। वह वज्रधारी इन्द्रके समीप आया और अपने लौहदण्ड (परिघ) से उनकी ठोड़ीपर भीषण प्रहार किया और इसी अस्त्रसे ऐरावतपर भी आघात किया। इससे आहत होकर इन्द्रके हाथसे वज्र छूटकर गिर पड़ा॥४॥

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत् पुरुहूतसङ्कटं
निरीक्ष्य हाहेति विचुक्रुशुर्भृशम्॥५॥

सुर, असुर, चारण और सिद्धगण सभी वृत्रासुरके इस अद्भुत कार्यकी बहुत प्रशंसा करने लगे, किन्तु जब देवेन्द्रको विपद्में देखा, तो 'हाय! हाय!' करके उच्च स्वरसे विलाप करने लगे॥५॥

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः॥६॥

इन्द्रके हाथसे छूटकर वज्र शत्रु वृत्रासुरके समीप जा गिरा था। इसी कारण लज्जित होकर इन्द्रने पुनः वज्र नहीं उठाया। तब

वृत्रासुरने इन्द्रको सम्बोधित करते हुए कहा—हे इन्द्र! वज्र उठाओ और अपने शत्रुका संहार करो, यह समय विषादका नहीं है॥६॥

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम्।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम्॥७॥

हे इन्द्र! उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके एकमात्र कर्त्ता, सर्वज्ञ और अनादि सनातन पुरुष एकमात्र भगवानके अतिरिक्त सभी देहधारी अथवा जीवात्माएँ परतन्त्र हैं, उनके अधीन हैं। युद्धकी इच्छा होनेपर जीत ही होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। कभी जय होती है, तो कभी पराजय भी होती है॥७॥

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम्॥८॥

इस ब्रह्माण्डके सभी लोक एवं लोकपाल जिनकी अधीनतामें जालमें बँधे हुये पक्षियोंके समान विवश होकर चेष्टा करते हैं, वह काल अर्थात् भगवान् ही सबकी जय-पराजयके एकमात्र कारण हैं॥८॥

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम्॥९॥

वे भगवान् ओजः (इन्द्रिय-शक्ति), सहः (मन-शक्ति), बल (शरीरकी शक्ति) एवं प्राण, अमृत और मृत्युस्वरूप हैं। उनको न जानकर मूर्ख व्यक्ति इस जड़ देहको ही जय-पराजयका हेतु मान लेते हैं॥९॥

यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः।
एवम्भूतानि मघवत्रीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥१०॥

हे मघवन् (इन्द्र)! काठकी पुतली और पत्तोंका बना हुआ हिरन जिस प्रकार स्वेच्छासे नृत्य नहीं कर सकते, अपितु नचानेवालेकी

इच्छासे ही नृत्य करते हैं, उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भगवान्‌के अधीन हैं। इस जगत्‌में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है॥१०॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।

शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥११॥

पुरुष (महत्-तत्त्वके स्रष्टा), प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार और आकाशादि पञ्चमहाभूत, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं चित्त—ये सभी भगवान्‌के अनुग्रहके बिना इस विश्वके सृष्टि आदि कार्य नहीं कर सकते॥११॥

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम्।

भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम्॥१२॥

सर्वानियन्ता स्वतन्त्र ईश्वरको न जानकर अज्ञानी जीव पराधीन होनेपर भी अपनी आत्माको ही स्वतन्त्र ईश्वर मान लेता है। मेरे पूर्व कर्मोंके सहयोगसे इस शरीरके स्रष्टा मेरे पितादि हैं तथा व्याघ्रादि कोई दूसरा इसको मार देनेवाला है, यह सिद्धान्त उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान् ही प्राणियोंसे प्राणियोंकी सृष्टि एवं प्रणियोंसे ही दूसरे प्राणियोंका विनाश कराते हैं। अतः जीवोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। एकमात्र भगवान् ही स्वतन्त्र हैं॥१२॥

आयुः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः।

भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः॥१३॥

जिस प्रकार विनाशकाल आनेपर व्यक्तिकी इच्छा न होनेपर भी उसकी आयु, श्री एवं कीर्ति नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जब उसका जय-प्राप्ति इत्यादि अनुकूल समय आता है, तो उसे बिना प्रयत्नके ही आयु, श्री एवं यश आदि प्राप्त हो जाते हैं॥१३॥

तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।

समः स्यात् सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा॥१४॥

अतएव यश-अपयश, जय-पराजय, जन्म-मरण तथा इनसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख सभी ईश्वरके अधीन हैं, यह मानकर जीवोंको सभी अवस्थाओंमें समभावसे रहना चाहिए॥१४॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।

तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद स न बध्यते॥१५॥

सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं आत्माके नहीं। इन सत्त्वादि गुणोंके परिणामभूत इस देहमें अवस्थित आत्माको ही जो एकमात्र साक्षी मानते हैं, वे कभी हर्ष-विषादादिमें लिप्त नहीं होते॥१५॥

पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे।

घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया॥१६॥

इन्द्र! मुझे देखो! इस युद्धमें मेरा आयुध (अस्त्र) कट गया, मेरी भुजा छिन्न-भिन्न हो गयी और तुमने मुझे परास्त कर दिया, किन्तु तब भी मैं तुम्हारे प्राण लेनेकी इच्छासे इस संग्राम-स्थलीमें यथाशक्ति प्रयास कर रहा हूँ। मुझे इसका किञ्चित्मात्र भी दुःख नहीं है। इसी प्रकार तुम भी विषादका त्याग कर दो॥१६॥

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः।

अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः॥१७॥

हे शत्रु! तुम यह जान लो कि यह युद्ध द्यूत-क्रीड़ाके समान है। इसमें हमारे प्राणोंकी बाजी लगी है। बाण इसमें अक्ष (पासे) हैं, हाथी-घोड़े आदि वाहन इधर-उधर चलनेवाले चौसर हैं। पासा-क्रीड़ाके समान इसमें भी कोई नहीं जानता कि किसकी जय होगी और किसकी पराजय॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत्।

गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः॥१८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इन्द्रने वृत्रासुरके इन निष्कपट वचनोंको सुनकर उसकी प्रशंसा करते हुए वज्रको उठा लिया। इसके पश्चात् विस्मयादिका त्याग करके हँसते-हँसते उससे कहने लगे॥१८॥

श्रीइन्द्र उवाच—

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी।

भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥ १९ ॥

देवराज इन्द्रने कहा—हे दानव! तुम इस सङ्कट-भूमिमें खड़े हो तो भी तुम्हारे विवेक, धैर्यादि गुण और भक्तिमयी विलक्षण मति बिन्दुमात्र भी विचलित नहीं हुए हैं। तुम कोई सिद्ध पुरुष हो। तुमने अवश्य ही सर्वात्मा एवं सभीके सुहृद् भगवान् जगदीश्वरकी अनन्यभावसे सेवा की है ॥ १९ ॥

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम्।

यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥ २० ॥

अहो! तुमने जग-मोहिनी वैष्णवी (विष्णुकी) मायाको पार कर लिया है, अतः तुम्हारा असुर भाव दूर हो गया है। तुमने ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिसे युक्त महापुरुषत्वको प्राप्त कर लिया है ॥ २० ॥

खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रजःप्रकृतेस्तव।

वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥ २१ ॥

असुरोंकी प्रकृति सामान्यतः रजोगुणमयी होती है, किन्तु विशुद्ध सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवमें जो तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति है, वह वस्तुतः महान् आश्चर्यकी बात है ॥ २१ ॥

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥ २२ ॥

परममङ्गलस्वरूप भगवान् श्रीहरिमें जिनकी भक्ति है, वे अमृत-सागरमें क्रीड़ा करते हैं, उन्हें छोटे-छोटे गड्ढोंके जलके समान स्वर्गसे क्या प्रयोजन है ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रूवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप।

युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधां पती ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! वृत्रासुर एवं इन्द्र दोनोंने ही धर्मको जाननेकी अभिलाषासे परस्पर वार्तालाप करते हुए युद्ध करना आरम्भ कर दिया। दोनों ही प्रकृष्ट योद्धा थे और दोनों ही समानरूपसे शक्तिशाली थे॥२३॥

आविध्य परिघं वृत्रः कार्णायसमरिन्दमः।

इन्द्राय प्राहिणोद्घोरं वामहस्तेन मारिष॥२४॥

हे मारिष (मान्यवर)! शत्रुदमन वृत्रासुरने लोहेके बने हुए परिघको बायें हाथमें धारण किया और उसे आकाशमें घुमाते हुए इन्द्रको लक्ष्यकर उनपर फेंक दिया॥२४॥

स तु वृत्रस्य परिघं करञ्च परिघोपमम्।

चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा॥२५॥

इन्द्रने अपने सौ गाठोंवाले वज्रसे वृत्रासुर द्वारा चलाये गये परिघको और हाथीकी सूँड़ के समान उसके बायें हाथको एक ही साथ काट डाला॥२५॥

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः।

छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः॥२६॥

वृत्रासुरकी दोनों बाहें जड़से कट गयीं और उनमें-से बड़े वेगसे रक्त बहने लगा। उस समय उसका शरीर इस प्रकार शोभा पा रहा था, मानो इन्द्रके वज्रके प्रहारसे छिन्न-भिन्न होकर पड़्यों वाला कोई पर्वत आकाशसे गिर पड़ा हो॥२६॥

कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम्।

नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया॥२७॥

दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम्।

अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन्॥२८॥

गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम्।

जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम्॥२९॥

वृत्रासुर अत्यन्त प्रभावशाली तथा बलवान् दैत्य था। उसने अपनी ठोड़ीके निम्न भागको भूमिपर रखकर अपने ऊपरी होंठका स्वर्गतक विस्तार कर लिया। आकाशके समान विशाल शरीर, सर्पके समान भयङ्कर जिह्वा तथा मृत्युके समान विकराल दाढ़ोंके कारण वह ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो त्रिलोकीको निगल लेनेके लिये तत्पर हो। अत्यधिक ऊँचा, महाकाय वह असुर वेगपूर्वक पर्वतोंको उलटता-पलटता एवं अपने पैरोंकी चापसे पृथ्वीको रौंदता हुआ पैरोंसे चलनेवाले गिरिराजके समान इन्द्रके पास आया और उनके वाहन ऐरावत हाथीके साथ उन्हें इस प्रकार निगल (लील) गया जिस प्रकार महाकाय, महाबलशाली अजगर हाथीको निगल जाता है ॥२७-२९॥

महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्।

वृत्रग्रस्तं तमालोक्य सप्रजापतयः सुराः।

हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चक्रुः समहर्षयः ॥ ३० ॥

जब प्रजापति, महर्षि और देवताओंने देखा कि वृत्रासुरने इन्द्रको भी निगल लिया है, तो वे दुःखी अन्तःकरणसे 'हाय! हाय! बड़ा कष्ट है! हाय! बड़ा कष्ट है! यह कहते हुए विलाप करने लगे ॥३०॥

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः।

महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥ ३१ ॥

इन्द्र भगवान् नारायणसे अभिन्न नारायण-कवच (महापुरुष-विद्या) द्वारा सुरक्षित थे एवं उनके पास अपनी योगशक्तिका बल भी था। अतः असुरके उदरमें जाकर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई ॥३१॥

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षि निष्क्रम्य बलभिद्विभुः।

उच्चकर्त्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥ ३२ ॥

परमशक्तिशाली देवराज इन्द्र वज्रसे उसकी कोखको फाड़कर उसके उदरसे निकल गये और बड़े वेगसे पर्वतके शिखरके समान वृत्रासुरके ऊँचे सिरको काट डाला ॥३२॥

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन् समन्तात् परिवर्त्तमानः ।
न्यपातयत् तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥ ३३ ॥

वज्र अतिशय वेगवान् होनेपर भी वृत्रासुरकी गर्दनके चारों ओर घूमता रहा किन्तु वृत्रासुरकी गर्दनको उसके शरीरसे अलग करनेमें उसे एक वर्ष लग गया अर्थात् सूर्यादिके दक्षिण-उत्तर अयनमें गतिके तीन सौ साठ दिन बीतनेपर वृत्रासुर-वधका उचित-काल उपस्थित हुआ। उसी समय वज्र द्वारा कटकर वृत्रासुरका सिर भूमिपर गिर पड़ा ॥३३॥

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥ ३४ ॥

वृत्रासुरके मर जानेपर स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण वृत्र-संहारक इन्द्रका पराक्रम सूचित करनेवाले शौर्य मन्त्रोंसे उनका अभिनन्दन करने लगे तथा परम हर्षके साथ उनपर पुष्प-वर्षण करने लगे ॥३४॥

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिरिन्दम ।
पश्यतां सर्वदेवानामलोकं समपद्यत ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः ।

हे अरिन्दम्! उस समय वृत्रासुरकी देहसे जीवरूपी आत्मज्योति अर्थात् पार्षद-देहात्मक-प्रकाश बाहर निकला और समस्त देवताओंके

६/१२/३५]

द्वादशोऽध्यायः

४१३

सम्मुख ही लोकातीत भगवान् श्रीसङ्कर्षणके परमधाममें प्रविष्ट हो
गया ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके बारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

त्रयोदशोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके भयसे इन्द्रका पलायन और
भगवान् विष्णु द्वारा उनकी रक्षा

श्रीशुक उवाच—

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद।

सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महादानी राजन्! वृत्रासुरकी मृत्युके पश्चात् एकमात्र इन्द्रके अतिरिक्त त्रिभुवन तथा उनके लोकपालों सहित सभी तत्क्षण सन्तापरहित हो गये। सभीके अन्तःकरणोंमें आनन्द छा गया॥१॥

देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम्।

प्रतिजग्मुः स्वधिष्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः॥२॥

इसके पश्चात् देवता, ऋषि, पितर, भूत, दैत्य, देवताओंके अनुचर तथा ब्रह्मा, महेश्वर और इन्द्रादि अन्यान्य सभी लोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये। जाते समय किसीने भी इन्द्रसे किसी प्रकारका कोई वार्त्तालाप नहीं किया॥२॥

श्रीराजोवाच—

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने।

येनासन् सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत्॥३॥

राजा परीक्षितने कहा—हे मुने! देवराज इन्द्रकी अप्रसन्नताका क्या कारण था? मैं इसके विषयमें सुनना चाहता हूँ। जब वृत्रासुरके वधसे सभी देवतागण आनन्दित हो गये, तब इन्द्र स्वयं क्यों दुःखी थे?॥३॥

श्रीशुक उवाच—

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः।
तद्वधायार्थयन्त्रिन्द्रं नैच्छद्भीतो बृहद्वधात् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वृत्रासुरके पराक्रमसे समस्त ऋषिगण तथा देवतागण उद्विग्न हो गये थे। उन्होंने एकत्र होकर वृत्रासुर-वधके लिए इन्द्रसे प्रार्थना की, किन्तु ब्रह्म-हत्याके भयसे इन्द्रने उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया ॥४॥

श्रीइन्द्र उवाच—

स्त्रीभूद्रुमजलैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम्।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व माज्म्यहम् ॥ ५ ॥

देवराज इन्द्रने कहा—हे देवताओ एवं ऋषियो! विश्वरूपका वध करके मुझे जो ब्रह्महत्याका पाप लगा था, उसे तो स्त्री, भूमि, वृक्ष और जलने मुझपर अनुग्रह करके बाँट लिया, किन्तु यदि मैं वृत्रासुरका वध करता हूँ, तो इस ब्रह्महत्याका पाप किसे देकर मैं उससे मुक्त होऊँगा ॥५॥

श्रीशुक उवाच—

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन्।
याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मास्म भैः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—देवराज इन्द्रके इन वचनोंको सुनकर ऋषियोंने कहा—हे देवराज! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम इसके लिये भय मत करो। हम तुम्हारे द्वारा एक अश्वमेध यज्ञ करायेंगे, जिससे तुम समस्त पापोंसे मुक्त हो जाओगे ॥६॥

हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम्।
दृष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥

अश्वमेध यज्ञके द्वारा परमपुरुष परमात्मा भगवान् नारायणका अर्चन करके तुम समस्त जगत्के वध रूपी पापसे भी मुक्त हो सकते हो, फिर वृत्रासुर-वध जैसे तुच्छ पापकी तो बात ही क्या है ॥७॥

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्।
 श्वादः पुक्कशको वापि शुद्धयेरन् यस्य कीर्तनात्॥८॥
 तमश्वमेधेन महामखेन
 श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन।
 हत्वापि सब्रह्मचराचरं त्वं
 न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण॥९॥

हे देवराज! भगवान् श्रीनारायणके नामके जप मात्रसे ब्राह्मण, गाय, माता-पिता और आचार्यकी हत्या करनेवाला, यहाँ तक कि कुत्तेका माँस खानेवाला पापी चाण्डाल भी मुक्त हो जाता है, फिर तुम तो भक्तिमान् हो। हमारे द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध महायज्ञसे भगवान्का अर्चन करके तुम किसी भी प्रकारके पापसे लिप्त नहीं होओगे, चाहे तुमने ब्राह्मण समेत चराचर प्राणियोंकी हत्या ही क्यों न की हो। इस दुष्ट-प्रकृति वृत्रासुरके वधकी तो बात ही क्या है॥८-९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम्।
 ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम्॥१०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ऋषियोंके इस प्रकार अनुरोध करनेपर इन्द्रने उनके द्वारा प्रोत्साहित होकर वृत्रासुरका वध कर दिया। जब वृत्रासुर मारा गया, तब ब्रह्म हत्यारूपी पापने मूर्त होकर इन्द्रको घेर लिया॥१०॥

तयेन्द्रः स्मासहत् तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत्।
 ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः॥११॥

देवताओंके परामर्शसे ब्रह्म-हत्या करके इन्द्र अनुताप करने लगे। वृत्रासुरका वध करके उन्हें उसी प्रकार तनिक भी सुख प्राप्त नहीं हुआ, जिस प्रकार कोई निन्दनीय कार्य करके ऐश्वर्य तो प्राप्त कर ले, किन्तु लज्जा एवं सङ्कोचके कारण उसे किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं होता॥११॥

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम्।
 जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥ १२ ॥
 विकीर्य पलितान् केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम्।
 मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥ १३ ॥

इन्द्रने देखा कि मूर्तिमती ब्रह्महत्या चाण्डालीके समान उनके पीछे-पीछे चली आ रही है। बुढ़ापेके कारण उसके अङ्ग थर-थर काँप रहे हैं। वह स्वयं क्षय रोगसे ग्रस्त है, इसलिये उसके सारे वस्त्र रक्तसे सने हुए हैं। वह अपने सफेद केशोंको बिखराये हुए इन्द्रसे चिल्ला-चिल्ला कर कह रही है—ठहर जा, ठहर जा! उसकी श्वाससे मछलीकी गन्धके समान दुर्गन्ध निकल रही है, जिससे सारा मार्ग दूषित हो रहा है ॥ १२-१३ ॥

नभो गतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशाम्पते।

प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥ १४ ॥

हे राजन्! इन्द्र सर्वप्रथम आकाशकी ओर दौड़े। तत्पश्चात् चारों दिशाओंमें भागे। वे जहाँ-जहाँ भी गये, सभी स्थानोंपर उन्होंने उस चाण्डालीको अपने पीछे-पीछे आते हुए देखा। अन्ततः वे उत्तर-पूर्व कोणकी ओर गये और शीघ्र ही मानस-सरोवरमें प्रवेश कर गये ॥ १४ ॥

स आवसत् पुष्करनालतन्तू-
 नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः।
 वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः
 सञ्चिन्तयन् ब्रह्मवधाद्विमोक्षम् ॥ १५ ॥

इन्द्र उस मानसरोवरमें कमल-नालके तन्तुओंमें सहस्र वर्षों तक छिपकर निवास करते हुए ब्रह्म-हत्या-जनित पापसे मुक्तिका उपाय सोचते रहे। अग्नि देवता उनके लिये यज्ञ-भाग लाया करते थे परन्तु जलमें उनका प्रवेश असम्भव है। इस प्रकार देवराज इन्द्र बहुत समयतक भोजन-सामग्रीके अभावमें भूखे ही रहे ॥ १५ ॥

तावत् त्रिणाकं नहुषः शशास
 विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
 स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
 नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥ १६ ॥

जब तक इन्द्रने जलमें कमल-नालके तन्तुओंमें निवास किया, तब तक विद्या, तपस्या, योगबल और स्वर्ग-पालनकी शक्तिसे सम्पन्न राजा नहुषने स्वर्ग पर शासन किया, किन्तु सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यके गर्वसे राजा नहुषकी मति मारी गयी। नहुष इतने मदान्ध हो गये कि उनके मनमें इन्द्रकी पत्नी शचीका भोग करनेकी इच्छा जाग उठी, तब शचीने उन्हें ब्रह्मशाप दिलवा दिया, जिससे उन्हें सर्पयोनिमें जाना पड़ा। (एक बार नहुषने ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त होकर शचीदेवीसे कहा—इस समय मैं स्वर्गका राजा हूँ, अतः तुम्हें मेरी सेवा करनी चाहिये। साध्वी शचीदेवीने यह बात देवगुरु बृहस्पतिको बतलायी। बृहस्पतिजीने कहा—तुम उसके पास जाकर कहो कि ब्राह्मण द्वारा वहन की हुई पालकीपर सवार होकर आप मेरे पास आयें, मैं आपकी सेवा करूँगी। इस प्रकार वह ब्राह्मणके शापसे पतित हो जायेगा। शचीदेवीने जब नहुषको इस प्रकार कहा, तब उसने अगस्त्य आदि ब्राह्मणोंको शिविका वहन करनेके लिए आदेश दिया। नहुषने शचीके पास शीघ्रतापूर्वक पहुँचनेके लिए 'शीघ्रम् सर्प! सर्प!' जल्दी चलो, जल्दी चलो, इस प्रकार कहते हुए अगस्त्यके मस्तकको अपने पैरोंसे स्पर्श कर दिया। तब अगस्त्यने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया 'तुम सर्प हो जाओ') ॥ १६ ॥

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहृत
 ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
 पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
 स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥ १७ ॥

तदनन्तर समस्त दिशाओंके देवता श्रीरुद्रके प्रभावसे इन्द्रका ब्रह्महत्या जनित पाप निस्तेज हो गया तथा मानस-सरोवरके

कमलकुञ्जोंमें निवास करनेवाली श्रीलक्ष्मीदेवी द्वारा भी उन्हें सुरक्षा प्राप्त थी, इसलिये ब्रह्महत्या उनका कुछ अनर्थ न कर सकी। देवराज इन्द्र स्वयं भी सत्यपालक भगवान् श्रीहरिका नित्य निरन्तर स्मरण करते थे, जिससे वे इस ब्रह्म-हत्याके पापसे पूर्णतः मुक्त हो गये। इसके पश्चात् स्वर्गके ब्राह्मणों द्वारा आमंत्रित होकर वे पुनः स्वर्गलोक पहुँचे ॥१७॥

तच्च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत।

यथावद्दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥ १८ ॥

हे राजन्! देवराज इन्द्रके स्वर्ग पहुँचनेपर ब्रह्मर्षिगण उनके निकट आये और उन्हें भगवान् नारायणकी आराधनामें प्रधान अश्वमेध यज्ञमें यथाविधि दीक्षित किया ॥१८॥

अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि।

अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥ १९ ॥

स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप।

नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥ २० ॥

ब्रह्मवादी ऋषियोंद्वारा अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञमें देवराज इन्द्रने सर्वदेवमय परमपुरुष श्रीभगवान्की अर्चना की। इसके पश्चात् हे राजन्! उनका ब्रह्महत्या वधजनित पाप अति प्रबल होनेपर भी उसी प्रकार भस्मसात् हो गया, जिस प्रकार सूर्यके उदित होनेपर उनके तेज-प्रकाशसे कुहरा नष्ट हो जाता है ॥१९-२०॥

स वाजिमेधेन यथोदितेन

वितायमानेन मरीचिमिश्रैः।

इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-

मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥ २१ ॥

मरीचि आदि प्रधान ऋषियोंके द्वारा यथाविधि अनुष्ठित यज्ञमें देवराज इन्द्र यज्ञेश्वर पुराणपुरुष श्रीभगवान्का अर्चन करके समस्त पापोंसे मुक्त होकर पूर्ववत् सभी लोकोंके पूजनीय हो गये ॥२१॥

इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
 प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम्।
 भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
 महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः ॥ २२ ॥
 पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः
 शृण्वन्त्यथो पर्वणि पर्वणीन्द्रियम्।
 धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं
 रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथायुषम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीइन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

परीक्षित्! यह उपाख्यान अतिशय महत्वपूर्ण है। इसमें तीर्थपद
 भगवान् श्रीनारायणके माहात्म्यका वर्णन, भक्तिके उत्कर्षका प्रतिपादन,
 भगवान्के प्रिय भक्तोंका वर्णन, देवराज इन्द्रकी ब्रह्म-हत्या जनित
 पापसे मुक्ति और असुरोंके साथ हुए युद्धमें उनकी जय-प्राप्तिका
 वर्णन है। यह उपाख्यान समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाला
 है। विद्वज्जन इस उपाख्यानका सदा-सर्वदा पाठ करें एवं प्रत्येक
 पर्वपर इसका श्रवण-कीर्तन करें। इसके श्रवण-कीर्तनसे इन्द्रियोंकी
 पटुता, धनकी वृद्धि, यशकी वृद्धि, समस्त प्रकारके पापोंका क्षय,
 शत्रुओंपर विजय तथा आयुकी वृद्धि होती है और सब प्रकारसे
 कल्याण होता है ॥२२-२३॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके तेरहवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

चित्रकेतु महाराजका चरित्र-वर्णन

श्रीपरीक्षिदुवाच—

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः।

नारायणे भगवति कथमासीद्वृद्धा मतिः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! वृत्रासुरका स्वभाव तो रजोगुण एवं तमोगुणसे सम्पन्न था, फिर ऐसे पापात्माकी भगवान् नारायणमें दृढ़ भक्ति किस प्रकार हो गयी? ॥१॥

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणाञ्चामलात्मनाम्।

भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २ ॥

विशुद्ध सत्त्वगुणमें अधिष्ठित देवताओंकी एवं भोगमलसे रहित निर्मलात्मा ऋषियोंकी भी प्रायः भगवान् मुकुन्दके चरणोंमें भक्ति नहीं होती, फिर पापी वृत्रासुरकी भगवान्के चरणोंमें भक्ति किस प्रकार हो गयी? ॥२॥

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।

तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥

इस जगत्में पार्थिव परमाणु (धूलके कण) जिस प्रकार असंख्य हैं, उसी प्रकार जीवोंकी संख्या भी असंख्य है—उनकी गणना नहीं की जा सकती। इन समस्त जीवोंमें मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है और उनमें भी किसी-किसीकी ही धर्मानुष्ठानमें रुचि होती है ॥३॥

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।

मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥

हे द्विजोत्तम! इन धर्मानुष्ठान करनेवालोंमें बहुत ही विरले ऐसे होते हैं, जो मोक्षकी इच्छा करते हैं। उन हजारों मुमुक्षुओंमें भी

कदाचित् कोई व्यक्ति ही गृहादि असत् सङ्गसे मुक्त हो पाता है। इन असत् सङ्गरहित व्यक्तियोंमें भी कोई दुर्लभ व्यक्ति ही भगवान्‌के तत्त्वको जान पाता है ॥४॥

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥५॥

हे महामुने! इन करोड़ों मुक्त एवं सिद्धजनोंमें भी ऐसा प्रशान्तात्मा शुद्ध भक्त अत्यन्त दुर्लभ है, जो एकमात्र भगवान् श्रीनारायणके ही परायण हो ॥५॥

वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः।

इत्थं दृढमतिः कृष्णे आसीत् संग्रामे उल्बणे ॥६॥

वृत्रासुर अत्यन्त पापी एवं सभी लोगोंको सन्तप्त करनेवाला था। भयङ्कर युद्धस्थलमें उपस्थित रहनेपर भी उसकी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति ऐसी दृढ़ मति किस प्रकार हो गयी? ॥६॥

अत्र नः संशयो भूयान् श्रोतुं कौतूहलं प्रभो।

यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥७॥

हे प्रभो! जिस वृत्रासुरने युद्धक्षेत्रमें अपनी वीरताका प्रदर्शन करके सहस्राक्ष इन्द्रको भी सन्तुष्ट कर दिया था, उस पापीमें किस प्रकार भक्तिका उदय हुआ, इस विषयमें मुझे बड़ा सन्देह है। अतः इसका कारण बतलाइए, इसे सुननेके लिए मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥७॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितोऽथ संप्रश्नं भगवान् बादरायणिः।

निशम्य श्रद्धधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥८॥

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! इसके पश्चात् श्रद्धालु परीक्षितके द्वारा इस प्रकारका युक्तियुक्त प्रश्न पूछे जानेपर श्रीशुकदेवजीने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा— ॥८॥

श्रीशुक उवाच—

शृणुष्वावहितो राजत्रितिहासमिमं यथा।

श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदादेवलादपि ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! तुम्हारे प्रश्नके सम्बन्धमें द्वैपायन वेदव्यास, नारद एवं देवल ऋषिके मुखसे मैंने जो सुना है, वही इतिहास मैं तुम्हारे समक्ष यथारूप कहता हूँ। तुम सावधान होकर इसे श्रवण करो ॥९॥

आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप।

चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत् कामधुङ्मही ॥ १० ॥

हे राजन्! शूरसेन देशमें चित्रकेतु नामके एक चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके राज्यकालमें पृथ्वी कामधुक् अर्थात् सभीकी मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाली थी ॥१०॥

तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन्।

सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥ ११ ॥

महाराज चित्रकेतुकी एक करोड़ पत्नियाँ थीं। सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ होनेपर भी उन्हें अपनी किसी भी पत्नीसे सन्तान प्राप्त नहीं हुई, दैवयोगसे उनकी सभी पत्नियाँ बन्ध्या (बाँझ) थीं ॥११॥

रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।

सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत् ॥ १२ ॥

महाराज चित्रकेतु रूप, उदारता, युवावस्था, सत्कुलमें जन्म, विद्या, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि समस्त गुणोंसे अलङ्कृत होनेपर भी सन्तानके अभावमें बड़े चिन्तित रहा करते थे ॥१२॥

न तस्य सम्पदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः।

सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन् प्रीतिहेतवः ॥ १३ ॥

समस्त प्रकारकी सम्पत्तियाँ, अनेक सुन्दर-सुलोचना पत्नियाँ तथा पृथ्वीका एकछत्र साम्राज्य होनेपर भी महाराज चित्रकेतु सन्तुष्ट न थे ॥१३॥

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरत्रेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥ १४ ॥

एक समय महर्षि अङ्गिरा स्वच्छन्दरूपसे समस्त लोकोंका भ्रमण करते-करते महाराज चित्रकेतुके महलमें उपस्थित हुए ॥१४॥

तं पूजयित्वा विधिवत् प्रत्युत्थानार्हणादिभिः।
कृतातिथ्यमुपासीदत् सुखासीनं समाहितः ॥ १५ ॥

महाराज चित्रकेतु महर्षि अङ्गिराकी अभ्यर्थनाके लिए अपने सिंहासनसे तुरंत उठ खड़े हुए और अर्घ्य-पाद्यादिद्वारा उनकी विधिवत् पूजा की। तत्पश्चात् भोजनादि द्वारा यथोचित आदर-सत्कार किया। जब महर्षि सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हो गये, तब राजा स्वयं शान्त चित्तसे ऋषिके समीप ही बैठ गये ॥१५॥

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ।
प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

हे महाराज! अङ्गिरा ऋषिने जब महाराज चित्रकेतुको अति विनीत भावसे सिर झुकाकर पृथ्वीपर अपने चरणोंके निकट बैठे देखा, तो वे बड़े आदरके साथ उन्हें सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥१६॥

श्रीअङ्गिरा उवाच—

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान् राजा च सप्तभिः ॥ १७ ॥

अङ्गिरा ऋषिने कहा—महाराज! आप शारीरिकरूपसे स्वस्थ तो हैं न? आपके मन्त्री आदि प्रकृति, समुदायरूपी पार्षदवर्ग सकुशल तो हैं न? जिस प्रकार जीव महत्, अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ (इन्द्रिय-तर्पणके पाँच पदार्थ) इन सात आवरणोंसे घिरा रहता है और इनके बिना क्षणभरके लिए भी नहीं रह सकती, उसी प्रकार राजा भी स्वामी (गुरु) मन्त्री, राज्य, दुर्ग, कोष, दण्ड (राजाज्ञा) एवं मित्र-इन सात प्रकृतियोंसे सुरक्षित

रहकर सुखी रहता है। इनके बिना क्षणभरके लिए भी उसका राज्य नहीं रह सकता ॥१७॥

आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात्।

राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥ १८ ॥

हे नृदेव! यदि राजा इन सात प्रकृतियोंके अनुकूल रहकर चलता है, तो वह राज्य सुखादि प्राप्त कर सकता है और इसी प्रकार ये प्रकृतियाँ भी धनादि राजाको अर्पण करके राजापर आश्रित रहकर उसके अनुकूल भावसे चलें, तो वे भी सुख समृद्धि लाभ कर सकती हैं ॥१८॥

अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः।

पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्त्तिनः ॥ १९ ॥

हे महाराज! आपकी पत्नियाँ, प्रजा, मन्त्री, सेवक, तैलिक, ताम्बूलिक आदि व्यापारी, अमात्य(दीवान), नगरवासी, मण्डलेश्वर राजा (राज्यपालादि) एवं पुत्रादि आपके वशमें तो हैं न ॥१९॥

यस्यात्मानुवशश्चेत् स्यात् सर्वे तद्वशगा इमे।

लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः ॥ २० ॥

यदि राजाका चित्त अपने वशमें रहता है, तो उसकी पत्नियाँ आदि सभी उसके वशीभूत रहते हैं। अधिक क्या! सभी लोग अपने प्रान्त-पालकों सहित अनलस भावसे उस राजाको पूजा-उपहार प्रदान करते हैं। (सेवकादिके विषयमें तो कहना ही क्या है?) ॥२०॥

आत्मना प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा।

लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥ २१ ॥

हे राजन्! मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा चित्त प्रसन्न नहीं है। लगता है कि तुम्हारा कोई मनोरथ तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ है। तुम्हारा मुख चिन्तासे ग्रसित हो रहा है, यह स्वतः ऐसा ही है या अन्य किसी कारणसे हुआ है? ॥२१॥

एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनापि सः।

प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥ २२ ॥

परीक्षित्! अङ्गिरा ऋषि सर्वज्ञ हैं। वे राजाके विषयमें सब कुछ जानते थे। उन्होंने राजासे विविध प्रकारके प्रश्न किए। राजाको पुत्रकी कामना थी, अतः वे विनीत भावसे अङ्गिरा ऋषिसे कहने लगे ॥ २२ ॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

भगवन् किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः।

योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु ॥ २३ ॥

राजा चित्रकेतुने कहा—हे महात्मन्! तपस्या, ज्ञान एवं समाधि द्वारा सम्पूर्ण पापोंका ध्वंस कर देनेवाले आप जैसे योगियोंके लिए हम जैसे बद्ध प्राणियोंकी ऐसी आन्तरिक या बाह्य कौनसी बात है, जो अज्ञात हो? ॥ २३ ॥

तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मत्रात्मनि चिन्तितम्।

भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥ २४ ॥

हे महात्मन्! आप सर्वज्ञ होकर भी मुझसे मेरी चिन्ताके विषयमें पूछ रहे हैं, अतः मैं आपकी आज्ञासे प्रेरित होकर अपनी मानसिक चिन्ताका कारण आपके समक्ष प्रकाशित करता हूँ ॥ २४ ॥

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः।

न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृटकाममिवापरे ॥ २५ ॥

भूखे-प्यासे व्यक्तिको जिस प्रकार अन्न-पानीय वस्तुएँ ही सुख दे सकती हैं, पुष्प-माला या चन्दनादि सुख नहीं दे सकते, उसी प्रकार मेरे पास लोकपालों द्वारा वाञ्छित साम्राज्य, ऐश्वर्य, सम्पत्ति तो हैं, परन्तु पुत्रका अभाव होनेके कारण ये सब मुझे सुख नहीं देते ॥ २५ ॥

ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः।

यथा तरेम दुष्पारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥ २६ ॥

अतएव हे महाभाग! आप मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मैं पुत्र प्राप्त कर सकूँ और मेरे पिता-पितामह आदि पितर घोर नरकसे मुक्ति पा सकें। पुत्र द्वारा दिये गये पिण्ड-दानसे ही हम लोक-परलोकके दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे॥२६॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः।

श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार महाराज चित्रकेतुने परम कृपालु, विभु, सामर्थ्यवान् ब्रह्मपुत्र अङ्गिराके समक्ष अपना अभीष्ट प्रकाशित किया। तब अङ्गिरा ऋषिने त्वष्ट्र देवताके उद्देश्यसे चरु (खीर) निर्माण करके उससे महाराज चित्रकेतु द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराया॥२७॥

ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणाञ्च भारत।

नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद्विजः॥ २८॥

हे भारत! महाराज चित्रकेतुकी रानियोंमें जो सर्वाधिक सुशील और सबसे बड़ी थी अर्थात् सबसे पहले विवाहिता थी, उसका नाम 'कृतद्युति' था। अङ्गिरा ऋषिने उसीको यज्ञ-भाग प्रदान किया॥२८॥

अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः।

हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ॥ २९॥

राजाको यज्ञका अवशेष प्रसाद प्रदान करके महर्षि अङ्गिराने कहा—हे राजन्! तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा, जो तुम्हें हर्ष एवं शोक दोनों प्रदान करेगा। (पुत्र जन्मसे हर्ष तथा उसकी मृत्युसे शोक होगा यही मुनिका अभिप्राय था, किन्तु राजाने समझा कि पुत्र बहुतसे गुणोंसे युक्त होनेके कारण हर्ष देनेवाला होगा और ऐश्वर्यके कारण गर्वोन्नत हो जानेसे वह शोक देनेवाला होगा।) यह कहकर अङ्गिरा ऋषि वहाँसे चले गये॥२९॥

सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत्।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥ ३० ॥

कृतद्युतिने अङ्गिराद्वारा सम्पन्न यज्ञावशिष्ट प्रसादको खाकर महाराज चित्रकेतुसे उसी प्रकार गर्भ धारण किया, जिस प्रकार कृत्तिकाने अग्निसे महादेव-वीर्यको प्राप्त करके स्कन्द (कार्तिकेय) नामक पुत्रको अपने गर्भमें धारण किया था ॥३०॥

तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोदुपः।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥ ३१ ॥

हे राजन्! शूरसेन देशके अधिपति राजा चित्रकेतुके तेजसे राजमहिषी कृतद्युतिने जो गर्भ धारण किया था, वह शुक्लपक्षीय चन्द्रमाके समान दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥३१॥

अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायतः।
जनयन् शूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥ ३२ ॥

इसके पश्चात् उचित समय आनेपर राजपुत्रने जन्म ग्रहण किया। इस समाचारको सुनकर शूरसेन देशवासी अत्यन्त आनन्दित हो गये ॥३२॥

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः।
वाचयित्वाशिषो विप्रैः कारयामास जातकम् ॥ ३३ ॥

पुत्र प्राप्तिका संवाद सुनकर राजा चित्रकेतुके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने स्नानादिसे पवित्र होकर अलङ्कारादि धारण किये और ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर अपने पुत्रका स्वस्तिवाचन तथा जातकर्म संस्कार सम्पन्न कराया ॥३३॥

तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च।
ग्रामान् हयान् गजान् प्रादाद्धनूनामर्बुदानि षट् ॥ ३४ ॥

राजाने समस्त ब्राह्मणोंको स्वर्ण, रजत, वस्त्र, आभूषण, गाँव, घोड़े, हाथी आदि और छह अर्बुद् अर्थात् साठ करोड़ गौएँ दान कीं ॥३४॥

ववर्ष कामानन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार मेघ बिना पक्षपातके जलका वर्षण करते हैं, महामति राजा चित्रकेतुने भी उसी प्रकार राजकुमारके यश, धन और आयुकी वृद्धिके लिए सभी लोगोंको उनकी इच्छित वस्तुएँ प्रदान कीं ॥ ३५ ॥

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्द्धत ॥ ३६ ॥

तदनन्तर जिस प्रकार दरिद्र व्यक्तिको यदि कठिनाईसे कुछ धन प्राप्त हो जाय, तो दिन-प्रतिदिन उस धनमें उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है, उसी प्रकार कठिनाईसे प्राप्त हुए पुत्रके प्रति राजर्षि चित्रकेतुकी स्नेहासक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी ॥ ३६ ॥

मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

पिताके समान माता कृतद्युतिका भी पुत्रके प्रति मोहजनित आत्यन्तिक स्नेह क्रमशः बढ़ने लगा। इधर कृतद्युतिको पुत्रवती देखकर महाराज चित्रकेतुकी अन्य पत्नियोंमें पुत्र-कामनाके कारण ऐसा परिताप होने लगा, मानो उनको ज्वर हो गया हो ॥ ३७ ॥

चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति।
न तथान्येषु सज्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥ ३८ ॥

बालकका निरन्तर लालन-पालन करनेके कारण महाराज चित्रकेतुका अपने पुत्रके प्रति स्नेह प्रगाढ़ होता गया तथा अपनी पुत्रवती पत्नी कृतद्युतिके प्रति भी उनकी आत्यन्तिक प्रीति बढ़ती गयी। अन्य रानियोंके प्रति उनका पहले जैसा प्रेम न रहा ॥ ३८ ॥

ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया।
आनपत्येन दुःखेन राज्ञश्चानादरेण च ॥ ३९ ॥

अन्य राजपत्नियाँ सन्तान न होनेके कारण पहलेसे ही दुःखी थीं। इसपर राजाकी उपेक्षाने उन्हें और भी सन्तप्त कर दिया। वे ईर्ष्याके कारण स्वयंको धिक्कारती हुई इस प्रकार अनुताप करने लगीं ॥३९॥

धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम्।

सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥४०॥

जिस स्त्रीके सन्तान नहीं होती, पति जिसको गृहिणी मानकर सम्मान नहीं करता और पतिकी अन्य पुत्रवती पत्नियाँ जिसका दासीके समान तिरस्कार करती हैं, ऐसी पापिनी स्त्रीको धिक्कार है ॥४०॥

दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया।

अभीक्षणं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥४१॥

दासियाँ भी अपने पतियोंकी निरन्तर सेवा करके उनसे सम्मान प्राप्त करती हैं। अतः इन दासियोंको भला क्या दुःख है? हाय! हम तो दासियोंकी भी दासी हैं, उनसे भी गयी बीती हैं। हम बड़ी मन्दभागा हैं ॥४१॥

एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा।

राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥४२॥

राजन्! महाराज चित्रकेतुकी अन्य सन्तानहीन पत्नियोंके हृदयोंमें एक और तो सौत कृतघ्नतिको पुत्र-रूपी सम्पत्ति प्राप्त हो जानेके कारण ईर्ष्या हो रही थी और दूसरी ओर राजा द्वारा उपेक्षित हो जानेसे उन सभीके हृदयोंमें प्रबल विद्वेष उत्पन्न हो गया था ॥४२॥

विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः।

गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥४३॥

द्वेष बढ़नेके कारण सभी रानियोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। राजाके द्वारा उपेक्षित व्यवहार भी उनसे सहा नहीं जा रहा था। इन कारणोंसे उनका चित्त अत्यन्त कठोर हो गया और अन्ततः इन सौतोंने उस बालकको विष दे दिया ॥४३॥

कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत्।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद्गृहे ॥४४॥

महारानी कृतद्युतिको अन्य रानियोंके इस घोर पापके विषयमें कुछ भी पता न चला। बालकको सोया जानकर वे भवनमें इधर-उधर विचरण करने लगीं ॥४४॥

शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥४५॥

बालकको बहुत देर तक सोया देखकर रानी कृतद्युतिको चिन्ता हुई। उन्होंने धायको, 'हे भद्रे! मेरे पुत्रको मेरे निकट ले आओ।' यह कहकर पुत्रको लानेके लिए भेजा ॥४५॥

सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम्।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि ॥४६॥

सोये हुए बालकके निकट जाकर धायने देखा कि बालकके नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी हैं। देहमें प्राणोंका सञ्चार नहीं है, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गयी हैं, आत्मा उसे छोड़कर चली गयी है। यह देखते ही 'हाय! मैं मारी गयी' यह कहकर वह धाय भूमिपर गिर पड़ी ॥४६॥

तस्यास्तदाकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्तयाः कराभ्यामुर उच्चकैरपि।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयात्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥४७॥

वह धाय अत्यन्त व्याकुल होकर दोनों हाथोंसे अपने वक्षःस्थलको पीटते हुए उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगी। रानी कृतद्युति उसका यह आर्त स्वर सुनकर शीघ्रतापूर्वक पुत्रके समीप पहुँची और देखा कि वह सहसा ही मर गया है ॥४७॥

पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥४८॥

महारानी अपने पुत्रको हठात् मृत देखकर परम शोकमें डूब गयीं। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये, सारे केश बिखर गये और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥४८॥

ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम्।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखिता-
स्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥४९॥

हे राजन्! इसके पश्चात् उनका रोना सुनकर अन्तःपुरमें रहनेवाले सभी नर-नारियाँ वहाँ दौड़े चले आये और रानीके समान ही दुःखी होकर रोने लगे। वे अपराधिनी रानियाँ भी वहाँ आकर कपटतापूर्वक रोनेका अभिनय करने लगीं ॥४९॥

श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन् स्वलन् पथि।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥५०॥

पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः।
दीर्घं श्वसन् बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥५१॥

राजा चित्रकेतुने जब अपने पुत्रकी आकस्मिक मृत्युका समाचार सुना, तो उनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया। अत्यधिक पुत्रानुरागके कारण उनका शोक जलती हुई अग्निके समान बढ़ने लगा। मार्गमें बार-बार गिरते-पड़ते, लड़खड़ाते उस स्थानपर पहुँचते ही वे मूर्च्छित हो गये। राजा लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहे थे। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे, केश इधर-उधर बिखर गये थे। मन्त्री और ब्राह्मणादि प्रकृति वर्ग उनके साथ था। वे मृत बालकके पास पहुँचकर उसके पैरोंमें गिर पड़े। इसके बाद मूर्च्छा

दूर होनेपर पुनः निःश्वास छोड़ने लगे। आँसुओंके कारण उनका गला रूँध गया तथा राजा चित्रकेतु कुछ बोल न सके ॥५०-५१॥

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतञ्च बालं सुतमेकसन्ततिम्।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥५२॥

पतिको अत्यधिक शोकसन्तप्त और वंशके एकमात्र अङ्कुर अपने बालकको मृत देखकर रानी कृतद्युति नाना प्रकारसे विलाप करने लगीं। उनके साथ अन्तःपुरके सभी लोगों, मन्त्रियों और ब्राह्मणोंके हृदयकी वेदना भी अत्यन्त बढ़ गयी ॥५२॥

स्तनद्वयं कुङ्कुमपङ्कमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः।
विकीर्य केशान् विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥५३॥

राजमहिषी कृतद्युतिके खुले केशोंसे पुष्प-मालाएँ बिखर गयीं, अञ्जन युक्त आँखोंसे आँसुओंकी धारा उमड़कर कुङ्कुम-रंजित और सुवासित वक्षःस्थलको भिगोने लगी। जिस प्रकार विरहाविष्ट कुररी नामक पक्षी दारुण विलाप करता है, उसी प्रकार वे भी अपने पुत्रके लिए विलाप करने लगीं ॥५३॥

अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो
यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परे नु जीवत्यपरस्य या मृति-
विपर्ययश्चेत् त्वमसि ध्रुवः परः ॥५४॥

हा विधाता! तुम सृष्टि-विषयमें बड़े अनभिज्ञ हो। पिताके जीवित रहते हुए पुत्रकी मृत्यु, तुम स्वयं अपनी ही सृष्टिके विरुद्ध आचरण कर रहे हो। वृद्ध जीवित रहें और बालक मर जाएँ, यह कैसा नियम है। ऐसा विपरीत आचरण यदि तुम्हें मान्य है, तब तो तुम प्राणियोंके शत्रु हो, कृपालु नहीं ॥५४॥

न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
 शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः।
 यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
 स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि॥५५॥

यदि तुम कहो कि पुत्रके जीवित रहते पिताकी मृत्यु हो और पिताके जीवित रहते पुत्रका जन्म हो—जन्म-मरणके सम्बन्धमें ऐसा कोई नियम नहीं है, अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्राणियोंका जन्म और मरण होता है तो ऐसा होनेपर ईश्वरकी आवश्यकता ही क्या है? जड़ कर्मोंकी प्रबलताके द्वारा जन्म-मरण होते रहेंगे। पुनः यदि तुम कहो कि जड़में अपनी कोई क्रिया शक्ति नहीं होती, इसलिये कर्मोंके नियन्त्रारूपमें ईश्वरकी आवश्यकता होती है तब अपनी सृष्टिकी वृद्धिके लिये तुमने जो स्नेह-बन्धन निर्मित किये हैं, पुत्रादिके मरणसे उन स्नेह बन्धनोंको तुम स्वयं ही छिन्न कर रहे हो। पुत्र-स्नेहके कारण ऐसा दुःख देखकर कोई अपने बालकोंसे भला क्यों स्नेह करेगा? अतः स्नेहके अभावमें पुत्रादि जीवित न रह सकेंगे और क्रमशः सृष्टिका लोप हो जायेगा। अतः तुम मूर्ख ही हो॥५५॥

त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
 त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम्।
 अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद्-
 ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम्॥५६॥

हे वत्स! तुम्हारे बिना मैं अति कातर और दीन हो रही हूँ। मुझे इस प्रकार त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है, एक बार अपने शोक-सन्तप्त पिताको देखो, पुत्रहीनोंको नरकमें घोर यातना मिलती है, तुम्हारे द्वारा ही उससे हमारी रक्षा हो सकती है, अतएव हे पुत्र! तुम इस निर्दयी यमके साथ और अधिक दूर मत जाओ॥५६॥

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
 स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम्।
 सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान् परीतो
 भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम्॥५७॥

हे तात! हे राजकुमार! तुम्हें सोते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया है, अब उठो! तुम्हारे साथी बालक तुम्हें खेलनेके लिये बुला रहे हैं, तुम्हें भूख लग रही होगी, उठो बेटा! स्तन-पान करो एवं हम सबका शोक दूर करो॥५७॥

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
 मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम्।
 किं वा गतोऽस्य पुनरन्वयमन्यलोकं
 नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते॥५८॥

प्रिय पुत्र! मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ। देखो, मैं तुम्हारे समीप आकर भी तुम्हारे मुख-कमलपर मृदुहास्य और आमोदभरी चितवन नहीं देख पा रही हूँ। क्या तुम वहाँ चले गये, जहाँसे कोई नहीं लौटता। निर्दयी यमराज क्या तुम्हें उसी लोकमें ले गया है? मुझे तुम्हारी मधुर बोली सुनायी नहीं पड़ रही है॥५८॥

श्रीशुक उवाच—

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः।
 चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥५९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा परीक्षित! जब सम्राट् चित्रकेतुने देखा कि उनकी पत्नी मृत पुत्रके लिये भाँति-भाँतिसे विलाप कर रही है तो वे स्वयं भी शोकसे सन्तप्त होकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगे॥५९॥

तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः।
 रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम्॥६०॥

राजा-रानीके इस प्रकार विलाप करनेपर उनके अनुयायी नर-नारियाँ भी रोने लगे। इस आकस्मिक दुर्घटनासे राज्यके सभी लोग शोक-सन्तप्त होकर अचेतन हो गये॥६०॥

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम्।

ज्ञात्वाङ्गिरा नाम ऋषिराजगाम सनारदः॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतूपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः।

प्रिय परीक्षित्! जब श्रीनारद और अङ्गिरा ऋषिने देखा कि महाराज चित्रकेतु दुःखसे सन्तप्त होकर अनाथ और मृतप्राय हो गये हैं, तब वे दोनों उस स्थानपर उपस्थित हुए॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके चौदहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको अङ्गिरा और नारदजीका उपदेश

श्रीशुक उवाच—

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम्।

शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! पुत्र शोकसे आतुर होकर महाराज चित्रकेतु मृत बालकके समीपमें ही शवके समान पड़े हुए थे। यह देखकर देवर्षि नारद और महर्षि अङ्गिराने उन्हें विविध प्रकारके सदुपदेशोंके द्वारा समझाते हुए इस प्रकार कहा— ॥१॥

कोऽयं स्यात् तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति।

त्वञ्चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥ २ ॥

हे राजेन्द्र! तुम जिसके लिए इतना शोक कर रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? अथवा तुम इसके बन्धुओंमें-से कोई हो? यदि कहो कि इस सृष्टिमें यह मेरा पुत्र है और मैं इसका पिता हूँ, तो हम तुमसे पूछते हैं कि पूर्व जन्मोंमें इससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध था, इस समय क्या है और भविष्यमें क्या होगा? ॥२॥

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः।

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥ ३ ॥

राजन्! जल-प्रवाहके वेगसे बालुके कण जिस प्रकार मिलते हैं और बिछुड़ते हैं, उसी प्रकार प्राणी भी कालके नियमानुसार कभी एक साथ मिल जाते हैं और कभी एक दूसरेको छोड़कर चल देते हैं ॥३॥

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।

एवं भूतानि भूतेषु चोदितानीशमायया ॥ ४ ॥

धान्यादि बीजोंको जब धरतीमें बोया जाता है, तो कभी उनसे बीज उत्पन्न होता है (और कभी तो उनके अङ्कुर-उत्पादनकी शक्ति ही नष्ट हो जाती है) और कभी नहीं। इसी प्रकार भगवत्-मायाके द्वारा प्रेरित प्राणी कभी पुत्रादिरूपमें पितादिसे जन्म लेते हैं और कभी नहीं। कभी-कभी उत्पन्न होनेके साथ-ही-साथ मर भी जाते हैं (गर्भ ही नहीं ठहरता)। अतः ऐसे नश्वर सम्बन्धके लिए शोक करना उचित नहीं है ॥४॥

वयञ्च त्वञ्च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः ।

जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्मैवमधुनापि भोः ॥५॥

हे राजन्! तुम, मैं और यह समस्त चराचर जगत्—जो इस वर्तमान कालमें एक साथ दिखायी दे रहे हैं, ये हम सब जन्मके पहले एक साथ नहीं थे और न ही मृत्युके बाद एक साथ रहेंगे। इसलिए यही सोचो कि इस समय भी हम साथ नहीं हैं। यह जो तुम हम सबको साथ देख रहे हो—वह तो आदि अन्तसे रहित स्वप्नके समान मिथ्या है अर्थात् अवास्तव वस्तु है। इनमें-से किसीकी भी वास्तविक सत्ता नहीं है। कारण कि जो त्रैकालिक नहीं है, वह वास्तव सत्यनहीं है। (मायावादियोंके सिद्धान्तके अनुसार भी सम्पूर्णरूपसे अस्तित्वशून्य न होनेपर भी दैहिक स्थिति नित्य सत्य नहीं है। अतः वह स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंके समान वास्तव अस्तित्वसे रहित है) ॥५॥

भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्ति च ।

आत्मसृष्टैस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥६॥

समस्त प्राणियोंके अधिपति भगवान् जगदीश्वर जगत्की सृष्टिके विषयमें निरपेक्ष हैं। वे बालकोंके समान बिना किसी इच्छाके अपने द्वारा सृष्ट-स्वतन्त्र अथवा स्ववशीभूत प्राणियोंके द्वारा पिताके रूपमें समस्त प्राणियोंका सृजन, राजाके रूपमें पालन और सर्पादिरूपमें विनाश कराते हैं। अतः सृष्टि आदि कार्योंमें परतन्त्र प्राणियोंका कोई कर्त्तापन नहीं है। मायाके वशीभूत होकर वे केवल अपनेमें कर्त्ताका अभिमान कर लेते हैं ॥६॥

देहेन देहिनो राजन् देहाद्देहोऽभिजायते।

बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः ॥७॥

बीजसे जिस प्रकार बीजकी उत्पत्ति होती है, हे राजन्! उसी प्रकार पिताकी देह द्वारा माताकी देहसे पुत्र-देहकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि देही अर्थात् जीवात्मा तो भूमिके समान नित्य है। बीजकी उत्पत्ति-स्थल भूमिपर जिस प्रकार कोई परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार देह-सृष्टि आदि कार्योंसे देही आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता। तुमने आत्माकी सृष्टि नहीं की, इसलिए आत्मासे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है (देहका जन्मादि व्यवहार प्रसिद्ध है किन्तु देही आत्माका नहीं, यह शाश्वत है, अतएव किसलिए शोक कर रहे हो?) ॥७॥

देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः

पुरा।

जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ॥८॥

(यदि तुम कहो कि देह नश्वर है, अतः देही भी अनित्य है तो इसके उत्तरमें कहते हैं) जाति और व्यक्ति अर्थात् सामान्य एवं विशेष—ये दो प्रकारके भेद जिस प्रकार वस्तुमात्रमें परिकल्पित हैं, उसी प्रकार अनादि अज्ञानके कारण देह देहीका (जीवात्माका) विभाग कल्पित है। (ज्ञाति अर्थात् गोत्व इत्यादि सामान्य एवं व्यक्ति अर्थात् गोपिण्ड-विशेष—इस प्रकारका विभाग सत्स्वरूप ब्रह्मवस्तुमें अज्ञान द्वारा कल्पित है, जबकि अनादि सिद्ध वस्तुके सम्बन्धमें किसी आशङ्काका होना सम्भव नहीं है) अतः शोक करना उचित नहीं है ॥८॥

श्रीशुक उवाच—

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।

विमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! जब देवर्षि नारद और ब्रह्मर्षि अङ्गिराने राजा चित्रकेतुको इस प्रकार समझाया, तब महाराज चित्रकेतुने शोकसे म्लान मुखको अपने हाथोंसे पोंछा और कहने लगे— ॥९॥

श्रीराजोवाच—

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम्।

अवधूतेन वेशेण गूढाविह समागतौ ॥ १० ॥

राजा चित्रकेतुने कहा—हे महापुरुषो! आप दोनों अवधूत अर्थात् परमहंस वेशमें अपनेको छिपाकर यहाँ पधारे हैं। आप दोनों हैं कौन? मैं देख रहा हूँ कि आप दोनों परम ज्ञानवान् हैं और महानसे भी अतिशय महान हैं ॥ १० ॥

चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः।

मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः ॥ ११ ॥

(हाय)! भगवत्-प्रिय ब्रह्मज्ञानीजन हमारे जैसे विषयासक्तचित्तवाले मूर्खोंकी अज्ञानताको दूर करनेके लिए उन्मत्तके समान वेश धारण करके इस पृथ्वीपर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं ॥ ११ ॥

कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः।

अपान्तरतमो व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥ १२ ॥

वशिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः।

दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातुकर्णस्तथारुणिः ॥ १३ ॥

रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः।

ऋषिर्वेदशिरा धौम्यो मुनिः पञ्चशिखस्तथा ॥ १४ ॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः।

एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥ १५ ॥

हे महाशयो! मैंने सुना है—सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, असित, अपान्तरतमा (व्यासदेव), मार्कण्डेय, गौतम, वशिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातुकर्ण, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, पतञ्जलि, वेदशिरा-ऋषि धौम्य, पञ्चशिख मुनि, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज—ये सब तथा अन्य सिद्ध श्रेष्ठ ऋषि, मुनि अज्ञानी जीवोंको उपदेश

करनेके लिए इस पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। क्या आप उनमें-से कोई हैं? ॥१२-१५॥

तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभु।

अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥१६॥

आप दोनों मुझे ज्ञान देनेमें समर्थ हैं; मैं ग्राम्य पशु (शूकर अथवा कूकर) के समान मूर्खबुद्धि और अज्ञान-अन्धकारमें डूबा हुआ हूँ। आप मेरे उद्धारके लिए ज्ञानका प्रदीप प्रज्वलित कीजिए ॥१६॥

श्रीअङ्गिरा उवाच—

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप।

एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥१७॥

श्रीअङ्गिरा ऋषिने कहा—हे राजन्! जब तुम पुत्रकी कामना कर रहे थे, तब तुम्हें जिसने पुत्र प्रदान किया था, मैं वही अङ्गिरा ऋषि हूँ। ये जो तुम्हारे समक्ष खड़े हैं, ये स्वयं ब्रह्माजीके पुत्र परम-पूज्य नारद ऋषि हैं ॥१७॥

इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे।

अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥१८॥

अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो।

ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसादितुमर्हसि ॥१९॥

तुम पुत्र-शोकके कारण घोर मोहान्धकारमें डूबे हुए थे, तुम भगवद्-भक्त हो। शोक, मोहादिसे अभिभूत होना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। यही विचार करके तुमपर कृपा करनेके लिये हम दोनों तुम्हारे पास आये हैं। तुम ब्राह्मण-वैष्णवोंकी सेवा करनेवाले हो, भगवत् सेवी हो, तुम्हारा इस प्रकार शोकमें निमग्न होना युक्तियुक्त नहीं है ॥१८-१९॥

तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः।

ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददाम्यहम् ॥२०॥

जब मैं पहले तुम्हारे राजभवनमें आया था, उस समय मैं तुम्हें परम ज्ञानका उपदेश देना चाहता था, किन्तु तुम्हारी पुत्र-प्राप्तिके लिए उत्कट आसक्ति थी—यह जानकर मैंने तुम्हें ज्ञानोपदेश न देकर पुत्र प्रदान कर दिया ॥२०॥

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।

एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥ २१ ॥

शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः।

महीराज्यं बलं कोशो भृत्यामात्यसुहृज्जनाः ॥ २२ ॥

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्त्तिदाः।

गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥ २३ ॥

अब आप स्वयं ही पुत्रवानोंके दुःखोंका अनुभव कर सकते हैं। हे शूरसेन! इसी प्रकार पत्नी, गृह, धन और विविध ऐश्वर्य—सम्पद, शब्द-स्पर्शादि विषय और राजैश्वर्य ये सभी अनित्य हैं। पृथिवी, राज्य, सैन्य, धनागार, सेवक, अमात्य और सगे सम्बन्धी—ये सभी भय, मोह-शोक एवं पीड़ा देनेवाले हैं। गन्धर्वनगरके समान ये क्षणभरके लिए दिखायी देते हैं और दूसरे ही क्षण लुप्त हो जाते हैं। स्वप्न, माया (इन्द्रजाल) और सङ्कल्प (मनोरथ) के समान ये क्षणभङ्गुर एवं मिथ्या हैं ॥२१-२३॥

दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः।

कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥ २४ ॥

हे राजन्! स्त्री, पुत्र, आदि दिखायी देनेवाले विषय-वैभव मनःकल्पित हैं। इन सब विषयोंकी वास्तविक सत्ता न रहनेके कारण ये दूसरे ही क्षण दिखायी नहीं देते। अतः ये अनित्य हैं। पूर्व-पूर्व कर्मवासनाओंके कारण विषयोंका चिन्तन करते-करते पुरुषोंका मन नानाविध कर्मोंकी सृष्टि करता है ॥२४॥

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।

देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥ २५ ॥

देहाभिमानी जीवोंकी मिट्टी आदि पञ्च भूतों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियोंसे बनी अर्थात् अधिभूत (द्रव्यात्मक), अधिदैव (ज्ञानात्मक) एवं अध्यात्म (क्रियात्मक) यह देह ही विविध क्लेश अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन प्रकारके दुःखों एवं सन्तापको प्रदान करनेवाली कही जाती है ॥२५॥

तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः।

द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशाममाविश ॥ २६ ॥

इसलिये तुम व्यग्र मत होओ, चित्तको शान्त करो और आत्मतत्त्वपर विचार करो अर्थात् तुम कौन हो, कहाँसे आये हो, अन्तमें शरीर छोड़कर कहाँ जाओगे? तुम शोक मोहादिके द्वारा क्यों अधिभूत हो रहे हो? इस सबका विचार करो। द्वैत अर्थात् कृष्णेतर दूसरी वस्तुओंका नित्यत्व है, गृहादि प्रपञ्च नित्य है, जगत् सत्य वस्तु है—इस विश्वासको त्यागनेपर ही तुम परम शान्ति प्राप्त कर सकते हो ॥२६॥

श्रीनारद उवाच—

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम।

यां धारयन् सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम् ॥ २७ ॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—राजन्! तुम संयत होकर मेरे द्वारा प्रदत्त इस परम श्रेयास्पद मन्त्रोपनिषद्को ग्रहण करो। इसे धारण करने से तुम्हें सात रातमें ही भगवान् सङ्कर्षणके दर्शन होंगे ॥२७॥

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे

शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य।

सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं

प्रापुर्भवानपि परं न चिरादुपैति ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतुसान्त्वनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

हे राजेन्द्र ! प्राचीन कालमें महादेवादि देवता भगवान् सङ्कर्षणके चरणोंमें शरणापन्न हुए थे और तत्क्षण ही द्वैतभ्रम (अहंता और ममता) से मुक्त हो गये थे। वे उस महिमाको प्राप्त हो गये थे, जो अतुलनीय और सर्वश्रेष्ठ है। तुम भी शीघ्र ही उस परमपदको प्राप्त कर लोगे॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके पन्द्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त॥

षोडशोऽध्यायः

चित्रकेतुका वैराग्य तथा सङ्कर्षणदेवके दर्शन

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथ देवऋषी राजन् सम्परेतं नृपात्मजम्।

दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसके बाद देवर्षि नारदने योगबलसे मृतक राजपुत्रको शोकाकुल बन्धु-बान्धवोंके सम्मुख ही प्रत्यक्ष बुलाकर कहा— ॥१॥

श्रीनारद उवाच—

जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरञ्च ते।

सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे जीवात्मन्! तुम्हारा कल्याण हो। देखो, तुम्हारे माता-पिता और बन्धु-बान्धव तुम्हारे विरहके शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं ॥२॥

कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्व्रतः।

भुङ्क्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

(असमय ही तुम्हारी मृत्यु हो गयी थी। इसलिए तुम्हारी आयु अभी भी बची हुई है) अतः तुम अपने शरीरमें पुनः प्रवेश करो और मित्रों तथा स्वजनोंके साथ अपनी शेष आयुका भोग करो। अपने पिता द्वारा प्रदत्त राज्यैश्वर्यको स्वीकार कर राजासनपर विराजमान हो जाओ ॥३॥

जीव उवाच—

कस्मिन् जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन्।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृत्योनिषु ॥ ४ ॥

जीवात्माने कहा—मैं अपने कर्मोंके अनुसार देवता, तिर्यक् और मनुष्य योनियोंमें न जाने कबसे भटक रहा हूँ। ये लोग किस जन्ममें मेरे माता-पिता थे? ॥४॥

बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।

सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥५॥

इस अनादि संसार-प्रवाहमें क्रमशः सभी एक-दूसरेके बन्धु (विवाहादि द्वारा सम्बन्धी) ज्ञाति, शत्रु, मित्र (रक्षक) मध्यस्थ (बाहर मित्रता दिखाने वाले परन्तु अन्दरसे शून्य) द्रव्यादि विक्रयके कारण मित्र, शत्रु, उदासीन और विद्वेषी होते रहते हैं ॥५॥

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।

पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥६॥

जैसे सुवर्णादि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ क्रमशः भिन्न-भिन्न मनुष्योंके बीच आती-जाती रहती हैं, उसी प्रकार जीव भी क्रमशः नानाविध योनियोंमें तत्-तत् सम्बन्धी माता-पिताके बीच पर्यटन करता रहता है ॥६॥

नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।

यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥७॥

(जन्म-जन्मान्तरोंकी बात तो दूर रहे, इस जन्ममें भी जीवोंके साथ दूसरे जीवोंका सम्बन्ध अनित्य है। इसी दृष्टान्तको बतला रहे हैं) पशु आदि जीवोंके साथ दूसरे जीवोंका सम्बन्ध नित्य नहीं देखा जाता। जब तक जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है, तभी तक उस वस्तुके प्रति पुरुषकी ममता रहती है। जब सम्बन्ध तिरोहित हो जाता है, तब ममता भी समाप्त हो जाती है ॥७॥

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।

यावद्यत्रोपलभ्येत तावत् स्वत्वं हि तस्य तत् ॥८॥

जीवात्माका पितादि मर्त्य देहोंसे सम्बन्ध होता दिखाई पड़े तो भी जीवात्मा नित्य है, क्योंकि देहादिका जन्म होता है, जीवात्माकी

उत्पत्ति कभी स्वीकार्य नहीं है। जीवात्मा निरहङ्कृत अर्थात् “मैं इसका पुत्र हूँ” इस प्रकारके अभिमानसे रहित है। तद्-तद् योनिगत माता-पितासे उसका देहगत सम्बन्ध रहता है। कर्मानुसार जीव जब तक पिताके साथ सम्बन्धयुक्त रहता है, तब तक उस पिताका उस पुत्रमें स्वत्व वर्तमान रहता है। मृत्युके बाद पिताका पुत्रके साथ सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। अतः शोक करना व्यर्थ है ॥८॥

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्।

आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥ ९ ॥

यह आत्मा नित्य वस्तु है, क्योंकि इसका विनाश नहीं है। यह आत्मा सूक्ष्म, जन्मादिसे रहित एवं सर्वाश्रय अर्थात् उत्पत्ति अथवा जन्मशील देहादिका आश्रय (स्वयं देह नहीं है) और स्वतःप्रकाश स्वरूप है। यह सामर्थ्यवान् होकर अपनी इच्छानुसार मायाके गुणोंसे स्वयंको नानारूपोंमें रच लेता है ॥९॥

न ह्यस्याति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।

एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः ॥ १० ॥

इस आत्माका न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। कोई अपना अथवा पराया नहीं है। यह अकेला ही सुहृदादिमें आसक्तिसे रहित और हित-अहित करनेवाले मित्र-शत्रुओंकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंका साक्षीमात्र है ॥१०॥

नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम्।

उदासीनवदासीनः

परावरदृगीश्वरः ॥ ११ ॥

आत्मा शरीरके सुख-दुख अथवा कर्मफलको (राज्यादिको) ग्रहण नहीं करता। यह कार्य-कारणका स्रष्टा और देहादि रूप परतन्त्रतासे रहित उदासीनके समान स्थित रहता है। अतः हममें किसीको भी शोक नहीं करना चाहिए ॥११॥

श्रीबादारायणिरुवाच—

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा।

विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम् ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वह जीवात्मा इस प्रकार कह कर चला गया। चित्रकेतु आदि बालकके सगे-सम्बन्धी उसकी बातोंको सुनकर विस्मित रह गये। उन्होंने अपनी स्नेह-शृङ्खलाका छेदन करके शोकका परित्याग कर दिया॥१२॥

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः।

तत्पुण्ड्रस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम्॥१३॥

तत्पुण्यात् महाराज चित्रकेतु और जातिवालोंने पिण्ड-दान कर मृत राजपुत्रकी देहका दाह-संस्कार किया और मरणोपरान्तोचित श्राद्ध-तर्पणादि क्रियाएँ पूर्ण कीं। इसके साथ ही उस दुस्त्यज स्नेहका त्याग कर दिया, जिसके कारण शोक, मोह, भय तथा दुःखोंकी प्राप्ति होती है॥१३॥

बालघ्न्यो ब्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः।

बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यत्रिरूपितम्।

यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम्॥१४॥

हे महाराज! महारानी कृतघ्नितिके बालककी विष देकर हत्या करनेवाली सपत्नियाँ बाल-हत्याके पापसे निस्तेज हो गयीं और अपने दुष्कर्मके कारण लज्जाका अनुभव करने लगीं। उन्हें महर्षि अङ्गिराके वचनका स्मरण हो आया कि “पुत्रादि दुःखके कारण होते हैं”—अतः उन्होंने पुत्र-कामनाका परित्याग कर दिया। ब्राह्मणोंके द्वारा निरूपित विधिके अनुसार वे यमुनाके तटपर गयीं और उन्होंने बालहत्यारूप घोर पापका प्रायश्चित्त किया॥१४॥

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः।

गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः॥१५॥

देवर्षि नारद और अङ्गिराके द्वारा दिये गये उपदेशोंसे परम बुद्धिमान् सारग्राही महाराज चित्रकेतुकी विवेक-बुद्धि जाग्रत हो गयी। वे गृहरूप अन्धे कुँसे उसी प्रकार बाहर निकल आये, जिस प्रकार सरोवरके निविड़ (घनीभूत) कीचड़से हाथी बाहर निकल आता है॥१५॥

कालिन्ध्यां विधिवत् स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः।

मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥ १६ ॥

राजाने यमुनाजीमें विधिपूर्वक स्नान करके देवताओंको जलका अर्घ्य दिया तथा पितरोंके उद्देश्यसे तर्पणादि सम्पन्न किये। तदनन्तर मौन एवं संयत-चित्त होकर देवर्षि नारद एवं महर्षि अङ्गिराके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १६ ॥

अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने।

भगवान् नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥ १७ ॥

शरणागत, जितेन्द्रिय और भक्तिमान् चित्रकेतुसे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर परम सामर्थ्यवान् देवर्षि नारदने उन्हें इस विद्याका उपदेश दिया ॥ १७ ॥

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ १८ ॥

नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।

आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥ १९ ॥

(नारदोपदिष्ट विद्या इस प्रकार है) हे प्रणवात्मक भगवन्! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव! मैं आपकी प्रसन्नताके लिये आपका अपने हृदयमें ध्यान करता हूँ। हे प्रद्युम्न, हे अनिरुद्ध! हे सङ्कर्षण! आपको नमस्कार है। हे चित्शक्तिमन्! आपको नमस्कार करता हूँ। हे परमानन्दमूर्ते! हे आत्माराम! हे शान्त! हे द्वैत (अद्वितीय—जिनकी दृष्टिमें द्वैत मिट गया हो।) अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन प्रकारके तत्त्वसे भेद-ज्ञानको दूर करनेवाले अद्वयज्ञान स्वरूप! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। अहो! जीव मायिक प्रपञ्चमें ही आसक्त रहता है और वह आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता ॥ १८-१९ ॥

आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः।

हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्तये ॥ २० ॥

आप स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूतिके द्वारा मायाजनित राग-द्वेषादिरूप तरङ्गोंको तिरोहित कर देते हैं, अतः आपको

नमस्कार है। आप हृषीकेश अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं। आप अनन्त मूर्ति और परम महान् हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥२०॥

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।

अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यात्रः सदसत्परः॥ २१ ॥

मनके सहित वाणी जिन्हें प्राप्त न करके उपरत हो जाती है। जो नाम-रूप रहित, चिन्मात्र, केवल ज्ञानमय, स्थूल सूक्ष्मसे अतीत एवं अद्वितीय हैं अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हैं, वे हमारी रक्षा करें॥२१॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते।

मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥ २२ ॥

मिट्टीके बने हुए घटादि जिस प्रकार मिट्टीसे उत्पन्न होते हैं, अपने उपादान कारण मिट्टीमें ही स्थित रहते हैं और मिट्टीमें ही लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह कार्य-कारणात्मक विश्व जिनसे उत्पन्न है, जिनमें स्थित है और जिनमें लीन होता है—ऐसे ब्रह्मस्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥२२॥

यत्र स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।

अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तत्रतोऽस्म्यहम्॥ २३ ॥

(सांख्यवादी दृश्य प्रधान अथवा तत्परिणामरूप देह, इन्द्रिय बुद्धि इत्यादिको अथवा कोई-कोई जीवको द्रष्टा नाम प्रदान करते हैं—इसी अशुद्ध मतका खण्डन करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं।) जो ब्रह्म आकाशके समान निर्लिप्त भावसे सम्पूर्ण वस्तुओंके बाहर-भीतर व्याप्त हैं, मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ जिन्हें अपनी ज्ञानशक्तिसे जान नहीं सकती तथा प्राणशक्ति जिनका स्पर्श नहीं कर सकती, मैं ऐसे आपको नमस्कार करता हूँ॥२२-२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी

यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।

नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्टृपदेशमेति ॥ २४ ॥

लोहा जिस प्रकार अग्निकी शक्ति द्वारा सामर्थ्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि—ये सभी दृश्य पदार्थ आपके चैतन्य-अंशद्वारा आविष्ट होकर जाग्रत एवं स्वप्नावस्थामें अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। अग्निके बिना लोहा किसी भी वस्तुको जला नहीं सकता, उसी प्रकार देहादि जड़ेंद्रियाँ भी अचैतन्यावस्था अर्थात् सुषुप्ति एवं मूर्च्छामें अपना-कार्य नहीं कर सकतीं। कार्य करनेकी शक्ति आपके चैतन्यांशसे ही प्राप्त होती है। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ब्रह्म ही एकमात्र 'द्रष्टा' संज्ञा प्राप्त करते हैं ॥२४॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये
सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुटुम्बलोपलालितचरणारविन्दयुगल
परमपरमेष्ठिन्नमस्ते ॥ २५ ॥

हे गुणातीत! हे परमेष्ठिन्! हे सर्वेश्वर! श्रेष्ठ भक्तगण अपने करकमलोंकी कलियों द्वारा आपके चरणारविन्दकी कुशलतापूर्वक सेवा करते हैं। आप भगवान्, महापुरुष, महानुभव, महाविभूतिके अधिपति हैं। आपको मेरा नमस्कार है। (आप मुझे भी अपनी सेवामें नियुक्त करें) ॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! देवर्षि नारद अपने शरणागत भगवद्-भक्त चित्रकेतुको इस विद्याका उपदेश करके अङ्गिराके साथ ब्रह्मलोक चले गये ॥२६॥

चित्रकेतुस्तु तां विद्यां यथा नारदभाषिताम्।
धारयामास सप्ताहमब्धक्षः सुसमाहितः ॥ २७ ॥

राजा चित्रकेतुने देवर्षि नारद-द्वारा उपदिष्ट इस विद्याका यथोचितरूपसे सात दिनों तक मात्र जल पीकर बड़ी सावधानीसे जप किया ॥२७॥

ततः स सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया।

विद्याधराधिपत्यञ्च लेभेऽप्रतिहतं नृपः ॥ २८ ॥

हे राजन्! चित्रकेतुको इस विद्याके अभ्यासके प्रभावसे सात रातोंके अन्तमें विद्याधरोंके अधिपतिरूपमें अखण्ड राज्य प्राप्त हुआ (यद्यपि यह फल अवान्तर था) ॥२८॥

ततः कतिपयाहोर्भिर्विद्ययेद्धमनोगतिः।

जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥ २९ ॥

इसके बाद कुछ ही दिनोंमें इस मन्त्र-विद्याके प्रभावसे चित्रकेतुका मन आत्मज्ञानसे प्रदीप्त हो उठा और वे देवाधिदेव अनन्तदेवके चरणोंके समीप पहुँचे ॥२९॥

मृणालगौरं सितिवाससं स्फुरत्-

किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।

प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं

ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥ ३० ॥

परीक्षित्! चित्रकेतुने देखा कि भगवान् सङ्कर्षण सनत्कुमारादि सिद्धेश्वर मण्डलीके मध्य विराजमान हैं। उनका श्रीविग्रह कमल-नालके समान गौर वर्णका है। उन्होंने नीला वस्त्र धारण कर रखा है, अत्युज्ज्वल, विराट् मुकुट, बाजूबन्द, करधनी तथा कंगन सुशोभित हो रहे हैं। मुख-कमलपर मृदु-मन्द मुसकान है और नेत्रोंमें लालिमा छायी हुई है ॥३०॥

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः

स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।

प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः

प्रहृष्टरोमानमदादिपुरुषम् ॥ ३१ ॥

भगवान् सङ्कर्षणका दर्शन करने मात्रसे ही चित्रकेतुके सारे पाप नष्ट हो गये। अन्तःकरण निर्मल होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो गया। अत्यधिक हर्षके कारण रोम-रोम खिल उठा। आँखोंसे प्रेमाश्रु गिरने लगे। वे शान्त एवं गम्भीर हो गये। उन्होंने अनन्य भक्तिके साथ आदिपुरुष भगवान् सङ्कर्षणदेवको प्रणाम किया ॥३१॥

स उत्तमःश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत् तं प्रसमीदितुं चिरम् ॥ ३२ ॥

चित्रकेतुके प्रेमाश्रुकी धारासे उत्तमश्लोक सङ्कर्षणके चरणकमलोंके रखनेकी चौकी अभिषिक्त हो गयी। प्रेमातिशयताके कारण उनका कण्ठ गद्गद हो गया। वे एक भी शब्दका उच्चारण करनेमें असमर्थ हो गये तथा बहुत देर तक भगवान्की स्तुतिके लिए कुछ भी न बोल सके ॥३२॥

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत् प्रतिलब्धवागसौ ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्त्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशस्त्रविग्रहम् ॥ ३३ ॥

कुछ समय बाद उन्होंने बुद्धियोगसे मनको वशीभूत किया और इन्द्रियोंकी बाह्य-वृत्तिको रोका। पुनः वाक्शक्ति प्राप्त करनेपर राजा चित्रकेतुने नारद पञ्चरात्र, ब्रह्मसंहिता आदि भक्ति-शास्त्रोंमें वर्णित साच्चिदानन्द विग्रह जगद्गुरु भगवान् सङ्कर्षणकी इस प्रकार स्तुति की ॥३३॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजताम—
कामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥ ३४ ॥

चित्रकेतुने कहा—हे अजित! दूसरोंके द्वारा अजित होनेपर भी आप समबुद्धि साधुओंके द्वारा जीत लिये जाते हैं अर्थात् वे आपको अपने अधीन कर लेते हैं। इसका कारण यही है कि आप अतीव करुणावश हैं। जो निष्काम होकर भजन करते हैं, उन्हें आप अपने-आपको ही प्रदान कर देते हैं। अतः आप भक्तोंको अपने नियन्त्रणमें रखते हैं॥३४॥

तव विभवः खलु भगवन्

जगदुदयस्थितिलयादीनि ।

विश्वसृजस्तेऽशांशा-

स्तत्र मृषास्पृह्यन्ति पृथगभिमत्या॥ ३५ ॥

हे भगवन्! जगत्की उत्पात्ति, स्थिति, लय एवं प्रवेश-नियमादि (अर्थात् वस्तुका विलय होनेपर आदि-शक्तिका पुनः परमेश्वरके शरीरमें प्रवेश होना) जो कुछ भी है, वह वस्तुतः आपका ही लीला-विलास है। विश्व-निर्माता ब्रह्मादि देवगण—आपके ही अंशके (पुरुषावतारके) अंश हैं। सृष्टि आदि कार्योंके कारण जो अलग-अलग रूपोंसे स्वयंको ईश्वर मान बैठे हैं—उनका यह अभिमान निरर्थक है॥३५॥

परमाणुपरममहतो-

स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्त्ती त्रयविधुरः।

आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां

यद्ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि॥ ३६ ॥

जगत्-सृष्टिका मूलीभूत जो सूक्ष्मकारण परमाणु एवं अति महत् जो अन्तिम कार्य-पदार्थ (विराट् ब्रह्माण्ड) है, उसके आदि, अन्त एवं मध्यमें आप वर्त्तमान रहते हैं। सत्ताविशिष्ट-रूपमें प्रतीयमान कार्यपदार्थोंके आदि एवं अन्तमें ध्रुव (नित्य) एवं अविनश्वररूपमें जिस प्रकार आप वर्त्तमान रहते हैं, अन्तरालमें (कार्योंकी वर्त्तमान दशामें) भी उसी प्रकारसे वर्त्तमान रहते हैं, जबकि आप स्वयं आदि, अन्त एवं मध्यसे रहित हैं। आप नित्य हैं (कार्यजात समस्त वस्तुएँ अवास्तव हैं।)॥३६॥

क्षित्यादिभिरेष किलावृतः
 सप्तभिर्दशगुणोत्तरैरण्डकोशः ।
 यत्र पतत्यणुकल्पः
 सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥ ३७ ॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर (अपने पहले वालेसे) दस-दस गुना अधिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, महत् और अहङ्कार-प्रकृतिके इन सात आवरणोंसे घिरा हुआ है। यह ब्रह्माण्ड दूसरे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके साथ आपमें एक परमाणुकी भाँति घूमता है। आपकी सीमा न होनेके कारण आप अपरिमेय, अनन्त कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

विषयतृषो नरपशवो य
 उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।
 तेषामाशिष ईश तदनु
 विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥ ३८ ॥

हे ईश! विषय भोगकी लालसा रखनेवाले नर-पशु आप-सर्वोत्तमका परित्याग करके आपकी विभूति-स्वरूप इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। इन देवताओंके लिये दी गयी भोग-सामग्री उन-उन क्षुद्र देवताओंके हास होनेपर उसी प्रकार विनष्ट हो जाती है, जिस प्रकार राजकुलके नष्ट होनेपर राजाके द्वारा अपने सेवकोंको दिये गये विषय भोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

कामधियस्त्वयि रचिता न परम
 रोहन्ति यथा करम्भबीजानि।
 ज्ञानात्मन्यगुणमयेगुण
 गणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥ ३९ ॥

हे परम! आप ज्ञानात्मा एवं निर्गुण हैं। जो राज्य-प्राप्ति आदिकी कामनासे भी आपकी उपासना करते हैं, उन्हें भी पुनः जन्म-मरणके चक्करमें उसी प्रकार नहीं पड़ना पड़ना पड़ता, जिस प्रकार भुने हुए बीजोंसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते। प्राकृत गुणोंके

कारण ही जीवोंको संसार तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्व भाव प्राप्त होते हैं। आप निर्गुण तत्त्व हैं। अतः आपके भजनसे निर्गुणत्व ही उपलब्ध होता है ॥३९॥

जितमजित तदा भवता
यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम्।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥ ४० ॥

हे अजित्! जिस समय आपने अपनी-प्राप्तिका उपायस्वरूप भागवत धर्म बतलाया, उसी समय आपने सबको जीत लिया। निष्किञ्चन सनत्कुमारादि आत्माराम मुनिगण भी अपवर्ग-प्राप्तिके लिये आपके द्वारा उपदिष्ट निर्मल भागवत धर्मकी उपासना करते हैं ॥४०॥

विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥ ४१ ॥

अन्यान्य काम्य-कर्मरूप धर्मोंमें जैसे मैं-मेरा, तुम-तुम्हारा इत्यादि विषय-बुद्धि होती है, भागवत धर्मको माननेवालोंकी ऐसी बुद्धि नहीं होती। शत्रु-मारणादि कामनासे विषयबुद्धि द्वारा रचित जो धर्म हैं, वे राग-द्वेष आदिसे युक्त, अशुद्ध, नश्वर, हिंसादि बाहुल्य-प्रयुक्त (कराने वाले) और बहुत अधर्म करानेवाले हैं ॥४१॥

कः क्षेमो निजपरयोः
कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण।
स्वद्रोहात् तव कोपः
परसंपीडया च तथाऽधर्मः ॥ ४२ ॥

तपादिसे अपने शरीरको कष्ट देनेवाले स्वद्रोह और परद्रोहसे दूसरोंकी हिंसा कराने वाला जो धर्म (काम्य कर्म) है, इससे अपना अथवा पुत्रादि दूसरोंका भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

अथवा क्या वस्तु प्राप्त हो सकती है? स्वयं किसीसे द्रोह करनेसे अपने आपको पीड़ा होती है और किसीको सतानेसे वह काम्य कर्म अधर्म हो जाता है, जिससे अन्तःशरीरमें स्थित आपको भी क्रोध उत्पन्न होता है (अतः आपने रागान्ध व्यक्तियोंको किसी भी प्रकारसे वेदमार्गमें प्रवर्तित करनेके लिए ही काम्यधर्मका उपदेश दिया है, तात्त्विक दृष्टिसे नहीं) ॥४२॥

न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बे-
ष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥ ४३ ॥

हे प्रभो! आपने जिस दृष्टिसे भागवत-धर्मका निरूपण किया है, आपकी वह दृष्टि काम्य कर्मोंके समान कभी भी परमार्थसे विचलित नहीं होती। अतः श्रेष्ठ आर्यजन स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें समदृष्टि सम्पन्न होते हैं (किसीको उच्च अथवा निम्न नहीं मानते) और आपके द्वारा उपदिष्ट भागवत-धर्मकी उपासना करते हैं ॥४३॥

नहि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनात्रुणामखिलपापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्
पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ ४४ ॥

हे भगवन्! आपके दर्शनसे मनुष्योंके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं—यह कुछ असम्भव नहीं है; क्योंकि आपका नाम यदि एक बार भी सुन लिया जाय, तो अधार्मिक चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है ॥४४॥

अथ भगवन् वयमधुना
त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यत् कथितं
तावकेन कथमन्यथा भवति ॥ ४५ ॥

अतएव हे भगवन्! आपका दर्शन करके अब मेरे अन्तःकरणसे पाप और उसके परिणामभूत लोभादि सब दूर हो गये हैं। आपके भक्त श्रीनारदजीने जो कहा था, वह कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता है। उनके उपदेशके प्रभावसे मुझे आज आपका सान्निध्य प्राप्त हुआ है ॥४५॥

विदितमनन्त समस्तं
तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्य परमगुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥४६॥

हे अनन्त! संसारमें लोग जो कुछ करते हैं, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो अन्तर्यामीरूपी आप जानते न हों। सूर्यके सामने जुगनू किसी वस्तुको क्या प्रकाशित करेगा? इसी प्रकार सर्वप्रकाशक परमगुरु आपके समीप मेरे जैसा व्यक्ति क्या निवेदन कर सकता है? ॥४६॥

नमस्तुभ्यं भगवते
सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय।
दुरवसितात्मगतये
क्योगिनां भिदा परमहंसाय ॥४७॥

आप जगत्की स्थिति, लय एवं उत्पत्तिके कर्त्ता हैं। विषयोंमें फँसे हुये क्योगीगण अपनी भेदबुद्धिके कारण आपके तत्त्वको नहीं जान सकते। आप परमहंस हैं, अति विशुद्ध हैं षडैश्वर्यपूर्ण हैं, भगवान् हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥४७॥

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनुचित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्द्धिन
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्द्धने ॥४८॥

आपकी चेष्टासे शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात् विश्वस्रष्टा ब्रह्मादि देवता चेष्टाएँ करते हैं, आपके द्वारा देखे जानेके बाद ही ज्ञानोन्द्रियाँ

अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं। आपके मस्तकपर यह भूमण्डल सरसोंके दानेके समान रखा हुआ प्रतीत होता है। हे सहस्रशीर्षा भगवान्! आपको नमस्कार है ॥४८॥

श्रीशुक उवाच—

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत।

विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरुद्वह ॥४९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा परीक्षित! विद्याधराधिपति चित्रकेतुके द्वारा इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् अनन्तदेव बहुत प्रसन्न हो गये और उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा— ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच—

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम्।

संसिद्धोऽसि तया राजन् विद्यया दर्शनाच्च मे ॥५०॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवने कहा—हे राजन्! देवर्षि नारद एवं महर्षि अङ्गिराने मेरे सम्बन्धमें तुम्हें जिस विद्याका उपदेश दिया, उस विद्याके बल एवं मेरे दर्शनके प्रभावसे तुम्हें सम्पूर्णरूपसे सिद्धि प्राप्त हो गयी है ॥५०॥

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः।

शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥

मैं ही स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियोंके रूपमें हूँ, मैं ही सबकी आत्मा हूँ और मैं ही भूतभावन अर्थात् समस्त प्राणियोंका पालन करता हूँ। शब्दब्रह्म और परब्रह्म—ये दोनों ही मेरे नित्य-सनातन शरीर हैं ॥५१॥

लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि सन्ततम्।

उभयञ्च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥५२॥

इस भोग्यात्मक प्रपञ्चमें आत्मा भोक्तृत्वरूपमें व्याप्त है और आत्मामें यह प्रपञ्च भोग्यत्वरूपमें व्याप्त है। इन दोनोंका

कारण मैं हूँ, मेरे ही अधिष्ठान-कारणसे ये दोनों मुझमें कार्यरूपमें कल्पित हैं। (भूत-समूह मेरे स्वरूपभूत नहीं हैं, प्रत्युत् मेरी शक्तिके कार्य हैं, इसलिए अनित्य हैं, उपास्यरूपमें ध्येय नहीं हैं) ऐसा समझना चाहिये ॥५२॥

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि।

आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥

एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।

मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥५४॥

कोई मनुष्य जब प्रगाढ़ नींदमें सोया होता है, तो वह दूरस्थ स्थित—पर्वत, नदी और वनको अपनेमें देखता है। पुनः स्वप्नसे जगनेपर स्वयंको मनुष्यके रूपमें एक कोनेमें सोया हुआ मान लेता है, उसी प्रकार जागरणादि अवस्थाएँ जो बुद्धिकी उपाधियाँ हैं—ये सब परमात्माकी माया हैं। अतः मनुष्यको इन प्रगाढ़ निद्रा, स्वप्न तथा जाग्रदादि अवस्थाओंके मूलस्रष्टा परमात्माको इनके स्पर्श मात्रसे रहित जानकर द्रष्टा एवं अन्तर्यामीरूपमें उनका स्मरण करना चाहिए ॥५३-५४॥

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा।

सुखञ्च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥५५॥

सोया हुआ पुरुष अर्थात् जीव जिसके द्वारा निद्रावस्थामें अपनी सुप्तावस्था तथा इन्द्रियातीत सुखोंका अनुभव करता है, मैं वही सर्वव्यापी परब्रह्म हूँ। इसे तुम स्पष्टरूपसे समझ लो ॥५५॥

उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः।

अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम् ॥५६॥

यदि निद्रामें स्वप्न-साक्षी परमात्माके द्वारा दृष्ट-विषयोंको जाग्रदवस्थामें जीव किसी प्रकारसे स्मरण कर सकता है, क्योंकि अनुभव-सिद्ध विषय कभी भी दूसरेके स्मृतिगोचर नहीं हो सकते। (इसपर कहते हैं कि) निद्रा एवं जागरण—इन दोनों अवस्थाओंकी

अनुसन्धानकारी पुरुषकी निद्रा, निद्रित एवं जाग्रदवस्था—दोनोंके प्रकाशकरूपमें वर्तमान है और दोनों ही अवस्थाओंसे पृथक् 'ब्रह्म' पद वाच्य जो ज्ञान है, वह चिन्मात्र ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। बाल्यावस्थामें देखे गये पदार्थ जिस प्रकार यौवनमें भी स्मृतिगोचर होते हैं, उसी प्रकार निद्रावस्थामें अनुभूत विषय भी जाग्रदवस्थामें अनुभवके विषय हो सकते हैं। इसका कारण है कि ज्ञाता आत्मा समस्त अवस्थाओंमें अविकृतरूपसे विराजमान रहती है ॥५६॥

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः।

ततः संसार एतस्य देहादेहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥

जब पुरुष मेरे ब्रह्मस्वरूपको भूलकर स्वयंको मुझसे अर्थात् परमात्मासे भिन्न (एक स्वतन्त्र पुरुष अथवा ईश्वर) मान लेता है, उसी समय भेद-दृष्टिके कारण वह संसारमें बद्ध हो जाता है। इस प्रकार वह देह, पुत्र आदिमें, 'मैं और मेरा' अभिमान कर अध्यात्मजनित कर्मोंके द्वारा देहसे देहान्तर अर्थात् देव-मनुष्यादि जन्म-परम्परा (जन्मपर जन्म) और मृत्युके बाद मृत्युको प्राप्त होता रहता है ॥५७॥

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।

आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचित् क्षेममाप्नुयात् ॥५८॥

'मानव-शरीरमें ही ज्ञान-विज्ञान (आत्म-तत्त्व प्रतिपादक शास्त्र-ज्ञान और अनुभव-जन्य विज्ञान) सम्भव हैं। अतः इस पुण्यभूमि भारतवर्षमें जन्म प्राप्त करके भी जो व्यक्ति आत्म-तत्त्वको जाननेके लिए चेष्टा नहीं करता, वह किसी भी योनिमें जाकर जहाँ तक कि देवादि योनियोंमें भी शान्ति अर्थात् वास्तविक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता ॥५८॥

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम्।

अभयञ्चाप्यनीहायां संकल्पाद्विरमेत् कविः ॥५९॥

लौकिक एवं काम्य कर्मोंसे क्लेश एवं विपरीत फलकी ही प्राप्ति होती है; सुखका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता। निष्काम

भावसे समस्त कार्यो और उसके फलोंका परित्याग कर देनेसे सर्वतोभावसे अभय प्राप्त हो जाता है एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति होती है। इस तथ्यको याद रखकर विवेकी जनोंको कर्म अथवा उसके फलके लिए सङ्कल्प नहीं करना चाहिए॥५९॥

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः।

ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च॥६०॥

इस जगत्में स्त्री और पुरुष—दोनों ही सुख-प्राप्ति एवं दुःखसे पिण्ड छुड़ानेके लिए नानाविध कर्म करते हैं, किन्तु कर्मोंके सकाम होनेके कारण न तो उन्हें सुख मिलता है और न ही दुःखोंसे छुटकारा। सच तो यह है कि उन्हें केवल दुःख-ही-दुःख प्राप्त होते हैं॥६०॥

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम्।

आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम्॥६१॥

दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा।

ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्॥६२॥

जो अपनेको कर्म-मार्गमें प्रवीण मानकर अभिमान करते हैं, उन मनुष्योंको विपरीत परिणाम मिलता है। आत्मा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंसे अतीत है और दुर्विज्ञेय है। अतः विवेक-बलसे ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंकी पिपासाओंका परित्याग करके ज्ञान-विज्ञानमें ही सन्तुष्ट रहकर मेरा भजन करना चाहिए॥६१-६२॥

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः।

स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैकदर्शनम्॥६३॥

योग-कुशल व्यक्तियोंका सर्वप्रयत्न-साध्य पुरुषार्थ यही है कि वे जीवात्मा अथवा परमात्माके चिदंशगत अपृथक्-सिद्ध सम्बन्धको समझें अथवा ब्रह्म-जीवके अंशाशिभावके ऐक्यका दर्शन करें। इसके अतिरिक्त योगमार्गियोंका अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं है॥६३॥

त्वमेतच्छ्रद्धया राजत्रप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥ ६४ ॥

हे राजन्! तुम समस्त विषयोंसे अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इन वचनोंको धारण करोगे, तो ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाओगे ॥ ६४ ॥

श्रीशुक उवाच—

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतोः श्रीपरमात्मदर्शनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन! जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् सङ्कर्षण चित्रकेतुको इस प्रकार आश्वासन देकर उनके समक्ष ही उस स्थानसे अन्तर्धान हो गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके सोलहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

सप्तदशोऽध्यायः

चित्रकेतुको पार्वतीका शाप

श्रीशुक उवाच—

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः।

विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् अनन्तदेव जिस दिशामें अन्तर्धान हुए थे, विद्याधर चित्रकेतुने उनके उद्देश्यसे उस दिशाको प्रणाम किया और आकाश मार्गमें विचरण करने लगे ॥१॥

स लक्षं वर्षलक्षणामव्याहतबलेन्द्रियः।

स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २ ॥

कुलाचलेन्द्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु।

रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम् ॥ ३ ॥

महायोगी चित्रकेतु लाखों वर्षों तक विविध सङ्कल्पित विषयोंकी सिद्धस्थली सुमेरुकी कन्दराओं एवं घाटियोंमें विचरण करते रहे। उनका बल एवं इन्द्रिय-शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। सिद्ध और चारण उनकी स्तुति करते थे। वे विद्याधरकी स्त्रियोंसे हरिनाम-कीर्तन कराकर परम आनन्दित होते थे ॥२-३॥

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता।

गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४ ॥

आलिङ्ग्याङ्गीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि।

उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५ ॥

एक दिन चित्रकेतु भगवान् विष्णु द्वारा दिये गये दिव्य विमानपर सवार होकर विचरण कर रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि देवाधिदेव महादेव मुनियोंकी सभामें सिद्ध-चारणोंसे घिरे हुए बैठे हैं और

पार्वतीजीको गोदमें बिठाकर अपनी बाहोंसे उनका आलिङ्गन किये हुए हैं। वे विमानपर बैठे हुए ही उनके समीप चले गये और ऊँचे स्वरसे हँसते हुए भगवती पार्वतीको जोर-जोरसे सुना-सुनाकर कहने लगे ॥४-५॥

चित्रकेतुरुवाच—

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्म वक्ता शरीरिणाम्।

आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥६॥

चित्रकेतुने कहा—जो साक्षात् लोकगुरु हैं, जो देहधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जो साक्षात् धर्मके वक्ता हैं—यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि वे ही आज मुनियोंकी सभामें अपनी पत्नीका आलिङ्गन करके बैठे हुए हैं ॥६॥

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादी सभापतिः।

अङ्गीकृत्य स्त्रियञ्चास्ते गतहीः प्राकृतो यथा ॥७॥

जरा देखो तो, जटाधारी, महातेजस्वी, ब्रह्मवादियोंके सभापति शिव किस प्रकारसे निर्लज्ज एवं प्राकृत मनुष्यके समान भरी सभामें पत्नीका आलिङ्गन कर रहे हैं! ॥७॥

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति।

अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥८॥

साधारण ग्राम्य नीच मनुष्य भी पत्नीके साथ प्रायः एकान्तमें ही उठते-बैठते हैं, किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके अधिपति महादेव इतने बड़े तपस्वी होकर भी सभाके बीच अपनी पत्नीको गोदमें धारण किये हुए हैं ॥८॥

श्रीशुक उवाच—

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप।

तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः ॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् महेश्वरका ज्ञान असीम एवं अगाध है। वे चित्रकेतुके वचनोंको सुनकर किञ्चित

मुसकरा दिये और फिर मौन हो गये। उनके अनुचर सभासद भी उनका अनुसरण करते हुए कुछ नहीं बोले ॥९॥

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम्।

रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥१०॥

चित्रकेतुने भगवान् शिवके प्रभावको न जानकर बहुत अशोभनीय एवं अनुचित बातें कहीं। उनके वचनोंसे शासन प्रकटित करनेवाली आलोचना भी कभी-कभी व्यक्त हो रही थी। वे स्वयंको शिवजीसे भी बड़ा जितेन्द्रिय समझ रहे थे। उनकी ऐसी धृष्टता देखकर पार्वती क्रोधाविष्ट होकर कहने लगी ॥१०॥

श्रीपार्वत्युवाच—

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः।

अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानाञ्च विप्रकृत् ॥११॥

पार्वतीने कहा—अहो! इस समय यह जो विरोध कर रहा है, क्या यही हमारे जैसे निर्लज्ज एवं दुष्टोंका शासन करने आया है? दण्ड धारण करनेवाला इस संसारमें यही एक प्रभु है क्या? ॥११॥

न वेद धर्म किल पद्मयोनि—

न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः।

न वै कुमारः कपिलो मनुश्च

ये नो निषेधन्त्यतिवर्त्तिनं हरम् ॥१२॥

अहो! पद्मयोनि ब्रह्मा क्या धर्म नहीं जानते। ब्रह्म-पुत्र भृगु, नारदादि ऋषिगण भी क्या धर्मके नियमको नहीं जानते? सनत्कुमार, मनु, कपिल भी क्या धर्मके रहस्यको नहीं जानते। इसीलिए लगता है, यही शास्त्र-विरोधी कर्म करनेवाले भगवान् शङ्करको दुष्कर्मोंसे रोकने आया है? ॥१२॥

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं

जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम्।

यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्

प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥१३॥

ब्रह्मादि देवता जिनके चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं, इस क्षत्रियाधम चित्रकेतुने उनकी भी अवज्ञा करके जगत्पूज्य, परमधर्ममूर्ति, मङ्गलोंके मङ्गल भगवान् शिवपर धूँटापूर्वक शासन किया है। अतः इसे दण्ड दिया जाना ही उचित है ॥१३॥

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम्।
सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥१४॥

अपनी सर्वश्रेष्ठताका अहङ्कार करनेवाला यह दुर्विनीत व्यक्ति इस जन्ममें तो साधुओंके द्वारा सेवित भगवान् नारायणके चरण कमलोंमें रहने योग्य नहीं है ॥१४॥

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते।
यथेह भूयो महतां न कर्त्ता पुत्र किल्बिषम् ॥१५॥

अहे दुर्मति! अतः तुम पापपूर्ण असुर-योनिमें जन्म लो। जिससे हे पुत्र! फिरसे इन साधुओंके प्रति अपराध न कर सकोगे ॥१५॥

श्रीशुक उवाच—

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नग्रेण भारत ॥१६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! पार्वतीके द्वारा अभिशप्त होनेपर चित्रकेतु विमानसे उतरे और सिर झुकाकर उन्हें सन्तुष्ट करने लगे ॥१६॥

श्रीचित्रकेतुरुवाच—

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके।
देवैर्मर्त्याय यत् प्रोक्तं पूर्वादिष्टं हि तस्य तत् ॥१७॥

चित्रकेतुने कहा—हे अम्बिके! आपने मुझे जो शाप दिया है, उसे मैं हाथ जोड़कर स्वीकार करता हूँ। देवता मनुष्योंको उनके पूर्व जन्मोंके कर्मफलोंके अनुसार सुख अथवा दुःख प्रदान करते हैं ॥१७॥

संसारचक्र एतस्मिन् जन्तुरज्ञानमोहितः।

भ्राम्यन् सुखञ्च दुःखञ्च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥ १८ ॥

अविद्यासे आच्छादित जीव इस संसारमें भटकता रहता है और सभी स्थानों तथा सभी समयोंपर पूर्व-पूर्व कर्मोंके फल सुखों एवं दुःखोंका भोग करता है। (अतः हे देवि! शाप-प्रदानके सम्बन्धमें मेरा अथवा आपका कोई दोष नहीं है) ॥ १८ ॥

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः।

कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥ १९ ॥

इस संसारमें सुख-दुःखका कर्ता न तो मनुष्य स्वयं है और न ही कोई मित्र अथवा शत्रु; अज्ञानताके कारण ही मनुष्य स्वयंको अथवा दूसरोंको सुख-दुःखका कर्ता मान लेता है ॥ १९ ॥

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः।

कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥ २० ॥

यह संसार मायामय गुणोंका प्रवाह-स्वरूप है। अतः इसमें क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्ग तक पहुँचना और क्या स्वर्गसे छूटकर नरकमें गिरना? क्या सुख, क्या दुःख? इनमें-से किसीकी भी तो वास्तविक सत्ता नहीं है ॥ २० ॥

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया।

एषां बन्धञ्च मोक्षञ्च सुखं दुःखञ्च निष्कलः ॥ २१ ॥

एकमात्र भगवान् अपनी मायाके द्वारा प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। वे ही मायाके अंशभूत अविद्या-द्वारा बन्धनका और विद्या-द्वारा मुक्तिका विधान करते हैं। वे ही सत्त्वगुणके द्वारा सुख एवं रजोगुणके द्वारा दुःख प्रदान करते हैं ॥ २१ ॥

न तस्य कश्चिद्वयितः प्रतीपो

न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।

समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य

सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥ २२ ॥

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सम हैं। उनका प्रिय अथवा अप्रिय ज्ञाति अथवा बन्धु, पराया अथवा अपना कोई भी नहीं है। वे अनासक्त हैं। उनका सुखमें कोई अनुराग नहीं है, तब उनमें रागजन्य रोष तो आ ही कहाँसे सकता है? ॥२२॥

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥ २३ ॥

यद्यपि वे अनासक्त हैं, तथापि वे अपनी मायाशक्ति द्वारा पाप-पुण्य इत्यादिकी रचना करते हैं और समस्त जीवोंके सुख-दुःख, मङ्गल-अमङ्गल, बन्धन-मोक्ष और जन्म-मरणरूप संसारके हेतुभूत बन जाते हैं (वस्तुतः गुणमाया ही जीवोंके कर्मफलोंके अनुसार पुण्य-पापादि कर्मोंकी सृष्टि करके जीवके जन्म एवं मृत्युकी हेतुभूत होती है ॥२३॥

अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि।

यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत् क्षम्यतां सति ॥ २४ ॥

हे भामिनि (अकारण क्रोध करनेवाली)! मैं अपनी शाप-मुक्तिके लिये आपसे प्रार्थना नहीं कर रहा। (सुख-दुःख मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होते ही रहते हैं)। मेरे वचन युक्तियुक्त होनेपर भी यदि आपको अनुचित लगते हों, तो उनके लिए मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ ॥२४॥

श्रीशुक उवाच—

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम।

जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः ॥ २५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे शत्रुदमन परीक्षित्! इस प्रकार चित्रकेतु भगवान् शङ्कर एवं पार्वतीको प्रसन्न करके उनके समक्ष ही अपने विमानपर चढ़कर वहाँसे चले गये। शापकी बात सुनकर

चित्रकेतु किञ्चित् मात्र भी भयभीत न थे—यह देखकर भगवान् शङ्कर और देवी पार्वतीको विस्मय हुआ ॥२५॥

ततस्तु भगवान् रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत्।

देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानाञ्च शृण्वताम् ॥ २६ ॥

इसके बाद भगवान् रुद्रने देवर्षि, दैत्य, सिद्ध एवं पार्वतीके सामने ही रुद्राणीसे इस प्रकार कहा ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच—

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।

माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् ॥ २७ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे सुन्दरि! अलौकिक लीलाधारी भगवान् श्रीहरिके दासानुदास चित्रकेतु आदि महात्माओंकी महिमा कैसी है? देखो! इन्हें विषय-सुखकी किञ्चित् मात्र भी स्पृहा नहीं है ॥२७॥

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ २८ ॥

भगवान् श्रीनारायणकी सेवामें लगे रहनेवाले किसी भी अवस्थासे भयभीत नहीं होते। वे तो स्वर्ग, मुक्ति एवं नरकको समान भाव से ही देखते हैं ॥२८॥

देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया।

सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥ २९ ॥

भगवान्की मायासे ही जीवोंका देहसे सम्बन्ध होता है और इसीलिये सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, पाप और अनुग्रह ये सब द्वन्द्व प्राप्त होते हैं ॥२९॥

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि।

गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत् कृतः ॥ ३० ॥

अविवेकके कारण स्वप्नमें सुख-दुःखादिका ज्ञान होता है और भ्रांतिके कारण जाग्रदवस्थामें मालामें सर्पकी प्रतीति होती है, इसी

प्रकार सुख-दुःखादिमें गुण-दोषका विचार (सुखमें गुण विचार, दोषमें दुःख विचार) भेद-बुद्धिके कारण होता है ॥३०॥

वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्रहतां नृणाम्।

ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न हि कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥ ३१ ॥

जो भगवान् वासुदेवके प्रति भक्तिपरायण होते हैं, वे ज्ञान-वैराग्य-रूप शक्तिसे युक्त होते हैं। इस संसारमें उन्हें कोई भी वस्तु हेय या उपादेयरूपसे आकर्षित नहीं कर सकती ॥३१॥

नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ

न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः।

विदाम यस्येहितमंशकांशका

न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥ ३२ ॥

देवि! मैं (शिव), ब्रह्मा, सनकादि ऋषि, नारदादि ऋषि, देवेन्द्र आदि—हममें—से कोई भी श्रीहरिकी लीलाके रहस्यको समझ नहीं सकता। अतः जो श्रीहरिके अंशके अंश हैं और स्वयंको स्वतन्त्र कर्ता समझ बैठे हैं, वे उनके स्वरूपको कैसे जान सकते हैं। उन्हें निश्चितरूपसे उनके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो सकती ॥३२॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।

आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥ ३३ ॥

भगवान्को न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय, न कोई अपना है और न कोई पराया। वे समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं, सभीको मङ्गल प्रदान करनेवाले हैं तथा सभीके अतिशय प्रियतम हैं ॥३३॥

तस्य चायं महाभागाश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः।

सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहञ्चैवाच्युतप्रियः ॥ ३४ ॥

तस्मात्र विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु।

महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥ ३५ ॥

प्रिये! ये उदारचेता चित्रकेतु भी इनके प्रिय सेवक हैं। ये राग-द्वेषसे शून्य रहकर समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखते हैं। मैं भी भगवान् नारायणका प्रिय हूँ। अतः भगवान्के भक्त समस्त प्राणियोंमें समदर्शी, शान्तचित्त महापुरुष हैं—उनके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारके विस्मयका कोई प्रश्न ही नहीं उठता॥३४-३५॥

श्रीशुक उवाच—

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम्।

बभूव शान्तधी राजन् देवी विगतविस्मया॥३६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! परमपूज्य शिवके इन वचनोंको सुनकर देवी पार्वतीने विस्मयका परित्याग करके अपनी बुद्धिको स्थिर कर लिया॥३६॥

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः।

मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत् साधुलक्षणम्॥३७॥

परम भक्त चित्रकेतु देवीको पलटकर शाप देनेमें समर्थ थे, परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं, बल्कि उन्होंने देवीके द्वारा दिये गये शापको सिर झुकाकर ग्रहण कर लिया। साधुओंके लक्षण ऐसे ही होते हैं॥३७॥

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः।

वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥३८॥

माता भवानीके शापसे चित्रकेतुने असुर-योनिमा आश्रय लिया। वे त्वष्टा ऋषिकी दक्षिण नामक यज्ञाग्निसे उत्पन्न हुए। उनका नाम वृत्रासुर हुआ। वे भगवत् सम्बन्धी ज्ञान एवं विज्ञानसे परिपूर्ण थे॥३८॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।

वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः॥३९॥

हे राजन्! तुमने मुझसे पूछा था कि भगवद्-भक्त वृत्रासुरका असुर-योनिमें जन्म किस कारणसे हुआ और उनकी भगवान्में

मति किस प्रकार बनी रही, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया ॥३९॥

इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।

माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते ॥४०॥

महात्मा चित्रकेतुके इस पवित्र महिमायुक्त इतिहासको जो व्यक्ति विष्णु-भक्तोंसे सुनता है, वह संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥४०॥

य एतत् प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् ।

इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीचित्रकेतूपाख्याने नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर और वाणीका संयम करके भगवान् श्रीहरिका स्मरण करते हुए इस इतिहासको पढ़ता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके सत्रहवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त ।

अष्टादशोऽध्यायः

अदिति और दितिकी सन्तानोंकी तथा
मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम्।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्। अदितिके बारह पुत्रोंमें—से पाँचवे पुत्र सविताकी पत्नी पृश्निसे सावित्री, व्याहृति और त्रयी—ये तीन कन्याएँ और अग्निहोत्राभिमानि, पशुयागाभिमानि, सोमयागाभिमानि, चातुर्मास्ययागाभिमानि और पञ्चमहायागाभिमानि—ये पाँच पुत्र हुए ॥ १ ॥

(छठे स्कन्धके छठे अध्यायमें अदितिके बारह पुत्रोंका वर्णन किया गया था। प्रथम एवं द्वितीय विवस्वान् एवं अर्यमाका वंश अति संक्षिप्त होनेके कारण वर्णन नहीं किया गया तीसरे पुत्र पूषा थे—जो निःसन्तान थे। चौथे त्वष्टाका वंश—कीर्त्तन और इन्द्रकृत विश्वरूप वध, वृत्र-वध एवं चित्रकेतुके आख्यान इत्यादि प्रसङ्ग सत्रहवे अध्याय तक वर्णित हुए थे।)

सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम्।

आशिषञ्च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥ २ ॥

हे राजन्! अदितिके छठे पुत्र 'भग' नामक आदित्यकी भार्याका नाम सिद्धि था। उसके महिमा, विभु और प्रभु नामक तीन पुत्र तथा 'आशी' नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। यह कन्या बड़ी सुशील और परम सुन्दरी थी ॥ २ ॥

धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा।

सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥ ३ ॥

अग्नीन् पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः।

चर्षणी वरुणस्यासीद् यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥४॥

अदितिके सातवे पुत्र धाताकी चार पत्नियाँ थी—कुह, सिनीवाली, राका और अनुमति। इनके क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास—ये चार पुत्र हुए। अदितिके आठवे पुत्र विधाता नामके आदित्य द्वारा क्रिया नामकी पत्नीके गर्भसे पुरीष्य नामक—पाँच अग्नियोंकी उत्पत्ति हुई। अदितिके नवे पुत्र वरुण नामक आदित्यकी पत्नीका नाम था चर्षणी। ब्रह्माजीके मानस पुत्र भृगुने इसके गर्भसे पुनः जन्म लिया ॥३-४॥

वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल।

अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोः ऋषी ॥५॥

वरुणके वीर्यसे महायोगी वाल्मीकिने वल्मीक (बाँवी)से जन्म ग्रहण किया। भृगु एवं वाल्मीकि वरुणके असाधारण (एकमात्र वरुणके अपने औरससे उत्पन्न) पुत्र थे, जबकि अगस्त्य एवं वशिष्ठ ऋषि मित्र-वरुणके साधारण पुत्र थे ॥५॥

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम्।

रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥६॥

अदितिके दसवे पुत्र मित्र और वरुणने जैसे ही उर्वशीको देखा, वैसे ही उनका वीर्य स्खलित हो गया। उन दोनोंने उस वीर्यको सम्मुखस्थ कुम्भमें रख लिया। कुम्भसे मुनिवर अगस्त्य और वशिष्ठजीका जन्म हुआ—ये दोनों साधारण (उभयनिष्ठ) पुत्र हैं। मित्रकी पत्नी रेवतीके गर्भसे—उत्सर्ज, अरिष्ट और पिप्पल ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥६॥

पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन् पुत्रानिति नः श्रुतम्।

जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥७॥

हे राजन्! अदितिके ग्यारहवे पुत्र स्वर्गके राजा इन्द्र नामक आदित्यकी पत्नी थी पुलोमनन्दिनी शची। उसके गर्भसे, हमने सुना है, तीन पुत्र हुए—जयन्त, ऋषभ और मीढवान् ॥७॥

उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः ।
कीर्त्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन् सौभगादयः ॥ ८ ॥

जो अपनी स्वरूपभूत नित्य शक्तिके प्रभावसे भगवदवतार वामनरूपमें अवतीर्ण हुए, उनकी पत्नीका नाम था कीर्त्ति। उससे बृहत्-श्लोक (बृहच्छ्लोक) नामक पुत्र हुआ। उसके 'सौभग' आदि बहुत-से पुत्र हुए ॥ ८ ॥

तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः ।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथैवावततार ह ॥ ९ ॥

महात्मा कश्यपके पुत्र भगवान् वामनने किस प्रकार तीन पगसे तीनों भुवन नाप लिये थे—इन सब उनके अद्भुत कर्मोंका, अपने भक्तोंपर अनुग्रहादि गुणोंका, सर्वशक्ति आदि पराक्रमका और अदितिके गर्भसे जन्म-लीला आदिका वर्णन मैं बादमें (आठवे स्कन्धमें) करूँगा ॥ ९ ॥

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्त्तयामि ते ।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥ १० ॥

राजन्! अब मैं कश्यपजीकी दूसरी पत्नी दितिके गर्भसे उत्पन्न दैत्योंकी पुत्र-परम्पराका वर्णन करूँगा। इनके वंशमें परम भागवत श्रीमान् बलि महाराज और प्रह्लादका जन्म हुआ था ॥ १० ॥

दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्त्तितौ ॥ ११ ॥

प्रथमतः दितिके गर्भसे दैत्य-दानव वन्दित हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामक दो पुत्र पैदा हुए (इनके विषयमें तृतीय स्कन्धमें वर्णन किया गया है) ॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी ।
जम्भस्य तनया सा तु सुषुवे चतुरः सुतान् ॥ १२ ॥
संहादं प्रागनुहादं ह्यादं प्रह्लादमेव च ।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥ १३ ॥

जम्भासुरकी पुत्री कयाधु नामकी दानवीका विवाह हिरण्यकशिपुसे हुआ था। उसके क्रमशः संह्राद, अनुह्राद, ह्राद और प्रह्राद—ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। इन चारों पुत्रोंकी एक बहिन थी, जिसका नाम था सिंहिका। सिंहिकाका विवाह विप्रचित नामक दानवसे हुआ। उससे राहु नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२-१३॥

शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम्।

संह्रादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः ॥ १४ ॥

यह वही राहु है, जो देवताओंके बीच बैठकर अमृत पान कर रहा था और भगवान् श्रीहरिने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा इसका सिर काट दिया था। संह्रादकी पत्नीका नाम था मति। उसका पञ्चजन नामक पुत्र हुआ ॥१४॥

ह्रादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम्।

योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥ १५ ॥

ह्रादकी पत्नीका नाम था धमनि। उसके दो पुत्र हुए—वातापि और इल्वल। इसी इल्वलने महर्षि अगस्त्यको भोजन कराते हुए (प्राण-नाशके उद्देश्यसे) मेष रूपधारी वातापिको पकाकर उनका आतिथ्य किया था ॥१५॥

अनुह्रादस्य सूर्यायां बाष्कलो महिषस्तथा।

विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यां तस्याभवद्बलिः ॥ १६ ॥

अनुह्रादकी पत्नीका नाम था सूर्या। सूर्यासे वाष्कल और महिष इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ। प्रह्रादका पुत्र था विरोचन। विरोचनकी पत्नीका नाम था देवी। देवीसे दैत्यराज बलिका जन्म हुआ ॥१६॥

बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत्।

तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते ॥ १७ ॥

इसके बाद महाराज बलिके द्वारा अशनाके गर्भसे सौ पुत्रोंका जन्म हुआ। उनमें बाण सबसे बड़ा था। बलिकी महिमा अतिशय प्रशंसनीय है। जिसे मैं तुम्हें बाद (अष्टम स्कन्ध)में सुनाऊँगा ॥१७॥

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्रणमुख्यताम्।

यत्पाश्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः॥१८॥

बलिका पुत्र बाण भगवान् शिवकी आराधना करके शिव-पार्षदोंमें सर्वश्रेष्ठ बन गया। आज भी भगवान् शिव उसके नगरके रक्षकके रूपमें उसके पासमें ही रहते हैं॥१८॥

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः।

त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम्॥१९॥

उनचास मरुद्रण भी दितिके पुत्र थे। उनमें-से किसीके भी कोई सन्तान न थी। देवराज इन्द्रने दैत्य होनेपर भी उन्हें देवत्व प्रदान करके उन्हें अपने समान बना लिया॥१९॥

श्रीराजोवाच—

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो।

इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत् साधु कृतं हि तैः॥२०॥

महाराज परीक्षितने कहा—हे गुरुदेव! उनचास मरुद्रण जन्मसे ही असुर भावसे युक्त थे। उन्होंने ऐसा क्या सत्कर्म किया था, जिससे देवराज इन्द्रने उनका असुरभाव छुड़ाकर उन्हें देवत्व प्रदान किया था॥२०॥

इमे श्रद्धधते ब्रह्मवृषयो हि मया सह।

परिज्ञानाय भगवंस्तत्रो व्याख्यातुमर्हसि॥२१॥

हे ब्रह्मन्! मेरे साथ यहाँ उपस्थित सभी ऋषिगण इस विषयको जाननेके लिये बड़े उत्सुक हो रहे हैं। अतएव हे महात्मन्! इस रहस्यको विस्तार पूर्वक बतलाइए॥२१॥

श्रीसूत उवाच—

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि—

र्वचो निशम्यादृतमल्पमर्थवत्।

सभाजयन् संनिभृतेन चेतसा

जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः॥२२॥

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! परीक्षित्ने बड़े ही आदरके साथ, सीमित शब्दोंमें सारगर्भ प्रश्न पूछा था, जिसे सुनकर सर्वज्ञ बादरायणि श्रीशुकदेवजी आनन्दित हुए और उनका अभिनन्दन करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥२२॥

श्रीशुक उवाच—

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना।

मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! भगवान् विष्णुने परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूपसे इन्द्रकी सहायता करनेके उद्देश्यसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका संहार कर दिया था। इसलिए दितिका हृदय शोकाग्निसे प्रदीप्त क्रोधसे जलता रहता था। वह इस प्रकार सोचती रहती थी— ॥२३॥

कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम्।

अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥ २४ ॥

यह इन्द्र बड़ा ही क्रूर, निर्दय, पापी और परम विषयी है। इसने विष्णुके द्वारा अपने दोनों भाइयोंको मरवा डाला। ऐसा दिन कब होगा, जब मैं इसको मरवाकर सुखसे सोऊँगी ॥२४॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञासीद्यस्येशाभिहितस्य च।

भूत ध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ २५ ॥

जो भी लोग राजा नामसे प्रसिद्ध होते हैं, उन सभीका शरीर एक दिन कृमि, विष्ठा या राखका ढेर हो जाता है (मरनेके बाद देह रखी जानेपर कीड़ा हो जाती है, सुअरों एवं कुत्तोंके द्वारा खाये जानेपर विष्ठा बन जाती है और अग्निमें जलाये जानेपर भस्म हो जाती है) इस देहकी रक्षाके लिए जो दूसरोंकी हिंसा करते हैं, क्या वे अपने स्वार्थको भी नहीं जानते? अरे! प्राणियोंके साथ द्रोह करनेपर तो नरककी प्राप्ति होती है ॥२५॥

आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः।

मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद् येन सुतो हि मे ॥ २६ ॥

इन्द्र समझता है कि उसकी देह नित्य काल बनी रहेगी। इसी कारण उसका चित्त उच्छृङ्खल हो गया है। अतः मैं कोई ऐसा उपाय करूँगा, जिससे मेरी कोखसे ऐसा पुत्र हो जो इन्द्रके मदको चूर्ण-विचूर्ण कर दे॥२६॥

इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत् प्रियम्।

शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च॥२७॥

भक्त्या परमया राजन् मनोजैर्वल्गुभाषितैः।

मनो जग्राह भावज्ञा सस्मितापाङ्गवीक्षणैः॥२८॥

परीक्षित्! इस प्रकार सोच विचार करके दिति इन्द्र-संहर्ता पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे नित्य निरन्तर ऐसा आचरण करने लगी, जिससे कश्यपजी प्रसन्न हो जायें। वह अपने पतिके मनोभावके अनुसार सारे प्रिय कार्य करती। उसने अपनी सेवा-शुश्रूषा, अनुराग, विनम्रता, आत्म-संयम, परम भक्ति, मनोरम मधुर वचन, मन्द मुसकान और तिरछी चितवन द्वारा कश्यपजीको वशीभूत कर लिया॥२७-२८॥

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि मनोज्ञया।

बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति॥२९॥

कश्यपजी विचारक और विद्वान् थे, तो भी कपट-आचरण करनेमें निपुण स्त्रीकी सेवा-शुश्रूषासे मोहित हो उसके वशीभूत हो गये। उन्होंने दितिसे कहा—मैं तुम्हारे मनोरथको अवश्य पूर्ण करूँगा। दितिके प्रति कही गयी मुनिकी इस उक्तिमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है॥२९॥

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः।

स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्थं यया पुंसां मतिर्हता॥३०॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माजीने जब प्राणियोंको निःसङ्ग एवं विरक्त देखा तो मैथुन धर्मद्वारा सृष्टिकी वृद्धिके लिये अपने अर्द्धांगसे स्त्रीकी रचना की। स्त्रियाँ पुरुषोंके चित्तका आकर्षण कर लिया करती हैं। इसीसे संसार-प्रवाह अविच्छिन्न गतिसे चलता रहता है॥३०॥

एवं शुश्रूषितस्तात भगवान् कश्यपः स्त्रिया।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च॥३१॥

हे तात ! इस प्रकार परम सामर्थ्यवान् कश्यपजी दितिकी सेवासे बहुत प्रसन्न हो गये। वे उसकी प्रशंसा करते हुए मधुर मुसकानके साथ कहने लगे॥३१॥

श्रीकश्यप उवाच—

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते।
स्त्रिया भर्तृरि सुप्रीते कः काम इह चागमः॥३२॥

श्रीकश्यपजीने कहा—हे वामोरु ! हे अनिन्दिते ! मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। अतः तुम मुझसे जो इच्छा हो, वह वर माँग सकती हो। पतिके प्रसन्न हो पानेपर इस लोकमें या परलोकमें ऐसी कौन सी कामना है, जो पत्नीके लिए दुर्लभ हो?॥३२॥

पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः॥३३॥

स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः।
इज्यते भगवान् पुष्पिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक्॥३४॥

नारियोंके लिये पति ही आराध्य देवता है। जो समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजते हैं, वे लक्ष्मीपति वासुदेव जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम रूपसे विभिन्न देवताओंके रूपमें पूजे जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही पतिके रूपमें स्त्रियोंकी पूजाके पात्र होते हैं॥३३-३४॥

तस्मात् पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम्॥३५॥

हे सुमध्यमे ! पतिरूपमें भगवान् ही विराजते हैं, इस कारण पतिव्रता नारियाँ अनन्य भावसे अपने पतिके रूपमें भगवान्की पूजा करती हैं॥३५॥

सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः।

तत् ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम्॥३६॥

हे भद्रे! तुमने भक्ति-भावसे परिपूर्ण होकर मुझ पतिके रूपमें भगवान्की अर्चना की है। मैं तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण करूँगा, जो असती नारियोंके लिये दुर्लभ है॥३६॥

श्रीदितिरुवाच—

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।

अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ॥३७॥

दितिने कहा—हे महात्मन्! मेरे पुत्र मारे गये हैं। इन्द्रने विष्णुकी सहायतासे मेरे दोनों पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मार डाला है। यदि आप मुझे वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मुझे एक ऐसा अमर पुत्र दीजिए, जो इन्द्रको मार डाले॥३७॥

निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत।

अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः॥३८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! दितिके इन वचनोंको सुनकर कश्यपजीका मन विषादसे भर गया और वे अनुताप करने लगे—आह! आज तो मेरे जीवनमें इन्द्र-हत्यारूप महान् अधर्म उपस्थित हो गया॥३८॥

अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया।

गृहीतचेताः कृपणाः पतिष्ये नरके ध्रुवम्॥३९॥

श्रीकश्यपजीने कहा—अहा! मैं विषय-भोगोंमें नितान्तरूपसे डूब गया हूँ। इस समय भगवान्की स्त्रीरूपिणी मायाने मेरे चित्तको वशीभूत कर लिया है। मैं तो अधीर हो पड़ा हूँ। मैं निश्चय ही नरकमें जाऊँगा॥३९॥

कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः।

धिङ्मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः॥४०॥

मेरी पत्नीने तो वही किया, जैसा उसका स्वभाव था। इसमें उसका क्या अपराध है? मैं ही अपने स्वार्थको ठीकसे न समझ सका। हाय! हाय! मुझे धिक्कार है! मैं तो बड़ा अजितेन्द्रिय हूँ॥४०॥

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।

हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥४१॥

अरे! इन स्त्रियोंके कार्य-कलापको कौन समझ सकता है? इनका मुख शरत्कालीन कमलके समान प्रफुल्लित होता है, इनके वचन अति मधुर, अमृतमय एवं प्रिय होते हैं, पर हृदय क्षुरेकी धारके समान बड़ा तीक्ष्ण होता है॥४१॥

न हि कश्चित् प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम्।

पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च॥४२॥

स्त्रियाँ अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिये किसीके भी साथ इस प्रकार व्यवहार करती हैं कि मानो वही उनके लिए सर्वाधिक प्रिय है, किन्तु वास्तवमें उनके लिये कोई भी प्रिय नहीं होता। ये तो स्वार्थके लिये अपने पति, पुत्र अथवा भाईको भी मार डालती हैं अथवा दूसरोंसे मरवा देती हैं॥४२॥

प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तत्र मृषा भवेत्।

वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते॥४३॥

अब तो मैं वरदान देकर प्रतिबद्ध हो गया हूँ। इस क्षण मेरा यही कर्तव्य है कि मेरा वचन भी मिथ्या न हो और इन्द्रकी भी मृत्यु न हो॥४३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् मारीचः कुरुनन्दन।

उवाच किञ्चित् कुपित आत्मानञ्च विगर्हयन्॥४४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुनन्दन! इस प्रकार सोचते-विचारते भगवान् कश्यप कुछ क्रोधित हो गये और अपने-आपको कोसते हुए दितिसे कहने लगे॥४४॥

श्रीकश्यप उवाच—

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि॥४५॥

श्रीकश्यपने कहा—हे भद्रे! मैं तुम्हें एक व्रत बतला रहा हूँ। यदि तुम इसे एक वर्षतक विधिपूर्वक धारण कर सकोगी, तो इन्द्रको मारनेवाला एक पुत्र होगा और व्रतमें त्रुटि आ गयी तो तुम्हारा वही पुत्र देवताओंका मित्र (इन्द्रका अनुगामी) हो जायगा॥४५॥

श्रीदितिरुवाच—

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन् ब्रूहि कार्याणि यानि मे।
यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यान्युत॥४६॥

दितिने कहा—हे ब्रह्मन्! मैं इस व्रतका पालन अवश्य करूँगी। इसमें ऐसे कौन-से कार्य हैं, जो अवश्य करने चाहिये और कौन-से ऐसे निषिद्ध कार्य हैं, जिन्हें करनेसे व्रतका नाश हो सकता है। आप ये सब मुझे बतलाइए॥४६॥

श्रीकश्यप उवाच—

नहिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत्।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम्॥४७॥

श्रीकश्यपने कहा—इस व्रतका पालन करते समय किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, किसीपर क्रोध न करे, झूठ न बोले, शरीरके नख एवं रोमादिको न काटे, किसी भी अशुभ वस्तुओंका (अस्थि आदिका) स्पर्श न करे॥४७॥

नाप्सु स्नायात्र कुप्येत न संभाषेत दुर्जनैः।
न वसीताधौतवासः स्रजञ्च विधृतां क्वचित्॥४८॥

जलमें घुसकर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने, किसीकी पहनी हुई मालाको न पहने॥४८॥

नोच्छिष्टं चण्डिकात्रज्यं सामिषं वृषलाहृतम्।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेन्नाञ्जलिना त्वपः॥४९॥

जूठा भोजन न करे, भद्रकालीके प्रसादको ग्रहण न करे, माँसाहार न करे, शूद्रके द्वारा लाया हुआ अन्न अथवा रजस्वला स्त्री द्वारा देखे गये भोजनको ग्रहण न करे, अञ्जलि द्वारा जल न पिये॥४९॥

नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्द्धजा।
अनर्चितासंयासंयतवाक् नासंवीता बहिश्चरेत्॥५०॥

जूठे मुँह, आचमन किये बिना और हाथ-पैर धोये बिना घरसे बाहर कभी न निकले। सन्ध्याकालमें केश खोले हुए, बिना आभूषणोंसे सुसज्जित हुए, बिना वाणीका संयम किये और बिना चद्दर ओढ़े घरसे बाहर न निकले॥५०॥

नाधौतपादा प्रयता नार्द्रपादा उदक्शिराः।
शयीत नापराङ् नान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः॥५१॥

पैरोंको बिना धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पैरोंसे, उत्तर या पश्चिममें सिर करके, अन्य स्त्रियोंके साथ, प्रातः अथवा सन्ध्याकालमें अथवा नग्नावस्थामें कभी नहीं सोये॥५१॥

धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता।
पूजयेत् प्रातराशात् प्राग् गोविप्रान् श्रियमच्युतम्॥५२॥

धुले हुए वस्त्र पहनकार सर्वदा पवित्र रहे। हल्दी, चन्दन आदि माङ्गलिक—द्रव्योंको धारण करके, कलेवा करनेसे पहले गाय, विप्र लक्ष्मी और अच्युत भगवान् नारायणकी पूजा करे॥५२॥

स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत् स्रगन्धबलिमण्डनैः।
पतिञ्चाच्योपतिष्ठेत ध्यायेत् कोष्ठगतञ्च तम्॥५३॥

सुहागिन स्त्रियोंकी माला, चन्दन, अलङ्कार तथा अन्य सामग्रियोंसे पूजा करे, पतिकी भलीभाँति अर्चना करके उसकी स्तुति करे और इस प्रकारसे गर्भ धारण करे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है॥५३॥

सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम्।
धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः॥५४॥

इस प्रकार पुत्रोत्पत्तिकारी इस व्रतको एक वर्ष तक निर्विघ्न रूपसे पालन करोगी, तो तुम्हें इन्द्रको मारनेवाले एक पुत्रकी प्राप्ति होगी। यदि व्रतमें किसी प्रकारका विघ्न पड़ गया, तो तुम्हारा पुत्र इन्द्रका मित्र बन जायगा॥५४॥

वाढमित्यमित्यभ्युपेत्याथ दिती राजन् महामनाः।
कश्यपाद्गर्भमाधत्त व्रतञ्चाञ्जो दधार सा॥५५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनस्विनी दितिने “मैं ऐसा ही करूँगी” यह कहकर पतिकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया और प्रफुल्लित चित्तसे कश्यपजीसे गर्भ धारण कर लिया। वह बड़े यत्नके साथ व्रतका पालन करने लगी॥५५॥

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत् कविः॥५६॥

हे मानद! अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले इन्द्रको जब अपनी मौसी दितिका अभिप्राय पता चला तो वे उसके व्रतमें बाधा डालनेके लिए वेष बदलकर दितिकी नित्य सेवा करने लगे॥५६॥

न्तियं वनात् सुमनसः फलमूलसमित्कुशान्।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत्॥५७॥

इन्द्र प्रतिदिन वनसे पुष्पफल, मूल, यज्ञके लिये समिधा कुश-पत्र, अङ्कुर, मिट्टी और जल आदि यथासमय लाकर दितिको देने लगे॥५७॥

एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्वो मृगहेव मृगाकृतिः॥५८॥

हे राजन्! बहेलिया जिस प्रकार हिरनको मारनेके उद्देश्यसे उसकी वञ्चना करता हुआ उसकी खाल पहनकर छद्मवेश धारण करता है, वैसे ही देवराज इन्द्र भी अपने हृदयमें कुटिल भाव

रखकर और बाहरसे साधुता दिखाते हुए व्रतधारिणी दितिके व्रतको भङ्ग करनेकी इच्छासे उसकी सेवा करने लगे ॥५८॥

नाध्यगच्छद् व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते।

चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवन्तिवह ॥५९॥

हे महीपते! दितिके व्रतमें किसी-न-किसी प्रकार त्रुटि दिखायी दे जाय—इसके लिये इन्द्र उसपर पैनी दृष्टि रखते थे, पर उन्हें कोई त्रुटि दिखायी न दी। तब वे गहरी चिन्तामें डूब गये और विचार करने लगे कि मेरा कल्याण कैसे होगा? ॥५९॥

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्षिता।

अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥

एक दिनकी बात है। दिति व्रतके कारण दुबली-पतली हो गयी थी और कुछ दुर्भाग्य भी था कि भोजन करनेके बाद बिना आचमन किये और बिना हाथ-पैर धोये सायंकालमें जूठे मुँह ही सो गयी ॥६०॥

लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहतचेतसः।

दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥

इस त्रुटिको पाकर अणिमादि समस्त योग सिद्धियोंके अधीश्वर इन्द्र अपने योगबलसे नींदके कारण अचेत पड़ी हुई दितिके उदरमें प्रवेश कर गये ॥६१॥

चकर्त्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम्।

रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान् पुनः ॥६२॥

इन्द्रने गर्भमें प्रवेश करनेके बाद स्वर्णके समान तेजस्वी उस गर्भके वज्रके द्वारा सात टुकड़े कर दिये। वे सातों टुकड़े जब रौने लगे, तब इन्द्रने 'मत रोओ' यह कहकर उन टुकड़ोंमें-से प्रत्येकको पुनः सात-सात भागोंमें खण्ड-खण्ड कर डाला ॥६२॥

ते तमूचुः पाट्यमानास्ते सर्वे प्राञ्जलयो नृप।

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥

हे राजन्! खण्ड किये गये वे भ्रूण इन्द्र द्वारा पीड़ित होकर हाथ जोड़ते हुए उनसे कहने लगे—हे इन्द्र! हम मरुद्गण हैं, तुम्हारे ही भाई हैं, अतः हमें क्यों मारना चाहते हो॥६३॥

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः।

अनन्यभावान् पार्षदानात्मनो मरुतां गणान्॥६४॥

जब गर्भस्थ भ्रूणोंने इस प्रकार कहा, तब इन्द्रने देखा कि वे सब उनसे अनन्य भाव रखते हैं और उनके आज्ञाकारी भी हैं, तो मनमें विचार करके उनसे कहने लगे—यदि तुम मेरे भाई हो, तो फिर तुम्हें डरना नहीं चाहिये॥६४॥

न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया।

बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान्॥६५॥

हे परीक्षित! जब आप माताके गर्भमें थे, तब अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्र द्वारा आपको जला दिया गया था, किन्तु आप मरे नहीं। उसी प्रकार दितिका गर्भ भी वज्रके द्वारा बहुत-से टुकड़े होनेपर भी भगवान्की कृपासे मरा नहीं॥६५॥

सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम्।

संवत्सरं किञ्चिद्दूनं दित्या यद्धरिरर्चितः॥६६॥

सजूरिन्द्रेण पञ्चाशत् देवास्ते मरुतोऽभवन्।

व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाःकृताः॥६७॥

जीव जिन आदिपुरुष भगवान्की मात्र एक बार भी पूजा कर लेता है, तो भगवान्की समानरूपता (सारूप्य मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, फिर दितिने तो लगभग एक वर्ष तक भगवान्की पूजा की थी। इसी अर्चनके फलस्वरूप इन्द्र सहित पचास मरुद्-गणोंका जन्म हुआ। भगवान् हरिने उनके दैत्यभावरूप मातृदोषको दूर कर दिया और उन्हें सोमपायी देवता बना दिया। इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?॥६६-६७॥

दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान्।
इन्द्रेण सहितान् देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥

भगवत्-व्रत धारण करनेके कारण दितिका अन्तःकरण परम शुद्ध हो गया था। जब वह शय्यासे उठी तो देखा कि उसके अग्निके समान तेजस्वी बालक इन्द्रके साथ हैं और सभी उनचास कुमारोंका इन्द्रके साथ मित्रताका भाव है। यह देखकर दिति प्रसन्न हो गयी ॥६८॥

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम्।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत् सुदुष्करम् ॥६९॥

दितिने इन्द्रसे कहा—हे वत्स! मैं अति दुष्कर व्रतका पालन इसलिये कर रही थी, जिससे मेरा ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो बारहों आदित्योंको भयभीत करनेवाला हो ॥६९॥

एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन् कथम्।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

मैंने तो एक पुत्रके लिए प्रार्थना की थी, किन्तु उनचास पुत्र कैसे हो गये? हे पुत्र यदि तुम जानते हो तो सत्य कहना, झूठ मत बोलना ॥७०॥

श्रीइन्द्र उवाच—

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्य गतोऽन्तिकम्।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मदृक् ॥७१॥

इन्द्रने कहा—हे माता! मैं स्वार्थमें अन्धा होनेके कारण धर्म को भूल गया। मैं तुम्हारे व्रतके प्रयोजनको जानता था, इसीलिये तुम्हारे पास आया था। जैसे ही तुम्हारे व्रतमें मुझे त्रुटि मिली, मैं गर्भमें प्रवेश कर गया ॥७१॥

कृतो मे सप्तधा गर्भ आसन् सप्त कुमारकाः।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मग्निरे ॥७२॥

मैंने पहले तो गर्भको सात खण्डोंमें विभक्त किया, जिससे वे सात शिशु बन गये, इसके बाद मैंने पुनः प्रत्येकके ही सात-सात खण्ड कर दिये। उनमें-से एक भी मरा नहीं। इसी कारण उनचास कुमारोंका जन्म हुआ ॥७२॥

ततस्तत् परमाश्चर्यं वीक्ष्य व्यवसितं मया।

महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी ॥७३॥

टुकड़े किये जाने पर भी ये बालक मरे नहीं—यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब मैंने यह निश्चय कर लिया कि यह परम पुरुष भगवान् विष्णुकी आराधनाकी कोई आनुषङ्गिक सिद्धि है ॥७३॥

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।

ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥७४॥

जो निष्काम होकर भगवान्की आराधना करते हैं, वे अन्य वस्तुकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। ऐसे ही व्यक्तियोंके लिए कहा जाता है कि वे स्वार्थमें बड़े निपुण हैं ॥७४॥

आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम्।

को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥७५॥

भगवान् जगदीश्वर ही सबके परम पुरुषार्थरूप एवं निरतिशय प्रिय आराध्यदेव हैं। वे निज भक्तोंके लिए आत्म-समर्पण कर देते हैं। उनकी आराधना करनेवाला कोई विवेकी पुरुष किस प्रकार विषय भोगोंकी इच्छा कर सकता है—ये विषय-भोग तो नरकमें भी प्राप्त हैं ॥७५॥

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि।

क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः ॥७६॥

हे माता! हे महीयसी! मैं अत्यन्त मूर्ख हूँ। मैंने दुर्जनताका काम किया है। आप मुझे क्षमा कीजिए। आपके सौभाग्यसे आपका गर्भ खण्ड-खण्ड होनेसे एक प्रकारसे मर ही गया था, फिर भी जीवित हो गया ॥७६॥

श्रीशुक उवाच—

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया।

मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः॥७७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दिति इन्द्रके शुद्ध भावसे सन्तुष्ट हो गयीं। देवराज इन्द्रने दितिको प्रणाम किया और उनसे आज्ञा लेकर मरुद्-गणोंके साथ स्वर्ग चले गये॥७७॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।

मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते॥७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे श्रीमरुदुत्पत्तिनामाष्टादशोऽध्यायः॥

हे परीक्षित्! तुमने जो मुझसे पूछा था, मरुद्गणोंके जन्मका यह मङ्गलमय वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब क्या पूछना चाहते हो, पूछो, मैं तुम्हें सविस्तार बतलाऊँगा॥७८॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके अष्टारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः
पुंसवन-व्रतकी विधि

श्रीराजोवाच—

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम्।
तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे महात्मन्! आपने जिस पुंसवन-व्रतके विषयमें बतलाया और कहा कि इस व्रतसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं, अब मैं इसकी विधि जानना चाहता हूँ ॥१॥

श्रीशुक उवाच—

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्धर्तुरनुज्ञया।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥
निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च।
स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालङ्कृताम्बरे।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! यह व्रत सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। स्त्रीको अपने पतिकी आज्ञाके अनुसार अग्रहायण (मार्गशीर्ष) मासकी शुक्ल प्रतिपदासे इस व्रतका आरम्भ करना चाहिए। व्रतके आरम्भसे पूर्व मरुद्गणोंके जन्मका वृत्तान्त सुने। इसके बाद ब्राह्मणोंसे अनुमति ले। प्रतिदिन प्रातःकाल दातुन आदिसे दाँतोंको साफ करके स्नान करे। स्नानके बाद दो सफेद वस्त्र धारण करे और बादमें सुसज्जित होकर कुछ भी खानेसे पहले लक्ष्मी-नारायणकी पूजा करे ॥२-३॥

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४ ॥

इसके बाद इस प्रकार प्रार्थना करे—हे पूर्णकाम! आप सब प्रकारसे ही परिपूर्ण हैं। आपका अन्य किसी वस्तुसे कोई प्रयोजन नहीं है। आपको नमस्कार है। आप महाविभूतिस्वरूपिणी लक्ष्मीदेवीके पति हैं और अणिमादि समस्त सिद्धियाँ आपमें वर्तमान हैं। आपको नमस्कार है ॥४॥

यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिमौजसा।

जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः ॥५॥

हे ईश! आप कृपा, ऐश्वर्य, तेज, महिमा एवं बल आदि अन्यान्य समस्त गुणोंसे विभूषित हैं। इसलिए आपको भगवान् कहा जाता है। आप सर्वशक्तिमान् हैं ॥५॥

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे।

प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥६॥

इस प्रकार भगवान् विष्णुको नमस्कार करके लक्ष्मीको नमस्कार करे—हे स्वरूपशक्तिरूपिणी! आप भगवान् विष्णुकी प्रिया हैं! आपमें पुरुषोत्तम भगवान्के समान निरपेक्षत्वादि सारे गुण निवास करते हैं। हे महाभागे! मेरे प्रति प्रसन्न हों। हे जगन्माता! आपको नमस्कार है ॥६॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहरामीति। अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहना-
र्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासोपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूपदीपो पहाराद्युपचारान्
सुसमाहितोपाहरेत् ॥७॥

हे पुरुषोत्तम! हे महाप्रभावशाली! हे लक्ष्मीपति! आप ऐश्वर्यादि षड्गुणोंसे परिपूर्ण हैं। आपको नमस्कार है। आपके विष्वक्सेनादि पार्षद और विभूतियोंके साथ आपको मेरा पूजोपहार समर्पण है। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा समाहित चित्तसे प्रतिदिन विष्णुका आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वास, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, और नैवेद्य समर्पित करे ॥७॥

हविःशेषञ्च जुहुयादनले द्वादशाहुतीः ।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति ॥ ८ ॥

इसके बाद नैवेद्यसे युक्त हविके द्वारा 'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें बारह आहुतियाँ प्रदान करे ॥ ८ ॥

श्रियं विष्णुञ्च वरदावाशिषां प्रभवानुभौ ।

भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत् सर्वसम्पदः ॥ ९ ॥

यदि कोई सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी इच्छा करता है, तो ऐसा होनेपर वह प्रतिदिन भक्तिभावसे लक्ष्मी-नारायणकी सर्वदा पूजा करे। वे दोनों ही वर प्रदान करनेवाले और समस्त मङ्गलोंके आकर स्वरूप हैं ॥ ९ ॥

प्रणमेदण्डवद्भूमौ भक्तिप्रद्वेण चेतसा ।

दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥ १० ॥

तदनन्तर भक्ति-भावसे परिपूर्ण होकर नम्रचित्तसे भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करे तथा दस बार उक्त मन्त्रका जप करे और इसके बाद निम्न स्तोत्रका पाठ करे ॥ १० ॥

युवान्तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ।

इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥ ११ ॥

हे भगवन् लक्ष्मी-नारायण! आप दोनों ही इस जगत्के अधिपति हैं और आप ही इसके मुख्य कारण हैं। माता लक्ष्मीको समझ पाना बड़ा कठिन है। इनका पार नहीं पाया जा सकता, क्योंकि ये आपकी चिन्मय शक्ति और अव्यक्त प्रकृति हैं ॥ ११ ॥

तस्या अधीश्वरः साक्षात् त्वमेव पुरुषः परः ।

त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान् ॥ १२ ॥

हे प्रभो! आप इन महामाया प्रकृतिके अधीश्वर हैं। आप ही साक्षात् परम पुरुष हैं। ये लक्ष्मीजी इज्या (यज्ञाङ्ग-विशेष) एवं यज्ञ-क्रिया हैं और आप इस यज्ञके फल-भोक्ता हैं ॥ १२ ॥

गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभृग्भवान्।
 त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशयाः।
 नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥ १३ ॥

माता लक्ष्मीदेवी तीनों गुणोंकी प्रकाश-स्वरूपा हैं, आप गुणोंके प्रकाशक और भोक्ता हैं। आप शरीरधारी जीवोंके आत्मा हैं और लक्ष्मीजी शरीर और इन्द्रियोंकी आश्रयरूपा हैं। लक्ष्मीजी नाम और रूप हैं और आप नाम एवं रूपके प्रकाशक एवं आधार हैं ॥ १३ ॥

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ।
 तथा म उत्तमःश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥ १४ ॥

आप दोनों ही त्रिलोकीके अधिष्ठाता एवं वरप्रदाता परमेश्वर हैं। अतएव हे उत्तमश्लोक! आपसे हमारे बड़े-बड़े मनोरथ पूर्ण हों ॥ १४ ॥

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह।
 तत्रिःसार्योपहरणं दत्त्वाचमनमर्चयेत् ॥ १५ ॥

परीक्षित्! इस प्रकार भगवान् श्रीनिवास और लक्ष्मीदेवीकी स्तुति करके वहाँसे पूजोपहार-नैवेद्यादि हटा दे और पुनः आचमनीय जल निवेदित करके अर्चन करे ॥ १५ ॥

ततस्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा।
 यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

इसके बाद परम भक्ति भावसे भगवान् तथा लक्ष्मीजीकी स्तुति करे और यज्ञावशेषको सूँघकर पुनः श्रीहरिका अर्चन करे ॥ १६ ॥

पतिञ्च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा।
 प्रियैस्तैस्तरुपनमेत् प्रेमशीलः स्वयं पतिः।
 बिभृयात् सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥ १७ ॥

पत्नीको चाहिये कि वह ऐकान्तिकी निष्ठाके साथ अपने पतिमें ईश्वर बुद्धि रखकर कथित साम्रगियोंके द्वारा उसकी सेवा करे और पतिका भी कर्तव्य है कि वह प्रसन्नताके साथ पत्नीके विविध कार्योंमें अनुकूल रहे ॥ १७ ॥

कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत् समाहितः ॥ १८ ॥

पति और पत्नीमें-से कोई एक भी इस व्रतका अनुष्ठान करता है, तो दोनों ही फलके भागी होते हैं। अतः यदि पत्नी व्रत करनेमें कभी असमर्थ रहे, तो पति अपने चित्तको समाहित करके इस व्रतका अनुष्ठान पूर्ण कर सकता है ॥ १८ ॥

विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात् कथञ्चन।
विप्रान् स्त्रियो वीरवतीः स्रगन्धबलिमण्डनैः।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः ॥ १९ ॥
उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामसमृद्धये तथा ॥ २० ॥

जो इस व्रतको धारण करती है, वह (क्रोध आदि किसी भी कारणसे) कभी भी व्रतको भङ्ग न करे। वह ब्राह्मणों एवं पति-पुत्रवाली सुहागिन स्त्रियोंकी माला, गन्ध, उपहार एवं अलङ्कारादिके द्वारा प्रतिदिन पूजा करे। नियमका पालन करते हुए प्रत्येक दिन ही भक्तिपूर्वक भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करे। इसके बाद भगवान्को शयन करानेके लिये उनके धाममें पधरा दे और उन्हें पहलेसे ही निवेदित वस्तुओंको यथारूप विभाग करके ग्रहण कर ले। इससे आत्म-शुद्धि होती है और अभिलाषाओंकी पूर्ति होती है ॥ १९-२० ॥

एतेन पूजाविधिना मासान् द्वादश हायनम्।
नीत्वाथोपरमेत् साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥ २१ ॥

साध्वी स्त्री इस प्रकारकी पूजाविधिके अनुसार बारह महीनों तक चलनेवाले इस व्रतका पालन करे। जब एक वर्ष बीत जाय, तब कार्तिक मासकी पूर्णमासी तिथिके दिन उपवास करे ॥ २१ ॥

श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत्।
पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥ २२ ॥

दूसरे दिन प्रभातके समय आचमनादि करके श्रीकृष्णकी पूर्ववत् अर्चना करे। इसके बाद गुह्य-सूत्रोंमें वर्णित पाक-यज्ञ विधिके अनुसार घीसे खीर पकाये और इस चरुके द्वारा पति बारह बार अग्निमें आहुति दे॥२२॥

आशिषः शिरसादाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः।

प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया॥२३॥

अनन्तर ब्राह्मण प्रसन्न होकर आशीर्वचन कहें, जिन्हें वह बड़े आदरके साथ सिर झुकाकर स्वीकार करे और उन्हें प्रणाम करके उनकी अनुमतिके अनुसार स्वयं भोजन करे॥२३॥

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः।

दद्यात् पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजस्त्वं सुसौभागम्॥२४॥

इसके बाद पति वाणीको संयम करके सर्वप्रथम आचार्यको स्थान दे और चरु (घीसे बनी खीर)के अवशेषको अपनी पत्नीको प्रदान कर दे। इससे सत्पुत्र एवं समस्त सौभाग्यकी प्राप्ति होती है॥२४॥

एतच्चरित्वा विधिवद्ब्रतं विभो-

रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह।

स्त्री चैतदास्थाय लभेत सौभागं

श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम्॥२५॥

इस व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करनेसे इसी जन्ममें ही भगवान्से सभी मनोवाञ्छित वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती है। स्त्री यदि इस व्रतका विधिवत् अनुष्ठान करे तो सौभाग्य, सम्पद्, सन्तान, दीर्घजीवी पति, यश और गृह आदि प्राप्त हो जाते हैं॥२५॥

कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं

वर्ति त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम्।

मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी

सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम्॥२६॥

विन्देद्विरूपा विरुजा विमुच्यते
 य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम्।
 एतत् पठन्नभ्युदये च कर्म-
 ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम् ॥ २७ ॥
 तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान्
 होमावसाने हुतभुक् श्रीर्हरिश्च।
 राजन्महन्मरुतां जन्म पुण्यं
 दितेव्रतं चाभिहितं महत् ते ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं नामैकोनविंशोऽध्यायः।

परीक्षित्! कन्या इस पुंसवन-व्रतका पालन करे तो समस्त लक्षणोंसे युक्त पति प्राप्त कर सकती है, विधवा इस व्रतका पालन करे तो निर्दोष होकर वैकुण्ठादि गति प्राप्त करती है, जिसके बालक मर जाते हैं, ऐसी स्त्री आयुष्मान पुत्र एवं सम्पत्ति प्राप्त करती है। अभागिनीको सौभाग्य प्राप्त होता है और कुरूपाको सौन्दर्यकी प्राप्ति हो जाती है। रोगी इस व्रतका पालन करनेसे रोगसे मुक्त हो जाता है और इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे युक्त श्रेष्ठ शरीर प्राप्त कर लेता है। जो अपने पितर एवं देवताओंके लिए माङ्गलिक श्राद्धकर्मादि करते हुए इस आख्यायिकाका पाठ करते हैं, पितर एवं देवता उनसे अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाते हैं और बड़े प्रसन्न भावसे उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण कर देते हैं। यज्ञकी समाप्तिपर यज्ञभोक्ता विष्णु और लक्ष्मीदेवी भी उसपर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। हे राजन्! मैंने तुम्हें मरुद्गणोंका पुण्यदायक जन्म-वृत्तान्त और दितिके महान् पुंसवन-व्रतका वर्णन यथाशक्ति सुना दिया ॥२६-२८॥

इति श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके उन्नीसवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठः स्कन्धः समाप्तः।





सप्तम स्कन्धकी कथाका सार

पूर्व स्कन्धमें हिरण्याक्ष-वधके प्रसङ्गमें महाराज परीक्षितने जब यह श्रवण किया कि समस्त प्राणियोंमें समदर्शी भगवान्का ऐसा पक्षपातित्व भी है तो उन्होंने श्रीशुकदेवसे इसके कारणकी जिज्ञासा की। तब श्रीशुकदेवने कहा—निर्गुण श्रीहरिका किसीके प्रति कोई राग-द्वेष नहीं है। त्रिगुण-बद्ध जीवमें त्रिगुणके कार्य—राग, द्वेषादि लक्षित होते हैं। पहले राजा युधिष्ठिरने भी ऐसा ही प्रश्न किया था, तब देवर्षि नारदने शिशुपालकी कथाका उल्लेख करते हुए बतलाया था कि अनुकूलरूपसे अनुशीलनकी तो बात ही क्या है, प्रतिकूल भावसे अनुशीलन करने वालेकी भी अनायास ही मुक्ति हो जाती है।

श्रीवराहदेव द्वारा हिरण्याक्षके मारे जानेपर हिरण्यकशिपु इसके प्रतिशोधके लिए तैयार हो गया। उसने अपने अनुचरोंको आदेश दिया कि वे ब्राह्मणोंको मार डालें। उसकी धारणा यह थी कि विप्रादिका विनाश होनेसे यज्ञ-क्रियाओंका लोप हो जाएगा, इससे यज्ञपुरुष विष्णुका भी मूलोत्पाटन हो जाएगा। ऐसा निश्चय करके हिरण्यकशिपुने भाई-शोकसे कातर माँ एवं भ्रातृवधू (भाभी) को द्विविध उपाख्यानोंके वर्णनके माध्यमसे तत्त्वोपदेश देकर उन्हें शोक-मुक्त कर दिया। इनमें प्रथम था—उशीनर देशके राजाकी मृत्युपर यमराजके द्वारा बालक-वेशमें राजमहिषियोंको प्रदत्त तत्त्वोपदेश और द्वितीय था—व्याधके बाणसे निहत पक्षिणीके लिए शोक प्रकाश करते हुए उसी व्याधके हाथसे विरह-तप्त पक्षीकी मृत्यु।

हिरण्यकशिपुने अजेय एवं अमर होनेकी इच्छासे कठोर तपस्या करके चौदह लोकोंको सन्तप्त कर दिया था। हिरण्यकशिपुकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे वरदान दिया कि जगत्में सृष्ट किसी भी प्राणी द्वारा, किसी भी अस्त्रके द्वारा भूमण्डलमें अथवा नभमण्डलमें, दिनमें अथवा रात्रिमें—किसीसे भी उसकी मृत्यु नहीं होगी।

वरदान प्राप्त करके हिरण्यकशिपुने सभी लोकपालोंको अपने वशमें कर लिया और महेन्द्र-भवनमें विहार करते हुए दिव्य-सुख प्राप्त करने लगा। उसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर देवता श्रीहरिके शरणापन्न हुए। भगवान्ने उनको अभय प्रदान करते हुए कहा कि यह दुरन्त असुर जिस समय अपने पुत्र प्रह्लादसे विद्वेष करेगा, उसी समय भक्तवत्सल भगवान् इस हिरण्यकशिपुका वध कर डालेंगे।

हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र एवं अन्य असुर-बालकोंको गुरुपुत्र षण्डामर्कके पास अध्ययनके लिए समर्पण कर दिया। दोनों गुरुओंके द्वारा दी गयी राजनीति विषयक शिक्षासे प्रह्लादका मन प्रसन्न नहीं हुआ। एक दिन हिरण्यकशिपु प्रह्लादको गोदमें बिठाकर पूछने लगे, “पुत्र! तुम्हारे विचारसे उत्तम श्रेयः क्या है?” प्रह्लादने कहा, “देहादिमें अहं-ममाभिमान त्याग करके वनमें जाकर श्रीहरिका सब प्रकारसे आश्रय करना ही उत्तम श्रेयः है।” यह सुनकर हिरण्यकशिपुने षण्डामर्कको बुलाकर कहा कि इस बातके लिए विशेष सतर्कता रखी जाय कि प्रह्लादकी बुद्धि सुरजनोचित न होने पाये। षण्डामर्क प्रह्लादका नाना प्रकारसे शासन करके त्रिवर्ग-प्रतिपादक शास्त्रोंका अध्ययन कराने लगे। कुछ दिनोंके बाद प्रह्लादको समस्त शास्त्रोंमें ही अभिज्ञता प्राप्त हो गयी है—यह समझकर गुरुबुर्बुर्बुने इस बातको राजाके समीप निवेदन कर दिया। हिरण्यकशिपुने पुनः प्रह्लादके उत्कृष्ट अध्ययनके विषयमें जानना चाहा, तभी प्रह्लादने कहा—भगवान्में आत्मसमर्पण करते हुए भक्तिके नवविध अङ्गोंका अनुष्ठान उत्तम अध्ययनका फल है। यह सुनकर दैत्यराज क्रोधित हो उठा। उसने गुरुपुत्रोंका बहुत तिरस्कार किया। गुरुपुत्रोंने दैत्यराजसे कहा कि प्रह्लादकी मति स्वभावतः ही विपर्यस्त है। दैत्यराजने प्रह्लादसे पूछा कि इसे विष्णु-भक्तिकी प्राप्ति कैसे हो गयी? तब प्रह्लादने कहा, गृहव्रतियोंकी मति स्वयंसे अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे भगवान्में नियुक्त नहीं हो सकती। वे इस क्लेशमय संसारमें पुनः-पुनः गमनागमन करते हुए चर्वितका ही चर्वण कर रहे हैं। वे विषयमोहान्ध गुरुबुर्बुर्बुके हाथोंमें पड़कर एक अन्धा दूसरे अन्धेके द्वारा चालितके समान कर्मकाण्डात्मक वेदशास्त्रके काम्यकर्मसे मोहित होकर और भी आबद्ध

हो जाते हैं। निष्किञ्चन महद्गणोंकी पद-रजमें अभिषिक्त न होनेपर भगवान्में मति लग नहीं सकती।” इस प्रकार हिरण्यकशिपु प्रह्लादके स्वजन-वचनकी अवहेलना, आत्मीयोंका परित्याग, अपने पितृव्य-हन्ता विष्णुका दासत्व-वरण इत्यादि अपराधोंकी शान्तिके लिए उनको विविध उपायोंसे मारनेकी चेष्टा करने लगा। अनेक चेष्टाएँ करके भी जब प्रह्लादका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, तब शुक्राचार्यके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए उस दैत्यराजने प्रह्लादको वरुण-पाशसे बाँध दिया तथा राजनीतिका उपदेश करने लगा किन्तु प्रह्लादको राजनीति एवं अर्थशास्त्र आदिकी वार्त्ताएँ रुचिकर न लगीं।

एक दिन गुरुपुत्रोंकी अनुपस्थितिमें प्रह्लाद असुर-बालकोंको जीवमात्रकी कौमार-कालसे ही भगवत्-भजनकी कर्त्तव्यता, मूर्ख एवं अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंकी कुटुम्ब-पोषणके लिए आयु-हरणकारी व्यर्थ चेष्टाएँ, आयुकी अल्पता, त्रिवर्गकी निष्कपटता, आत्मेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छाका त्याग करके अधोक्षज श्रीकृष्णके प्रीति-विधानकी चेष्टाएँ इत्यादिके विषयमें बतलाने लगे। उन्होंने श्रीनारदजीकी कृपासे भगवत्-ज्ञान-प्राप्ति इत्यादि प्रसङ्ग भी कहे। “अन्तःपुर-निबद्ध प्रह्लादको किस प्रकार देवर्षि नारदका साक्षात्कार हुआ?” असुर-बालकोंके द्वारा यह पूछे जाने पर प्रह्लादने अपने पिताके तपस्याके लिए जानेके बाद इन्द्रका असुर-पुरीमें आक्रमण, प्रह्लादकी माताको लेकर इन्द्रका प्रस्थान, पथमें नारदकी कृपासे माताकी रक्षा, नारदके आश्रममें उनका अवस्थान, नारदकी कृपासे स्वेच्छा-प्रसव-वर-प्राप्ति एवं प्रह्लादको उद्दिष्ट करके नारदका तत्त्वोपदेश इत्यादि सम्पूर्ण वृत्तान्तका वर्णन किया।

प्रह्लादके उपदेशसे असुर-बालकोंकी भगवत्-निष्ठा देखकर गुरुब्रुवोंने यह बात राजाके समीप निवेदित की। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादका संहार करनेका पूरा मन बना लिया था, तब भी प्रह्लाद निर्भीक रूपसे उनके सामने दण्डवत् अवस्थामें पड़े हुए थे, यह देखकर दैत्यराजने प्रह्लादसे पूछा कि “किसके बलपर इतने बलवान् होकर वह त्रिभुवन-विजयी हिरण्यकशिपुके समक्ष इस प्रकारसे निर्भीक अवस्थामें स्थित है?” प्रह्लादने उत्तर दिया कि जो ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सभीको अपने वशमें किये हुये हैं एवं जो सर्वत्र सर्वव्यापकरूपसे

अवस्थित हैं, वे ही मेरे (प्रह्लादके), आपके (दैत्यराजके) एवं अन्यान्य बलवानोंके बल हैं। प्रह्लादने दैत्यराजसे और भी कहा कि यह असुरराज त्रिभुवन-विजयीके रूपमें अभिमान कर रहा है। जो जितेन्द्रिय होकर आसुरिक स्वभावका परित्याग करके श्रीहरिकी उपासना करते हैं, वास्तवमें तो वे ही विजयी हैं। “श्रीहरि सर्वव्यापक हैं”। प्रह्लादसे पूछा कि “इस निकटस्थ स्तम्भमें श्रीहरि हैं? या नहीं?” प्रह्लादने विज्ञापित किया कि “हाँ! इस स्तम्भमें भी श्रीहरिका अस्तित्व विद्यमान है। हिरण्यकशिपुने बड़े वेगके साथ उस स्तम्भपर मुट्ठीका प्रहार किया, जिससे बड़ा भयङ्कर शब्द सुनाई पड़ा। अगले ही क्षण भक्त-वचनको सत्य करनेके लिये श्रीहरि नृसिंह-मूर्तिमें आविर्भूत हो गये और हिरण्यकशिपुपर आक्रमण कर दिया। प्राणरक्षाके लिये हिरण्यकशिपुकी विविध चेष्टाओंको प्रतिहत करके नृसिंहदेवने उसे अपनी जङ्घाके ऊपर रखा तथा दिवा एवं रात्रिके सन्धि-स्थलपर अर्थात् सन्ध्याकालमें नखोंके द्वारा उसके हृदयको विदीर्ण कर डाला। उसके साथ ही अन्य अनेक दैत्योंका भी वध उन्होंने किया। सम्पूर्ण विश्व दैत्य-उत्पीड़नसे निस्तार प्राप्त करके आनन्दपूर्वक श्रीहरिका स्तव-स्तुति करने लगा।

हिरण्यकशिपुके वधके बाद कोपाविष्ट श्रीनृसिंहदेवकी कोप-शान्तिके लिये ब्रह्मादि देवताओंका इतना ही नहीं, लक्ष्मीदेवीका भी साहस नहीं हुआ। तब भक्त प्रह्लाद निर्भय होकर भगवान्‌के चरणोंके समीप पहुँचे और उन्हें साष्टाङ्ग-दण्डवत् प्रणाम् करके उनकी स्तुति करने लगे। “प्राकृत अभिमानके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न नहीं किया जा सकता।” द्वादशगुणोंसे युक्त अभक्त विप्रकी अपेक्षा चाण्डाल-कुलमें अवतीर्ण भक्त श्रेष्ठ है। भगवान् आप्तकाम, स्वयंमें परिपूर्ण हैं, निष्कपट भगवत्-दास्य ही निस्तारका एकमात्र उपाय है। भगवान्‌में भक्ति सद् अथवा असद् वंशमें जन्म ग्रहणकी अपेक्षा नहीं करती। सुर-असुर, उत्तम-अधम सभी पर निर्विशेषरूपसे भगवत्-कृपा वर्षित होती है। जो भक्त भगवान्‌के गुण-कीर्तनमें लगे रहते हैं, वे ही संसार-भयसे रहित होते हैं। भगवद्-भक्तोंकी कृपाके बिना भगवान्‌की कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती। भगवान् युग-युगमें अवतीर्ण होकर शिष्टजनोंका

पालन एवं दुष्टोंका दमन करते हुए धर्मकी संस्थापना करते हैं। वे कलियुगमें प्रच्छन्नरूपसे अवतीर्ण होते हैं, इसलिये उनका नाम 'त्रियुग' है। प्रह्लादके ऐसे सारगर्भ, रहस्यपूर्ण एवं तात्त्विक वचनोंसे युक्त स्तवनके द्वारा श्रीनृसिंहदेव सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने प्रह्लादको वरदान देना चाहा—इसपर प्रह्लादने विचार करते हुए कहा कि भगवान्‌के निकटसे आत्मेन्द्रिय-प्रीतिकी कामना वणिक्-वृत्ति मात्र है, यह तो सेवा कभी भी नहीं है। 'काम' (कामनाएँ अथवा एषणाएँ) अतिशय अनिष्टकारी हैं। जब तक व्यक्ति कामनासे रहित नहीं होता, तब तक भगवान्‌की सेवाकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। प्रह्लादके ऐकान्तिक भावसे सन्तुष्ट होकर श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लादकी अनिच्छा होनेपर भी उनको एक मन्वन्तर काल पर्यन्त राजभोग एवं समस्त कर्मोंको भगवदर्पण करते हुए निष्काम भक्तियोगके आश्रयका आदेश दिया। प्रह्लादने भगवान् एवं भक्तोंके समीप हिरण्यकशिपुके अपराध-मोचनके लिए प्रार्थना की। श्रीनृसिंहदेवने वैष्णवके कुल एवं देशपावनत्वके विषयका उल्लेख करके प्रह्लादके वैष्णव-गुणसे हिरण्यकशिपुके पवित्रत्वका ज्ञापन कर दिया।

महाराज युधिष्ठिर प्रह्लादके चरित्रको श्रवण करके अत्यधिक आनन्दित हुए। वे श्रीनारदसे मनुष्य-मात्रके धर्मको जाननेकी इच्छा करने लगे। नारदने कहा कि धर्मके मूल कारण विष्णु हैं। सत्य, दयादि तीस लक्षण मनुष्यमात्रके साधारण धर्म हैं। यह निरूपण करनेके पश्चात् नारदने चार वर्णोंके लक्षणोंके अनुसार वर्णका निर्णय करना शास्त्रीय विधि है अर्थात् जन्मके अनुसार ब्राह्मणादि वर्णका निरूपण करना मुख्य विधि नहीं है—इस तरह और भी बातें बतलायीं।

अनन्तर देवर्षि नारदने आश्रम-धर्मके प्रसङ्गमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चारों आश्रमोंका और प्रत्येक आश्रमके कर्तव्योंका स्वतन्त्ररूपसे वर्णन किया।

देवर्षि नारदने मोक्षधर्म-प्रसङ्गमें बतलाया कि—“ब्राह्मणोंमें कोई कर्मनिष्ठ, कोई ज्ञान, कोई योग अथवा कोई तपोनिष्ठ है। मोक्षार्थी कर्मनिष्ठ गृहस्थके देव-पितरादिके उद्देश्यसे देय हव्य-कव्यादिका सुष्ठुरूपसे निर्वाह करनेके लिए ब्राह्मण-बाहुल्यका वर्जन करके एकमात्र ज्ञाननिष्ठ

विप्रगणोंको ही दान करना प्रशस्त है—श्रीहरिके लिए निवेदित अन्नको पितरादिके लिए श्रद्धाके साथ अर्पण करनेका नाम श्राद्ध है—धर्मज्ञ व्यक्तिके लिए छल, धर्मादि पञ्चविध अधर्म अवश्य ही परित्यज्य हैं, स्वभाव-विहित धर्माचरण ही श्रेयः है, काम-क्रोधादि रिपु हैं, त्रिताप एवं त्रिगुणादिको जय करनेका एकमात्र उपाय श्रीगुरुपादपद्ममें आत्म-समर्पण है, गुरु कृष्णसे अभिन्न हैं, उनमें मर्त्यबुद्धि करना अधःपतनका हेतु है, कुटुम्बादिके सङ्गदोषसे चित्त विक्षिप्त होता है, अतः गृह-त्याग श्रेयस्कर है। गृहस्थका क्रिया-त्याग, तपस्वीका ग्राममें वास एवं संन्यासीका इन्द्रिय-चाञ्चल्य—ये आश्रमके छलनामात्र हैं। दो ही मार्ग हैं—प्रवृत्ति एवं निवृत्ति। प्रवृत्ति मार्गसे संसार-बन्धन है और निवृत्ति मार्गसे संसार-मोचन है—इत्यादि विषयोंका सुष्ठु रूपसे वर्णन किया है।



श्रीमद्भागवतम्

सप्तमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

नारद-युधिष्ठिर संवाद और जय-विजयकी कथा

श्रीराजोवाच—

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्।

इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! सभी प्राणियोंमें समदर्शी, समस्त भेदभावोंसे रहित एवं सभीके प्रिय और सुहृद् भगवान् विष्णुने साधारण लोगोंकी भाँति देवराज इन्द्रका पक्ष लेकर दैत्योंका वध क्यों किया? समदर्शी व्यक्तिके द्वारा पक्षपात करना तो उचित नहीं है ॥ १ ॥

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षात्रिःश्रेयसात्मनः।

नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २ ॥

भगवान् विष्णु स्वयं परमानन्द-स्वरूप हैं। अतः देवताओंका पक्ष लेनेसे उनका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? और जो स्वयं निर्गुण हैं, उन्हें असुरोंसे क्या भय हो सकता है और क्या उद्वेग! अतः किस कारणसे उन्होंने असुरोंसे द्वेष किया? ॥ २ ॥

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति।

संशयः सुमहान् जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

हे महाभाग! भगवान् नारायणके अनुग्रह-निग्रह आदि गुणोंके सम्बन्धमें हम सभीके मनमें बड़ा संशय हो रहा है, आप प्रमाणोंके द्वारा हमारे संशयको निर्मूल कीजिए ॥३॥

श्रीऋषिरुवाच—

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम्।
यद् भागवतमाहात्म्यं भगवद्-भक्तिवर्द्धनम् ॥ ४ ॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेव ऋषिने कहा—महाराज, आपने अतिशय उत्तम प्रश्न किया है, क्योंकि ऐसे प्रसङ्गोंमें श्रोताओंको आह्लादित करनेवाली और उनके संसार-दावानलको मिटानेवाली भगवान् श्रीहरिकी अति अद्भुत लीला-कथाओंका वर्णन होता है, जिनका श्रवण करनेसे भगवद्-भक्ति बढ़ती है। यही कारण है कि नारदादि महर्षिगण परम पवित्र तथा भगवद्भक्ति वर्द्धक इस श्रीमद्भागवतके माहात्म्यका सदैव गान करते हैं। परीक्षित्! अब मैं महर्षि वेदव्यासको प्रणाम करके भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथाओंका वर्णन करूँगा ॥४-५॥

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥

भगवान् विष्णु प्रकृतिसे अतीत, अजन्मा, निर्गुण एवं राग-द्वेषादिके निमित्त-भौतिक देह एवं इन्द्रियोंसे रहित हैं। ऐसा होनेपर भी वे अपनी स्वरूप शक्तिके प्रभावसे बद्ध-जीवोंके समान बाध्य-बाधकता अर्थात् परस्पर द्वेषभावरूपी वैषम्यको स्वीकार करते हैं ॥६॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः
न तेषां युगपद्राजन् हास उल्लास एव वा ॥ ७ ॥

हे राजन्! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं, परमात्माके नहीं। इन सभी गुणोंकी एक ही समय और एक ही साथ घटती-बढ़ती नहीं होती ॥७॥

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८ ॥

समय—समयपर इन गुणोंकी वृद्धि एवं क्षय होते हैं। सत्त्वगुण अपने वृद्धिकालमें सतोगुणी देवताओं और ऋषियोंका सेवन करता है। रजोगुण अपनी वृद्धिके समय रजोगुणमय असुरोंकी समृद्धि करता है और तमोगुण अपनी वृद्धिके अवसरपर यक्ष-राक्षस आदिकी उन्नति करता है ॥ ८ ॥

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातात्र विविच्यते।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥ ९ ॥

समस्त प्राणियोंमें समदर्शी भगवान् विभिन्न वस्तुओंमें विभिन्न प्रकारसे कम या अधिक रूपमें उसी प्रकार प्रकाशित होते हैं, जिस प्रकार काष्ठ आदिमें अग्नि, पात्र आदिमें जल और घट-पटादिमें आकाश नाना रूपोंमें प्रकाशित होता है। भगवान् सुर-असुर आदि सभीमें समानरूपसे व्याप्त हैं, विवेकीगण आत्मामें स्थित परमात्माका मन्थन करके व्यक्ति-विशेषकी क्रियाओंके लक्षण देखकर जान लेते हैं कि यह व्यक्ति देवता है या राक्षस ॥ ९ ॥

यदा सिसृक्षुः पुरः आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥ १० ॥

भगवान् जिस समय अपनी मायाके द्वारा जीवोंके भोगके लिए देहोंकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं, तब वे साम्यावस्थामें स्थित रजोगुणकी पृथक् रूपसे सृष्टि करते हैं और विचित्र देहोंमें जब वे क्रीड़ा करना चाहते हैं, तो सत्त्वगुणकी पृथक् रचना कर लेते हैं और जब वे इस सबका संहार करना चाहते हैं, तो तमोगुणको प्रेरित करते हैं ॥ १० ॥

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ॥ ११ ॥

हे परीक्षित्! चित्-अचित् ईश्वर, अमोघ (सत्यसङ्कल्प) भगवान् जगत्की उत्पत्तिके कारण प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके सहकारी एवं आश्रयभूत कालकी स्वयं सृष्टि करते हैं। अतः काल उनकी चेष्टा स्वरूप है, वे स्वयं कालके अधीन नहीं हैं ॥११॥

य एष राजत्रपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो
रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः ॥ १२ ॥

हे राजन्! यह काल जब सत्त्वगुणको बढ़ाता है, तब सत्त्वगुण विशिष्ट देवताओंका भी बल बढ़ता है और तभी वे तमोगुणी असुरोंका संहार करते हैं। इस प्रकारसे कालप्रेरक भगवान् विष्णुकी विपुल कीर्ति प्रकाशित होती है। वे तो वैषम्य-रहित हैं, वे किसीका पक्ष नहीं लेते ॥१२॥

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा।
प्रीत्य महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥ १३ ॥

हे राजन्! जब पाण्डवोंका राजसूय महायज्ञ हो रहा था, उस समय राग-द्वेषादि रहित और समदर्शी भगवान्के दैत्य-वधके सम्बन्धमें तुम्हारे दादा अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरने देवर्षि नारदसे ऐसा ही प्रश्न किया था। तब नारदजीने एक इतिहास सुनाया था ॥१३॥

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥ १४ ॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥ १५ ॥

हे राजन्! पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने राजसूय नामक महायज्ञमें चेदि-देशाधिपति शिशुपालको भगवान् वासुदेवकी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करते देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे, तब सभीके समक्ष

युधिष्ठिर महाराजने उस यज्ञसभामें विराजमान देवर्षि नारदसे यही प्रश्न किया था ॥१४-१५॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्गुल्भैकान्तिनामपि।

वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि अनन्यचित्त भक्तोंके लिए भी जिन परमतत्त्वरूप भगवान् वासुदेवकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, इस शिशुपालको उन भगवान् वासुदेवसे विद्वेष करनेपर भी उनकी प्राप्ति कैसे हुई? ॥१६॥

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने।

भगवन्निन्दया वेणो द्विजैस्तमसि पातितः ॥ १७ ॥

हे मुने! यह शिशुपाल भगवान् वासुदेवका विद्वेषी होकर भी उनको प्राप्त करनेमें कैसे समर्थ हो गया? हम सभी इसका कारण जानना चाहते हैं। पूर्वकालमें भगवान्की निन्दा करनेके कारण ब्राह्मणोंने राजा वेणको नरकमें डाल दिया था, शिशुपालको भी तो नरक मिलना चाहिए ॥१७॥

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात्।

सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः ॥ १८ ॥

दमघोषके पुत्र पापी शिशुपालने जबसे बाल्यकालमें तोतली बोली बोलना प्रारम्भ किया था, तभीसे लेकर आजतक वह श्रीकृष्णसे द्वेष करता आ रहा था और इसी प्रकार दुर्मति दन्तवक्त्र भी चिरकालसे श्रीकृष्णसे द्वेष करता रहा है ॥१८॥

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम्।

शिवत्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति बार-बार कटूक्तियाँ कहनेपर भी इन दोनोंकी जिह्वामें श्वेत कुष्ठ रोग नहीं हुआ और अब मरनेके

बाद भी इनको घोर अन्धकारमय नरककी प्राप्ति नहीं हुई, इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है? ॥१९॥

कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राह्यधामनि।

पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥ २० ॥

जिन्हें प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, उन भगवान् वासुदेवमें सबके समक्ष ये दोनों अनायास ही लीन हो गये, इसका क्या कारण है? ॥२०॥

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीर्घार्चिरिव वायुना।

ब्रूह्येतद्भुततमं भगवान् ह्यत्र कारणम् ॥ २१ ॥

यह अत्यन्त आश्चर्यका विषय है, सन्देह नहीं। वायुके चलनेपर दीपककी लौ जैसे चञ्चल हो उठती है, ऐसे ही इस विषयमें हमारी बुद्धि भी विकल हो रही है। आप तो सर्वज्ञ हैं, इस आश्चर्यमयी घटनाका क्या कारण है, यह आप हमें बतलाइये ॥२१॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः।

तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथा ॥ २२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—सर्वसमर्थ देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिरके इन वचनोंको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उनको सम्बोधित करते हुए कहने लगे। वहाँ सभामें उपस्थित अन्य लोग भी ध्यानपूर्वक श्रवण करने लगे ॥२२॥

श्रीनारद उवाच—

निन्दनस्तवसत्कारन्यङ्कारार्थं कलेवरम्।

प्रधानपरयो राजत्रिविवेकेन कल्पितम् ॥ २३ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! निन्दा एवं स्तुति, सत्कार एवं तिरस्कारका अनुभव प्रकृति एवं पुरुषकी विवेकहीनताके कारण इस शरीरमें कल्पित हुए हैं (ये सब धर्म शरीरके हैं, आत्माके नहीं।) ॥२३॥

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥ २४ ॥

राजन्! इस शरीरमें अभिमान रहनेसे ही प्राणियोंमें मैं और मेरा इस प्रकारका विषमताका भाव उत्पन्न होता है। यही वैषम्य-भाव पीड़न, ताड़न, हिंसा और निन्दादिका कारण होता है ॥ २४ ॥

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात् प्राणिनां वधः।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥ २५ ॥

इस देहमें आत्माअभिमान होनेके कारण जीव सोचता है कि शरीर नष्ट हो गया तो जीव भी नष्ट हो गया। भगवान् समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं, वे अद्वितीय परतत्त्व हैं, बद्धजीवके समान उनमें मैं-मेरा इस प्रकारका अभिमान नहीं होता। अतः उनमें हिंसा अथवा पर-पीड़नकी कल्पना भी किस प्रकारकी जा सकती है? न वे द्वेषा (द्वेष करनेवाले) हैं और न ही उनमें द्वेषका भाव है। अतः वे असुरोंको जो दण्डादि प्रदान करते हैं, वह सब केवल उनके कल्याणके लिए ही होता है ॥ २५ ॥

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥ २६ ॥

इसलिए क्या वैर भाव, क्या भक्तियोग, क्या भय, क्या स्नेह अथवा क्या काम—इनमें—से किसी भी एक उपाय (अभिधेय) द्वारा अपने मनको सम्पूर्णरूपसे भगवान्में लगा देना चाहिए। किसी भी प्रकारसे भगवान्को पृथक् रूपमें न देखें, अपितु अपने-अपने भावोंके अनुरूप उनका साक्षात् दर्शन करें ॥ २६ ॥

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥ २७ ॥

शत्रुता करके भगवान्में जिस प्रकार तन्मय हुआ जा सकता है, भक्तियोगसे उनमें उस प्रकार तन्मय नहीं हुआ जा सकता—मेरा तो यही निश्चित मन्तव्य है ॥ २७ ॥

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
 संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम्॥ २८ ॥
 एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
 वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥ २९ ॥

जिस प्रकार भृङ्गी (तैलपायी) एक कीटको पकड़कर उसे दीवारपर बने छिद्रमें बन्द कर देता है और वह कीट भय और द्वेषके कारण भ्रमरका स्मरण करते-करते उसीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अर्थात् भृङ्गी ही बन जाता है, उसी प्रकार स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे नित्य नर-स्वरूपमें प्रपञ्चमें अवतीर्ण साक्षात् श्रीभगवान्का शत्रुभावसे चिन्तन करते हुए उन असुरोंके सारे पाप धुल गये और उन्होंने भगवान्को प्राप्त कर लिया ॥२८-२९॥

कामाद्द्वेषाद्भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
 आवेश्य तदग्रं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर! अनेक व्यक्तियोंने भगवान् श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित करके मोक्षकी प्राप्ति की है, चाहे वह कामसे हो, द्वेषसे हो, भयसे हो अथवा स्नेहसे हो। राजन्! भगवान् श्रीकृष्णमें मन निवेश करके निष्पाप होकर अनेक व्यक्तियोंने किस प्रकार उनकी साक्षात्काररूपी मुक्ति प्राप्त की है, यह तुम मुझसे श्रवण करो ॥३०॥

गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
 सम्बन्धाद्द्वेषणयः स्नेहाद्ययं भक्त्या वयं विभो ॥ ३१ ॥

हे महाराज! गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल आदि राजाओंने शत्रुतासे, यदुर्वशियोंने पारिवारिक सम्बन्धसे, तुम लोगोंने स्नेहसे और हम लोगोंने भक्तिसे उन्हें प्राप्त किया है ॥३१॥

कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
 तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥ ३२ ॥

इन पाँच प्रकारके चिन्तन द्वारा भगवान्के स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु राजा वेण तो नास्तिक था। उसने इनमें-से

किसी भी उपायद्वारा भगवान्‌का चिन्तन नहीं किया, इसलिए उसे मोक्षगति प्राप्त नहीं हुई। अतः जिस किसी भी प्रकारसे हो, भगवान्‌ श्रीकृष्णमें मनको लगाना चाहिए॥३२॥

मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव।

पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात् पदच्युतौ ॥ ३३ ॥

हे पाण्डव! तुम्हारे मौसेरे भाई—शिशुपाल एवं दन्तवक्र दोनों ही भगवान्‌ विष्णुके पार्षद थे, ब्रह्म-शापके कारण इन्हें वैकुण्ठसे पतित होना पड़ा था॥३३॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः।

अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥ ३४ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—मुनिवर! जिस शापने भगवान्‌ विष्णुके पार्षदोंको भी प्रभावित कर दिया, वह किसके द्वारा दिया गया था और वह कैसा था? जो भगवान्‌ श्रीहरिके एकान्त भक्त हैं, वे किस प्रकार प्राकृत जन्म ग्रहण कर सकते हैं—इस असम्भव बातपर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है॥३४॥

देहेन्द्रियासु-हीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।

देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ ३५ ॥

हे नारदजी! शुद्ध सत्त्वमय देहधारी वैकुण्ठवासी पार्षदोंका प्राकृत देह और प्राणोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं होता, फिर उनका प्राकृत मनुष्योंके समान प्राकृत देहसे बन्धन किस प्रकार हो गया? आप यह सब मुझे अवश्य बतलाइए॥३५॥

श्रीनारद उवाच—

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया।

सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥ ३६ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! एक बार ब्रह्माके पुत्र सनन्दनादि महर्षि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्द भ्रमण करते हुए संयोगवश विष्णुलोकमें उपस्थित हुए॥३६॥

पञ्चषट्कायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।
द्विग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम्॥ ३७॥

ये महर्षि यद्यपि मरीचि आदि ऋषियोंसे भी प्राचीन हैं, तथापि देखनेमें ये पाँच या छह वर्षके बालकोंके समान प्रतीत होते हैं। ये वस्त्र धारण नहीं करते। 'जय' और 'विजय' नामक द्वारपालोंने उन्हें साधारण बालक जानकर भीतर आनेसे रोक दिया॥३७॥

अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः॥ ३८॥

भीतर प्रवेश करनेसे रोके जानेपर इन महर्षियोंको क्रोध आ गया और इन्होंने उन द्वारपालोंको अभिशाप दे दिया—अरे मूर्खों! भगवान् मधुसूदन तो रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित हैं, अतः तुम दोनों उनके चरणोंकी शरणमें रहनेके योग्य नहीं हो, यहाँसे जाओ और पापपूर्ण आसुरी योनिमें जन्म ग्रहण करो॥३८॥

एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तौ कृपालुभिः।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वा त्रिभिर्लोकाय कल्पताम्॥ ३९॥

राजन्! इस प्रकार शापग्रस्त होकर जय और विजय दोनों द्वारपाल वैकुण्ठसे पतित होने लगे। यह देखकर दयालु ऋषियोंने पुनः उनसे कहा—तीन जन्मोंके पश्चात् तुम्हारे शापकी समाप्ति हो जायेगी और तुम दोनों पुनः इसी वैकुण्ठमें आ जाओगे॥३९॥

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः॥ ४०॥

इन दोनोंने सर्वप्रथम दितिके पुत्रके रूपमें जन्म लिया। इनमें हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था। दैत्य एवं दानव इनका बड़ा सम्मान करते थे॥४०॥

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा।
हिरण्याक्षो धरोद्भारे बिभ्रता शौकरं वपुः॥४१॥

भगवान् श्रीहरिने नृसिंह मूर्ति धारण करके हिरण्यकशिपुका वध किया था और पृथ्वीका उद्धार करते समय भगवान्ने वराह-मूर्ति धारण करके प्रतिकूलता उत्पन्न करने वाले हिरण्याक्षका वध किया था॥४१॥

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम्।
जिघांसुरकरोत्राना यातना मृत्युहेतवे॥४२॥

युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र विष्णुभक्त प्रह्लादका वध करनेकी इच्छासे उसे मृत्युकारिणी बहुत-सी यातनाएँ दीं थीं॥४२॥

तं सर्वभूतात्मभूतं प्रशान्तं समदर्शनम्।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः॥४३॥

प्रह्लाद सभीके अपनी आत्माके समान प्रिय थे। वे प्रशान्त-चित्त, समस्त प्राणियोंमें समदर्शी तथा भगवान्की शक्तिसे सुरक्षित थे। इसलिए अनेक उपाय करनेपर भी हिरण्यकशिपु उन्हें मारनेमें समर्थ न हो सका॥४३॥

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ॥४४॥

इसके पश्चात् ये ही जय-विजय नामक द्वारपाल दूसरे जन्ममें विश्रवाके औरस द्वारा केशिनीके गर्भसे रावण तथा कुम्भकर्ण नामके राक्षस हुए। उस समय समस्त जगत् इनसे अत्यन्त दुःखी था॥४४॥

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात् प्रभो॥४५॥

उनको शापसे मुक्त करनेके लिए भगवान् श्रीहरिने श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण होकर उनका वध किया था। तुम श्रीमार्कण्डेय ऋषिके मुखसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके बल-पौरुषमय चरित्रको श्रवण करोगे ॥४५॥

तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव।

अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥ ४६ ॥

जय और विजय नामक इन दोनों द्वारपालोंने ही तीसरे जन्ममें तुम्हारे मौसेरे भाइयोंके रूपमें क्षत्रिय कुलमें जन्म लिया। भगवान् श्रीकृष्णके चक्राघातसे उनके पाप नष्ट हो गये और वे अभिसम्पातसे मुक्त हो गये ॥४६॥

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।

नीतौ पुनर्हरिः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥ ४७ ॥

ये दोनों विष्णु-पार्षद बहुत दिनों तक एकाग्रचित्त होकर निरन्तर वैरभावसे भगवान्का ध्यान करते रहे, इसीलिए उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परमपदको प्राप्त किया और पुनः उनके समीप चले गये ॥४७॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि।

ब्रूहि मे भगवन् येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिर-नारद-संवादो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! हिरण्यकशिपु अपने प्रिय पुत्र महात्मा प्रह्लादसे क्यों विद्वेष करता था? प्रह्लाद किस कारणसे भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय हो गये थे? आप कृपा करके हमें यह समस्त वृत्तान्त बतलाइए ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

हिरण्याक्षका वध होनेपर हिरण्यकशिपुका
अपनी माता और कुटुम्बियोंको समझाना

श्रीनारद उवाच—

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना।
हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! जब भगवान् विष्णुने वराह-मूर्ति धारणकर हिरण्याक्षका वध कर दिया, तब हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हो गया तथा अपने भाईके इस प्रकार मारे जानेपर शोकमें सन्तप्त होकर परिताप करने लगा ॥ १ ॥

आह चेदं रुषा पूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन् धूम्रमम्बरम् ॥ २ ॥

उस समय हिरण्यकशिपु क्रोधके वेगके कारण दाँतोंसे होठोंको बार-बार भीचने लगा और क्रोधसे उद्दीप्त आँखोंके द्वारा क्रोधाग्निके धूँसे धूमिल आकाशकी ओर देखते हुए कहने लगा— ॥ २ ॥

करालदंष्ट्रोऽग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उसके विकराल दाँत, उग्र दृष्टि और चढ़ी हुई भ्रुकुटियों (भौंहों) के कारण उसके मुखकी ओर देखा नहीं जाता था। उसने भरी सभामें त्रिशूल उठाकर अपने साथी दानवोंको सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्द्धस्त्र्यक्ष शम्बर।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४ ॥

विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन् शकुनादयः।

शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम्॥५॥

हे दैत्य और दानवो! हे द्विमूर्ध! हे त्र्यक्ष! शम्बर! शतबाहो! हयग्रीव! नमुचि! पाक! इल्वल! विप्रचित्ते! पुलोमन्! हे शकुनादि दानवो! तुम सब मेरी बात सुनो और उसके पश्चात् बिना विलम्ब किये जैसा मैं कहता हूँ, वैसा करो।४-५॥

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत्।

पार्ष्णिग्राहेण हरिणा ममेनाप्युपधावनैः॥६॥

हमारे क्षुद्र शत्रुओंने मेरे परमप्रिय और सुहृद् मेरे छोटे भाई हिरण्याक्षका विष्णुसे वध करवा दिया है। यद्यपि वह विष्णु देवताओं और असुरोंके प्रति समान भाव रखता है, किन्तु हमारे शत्रु देवताओंकी उपासनासे प्रसन्न होकर वह उनकी सहायता कर रहा है॥६॥

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः।

भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः॥७॥

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै।

असृक्प्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः॥८॥

हे असुरो! विष्णु देवताओं एवं असुरोंके प्रति समदर्शी है, पर अब उसका स्वभाव वैसा नहीं रहा। शुद्ध एवं तेजोमय होनेपर भी उसने मायाके वशीभूत होकर वराहरूप धारण किया। उसका मन बालकोंके समान चञ्चल एवं अशान्त हो गया है, उसे सेवाका प्रलोभन हो गया है। जो उसकी सेवा करता है, वह उसीपर मुग्ध हो जाता है। मैं अपने शूलसे उस विष्णुका गला काटकर उसके रुधिरसे अपने रुधिरप्रिय भाईका तर्पण करूँगा, तभी मेरी मनोव्यथा शान्त होगी॥७-८॥

तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ।

विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः॥९॥

वृक्षकी जड़ कट जानेपर जिस प्रकार शाखा-प्रशाखादि स्वयं ही सूख जाते हैं, उसी प्रकार इस कपटी विष्णुके मर जानेपर हमारे सारे देवता स्वयं ही मर जायेंगे, क्योंकि विष्णु उनका प्राण-सर्वस्व है ॥९॥

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्रसमेधिताम्।

सूदयध्वं तपोयज्ञ-स्वाध्यायव्रतदानिनः ॥ १० ॥

मैं यहाँ विष्णुका संहार-कार्य सम्पन्न करूँगा तथा तुम लोग ब्राह्मणोंके तपोबल एवं क्षत्रियोंकी सामर्थ्यसे समृद्ध पृथ्वीपर जाओ। वहाँ जो लोग तपस्या, यज्ञ, वेदाध्ययन, व्रत एवं दानादिमें लगे हुए हैं, उनका संहार कर डालो ॥१०॥

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।

देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोंकी यज्ञादि क्रियाओंका मूल विष्णु है। वही यज्ञरूपी धर्ममय पुरुष है—वही देवता, ऋषि, पितर समस्त प्राणियों एवं धर्मका परम आश्रय है। ब्राह्मणादिके वधसे यज्ञादि क्रियाओंका लोप हो जाएगा और विष्णुकी जड़ ही कट जाएगी ॥११॥

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमक्रियाः।

तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥ १२ ॥

जहाँ-जहाँ गाय, ब्राह्मण, वेद और वेद-विहित वेदाध्ययनादि वर्णाश्रम क्रियाएँ दिखाई पड़ती हों, उन समस्त गाँवों और नगरोंमें जाओ और उन्हें जला डालो। उनके उपजीव्य (जीविकाभूत-जीवनके स्रोत) वृक्षोंको जड़से उखाड़ डालो ॥१२॥

इति ते भर्तुर्निर्देशमादाय शिरसादृताः।

तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर! दानव तो संहारप्रिय होते ही हैं। हिरण्यकशिपुके इस प्रकार आदेश दिये जानेपर दानवोंने अपने स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और उसके आदेशानुसार प्रजाओंकी हिंसा करना आरम्भ कर दिया ॥१३॥

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।

खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च॥१४॥

उन्होंने नगर, गाँव, गौओंके वास-स्थान, उद्यान, धान्यादिके खेत, पुष्प-प्रधान उपवन, स्वाभाविक बने जंगल, ऋषियोंके आश्रम, रत्नोंकी खान, किसानोंके आवास, उपत्यकाओं पर स्थित (पर्वतीय) ग्राम, अहीरोंकी बस्ती और शासनसे सम्बन्धित बड़े-बड़े केन्द्रोंको जला डाला॥१४॥

केचित् खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान्।

आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित् परशुपाणयः।

प्रादहन् शरणान्येके प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः॥१५॥

कुछ दैत्योंने फावड़े आदिसे सेतु, प्राचीर तथा नगरके द्वार तोड़ डाले, कुछने हाथोंमें कुल्हाड़ी लेकर आम, कटहल आदि जीवनोपयोगी वृक्षोंको काट दिया। कुछ दानवोंने जलती लकड़ियोंको हाथोंमें लेकर प्रजाओंके घर जला दिये॥१५॥

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः।

दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः॥१६॥

हिरण्यकशिपुके अनुचरोंके द्वारा निरीह प्रजापर बारम्बार उत्पीड़न होनेसे यज्ञ-भागका अभाव हो गया और इस कारण देवता स्वर्गका परित्याग करके अलक्षित रूपसे (छिपकर) पृथ्वीपर भ्रमण करने लगे॥१६॥

हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः।

कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत्॥१७॥

इधर भाईकी मृत्युके शोकसे दुःखी हिरण्यकशिपुने अन्त्येष्टि क्रियाएँ सम्पन्न कीं और अपने भतीजोंको सान्त्वना देने लगा॥१७॥

शकुनिं शम्बरं धृष्टिं भूतसन्तापनं वृकम्।

कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम्॥१८॥

तन्मातरं स्नुषां भानुं दितिञ्च जननीं गिरा।

श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर॥१९॥

हे युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रोधित था, किन्तु वह देश और कालको जाननेवाला था। अतः वह मधुर वचनोंसे अपने भतीजों—शकुनि, शम्बर, धृष्टि, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच तथा उनकी माताओं, भ्रातृवधू भानु और माता दितिको समझाते हुए कहने लगा—॥१८-१९॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम्।

रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः॥ २० ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—हे माँ! हे वधू! प्रिय भतीजो! भैया हिरण्याक्षके लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है। वीर पुरुषोंका शत्रुओंका सामना करते हुए देह त्याग करना श्लाघनीय और वांछनीय है॥२०॥

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते।

दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः॥ २१ ॥

हे सुव्रते! जिस प्रकार प्याऊपर बहुत-से पथिक मिलते हैं और जलपान करनेके पश्चात् अपने-अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार इस संसारमें प्राणियोंका सम्बन्ध भी ऐसा ही है। अपने-अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार वे कभी मिलते हैं और कभी बिछुड़ते हैं॥२१॥

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः।

धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्॥ २२ ॥

आत्मा नित्य, अविनाशी, निर्मल, सर्वगत (समस्त लोकोंमें गमन करनेवाली), सर्वज्ञ एवं देहादिसे पृथक् है। यह अपनी अविद्या द्वारा ही लिङ्ग-देह धारणकर सूक्ष्म शरीरमें सुख-दुःख आदिका भोग करती है। अतः आत्माको मृत, कृश आदि मानकर शोक करना उचित नहीं है॥२२॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।

चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः॥ २३ ॥

जलका प्रवाह हिलनेसे उसके तटपर स्थित वृक्षोंका प्रतिबिम्ब भी जलमें हिलता हुआ-सा दिखायी देता है और आँखोंके घुमानेपर सारी पृथ्वी घूमती-सी दिखायी देती है॥२३॥

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्।

याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव॥ २४॥

हे भद्रे! उसी प्रकार यह मन भी प्राकृत गुणोंके द्वारा भटकता रहता है। जीवात्माका स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह शोकादि विकारोंसे रहित है, तथापि पुरुष मनोधर्मी होनेके कारण स्वयंको विकार-ग्रस्त मान लेता है। (मनको आत्मा मानना ही सुख-दुःखका मूल है।)॥२४॥

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना।

एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः॥ २५॥

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः।

अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च॥ २६॥

शरीरमें आत्माभिमान करना ही अज्ञान (अन्यथा-प्रतीति) है। इसीके कारण प्रियजनोंके मिलन और अप्रियजनोंके वियोगसे सुख होता है और कभी प्रियजनोंके वियोग और अप्रियजनोंके संयोगसे दुःख होता है। इस प्रिय-अप्रिय की भ्रांतिसे आबद्ध होनेके कारण जीव कर्म करता है और विभिन्न योनियोंमें भटकता हुआ गर्भवासादि यातनाओंको भोगता है। कर्म ही संसारका मूल है। इसीसे जन्म, मृत्यु, विविध प्रकारके शोक, अविवेक, चिन्ता और विवेककी विस्मृति होती है। कभी विवेक-ज्ञान हो भी जाय, तो पुनः उसका लोप हो जाता है॥२५-२६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत॥ २७॥

इस विषयपर एक पुरातन इतिहास वर्णित है। यह एक मृत-व्यक्तिके बन्धु-बान्धवोंके साथ यमराजका संवाद है। तुम लोग भी इसे श्रवण करो॥२७॥

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत ॥ २८ ॥

उशीनर देशमें सुयज्ञ नामका एक बड़ा प्रसिद्ध राजा था। वह युद्धमें शत्रुओंके द्वारा मारा गया। उस समय उसके बन्धु-बान्धव उसकी मृत-देहको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २८ ॥

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम्।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥ २९ ॥

प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम्।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥ ३० ॥

उसका रत्नोंसे जड़ाऊ कवच फट गया, आभूषण और मालाएँ आदि बिखर गये, तीक्ष्ण बाणोंसे उसका हृदय बिंध गया और शरीर रक्तसे लथपथ हो गया, केश इधर-उधर बिखर गये, आँखें कान्तिहीन हो गयीं। क्रोधके कारण होठोंसे उसके दाँत दबे पड़े थे, कमलके समान मुख रणभूमिकी धूलसे धूसरित हो रहा था, उसके हाथ कटकर कहीं और पड़े थे और शस्त्र कहीं और गिरे पड़े थे ॥ २९-३० ॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुखिताः।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥ ३१ ॥

उशीनराधिपति दुर्दैववश भूमिपर पड़ा हुआ था। उसे इस अवस्थामें देखकर 'हा नाथ! तुम्हारे मारे जानेसे तो हम भी मारी गयीं'—इस प्रकार कहती हुई उसकी पत्नियाँ बार-बार अपने हाथोंसे छाती पीटने लगीं और उसके पैरोंके समीप ही गिर पड़ीं ॥ ३१ ॥

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रि-पङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्त्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥ ३२ ॥

उनके आँसुओंका जल उनके कुच-कुङ्कुम अङ्गरागसे रञ्जित होकर अपने प्रियतम पतिके पादपद्मको अभिषिक्त करने लगा। उनके केश एवं अलङ्कार बिखर गये। उच्च स्वरसे क्रन्दन करती हुई वे ऐसे-ऐसे वचन कहने लगीं कि समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें भी शोकका सञ्चार हो गया ॥३२॥

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान् प्रणीतो दृगगोचरां दशाम्।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्द्धनः ॥ ३३ ॥

अहो! हे प्रभो! विधाता बड़ा निष्ठुर है। उसने आज आपको हमारी आँखोंसे ओझल कर दिया है। पहले जिन उशीनरवासियोंको आप जीविका प्रदान करके सुखी करते थे, आज आप ही उनके शोकको बढ़ा रहे हैं ॥३३॥

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥ ३४ ॥

हे महीपते! हे वीर! आप इतने कृतज्ञ थे कि हमारी थोड़ी-सी भी सेवाको बहुत बड़ा करके मानते थे। आप हमारे परम सुहृद् थे, आपके बिना हम कैसे जीवन धारण करेंगी? इसलिए हे वीर! आप जहाँ जा रहे हैं, हमें भी आदेश कीजिए कि हम भी उसी स्थानपर आपके पीछे चली आवें। हम वहाँ आपके चरणोंकी सेवा करेंगी ॥३४॥

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम्।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत ॥ ३५ ॥

उनके पतिका शव कोई दाह करनेके लिए न ले जा सके, इसलिए वे पतिके शवको अपनी गोदमें रखकर विलाप कर रही थीं। इसी बीच सूर्य अस्ताचलकी ओर चले गये ॥३५॥

तत्राह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम्।

आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥ ३६ ॥

उसी समय मृत राजाके आत्मीयजनोंकी क्रन्दन-ध्वनिको सुनकर यमराज अपनी पुरीसे बालकका वेश धारण करके स्वयं वहाँ उपस्थित हुए और शोकार्त बन्धु-बान्धवोंसे कहने लगे ॥ ३६ ॥

श्रीयम उवाच—

अहो अमीषां वयसाधिकानां

विपश्यतां लोकविधिं विमोहः।

यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं

स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥ ३७ ॥

यमराजने कहा—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है! ये लोग तो मुझसे आयुमें बड़े हैं, प्रतिदिन ही जीवन-मरण देखते रहते हैं, इन्हें भी तो मरना होगा, फिर इनका यह कैसा मोह! मनुष्य जिस अज्ञात स्थानसे आता है, उसी स्थानपर लौटकर चला जाता है। इस नियमका प्रतिकार असम्भव है। यह जानकर भी ये व्यर्थ ही शोक कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

अहो वयं धन्यतमा यदत्र

त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः।

अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः

स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥ ३८ ॥

हम-जैसे बालकमें जो कुछ बुद्धि है, इनमें वह भी नहीं है, इनसे तो हम ही अच्छे हैं। माता-पिताने हमें इस संसाररूपी दुःख-सागरमें अकेला ही छोड़ दिया है, दुर्बल होनेपर भी जिनकी कृपासे व्याघ्रादि हिंसक पशुओंने हमारा कुछ अनिष्ट नहीं किया तथा जिन्होंने गर्भमें हमारी रक्षा की थी—वे सर्वज्ञ ही हमारी सब समय रक्षा करेंगे! ॥ ३८ ॥

य इच्छयेषः सृजतीदमव्ययो
 य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः।
 तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
 श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥ ३९ ॥

हे अबलाओ! जिन अव्यय परमेश्वरकी इच्छासे इस संसारके सृष्टि, पालन एवं संहार बतलाये जाते हैं, उन अविनाशी ईश्वरके लिए यह चराचरात्मक विश्व साधारण खिलौना मात्र है। वे ही इसका सृजन एवं संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ ३९ ॥

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
 गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
 जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
 गृहेऽभिगुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥ ४० ॥

पथपर कोई वस्तु गिरनेपर यदि वह ईश्वर द्वारा सुरक्षित है, तो दूसरा कोई भी उसको उठा नहीं सकता और जिसकी वह वस्तु है, उसे ही वह पुनः प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार यदि कोई वस्तु ईश्वर द्वारा सुरक्षित नहीं है, तो उसे तिजोरीमें गोपनीय ढंगसे रखनेपर भी वह विनष्ट हो जाती है। भगवान्की कृपासे वनमें भी सुरक्षा हो जाती है, और यदि वे उपेक्षा कर दें, तो घरमें रहनेपर भी अत्यधिक सुरक्षित जीवनकी रक्षा नहीं हो पाती ॥ ४० ॥

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
 र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः।
 न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
 स्तस्या गुणैरन्यतमो हि बध्यते ॥ ४१ ॥

सभी प्राणियोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार देह प्राप्त होती है और कर्मोंके समाप्त होनेपर उसकी मृत्यु हो जाती है। आत्मा तो देहसे पृथक् है। विविध स्थूल-सूक्ष्म देहोंमें अवस्थित रहते हुए भी जन्म-मरणसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥ ४१ ॥

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
 यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम्।
 यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः
 कालेन जातो विकृतो विनश्यति॥४२॥

गृह गृहस्थसे पृथक् होता है, किन्तु अज्ञानके कारण गृहस्वामी इसे अपनेसे अभिन्न मान लेता है, उसी प्रकार मोहके कारण जीव अपनेको प्राकृत देह मान लेता है। जल, पृथ्वी और तेजके अंशोंके संयोगसे यह शरीर बनता है। जब कालक्रमसे उसका क्षय होता है, तब शरीर भी नष्ट हो जाता है, किन्तु आत्माका विनाश कभी नहीं होता॥४२॥

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
 यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः।
 यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
 तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः॥४३॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें रहकर भी दाहक एवं प्रकाशरूपमें काष्ठसे अलग दिखायी देता है, देहगत मुख, नासिकादिमें वायु रहनेपर भी वायुका उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता और आकाश सब जगह एक-सा रहनेपर भी किसीके गुण-दोषसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी देह, इन्द्रियादि सभीका आश्रय होनेपर भी उनसे पृथक् है॥४३॥

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ।
 यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित्॥४४॥

अरे मूर्खों! तुम लोग जिसके लिए शोक कर रहे हो, वह सुयज्ञ नामका शरीर तुम्हारी आँखोंके समक्ष लेटा हुआ है, कहीं और नहीं गया है; अतः शोक क्यों कर रहे हो?। अब तक जो तुम्हारी बात सुनता था और उसका उत्तर देता था, वह तुम लोगोंको अब दिखायी नहीं दे रहा, इसलिए शोक कर रहे हो—यह

ठीक नहीं है क्योंकि जो सुनता था और तुम्हारी बातोंका उत्तर देता था, उसे तो तुमने कभी देखा नहीं। जिसे तुम देखते थे, उस देहको तो तुम अब भी देख रहे हो, इसलिए शोक करना व्यर्थ है ॥४४॥

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः।

यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥४५॥

इस देहमें अवस्थित प्राण इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है तथा इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको संचालित करनेवाला होकर भी वह श्रोता अथवा वक्ता नहीं है क्योंकि वह जड़ है। देह एवं इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धयुक्त आत्मा (जीव) ही समस्त विषयोंका द्रष्टा है। चेतनस्वरूप होनेके कारण इसका प्राण एवं देह दोनोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥४५॥

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः।

भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥४६॥

पञ्च भूत, दस इन्द्रियाँ, मन और इन सब अवयवोंसे युक्त मनोमय लिङ्ग-शरीर (सूक्ष्म-देह) का आत्मा उत्कृष्ट-निकृष्ट समस्त शरीरोंके साथ सम्बन्ध कराता है और स्वरूप-स्थित अपने ज्ञान, विवेकादि (तथा भजन) के प्रभावसे उन देहोंका त्याग भी करा देता है। भजन-बल एवं स्वरूप-अनुभूति इसके प्रमाण हैं ॥४६॥

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्मनिबन्धनम्।

ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥४७॥

जब तक आत्माका लिङ्ग शरीरसे भ्रामक सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसका कर्मोंसे बन्धन बना रहता है। इस अविद्यारूपी बन्धनके कारण मोह तथा क्लेश जन्म-जन्मान्तरों तक उसके पीछे लगे रहते हैं ॥४७॥

वितथाऽभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः।

यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥४८॥

प्रकृतिके गुणों और उनसे बनी हुई वस्तुको सत्य (वास्तव) समझना तथा इस विषयमें बातें करना व्यर्थ है। दिवा-स्वप्न देखते हुए मन-ही-मन स्वयंको राजा मानकर सुखका अनुभव करना और स्वप्न-अवस्थामें किसी स्त्रीके साथ रमण करना—ये सब मनोरथ जिस प्रकार झूठ (अवास्तव) हैं, उसी प्रकार प्राकृत इन्द्रियोंसे सम्बन्धित सुखादि भी काल्पनिक एवं मिथ्या हैं ॥४८॥

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः।

नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥४९॥

आत्मज्ञ व्यक्ति आत्माको नित्य और देहको अनित्यरूपमें जानते हैं, इसलिए वे शोकके वशीभूत नहीं होते। किन्तु जिन्हें स्वरूप ज्ञान नहीं हुआ है, वे शोकादिमें मग्न रहते हैं, उनका स्वभाव बदला नहीं जा सकता ॥४९॥

लुब्धको विपिने कश्चित् पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः।

वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥५०॥

एक बहेलिया था। वह वनमें जहाँ-जहाँ पक्षियोंको देखता, वहाँ-वहाँ जाल फैलाकर उन्हें मांसादिका प्रलोभन देकर फँसा लेता, मानो भगवान्ने उसे पक्षियोंके काल-स्वरूपमें नियुक्त किया हो ॥५०॥

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत् समदृश्यत।

तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥५१॥

इस व्याधने उसी वनमें विचरण करते हुए कन्दभोजी कुलिङ्ग (गौरेया) नामक पक्षियोंके एक जोड़ेको देखा। इस जोड़ेमें-से मादा कुलिङ्ग बहेलियेके लालचमें आकर जालमें फँस गयी ॥५१॥

सासज्जत सिचस्तन्त्र्यां महिषी कालयन्त्रिता।

कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः।

स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥५२॥

बाल-वेश धारण किये हुए यमराजने कहा—हे रानियो! कुलिङ्ग पक्षीने अपनी पत्नीको दैववश जालमें आबद्ध देखा, जो दुःखके कारण दीन-हीन और कातर हो रही थी। पक्षिणीकी यह अवस्था देखकर वह भी अतिशय दुःखी हो गया। उसे बन्धनसे तो वह छुड़ा नहीं सकता था, परन्तु अत्यधिक स्नेहके कारण वह दीनभावसे विलाप करने लगा—॥५२॥

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाकरुणया विभुः।

कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति॥५३॥

अहो! विधाता कैसा निष्ठुर है। यह स्त्री कितनी दुःखी एवं असहाय है। ऐसी विषम स्थितिमें भी मेरे लिए शोक करते हुए कितनी छटपटा रही है। इसके प्राण लेनेसे विधाताका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ॥५३॥

कामं नयतु मां देवः किमर्द्धेनात्मनो हि मे।

दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा॥५४॥

हे निर्दय विधाता! यदि तुम मेरी पत्नीको ले जा रहे हो, तो मुझे भी ले चलो। पत्नीके विरहमें दुःखभारसे कष्टमय अधूरा विधुर जीवन लेकर क्या करूँगा? ॥५४॥

कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान् विभर्म्यहम्।

मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः॥५५॥

मेरे अभागे बच्चे घोंसलेमें आहारके लिए अपनी माताकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। हाय! अभी तो इनके पर भी नहीं उगे हैं। इन मातृहीन बच्चोंका मैं कैसे पालन करूँगा? ॥५५॥

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्

प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।

स एव तं शाकुनिकः शरेण

विव्याध कालप्रहितो विलीनः॥५६॥

अपनी प्रियाके वियोगसे कुलिङ्ग पक्षी व्याकुल हो रहा था। आँसुओंके कारण अवरुद्ध कण्ठसे वह अपनी पत्नीके पास ही विलाप कर रहा था। इसी समय कालसे प्रेरित होकर बहेलियेने छिपकर दूरसे बाण छोड़ा, जिससे वह वहीं ढेर हो गया ॥५६॥

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः।

नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥५७॥

हे अज्ञ रानियो! तुम सब भी इसी प्रकार अज्ञानी हो। कुलिङ्ग पक्षीके समान तुम्हें भी अपनी मृत्यु दिखायी नहीं दे रही है। सौ वर्षों तक भी तुम इसी प्रकारसे शोक करती रहीं, तो भी तुम अपने पतिको पुनः प्राप्त नहीं कर सकोगी ॥५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः।

ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥५८॥

हिरण्यकशिपुने कहा—जब यमराजने बालक रूपमें इस प्रकारके उपदेश दिये, तब सुयज्ञके बन्धु-बान्धव विस्मित होकर इस प्रकार सोचने लगे—सभी पदार्थ अनित्य एवं मिथ्या हैं। ये इस समय जिस तरह प्रकाशित हो रहे हैं, हमेशा ऐसे नहीं रहेंगे ॥५८॥

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत।

ज्ञातयो हि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत् साम्परायिकम् ॥५९॥

यमराज यह उपाख्यान सुनाकर उसी स्थानपर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद राजा सुयज्ञके बन्धु-बान्धवोंने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की ॥५९॥

अतः शोचत मा यूयं परञ्चात्मानमेव वा।

क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा।

स्वपराभिनिवेशेन विनाऽज्ञानेन देहिनाम् ॥६०॥

अतः तुम लोगोंको न तो अपने लिए और न ही दूसरोंके लिए शोक करना चाहिए। मैं कौन हूँ? पराया कौन है? अपना

कौन है? देहधारियोंका इस प्रकारका अभिनिवेश अज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥६०॥

श्रीनारद उवाच—

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा।
पुत्रशोकं क्षणात् त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां
सहितायां वैयासिक्यां सप्तम-स्कन्धे श्रीयुधिष्ठिर-नारद-संवादे
श्रीदितिशोकापनोयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! दैत्यपति हिरण्यकशिपुकी इन बातोंको सुनकर दितिने अपनी पुत्रवधूके साथ क्षणभरमें ही पुत्र-शोकको त्याग दिया और अपने चित्तको परमात्मारूपी यथार्थ तत्त्वमें निविष्ट कर दिया ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति

श्रीनारद उवाच—

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम्।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महाराज युधिष्ठिर! दैत्यराज हिरण्यकशिपु चाहता था कि मैं अजेय, अजर, अमर और ब्रह्मलोकपर्यन्त तीनों लोकोंका एकछत्र सम्राट बन जाऊँ और मेरे जोड़का कोई दूसरा न हो ॥१॥

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः ॥ २ ॥

इसके लिए हिरण्यकशिपु मन्दर-पर्वतकी गुफामें चला गया और अति कठोर तपस्या करने लगा। वह अपनी दोनों भुजाएँ उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए पैरके अङ्गुठेके बल भूमिपर खड़ा हो गया ॥२॥

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे ॥ ३ ॥

तपोबलसे उसकी जटाएँ ऐसी दीप्तिमान हो उठीं, मानो प्रलयकालीन सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें हों। हिरण्यकशिपुकी ऐसी प्रखर तपस्या देखकर देवताओंने अब पूर्ववत् अलक्षितरूपसे भ्रमण करना छोड़ दिया और अपने-अपने स्थानोंपर प्रतिष्ठित हो गये ॥३॥

तस्य मूर्ध्नः समुद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः।
तिर्यगूर्ध्वमथो लोकान् प्रातपद्विष्वगीरितः ॥ ४ ॥

बहुत समय तक तपस्या करनेके पश्चात् हिरण्यकशिपुके मस्तकसे तपोमयी अग्नि धूँँके साथ निकलने लगी। यह अग्नि समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गयी और उससे अगल-बगलके, ऊर्ध्व एवं अधोलोक सन्तप्त होने लगे ॥४॥

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्दीपाद्रिश्चचाल भूः।

निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥५॥

युधिष्ठिर! उसकी तपस्याके प्रभावसे उत्पन्न अग्निकी लपटोंसे नदी एवं समुद्र क्षुब्ध होने लगे, पृथ्वी, पर्वत और द्वीपोंके साथ काँपने लगी, ग्रह-नक्षत्रादि टूट-टूटकर गिरने लगे और दसों दिशाएँ प्रज्वलित हो उठीं ॥५॥

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः।

धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते।

दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः ॥६॥

युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपुकी तपोमयी आगकी लपटोंसे सन्तप्त होकर देवतागण स्वर्गको छोड़कर ब्रह्मलोक गये और ब्रह्माजीसे प्रार्थना करने लगे—हे देवाधिदेव! हे जगत्पते! दैत्याधिराज हिरण्यकशिपुके तपकी अग्निसे हम जल रहे हैं। अब हम स्वर्गलोकमें और नहीं रह सकते ॥६॥

तस्य चोपशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे।

लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः ॥७॥

हे सर्वाधिपते! यदि आपकी इच्छा हो, तो अपनी सेवा करनेवाली प्रजाका नाश होनेके पहले ही इस सर्वलोकविनाशकारी उपद्रवको शान्त कर दें ॥७॥

तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः।

श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितम् ॥८॥

क्या आप नहीं जानते हैं कि हिरण्यकशिपुने इस दुष्कर तपस्याका सङ्कल्प क्यों लिया है? आपसे अवश्य ही कुछ छिपा

हुआ नहीं है, तो भी हम आपके समक्ष उसकी इच्छाको निवेदन कर रहे हैं, आप सुन लीजिए॥८॥

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना।
अध्यास्ते सर्वधिष्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम्॥९॥
तदहं वर्द्धमानेन तपोयोगसमाधिना।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात् साधयिष्ये तथात्मनः॥१०॥

वह सोचता है कि परमेष्ठी ब्रह्मा जिस प्रकार तपस्यादि द्वारा इस चराचरात्मक जगत्की सृष्टि करके इन्द्रादि देवताओंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर सत्यलोकमें अधिष्ठित हैं तथा सभीके द्वारा पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी तपस्या और योग-समाधिके बलपर उस स्थानको प्राप्त करूँगा। यह उपलब्धि चाहे मुझे एक जन्ममें मिले या अनेक जन्मोंमें, क्योंकि काल भी नित्य है और आत्मा भी नित्य है॥९-१०॥

अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः॥११॥

तपके प्रभावसे मैं पुण्य-पाप आदिका उलट-फेर करके जगत्के सारे नियम ही पलट दूँगा। वैष्णवोंको प्राप्त ध्रुवादि पदोंसे मेरा क्या प्रयोजन है? कल्पान्तमें ये सब भी नष्ट हो जायेंगे (ध्रुव-पदके अनित्यत्वकी कल्पना असुर-स्वभावके कारण जाननी चाहिए।) मैं तो ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिए ही साधना करूँगा॥११॥

इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर॥१२॥

हमने यही सुना है कि आपके पदकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही हिरण्यकशिपु कठोर तपस्यामें लगा हुआ है। आप तीनों लोकोंके ईश्वर हैं। आप जैसा उचित समझें, वही करें। विलम्ब न करें॥१२॥

तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च॥१३॥

हे जगत्पते ! आपका यह सर्वोत्कृष्ट परमेष्ठि पद गौ, ब्राह्मणादिके उद्भव, सुख, ऐश्वर्य एवं कल्याणके लिए है। यदि इस स्थानपर हिरण्यकशिपुने अधिकार जमा लिया तो सर्वनाश हो जाएगा ॥१३॥

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप।
परितो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥ १४ ॥

हे राजन् ! देवताओंके द्वारा इस प्रकार सूचित किये जानेपर ब्रह्माने भृगु, दक्षादि मुनियोंके साथ दैत्यपति हिरण्यकशिपुके आश्रमकी ओर प्रस्थान किया ॥१४॥

न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः।
पिपीलिकाभिराचीर्णं मेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥ १५ ॥
तपन्तं तपसा लोका न् यथाभ्रापिहितं रविम्।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह हसन्तं हंसवाहनः ॥ १६ ॥

वहाँ पहुँचनेपर ब्रह्माजी पहले तो उसे देख ही नहीं पाये, क्योंकि हिरण्यकशिपुका सारा शरीर दीमककी मिट्टी, तृणादि एवं बाँसादिके द्वारा ढका हुआ था। असंख्य चींटियाँ उसकी त्वचा, माँस व रक्तको खा गयी थीं। बादमें उन्होंने देखा कि समस्त लोकोंको ताप प्रदान करनेवाले मेघाच्छन्न सूर्यकी भाँति वह अपनी तपस्यासे सभी लोकोंको तपा रहा था। यह देखकर ब्रह्मा विस्मित हो उठे और हँसते हुए कहने लगे— ॥१५-१६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप।
वरदोऽहमनुप्राप्तो ब्रियतामीप्सितो वरः ॥ १७ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे कश्यपनन्दन ! तुम उठो, उठो ! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम्हारी तपस्याकी सिद्धि हो गयी है। मैं तुम्हें वर देनेके लिए आया हूँ। तुम जो चाहो, वह वर माँग लो ॥१७॥

अद्राक्षमहमेतं ते हत्सारं महद्भुतम्।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥ १८ ॥

तुम्हारे असीम धैर्यको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। कीड़ों और चींटियोंने तुम्हारे सारे शरीरको खा लिया है। केवल हड्डियोंका आश्रय लेकर तुम्हारे प्राण बचे हुए हैं ॥१८॥

नैतत् पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।

निरम्बुर्धारयेत् प्राणान् को वै दिव्यसमाः शतम् ॥१९॥

पूर्वकालमें भृगु आदि ऋषियोंमें-से कोई भी इतनी कठोर तपस्या नहीं कर सका और आगे भी कोई दूसरा कर नहीं सकेगा। तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति बिना जल पिये दिव्य सौ वर्षों तक प्राण धारण नहीं कर सकता ॥१९॥

व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम्।

तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ॥२०॥

हे दितिनन्दन! बड़े-बड़े ऋषियोंके लिए भी दुर्लभ तुम्हारे इस कार्य और तपस्यासे मैं तुम्हारे वशीभूत हो गया हूँ ॥२०॥

ततस्ते आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव।

मर्त्यस्य ते ह्यमर्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम ॥२१॥

हे असुरश्रेष्ठ! इसी कारण मैं तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें सारे वरदान देनेके लिए तैयार हूँ। तुम मरणशील हो, परन्तु मैं अमर हूँ। तुमने मेरा दर्शन किया है, यह कभी विफल नहीं होगा। अतः वर माँगो ॥२१॥

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्त्वादिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः।

कमण्डलुजलेनौक्षद्विव्येनामोघराधसा ॥२२॥

देवर्षि नारदने कहा—आदिदेव ब्रह्माने इतना कहकर चींटियों द्वारा खाये हुए दैत्याधिराज हिरण्यकशिपुके शरीरपर अपने सिद्ध, दिव्य कमण्डलुसे अमोघ जल छिड़क दिया ॥२२॥

स तत्कीचकवल्मीकात् सहओजोबलान्वितः।
 सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा।
 उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ॥ २३ ॥

कमण्डलुके जलसे सिक्त होते ही उसका शरीर समस्त अवयवोंसे पूर्ण और वज्रके समान सुदृढ़ एवं बलवान् हो गया। उसमें यौवनका सञ्चार हो गया तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग तेजोमय तप्तकाञ्चनकी प्रभाके समान उद्दीप्त हो उठे। वह बाँस तथा वल्मीकके बीचसे इस प्रकार उठ खड़ा हुआ, मानो लकड़ीमें-से आग प्रकट हो गयी हो ॥२३॥

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमुपस्थितम्।
 ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ २४ ॥

हिरण्यकशिपुने आकाश मार्गमें ब्रह्माजीको अपने वाहन हंसपर उपस्थित देखा तो अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे भूमिपर मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥२४॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम्।
 हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् दैत्यराज भूमिसे उठा और ब्रह्माजीको निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए गद्गद् वाणीसे उनकी स्तुति करने लगा। अत्यन्त विनीत भावसे उसने हाथ जोड़ रखे थे, आनन्दके कारण उसके अश्रु प्रवाहित हो रहे थे और शरीर रोमाञ्चित हो रहा था ॥२५॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम्।
 अभिव्यनग्जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥ २६ ॥
 आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति।
 रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥ २७ ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—दैनन्दिन प्रलयके समय यह सारी सृष्टि काल द्वारा प्रेरित होकर तमोगुणरूपी निविड़ अन्धकारसे ढक जाती

है, तब स्वयंप्रकाश जो अपने प्रकाशसे इस जगत्को प्रकाशित करते हैं, एवं जो त्रिगुण द्वारा इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, उन सत्त्व, रज एवं तमोगुणके आश्रयस्वरूप परमेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥२६-२७॥

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये।

प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥ २८ ॥

जो ज्ञान और विज्ञानकी मूर्ति-स्वरूप और जगत्के आदि कारण हैं, जो प्राण, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिके विकार द्वारा कार्य-कलापरूपमें प्रकाशित होते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।
चित्तस्य चित्तेर्मन-इन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ॥ २९ ॥

आप मुख्यप्राण सूत्रात्माके रूपमें चराचर जगत्के नियन्ता हैं, आप ही प्रजाके रक्षक और उनके चित्तके चेतना-स्वरूप तथा मन और इन्द्रियोंके पालक हैं। आप महान हैं, पृथ्वी आदि पञ्चभूत एवं उनके गन्धादि गुणों और संस्कारोंके आप ही ईश्वर हैं ॥२९॥

त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा
त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥ ३० ॥

आप वेदत्रयी मूर्तिके द्वारा होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन चारों ऋत्विकोंके द्वारा अग्निष्टोमादि सात प्रकारके यज्ञोंका विस्तार कराते हैं। आप आत्मविद् जीवोंके आत्मा-स्वरूप हैं। आप अनादि, देश-काल एवं पात्रसे अतीत, अखण्ड एवं सर्वज्ञ हैं। आप समस्त जीवोंके अन्तरात्मा हैं ॥३०॥

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
 मायुर्लवाद्यवयवैः क्षिणोषि।
 कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महा-
 स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥ ३१ ॥

आप नित्य सावधान रहकर समस्त पदार्थोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं और क्षण, लव आदि सूक्ष्म कालांश द्वारा प्राणियोंकी आयुका हरण करते हैं, इसपर भी हे ब्रह्मन्! आप निर्विकार रहते हैं। आप कूटस्थात्मा, परमेष्ठि, जन्मरहित, व्यापक एवं समस्त जीवोंके जीवनके कारण एवं नियन्ता हैं ॥ ३१ ॥

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
 देजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति।
 विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
 हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः ॥ ३२ ॥

स्थावर-जङ्गम आदि कोई भी वस्तु आपसे स्वतन्त्र नहीं है। वेद, उपनिषद्, शिक्षा एवं वेदाङ्ग शास्त्र सभी आपके शरीर हैं। स्वर्णमय (हिरण्यरूप) प्रकाशमान ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें अवस्थित है। आप इसे अपनेमें-से ही प्रकट करते हैं। त्रिगुणात्मक प्रधानरूप अक्षरसे अतीत परात्पर वस्तु हैं ॥ ३२ ॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
 येनेन्द्रियप्राणमनोगुणास्त्वम् ।
 भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
 अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥ ३३ ॥

हे विभो! यह वैराज (विराट्) जगत् (व्यक्त ब्रह्माण्ड) आपका स्थूल शरीर है। इससे आप इन्द्रिय, प्राण एवं मनके द्वारा रूप-रसादि विषयोंके भोगकी लीला करते हैं, किन्तु उस समयमें भी आप स्वयं विकृत न होकर अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपमें ही अवस्थित रहते हैं। इसीलिए आप ब्रह्म, अन्तर्यामी एवं पुराण-पुरुष भगवान् हैं ॥ ३३ ॥

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥ ३४ ॥

आप अनन्त तथा अव्यक्तरूपसे अखिल जगत्में परिव्याप्त हैं। आप चित् शक्ति (अन्तरङ्गा स्वरूपभूतशक्ति), अचित् शक्ति (त्रिगुणमयी बहिरङ्गा मायाशक्ति) एवं मिश्रा शक्तिसे (तटस्थाशक्तिसे) युक्त हैं। हे भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३४ ॥

यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥ ३५ ॥

हे प्रभो! आप समस्त वरदाताओंमें श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे मेरा अभीष्ट वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मेरी यह प्रार्थना है कि आपके द्वारा रचित प्राणियोंमें-से किसीके भी द्वारा मेरी मृत्यु न हो ॥ ३५ ॥

नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥ ३६ ॥

भीतर-बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपके द्वारा बनाये गये रुद्रादि किसी भी प्राणीसे, अस्त्र-शस्त्रसे, भूमिपर, आकाशमें, मनुष्यके द्वारा अथवा किसी मृगादि पशुसे मेरी मृत्यु सम्भव न हो ॥ ३६ ॥

व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यञ्च देहिनाम् ॥ ३७ ॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः।
तपोयोगप्रभावाणां यत्र रिष्यति कर्हिचित् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां
संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे
हिरण्यकशिपोर्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः।

प्राणी-अप्राणी, देवता-दैत्य और महासर्प आदिसे मेरी मृत्यु न हो। जिस प्रकार आपका कोई प्रतियोद्धा नहीं है, उसी प्रकार

युद्धमें कोई मेरा सामना न कर सके। आप जिस प्रकार समस्त प्राणियों एवं लोकपालोंके एकमात्र अधिपति हैं, वैसे ही मैं भी एकछत्र सम्राट् हो जाऊँ। जैसी आपकी महिमा है, वैसी ही मेरी भी हो। तपस्वियों एवं योगियोंका कभी विनष्ट न होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्य आप मुझे भी प्रदान कीजिए॥३७-३८॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके अत्याचार और प्रह्लादके गुणोंका वर्णन

श्रीनारद उवाच—

एवं वृतः शतश्रुतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।

प्रादात् तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जब हिरण्यकशिपुने ब्रह्मासे ऐसे अत्यन्त दुर्लभ वर माँगे, तो उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे वे सुदुर्लभ वर प्रदान कर दिये ॥१॥

श्रीब्रह्मोवाच—

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम ।

तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यद्यपि दुर्लभान् ॥ २ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे वत्स! तुमने जो वरदान मुझसे माँगे हैं, वे मनुष्योंके लिए बड़े ही दुर्लभ हैं, फिर भी वे सभी वर मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ ॥२॥

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।

पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥

तदनन्तर अमोघ वरप्रदाता ब्रह्मा असुर-श्रेष्ठ द्वारा पूजित तथा प्रजापति और ऋषियोंके द्वारा प्रशंसित होकर वहाँसे चले गये ॥३॥

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः ।

भगवत्यकरोदद्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

इस प्रकार ब्रह्मासे वर प्राप्त करके हिरण्यकशिपुका शरीर स्वर्णमय हो गया। वह अपने भाई हिरण्याक्षके वधका स्मरण करके भगवान्से द्वेष करने लगा ॥४॥

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः।
 देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥५॥
 सिद्धचारणविद्याध्रान् ऋषीन् पितृपतीन् मनून्।
 यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनपि ॥६॥
 सर्वसत्त्वपतीन् जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
 जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥७॥

तत्पश्चात् उस विश्वविजेता महासुरने त्रिलोकी एवं समस्त दिशाओंको जीत लिया। उसने देवता, असुर, राजा, गन्धर्व, गरुड, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, यमादि पितरोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस पिशाचेश्वर, प्रेतपति, भूताधिपति और अन्यान्य समस्त प्राणियोंको भी पराजित करके अपने अधीन कर लिया तथा लोकपालोंके साथ उनके तेज एवं स्थानोंका हरण कर लिया ॥५-७॥

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्त स्म त्रिपिष्टपम्।
 महेन्द्रभवनं साक्षात्रिर्मितं विश्वकर्मणा।
 त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥८॥

यह महादैत्य अब नन्दनवनादि देवोद्यानोंकी शोभासे युक्त देवताओंके रहनेके स्थानोंपर रहने लगा और विश्वकर्मा द्वारा बनाये गये त्रैलोक्य-ऐश्वर्यके आश्रयस्वरूप स्वर्गकी सम्पूर्ण समृद्धियोंसे युक्त महेन्द्रभवनमें विराजमान हो गया ॥८॥

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः।
 यत्र स्फटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥९॥
 यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च।
 पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥१०॥
 कूजद्धिर्नूपुरैर्द्वैव्यः शब्दयन्त्यः इतस्ततः।
 रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥११॥

तस्मिन् महेन्द्रभवने महाबलो
महामना निर्जितलोक एकराट्।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः

प्रतापितैरुर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥

इन्द्र-भवनकी सीढ़ियाँ मूँगेकी बनी हुई थीं, भूमितल (फर्श) मरकत-मणियों (पन्ने) से बने हुए थे, दीवारोंपर स्फटिक सुशोभित हो रहा था, स्तम्भोंकी पंक्तियाँ वैदूर्यमणियोंसे विभूषित थीं, ऊपरकी ओर अद्भुत वितान सजाये हुए थे, सभी प्रकारके आसन पद्मराग मणियोंसे बने थे, शय्याएँ दुग्धफेनके समान समुज्ज्वल और मोतियोंकी लड़ियोंसे मण्डित थीं, अप्सराएँ नूपुरोंकी झंकार-ध्वनि करती हुई इधर-उधर विचरण कर रही थीं और रत्नमयी भूमिपर प्रतिबिम्बित अपने शरीरके सौन्दर्यको निहार रही थीं। इस महेन्द्रभवनमें महामनस्वी और अति कठोर शासन करनेवाला असुर हिरण्यकशिपु समस्त लोकोंको जीतकर एकाधिपत्यके साथ विहार करता था। उसके प्रचण्ड शासनसे भयभीत होकर देवता उसके चरणोंकी वन्दना करते थे॥९-१२॥

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्यपाः।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम्॥ १३ ॥

हे राजन्! वह अत्यन्त उग्र गन्धवाली सुरा पीकर मतवाला रहता था। उसकी लाल-लाल आँखें सदैव चढ़ी हुई रहती थीं। इतनेपर भी वह तपस्या, योग, बल एवं तेजसे सम्पन्न था। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—इन तीन देवताओंके अतिरिक्त सभी लोकपाल अपने-अपने हाथोंमें विविध उपहार लेकर उसकी उपासना करते थे॥१३॥

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरस्मदादयः ।

गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन् मुहु-

र्विद्याधराश्चाप्सरसश्च पाण्डव ॥ १४ ॥

हे पाण्डु-वंशज महाराज युधिष्ठिर! हिरण्यकशिपु अपने पराक्रमसे इन्द्रासनपर अधिष्ठित हो गया था। विश्वावसु, तुम्बुरु, सङ्गीतमें निपुण हम सभी (नारदादि) ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर एवं अप्सराएँ सदा-सर्वदा उसका गुणगान करते हुए उसकी स्तुति करते थे ॥ १४ ॥

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।

इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा ॥ १५ ॥

वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थादि जब बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ करते, तो हिरण्यकशिपु उनके द्वारा पूजित होकर अपने तेजसे उनके यज्ञोंकी आहुतिको स्वयं ले लेता ॥ १५ ॥

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही।

तथा कामदुघा गावो नानाश्चर्यपदं नभः ॥ १६ ॥

उस समय उसके भयके कारण सात द्वीपोंसे युक्त पृथ्वी बिना जोते-बोये शस्य-श्यामला हो गयी थी, और स्वर्गस्थ कामदुघा (इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली) गायके समान सभी प्रकारके अन्न प्रदान करती थी। आकाश-मण्डल भी अद्भुत आश्चर्योंसे सुशोभित रहता था ॥ १६ ॥

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहूर्मिभिः।

क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७ ॥

लवण, जल, इक्षु-रस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और अमृत (मीठे जल) से युक्त समुद्र अपनी पत्नी नदियोंकी तरङ्गोंके द्वारा अपनी रत्नराशिमें-से विविध रत्नोंको उसके समीप पहुँचाया करते थे ॥ १७ ॥

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः।

दधार लोकपालानामेक एव पृथग् गुणान् ॥ १८ ॥

पर्वतोंकी अन्तवर्ती घाटियाँ उसकी क्रीड़ास्थली बन गयी थीं। वर्षकी सभी छहों ऋतुओंमें वृक्ष समानरूपसे पुष्पों एवं फलोंसे

सुशोभित होते थे। हिरण्यकशिपुने अकेले ही अग्नि, इन्द्र एवं वायु आदि लोकपालोंके दहन, वर्षण एवं सञ्चालनादि पृथक्-पृथक् गुणोंको अपने अधीन कर लिया था और उनपर एकछत्र राज्य करने लगा था॥१८॥

स इत्थं निर्जितककुबेकराङ् विषयान् प्रियान्।

यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः॥१९॥

सम्पूर्ण दिशाओंको वशमें करनेवाले एकेश्वर हिरण्यकशिपुने अपने प्रिय लगनेवाले सम्पूर्ण विषयोंका प्रचुर मात्रामें भोग किया, किन्तु उसे सन्तुष्टि न हुई। अन्ततः वह इन्द्रियोंका दास ही तो था॥१९॥

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः।

कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः॥२०॥

युधिष्ठिर! यह भगवान्का वही पार्षद था, जिसे सनकादि नैष्ठिकोंने शाप दिया था। हिरण्यकशिपु ऐश्वर्य मदसे मतवाला होकर इतना गर्वीला हो गया कि उसने शास्त्रोंकी सारी मर्यादाएँ लाँघ दीं। ऐसे ही उच्छृङ्खल भावसे रहते हुए उसका बहुत समय बीत गया॥२०॥

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः।

अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्॥२१॥

उसके उग्र शासनसे अत्यन्त भयभीत लोकपालोंको जब कहीं और आश्रय न मिला तब वे भगवान् विष्णुकी शरणमें पहुँचे॥२१॥

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः।

यद्रत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥२२॥

इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः।

उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः॥२३॥

(वे मन-ही-मन भगवान्का ध्यान करने लगे) हम उस सर्वोत्कृष्ट दिशाको प्रणाम करते हैं, जहाँ स्वयं श्रीहरि विद्यमान हैं और जहाँ जाकर निष्काम संन्यासी पुनः नहीं लौटते। इस भगवत्-धारणासे उन लोकपालोंका मन निष्पाप हो गया। उन्होंने भोजन, शयनादिका

त्याग कर दिया और वायुपर ही आश्रित रहकर समाहित चित्तसे भगवान् हृषीकेशकी आराधना करने लगे ॥२२-२३॥

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना।

सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥ २४ ॥

इसी बीच एक दिन मेघकी ध्वनिके समान अति गंभीर दिव्य वाणी दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई उनके समक्ष प्रकट हुई। वह साधुओंको अभय प्रदान करनेवाली थी। देवता उसे सुनने लगे ॥२४॥

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः।

मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥ २५ ॥

ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत।

तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत् प्रतीक्षत ॥ २६ ॥

हे श्रेष्ठ देवगणो! डरो मत! तुम्हारा कल्याण हो! प्राणियोंके लिए मेरा दर्शन समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाला होता है। मुझे इस अधम दैत्य हिरण्यकशिपुके अत्याचारोंके विषयमें सब कुछ ज्ञात है। मैं उसका समस्त उपद्रव शान्त कर दूँगा। तुम लोग कुछ समय तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो ॥२५-२६॥

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।

धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥ २७ ॥

जब कोई व्यक्ति देवताओं, वेदों, गौओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों, धर्म और मुझसे विद्वेष करता है, तो उसका शीघ्र ही विनाश हो जाता है ॥२७॥

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने।

प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥ २८ ॥

जिस समय यह दैत्य अपने निर्वैर (शत्रु-रहित), प्रशान्त एवं महात्मा पुत्र प्रह्लादसे द्रोहाचरण करेगा तब ब्रह्माजीके वरदानसे सुसमृद्ध होनेपर भी मैं इसका विनाश कर दूँगा। यद्यपि मैं

अत्यन्त सहिष्णु हूँ तथापि भक्तोंके प्रति विद्वेष मैं सहन नहीं करता ॥२८॥

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्तो लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः।

न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥ २९ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जगद्गुरु भगवान् विष्णुने जब इस प्रकार कहा, तब स्वर्गमें निवास करनेवाले वे सभी देवता उन्हें प्रणाम करके लौट गये। उन्हें ऐसा लगने लगा, मानो असुर मर ही गया हो। अतः वे आश्वस्त, निश्चिन्त एवं शान्त हो गये ॥२९॥

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः।

प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥ ३० ॥

दैत्यपति हिरण्यकशिपुके परम सुयोग्य और प्रभावशाली चार पुत्र थे, जिनमें सबसे छोटे प्रह्लाद भगवद्-भक्तोंकी सेवा आदि गुणोंके कारण सर्वश्रेष्ठ थे ॥३०॥

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।

आत्मवत् सर्वभूतानामेकप्रियसुहृत्तमः ॥ ३१ ॥

दासवत् सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवत् दीनवत्सलः।

भ्रातृवत् सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।

विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥ ३२ ॥

प्रह्लाद ब्रह्मण्य गुणोंसे सम्पन्न, सच्चरित्र, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे। वे परमात्माके समान सभी प्राणियोंके प्रिय और सुहृद् थे। सम्मानीय व्यक्तियोंके समक्ष वे सेवकके समान विनम्र भावसे रहते थे। दीनजनोंके प्रति उनका पितृवत् वात्सल्य और समानधर्मियोंके प्रति भाई जैसा अनुराग था। वे शिक्षा-दीक्षा देनेवाले गुरुओं एवं सतीर्थ गुरुओंको भगवान्के समान मानते थे। विद्या, अर्थ, सौन्दर्य एवं कुलीनतासे सम्पन्न होनेपर भी उनमें अहङ्कार न था ॥३१-३२॥

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
 श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक्।
 दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
 प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ३३ ॥

यद्यपि प्रह्लादका जन्म असुर-वंशमें हुआ था, तथापि भगवान् विष्णु एवं वैष्णवोंके प्रति अनादरके मूल जो ईर्ष्यादि आसुरिक भाव हैं, उनका उनमें लेशमात्र भी न था। संकट आनेपर उनका चित्त उद्विग्न नहीं होता था। वेदोंमें प्रतिपादित स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए कर्मकाण्डके विषयमें उन्होंने सुन रखा था और व्यसनादि लौकिक भोगोंको भी देख रखा था, परन्तु वे उन्हें तुच्छ और निरर्थक मानकर उनसे निःस्पृह रहते थे। जितेन्द्रिय, जितवायु और स्थिर बुद्धि होनेके कारण उनका चित्त सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित होकर पूर्णरूपेण प्रशान्त था ॥३३॥

यस्मिन् महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः।
 न तेऽधुनापिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥ ३४ ॥

हे राजन्! उनके महत् गुणोंका विद्वान् और सन्त सदा-सर्वदा वर्णन करते हैं। जिस प्रकार सारे सद्गुण भगवान्में नित्य विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भक्त-प्रवर प्रह्लाद महाराजमें भी श्रेष्ठ गुणोंका सदैव निवास रहता था ॥३४॥

यं साधुगाथा-सदसि रिपवोऽपि सुरा नृप।
 प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥ ३५ ॥

हे राजन्! यों तो प्रह्लाद देवताओंके शत्रु असुर-वंशसे सम्बन्धित हैं, तथापि जब सभाओंमें साधुओं और भक्तोंकी चर्चा होती है, तब देवता प्रह्लाद महाराजके ही दृष्टान्तका उल्लेख करते हैं और भक्तोंकी उनसे समानता करते हुए कहते हैं— आप तो प्रह्लाद महाराजके समान महान् हैं, आपकी क्या बात करें ॥३५॥

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥ ३६ ॥

भगवान् वासुदेवमें जिनकी स्वाभाविकी रति है, उन प्रह्लाद महाराजके असंख्य गुणोंका निदर्शन करनेसे क्या प्रयोजन है? भगवद्-भक्ति ही उनके गुणोंको सूचित करनेवाली है। अन्य गुणपरक वचनोंसे उनकी महिमाका सङ्केत मात्र हो सकता है, सम्यक् रूपसे वर्णन नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥ ३७ ॥

बाल्यकालसे ही खेलकूदको छोड़कर वे भगवान् में ऐसे तन्मय हो जाते थे, मानो जड़ हो गये हों। उनका मन कृष्णरूप ग्रहसे ऐसा ग्रस्त हो गया था कि उन्हें संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ३७ ॥

आसीनः पर्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥ ३८ ॥

भगवान् गोविन्दने उनका आलिङ्गन कर रखा है, इसी अनुभूतिमें डूबे हुए वे हर क्षण उनकी सेवामें तत्पर रहते। उठना-बैठना, घूमना, खाना-पीना, सोना, बातचीत करना आदि प्राकृत भोगोंका उन्हें अनुसन्धान भी न रहता ॥ ३८ ॥

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥ ३९ ॥

कृष्ण-प्रेमभावमें उनका चित्त सदैव विह्वल रहता था। श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर कहाँ चले गये, कभी इस भावसे वे जोर-जोरसे रोने लगते, फिर मन-ही-मन उन्हें अपने सामने देखकर आनन्दकी अधिकतासे ठहाका मारकर हँसने लगते और कभी मेरे प्रभुने मुझे दर्शन देकर आनन्दित किया है, इस भावदशामें आनन्दके साथ उच्च स्वरसे गाने लगते ॥ ३९ ॥

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।

क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥ ४० ॥

कभी अन्तःस्फूर्तिमें भगवान्को देखकर उत्कण्ठावश जोरसे चिल्ला पड़ते, कभी आनन्दमें डूबकर लोक-लज्जाका त्याग करके नाचने लगते और कभी भगवत्-चिन्तनमें इतने डूब जाते कि भाव-विभोर होकर उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लगते ॥ ४० ॥

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।

अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥ ४१ ॥

कभी भगवान्के कमनीय करारविन्दके कोमल संस्पर्शका भीतर ही भीतर अनुभव करके आनन्दित हो स्थिर भावसे बैठ जाते। उस समय उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आता और भगवत्-प्रेमके कारण अर्द्ध-खुले नेत्रोंसे आनन्द-सलिल प्रवाहित होने लगता। वे मौनभाव धारणकर अविचल बैठे रहते ॥ ४१ ॥

स उत्तमःश्लोकपदारविन्दयो-

निषेवयाऽकिञ्चनसङ्गलब्धया ।

तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-

र्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर! भगवान् श्रीकृष्णके अकिञ्चन भगवद्-भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे ही उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा प्राप्त होती है। प्रह्लाद ऐसी सेवामें स्वयं तो परमानन्दित रहते थे तथा दुःसङ्गसे दुःखी दीन-हीन जनोंके मनमें भी भगवन्-निष्ठा सुदृढ़ करते और उन्हें बार-बार शान्ति प्रदान करते ॥ ४२ ॥

तस्मिन् महाभागवते महाभागे महात्मनि।

हिरण्यकशिपु राजन्नकरोदघमात्मजे ॥ ४३ ॥

हे राजन्! ऐसे महाभागवत, महाभाग्यवान्, महात्मा अपने पुत्रके प्रति भी हिरण्यकशिपुने विरुद्ध आचरण करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ४३ ॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत।

यदात्मजाय शुद्धाय पितादात् साधवे ह्यधम् ॥४४॥

श्रीयुधिष्ठिरने कहा—हे देवर्षे! हे सुव्रत! आप अपने अखण्ड व्रतके लिए दृढ़सङ्कल्प हैं। हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी निर्मल अन्तःकरणवाले, साधु-हृदय अपने ही पुत्र प्रह्लाद महाराजको दुःख क्यों दिया? ॥४४॥

पुत्रान् विप्रतिकूलान् स्वान् पितरः पुत्रवत्सलाः।

उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाधमपरो यथा ॥४५॥

पिता तो पुत्रवत्सल होते हैं। वे अपने पुत्रोंको अपनी आज्ञाका उल्लङ्घनादि प्रतिकूल आचरण करनेपर उन्हें शिक्षा देनेके लिए शासन करते हैं, यह सत्य है, किन्तु पुत्रका शत्रुके समान वास्तविकरूपसे अनिष्ट तो नहीं करते ॥४५॥

किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदेवतान्।

एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो।

पितुः पुत्राय यद्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे श्रीप्रह्लादचरितं नाम
चतुर्थोऽध्यायः।

प्रह्लाद महाराज जैसे अनुकूल, साधु-हृदय और पितृवत्सल पुत्रके प्रति कोई भी पिता ऐसा हिंसापूर्ण आचरण किस प्रकार कर सकता है? हे ब्रह्मन्! हे प्रभो! द्वेषके कारण पिता पुत्रका वध करनेकी चेष्टा भी कर सकता है, यह तो कुछ असम्भव-सा लगता है। हमें यह सुननेके लिए कौतूहल हो रहा है। आप यह आख्यान सुनाकर हमारे सन्देहको दूर कीजिए ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके चौथे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादके वधका प्रयत्न

श्रीनारद उवाच—

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।

षण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! दैत्यों ने परम सामर्थ्यवान् शुक्राचार्यको अपने पुरोहितके रूपमें वरण कर रखा था। उनके दो पुत्र थे—षण्ड और अमर्क। ये दोनों दैत्यराज हिरण्यकशिपुके राजमहलके पास ही रहते थे ॥ १ ॥

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।

पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥

हिरण्यकशिपुने अपने नीति-निपुण पुत्र प्रह्लादको उन दोनोंके पास अध्ययनके लिए भेजा। वे प्रह्लाद एवं अन्यान्य असुर-बालकोंको दण्डनीति आदि शास्त्र पढ़ाने लगे ॥ २ ॥

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च।

न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥

गुरु जिस तरह दण्ड और नीति-शास्त्रादिकी शिक्षा देते, प्रह्लाद उसे सुनकर उन्हें वैसा सुना भी दिया करते थे, किन्तु ऐसा होनेपर भी यह व्यक्ति शत्रु है और यह मित्र है, इस प्रकारके अपना-पराया रूपी असद् ज्ञानको वे उचित नहीं समझते थे ॥ ३ ॥

एकदासुरराट् पुत्रमङ्गमारोप्य पाण्डव।

पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४ ॥

हे पाण्डुवंशीय युधिष्ठिर! एक बार दैत्यराज हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको अपनी गोदमें बिठाया और बड़े प्रेमसे

पूछा—हे वत्स! तुम्हें कौन-सा विषय अच्छा लगता है, वह मुझे बतलाओ ॥४॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसदग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत् ॥५॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे असुर-श्रेष्ठ! मैं यही उत्तम मानता हूँ, कि “मैं-मेरा” रूपी मिथ्या आग्रहके कारण जिनका चित्त उद्विग्न रहता है, वे देहधारी जीव अपने अधःपतनके मूल कारण अन्धकूपके समान अमङ्गलकारी गृहका त्याग करके वनमें जाकर श्रीहरिकी शरण ग्रहण करें ॥५॥

श्रीनारद उवाच—

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः।
जहाय बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥६॥

देवर्षि नारदने कहा—दैत्यराज प्रह्लादके मुखसे शत्रु-पक्षके प्रति निष्ठा व्यक्त करने वाले अर्थात् विष्णु-भक्ति सम्बन्धित वचन सुनकर हँसते हुए कहने लगा—बालकोंकी बुद्धि इसी प्रकार दूसरोंकी बुद्धिके फेरमें पड़ जाया करती है ॥६॥

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥७॥

हे दैत्यो! इसे गुरुगृहमें ले जाओ। यह छोटा बालक है। वहाँ इसकी पूर्णतया सुरक्षा की जाय। ध्यान रहे छद्मवेशी (नारदादि) विष्णुपक्षीय कोई व्यक्ति इसकी बुद्धिको उलट न दे। यह उनसे किसी भी प्रकारसे प्रभावित न हो पाये ॥७॥

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥८॥

दैत्योंने प्रह्लादजीको गुरुगृहमें पहुँचा दिया। वहाँ षण्ड और अमर्क दोनों दैत्य-याजकोंने उन्हें बुलाया और उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेममयी कोमल वाणीसे उनसे पूछने लगे ॥८॥

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा।

बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥

हे वत्स प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। हम तुमसे कुछ पूछ रहे हैं—तुम हमारे प्रश्नोंका सत्य उत्तर देना, झूठ मत बोलना। देखो, तुम्हारे समान कितने ही बालक यहाँ शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, परन्तु अन्य बालकोंकी बुद्धि तो विपरीत नहीं हुई, फिर तुमने यह सब कहाँसे सीख लिया? ॥९॥

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत्।

भण्यतां श्रोतुकामानां गुरुणां कुलनन्दन ॥ १० ॥

हे कुलनन्दन! तुम्हारी बुद्धिमें यह विकार किसीके द्वारा किया हुआ है, अथवा अपने-आप आया है? हम तुम्हारे अध्यापक हैं। अतः सत्य जानना चाहते हैं ॥१०॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः।

विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥ ११ ॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—जिनकी माया-शक्तिसे सञ्चालित होकर मूर्ख मनुष्योंका मेरा-पराया आदि मिथ्या विषयोंमें अभिनिवेश देखा जाता है, उन मायाधीश भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११॥

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।

अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥ १२ ॥

‘यह मैं हूँ और ‘यह मुझसे भिन्न है’—इस प्रकारकी धारणावाले जीव भगवत्-दास्यरूपी एक सूत्रमें बँधे नहीं होते। जब भगवान् अनुकूल हो जाते हैं—तब यह पशु-बुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव सोचने लगता है, कि हम सभी भगवान् श्रीकृष्णके दास हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं ॥१२॥

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
 र्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते।
 मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
 ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम्॥१३॥

अपना और पराया आदि भेद-दर्शनरूपी विचारोंसे युक्त कुबुद्धिवालोंके लिए जिन परमात्म-तत्त्वका निरूपण करना तो दूरकी बात है, वेद-तात्पर्यको जाननेवाले शास्त्रज्ञ और भक्तिपथके सिद्धान्तोंका अनुसरण करने वाले ब्रह्मादि देवता भी जिनके विषयमें मोहग्रस्त हो जाते हैं, उन भजनीय भगवान् ने ही मुझे यह भिन्न बुद्धि (कृष्ण-भक्ति) दी है॥१३॥

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
 तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥१४॥

हे ब्रह्मन्! लोहा जिस प्रकार स्वाभाविक ही चुम्बककी ओर आकर्षित हो उसकी ओर खिंचा चला जाता है, उसी प्रकार मेरा चित्त भी चक्रपाणि भगवान् विष्णुकी इच्छासे स्वयं ही उनकी ओर आकृष्ट रहता है। इसमें मेरी कोई स्वतन्त्रता नहीं है॥१४॥

श्रीनारद उवाच—

एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः।
 तं सन्निभत्स्य कुपितः सुदीनो राजसेवकः॥१५॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! महामति प्रह्लाद उन दोनों गुरु (ब्रुव-वेशधारी) षण्ड एवं अमर्कसे इतना कहकर मौन हो गये। यह सुनकर दोनों गुरुओंका अन्तःकरण दुःखी हो गया। वे राज-सेवक थे, अतः पराधीन थे। भयके कारण उन्होंने प्रह्लाद महाराजको झिड़कते हुए कहा—॥१५॥

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः।
 कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः॥१६॥

अरे! बेंत लाओ! (यह बेंत हिरण्यकशिपुके घरसे मँगवाया गया था।) इस प्रह्लादके कारण ही हमारी कीर्ति कलङ्कित हो रही है। यह दुर्बुद्धि दैत्यकुलके लिए कुलाङ्गार है। शास्त्रोंमें जो सामादि चार उपाय बतलाये गये हैं, उनमें-से अन्तिम उपाय बेंत द्वारा दैहिक-दण्ड ही इसके लिए उपयुक्त होगा॥१६॥

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः।

यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥ १७ ॥

दैत्यवंशरूपी चन्दनवनमें इस प्रह्लादने काँटेदार बबूल वृक्षके रूपमें जन्म लिया है। इस दैत्य वंशको काटनेके लिए विष्णु कुल्हाड़ीका काम करता है और यह बालक विष्णुका सहायक होकर उस कुल्हाड़ीसे (कुठारसे) संश्लिष्ट बेंतका (दण्डका) काम कर रहा है॥१७॥

इति तं विविधोपायैर्भीषयस्तर्जनादिभिः।

प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम्॥ १८ ॥

इस प्रकार प्रह्लाद महाराजके गुरुओंने तिरस्कार एवं तर्जनादि विविध उपायोंसे उनको डराया-धमकाया। इसके पश्चात् वे उन्हें धर्म, अर्थ और कामकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रोंको पढ़ाने लगे॥१८॥

तत एनं गुरुज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम्।

दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम्॥ १९ ॥

कुछ समय बीतनेपर जब उन्होंने देखा कि प्रह्लाद साम-दामादि राजनीति, कूटनीतिके चार प्रकारके ज्ञानको भलीभाँति समझ गये हैं, तब वे प्रह्लादजीको उनकी माताके समीप ले गये। माताने उबटनादि कराके उन्हें स्नान कराया और आभूषण पहना दिये। तब दोनों शिक्षक उन्हें पिताके पास ले आये॥१९॥

पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषाऽसुरः।

परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृत्तिम्॥ २० ॥

हिरण्यकशिपुने देखा कि उसका पुत्र उसके पैरोंमें विनीत भावसे प्रणत है, तो अनेकानेक आशीर्वादोंसे अभिनन्दित करते हुए उसने

अपनी भुजाओंसे प्रह्लादको उठाया और उनका आलिङ्गन किया।
उस समय दैत्यराजका हृदय आनन्दसे भर गया ॥२०॥

आरोप्याङ्गमवघ्राय मूर्द्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।

आसिञ्चन् विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! इसके पश्चात् दैत्यपति हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको अपनी गोदमें बिठाया और उनका सिर सूँघा, उसकी आँखोंसे अश्रु-वारि गिर-गिरकर प्रह्लादजीको अभिषिक्त करने लगा। अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने प्रह्लादजीसे पूछा ॥२१॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।

कालेनैतावतायुष्मन् यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥ २२ ॥

हिरण्यकशिपुने कहा—प्रह्लाद! प्रिय तात! हे आयुष्मान्! इतने दिनोंमें अपने गुरुओंसे तुमने जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमें—से कुछ अच्छी बातें हमें सुनाओ ॥२२॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २३ ॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ २४ ॥

श्रीप्रह्लादजीने कहा—भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और परिकरोंकी लीलादिका श्रवण, कीर्तन एवं उनका स्मरण करना, उनके ही चरणकमलोंकी सेवा-परिचर्या करना, षोडशोपचारके द्वारा अर्चन करना, दास बन जाना, सख्यभाव स्थापित करना और चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पण कर देना—ये भक्तिकी नौ विधियाँ हैं। जो मनुष्य भगवान् विष्णुको समर्पण करके इस नवविधा भक्तिका साक्षात् अनुष्ठान करता है, मेरे विचारसे उसने ही उत्तम शिक्षा प्राप्त की है।

(श्रवणमें महाराज परीक्षित्, कीर्तनमें शुकदेव गोस्वामी, स्मरणमें प्रह्लाद महाराज, पादसेवनमें लक्ष्मी देवी, अर्चनमें महाराज पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्यमें हनुमान्, सख्यमें अर्जुन तथा आत्मनिवेदनमें महाराज बलि दक्ष हैं।) ॥२३-२४॥

निशम्यैतत् सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा।

गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥ २५ ॥

बालक प्रह्लादके मुखसे इन बातोंको सुनकर क्रोधसे हिरण्यकशिपुके होंठ फड़कने लगे। उसने तत्काल गुरुपुत्र षण्डको बुलाया और इस प्रकार कहा ॥२५॥

ब्रह्मबन्धो किमेतत् ते विपक्षं श्रयतासता।

असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥ २६ ॥

हे अधम ब्राह्मण! अरे दुर्मते! मेरी अवज्ञा करके तुम मेरे शत्रुपक्षका आश्रय लेकर बालक प्रह्लादको विष्णु-भजनकी असार शिक्षा दे रहे हो! यह तुम क्या कर रहे हो? ॥२६॥

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेशिनः।

तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥ २७ ॥

इस जगत्में ऐसे बहुतसे छद्म-वेश धारण करनेवाले दुष्ट-स्वभाव धोखेबाज लोग हैं, जो मित्र बन जाते हैं, परन्तु कालवश उनके कार्योंसे उनके द्वेषादि अवगुण उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं, जिस प्रकार छिपकर पाप करनेवालोंका पाप रोगके रूपमें प्रकट हो जाता है ॥२७॥

गुरुपुत्र उवाच—

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं

सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।

नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्

नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥ २८ ॥

गुरुपुत्रोंने कहा—हे इन्द्रशत्रो! हे राजन्! आपके पुत्र प्रह्लादने आपको जो कुछ बतलाया है, वह न तो हमने सिखाया है

और न ही उसने कहीं औरसे सीखा है। आपको प्रह्लादमें जो विष्णु-भक्ति दिखायी दे रही है, वह तो उसकी जन्मजात और स्वाभाविक ही है। अतः आप हमपर क्रोध न करें और न ही हमारे ऊपर दोषारोपण करें ॥२८॥

श्रीनारद उवाच—

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम्।

न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥ २९ ॥

देवर्षि नारदने कहा—जब गुरु-पुत्रने हिरण्यकशिपुको इस प्रकार उत्तर दिया, तब उसने पुनः प्रह्लाद महाराजसे पूछा—रे अभद्र! अरे कुलनाशक! यदि ऐसी शिक्षा तुझे गुरुसे नहीं प्राप्त हुई, तो बता यह बुद्धि तुझमें कहाँसे आयी? ॥२९॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं

पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥ ३० ॥

श्रीप्रह्लादने कहा—गृहासक्त व्यक्ति अपनी असंयमित इन्द्रियोंके कारण संसाररूपी घोर अन्धकारमय नरकमें ही लिप्त रहते हैं। ये देहात्मबुद्धि वाले चबाये हुएको फिरसे चबा रहे हैं। इन गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि न तो दूसरोंके सिखानेसे, न अपनी चेष्टाओंसे और न ही इन दोनोंके संयोगसे भगवान्में लग सकती है ॥३०॥

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं

दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।

अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना—

स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥ ३१ ॥

जिन्होंने इन्द्रियोंके द्वारा दृष्ट विषय-भोगोंको केन्द्र-बिन्दु मानकर बाह्य-विषयोंमें आसक्त कामीजनोंका गुरु-रूपमें वरण किया है,

वे यह नहीं जानते कि जीवनका यथार्थ हित, चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ और एकमात्र गति भगवान् विष्णु और उनका धाम है। अन्धेके द्वारा ले जाया गया अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार वास्तव-पथका सन्धान नहीं कर पाता और गड्ढेमें गिर जाता है, उसी प्रकार ऐसे गुरुओंके उपदेशसे मूर्ख व्यक्ति कर्मकाण्डके वेदरूपी दीर्घ एवं सुदृढ़ रज्जुमें बँधे हुए हैं ॥३१॥

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥३२॥

इन्द्रिय-तर्पणमें लगे हुए व्यक्ति जब तक निष्किञ्चन परमहंस महावैष्णवोंकी पदरजमें अभिषिक्त नहीं हो जाते, तब तक उनकी मति भगवान् उरुक्रमके पादपद्मोंका स्पर्श नहीं कर सकती। (इसलिए उनके अनर्थ और संसार-वासना भी दूर नहीं होते) विशेषरूपसे यह समझ लेना चाहिए कि भगवद्-चरणोंमें मतिका एकमात्र तात्पर्य है—अनर्थरूपी संसारकी निवृत्ति ॥३२॥

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥३३॥

प्रह्लाद महाराज इतना कहकर शान्त हो गये। हिरण्यकशिपुने क्रोधमें अन्धा होकर उन्हें गोदसे उठाकर भूमिपर फेंक दिया ॥३३॥

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः ॥३४॥

असहनीय क्रोधके आवेशसे हिरण्यकशिपुकी आँखें लाल हो गयीं और वह कहने लगा, हे राक्षसो! इस बालकको शीघ्र ही यहाँसे ले जाओ। यह वध कर देने योग्य है, अतः इसे शीघ्र ही मार डालो ॥३४॥

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः।
पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्थति ॥३५॥

यह अधम ही मेरे भाईका हत्यारा है। इसके रूपमें विष्णु ही मेरे घर आया है। यह अपने पिता और आत्मीयजनोंका परित्याग करके अपने चाचाको मारनेवाले विष्णुकी एक दासके समान चरण-सेवा करता है ॥३५॥

विष्णोर्वा साध्वसौ किन्तु करिष्यत्यसमञ्जसः।

सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥ ३६ ॥

यह बालक होकर भी कितना कृतघ्न है! पाँच वर्षकी आयुमें ही इसने दुस्त्यज पिता-माताके स्नेह-सम्बन्धका परित्याग कर दिया। अतः यह विष्णुके प्रति साधु आचरण करेगा—इसका क्या विश्वास है? ॥३६॥

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत् सुतोऽहितः।
छिन्द्यात् तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ ३७ ॥

यदि कोई ओषधि हितकारी है, तो वह चाहे वनमें ही उत्पन्न क्यों न हो, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा की जाती है। इसी प्रकार दूसरा कोई व्यक्ति अपना हितकारी है, तो उसे अपना पुत्र समझना चाहिए। विषाक्त रोग जिस प्रकार नष्ट कर देनेके योग्य है, उसी प्रकार अपना पुत्र यदि अहितकारी है तो उसका परित्याग कर देना चाहिए। रोगी व्यक्तिके किसी हानिकर अङ्ग-विशेषको काट देनेसे जैसे सारा शरीर सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार यह बालक हमारा शत्रु है, इसका त्याग करना ही उचित है ॥३७॥

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः।

सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥ ३८ ॥

असंयमित इन्द्रियाँ जिस प्रकार योगियोंकी शत्रु होती हैं, उसी प्रकार यह अनियन्त्रित दुष्ट प्रह्लाद सुहृद्का बाना पहने हुए मेरा परम शत्रु है। अतः खाते-सोते बैठते समय विष-प्रयोगादि किसी भी प्रकारसे इसका वध कर दिया जाय ॥३८॥

नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः।

तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥ ३९ ॥

नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीतिवादिनः।

आसीनञ्चाहनन् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ ४० ॥

हिरण्यकशिपुके इस प्रकार कहनेपर अतिशय तीक्ष्ण दाढ़, भयङ्कर मुख, ताँबे जैसे वर्णके दाढ़ी-मूँछ एवं केशवाले विकराल राक्षस हाथोंमें त्रिशूल लेकर “मारो-मारो” इस प्रकारसे भैरव नाद करते हुए श्रीहरिके ध्यानमें बैठे हुए प्रह्लादके मर्मस्थानोंपर प्रहार करने लगे ॥ ३९-४० ॥

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि।

युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥ ४१ ॥

भगवान् निर्विकार, मन-वाणीसे अगोचर, अखिलात्मा और सर्वेश्वर हैं। प्रह्लाद महाराजका चित्त उनमें ही लगा हुआ था। उनपर राक्षसोंने जितने भी प्रहार किये, वे उसी प्रकार निष्फल हो गये, जिस प्रकार पुण्यरहित व्यक्ति द्वारा किये गये सत्कार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः।

चकार तद्वधोपायान् निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

हे युधिष्ठिर! प्रह्लादजीके वधके लिए दैत्योंने जितने प्रयास किये, वे सब व्यर्थ हो गये। इससे हिरण्यकशिपु अत्यन्त शङ्कित हो उठा। अब वह बड़े हठके साथ प्रह्लादजीको मारनेके लिए विविध चेष्टाएँ करने लगा ॥ ४२ ॥

दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः ।

मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥ ४३ ॥

हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।

न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्।

चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥ ४४ ॥

हिरण्यकशिपुने प्रह्लाद महाराजको बड़े-बड़े हाथियोंके पाँवोंके नीचे कुचलवाया, भयङ्कर सर्पोंसे डँसवाया, कृत्यादि राक्षसीको उत्पन्न कराके विध्वंसक अभिचार करवाये, पहाड़ोंकी चोटियोंसे नीचे गिरवाया, शम्बरासुर द्वारा भौँति-भौँतिके मायावी प्रयोग कराये, अन्धकारमय गड्ढोंमें बन्द करवाया, विष खिलवाया, भूखा रखवाया, बर्फीली जगहोंपर रखवाया, आँधीमें छुड़वा दिया, अंगारोंपर जलवाया, समुद्रमें डलवा दिया और उनपर प्रस्तर-शिलाएँ फिंकवायी, परन्तु वह किसी भी उपायसे अपने निष्पाप पुत्रका कुछ भी अहित न कर सका। जब किसी भी प्रकारसे प्रह्लादका वध नहीं हुआ, तब वह अत्यन्त चिन्तामें पड़ गया ॥४३-४४॥

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः।

तैस्तैर्द्रोहैरसद्भर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥४५॥

मैंने प्रह्लादको अत्यन्त कड़वी बातें कहीं, इसके वधके लिए शूल-प्रहारादि बहुत-से उपाय करवाये, किन्तु यह बालक अपने ही प्रभावसे मेरे सम्पूर्ण द्रोहाचरणसे बच गया। इसका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ ॥४५॥

वर्त्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम्।

न विस्मरति मेऽनार्य शुनःशेफ इव प्रभुः ॥४६॥

यह बालक है, मेरे अत्यन्त निकट है, तो भी निर्भय रहता है। कुत्तेकी पूँछ जिस प्रकार अपने स्वाभाविक टेढ़ेपनको नहीं छोड़ती, उसी प्रकार यह मेरे अपकारोंको और विष्णुको कभी नहीं भूलता। शुनःशेफ भी इसी प्रकार अपने पिताका विरोधी हो गया था। (शुनःशेफ अजीगर्तका मध्यम पुत्र था। उसके माता-पिताने उसे राजा हरिश्चन्द्रको बेच दिया था। माता-पिताके इस अपकारको शुनःशेफ कभी भूल नहीं पाया और उसने विपक्षी विश्वामित्रका आश्रय लेकर अपना गोत्र बदल लिया था।) ॥४६॥

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।

नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥४७॥

इस बालककी शक्ति असीम है। इसे किसीका भी भय नहीं है, यह निश्चय ही अमर है। मुझे ऐसा लगता है, कि इसके साथ विरोध करनेसे मेरी मृत्यु हो सकती है, सम्भव है, नहीं भी हो ॥४७॥

इति तच्चिन्त्या किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम्।

शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥४८॥

इस प्रकार चिन्ता करते-करते हिरण्यकशिपुका मुख मलिन एवं निस्तेज हो गया। वह नीचे मुख करके बैठ गया। तब शुक्राचार्यके दोनों पुत्र षण्ड तथा अमर्क एकान्तमें उससे कहने लगे— ॥४८॥

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवो-

र्विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्यपम् ।

न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्वहे

न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥४९॥

हे स्वामी! आपकी भ्रू-भङ्गिमा मात्रसे सारे लोकपाल भयभीत होकर काँपते हैं। आपने किसीकी सहायताके बिना अकेले ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की। हमें तो आपकी चिन्ताका कोई कारण दिखायी नहीं दे रहा है। बालकके व्यवहारमें गुण-दोषका विचार करनेका प्रयोजन ही क्या है? ॥४९॥

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा

निधेहि भीतो न पलायते यथा।

बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया

यावद् गुरुभार्गव आगमिष्यति ॥५०॥

जब तक गुरुदेव शुक्राचार्य आ नहीं जाते, तब तक यह डरकर कहीं भाग न जाय, इसलिए इसे वरुण-पाशसे बाँधकर रखिये। विशेषरूपसे आयु बढ़नेसे (धीरे-धीरे बड़े होनेसे) और गुरु-सेवा करनेसे बुद्धिमें बदलाव आ जाता है ॥५०॥

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत्।
धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्या राज्ञां यो गृहमेधिनाम्॥५१॥

हिरण्यकशिपुने 'ऐसा ही हो' यह कहकर गुरुपुत्रके वचनोंको स्वीकार कर लिया और कहा—आप लोग इसे गृहस्थ राजाओंके धर्म और दानके विषयमें उपदेश प्रदान कीजिए॥५१॥

धर्ममर्थञ्च कामञ्च नितराञ्चानुपूर्वशः।
प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च॥५२॥

तदनन्तर षण्ड और अमर्क विनीत एवं अवनत प्रह्लादको क्रमशः धर्म, अर्थ और कामके विषयमें विशेषरूपसे उपदेश देने लगे॥५२॥

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम्॥५३॥

उन्होंने प्रह्लादको शास्त्रोंमें वर्णित धर्म, अर्थ, कामरूपी त्रिवर्गकी शिक्षा दी, किन्तु उन्हें इन शिक्षाओंमें—से कोई भी शिक्षा अच्छी नहीं लगी। षण्ड और अमर्कका चित्त रागद्वेषादिके कारण संसारमें ही आसक्त था, इसलिए उनके द्वन्द्वपूर्ण भौतिक उपदेशोंसे बालक प्रह्लादका चित्त आकर्षित नहीं हो सका॥५३॥

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहृतः कृतक्षणैः॥५४॥

एक दिन आचार्यगण गृहस्थीके काम-काजके कारण अध्यापन-स्थलीसे घर चले गये। इसी बीच प्रह्लादजीके समयस्क बालकोंने खेलनेका उपयुक्त अवसर देखकर प्रह्लादजीको पुकारा॥५४॥

अथ तान् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव॥५५॥

प्रह्लादजी परम ज्ञानी थे। उन्होंने सभी बालकोंके साथ मधुर वचनोंमें वार्तालाप किया और हँसते-हँसते “इस संसारका अन्त क्या है”—इस विषयपर कृपापूर्वक उपदेश करने लगे॥५५॥

ते तु तद्गौरवात् सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।
 बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥ ५६ ॥
 पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः ।
 तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादानुचरितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

हे राजेन्द्र ! अभी इन बालकोंका अन्तःकरण सुख-दुःख रूपी
 द्वन्द्वोंमें आसक्त व्यक्तियोंके उपदेशोंसे दूषित नहीं हुआ था और
 प्रह्लादके प्रति उनकी गौरव-बुद्धि भी थी। वे खेल-कूदको छोड़कर
 उनके चारों ओर बैठ गये और अपना चित्त उनमें निविष्ट कर उन्हें
 एकटक देखने लगे। असुर-कुलमें उत्पन्न, परम करुण, सर्वहितकारी
 महाभागवत प्रह्लाद असुर-बालकोंको उपदेश देने लगे ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके पाँचवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त ।

षष्ठोऽध्यायः

प्रह्लादजीका असुर-बालकोंको उपदेश

श्रीप्रह्लाद उवाच—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ १ ॥

श्रीप्रह्लादने कहा—बुद्धिमान् व्यक्तिको मनुष्य-जन्म प्राप्त करके बाल्यावस्थासे ही अन्यान्य प्रयासोंको त्यागकर भागवत-धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि इस संसारमें मनुष्य-जन्म अति दुर्लभ और क्षणस्थायी है। क्षणस्थायी होनेपर भी इसकी विशेषता यह है कि क्षणकाल भक्ति करनेपर ही परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥१॥

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।

यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २ ॥

इस मनुष्य-जन्ममें श्रीभगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना ही कर्तव्य है, क्योंकि वे ही समस्त जीवोंके प्रियतम, आत्मा, ईश्वर और सुहृद् हैं ॥२॥

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।

सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥

हे दैत्य-बालको! प्राणियोंका शरीरसे सम्पर्क होनेके कारण इन्द्रिय और विषय-सम्बन्धी जो सुख-भोग हैं, वे पूर्व कर्मोंके (प्रारब्धके) अनुसार बिना प्रयासके ही किसी भी योनिमें (चाहे पशु आदि की भी क्यों न हो) उसी प्रकार प्राप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार बिना यत्नके तथा निवारण किये जाने पर भी दुःख-भोग प्राप्त होते हैं ॥३॥

तत्प्रयासो न कर्त्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।

न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥४॥

अतः सुख-प्राप्तिके लिए कभी कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। इन प्रयासोंसे मात्र आयु एवं शक्तिका क्षय होता है। भव-बन्धनसे मुक्त करनेवाले भगवान् मुकुन्दके चरणारविन्दकी सेवासे जिस आत्यन्तिक श्रेयकी प्राप्ति होती है, वैषयिक सुखोंके लिए प्रयत्न करनेपर उस निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥४॥

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।

शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥५॥

विवेकी पुरुष संसारके अनेकानेक भयोंसे घबराते नहीं हैं। अतः जब तक यह परिपुष्ट मानव शरीर रोग ग्रस्त होकर कालके गालमें नहीं चला जाता, उससे पहले ही जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए॥५॥

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदद्भ्यञ्जाजितात्मनः।

निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥६॥

मनुष्योंकी आयु सौ वर्ष तक ही सीमित है, इसमें भी जिनकी इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं, उनकी आयु तो इससे भी आधी अर्थात् पचास वर्ष रह जाती है, क्योंकि वे निद्रारूपी गाढ़ तमोगुणसे (अज्ञानसे) ग्रस्त होकर रात्रिमें बारह घंटे चुपचाप सोये रहते हैं। अतः उनकी आधी आयु सोनेमें ही व्यर्थ चली जाती है॥६॥

मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः।

जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः॥७॥

बाल्यकालमें मनुष्य मुग्धावस्थामें रहता है, इसीमें दस वर्ष निकल जाते हैं और कौमारावस्थाके दस वर्ष खेलने-कूदनेमें चले जाते हैं, इस प्रकार शतायुके बीस वर्ष विफल हो जाते हैं। जब देह बुढ़ापेसे ग्रस्त हो जाती है, तब यह सांसारिक कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती है और इस प्रकार जीवनके अन्तिम बीस वर्ष भी व्यर्थ चले जाते हैं॥७॥

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा।

शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८ ॥

रही बीचकी आयु (दस वर्ष) वह भी इसमें कभी न पूरी होनेवाली असीमित कामनाएँ हैं, बलिष्ठ और दुर्जय मोह है और घर-द्वारके प्रति इतनी आसक्ति है कि मनुष्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं कर पाता। इस प्रकार उस प्रमत्त जीवके दस वर्ष भी व्यर्थ चले जाते हैं ॥ ८ ॥

को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।

स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥

जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जो घर अर्थात् पत्नी-पुत्रादिमें आसक्त हैं तथा जो उनके दृढ़ स्नेह-पाशमें बँधे हुए हैं, उनमें ऐसा कौन-सा मनुष्य है जो इन सबसे मुक्ति प्राप्त करनेमें उत्साहित हो सकता है? ॥ ९ ॥

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः।

यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥ १० ॥

अर्थ-प्राप्तिकी तृष्णा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होती है, कोई अजितेन्द्रिय पुरुष उसका त्याग किस प्रकार कर सकता है—जिस अर्थोपार्जनका चोर, तस्करादि, नीच सेवक और व्यापारी अपने प्रियतम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी प्रयत्न करते हैं ॥ १० ॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः

सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान्।

सुहृत्सु तत्स्नेहसितः शिशूनां

कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितृर्हृदया

भ्रातृन् स्वसृर्वा पितरौ च दीनौ।

गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च

वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२ ॥

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
 कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।
 औपस्थ्यजैह्वयं बहुमन्यमानः
 कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३ ॥

जिसका चित्त सुहृदोंके प्रति अनुरक्त है, वह किस प्रकार उनकी आसक्तिका परित्याग कर सकता है! स्नेहशीला प्रियाके निर्जन सङ्गका (कान्तवासका) स्मरण करनेपर कौन उसको छोड़ सकता है? बालकोंकी मधुर एवं मनमोहक तोतली बोली स्मरण होनेपर कौन उनका त्याग कर सकता है? अपने पुत्र, श्वसुरालय गयी हुई लाड़ली पुत्री, भाई, बहिन, असमर्थ एवं वृद्ध माँ-बाप, चित्ताकर्षक विविध साज-सामान और अन्यान्य भोग-सामग्रियोंसे युक्त घर, कुलपरम्परासे प्राप्त होनेवाली वृत्ति, पशु एवं सेवकादिका स्मरण करके कौन उनको विस्मृत कर सकता है? आसक्त गृहस्थ उस रेशमके कीड़ेके समान है, जो अपने चारों ओर धागा बुनकर अपने लिए गृह-निर्माण करता है और उसीमें बन्दी हो जाता है, उससे निकल नहीं पाता। इसी प्रकार जीव भी तत्-तत् फलके लोभके कारण कर्म करते-करते उनसे बँध जाता है। वह कभी पूर्णकाम नहीं होता और जननेन्द्रिय-सुखको ही अपना अभीष्ट मानकर मोहसे अभिभूत हो जाता है और मोह-मायासे कभी विरक्त नहीं हो पाता ॥ ११-१३ ॥

कुटुम्बपोषाय वियत्रिजायु-
 न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः।
 सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
 निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥ १४ ॥

कुटुम्बमें आसक्त-चित्त व्यक्तिको यह अनुभव भी नहीं हो पाता कि उसकी आयु कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही बीती चली जा रही है और जो उसके जीवनका भगवद् आराधनारूपी परम पुरुषार्थ है, वह नष्ट हुआ जा रहा है। तुच्छ पाई मात्रके अपक्षय

होनेपर भी उसे बहुत कष्ट होता है। इस प्रकार जिसका चित्त अपने कुटुम्बमें रम गया है, उसे सब समय एवं सभी स्थानों पर त्रिताप जलाते रहते हैं, किन्तु उसे वैराग्य नहीं होता ॥१४॥

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह वाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥ १५ ॥

कुटुम्बके भरण-पोषणमें लगा हुआ व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर पाता और धनादि जुटानेमें ही उसका ध्यान लगा रहता है। वह यह जानता है कि दूसरोंका धन हरण करनेपर मृत्युके बाद यम-यातना और इस लोकमें राजदण्डरूपी अपयश प्राप्त होगा, तो भी अपनी अपूर्ण अभिलाषाओंके कारण वह इतना अशान्त हो जाता है कि दूसरेका धन चुरा ही लेता है ॥१५॥

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ १६ ॥

हे दैत्य-मित्रो! 'यह मेरा है' और 'यह दूसरेका है'—इस प्रकार अपने-परायेका भेद-भाव रखनेवाले पण्डित भी यदि अत्यधिक आसक्तिके कारण कुटुम्बके ही पालन-पोषणमें लगे रहते हैं, तो वे भी आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते और तमोगुणके वशीभूत होकर मूढ़ और मोहग्रस्त हो जाते हैं, सदैव अज्ञानतामें ही डूबे रहते हैं ॥१६॥

यतो न कश्चित् क्व च कुत्रचिद् वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ १७ ॥

ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या
 दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
 उपेत नारायणमादिदेवं
 स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ १८ ॥

हे दैत्य-बन्धुओ! ज्ञान-रहित एवं भगवद्-विमुख कोई भी व्यक्ति कभी भी स्वयंको मुक्त नहीं कर सकता। इस प्रकारके व्यक्ति तो कामलम्पट होकर अपने विहारादिके लिए स्त्रियोंके हाथके खिलौने मात्र ही बनकर रह जाते हैं। पुत्र-पौत्रादिसे घिरे हुए वे भव-बन्धनकी शृङ्खलाओंमें जकड़े रहते हैं। अतः विषयोंमें लिप्त दैत्योंके सङ्गका दूरसे ही परित्याग कर दो और आदिदेव श्रीनारायणके शरणापन्न हो जाओ। भगवान् श्रीनारायण ही आसक्ति-रहित भगवद्-भक्तोंके संसार-बन्धनके विमोचक और अभीष्ट-स्वरूप हैं ॥१७-१८॥

न ह्यच्युतं प्रीणयतो ब्रह्मायासोऽसुरात्मजाः।
 आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥ १९ ॥

हे असुर-पुत्रो! भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। उनकी आराधनाके लिए बाल्यावस्था अथवा वार्द्धक्यादि किसीकी भी अपेक्षा नहीं है। वे ही इस संसारमें सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं स्वयं-सिद्ध वस्तु हैं। अधिक क्या, उन भगवान् अच्युतको प्रसन्न करनेके लिये कोई विशेष श्रम भी नहीं करना पड़ता ॥१९॥

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु।
 भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥ २० ॥
 गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।
 एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥ २१ ॥
 प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्।
 व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥ २२ ॥

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥ २३ ॥

देखो! स्थावर पदार्थ तिनकेसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त उत्तम-अधम जीवोंमें, भौतिक विकार अर्थात् पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतोंके कार्य घट-पटादिमें, महत् तत्त्वादिमें, आकाशादि पञ्चभूतोंमें, सत्त्व-रज-तम आदि तीनों गुणोंमें, गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिमें और गुणोंके वैषम्य अर्थात् अहङ्करादिमें वही एक परब्रह्म, आत्मा, भगवान् और ईश्वर विराजमान हैं। वे ही अविनाशी, प्राणियोंके अन्तर्यामी (प्रत्यगात्मा) हैं। उनको व्याप्य-व्यापकरूपमें बतलाया गया है, किन्तु वे अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय एवं (अविभाज्य) भेद-रहित हैं। वे अनुभवात्मक, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप एवं सर्वेश्वर हैं। परम सच्चिदानन्दके रूपमें उनका अनुभव किया जाता है। मायाकी वृत्ति अविद्याके द्वारा आच्छादित उनका स्वरूप परिच्छिन्नरूपमें मिथ्या कल्पित होता है। भक्तिके तारतम्यसे उनका स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता जाता है ॥२०-२३॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥ २४ ॥

इसलिए प्रिय दैत्यवंशजो! तुम सब वही करो, जिससे भगवान् अधोक्षज प्रसन्न होते हैं। आसुरी द्वैतभाव अर्थात् द्वेषादिका त्याग कर दो। सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिए सभीपर दया करो और सभीसे मित्रता करो ॥२४॥

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ २५ ॥

भगवान् अनन्त गुणशाली और समस्त कारणोंके कारण हैं। उनके प्रसन्न होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो दुष्प्राप्य हो।

सत्त्वादि गुणोंके परिणामके कारण लोक, परलोकादिके लिये धर्म, अर्थादि तो बिना यत्नके स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, इनके लिये प्रयास करनेसे क्या लाभ? हम तो सारग्राही हैं। उनके चरण-कमलोंकी सेवामें लगे रहते हैं, उनका गुणगान करते हैं, स्तुति-स्तवन करते हैं, हमें सायुज्य रूपी मोक्षादिकी क्या आवश्यकता है? ॥२५॥

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्षणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥ २६ ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको वेदोंमें त्रिवर्ग कहा गया है। आत्मविद्या, कर्मविद्या, तर्क, दण्डनीति और कृषि आदि जीविकाकी विविध वार्त्ताएँ—ये सभी वेद-प्रतिपाद्य—त्रिगुणात्मक विषय हैं; इसलिए इन बाह्य विषयोंके अध्ययनको मैं नश्वर और निरर्थक मानता हूँ। नैस्त्रैगुण्य परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुमें आत्मनिवेदन करना ही यथार्थ सत्य है और ज्ञान, कर्मसे विरत होकर वेदोक्त निर्गुणा भक्तिमें ही जीवनकी सार्थकता है ॥२६॥

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ २७ ॥

पहले नर ऋषिके सखा भगवान् नारायण ऋषिने इस दुर्लभ एवं अमल ज्ञानको देवर्षि नारदको दिया था। जो भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त हैं, जो भगवान्‌के अतिरिक्त किसी भी कामनासे रहित हैं तथा भगवान्‌के ही चरणारविन्दके रज द्वारा अभिषिक्त हैं, उनमें यह निर्मल ज्ञान उदित हो सकता है। यह ज्ञान केवल उत्तम एवं शुद्ध व्यक्तियोंको ही प्राप्त होता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है ॥२७॥

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदादेवदर्शनात् ॥ २८ ॥

यह भागवत धर्म अति विशुद्ध-हिंसादिसे रहित, विज्ञानसे युक्त (अनुभव करने योग्य) एवं भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेवाला है। मैंने इसे सबसे पहले भगवान्‌का सदैव दर्शन करनेवाले श्रीनारद मुनिसे सुना था ॥ २८ ॥

दैत्यपुत्रा ऊचुः—

प्रह्लाद त्वं वयञ्चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥ २९ ॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।
छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विश्रम्भकारणम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः।

दैत्य-सहपाठियोंने कहा—हे प्रह्लाद! न तो तुम और न ही हमलोग गुरु शुक्राचार्यके दोनों पुत्र षण्ड और अमर्कके अतिरिक्त किसी औरको शिक्षकके रूपमें जानते हैं। उन दोनोंको ही हम सभी बालकोंके नियन्ता रूपमें देख रहे हैं। तुम तो अन्तःपुरमें रहनेवाले हो—इन दोनोंके हाथोंसे मुक्त होकर तुम्हारा किसी गुरुके पास जाना अर्थात् महत्-सङ्ग (नारद-सङ्ग) कुछ असम्भव-सा लगता है। हे सौम्य! यदि विश्वासके योग्य कोई कारण हो, तो उसे बतलाकर हमारा संशय दूर करो ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

प्रह्लाद द्वारा माताके गर्भमें प्राप्त
नारदके उपदेशका वर्णन

श्रीनारद उवाच—

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।

उवाच समयमानस्तान् स्मरन्मदनुभाषितम् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! जब दैत्य-बालकोंने इस प्रकार प्रश्न किया, तब असुर-कुलमें उत्पन्न महाभागवत प्रह्लादने मेरे द्वारा उपदिष्ट वचनोंका स्मरण किया और प्रफुल्लित चित्तसे उनसे कहा ॥१॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।

युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान् प्रति ॥ २ ॥

श्रीप्रह्लादने कहा—साथियो! जब मेरे पिता हिरण्यकशिपु तपस्याके लिए मन्दराचल पर्वतपर चले गये, तब इन्द्रादि देवताओंने दानवोंका दमन करनेके लिए युद्धका घोर प्रयास आरम्भ कर दिया ॥२॥

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः।

पापेन पापोऽभक्षीति वदन्तो वासवादयः ॥ ३ ॥

अहो! सर्पको जिस प्रकार छोटी-छोटी चींटियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार समस्त लोगोंको सन्तप्त करनेवाले पापी हिरण्यकशिपुको भी उसके पापने विनष्ट कर दिया। यह कहकर वे युद्धका आयोजन करने लगे ॥३॥

तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः।

वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥

कलत्रपुत्रवित्ताप्तान् गृहान् पशुपरिच्छदान्।
नावेक्ष्यमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५ ॥

असुर-सेनापतियोंको जब इन्द्रादि देवताओंके युद्धके विराट् आयोजनका पता चला, तब उनका साहस जाता रहा और जब देवता उन्हें मारने लगे, तब वे भयभीत होकर चारों ओर भागने लगे। अपने प्राणोंकी रक्षामें वे इतने व्यस्त हो गये कि उन्होंने अपनी पत्नी, पुत्र, पशु, घरका साज-सामान और पशु आदिकी ओर पलटकर भी नहीं देखा ॥४-५॥

व्यलुम्पन् राजशिविरममरा जयकाङ्क्षिणः।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् विजयी देवताओंने मेरे पिता दानवराज हिरण्यकशिपुका सर्वस्व अपहरण करके उनके राजमहलको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। देवराज इन्द्रने मेरी माता राजमहिषी कयाधुको बन्दी बना लिया ॥६॥

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥

इन्द्र जब कुररी पक्षीकी भाँति भयसे काँपती, रोती-बिलखती मेरी माताको ले जा रहे थे, तभी संयोगवश मार्गमें देवर्षि नारद मिल गये और उन्होंने मेरी माताकी यह दयनीय अवस्था देखी ॥७॥

प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम्।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सर्तीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

मेरी माताको देखकर देवर्षि नारदने कहा—हे सुरपते! इस निरपराध स्त्रीको इस प्रकार बलपूर्वक ले जाना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, हे महाभाग! इस साध्वी, परस्त्रीको छोड़ दो ॥८॥

श्रीइन्द्र उवाच—

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः।
आस्यतां यावत् प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

देवराज इन्द्रने कहा—इस दानव-पत्नीके गर्भमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका असह्य वीर्य पनप रहा है। जब तक प्रसव नहीं हो जाता, तब तक यह मेरे कारागारमें रहेगी। बालक उत्पन्न हो जानेपर मैं उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा ॥९॥

श्रीनारद उवाच—

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।

त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥ १० ॥

देवर्षि नारदने कहा—इसके गर्भमें जो शिशु है, वह महाभागवत, निष्पाप और महाप्रभावशाली है। वह भगवान् श्रीअनन्तदेवका परम प्रिय सेवक है। अतः तुम उसे मार नहीं सकोगे ॥१०॥

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन् वचः।

अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥ ११ ॥

देवर्षि नारदके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रने उनके वचनोंका सम्मान करते हुए मेरी माताको छोड़ दिया। मैं भगवान् श्रीअनन्तदेवका प्रिय भक्त हूँ—यह जानकर उन्होंने मेरी माताकी प्रदक्षिणा की और स्वर्गमें चले गये ॥११॥

ततो मे मातरमृषिः समानीय निजाश्रमे।

आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः ॥ १२ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारद मेरी माताको अपने आश्रममें ले आये और उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे—बेटी! जब तक तुम्हारा पति लौटकर नहीं आता, तब तक तुम मेरे आश्रममें ही रहो ॥१२॥

तथेत्यवात्सीदेवर्षेरन्तिके साप्यकुतोभया।

यावदैत्यपतिर्घोरात् तपसो न न्यवर्तत ॥ १३ ॥

देवर्षिके वचन सुनकर मेरी माताने 'जो आज्ञा' कहकर उनके संरक्षणको स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् जब तक दैत्यराज घोरतम तपस्या करके लौटे नहीं, तब तक मेरी माता निर्भयतापूर्वक नारद मुनिके आश्रममें ही रही ॥१३॥

ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥ १४ ॥

देवर्षिं नारदके आश्रममें परम साध्वी और गर्भवती मेरी माता अपने गर्भस्थ शिशुके मङ्गलके लिए इच्छा-प्रसव (पतिके लौट आनेके बाद पुत्रोत्पत्ति) की कामनासे परम भक्तिपूर्वक देवर्षिकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी ॥ १४ ॥

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानञ्च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥ १५ ॥

परम दयालु देवर्षिं नारदने मुझे लक्ष्य करके सेवामें रत मेरी माताको गर्भके मङ्गल एवं इच्छानुसार प्रसवका वरदान दिया। तदनन्तर उन्होंने हिंसादि (भौतिक-कल्मष रहित) भागवतगण-समस्त विशुद्ध धर्म-तत्त्व-का ज्ञान एवं भागवत धर्मका रहस्य (भक्ति योग)—इन दोनोंका उपदेश दिया ॥ १५ ॥

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः ॥ १६ ॥

बहुत समय बीत जानेके कारण और स्त्री होनेके कारण भी मेरी माता तो उन सब उपदेशोंको भूल गयीं, किन्तु देवर्षिके विशेष अनुग्रहके कारण मुझे आज तक भी उन समस्त उपदेशोंका स्मरण है ॥ १६ ॥

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्धधते वचः।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानाञ्च मे यथा ॥ १७ ॥

तुमलोग यदि मेरे वचनोंमें श्रद्धा करोगे, तो तुम्हारी भी वैशारदी अर्थात् भगवद्-विषयक बुद्धि हो सकती है। श्रद्धा होनेपर तो स्त्री एवं बालकोंकी बुद्धि भी मेरे समान आत्म-अनात्म विवेकमयी हो सकती है ॥ १७ ॥

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥ १८ ॥

जिस प्रकार ईश्वरमूर्ति कालकी प्रेरणासे वृक्षोंमें फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार देहमें भी जन्म, अस्तित्वकी अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश—ये छः भाव विकार कालक्रमसे देखे जाते हैं किन्तु आत्मामें ऐसे परिवर्तन नहीं होते ॥१८॥

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।

अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥ १९ ॥

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।

अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥ २० ॥

इसका कारण यह है कि आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सर्वाश्रय, विकार-रहित, आत्मदर्शी, सर्वकारण-स्वरूप, व्यापक, असङ्ग और आवरण-रहित है—ये आत्माके बारह उत्कृष्ट लक्षण हैं। अतः तत्त्वदर्शियोंको चाहिए कि वे इन लक्षणोंके द्वारा आत्माको देहादिसे पृथक् मानकर मोहसे उत्पन्न “मैं और मेरा” इस मिथ्या ज्ञानका त्याग कर दें ॥१९-२०॥

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः

क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।

क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-

रध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत ॥ २१ ॥

स्वर्ण-खानोंकी जानकारी रखनेवाला स्वर्णकार जिस प्रकार अग्नि-संयोगादि विधियोंके द्वारा प्रस्तर-खण्डोंमें मिश्रित स्वर्ण प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार अध्यात्म-तत्त्वदर्शी व्यक्ति देह-क्षेत्रमें आत्म-योग आदि उपायोंके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है ॥२१॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तान्नय एव हि तद्गुणाः।

विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥ २२ ॥

मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्राएँ—इन आठ तत्त्वोंको प्रकृति कहा गया है। इस प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वादि तीन

गुण हैं, और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत सोलह विकार हैं। इन समस्त पदार्थोंमें परमपुरुष आत्मा एकमात्र साक्षी रूपमें वर्तमान हैं। इसलिए कपिलादि आचार्योंने इस आत्माको 'एक' कहकर वर्णन किया है॥२२॥

देहस्तु सर्वसंघातो जगत् तस्थुरिति द्विधा।

अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन्॥२३॥

इन समस्त पदार्थोंका समुदाय (संघात) शरीर है। यह दो प्रकारका है—मनुष्यादि जङ्गम और वृक्षादि स्थावर। इन दोनों ही प्रकारके शरीरोंमें 'आत्मा' अर्थात् चेतन-तत्त्वसे भिन्न सभी अनात्म वस्तुओंको 'यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार हेय समझकर अर्थात् उनका त्याग करके परमात्माका अन्वेषण करना चाहिए॥२३॥

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना।

स्वर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥२४॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति स्थिर-चित्त होकर धैर्य तथा दक्षताके साथ अन्वय एवं व्यतिरेक भावसे सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयका विवेचन करें। [प्रत्यगात्माके संघातसे ही शरीरकी सत्ता एवं स्थिति हैं—यह अन्वय है और प्रत्यगात्माके (अन्तर्यामीके) निकल जाने पर शरीरका विनाश हो जाता है—इस प्रकारसे व्यतिरेकके विवेचनकी प्रक्रिया है।]॥२४॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।

ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥२५॥

बुद्धिकी तीन वृत्तियाँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों वृत्तियोंका जिसके द्वारा अनुभव होता है, वे ही सबके अध्यक्ष, सबके नियन्ता, परम पुरुष, परमात्मा हैं॥२५॥

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः।

स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात्॥२६॥

जिस प्रकार पुष्पादिकी गन्धसे वायुके गन्धवान् रूपका ज्ञान होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंसे उत्पन्न जाग्रदादि तीनों प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त बुद्धिसे आत्माके स्वरूपको भगवदाश्रयमें जानना होगा (आत्माको बुद्धिके साथ समन्वित करनेसे जाग्रदादि बुद्धिकी अवस्थाओंका बोध होता है, वस्तुतः ये वृत्तियाँ आत्माकी अवस्थाएँ नहीं हैं, जिनसे बुद्धि प्रवर्तित होती है, वे परमात्मा हैं और जो बुद्धिसे युक्त हैं, वे जीवात्मा हैं।) ॥२६॥

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।

अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवार्प्यते ॥ २७ ॥

बुद्धिके गुणों और कर्मोंके द्वारा ही प्राणियोंका जन्म-मरण-प्रवाह रूपी संसार बन्धन होता है। पुरुषके स्वप्नके समान यह संसार मिथ्या और अज्ञानमूलक है। अतः यह नश्वर एवं अवास्तव है ॥२७॥

तस्माद्बुद्धिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्।

बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥ २८ ॥

अतएव तुम लोग तीनों गुणोंसे उत्पन्न समस्त कर्मोंके बीजको दहन करनेवाले, जाग्रदादि प्राकृत बुद्धिके प्रवाहको नाश करनेवाले भक्तियोगका अनुष्ठान करो। इस योगसे ही परमात्मासे मिलन हो सकता है ॥२८॥

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।

यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥ २९ ॥

भव-बन्धनसे छूटनेके लिए मनुष्य सहस्रों धर्मानुष्ठानोंका आचरण करते हैं, किन्तु उन सभी उपायोंमें जिसके द्वारा सर्वेश्वर भगवान्में अविचलित आसक्ति (अनपायिनी भक्ति) हो जाय, उसीका स्वयं भगवान्ने श्रेष्ठ मानकर वर्णन किया है ॥२९॥

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।

सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥ ३० ॥

श्रद्धया तत्कथायाञ्च कीर्त्तनैर्गुणकर्मणाम्।

तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥

भक्तियोगका अनुष्ठान करनेके लिए गुरुकी सेवा-शुश्रूषा, उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा, जो कुछ भी प्राप्त हो उसका समर्पण, सदाचार परायण भक्तोंका सत्सङ्ग, भगवान्की आराधना, भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा, उनके गुण एवं लीलाओंका कीर्त्तन, उनके चरण-कमलोंका ध्यान और उनकी श्रीमूर्तिका दर्शन-पूजादि करना चाहिए ॥३०-३१॥

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।

इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥ ३२ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे वर्तमान हैं—इस भावनासे सभी जीवोंके स्वरूप एवं स्थितिके अनुसार हृदयसे सबका यथोचित सम्मान करना चाहिए ॥३२॥

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।

वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ॥ ३३ ॥

इन सब क्रियाओंका अनुष्ठान करते हुए जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और ईर्ष्या—इन छह विकारोंको जीतकर भगवान् वासुदेवके श्रीचरणारविन्दोंकी भक्ति करता है, उसे सम्यक् रूपेण प्रेमा-भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥३३॥

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्

वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।

यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं

प्रोत्कण्ठ उद्गायाति रौति नृत्यति ॥ ३४ ॥

ऐसे मुक्तपुरुष जब भगवान्के भक्तवात्सल्यादि अनुपम गुण, विविध अवतारोंमें की गई अलौकिक लीलाएँ (दधि-दुग्ध-चोरी आदि) तथा रावण-वधादि पराक्रमके विषयमें सुनते हैं, तो वे अत्यन्त आनन्दित होते हैं। उनका रोम-रोम खिल जाता है, अश्रु-प्रवाहादि

सात्त्विक भावोंके कारण कण्ठ गद्गद हो जाता है। वे कभी मुक्त कण्ठसे गान और कभी आनन्दके साथ नृत्य करते हैं॥३४॥

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

कभी वे ग्रह-ग्रस्त मनुष्यके समान जोर-जोरसे हँसते हैं, कभी भगवान्‌के गुणोंका उच्च स्वरसे कीर्तन करते हुए विलाप करने लगते हैं, कभी भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन हो जाते हैं और कभी मनुष्योंको भगवान्‌का भक्त जानकर उनकी वन्दना करने लगते हैं, बारम्बार दीर्घ निःश्वास छोड़ते हैं, और कभी लोकलाज छोड़कर हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण! आदि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करने लगते हैं॥३५॥

तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥ ३६ ॥

उस समय वे सारे भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। उनके मन और शरीर भगवान्‌की लीलाओंका ध्यान करते-करते अप्राकृत सच्चिदानन्दमयताको प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिकी अतिशयताके कारण उनकी अविद्या आदि अज्ञानता और जागतिक वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे दग्ध हो जाती हैं। इस प्रकार वे मुक्त जीव भलीभाँति भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं॥३६॥

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥ ३७ ॥

यह संसार चक्रके समान परिवर्तनशील है। जो व्यक्ति केवल एक बार भी भगवान् वासुदेवका आश्रय ग्रहण कर लेता है, उसका संसार-चक्र नष्ट हो जाता है। मनके इस ईषत् ध्यानसे ही प्रेम-सेवा सुखरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है—पण्डितोंका यही कहना है। इसलिए तुम सब अपने हृदयमें अन्तर्यामी परमेश्वरकी आराधना करो ॥३७॥

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥ ३८ ॥

हे असुर-बालको! भगवान् श्रीहरि हृदयमें आकाशके समान वर्तमान हैं। वे ही सबकी आत्माके परमप्रिय बन्धु हैं। उनकी उपासनामें कोई श्रम भी नहीं करना पड़ता। (उनकी उपासनाके साधन श्रवण एवं कीर्तन हैं और इनके लिये कान, मुखादि स्वाभाविकरूपसे विद्यमान हैं) अतः भगवान्की उपासना करना ही श्रेयस्कर है। फिर मनुष्य विषय-भोगोंके लिए इतनी भोग-सामग्रीका उपार्जन करनेमें क्यों व्याकुल रहते हैं? ॥३८॥

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोषभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ॥ ३९ ॥

मनुष्योंका धन, पत्नी, पुत्रादि, घर, भूमि, हाथी आदि पशु, कोष, ऐश्वर्य, अर्थ, काम और मनुष्योंकी परमायु सभी अत्यन्त क्षणभङ्गुर हैं। तब ये क्षणस्थायी वस्तुएँ भला मनुष्योंका क्या प्रिय कर सकती हैं? पुनः जो दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, वह भी अनित्य है ॥३९॥

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्योक्त्येशं भजतात्मलब्धये ॥ ४० ॥

जिस प्रकार ये लौकिक पदार्थ नाशवान हैं, वैसे ही वैदिक यज्ञ-यागादि द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नश्वर एवं आपेक्षिक हैं—पुण्योंके तारतम्यसे इनमें ऐश्वर्यका भाव कम-अधिक रहता है—इसलिए वे विशुद्ध नहीं हैं। परम शुद्ध तो एकमात्र परमात्मा हैं, जिनमें आज तक कोई भी दोष किसीके द्वारा देखा अथवा सुना नहीं गया है। तुम लोग स्वरूप-सिद्धिके लिए उन्हीं परमात्मा श्रीहरिकी सेवा करो ॥४०॥

यदर्थं इह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥ ४१ ॥

स्वयंको विद्वान् माननेवाला पुरुष इस जगत्में विषय-भोगोंके लिए बड़े-बड़े सङ्कल्प करता है और बारम्बार लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करता है किन्तु अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति तो दूर रहे, उसे विपरीत फल ही मिलता है ॥४१॥

सुखाय दुःखमोक्षाय संकल्प इह कर्मिणः।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥ ४२ ॥

इस लोकमें कर्मनिष्ठ मनुष्य सुख-प्राप्ति एवं दुःख निवृत्तिके लिए प्रयत्न करते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि जब तक वे कामनाएँ नहीं कर रहे थे, तब तक सुख था, कामनाएँ करनेपर तो सदा-सर्वदा दुःख ही भोगने पड़ते हैं ॥४२॥

कामान् कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥ ४३ ॥

जिस शरीरके भोगके लिए मनुष्य सकाम कर्मोंके द्वारा शब्दादि विषयोंकी कामना करता है, वह शरीर तो पर-निग्रहयोग्य अर्थात्

सियार-कुत्तोंका भोजन, क्षणभङ्गुर एवं नाशवान है। यह नश्वर शरीर जिस जीवात्माका आलिङ्गन करता है, उसीको छोड़कर चल देता है ॥४३॥

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।

राज्यकोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥ ४४ ॥

मित्रो! जब शरीरकी ही यह अवस्था है, तो देहसे अलग रहनेवाले पुत्र, पत्नी, गृह, धन, जन, राज्य, खजाना, हाथी, मन्त्री, सेवक और सम्बन्धी आदि ममतास्पद और प्रिय लगनेवाले जितने भी विषय हैं, वे सभी क्षणस्थायी हैं, इस विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है? ॥४४॥

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।

अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दरसोदधेः ॥ ४५ ॥

विशेषरूपसे ये तुच्छ पदार्थ देहके नाश होनेके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थके समान जान पड़नेपर भी हैं तो अनर्थ ही। आत्मा नित्यानन्द रसका समुद्र है, अतः इन तुच्छ पदार्थोंसे आत्माका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ॥४५॥

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान् देहभृतोऽसुराः।

निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥ ४६ ॥

हे असुरो! तुम लोग स्वयं ही विवेचना करके बताओ कि इस संसारमें पूर्वकृत कर्मोंके द्वारा मनुष्य गर्भ-प्रवेशसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त सदा-सर्वदा भीषण कष्ट भोगता है और ऐसी अवस्थामें वह जो पुनः-पुनः कर्म करता है, उनसे उसका क्या स्वार्थ पूर्ण होगा? ॥४६॥

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना।

कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥ ४७ ॥

कर्म समाप्त होनेपर भोगोंकी भी समाप्ति हो जाती है, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव सूक्ष्म शरीरको आत्मा मान लेता है। इसी अज्ञानके कारण कर्म करता

रहता है और कर्मोंके कारण पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार जन्म-मरणकी परम्परासे कभी मुक्ति नहीं मिलती। कर्मसे देह और देहसे कर्म—यही चक्र चलता रहता है॥४७॥

तस्मादथाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।

भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥४८॥

अतः तुम लोग भक्तोंके चरण-चिह्नोंका आश्रय लेकर किसी भी प्रकारकी कामना मत करो। पूर्णरूपसे निष्काम होकर निरपेक्ष एवं सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी उपासना करो, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम उनकी इच्छापर ही आश्रित हैं॥४८॥

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।

भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः॥४९॥

भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके ईश्वर, आत्मस्वरूप एवं प्रियतम हैं। उन्हींके द्वारा बनाये गये पञ्चभूत-सूक्ष्मभूत आदिके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। वे सभी जीवोंके अन्तर्यामी हैं। विविध शरीरोंमें 'जीवात्मा' नामसे कहे जानेवाले समस्त जीव उनकी तटस्था शक्तिके अंश हैं॥४९॥

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा।

भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्॥५०॥

अतएव हे प्रिय दानवो! देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व, जो कोई भी हो—भगवान् श्रीमुकुन्दके पादपद्मोंका भजन करनेसे हमारी भाँति सभीका कल्याण हो जाता है॥५०॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥५१॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥५२॥

हे असुरनन्दनो! ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार और बहुज्ञता—इनमें से किसीके द्वारा भगवान्को प्रसन्न नहीं किया

जा सकता और न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शौच और व्रतादि भगवान्की प्रीतिके कारण बन सकते हैं। एकमात्र निष्काम भक्तिसे ही भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। भक्तिके अतिरिक्त सभी कुछ विडम्बना मात्र है, दिखावा है, छल है ॥५१-५२॥

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।

आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥

अतएव हे दानवो! सभीको अपने समान समझना चाहिए और सबसे प्रीति करना चाहिए। सर्वभूतात्मा श्रीहरि सभी स्थानोंमें और सभी पात्रोंमें सदा-सर्वदा विराजमान हैं; इस भावसे उनकी भक्ति करो ॥५३॥

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।

खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥५४॥

हे दैत्यबालको! यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, गोप, पशु और पक्षी आदि प्राणियोंको और बहुत-से पापियोंको भगवान् श्रीअच्युतके प्रति भक्तियोगके प्रभावसे भगवत्-प्राप्ति हुई है ॥५४॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।

एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे दैत्यबालानुशासनं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस संसारमें भगवान् श्रीगोविन्दमें ऐकान्तिकी भक्ति और उसके फलस्वरूप समस्त प्राणियोंमें गोविन्द सम्बन्धसे सेवाबुद्धि—यही मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है, और यही समस्त शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय है ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके सातवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

श्रीनृसिंह भगवान्का आविर्भाव, हिरण्यकशिपुका वध एवं
ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा श्रीभगवान्की स्तुति

श्रीनारद उवाच—

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।

जगृहुर्निरवद्यत्वात्रैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—इसके पश्चात् दैत्यबालकोंने प्रह्लादजीके वचनोंको सुनकर और उन्हें सर्वोत्कृष्ट समझकर उसी समयसे अपने जीवनमें धारण कर लिया। दैत्याचार्योंके संसारपरक एवं दोषपूर्ण उपदेश उन्होंने ग्रहण नहीं किये ॥१॥

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम्।

आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा ॥ २ ॥

जब षण्ड और अमर्कने देखा कि प्रह्लादके सङ्गसे सभी दैत्य-बालकोंकी बुद्धि भगवान् विष्णुमें अविचलित रूपसे स्थिर हो गयी है, तब वे भयभीत होकर शीघ्र ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पास गये और उसके समक्ष सारा वृत्तान्त यथावत् निवेदन कर दिया ॥२॥

कोपावेशचलद्वात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे।

क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् ॥ ३ ॥

आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा।

प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम्।

सर्पः पदाहत इव श्वसन् प्रकृतिदारुणः ॥ ४ ॥

इस अप्रिय समाचारको सुनकर हिरण्यकशिपु अतिशय क्रोधित हो गया। क्रोधकी दुःसहताके कारण उसका शरीर थर-थर काँपने

लगा और उसने मन-ही-मन प्रह्लादको अपने ही हाथोंसे मारनेका सङ्कल्प कर लिया। हिरण्यकशिपु अत्यन्त निष्ठुर प्रकृतिका था। वह स्वयंको अपमानित समझकर पैरोंसे कुचले सर्पके समान फुफकारने लगा। मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले प्रह्लाद उसके सामने शान्त एवं अत्यन्त विनीत भावसे हाथ जोड़कर खड़े थे। वे तिरस्कारके योग्य न थे, फिर भी हिरण्यकशिपु रोषपूर्वक टेढ़ी दृष्टिसे उन्हें घूरते हुए एवं कर्कश वाणीसे उनकी भर्त्सना करते हुए कहने लगा ॥३-४॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

हे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम।

स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥५॥

हिरण्यकशिपुने कहा—हे दुष्ट! मन्दबुद्धि! कुलनाशक! अरे अधम! तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। मूर्ख! तुझे कुछ बोध भी है, रे हठी! मैं आज ही तुझे यमालय भेज देता हूँ ॥५॥

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।

तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः ॥६॥

अरे मूर्ख! जब मैं क्रोधित होता हूँ तो तीनों लोक और उनके लोकपाल थर-थर काँप उठते हैं, फिर तू किसके बलपर इतना निडर होकर मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेका साहस करता है? ॥६॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

न केवलं मे भवतश्च राजन्

स वै बलं बलिनाञ्चापरेषाम्।

परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये

ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥७॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे राजन्! मैं जिनके बलसे बलवान् हूँ, वे केवल मेरे ही बल नहीं, अपितु आपके और अन्यान्य सभी बलवानोंके एकमात्र बल हैं। उन्होंने अपने बलसे स्थावर-जङ्गम,

ऊँचे-नीचे तथा तिनकेसे लेकर ब्रह्मा तक सभीको अपने वशमें कर रखा है ॥७॥

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ८ ॥

वे ही परम ईश्वर हैं। वे ही काल स्वरूप हैं। वे अनन्त शक्तिशाली हैं। उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। वे ही सत्त्वादि तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं। वे ही इन्द्रिय-बल, मनोबल, देहबल और इन्द्रियोंके आत्मा-स्वरूप हैं। उनकी शक्तिसे ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार होते हैं ॥८॥

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धृत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथेस्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥ ९ ॥

आप अपने आसुरी-स्वभावका परित्याग कर दीजिए। शत्रु-मित्रका भेद न करके अपने हृदयमें सबके प्रति समानताका भाव रखिए। इस संसारमें अपने वशमें न रहनेवाले कुमार्गगामी मनके अतिरिक्त अपना और कोई शत्रु नहीं है। समस्त प्राणियोंमें समदर्शी होना ही भगवान्की सर्वोत्कृष्ट उपासना है ॥९॥

दस्यून् पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥ १० ॥

पूर्वकालमें भी आपके समान बहुतसे मूर्ख हुए हैं, जिन्होंने अपने शरीरमें स्थित सर्वस्व लूट लेनेवाले कामादि छः शत्रुओंपर पहले विजय प्राप्त नहीं की और यह दुरभिमान कर बैठे कि “हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है” वे विवेकहीन हैं। वस्तुतः

जो जितेन्द्रिय एवं जितचित्त महात्मा समस्त जीवोंमें समताका भाव प्राप्त कर लेते हैं, उनके आन्तरिक कामादि शत्रु तो स्वयं ही मर जाते हैं। उनके बाहरी शत्रु होते ही नहीं हैं, फिर अज्ञान कल्पित शत्रु कहाँसे आयेंगे? ॥१०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे।

मुमुर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विक्लवा गिरः ॥११॥

हिरण्यकशिपुने कहा—अरे मन्दबुद्धि! तू मेरी निन्दा करके स्वयंको बड़ा भारी जित-शत्रु मानकर अपनी प्रशंसा कर रहा है। मुझे तो निश्चय ही ज्ञात हो रहा है कि तू मरना चाहता है। मृत्युकी इच्छा करनेवाले मनुष्य ही ऐसी निरर्थक बातें किया करते हैं ॥११॥

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।

क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते ॥१२॥

अरे हतभागे! तू जो कह रहा था कि मेरे अतिरिक्त जगत्में कोई और ईश्वर है, तो कहाँ है वह? (प्रह्लाद महाराजने कहा—वे सर्वत्र हैं।) यदि वह सर्वत्र है, तब इस खम्भेमें क्यों नहीं दिखायी देता? (किन्तु प्रह्लादको स्तम्भमें भगवान् दिखायी दिये और उन्होंने भगवान्को प्रणाम करते हुए कहा—मुझे तो दिखायी दे रहे हैं।) ॥१२॥

सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते।

गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ॥१३॥

अच्छा! इस खम्भेमें भी दिखायी दे रहे हैं। बड़ी डींगें हाँक रहा है। मैं तेरा सिर धड़से अलग किये देता हूँ। तेरा रक्षक परमाराध्य श्रीहरि यहाँ आकर किस प्रकार तेरी रक्षा करता है, मैं देखता हूँ ॥१३॥

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्हयन् रुषा

सुतं महाभागवतं महासुरः।

खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्

स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥१४॥

अतिशय क्रोधके आवेशमें महाबलवान् हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र महाभागवत प्रह्लादको अत्यन्त कटु वचन कहे और बारम्बार उनका तिरस्कार करता रहा। इसके बाद वह हाथमें तलवार लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और उसने खम्भेके ऊपर मुड़ीसे प्रहार किया ॥१४॥

तदैव तस्मिन्निदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे ॥ १५ ॥

उस मुष्टि-प्रहारसे खम्भेमें अति भीषण शब्द हुआ, मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो। हे युधिष्ठिर! यह विकराल ध्वनि जब अपने-अपने धामोंमें ब्रह्मादि देवताओंने सुनी, तब उन्हें लगा कि हमारे लोकोंका विनाश होनेवाला है ॥१५॥

स विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्हादमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः ॥ १६ ॥

अपने पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे हिरण्यकशिपु अपने पराक्रमको प्रदर्शन करने जा रहा था कि उसे यह भयङ्कर ध्वनि सुनायी पड़ी, जो उसने पहले कभी न सुनी थी। इस ध्वनिको सुनकर दैत्य-सेनापति भी भयभीत हो गये और घबराकर देखने लगे कि यह ध्वनि कहाँसे आयी है? पर सभाके भीतर कहीं कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा ॥१६॥

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्रहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥ १७ ॥

इतने ही में भगवान् श्रीहरि अपने सेवक प्रह्लादके वचनोंको तथा अपनी सर्वव्यापकताको सत्य करनेके लिए दैत्य-घातक अति विकराल श्रीनृसिंहरूप धारण करके सभाके भीतर उसी खम्भेमें-से प्रकट हुए। वह रूप न तो पूर्ण रूपसे मनुष्यका था और न ही सिंहका ॥१७॥

स सत्त्वमेनं परितो विपश्यन्
स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम्।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्मृगेन्द्ररूपम् ॥ १८ ॥

हिरण्यकशिपु भयङ्कर ध्वनिके उद्गम-स्थानको ढूँढ़ ही रहा था कि उसे खम्भेसे बाहर निकलता हुआ अद्भुत प्राणी दिखायी दिया। वह उसे देखकर कहने लगा—यह प्राणी न तो पशु है और न ही मनुष्य। अहो! यह आश्चर्यमय प्राणी नृसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक जीव है? ॥१८॥

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम् ॥ १९ ॥
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेशरज्ज्भिताननम्।
करालद्रष्टुं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ॥ २० ॥
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम्।
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ॥ २१ ॥
चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम्।
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ॥ २२ ॥

हिरण्यकशिपु इस प्रकार सोच ही रहा था कि ठीक उसी समय उसके सम्मुख श्रीनृसिंहरूपमें प्रकट हो गये। भगवान्का यह रूप अत्यन्त भयङ्कर था। क्रोधित होनेके कारण उनकी आँखें तपाये हुए सोनेके समान पीली-पीली चमक रही थीं, मुख कषायपन लिये हुए था, जँभाई लेनेसे उनकी जटाएँ एवं अयाल इधर-उधर लहरा रहे थे। भयङ्कर दाढ़ें थीं, तलवारकी तरह लपलपाती हुई जीभ और छुरेकी धारके समान भ्रूकुटियाँ इधर-उधर चल रही थीं, कान निश्चल एवं ऊपरकी ओर उठे हुए थे, विशाल मुख और नासिका-रन्ध्र पर्वतकी गुफाके समान खुले हुए थे, फटे हुए जबड़े बड़े भीषण दिखायी दे रहे थे, विशाल शरीर आकाशका स्पर्श कर रहा था। गर्दन अति छोटी एवं मोटी थी, जानु एवं वक्षःस्थल चौड़े थे और कमर बहुत पतली थी, रोमावली चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत वर्णकी थी, सारी दिशाओंमें शत-शत भुजाएँ फैली हुई थीं और नख अस्त्रोंके समान दिखायी पड़ रहे थे। भगवान् नृसिंहने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म एवं वज्रादि प्रधान-प्रधान आयुधोंके द्वारा सारे दैत्य-दानवोंको खदेड़ दिया। उनकी विकरालताको देखकर कोई भी उनके समीप आनेका साहस न कर सका ॥१९-२२॥

प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधःस्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम्।
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो
नदन् नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ॥ २३ ॥

अत्यधिक योग-शक्तिवाले महामायावी भगवान् हरिने मुझे मार डालनेके लिए यह योजना बनाई है, परन्तु उसकी इन चेष्टाओंसे क्या हो सकता है? दैत्य-कुञ्जर हिरण्यकशिपुने मन-ही-मन यह कहकर गदा धारण की और सिंहनाद करते हुए भगवान् नृसिंहपर झपटा ॥२३॥

अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा।
न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत् तमः ॥ २४ ॥

पतङ्गा जिस प्रकार आगमें गिर जानेपर दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार भगवान् नृसिंहके तेजकी प्रभामें हिरण्यकशिपु अदृष्ट (ओझल) हो गया। शुद्धसत्त्वके आश्रय भगवान् श्रीहरिके लिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। सृष्टिके प्रारम्भमें भी उन्होंने अपने तेजसे प्रलयकालीन प्रगाढ़ तमोगुणरूपका पान कर लिया था॥२४॥

ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया।
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं ताक्ष्यसुतो यथाग्रहीत्॥ २५ ॥

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपुने क्रोधपूर्वक अपनी गदाको बड़े वेगसे घुमाया और भगवान् नृसिंहपर प्रहार किया। गरुड जिस प्रकार विशाल सर्पको पकड़ लेता है, उसी प्रकार भगवान् गदाधर श्रीहरिने गदासहित हिरण्यकशिपुको पकड़ लिया॥२५॥

स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः।
असाध्वमन्यन्त हतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्यपाः॥ २६ ॥

हे युधिष्ठिर! खिलवाड़ करते हुए गरुडके मुखसे जिस प्रकार सर्प छूट जाता है, उसी प्रकार जब भगवान् उसके साथ खेल खेलने लगे, तब वह दैत्य भी उनके हाथसे निकल गया। हिरण्यकशिपुके भयसे पहलेसे ही स्थान-भ्रष्ट देवतागण इस युद्धको मेघोंके बीचमें से छिपकर देख रहे थे। जब वह दैत्य भगवान्के हाथोंसे छूट गया, तब वे देवता अत्यधिक भयभीत हो गये और उन्होंने इसे शुभ नहीं माना॥२६॥

तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन गतश्रमो मृधे॥ २७ ॥

हिरण्यकशिपु भगवान् नृसिंहदेवके हाथोंसे छूटकर आशङ्का करने लगा कि यह विष्णु असुरोंकी शक्तिसे डर गया है। अतः युद्ध-क्षेत्रमें ही उसने क्षण-भरके लिए विश्राम किया। किञ्चित् थकान दूर होनेपर प्रहार करनेके लिए उसने ढाल-तलवारको हाथमें लिया और पुनः भगवान् नृसिंहपर पुनः तेजीसे आक्रमण किया ॥२७॥

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि-
श्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥ २८ ॥

हिरण्यकशिपु बाज पक्षीके समान आकाशमें चला जाता और कभी भूतलपर लौट आता, वह ढाल-तलवारसे इस प्रकार अपनी रक्षा कर रहा था कि उसपर वार करनेका कोई अवसर ही न रहे। तब अत्यन्त शक्तिशाली और महावेगवान् श्रीहरि प्रचण्ड और भयङ्कर अट्टहास करने लगे, जिसके भयसे हिरण्यकशिपुने अपनी आँखें मूँद लीं। इतनेमें ही भगवान्ने उसे पकड़ लिया ॥२८॥

विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्त्वचम्।
द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥ २९ ॥

जिस प्रकार साँप चूहेको पकड़ लेता है, वैसे ही भगवान्ने हिरण्यकशिपुको पकड़ रखा था। इन्द्रके साथ युद्ध करते हुए जिसकी त्वचामें वज्रकी चोटसे एक खरोंचतक भी नहीं आई थी, वही आज अति पीड़ाका अनुभव करते हुए भगवान् नृसिंहके पञ्जोंसे बाहर निकलनेके लिए छटपटा रहा था। भगवान् उसे सभा-स्थलकी दहलीजपर ले आये और उसे अपनी जाँघोंपर रखकर अपने नखोंसे खेल-ही-खेलमें इस प्रकार चीर डाला, जिस प्रकार गरुड़ महाविषैले साँपको चीर-फाड़ डालता हैं ॥२९॥

संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
 व्यात्ताननान्तं विलिहन् स्वजिह्वया।
 असृग्लवाक्त्तारुणकेशराननो
 यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥ ३० ॥

उस समय रक्तके छींटोंसे उनके बाल और मुख लाल हो रहे थे, क्रोधसे भरे नेत्रोंकी ओर देखा भी नहीं जाता था, अपने फैले हुए मुखके दोनों छोरोंको वे अपनी लपलपाती जीभसे चाट रहे थे, हाथीका वध करनेवाले सिंहके समान हिरण्यकशिपुकी आँतोंकी माला पहने हुए उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ३० ॥

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
 विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्।
 अहन् समन्तात्रखशस्त्रपाणिभि-
 र्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः ॥ ३१ ॥

अनेकानेक भुजाधारी भगवान् नृसिंहदेवने अपने तीखे नखोंके द्वारा हिरण्यकशिपुके हृत्-कमलको (कलेजेको) चीर डाला और उसे जमीनपर एक ओर पटक दिया। उस समय हजारों असुर और उसके अनुचर हाथोंमें शस्त्र लेकर भगवान्पर प्रहार करनेके लिए आये, किन्तु भगवान्ने उन्हें भी चारों ओर खदेड़-खदेड़कर अपने नखरूपी शस्त्रोंसे मार डाला ॥ ३१ ॥

सटावधूता जलदाः परापतन्
 ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
 अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
 निर्हादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः ॥ ३२ ॥

उस समय भगवान् नृसिंहकी गर्दनकी जटाओंके आघातसे मेघ काँपते हुए इधर-उधर बिखर गये, उनकी जाज्वल्यमान दृष्टिसे ग्रहोंकी ज्योति फीकी पड़ गयी, श्वासके वेगसे प्रताड़ित होकर समुद्र क्षुब्ध हो गये तथा भीषण गर्जनासे भयभीत होकर दिग्गज आर्त्तनाद करने लगे ॥ ३२ ॥

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
 प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।
 शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
 तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥ ३३ ॥

भगवान् नृसिंहदेवकी जटाओंसे टकराकर देवताओंके विमान इधर-उधर बिखर गये, जिससे स्वर्ग ढाँवाडोल हो गया, उनके चरणोंके गुरु भारसे रौंदी हुई पृथ्वी अपनी स्थितिसे विचलित हो गयी, असह्य वेगके कारण पर्वत ऊपरकी ओर उछलने लगे और तेजसे आकाश, दिशाएँ आदि तेजस्वियोंका तेज निष्प्रभ हो गया ॥ ३३ ॥

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
 नृपासने संभृततेजसं विभुम्।
 अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
 प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥ ३४ ॥

इसके पश्चात् क्रोधसे अभिभूत, अत्यधिक तेजसे दीप्तमान्, विभु, प्रचण्ड-आनन भगवान् श्रीनृसिंहदेव सभा-भवनमें ही अत्यन्त उत्कृष्ट राज्य-सिंहासनपर विराजमान हो गये, कहीं भी उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी दिखायी नहीं दे रहा था। भयके कारण कोई भी उनकी व्यजनादि सेवाके लिए (चँवर डुलानेके लिए) उनके निकट न जा सका ॥ ३४ ॥

निशम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
 तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे।
 प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
 प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥ ३५ ॥

हिरण्यकशिपु तीनों लोकोंके शिरःपीड़ाका मूर्तिमान् स्वरूप ही था। जब स्वर्गलोकमें सुर-पत्नियोंने देखा कि आदिदैत्य हरिणा हतं मृधे। प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥ ३५ ॥

तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
 दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।
 सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
 गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

उस समय भगवान् नृसिंहके दर्शनोंके इच्छुक देवताओंके विमानोंसे सारा आकाशमण्डल भर गया। देवताओंके ढोल और नगाड़े बजने लगे, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ३६ ॥

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशायिनः।
 ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ॥ ३७ ॥
 मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः।
 यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सहकिन्नराः ॥ ३८ ॥
 तै विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः।
 मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम्।
 ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक् ॥ ३९ ॥

हे वत्स युधिष्ठिर! तदनन्तर ब्रह्मा, इन्द्र, महादेव आदि देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर-लोक तथा नागलोकके निवासी, मनु आदि प्रजापति, अप्सराएँ, गन्धर्व, चारण, यक्ष, किन्नर, वेताल, किम्पुरुष, सुनन्द तथा कुमुद आदि भगवान् विष्णुके पार्षद उनके समीप आये और सिरपर अञ्जलि बाँधकर उनसे थोड़ी दूरपर खड़े हो गये। वे सिंहासनपर विराजमान एवं अति तीव्र तेजसे प्रकाशवान नरोत्तम भगवान् नृसिंहकी पृथक्-पृथक् भावोंसे इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ३७-३९ ॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
 विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
 विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः
 स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने ॥ ४० ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप अनन्त हैं, आपकी शक्तिका कोई पार नहीं पा सकता, आपका अद्भुत प्रभाव अनुमानसे परे है। आपके कर्म पवित्र हैं (जिनसे अविद्यादि दोषोंका निवर्तन हो जाता है) यद्यपि आप सत्त्वादि गुणोंके द्वारा अपनी लीलासे ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं—फिर भी इनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अविकारी हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥४०॥

श्रीरुद्र उवाच—

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः।

तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल॥४१॥

श्रीरुद्रने कहा—आपके क्रोधका समय तो कल्पके अन्तमें होता है। यह तुच्छ असुर भी इस समय आपके द्वारा मारा जा चुका है। उसका पुत्र आपकी शरणमें है। हे भक्तवत्सल स्वामिन्! अब आप अपने इस शरणागत भक्तकी (प्रह्लादकी) रक्षा कीजिए॥४१॥

श्रीइन्द्र उवाच—

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा

दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि।

कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते

मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्॥४२॥

श्रीइन्द्रने कहा—हे परमेश्वर! आप हमारे रक्षक हैं। आपने इस दैत्यके पाससे हमारा यज्ञ-भाग लौटाकर हमारा उद्धार किया है। इस असुरके आतङ्कसे त्रस्त रहनेवाला हमारा हृदय-कमल पुनः विकसित हो गया है। इस हृदय-कमलमें आप नित्य विराजमान रहते हैं। हे नाथ! आपके सेवापरायण मनुष्योंके लिए कालके द्वारा ग्रस्त यह ऐश्वर्य अति तुच्छ वस्तु है। इसकी बात ही क्या, परम पुरुषार्थरूपी मुक्तिका भी आपके भक्त सम्मान नहीं करते, तब हे नारसिंह! अन्य पुरुषार्थोंके विषयमें तो बात ही क्या की जाय?॥४२॥

श्रीऋषय ऊचुः—

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्वथ।
तद्विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥ ४३ ॥

श्रीऋषियोंने कहा—हे आश्रितजन-पालक ! हे आदिपुरुष ! जिस तपस्या रूपी तेजके द्वारा आपने अपने स्वरूपमें लीन इस विश्वकी पुनः सृष्टि की थी, उसी आत्मतेज-स्वरूप श्रेष्ठ तपस्याका उपदेश आपने हमारे लिए भी किया था। इस दैत्यके कारण वह तपस्या विलुप्त-सी हो गयी थी, इसी तपस्याकी रक्षाके लिए आपने नृसिंह-वपु प्रकट करके इस दैत्यका वध किया है और हमारे लिये उस तपस्याका पुनः अनुमोदन किया है। हम आपको प्रणाम करते हैं ॥४३॥

श्रीपितर ऊचुः—

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत् तिलाम्बु।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आच्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥ ४४ ॥

श्रीपितरोंने कहा—यह दैत्य हमारे पुत्रोंके द्वारा दिये गये श्राद्ध-पिण्डादिको बलपूर्वक छीनकर खा लेता था और तीर्थ-स्थानोंमें अर्पित तिलाञ्जलिको पी जाता था। आपने अपने नखसे उसके उदरको फाड़ करके उस सारी सामग्रीका आहरण कर उसे हमें प्रदान किया है। आप समस्त धर्मोंके एकमात्र रक्षक हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥४४॥

श्रीसिद्धा ऊचुः—

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहारषीद्योगतपोबलेन ।
नानादर्पं तं नखैर्विददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥ ४५ ॥

श्रीसिद्धोंने कहा—हे नृसिंहदेव! इस दुरात्माने अपने योग एवं तपस्याके बलसे हमारी उन अणिमादि योग-सिद्धियोंको छीन लिया था, जिन्हें हमने घोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया था। आपने अपने नखोंसे इस धन, जनादिसे उत्पन्न भाँति-भाँति गर्वोंसे गर्वीले दुष्टको विदीर्ण कर दिया है। हम आपके चरणोंमें प्रणत होते हैं ॥४५॥

श्रीविद्याधरा ऊचुः—

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः।
स येन संख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥ ४६ ॥

श्रीविद्याधरोंने कहा—हम लोगोंने विविध धारणाओंसे अन्तर्द्धान होना आदि जो विविध विद्याएँ प्राप्त की थीं, इस मूर्खने अपने बल-वीर्यसे उन्मत्त होकर उनपर प्रतिबन्ध लगा दिया था। आपने युद्धमें इस दैत्यको पशुके समान मार डाला। अपनी लीलासे नृसिंह रूप धारण करनेवाले आपको हमारा पुनः-पुनः नमस्कार है ॥४६॥

श्रीनागा ऊचुः—

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः।
यद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥ ४७ ॥

श्रीनागोंने कहा—हे प्रभो! इस दुष्ट हिरण्यकशिपुने हमारे फणोंपर स्थित रत्नोंका और हमारी स्त्रियोंका हरण कर लिया था। इसका वक्षःस्थल फाड़कर आपने उन स्त्रियोंको बहुत आनन्दित किया है। आपको हमारा नमस्कार है ॥४७॥

श्रीमनव ऊचुः—

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः।
भवता खलः स उपसंहतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥ ४८ ॥

श्रीमनुओंने कहा—हे देवाधिदेव ! हम आपके आज्ञाकारी मनु हैं। इस दैत्यने हमारी वर्णाश्रमकी मर्यादाको विनष्ट कर दिया था। हे प्रभो ! आज आपने इस दुष्टका संहार कर डाला। हम आपके किङ्कर हैं। आदेश दीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥४८॥

श्रीप्रजापतयः ऊचुः—

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥ ४९ ॥

श्रीप्रजापतियोंने कहा—हे परमेश्वर ! (ब्रह्मा एवं शिवके भी आराध्य गुरु) आपने हमें सृष्टिके विकासके लिए उत्पन्न किया था किन्तु इस दुष्टके द्वारा निषिद्ध कर दिये जानेसे हम प्रजाकी सृष्टि नहीं कर पाते थे। आज आपने इसका वक्ष विदीर्ण कर दिया है और यह जमीन पर मृत पड़ा है। हे सत्त्वमूर्ते ! आपका यह नृसिंह अवतार जगत्के लिये मङ्गलस्वरूप है ॥४९॥

श्रीगन्धर्वा ऊचुः—

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः।
स एष नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥ ५० ॥

श्रीगन्धर्वोंने कहा—हे विभो ! हम अभिनय, नृत्य एवं गायन द्वारा आपकी सेवामें लगे रहते थे, किन्तु इस हिरण्यकशिपुने अपने बल और पराक्रमसे हमें अपना बन्दी बना लिया था। आपने इसे मृत्यु-दशामें पहुँचा दिया है। कुमार्गपर चलनेवालोंका क्या कभी कल्याण हो सकता है ? ॥५०॥

श्रीचारणा ऊचुः—

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥ ५१ ॥

श्रीचारणोंने कहा—हे हरे! आपने साधु-हृदयोंको आतङ्कित कर देनेवाले इस असुरको मार डाला है। अतः हे ईश! हमने आपके इन चरण-कमलोंकी शरण ली है, जिन्हें प्राप्त करके संसारसे मुक्ति हो जाती है ॥५१॥

श्रीयक्षा ऊचुः—

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम्।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥५२॥

श्रीयक्षोंने कहा—हे पच्चीस तत्त्वोंके नियामक! अपने मनोज्ञ कर्मोंके कारण हम आपके अनुचरोंमें श्रेष्ठ गिने जाते थे। इस दितिपुत्र हिरण्यकशिपुने हमें अपनी पालकी वहन करनेमें लगा रखा था। हे नरहरे! इसके कारण होनेवाले जीवोंके परितापको जानकर ही आपने इसे पञ्चत्वको प्राप्त कराया है ॥५२॥

श्रीकिम्पुरुषा ऊचुः—

वयं किम्पुरुषास्त्वन्तु महापुरुष ईश्वरः।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥५३॥

श्रीकिम्पुरुषोंने कहा—हम तुच्छ प्राणी हैं और आप पुरुषोत्तम सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। हम आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं। जिस समय इस कुपुरुषको साधुओंने धिक्कारा था, उसी समय इसका विनाश हो गया था। आज आपने इसका वध कर दिया है। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥५३॥

श्रीवैतालिका ऊचुः—

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्या महर्ता लभामहे।
यस्तामनैषीद्वशमेष दुर्जनो
दिष्ट्या हतस्ते भगवन् यथामयः ॥५४॥

श्रीवैतालिकोंने कहा—हे भगवन्! हम लोग सभाओंमें और यज्ञस्थलोंमें आपके निर्मल यशका गान करके बड़ी पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त

करते थे। इस दैत्यने हमारी वह प्रतिष्ठा अपदस्थ कर हमें अपने अधीन बना लिया था। सौभाग्यवश आपने भयङ्कर रोगके समान इस दुष्टको जड़से उखाड़ दिया है। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥५४॥

श्रीकिन्नराः ऊचुः—

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिममुनानु कारिताः।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥५५॥

श्रीकिन्नरोंने कहा—हे प्रभो! हम आपके आज्ञाकारी सतत सेवक हैं परन्तु यह असुर हमसे बिना मूल्यके ही काम लेता था। हे हरे! अब यह दुःखदायी पापी आपके द्वारा मार डाला गया है। हे नृसिंहदेव! हे नाथ! आप हमारी सुख-समृद्धिका संरक्षण करें ॥५५॥

श्रीविष्णुपार्षदा ऊचुः—

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे हिरण्यकशिपुवधे श्रीनृसिंहस्तवो
नामाष्टमोऽध्यायः।

श्रीविष्णुपार्षदोंने कहा—हे शरणागतोंके आश्रय-दाता! आज हमने आपके इस अद्भुत सर्वलोक-मङ्गल-स्वरूप नृसिंह श्रीमूर्तिका दर्शन किया है। हे भगवन्! यह दैत्य आपका ही सेवक जय है, जो ब्रह्मशापके कारण असुर बना है। हम समझते हैं, आपके द्वारा इसका मारा जाना इसपर अनुग्रह करना है ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके आठवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके द्वारा श्रीनृसिंह भगवान्की स्तुति

श्रीनारद उवाच—

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः।

नोपैतुमशकन्मन्यु-संरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! भगवान् श्रीनृसिंह क्रोधमें इतने आविष्ट थे कि उनके समीप पहुँचना अति दुष्कर था। ब्रह्मा, रुद्र आदि प्रमुख देवता भी उनतक पहुँचनेका साहस नहीं कर पा रहे थे ॥१॥

साक्षात् श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम्।

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥

तब देवताओंने उन्हें शान्त करनेके लिए लक्ष्मीजीको भेजा किन्तु भगवान् नृसिंहका रूप देखकर वे भी इतनी भयभीत हो गयीं कि उनके समीप न जा सकीं। लक्ष्मीजीने स्वयं ही भगवान्के इस अद्भुत रूपको न कभी देखा था और न इसके विषयमें कभी सुना था ॥२॥

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके।

तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् ब्रह्माने पास ही में खड़े प्रह्लाद महाराजको भगवान्के निकट यह कहकर भेजा—हे वत्स! भगवान् तुम्हारे पितापर ही क्रुद्ध हुए थे, अतः तुम्हीं उनके निकट जाकर उन्हें शान्त करो ॥३॥

तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः।

उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

हे राजन्! महाभागवत बालक प्रह्लाद 'जो आज्ञा' कहकर धीरे-धीरे भगवान्‌के समीप पहुँचे और सिरपर अञ्जलि बाँधकर भूमिपर लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया ॥४॥

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥

भगवान् नृसिंहदेवने जब नन्हे-से बालक प्रह्लादको अपने पैरोंपर गिरते हुए देखा, तो उनका हृदय करुणासे भर आया। भगवान्‌ने उन्हें उठाया और काल-सर्पसे भयभीत मनुष्योंको अभय प्रदान करनेवाला अपना कर-कमल उनके मस्तकपर रख दिया ॥५॥

स तत्करस्पर्शधूताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्चुलोचनः ॥ ६ ॥

भगवान्‌के कर-स्पर्शसे प्रह्लादजीके समस्त अशुभ नष्ट हो गये और उन्हें उसी क्षण परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। प्रेमसे आर्द्र हृदय दिव्य आनन्दसे भर गया, शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। परमानन्दमें निमग्न होकर उन्होंने अपने हृदयमें भगवान्‌के चरण-कमलोंको धारण किया ॥६॥

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः।
प्रेमगद्गदया वाचा तत्र्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद महाराजने पूर्ण समाधिस्थ होकर एकाग्रचित्तसे अपने मन और दृष्टिको भगवान्‌ श्रीनृसिंहमें स्थिर किया और प्रेमसे गद्गद् वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे ॥७॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः।
सत्त्वैकतानगतयः वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥८॥

श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा—हे आश्चर्यमय प्रभो! धर्म, ज्ञान एवं तपस्यारूपी सत्त्वगुणमें अनन्य-चित्तवाले ब्रह्मादि देवगण, सनकादि ऋषि एवं सिद्धगण धारा-प्रवाह स्तुतिके द्वारा आपकी आराधना करके अभी तक आपको सन्तुष्ट नहीं कर सके, तब हे हरि! घोर असुर जातिमें उत्पन्न मेरी स्तुति द्वारा आप किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं?॥८॥

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥९॥

मैं समझता हूँ कि धन, सत्कुलमें जन्म, सौन्दर्य, तपस्या, पाण्डित्य, इन्द्रियोंकी निपुणता, तेज, प्रताप, शारीरिक उद्यम, पौरुष, बुद्धि और यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग—ये सभी गुण परम पुरुष भगवान्को सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं। केवल शुद्ध भक्तिसे ही भगवान् गजेन्द्रपर भी प्रसन्न हो गये थे॥९॥

विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥१०॥

और मेरा यह भी मानना है कि द्वादश गुणोंसे (ज्ञान, सत्य, दम, वेदाध्ययन, मात्सर्यहीनता, लज्जा, सहनशीलता, ईर्ष्या-रहितता, यज्ञ, दान, धृति एवं शम) विभूषित ब्राह्मण यदि भगवान् पद्मनाभके चरणारविन्दसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह कुत्ताभोजी चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने

अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌में अर्पित कर रखा है। ऐसा चाण्डाल अपने सारे कुलको पवित्र कर देता है, किन्तु वह दाम्भिक ब्राह्मण स्वयंको भी पवित्र नहीं कर सकता ॥१०॥

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥

विशेषतः हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप स्वयं निज-लाभसे परिपूर्ण हैं। दयालु भगवान् अज्ञानी जीवोंपर अपनी कृपा प्रकट करनेके लिए ही उनके द्वारा की गयी पूजाको स्वीकार करते हैं, उन्हें स्वयंके लिए किसी पूजाकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार अपने मुखपर रचित तिलकादिका सौन्दर्य दर्पणमें दिखनेवाले प्रतिबिम्बमें भी दिखायी देता है, उसी प्रकार पूजादि जो कुछ भगवान्‌को समर्पण किया जाता है, वास्तवमें उसका फल तो पूजा करनेवालेको ही प्राप्त होता है ॥११॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम्।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२ ॥

अतः मैं सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होनेपर भी निःशङ्क होकर अपनी बुद्धिके अनुसार सब प्रकारसे भगवान्‌की महिमाका वर्णन करूँगा। भगवान्‌की महिमा सुनने अथवा पढ़नेसे अविद्याके कारण उत्पन्न अज्ञानमय संसारमें आसक्त जीवके समस्त कल्मष दूर हो जाते हैं और वह पवित्र हो जाता है ॥१२॥

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

हे भगवन्! आप सत्त्वमूर्ति हैं। ये भयभीत ब्रह्मादि देवता आपके द्वारा विभिन्न कार्योंमें नियुक्त आपके आज्ञाकारी भक्त हैं, हम असुरोंके समान ये आपसे द्वेष नहीं करते। आप मनोहारी विविध अवतार ग्रहण करके जो लीलाएँ करते हैं, वे जगत्के मङ्गल, श्रीवृद्धि (अभ्युदय) एवं आत्म सुखके लिए होती हैं, किसीमें भी भय उत्पन्न करनेके लिए नहीं॥१३॥

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या।
लोकाश्च निर्वृत्तिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति॥१४॥

जिस असुरको मारनेके लिए आपने क्रोध किया था आपके द्वारा उसका वध हो चुका है, इस प्रकार विश्व-मङ्गलका कार्य सम्पन्न हो चुका है। अतः आप अपना क्रोध शान्त कीजिये। जिस प्रकार बिच्छु और साँपके मारे जानेपर साधुगण भी प्रसन्न ही होते हैं, उसी प्रकार इस असुरकी मृत्युसे भी सभी लोग बड़े प्रसन्न हैं और आपके क्रोध त्यागनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे भगवन्! लोग भयकी निवृत्तिके लिए आपके इस नृसिंहरूपका स्मरण करेंगे॥१४॥

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वाकर्नेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात्
आन्त्रस्रजः क्षतजकेशरशङ्कुकर्णा-
त्रिर्हार्दभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥१५॥

हे अजित! आपका मुख अति भयानक है, जीभ लपलपा रही है, सूर्यके समान चमकीले नेत्र तथा भ्रू-द्वय चढ़े हुए हैं। दाढ़ें अतिशय पैनी हैं। आँतोंकी माला, रक्तरञ्जित गरदनके बाल, बर्छे जैसे सीधे-खड़े-तीक्ष्ण कान, दिगजोंको भी पलायन करवा देनेवाला सिंहनाद और शत्रुओंका नाश करनेवाले आपके नखाग्रोंसे मैं तनिक भी भयभीत नहीं हूँ॥१५॥

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
 संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
 बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
 प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु॥ १६ ॥

हे कृपणवत्सल (पतितात्माओं पर दया करने वाले)! हे दीनबन्धो! मैं भयभीत हूँ तो केवल इस दुःसह संसार-चक्रसे। अपने कर्मोंके द्वारा आबद्ध होकर मैं इन असुरोंके बीच आ गया हूँ। हे भगवन्! आप प्रसन्न होकर मुझे कब अपने उन चरणकमलोंमें बुलायेंगे, जो समस्त जीवोंके एकमात्र आश्रय और मोक्षस्वरूप हैं॥ १६ ॥

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
 शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
 दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
 भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्॥ १७ ॥

हे भूमन्! मैं सभी योनियोंमें प्रियके वियोग तथा अप्रियके संयोगसे होनेवाली शोकाग्निमें जलता रहा और दुःखोंका प्रतिकार करनेपर अन्य प्रकारके दुःख ही मुझे प्राप्त होते रहे। देहको ही आत्मा मानकर मैं मायामुग्ध होकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। अब आप कृपा करके ऐसा उपाय बतलाइए, जिससे मैं आपकी सेवा-भक्ति (दास्य-भक्ति) प्राप्त कर सकूँ॥ १७ ॥

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
 लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः।
 अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
 दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥ १८ ॥

हे नृसिंहदेव! मैं आपका दास हूँ और आपके चरण-कमलोंमें रहनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करके रागादि दोषोंसे मुक्त हो जाऊँगा। आप हमारे प्रिय, अहैतुक सुहृद् और परमाराध्य हैं। मैं, ब्रह्माजी और उनकी साम्प्रदायिक परम्परामें वर्णित आपकी लीला-

कथाओंका श्रवण-कीर्तन करते हुए इस संसारकी समस्त बाधाओंको पार कर जाऊँगा ॥१८॥

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्त्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥ १९ ॥

हे नृसिंहदेव! हे सर्वव्यापक भगवान्! दुःखीजनोंके दुःखोंको दूर करनेके लिए जितने भी उपाय संसारमें प्रसिद्ध हैं, आपके द्वारा उपेक्षित लोगोंके लिए वे सभी उपाय (प्रतिकार) क्षणिक हैं। जिस प्रकार माता-पिता लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने बालककी, ओषधि रोगीकी और नौका समुद्रमें डूबे हुएकी रक्षा नहीं कर पाते, उसी प्रकार इन उपायोंसे मनुष्योंके दुःखोंका प्रतिकार नहीं हो सकता ॥१९॥

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्-
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥ २० ॥

सत्त्वादि पृथक्-पृथक् गुणोंसे सम्पन्न भिन्न-भिन्न स्वभाववाले प्राचीन ब्रह्मादि अथवा अर्वाचीन पितादि आपकी माया-शक्तिके अधीन हैं। वे आपकी प्रेरणासे जिस आधारपर स्थित होकर, जिस समय, जिन साधनोंसे, जिस उद्देश्यसे और जिस विधिसे जो समस्त कार्य करते हैं अथवा रूपान्तरित करते हैं, वह सब आपका ही स्वरूप है। (शक्ति एवं शक्तिमान्में अभेद होनेसे ये सभी आपकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं।) ॥२०॥

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ॥ २१ ॥

हे अज! आपके अंशभूत पुरुष ब्रह्मासे अनुमति प्राप्त करके एवं कालके द्वारा क्षुब्ध होकर आपकी माया (बहिरङ्गा शक्ति) महत् तत्त्व एवं मनः प्रधान लिङ्ग-शरीरका निर्माण करती है। यह लिङ्ग-शरीर अनन्त वासनामय, वैदिक एवं लौकिक कर्मोंसे युक्त और दुर्जय मनवाला है। जो आपके शरणागत नहीं हैं, वह अविद्या-द्वारा निर्मित इस सोलह विकाररूप शलाकाओंसे (अरोंसे) युक्त संसार-चक्रको पार नहीं कर सकता ॥२१॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२ ॥

हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! आपने अपनी चित्-शक्तिसे बुद्धिके समस्त गुणोंको (सुख-दुःख, रागादिको) नित्यकाल ही पराजित कर रखा है। आप कालस्वरूप हैं, कार्य-कारण शक्तियाँ आपके अधीन हैं। हे अजेय परमेश्वर! मैं इस सोलह अरोंवाले (ग्यारह इंद्रियों एवं पञ्चमहाभूतात्मक विकार-युक्त) संसार-चक्रमें पड़ा हुआ हूँ और आपकी माया मुझे ईश्वरके समान पर रही है। अब मैं आपके शरणागत हूँ। आप कृपा करके मुझे अपने चरणोंके निकट स्थान दीजिए ॥२२॥

दृष्ट्वा मया दिवि विभोऽखिलधिष्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति यान् जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥ २३ ॥

हे विभो! संसारी लोग स्वर्गमें स्थित लोकपालोंको प्राप्त जिस दीर्घायु, सम्पद् एवं ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लिए लालायित रहते हैं, उन सबको मैंने बहुत देख लिया। जब मेरे पिताजी तनिक क्रोध करके व्यंग्यसे हँसते थे, उस समय हँसनेसे टेढ़ी हुई उनकी भौंहोंको देखकर समस्त सम्पत्तियाँ स्वयं ही बिखर जाया

करती थीं, लुटती फिरती थीं, आपने उन मेरे पिताजीका भी वध कर दिया॥२३॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम्॥ २४॥

अतः हे भगवन्! मैंने भोगोंके परिणामको खूब जान लिया है। मुझे इन्द्रिय-भोगकी वस्तुएँ, दीर्घायु, ब्रह्मादिके भोग और काल-रूप धारण करनेवाले अतीव पराक्रमशाली आपके द्वारा ग्रसित होनेवाली अणिमादि सिद्धियाँ, सुख-सम्पत्ति कुछ भी नहीं चाहिए। हे परमेश्वर! मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि आप मुझे केवल अपने सेवकोंके निकट स्थान दीजिए॥२४॥

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥ २५॥

जिस प्रकार मृगतृष्णाका जल मिथ्या होता है, उसी प्रकार सुननेमें अच्छे लगनेवाले समस्त विषयभोग भी वास्तवमें मिथ्या हैं। (मृग-तृष्णा जिस प्रकार देखनेमें ही सुखमय प्रतीत होती है, उसी प्रकार राज्यादि प्रार्थित वस्तुएँ सुननेमें ही अच्छी लगती हैं) यह शरीर ही समस्त रोगोंका उत्पत्ति-स्थान है। अतः कहाँ ये मिथ्या विषयभोग और कहाँ ये रोगयुक्त शरीर। इनकी क्षणभङ्गुरता और असारताको जानकर भी तथाकथित विद्वान् अत्यधिक कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले बिन्दुमात्र सुख-कणिकाओंके द्वारा दुर्वार कामाग्नि एवं वैधयिक सुखकी लालसाको शान्त करनेका प्रयास करते हैं, विरक्त नहीं होते॥२५॥

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।

न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥

हे परमेश्वर! कहाँ तो इस तमोगुणी असुरवंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अहैतुकी अनन्त कृपा। आपने जिस परमप्रसादस्वरूप और सकलसन्तापहारी करकमलको ब्रह्माजी, शिवजी और लक्ष्मीजीके मस्तकपर भी नहीं रखा, उसे आज मेरे सिरपर रखा है ॥२६॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७ ॥

आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा और अहैतुकी बन्धु हैं। संसारी प्राणियोंके समान आपमें छोटे-बड़ेका भेदभाव नहीं है। कल्पतरुके समान आपका अनुग्रह सेवाके तारतम्यसे प्राप्त होता है और सेवाके अनुसार ही आपकी कृपा प्राप्त होती है। उसमें उत्तम (ब्रह्मादि देवता) और अधम (असुरादि) का भेदभाव नहीं होता ॥२७॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात्।
कृत्वात्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥ २८ ॥

हे भगवन्! यह संसार सर्पोंसे भरा हुआ अन्धकूप है। विषय-भोगोंकी इच्छावाले जीव इसीमें गिरे हुए हैं। मैं भी उन काम्य-वस्तुओंकी आशासे आसक्त होकर इस संसारकूपमें गिरने ही वाला था कि देवर्षि नारदने मुझपर कृपा करके आपके अधीन बना दिया। उन्होंने मुझे मन्त्रोपदेश प्रदान करके अपना शिष्य बनाकर अतीव अनुग्रह किया है। तब मैं आपके भक्त-जनोंकी सेवाका किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ? ॥२८॥

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
 मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम्।
 खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
 स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २९ ॥

हे अनन्त! आपने अपने भक्त देवर्षि नारदके वचनोंको (हे कयाधु! विद्वेषियोंके विनाशसे ही तुम्हारे पुत्रका कल्याण होगा) सत्य करनेके लिए और मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिए ही मेरे पिताका वध किया है—मैं ऐसा मानता हूँ। मेरे पिताने अन्यायपूर्वक मुझे मार डालनेकी इच्छासे खड्ग हाथमें लेकर कहा था—मैं तेरे मस्तकके दो टुकड़े कर डालता हूँ—यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर है, तो वह तेरी रक्षा करे ॥ २९ ॥

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व-
 माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च।
 सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
 नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥ ३० ॥

हे सर्वात्मन्! एकमात्र आप ही इस विराट् जगत्के रूपमें विद्यमान हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आपका ही स्वरूप है। आप ही इस जगत्की उत्पत्तिके पूर्व थे और प्रलयके बाद भी आप ही रहेंगे तथा मध्यमें भी आप ही अपनी मायाके द्वारा इस त्रिगुणात्मक जगत्की सृष्टि करके अन्तर्यामीरूपमें इसके भीतर प्रवेश करते हैं और उन गुणोंके द्वारा नाना (उत्पादक, पालक एवं हन्ता आदि) रूपोंमें प्रतीत होते हैं ॥ ३० ॥

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
 माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था।
 यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
 तद्वैतदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥

हे परमेश्वर! कार्य-कारणरूपी यह समस्त जगत् आपका ही स्वरूप है, किन्तु आप इस जगत्से भिन्न हैं। अतः अपने-परायेका

जो भेदभाव है, वह मिथ्या माया है। जिससे जिसकी उत्पत्ति, प्रकाश, स्थिति और विनाश होते हैं, वह वस्तु बीज एवं वृक्ष तथा पृथ्वी एवं सूक्ष्मभूतोंके समान तत्स्वरूप ही होती है। जैसे बीज और वृक्ष कारण और कार्यकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न होते हैं, तो भी पृथ्वी एवं गन्ध-तन्मात्रकी (सूक्ष्मभूतकी) दृष्टिसे दोनों एक ही हैं (कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता) ॥३१॥

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्रस्तुर्ये
स्थितो न तु तमो न गुणाश्च युङ्क्षे ॥ ३२ ॥

हे जगदीश्वर! आप अपनी स्वरूपशक्तिमें इस जगत्को समेटकर स्वयंसिद्ध योगके द्वारा अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। उस समय निज स्वरूपके प्रकाशके कारण निद्राको दूर करके तुरीय भावमें (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिसे रहित निज-स्वरूपमें) स्थित होकर आत्म-सुखका अनुभव करते हैं अर्थात् उस समय आप मायिक लीलाके अनिच्छुक होकर निष्क्रिय अवस्थामें प्रलय-पयोधि (कारणार्णव) में अधखुली आँखोंसे (योगनिद्रामें) शयन करते हैं, किन्तु न तो तमोगुणको स्वीकार करते हैं, और न ही विषयोंको। जाग्रत एवं स्वप्नकालमें भी आप विषयोंको नहीं देखते ॥३२॥

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदित-प्रकृतिधर्मण आत्मगूढम्।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥ ३३ ॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपका ही शरीर है। आप अपनी काल-शक्तिसे प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंको प्रेरित करते हैं। कारणार्णवमें शेष-शय्यापर शयन करनेवाले आप जब योग-समाधिका त्याग करके जागते हैं, तब आपकी नाभिमें पहलेसे ही लीन ब्रह्माण्ड-कमल (चौदह भुवनात्मक महालोक पद्म) उसी प्रकार

प्रकट होता है, जिस प्रकार एक छोटेसे बीजसे विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३३॥

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स बहिर्विचिन्त्य।
नाविन्ददद्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥ ३४ ॥

इसी महापद्मसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उन्हें अपने चारों ओर कमलके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा। आप बीजस्वरूपसे उनमें व्याप्त हैं, वे यह जान नहीं पाये, तब आपको अपनेसे बाहर स्थित जानकर वे जलके भीतर घुस गये और एक सौ वर्षोंतक कमलके उद्गम-स्रोतको खोजनेका प्रयास करते रहे, परन्तु आपका अनुसन्धान नहीं कर पाये। ठीक ही है, अङ्कुरके उग आनेपर बीज किस प्रकार दिखायी दे सकता है ॥३४॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥ ३५ ॥

उस समय आत्मयोनि ब्रह्माजीने अत्यन्त विस्मित होकर कमलका आश्रय लिया और उसपर बैठकर बहुत समय तक तीव्र तपस्या की। जब तपस्यासे उनका हृदय शुद्ध हो गया तब हे परमेश्वर! भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणमय अपने शरीरमें सूक्ष्मरूपमें व्याप्त आपको ब्रह्माने उसी प्रकार देखा, जिस प्रकार पृथ्वीमें अति सूक्ष्म तन्मात्रा—गन्धका अनुभव होता है ॥३५॥

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासाद्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम्।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥ ३६ ॥

ब्रह्माजीने देखा कि आपका विराट् शरीर हजारों मुख, चरण, सिर, हाथ, जंघा, नासिका, कर्ण, नयन, आभूषणों और आयुधोंसे सुसज्जित है, आपके चरण पाताल आदि अधोलोकों तक विस्तृत हैं। इस प्रकार चिदानन्द विग्रह, मायामय आपको महापुरुषरूपमें देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आनन्द हुआ ॥३६॥

तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं हि बिभ्रद्-
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांश्च रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥ ३७ ॥

वेद-द्रोही रजोगुण एवं तमोगुण रूपी मधु और कैटभ नामक दो बड़े शक्तिशाली दैत्य थे। जब उन्होंने वेदोंका हरण कर लिया, तब आपने हयग्रीव अवतार धारण करके उन दोनों असुरोंका वध कर दिया और वेदोंको ब्रह्माजीको लौटा दिया। इसलिए महर्षिगण आपके उस प्रियतम शरीरको शुद्धसत्त्वमय बतलाते हैं ॥३७॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवज्ञषावतारै-
लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवन्नियुगोऽथ स त्वम् ॥ ३८ ॥

हे पुरुषोत्तम भगवान्! आप मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार लेकर त्रिभुवनका पालन करते हैं और जगत्-द्रोहियोंका विनाश करते हैं। हे महापुरुष! आप प्रत्येक युगमें उसीके अनुरूप धर्मका संरक्षण करते हैं। कलियुगमें आप प्रच्छन्न रूपमें रहते हैं, इसलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' है ॥३८॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥ ३९ ॥

हे वैकुण्ठनाथ! मेरा यह मन बहिर्मुख और पापमय वासनाओंसे कलुषित है, दुर्वार कामनाओंसे व्याकुल होकर यह कभी आनन्दका उपभोग करता है और कभी शोकमें डूबा रहता है। कभी विविध भयोंसे भयभीत रहता है और कभी अधिकाधिक धन-प्राप्तिकी चिन्तामें लगा रहता है। आपकी लीला-कथाओंमें तो इसे रस ही नहीं मिलता। अतः ऐसी दयनीय स्थितिमें मैं किस प्रकार आपके स्वरूप एवं तत्त्वका चिन्तन कर सकता हूँ? ॥३९॥

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिशनोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥४०॥

हे अच्युत! जिस प्रकार किसी पुरुषकी बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपनी-अपनी ओर आकर्षित करती हैं, उसी प्रकार मेरी वाक् इन्द्रिय लौकिक मिथ्यादि प्रलापकी ओर, रसनेन्द्रिय मधुरादि रसोंके आस्वादनकी ओर, जननेन्द्रिय स्त्रीकी ओर, त्वचा कोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजनकी ओर, कान ग्राम्य सङ्गीतकी ओर, नासिका सुवासित गन्धकी ओर और चञ्चल आँखें बहिर्मुख मनको आकर्षित करनेवाले सौन्दर्यकी ओर भागती हैं। मेरी कर्मेन्द्रियाँ विषयोंकी ओर आकर्षित करके मेरा विनाश कर रही हैं। मेरा तो प्रायः विनाश ही हो गया है ॥४०॥

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्।
पश्यन् जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥४१॥

हे भवार्णव-कर्णधार! हम तो अपने-अपने कर्मोंके अनुसार इस संसार-प्रवाहरूपी वैतरणी नदीमें पड़े हुए हैं। एकके बाद एक जन्मसे मरण, मरणसे जन्म—इस प्रकारके कर्म भोगोंसे भयभीत होकर भोजन आदिकी व्यवस्थामें ही उलझे रहते हैं। हमारी

मूढ़ता तो देखिये, हम अपने-परायेकी बुद्धिके कारण किसीके प्रति
वैरभाव ठान लेते हैं और किसीको मित्र बना लेते हैं। हे पारचर!
आप तो वैतरणीके पार स्थित हैं, हमें भी कृपापूर्वक उस पार
पहुँचा दीजिए ॥४१॥

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन् प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥४२॥

हे प्रभो! हे जगद्गुरो! आप इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति एवं
प्रलयके कारण-स्वरूप हैं, हम-जैसे लोगोंका उद्धार करनेमें आपका
क्या परिश्रम है? हे आर्तबन्धो! महापुरुषोंको मूर्खोंपर अवश्य ही
अनुग्रह करना चाहिए। जो आपके प्रिय भक्तजन हैं, उनकी सेवा
करनेवालोंके उद्धारकी क्या आवश्यकता है, उनका तो सेवाके
प्रभावसे पहले ही उद्धार हो चुका है ॥४२॥

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥४३॥

हे सर्वोत्तम! मैं दुस्तरणीय भव-वैतरणी नदीको पार करनेके
लिये किञ्चित्मात्र भी उद्विग्न नहीं हूँ, क्योंकि मेरा चित्त तो
आपके गुणगानरूपी महान अमृत-हृदमें निमग्न रहता है। मैं तो
उन मूढ़ प्राणियोंके लिए शोक कर रहा हूँ, जो आपके लीलागान
रूपी महामृतसे विमुख होकर इन्द्रियोंके विषयोंका मायामय झूठा
सुख प्राप्त करनेके लिए अपने सिरपर कटुम्बादि सारे संसारका
भार ढोते हुये अति क्लान्त हो रहे हैं ॥४३॥

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ४४ ॥

हे देवाधिदेव! मुनिजन प्रायः अपनी मुक्तिकी कामनासे निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं, वे दूसरोंके कल्याणके लिए कुछ नहीं करते किन्तु मैं इन दीनजनोंका परित्याग करके अकेला मुक्ति प्राप्त करना नहीं चाहता। मुझे तो आपके अतिरिक्त इन बहिर्मुख जीवोंका कोई रक्षक दिखायी नहीं देता ॥४४॥

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥ ४५ ॥

गृहस्थियोंको जो स्त्री-सम्भोगादि सुख मिलता है, वह दोनों हाथोंसे खुजली खुजलानेके समान अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखदायी है। अत्यन्त दुःख पानेके बाद भी कामीजनोंको इससे तृप्ति नहीं होती। जो ज्ञानी एवं धीर हैं, वे ही आपकी कृपासे कण्डू-तुल्य (खुजलीके समान) इस कामवेगको सहन कर पाते हैं ॥४५॥

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनं स्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्त्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ४६ ॥

हे महापुरुष! मोक्षके दस साधन बतलाये गये हैं—मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-ज्ञान, तपस्या, वेद-पाठ (स्वाध्याय) स्वधर्म-पालन, युक्तियोंसे सत्-शास्त्रोंकी व्याख्या, निर्जनवास, जप और समाधि। किन्तु हे अन्तर्यामिन्! जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उन लोगोंके लिए ये दसों विधियाँ जीविकाके लिए उपार्जन मात्र बनकर रह जाती हैं, जबकि दाम्भिकोंको (मिथ्या अहङ्कारियोंको) तो इतनी सफलता भी कभी मिलती है और कभी नहीं ॥४६॥

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
 बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य।
 युक्ताः समक्षमुभयत्र विचक्षन्ते त्वां
 योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥ ४७ ॥

वेदोंमें बीज एवं अङ्कुरके समान आपके कार्य-कारण दो रूप बतलाये गये हैं। आप ही प्राकृतरूपसे रहित हैं, कोई और नहीं। काष्ठमें मन्थन करनेपर जिस प्रकार अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार विवेकीगण भक्तियोग द्वारा कार्य और कारण दोनोंमें ही आपका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेते हैं। ज्ञानी इससे वञ्चित रह जाते हैं ॥ ४७ ॥

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
 प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
 सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
 नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८ ॥

हे भूमन्! आप ही वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पञ्च तन्मात्रा, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त और अहङ्कार हैं। आप ही गुण कार्यरूपमें स्थूल और अन्तर्यामादि पदार्थरूपमें सूक्ष्म हैं—सब कुछ केवल आप ही हैं। मन और वाणीके द्वारा जो कुछ भी अभिव्यक्त वस्तु है, वह आपसे पृथक् नहीं है ॥ ४८ ॥

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
 सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः।
 आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
 मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥ ४९ ॥

सत्त्वादि तीनों गुण, गुणादिके अभिमानी देवता, महत्तत्त्व, मन आदि, देवता अथवा मनुष्य—इनमें—से कोई भी आपके स्वरूपको जाननेमें समर्थ नहीं है क्योंकि ये सब आदि और अन्तवाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ज्ञानीजन इस प्रकार विवेचना

करके वेदाध्ययनादि कार्योंसे विरक्त हो जाते हैं (और समाधि योगमें आपकी उपासना करते हैं) ॥४९॥

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

अतएव हे परमपूज्य! नमस्कार, स्तव, समस्त कर्मोंका समर्पण, पूजन, आपके चरण-कमलोंका ध्यान-स्मरण और आपकी लीला-कथाओंका श्रवण—इस षडङ्ग (छह अङ्गोंसे युक्त) सेवाके बिना जगत्में परमहंसों—आपके प्रिय भक्तोंको प्राप्त होनेवाली गति अर्थात् आपके चरण-कमलोंकी भक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है! ॥५०॥

श्रीनारद उवाच—

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥५१॥

देवर्षि नारदने कहा—इस प्रकार भक्त प्रह्लाद द्वारा भक्तिभावसे युक्त और प्राकृत गुणोंसे रहित अपने कारुण्यादि स्वरूपभूत गुणोंका वर्णन किये जानेपर भगवान् श्रीनृसिंहदेवने अपने क्रोधका संवरण कर लिया और वे अपने चरणोंमें प्रणत प्रह्लादसे बड़े प्रेमके साथ कहने लगे ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥५२॥

श्रीनृसिंह भगवानने कहा—हे परम कल्याण स्वरूप प्रह्लाद! तुम्हारा मङ्गल हो। हे असुरोत्तम! मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। मैं प्राणियोंकी अभिलाषा पूर्ण करता हूँ। अतः तुम्हारा कोई मनोरथ हो तो तुम मुझसे माँग लो ॥५२॥

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे।

दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥ ५३ ॥

हे आयुष्मन्! मुझे प्रसन्न किये बिना मेरा दर्शन अतिशय दुर्लभ है। मेरा दर्शन हो जानेपर प्राणियोंके हृदयमें कोई शोक शेष नहीं रह जाता ॥ ५३ ॥

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः।

श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम् ॥ ५४ ॥

अतएव हे महाभाग! अपने कल्याणकी इच्छा करनेवाले परम ज्ञानी साधुजन अन्तःकरणकी (दास्य, सख्यादि) समस्त वृत्तियोंसे मुझे सन्तुष्ट करनेका प्रयास करते हैं ॥ ५४ ॥

श्रीनारद उवाच—

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।

एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादचरिते श्रीभगवत्स्तवो नाम
नवमोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—असुरोंमें श्रेष्ठ प्रह्लादजी भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त हैं। उन्होंने बड़े-बड़े लोगोंको भी मोहित करनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी उनकी किञ्चित् मात्र इच्छा नहीं की ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके नवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

प्रह्लादजीके राज्याभिषेक और त्रिपुरदहनकी कथा

श्रीनारद उवाच—

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः।

मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह॥१॥

देवर्षि नारदने कहा—प्रह्लाद महाराज उस समय बालक थे, तब भी उन्होंने भगवान् नृसिंह-द्वारा कथित उन सभी वरदानोंको भक्तिके मार्गमें बाधा समझा। वे विनीत भावसे किञ्चित् मुसकराये और कहने लगे॥१॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः।

तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥२॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! मैं तो जन्मसे ही विषय—भोगोंमें आसक्त हूँ, अतः आप मुझे इन वरोंका प्रलोभन देकर मत लुभाइये। मैं भोग-विषयोंकी आसक्तिसे बहुत भयभीत हूँ। इन सबसे निर्वेद और मुक्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ही मैं आपकी शरणमें आया हूँ॥२॥

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत्।

भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥३॥

हे प्रभो! शुद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेके लिए ही आपने मुझे वरदान माँगनेके लिए प्रेरित किया है, किन्तु ये विषयभोग हृदयकी गाँठको और भी दृढ़ करनेवाले तथा जन्म-मृत्यु रूपी संसारचक्रमें डालनेवाले हैं॥३॥

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥४॥

हे अखिलगुरो! परीक्षाके अतिरिक्त ऐसा कहनेका और कोई कारण दिखायी नहीं देता; क्योंकि आप सभीके हितके लिए उपदेश करनेवाले तथा परम दयालु हैं। हे करुणामय! आप अपने भक्तको अनर्थ-साधनमें प्रेरित नहीं कर सकते। आपकी सेवा-पूजा करके जो व्यक्ति आपसे विषयादि भोगोंकी अभिलाषा करता है, वह आपका सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है॥४॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥५॥

जो सेवक सेवाके बदलेमें स्वामीसे अपने भौतिक कल्याणकी प्रार्थना करता है, वह सेवक नहीं है और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकको ऐश्वर्य प्रदान करता है, वह भी स्वामी कहलाने योग्य नहीं है॥५॥

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः।

नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥६॥

मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निरुपाधिक एवं निरपेक्ष स्वामी हैं। हमारे बीच राजा एवं सेवकके समान लोक-प्रचलित किसी अन्य प्रकारके भाव (या सम्बन्ध) की आवश्यकता नहीं है॥६॥

यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।

कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥७॥

हे वरदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ! यदि आप मुझे अभीष्ट वर प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाका अङ्कुर ही उत्पन्न न हो॥७॥

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।

ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥८॥

यदि हृदयमें कोई कामना उदित हो जाय तो उससे इन्द्रियाँ, मन, प्राण, देह, धर्म, बुद्धि, लज्जा, सम्पद, तेज, स्मृति एवं सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं॥८॥

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥ ९ ॥

हे कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें स्थित कामनाओंका परित्याग कर देता है, उस समय वह आपके समान ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके योग्य हो जाता है ॥९॥

ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ १० ॥

हे परमपुरुष! हे षडैश्वर्य-सम्पन्न! हे महात्मन्! हे समस्त दुःखोंका नाश करनेवाले! हे अद्भुत नृसिंहाकार! हे परब्रह्म-परमात्म-स्वरूप! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१०॥

श्रीनृसिंह उवाच—

नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः।
तथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥ ११ ॥

श्रीनृसिंह भगवान्ने कहा—वत्स प्रह्लाद! तुम्हारे जैसे मेरे ऐकान्तिक भक्त ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा किसी भी प्रकारके कल्याणकी प्रार्थना नहीं करते, तथापि मेरी प्रसन्नताके लिए तुम इस मन्वन्तरकी समाप्ति तक इसी लोकमें दैत्योंके अधीश्वररूपमें सम्पूर्ण विषय-भोगोंका उपभोग करो ॥११॥

कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम्।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् ॥ १२ ॥

मैं यज्ञेश्वर हूँ, समस्त यज्ञोंका भोक्ता हूँ। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें विद्यमान हूँ। तुम नित्य-निरन्तर इसी रूपमें मेरा ध्यान करना। मेरी लीला-कथाएँ जो तुम्हें अतिशय प्रिय हैं—उनका श्रवण

करते रहना, समस्त सकाम (वैदिक एवं लौकिक) कर्मोंका परित्याग कर देना, जो भी कर्म करो, वह मुझे अर्पण करते हुए मेरी आराधना करना। इससे तुम्हारे सभी प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जाएगा ॥१२॥

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा।
कीर्त्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥ १३ ॥

भोगके द्वारा पुण्यकर्मोंका फल और निष्काम पुण्य-कर्मोंके द्वारा तुम्हारे पाप नष्ट हो जायेंगे। कालकी गतिसे शरीरका परित्याग करके तुम समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे और देवताओंके भी द्वारा वन्दनीय विशुद्ध कीर्त्तिको प्राप्तकर मेरे निकट आ जाओगे ॥१३॥

य एतत् कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः।
त्वाञ्च माञ्च स्मरन् काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥

जो मेरा और तुम्हारा अर्थात् हमारे इस लीला-चरित्रका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करेगा साथ ही मुझे प्रसन्न करनेके लिए तुम्हारे द्वारा गाये हुए इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह समय आनेपर कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाएगा ॥१४॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

वरं वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर।
यदनिन्दत् पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥ १५ ॥
विद्धामर्षाशयः साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम्।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥ १६ ॥
तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात्।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥ १७ ॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे महेश्वर! मैं आपसे यही वरदान माँगता हूँ—मेरे पिता आपके ईश्वरीय तेजको नहीं जानते थे। वे आपको अपने भाईका वध करनेवाला समझकर आपके प्रति मिथ्यापूर्ण

(शत्रुतापूर्ण) दृष्टिकोण रखते थे और आपका भक्त होनेके कारण मुझसे भी बड़ा द्रोह करते थे। क्रोधके वशीभूत होकर उन्होंने आपकी बड़ी निन्दा की है। हे दीनबन्धो! यद्यपि मृत्युके समय आपके कृपा-कटाक्ष मात्रसे वे पवित्र हो गये हैं तथापि मेरी यही इच्छा है कि वे इन सभी दुस्तर पापोंसे शुद्ध हो जाएँ॥१५-१७॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।

यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः॥१८॥

श्रीनृसिंह भगवान्ने कहा—हे निष्पाप प्रह्लाद! तुम्हारे पिता पवित्र हो गये हैं, इस विषयमें तो कहना क्या, उनके साथ तुम्हारी पूर्व इक्कीस पीढ़ियोंका भी उद्धार हो गया, क्योंकि इस वंशमें कुलको पवित्र करनेवाले तुम्हारे जैसे पुत्रका जन्म हुआ है॥१८॥

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।

साधवः समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटाः॥१९॥

जिस स्थानपर मेरे प्रशान्त, समदर्शी, साधु, सदाचारी सद्गुणसम्पन्न प्रेमी भक्त निवास करते हैं, वे कीकटादि निकृष्ट देश और देशवासी भी पवित्र हो जाते हैं॥१९॥

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन।

उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावविगतस्पृहाः॥२०॥

हे दैत्येन्द्र! मेरी भक्तिके कारण जिन भक्तोंकी समस्त कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, वे छोटे-बड़े प्राणियोंमें भेदभाव नहीं रखते। उनके प्रयत्नोंसे कभी भी किसीको कोई कष्ट नहीं होता॥२०॥

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।

भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥२१॥

इस जगत्में जो तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे भी मेरे भक्त हो जायेंगे। प्रह्लाद! तुम मेरे भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हो, इसीलिए सभीके आदर्श हो॥२१॥

कुरु त्वं प्रेतकृत्यानि पितुः पूतस्य सर्वशः।

मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान् यास्यति सुप्रजाः ॥ २२ ॥

हे प्रिय प्रह्लाद! हे अङ्ग! यद्यपि मेरे अङ्गोंके स्पर्श-मात्रसे तुम्हारे पिता सब प्रकारसे पवित्र हो गये हैं तथापि तुम अपने पिताकी अन्त्येष्टि एवं श्राद्धादि पारलौकिक क्रियाएँ सम्पन्न करो। तुम्हारे जैसी सन्तान होनेके कारण उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥

पित्र्यञ्च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः।

मयावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् तुम अपने पिताके राज्य-सिंहासनपर अधिष्ठित हो जाओ। अपना मन मुझमें लगाकर मत्परायण हो जाओ तथा मेरी शरणमें रहकर वेदवादी पण्डितोंकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन न करते हुए समस्त कर्म मेरी प्रसन्नताके लिए करो ॥ २३ ॥

श्रीनारद उवाच—

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत् साम्परायिकम्।

यथाह भगवान् राजत्रभिषिक्तो द्विजातिभिः ॥ २४ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे युधिष्ठिर! भगवान्ने जिस प्रकार प्रह्लादको आज्ञा दी, उसी के अनुसार प्रह्लादने अपने पिताके श्राद्धादि कार्योंको सम्पन्न किया। इसके पश्चात् ब्राह्मणोंने उनका राज्याभिषेक कर दिया ॥ २४ ॥

प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम्।

स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ॥ २५ ॥

तदनन्तर देवता एवं ऋषियोंसे घिरे हुए ब्रह्माने श्रीनृसिंहके रूपमें भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न मुद्रामें देखकर पवित्र वचनोंके द्वारा उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा ॥ २५ ॥

श्रीब्रह्मोवाच—

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज।

दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः ॥ २६ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओंके आराध्यदेव ! हे समस्त ब्रह्माण्डके अध्यक्ष ! हे समस्त जीवोंके जीवनदाता ! हे आदिपुरुष ! यह पापी हिरण्यकशिपु सभी लागोंको बड़ा दुःख दे रहा था। हमारे सौभाग्यसे आपने इसे मार डाला ॥२६॥

योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः।

तपोयोगबलोद्भूतः

समस्तनिगमानहन् ॥ २७ ॥

इस असुरने मुझसे वरदान ले लिया था कि सृष्टिका कोई प्राणी इसे मार नहीं सकेगा। यह अपने तप, योग एवं बलके कारण अत्यन्त अभिमानी होकर मनमाने ढंगसे वेदविहित धर्मोंका उल्लङ्घन किया करता था ॥२७॥

दिष्ट्या तत्तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः।

त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना ॥ २८ ॥

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने इसी हिरण्यकशिपुके पुत्र महाभागवत साधु बालकको मृत्युसे बचा लिया। यह बालक है, तो भी पूर्णतया आपकी शरणमें है ॥२८॥

एतद्वपुस्ते भगवन् ध्यायतः परमात्मनः।

सर्वतो गोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः ॥ २९ ॥

हे भगवन् ! हे परमात्म-स्वरूप ! जो भक्त आपके इस नृसिंह रूपका एकाग्र चित्तसे ध्यान करेगा, वह समस्त भयोंसे मुक्त हो जायेगा, यहाँ तक कि आसन्न (समीपमें आयी हुई) मृत्युसे भी उसकी रक्षा हो जायेगी ॥२९॥

श्रीभगवानुवाच—

मैवं विभोऽसुराणान्ते प्रदेयः पद्मसम्भव।

वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥ ३० ॥

श्रीनृसिंह भगवान्ने कहा—हे महापुरुष ! हे कमल-पुष्पसे सम्भूत देव ! असुरोंका स्वभाव अतिशय क्रूर होता है। आप उन्हें इस प्रकारके वरदान न दिया करें। इन्हें वरदान देना सर्पको दूध पिलानेके समान है ॥३०॥

श्रीनारद उवाच—

इत्युक्त्वा भगवान् राजंस्ततश्चान्तर्दधे हरिः।

अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥ ३१ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके सम्मुख प्रकट नहीं होते। वे ब्रह्माजीसे इतना कहकर और उनके द्वारा पूजित होकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३१ ॥

ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम्।

भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् प्रह्लाद महाराजने भगवान्के अंशभूत ब्रह्माजी, महादेव, प्रजापतियों तथा देवताओंकी पूजा की और सिर झुकाकर उनकी वन्दना की ॥ ३२ ॥

ततः काव्यादिभिः सार्द्धं मुनिभिः कमलासनः।

दैत्यानां दानवानाञ्च प्रह्लादमकरोत् पतिम् ॥ ३३ ॥

इसके पश्चात् ब्रह्माजीने शुक्राचार्य आदि मुनियोंके साथ प्रह्लादजीको समस्त दैत्य एवं दानवोंका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः।

स्वधामानि ययू राजन् ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः ॥ ३४ ॥

हे राजन्! ब्रह्मादि देवताओंने प्रह्लाद महाराजको आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रह्लादजीके द्वारा पूजा-सत्कार स्वीकार करके वे अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ ३४ ॥

एवञ्च पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः।

हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार भगवान् विष्णुके ये दोनों पार्षद जय और विजय दितिके पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष थे। भगवान्के प्रति ये सदैव वैर भाव रखते थे। उनके हृदयमें विराजमान भगवान्ने उनका उद्धार करनेके लिए श्रीवराह तथा श्रीनृसिंह रूप लेकर उनका वध कर दिया ॥ ३५ ॥

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः।
कुम्भकर्ण-दशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणोंके द्वारा अभिशप्त होनेके कारण इन दोनोंने पुनः कुम्भकर्ण और रावण नामके राक्षसोंके रूपमें जन्म लिया। उस समय भगवान् श्रीरामचन्द्रके महान् पराक्रमसे उनका अन्त हुआ ॥ ३६ ॥

शयानौ युधि निर्भिन्न-हृदयौ रामशायकैः।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥ ३७ ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रके बाणोंसे उनका हृदय बिंध गया था। रणभूमिमें पड़े-पड़े ही पूर्वजन्मकी भाँति भगवान्का चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी देहका त्याग किया ॥ ३७ ॥

ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥ ३८ ॥

ये दोनों ही पुनः इस युगमें शिशुपाल एवं दन्तवक्रके रूपमें उत्पन्न हुए। भगवान् श्रीहरिसे वैर-भाव ठान लेनेके कारण तुम्हारे सम्मुख ही भगवान्में समाकर इन्होंने सायुज्य मुक्ति प्राप्त की ॥ ३८ ॥

एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः।
जहुस्तेऽन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥ ३९ ॥

प्रिय युधिष्ठिर! श्रीकृष्णसे द्वेष रखनेवाले अनेकानेक राजागण अन्त समयमें श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए उनसे तद्रूप होकर अपने पूर्वकृत पापोंसे सदाके लिए उसी प्रकार मुक्त हो गये, जिस प्रकार भृङ्गी द्वारा पकड़ा हुआ कीट भृङ्गीका चिन्तन करते हुए उसीके समान हो जाता है ॥ ३९ ॥

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा।
नृपाश्चैद्यादयः सात्त्व्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार भगवान्के भक्त भेदभाव रहित परम भक्ति द्वारा भगवान् श्रीहरिका सारूप्य प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार शिशुपाल

आदि राजाओंने भी तीव्र शत्रुताके भावसे भगवान् श्रीकृष्णका अनन्य चिन्तन करते हुए उनका सारूप्य प्राप्त कर लिया था ॥४०॥

आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।

दमघोषसुतादीनां हरेः सात्त्व्यमपि द्विषाम् ॥४१॥

युधिष्ठिर! तुमने पूछा था कि दमघोष-सुत शिशुपालादिको भगवान्से द्वेष करनेपर भी किस प्रकार भगवत्-सायुज्यकी प्राप्ति हुई। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया ॥४१॥

एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः।

अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥४२॥

ब्रह्मण्यदेव परमात्मा श्रीकृष्णका यह परम पवित्र अवतार-चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया। इसमें आदि दैत्यों हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुके वधका वर्णन है ॥४२॥

प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च।

भक्तिज्ञानं विरक्तिश्च याथार्थ्यञ्चास्य वै हरेः ॥४३॥

सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम्।

परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ॥४४॥

इसी वृत्तान्तमें महाभागवत प्रह्लादके चरित्र, उनकी भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं प्रह्लादके द्वारा वर्णित सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके कारणस्वरूप भगवान् श्रीहरिके गुणों एवं लीलाओंका वर्णन है। इसमें कालक्रमसे देवताओं तथा असुरोंके अपने-अपने स्थानोंसे महान् विनाशका भी निरूपण है ॥४३-४४॥

धर्मो भागवतानाञ्च भगवान् येन गम्यते।

आख्यानेऽस्मिन् समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः ॥४५॥

जिस भागवत धर्म तथा आध्यात्मिक तत्त्वके द्वारा भगवान्की प्राप्ति होती है उसका इसमें विशेषरूपसे वर्णन है ॥४५॥

य एतत् पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम्।

कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ॥४६॥

भगवान् श्रीहरिके पराक्रमसे पूर्ण इस पवित्र आख्यानका जो श्रद्धाके साथ श्रवण अथवा कीर्तन करता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥४६॥

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत्।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥ ४७ ॥

जो व्यक्ति आदिपुरुष भगवान् श्रीहरिकी इस श्रीनृसिंह-लीला, दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध-वृत्तान्त और सन्त-शिरोमणि प्रह्लाद महाराजके परम पवित्र प्रभावका वर्णन एकाग्र चित्तसे सुनता अथवा पढ़ता है, वह उस अभयपद वैकुण्ठधाममें पहुँच जाता है, जहाँ चिन्ताका लेशमात्र भी नहीं है ॥४७॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर! इस मनुष्य-लोकमें तुमलोग अतिशय भाग्यवान् हो, क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण मनुष्यरूपमें गुह्यरूपसे निवास करते हैं। इसी कारण जगत्को पवित्र करनेवाले मुनिगण उनका दर्शन करनेके लिए बार-बार तुम्हारे घर आया करते हैं ॥४८॥

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मारहणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥ ४९ ॥

बड़े-बड़े साधु पुरुष जिनको निरन्तर ढूँढ़ते रहते हैं, वे निरुपाधिक परमानन्दके अनुभव-स्वरूप, नराकृति श्रीकृष्ण ही साक्षात्

परब्रह्म, परमात्मा तुम लोगोंके प्रिय, सुहृद्, ममेरे भाई, आत्मा, पूजनीय, आज्ञाका पालन करनेवाले और गुरु हैं ॥४९॥

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥५०॥

ब्रह्मा, महादेव आदि भी अपनी-अपनी बुद्धिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वका यथार्थरूपसे वर्णन नहीं कर सकते, फिर हम किस प्रकार कर सकते हैं? हम तो मौन धारण करके भक्ति एवं इन्द्रिय-संयमके द्वारा उनकी पूजा करते हैं, जिससे वे भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण हमपर प्रसन्न हों ॥५०॥

स एष भगवान् राजन् व्यतनोद्विहतं यशः।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥५१॥

हे राजन्! सभीके एकमात्र आराध्यदेव वे ही हैं। प्राचीन कालमें एक अत्यन्त मायावी मयदानवने देवाधिदेव रुद्रदेवके यशको कलङ्कित करनेका प्रयास किया था, तब भगवान् श्रीकृष्णने पुनः उनके यशकी रक्षा और विस्तार किया था ॥५१॥

श्रीराजोवाच—

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहन् जगदीशितुः।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम् ॥५२॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—देवर्षि! मयदानव जगदीश्वर महादेवके यशको क्यों नष्ट करना चाहता था? भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार उनकी महिमाका विस्तार किया? आप हमें ये दोनों प्रसङ्ग बतलाइए ॥५२॥

श्रीनारद उवाच—

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः ॥५३॥

देवर्षि नारदने कहा—एक बार भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे शक्ति प्राप्तकरके देवताओंने युद्धमें असुरोंको पराजित कर दिया। तब सारे असुर मायावियोंके परम आचार्य मयदानवकी शरणमें गये ॥५३॥

स निर्माय पुरस्तिस्त्रो हैमी रौप्यायसीर्विभुः।

दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥५४॥

ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरावृप।

स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥५५॥

तब मय दानवने विमानोंके रूपमें स्वर्ण, चाँदी और लोहेके तीन नगर बनाकर असुरोंको प्रदान कर दिये। वे इतने विलक्षण थे कि उनका आवागमन कोई देख नहीं सकता था। उनमें असीमित सामग्रियाँ भरी हुई थीं। हे राजन्! असुरोंका देवताओंके साथ शत्रु-भाव तो था ही। इसी शत्रुताका स्मरण करके असुर-सेनापति अपने अधिपतियोंके साथ मिलकर तीनों लोकोंका विनाश करने लगे ॥५४-५५॥

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं नताः।

त्राहि नस्तावकान् देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥५६॥

तदनन्तर लोकपालोंके सहित सभी लोग महादेव शङ्करके समीप गये और उनके चरणोंमें प्रणत होकर कहने लगे—हे प्रभो! त्रिपुरमें रहनेवाले असुर हमारा विनाश कर रहे हैं। हम आपके निज जन हैं, हमारी रक्षा कीजिए ॥५६॥

अथानुगृह्य भगवान् मा भैष्टेति सुरान् विभुः।

शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वन्नं व्यमुञ्चत ॥५७॥

उनकी विनती सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली एवं परम सामर्थ्यवान् महादेवजीने देवताओंसे कहा 'भय मत करो' और अपने धनुषपर बाण चढ़ाकर पाशुपत अस्त्रको तीनों पुरोंपर छोड़ दिया ॥५७॥

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात्।

यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥५८॥

महादेवजीके धनुषसे अग्निके समान स्वर्ण वर्णके बाण इस प्रकार निकलने लगे, जिस प्रकार सूर्यमण्डलसे प्रज्वलित किरणें निकलती हैं। इन बाणोंसे तीनों पुर ढक गये और उनका दिखायी देना बन्द हो गया ॥५८॥

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः।

तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥५९॥

बाणोंके स्पर्शसे प्रताड़ित होकर तीनों पुरोंमें रहनेवाले सभी असुर निष्प्राण होकर गिर पड़े। तब महामायावी मयदानवने उनको उठाकर अपने बनाये हुए अमृतके कुँएमें डाल दिया ॥५९॥

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः।

उत्तस्थुर्मधदलना वैद्युता इव वहयः ॥६०॥

उस सिद्ध अमृत रसका स्पर्श होते ही असुरोंके शरीर वज्रके समान सुदृढ़ एवं महान् बलशाली हो गये। इसके पश्चात् वे इस तरह उठ खड़े हुए, जैसे बादलोंको चीरकर बिजली प्रकट हुई हो ॥६०॥

विलोक्य भग्नसंकल्पं विमनस्कं वृषध्वजम्।

तदायं भगवान् विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥६१॥

जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महादेवजीका सङ्कल्प पूरा न होनेसे वे बड़े उदास हो गये हैं, तब उन्होंने असुरोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए एक उपाय सोचा ॥६१॥

वत्सश्चासीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः।

प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥६२॥

भगवान् स्वयं गौ और चतुर्मुख ब्रह्माजी बछड़ा बन गये। तत्पश्चात् ये दोनों मध्याह्न-कालमें त्रिपुरमें गये और अमृतमय कुँएका सारा रस पी गये ॥६२॥

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन् विमोहिताः।

तद्विज्ञाय महयोगी रसपालानिदं जगौ।

स्वयं विशोकः शोकार्तान् स्मरन् दैवगतिञ्च ताम् ॥६३॥

असुरगण उन्हें देख रहे थे, परन्तु भगवान्की मायासे मोहित होकर वे उनको रोक नहीं पाये। महामायावी मयासुरको जब यह पता चला, तो वह विस्मित तो अवश्य हुआ, परन्तु उसे शोक नहीं हुआ। वह समझ गया कि विधिके विधानसे यह सब हो रहा है। उसने अमृतकी रक्षा करनेवाले शोकार्त असुरोंसे कहा ॥६३॥

देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन।

आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः ॥६४॥

मय दानवने कहा—इस लोकमें अपने-पराये अथवा दोनोंके भाग्यमें दैव द्वारा जो निर्दिष्ट कर दिया है, उसे मिटानेमें देवता, असुर अथवा मनुष्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥६४॥

अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधानिकं व्यधात्।

धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ॥६५॥

रथं सूतं ध्वजं वाहान् धनुर्वर्म शरादि यत्।

सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे ॥६६॥

तदनन्तर भगवान्ने अपनी शक्ति—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या एवं क्रिया—शक्ति द्वारा शिवजीको संग्रामके सारे साधन—रथ, सारथि, ध्वज, अश्व, धनु, ढाल, बाणादि प्रस्तुत कर दिये। तत्पश्चात् महादेवजी ढाल आदिसे सुसज्जित होकर रथपर सवार हो गये और धनुष-बाण धारण कर लिये ॥६५-६६॥

शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्त्तं अभिजितीश्वरः।

ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ॥६७॥

हे राजन्! इसके पश्चात् महादेवजीने अपने धनुषपर बाण चढ़ाया और मध्याह्न काल (अभिजित् मुहूर्त्त) में दुर्भेद्य उन तीनों असुर-पुरियोंको भस्म कर दिया ॥६७॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः।

देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः।

अवाकिरन् जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥६८॥

उसी समय स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। शत-शत आकाश-यानोंमें विराजमान देवर्षि, पितर, सिद्धेश्वरगण जय-जयकार करते हुए फूलोंकी वर्षा करने लगे। अप्सराएँ प्रसन्न होकर नाचने-गाने लगीं ॥६८॥

एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्त्रो भगवान् पुरहा नृप।

ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वं धाम प्रत्यपद्यत ॥६९॥

हे राजन्! इस प्रकार उन तीनों पुरोंको जलाकर शङ्करजीने त्रिपुरारिकी पदवी प्राप्त की और ब्रह्मादिकृत स्तुति सुनते हुए अपने धाम लौट गये ॥६९॥

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया

विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः।

वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-

लोकं पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥७०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादचरितं त्रिपुरविजयश्च नाम
दशमोऽध्यायः।

जगद्गुरु परमात्मा श्रीहरि इस प्रकार अपनी मायाके द्वारा नरवत् लीलाएँ करते हैं। ऋषियोंके द्वारा गान की जानेवाली उनकी लोकपावन और पराक्रममयी चरितावलीके सम्बन्धमें तुम्हें और क्या सुनाऊँ? बतलाओ! ॥७०॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके दसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

मानवधर्म, वर्णधर्म और स्त्रीधर्मका निरूपण

श्रीशुक उवाच—

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदान्वितः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवन्मय दैत्याधिपति श्रीप्रह्लाद महाराजका चरित्र साधु-सभामें परम आदरके साथ चर्चित एवं कीर्तित होता है। इसे सुनकर महापुरुष-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिर अतिशय प्रसन्न हो गये और देवर्षि नारदजीसे पुनः पूछने लगे ॥१॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम् ॥ २ ॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! जिस धर्मसे मनुष्योंको उनका चरम लक्ष्य भगवद्-भक्ति प्राप्त होती है, मैं आपसे वर्ण और आश्रमोंके सदाचारसे युक्त उसी सनातन धर्मके विषयमें श्रवण करना चाहता हूँ ॥२॥

भवान् प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन्! आप साक्षात् प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र हैं एवं अपनी तपस्या, योग और समाधिके कारण ब्रह्माजीके अन्य पुत्रोंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥३॥

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥४॥

आपके समान शान्त-स्वभाव, दयालु, नारायण-परायण और साधु ब्राह्मण इस गोपनीय परम धर्मको जिस प्रकार यथार्थरूपसे जानते हैं, वैसा कोई और नहीं जानता ॥४॥

श्रीनारद उवाच—

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्मसेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥५॥

देवर्षि नारदने कहा—मैं सर्वप्रथम समस्त जीवोंके धर्मोंके मूल कारण और रक्षक भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके सनातन धर्मका वर्णन करता हूँ, जिसे मैंने नारायण ऋषि आदिके श्रीमुखसे सुना है ॥५॥

योऽवतीर्यात्मनोऽशेन दाक्षायण्यान्तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥६॥

भगवान् श्रीनारायण अपने अंशके साथ धर्म और दक्ष-कन्या मूर्तिके गर्भसे आविर्भूत होकर सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिए आज भी बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं ॥६॥

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥७॥

हे राजन्! सर्ववेदमय भगवान् श्रीहरि ही समस्त धर्मोंके मूल कारण हैं। इस तत्त्वको जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ भी धर्मकी एकमात्र प्रमाण-स्वरूप हैं। जिस धर्मसे (फलकी कामनासे रहित और विघ्नों द्वारा अबाधित) श्रीकृष्णमें भक्तिका उदय होनेसे मन और चित्त प्रसन्न हो जाते हैं, वही धर्म है ॥७॥

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥

सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
 नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥
 अत्राद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
 तेष्व्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥ १० ॥
 श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः।
 सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥ ११ ॥
 नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
 त्रिशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥ १२ ॥

(मनुष्य-मात्रका साधारण धर्म बतला रहे हैं) सत्य, दया, तपस्या (एकादशी आदिमें उपवास) शौच (स्नान), तितिक्षा, ईक्षा (सद् और असद् अथवा युक्त और अयुक्तका विवेक), शम (मनका संयम) दम (बाह्य इन्द्रियोंका दमन), अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, दान, स्वाध्याय (यथोचित जप), सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, साधुओंकी सेवा, तथाकथित ग्राम्य प्रवृत्तियों (सामाजिक परोपकारादि) से धीरे-धीरे निवृत्त होना, मानव-समाजकी निष्फल क्रियाओंकी पर्यालोचना करना, मौन (व्यर्थ आलापोंका परित्याग), आत्म-विवेक, प्राणियोंमें यथायोग्य अन्नादिका वितरण करना, समस्त जीवोंमें अपना और इष्टका ज्ञान, मनुष्योंमें भी वैसी बुद्धि होना, महत् जनोंके आश्रय-भगवान्के गुण और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा और पूजा उनको नमस्कार, दास्य, सख्य, आत्मसमर्पण—इन तीस आचरणोंका ऋषियोंने हे राजन्! परम धर्मके रूपमें वर्णन किया है। इन आचरणोंका पालन करनेसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥८-१२॥

संस्कारायत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
 इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
 जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥ १३ ॥

जिनके वंशमें गर्भाधानादि संस्कार अखण्डरूपसे होते आये हैं और जिनका अनुमोदन ब्रह्माजीके द्वारा हुआ है, वे ही द्विज हैं। जन्म

एवं कर्ममें परिशुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको यज्ञ, अध्ययन, दान एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें विहित कर्मोंका पालन करना चाहिए॥१३॥

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।

राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः॥१४॥

ब्राह्मणोंके लिए अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना एवं प्रतिग्रह करना (दान लेना)—ये छह कर्म बतलाये गये हैं, क्षत्रिय जातिके लिए दान लेनेके अतिरिक्त अन्य पाँच कर्मोंका विधान है। प्रजाकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय राजा ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य सभीसे कर-ग्रहण (एवं दण्डादि) द्वारा अपनी जीविकाका निर्वाह कर सकते हैं॥१४॥

वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥१५॥

वैश्य जाति सर्वदा ब्राह्मण-वंशके आनुगत्यमें रहकर गो-रक्षण, कृषि-वाणिज्यादि कार्योंके द्वारा जीविकाका अर्जन करे। शूद्र जातिका धर्म द्विजोंकी सेवा करना है। उनकी जीविकाका निर्वाह उनका स्वामी करता है॥१५॥

वार्त्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोज्छनम्।

विप्रवृत्तिश्चतुर्द्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा॥१६॥

इस सबके अतिरिक्त ब्राह्मण कृषि, गो-रक्षण वृत्तिको अपना सकता है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन निर्वाह कर सकता है, प्रतिदिन धानके खेतमें जाकर भिक्षा-वृत्ति कर सकता है, किसान खेत काटकर जब अन्न घर ले जाते हैं तब पृथ्वी पर दाने गिर जाते हैं, वह इन शस्य-दानोंका संग्रह कर सकता है अथवा धान्य-क्षेत्रादिमें जो शस्य-कण परित्यक्त रहते हैं, वह उनका भी संग्रह कर सकता है—ये चार प्रकारकी ब्राह्मणकी जीविकाकी वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं। इनमें पूर्व-पूर्व वृत्तिकी अपेक्षा पर-पर वृत्ति श्रेष्ठ है॥१६॥

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।

ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥ १७ ॥

निम्न वर्णका मनुष्य बिना आपत्तिकालके उत्तम वर्णकी वृत्तियोंका अवलम्बन न करे। आपत्तिकाल आनेपर क्षत्रियके अतिरिक्त सभी लोग अन्य वर्णोंकी जीविका-वृत्तियों द्वारा निर्वाह कर सकते हैं। क्षत्रिय जाति विपत्तिमें दान लेना छोड़कर सभी वृत्तियाँ ग्रहण कर सकती है ॥ १७ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।

सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ १८ ॥

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।

मृतं तु नित्ययाच्चा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ १९ ॥

सत्यानृतञ्च वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।

वर्जयेतां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।

सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २० ॥

आपत्तिकालमें ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत अथवा सत्यानृत—सभी वृत्तियोंका आश्रय लिया जा सकता है। इनमें—से किसी भी एक वृत्तिके द्वारा जीविकाका निर्वाह किया जा सकता है, किन्तु जीवनमें श्वान-वृत्तिका कभी भी आश्रय न ले। बाजारमें पड़े हुए अन्न (उञ्छ) तथा खेतोंमें पड़े हुए अन्न (शिल) को बीनकर शिलोञ्छ वृत्तिसे जीविका निर्वाह करना 'ऋत' है, अयाचित वृत्तिसे जीवन निर्वाह करना 'अमृत' है, प्रतिदिन भिक्षा माँगना अर्थात् 'यायावर' वृत्तिके द्वारा जीवन-यापन करना 'मृत' है, कृषि आदिके द्वारा 'वार्त्ता' वृत्तिसे जीवन निर्वाह करना 'प्रमृत' है। वाणिज्य 'सत्यानृत' वृत्ति है एवं निम्न वर्णकी सेवाको श्वान-वृत्ति कहा गया है। ब्राह्मण एवं क्षत्रियको इस निन्दित वृत्तिका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वदेवमय हैं ॥ १८-२० ॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।

ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम् ॥ २१ ॥

शम, दम, तपस्या, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवान्में ऐकान्तिक भावसे आत्मसमर्पण और सत्यभाषण—ये सब ब्राह्मणके लक्षण हैं ॥२१॥

शौर्य वीर्य धृतिस्तेजस्त्यागात्मजयः क्षमा।

ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यश्च क्षत्रलक्षणम् ॥२२॥

युद्ध भूमिमें शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेजस्विता, दान, आत्मजय (क्षुधा, पिपासादि एवं मनोजय) क्षमा, ब्राह्मण-परायणता, प्रसन्नता एवं सत्यनिष्ठता—ये क्षत्रियके लक्षण हैं ॥२२॥

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।

आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥२३॥

देवता, गुरु और भगवान् विष्णुके प्रति भक्ति, धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंका अनुष्ठान, वेद एवं गुरुवचनोंमें विश्वास, अर्थोपार्जनके लिए नित्य उद्यमशीलता एवं निपुणता—ये वैश्यके लक्षण हैं ॥२३॥

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।

अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥२४॥

उच्चवर्णीय त्रिवर्गको प्रणाम, शौच (शुद्धता), स्वामीकी निष्कपट सेवा, बिना मन्त्र पढ़े नमस्कारादिके द्वारा पञ्चानुष्ठान यज्ञ, चोरी न करना, सत्य बोलना और गौ-ब्राह्मणकी रक्षा—ये सब शूद्रके लक्षण हैं ॥२४॥

स्त्रीणाञ्च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।

तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥२५॥

पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, उसके सम्बन्धियोंके प्रति आदर-भाव रखना और उसके व्रत-नियमोंकी रक्षा करना—ये चार पतिव्रता स्त्रियोंके लक्षण हैं ॥२५॥

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्त्तनैः।

स्वयञ्च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥२६॥

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।

वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्॥ २७॥

साध्वी-स्त्रीको स्वयं शुद्ध रहकर सदैव मनोहर एवं आकर्षक वस्त्रोंसे सुसज्जित और आभूषणोंसे विभूषित रहना चाहिए। उसे अपने घरको लीपना-पोतना चाहिए और घरकी साज-सामग्रियोंको शुद्ध एवं व्यवस्थित रखना चाहिए। घरको सजा-धजाकर सुवासित रखना चाहिए। पतिके अनुकूल रहकर उसकी विविध इच्छाओंको पूर्ण करना चाहिए। विनय, इन्द्रिय-संयम, सत्य, प्रीतिपूर्ण वचन एवं यथोचित अवसरोंपर पतिकी सेवा बड़े प्रेमसे करनी चाहिए॥ २६-२७॥

सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।

अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥ २८॥

साध्वी स्त्री, जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे, किसी भी वस्तुके प्रति लोभ न रखे, सभी कार्योंमें चतुर हो, धर्मज्ञ हो, प्रिय एवं सत्य बोलनेवाली हो, अपने कार्योंके प्रति सदैव सावधान रहे, पवित्र एवं स्नेहयुक्त रहकर, यदि पति पातकी और पतित न हो तो उसकी सेवा और सङ्ग करे॥ २८॥

या पतिं हरिभावेन भजेत् श्रीरिव तत्परा।

हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥ २९॥

जो स्त्री लक्ष्मीके समान पति-परायण होकर अपने पतिको हरि-भक्त समझकर उसकी सेवा करती है, तब वह उस हरिपरायण अपने पतिके साथ वैकुण्ठलोकमें प्रमोदके साथ सुखभोग करती है॥ २९॥

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।

अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम्॥ ३०॥

जो चोरी तथा अन्यान्य पाप-कर्म नहीं करते, उन अन्त्यज और चाण्डाल आदि अन्तेवसायी वर्णसङ्कर जातियोंकी वृत्तियाँ वही हैं जो उनकी कुल-परम्परासे चली आ रही हैं, ये मस्तक-मुण्डन, वस्त्र परिष्कारादिको अपना सकते हैं॥ ३०॥

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।

वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥ ३१ ॥

हे राजन्! वेदज्ञ-ऋषि-मुनियोंने प्रत्येक युगमें प्रायः मनुष्योंके स्वभावके अनुसार धर्मकी व्यवस्था की है। इस विहित धर्मका पालन इस लोक और परलोक दोनोंमें कल्याणकारी बतलाया गया है ॥ ३१ ॥

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्त्तमानः स्वकर्मकृत्।

हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥ ३२ ॥

अपनी स्वाभाविक वृत्तिके साथ जो अपने वर्त्तमान स्वधर्मका आचरण करता है, वह धीरे-धीरे अपने स्वभावजात कर्मोंका परित्याग करके निष्काम-भावको प्राप्त हो जाता है। श्रीरुदेव कहते हैं—स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति बहुत जन्मोंके बाद ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, उसके बाद मुझे प्राप्त करते हैं और अपना देहान्त होनेपर प्रपञ्चसे अतीत वैष्णव-पदको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात्।

न कल्पते पुनः सूत्यै उत्पत्तं बीजञ्च नश्यति ॥ ३३ ॥

एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया।

विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामबिन्दुभिः ॥ ३४ ॥

हे राजन्! किसी खेतमें बारम्बार बीज बोये जानेपर वह खेत शक्तिहीन होकर पुनः अङ्कुर उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है, यहाँ तक कि उसमें बोया बीज भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घीकी बूँदोंके द्वारा अग्नि नहीं बुझती, किन्तु यदि एक ही साथ प्रचुर मात्रामें घी पड़ जाये तो अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार वाञ्छित विषयोंका अतिशय उपभोग करनेसे कामेच्छाओंसे परिपूर्ण चित्त विरक्त हो जाता है ॥ ३३-३४ ॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम एकादशोऽध्यायः।

ये पुरुषोंके वर्णोंको बतलानेवाले जो लक्षण कहे गये हैं, यदि
ये लक्षण किसी अन्य वर्णमें देखे जायें, तो उसका वर्ण उसके
लक्षणोंसे ही निर्दिष्ट किया जाना चाहिए॥३५॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके ग्यारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंके नियम

श्रीनारद उवाच—

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।

आचरन् दासवन्त्रीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखे, विनीत रहे, गुरुदेवके चरणोंमें दृढ़ श्रद्धा रखे और दासके समान गुरुके हितके लिए सभी कार्योंको करते हुए गुरुकुलमें वास करे ॥ १ ॥

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।

सन्ध्ये उभे च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहितः ॥ २ ॥

प्रातःकाल और सायंकाल मौन रहकर एकाग्र चित्तसे गायत्रीका जप करे। गुरु, अग्नि, सूर्य एवं भगवान् पुरुषोत्तम विष्णुकी उपासना करे ॥ २ ॥

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।

उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३ ॥

गुरुजीके बुलानेपर सावधानीपूर्वक गुरुके समीप जाये और उनसे नियमपूर्वक वेदका अध्ययन करे। प्रतिदिन अध्ययनके प्रारम्भ और अन्तमें सिर झुकाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करे ॥ ३ ॥

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।

बिभृयादुपवीतञ्च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४ ॥

शास्त्रोंके विधानानुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु और यज्ञोपवीत धारण करे ॥ ४ ॥

सायं प्रातश्चरेद्भैक्ष्यं गुरवे तन्निवेदयेत्।

भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित् ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी प्रातःकाल और सायंकाल भिक्षा माँगकर लाये और भिक्षासे प्राप्त समस्त वस्तुएँ गुरुदेवको समर्पण कर दे। जब वे आज्ञा दें, तभी भोजन करे, अन्यथा उपवास कर ले ॥५॥

सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्धधानो जितेन्द्रियः।

यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥६॥

वह सभीके प्रति भद्र और शील सम्पन्न हो, सीमित भोजन करे, आलस्यरहित होकर सभी कार्योंको दक्षतापूर्वक करे, गुरु-वचनोंपर पूर्ण विश्वास रखे, इन्द्रियोंको वशीभूत रखे और स्त्री एवं स्त्रियोंके वशीभूत रहनेवालोंके साथ जितनी आवश्यकता हो, उतना ही व्यवहार रखे ॥६॥

वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥७॥

जिस ब्रह्मचारीका घरसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे बृहद्व्रतधारी ब्रह्मचारी स्त्रियोंके साथ वार्त्तालाप न करे, क्योंकि बलवान् इन्द्रियाँ संयत-चित्तवाले बड़े-बड़े योगियोंके मनको भी विचलित कर देती हैं ॥७॥

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।

गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥८॥

युवक ब्रह्मचारी युवती गुरु-पत्नीसे केश सँवारना, शरीरमें तेल-मलवाना, गात्र-मर्दन, उबटन और स्नानादि कार्य न करवाये (चाहे वह यह सब कार्य वात्सल्य-भावसे क्यों न करे) ॥८॥

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।

सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥९॥

युवती स्त्री निश्चित ही आगके समान होती है और पुरुष घीके घड़ेके समान होता है। अतः एकान्तमें अपनी कन्याके साथ भी नहीं बैठना चाहिए। यदि एकान्त न हो, (अन्य समयमें भी) तब भी जितना प्रयोजन है, उतना ही उसके पास रहना चाहिए ॥९॥

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।

द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥ १० ॥

जबतक जीव आत्मसाक्षात्कारके द्वारा अपनी देह-इन्द्रियादिको आभास अर्थात् प्रतीतिमात्ररूपमें स्थिर करके उनसे मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसका द्वैतबोध (अर्थात् मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है) मिटता नहीं है। ऐसे पुरुष यदि स्त्रियोंके संसर्गमें रहेंगे, तो यह निश्चित है कि उनकी उन स्त्रियोंमें भोग्यबुद्धि हो ही जाएगी। द्वैतबोधके कारण पुरुषका बुद्धि-विपर्यय होता है और फलस्वरूप नरकादि दुःख भोग अनिवार्य होते हैं ॥ १० ॥

एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाप्नातं यतेरपि ।

गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥ ११ ॥

मैंने ब्रह्मचारियोंके जो संयमादि गुण बतलाये हैं, वे गृहस्थ एवं संन्यासियोंके लिए भी पालनीय हैं। गृहस्थके लिए गुरुकुलमें रहकर गुरुकी सेवा-परिचर्या वैकल्पिक है, क्योंकि ऋतुकालमें उसे गृहमें वास करना पड़ता है ॥ ११ ॥

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।

स्रग्गन्धलेपालङ्कारास्त्यजेयुर्ये बृहद्व्रताः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवालोंके लिए आँखोंमें अञ्जन या सुरमा लगाना, तेल मलना, शरीरकी मालिश करना, स्त्रीको देखना या उसका चित्र बनाना, मद्य सेवन करना, पुष्पहार धारण करना, इत्र-फुलेल लगाना, चन्दनादि अङ्गराग लगाना और आभूषण पहनना निषिद्ध है। उसे इन सबका त्याग कर देना चाहिए ॥ १२ ॥

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।

त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥ १३ ॥

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।

गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत् ॥ १४ ॥

द्विज पूर्वोक्त नियमोंके अनुसार गुरुकुलमें वास करते हुए षडङ्ग—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष, उपनिषद्

तथा वेदत्रयीका यथाशक्ति और अपने अधिकारके अनुसार अध्ययन करे, साथ ही चिन्तन-मनन करे। समर्थ हो तो गुरु-द्वारा माँगी हुई दक्षिणा दे। तत्पश्चात् उनकी अनुमति लेकर गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम अथवा संन्यासाश्रम स्वीकार करे अथवा ब्रह्मचारीके रूपमें गुरु-आश्रममें ही वास करे॥१३-१४॥

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम्।

भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत्॥१५॥

अतीन्द्रिय भगवान् विष्णु समस्त आश्रमोंमें अग्नि, गुरु, आत्मा और अपने आश्रित जीवोंके साथ सभी प्राणियोंमें नियन्तारूपमें विद्यमान हैं। वे एक ही समय सर्वत्र प्रविष्ट हैं भी और नहीं भी। मनुष्य मात्रको इस तत्त्वकी अनुभूति करनी चाहिए॥१५॥

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही।

चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति॥१६॥

इस प्रकारके आचरण (सर्वत्र भगवत्-सत्ताका अनुभव) करनेवाला ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ 'विज्ञेय तत्त्व' को जानकर विज्ञान सम्पन्न हो जाता है और परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है॥१६॥

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान् मुनिसम्मतान्।

यानास्थाय मुनिर्गच्छेदृषिलोकमुहाञ्जसा॥१७॥

हे राजन्! अब मैं ऋषियोंके मतानुसार वानप्रस्थ-आश्रमके नियम बतलाता हूँ, जिनका आचरण करनेसे वानप्रस्थ-आश्रमी अनायास ही महर्लोकको प्राप्त कर लेते हैं॥१७॥

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टज्वाप्यकालतः।

अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत्॥१८॥

वानप्रस्थ-आश्रमी जोती हुई भूमि अथवा बिना जोती हुई भूमिसे उत्पन्न पके अथवा असमयमें पके अन्नको तथा अग्निमें पकाये हुए या कच्चे अन्नको न खाये। उसे केवल सूर्यकी किरणोंसे पके हुए ऋतु फलोंका ही सेवन करना चाहिए॥१८॥

वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान्।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणञ्च परित्यजेत्॥१९॥

वह वनमें समयानुसार स्वयं उत्पन्न धान्योंसे चरु और पुरोडाश (पिष्टक) का नित्यकाल हवन करे। जब नये-नये फल, अन्नादि उपलब्ध होने लगें, तो अन्नके पुराने संग्रहका त्याग कर दे॥१९॥

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम्॥२०॥

वानप्रस्थ आश्रमीका कर्तव्य है कि पवित्र अग्निहोत्रादि अग्निके लिए ही घर, पर्णकुटी अथवा पर्वतकी कन्दराका आश्रय ले। किन्तु स्वयं हिम, वायु, अग्नि, वर्षा और सूर्यके रौद्र तापको सहन करे॥२०॥

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत्।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान्॥२१॥

वह जटाओंको धारण करे, केश, रोम, दाढ़ी एवं मूँछको न कटवाये, शरीरका मैल साफ न करे, कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड और वल्कल वस्त्र धारण करे और अग्नि वर्णके (गेरुए) वस्त्रोंका प्रयोग करे॥२१॥

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः॥२२॥

वानप्रस्थी मननशील होकर बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष अथवा एक वर्ष तक वानप्रस्थके नियमोंका पालन करे। उसे इस प्रकारका आचरण करना चाहिए कि अधिक कष्टसाध्य तपस्यासे उसकी बुद्धि नष्ट न हो जाय॥२२॥

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम्॥२३॥

जब वह रोग अथवा बुढ़ापेके कारण अपने कार्योंको सम्पन्न न कर सके अथवा वेदाध्ययनमें असमर्थ हो जाय, तब उसे अनशनादि व्रत करने चाहिए (जिससे उसका शरीर छूट जाय)॥२३॥

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम्।

कारणेषु न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः॥ २४॥

अनशन व्रत लेनेके साथ ही अपनी आह्वनीय अग्निको आत्मामें लीन कर ले (भलीभाँति स्थापित कर ले)। देहादिमें अहन्ता-ममताका परित्याग करके अपने शरीरको आकाशादि पाँच तत्त्वोंमें विलीन कर दे॥२४॥

खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजसूष्माणमात्मवान्।

अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम्॥ २५॥

धीमान, गम्भीर एवं जितेन्द्रिय व्यक्तिको चाहिए कि शरीरके जिस अङ्गकी जहाँसे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें ही लीन कर दे। देहगत छिद्रोंको आकाशमें, प्राणोंको वायुमें, ऊष्माको अग्निमें, वीर्य, रक्त एवं कफ, पीव आदिको जलमें और अन्तमें हड्डी आदि कठोर वस्तुओंको पृथ्वीमें लीन कर दे॥२५॥

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि।

पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ॥ २६॥

मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत्।

दिक्षु श्रोत्रं स नादेन स्पर्शनाध्यात्मनि त्वचम्॥ २७॥

रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्।

अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत्॥ २८॥

तत्पश्चात् वाक्-इन्द्रियको वाणीके साथ अग्निमें, शिल्प नैपुण्य एवं दोनों हाथोंको इन्द्रमें, चरणों और गतिको विष्णुमें, रति एवं उपस्थको प्रजापतिमें, पायु और मलोत्सर्गको उसके वास्तविक स्थान मृत्युमें विन्यस्त कर दे। शब्दके साथ श्रोत्रेन्द्रियको दिशाओंमें, स्पर्शके साथ त्वक्-इन्द्रियको वायुमें, रूपके साथ नेत्रेन्द्रियको ज्योतिमें, रसके साथ रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को जल (वरुण) में एवं दोनों अश्विनी कुमारों सहित घ्राणशक्तिको पृथ्वीमें अर्पित कर दे। इस प्रकारसे स्थूल-शरीर अथवा लिङ्ग शरीरका लय करना चाहिए॥२६-२८॥

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे।
 कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया।
 सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे॥२९॥
 अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम्।
 कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत्॥३०॥

मनोरथोंके साथ मनको चन्द्रमामें, बोध्य (बुद्धि अथवा समझमें आनेवाले) पदार्थोंको (विषयोंको) बुद्धिके साथ ब्रह्मामें, अहंता-ममतारूपी क्रियाओंके निर्वाहक अहङ्कारको उसके कर्मोंके (भौतिक क्रियाकलापोंके) साथ रुद्रमें लीन कर दे। चेतनाके साथ चित्तको क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) में और गुणाभिमानी (प्रकृतिके अधीन रहकर कर्म करनेवाले) देवताओंके साथ विकार-प्राप्त जीवको निर्विकार परब्रह्ममें, पृथ्वीको जलमें, जलको तेज या ज्योतिमें, तेजको वायुमें, वायुको आकाशमें और आकाशको देहात्म-बुद्धिमय कूटस्थ अहङ्कारमें और अहं तत्त्वको महत् तत्त्वमें, महत् तत्त्वको प्रधानमें और प्रधान (अव्यक्त प्रकृति) को परमात्मामें लीन कर दे॥२९-३०॥

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।
 ज्ञात्वाऽद्वयोऽथ विरमेद्गन्धयोनिरिवानलः॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे श्रियुधिष्ठिरनारदसंवादे आश्रमधर्मो
 नाम द्वादशोऽध्यायः।

इस प्रकार जब समस्त उपाधियोंका लय हो जाय, तब अवशिष्ट चिन्मात्र क्षेत्रज्ञ आत्माको अक्षर स्वरूपमें भलीभाँति जानकर अद्वितीय भावमें स्थित हो जाय। तत्पश्चात् उसी प्रकार उपरत हो जाय, जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रय काष्ठादिके भस्म होनेपर शान्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाती है॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके बारहवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

यतिधर्मका निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद संवाद

श्रीनारद उवाच—

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः।

ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! यदि वानप्रस्थ-आश्रमीमें ब्रह्म ज्ञानके अनुशीलनकी सामर्थ्य है तो उसे भी इसी प्रकार मात्र शरीर धारणकर सब कुछ परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए और समस्त विषयोंकी अभिलाषाओंको छोड़कर एक गाँवमें एक ही रात्रि ठहरनेका नियम लेकर पृथ्वीपर एकाकी विचरण करना चाहिए ॥१॥

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम्।

त्यक्तं न लिङ्गादण्डादेरन्यत् किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥

संन्यास-आश्रमीको शरीर ढकनेके लिए भी वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। यदि वह वस्त्र पहने भी, तो केवल कौपीन मात्र ही जिससे उसके गुप्त अङ्ग ढक जाएँ। जबतक आपत्तिकाल न आये तबतक दण्डादि परिव्राजक-चिह्नोंके अतिरिक्त अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण न करे। (आपत्तिकालमें वह देह-रक्षाके लिए परित्यक्त वस्तु कम्बल, औषध और शय्यादिको ग्रहण कर सकता है।) ॥२॥

एक एव चरेद्विभक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥

संन्यासी भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करे, अपनी आत्मामें ही रमण करे, समस्त जीवोंका हितैषी हो, सदैव शान्त तथा भगवत्-परायण रहे और किसी व्यक्ति अथवा स्थानका आश्रय लिये बिना एकाकी विचरण करे ॥३॥

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानञ्च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥४॥

(संन्यासीको चाहिए कि) वह इस विश्वको कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चातीत अव्यय परमात्मामें देखे और परब्रह्म स्वरूप आत्माको इस कार्यकारणस्वरूप जगत्में सर्वत्र व्याप्त देखे ॥४॥

सुप्तिप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन् बन्धञ्च मोक्षञ्च मायामात्रं न वस्तुतः ॥५॥

सुषुप्ति और जागरण-काल इन दोनोंके सन्धि-समयमें संन्यासी आत्मामें स्थित रहकर अपने स्वरूपका अनुभव करे। बन्धन और मोक्ष—दोनों ही केवलमात्र माया और अवास्तविक हैं, ऐसा समझकर सर्वत्र परब्रह्मका दर्शन करे ॥५॥

नाभिनन्देद्भुवं मृत्युमध्वं वास्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥६॥

यति-साधक देहकी मृत्युको निश्चित और जीवनको अनिश्चित जानकर मृत्यु एवं जीवनका अभिनन्दन न करे। वह उस नित्य कालकी प्रतीक्षा करे, जो प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशका कारण है ॥६॥

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कञ्च न संश्रयेत् ॥७॥

अनात्म वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें आसक्त न हो, शास्त्रोंको अपनी जीविकाका साधन न बनाये, केवल वाद-विवादके लिए तर्क न करे और न ही किसी कारणवश किसीके पक्षका आश्रय करे ॥७॥

न शिष्याननुबन्धीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥८॥

प्रलोभनवश बहुत शिष्योंका संग्रह न करे, बहुतसे शास्त्रोंका अभ्यास न करे, जीविकोपार्जनके लिए शास्त्रोंकी व्याख्या न करे और बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करे ॥८॥

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।

शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्॥९॥

महात्मा, शान्त और समदर्शी संन्यासीका आश्रमाचार प्रायः धर्मके लिए नहीं होता, अतः वह संन्यास धर्मके चिन्ह त्रिदण्ड, कमण्डलुको अपनी इच्छानुसार धारण कर सकता है और चाहे तो छोड़ सकता है॥९॥

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।

कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥१०॥

बाहरसे उसका कोई आश्रम-चिह्न न दिखायी दे परन्तु आत्मानुसन्धानमें मग्न हो। बहुत बड़ा विद्वान् होनेपर भी मानव-समाजमें उसे उन्मत्त अथवा बालकके समान रहना चाहिए और बहुत बड़ा वक्ता होनेपर भी साधारण मनुष्योंके समक्ष स्वयंको ऐसे प्रदर्शित करना चाहिए मानो गूँगा हो॥१०॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥११॥

धर्मराज! पण्डित लोग इस विषयमें एक पुरातन इतिहासका दृष्टान्तरूपमें वर्णन करते हैं जो प्रह्लाद एवं अजगर-वृत्तिधारी दत्तात्रेय मुनिका वार्त्तालाप है॥११॥

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्या सह्यसानुनि।

रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥१२॥

ददर्श लोकान् विचरन् लोकतत्त्वविवित्सया।

वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः॥१३॥

एक समय भगवत्-प्रिय प्रह्लाद महाराज लोगोंके हृदयकी बात जाननेकी इच्छासे अपने मंत्रियोंके साथ समस्त लोकोंमें विचरण कर रहे थे। जब वे कावेरी नदीके तटपर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने देखा कि सह्य नामक पर्वतकी तलहटीपर एक मुनि पृथ्वीपर लेटे हुए हैं, उनका सारा शरीर धूल-धूसरित है, जिसके कारण उनका विमल तेज आच्छादित हो रहा है॥१२-१३॥

कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ।

न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च ॥ १४ ॥

उनके कर्म, आकृति, वाणी एवं वर्णाश्रमादिके चिह्नोंसे साधारण लोग उनके विषयमें कुछ जान नहीं सकते थे ॥ १४ ॥

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन् ।

विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५ ॥

महाभागवत प्रह्लादने अजगर वृत्ति धारण करनेवाले मुनिकी यथाविधि पूजा-अर्चना की और सिर झुकाकर उनके चरणोंका स्पर्श किया। तत्पश्चात् तत्त्व-ज्ञानकी इच्छासे वे मुनिसे इस प्रकार जिज्ञासा करने लगे ॥ १५ ॥

विभर्षि कार्यं पीवानं सोद्यमो भोगवान् यथा ॥ १६ ॥

वित्तञ्चेहोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह ।

भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

हे देव ! उद्यमशील और भोगपरायण व्यक्तिकी भाँति आपका शरीर स्थूल है। इस संसारमें ऐसा नियम है कि जो व्यक्ति उद्यम करता है, उसीके पास धन होता है, धनवानोंको भोग प्राप्त होते हैं और भोगी व्यक्तियोंको आपके समान इस प्रकारकी स्थूल और हृष्ट-पुष्ट देह प्राप्त होती है ॥ १६-१७ ॥

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य

ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः ।

अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः

पीवा यतस्तद्वद नः क्षमञ्चेत् ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप कोई उद्यम तो करते नहीं, यों ही पड़े रहते हैं। भोग करनेका जो साधन है, वह अर्थ आपके पास है नहीं। हे विप्र देवता ! बिना भोगोंके ही आपका यह शरीर स्थूल हो रहा है। यदि हमारी सुननेकी योग्यता है, तो हमें अवश्य बतलाइए और यदि धृष्टता की है, तो क्षमा कर दीजिए ॥ १८ ॥

कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः।

लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥१९॥

आप विद्वान्, दक्ष और चतुर हैं। आप बड़ी अद्भुत, प्रिय लगनेवाली और लोगोंको लुभानेवाली बातें कर सकते हैं। हमें बतलाइये कि कर्मोंमें आसक्त लोगोंको देखकर भी आप निरुद्यमीके समान किसलिए पड़े रहते हैं ॥१९॥

श्रीनारद उवाच—

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।

स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥ २० ॥

देवर्षि नारदने कहा—जब प्रह्लादजीने इस प्रकार पूछा, तब उनकी अमृतमयी वाणीके वशीभूत होकर महामुनि मन्द-मन्द मुसकराये और प्रह्लाद महाराजसे कहने लगे— ॥२०॥

श्रीब्राह्मण उवाच—

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः।

ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥ २१ ॥

मुनि दत्तात्रेयने कहा—हे असुरश्रेष्ठ! ज्ञानीजन आपका बहुत सम्मान करते हैं। आप मनुष्योंके चरित्रको अपनी अन्तर्दृष्टिसे देख सकते हैं और मानवोंकी कर्मोंमें प्रवृत्ति एवं निवृत्तिको भी आप भलीभाँति जानते हैं ॥२१॥

यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा।

भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥ २२ ॥

आपकी ऐकान्तिक भक्तिके कारण भगवान् नारायण आपके हृदयमें ही सदा विराजमान रहते हैं तथा सूर्यके समान सर्वदा आपके अज्ञान-अन्धकारका नाश करते हैं ॥२२॥

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम्।

सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ २३ ॥

हे राजन्! तो भी जैसा मैंने सुना है, उसीके अनुसार आपके प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। आप आत्मशुद्धिके अभिलाषी तथा तत्त्व श्रवणके योग्य हैं, इसलिए मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर अवश्य दूँगा ॥२३॥

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूर्यया।

कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥ २४ ॥

हे महाराज प्रह्लाद! तृष्णा ही जन्म-मृत्यु रूपी संसारचक्रका मूल कारण है। इच्छानुसार समस्त भोगोंका उपभोग करनेपर भी यह अपूर्ण ही रहती है। इस तृष्णाने मुझसे अनेक कर्म करवाये और इसीके कारण मैं पहले भी नाना-योनियोंमें भटका हूँ ॥२४॥

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।

स्वर्गापवर्गयोद्धारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥ २५ ॥

कर्मोंके कारण अनेक योनियोंको भोगते हुए दैववश मुझे अब यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है, जो स्वर्ग, मोक्ष, पशु-पक्षी एवं पुनः मनुष्य योनिका द्वार-स्वरूप है ॥२५॥

तत्रापि दम्पतीनाञ्च सुखायान्यापनुत्तये।

कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

इस मनुष्य-जन्ममें भी स्त्री-पुरुष अपनी सुख-प्राप्ति और दुःखोंकी निवृत्तिके लिए बहुतसे कर्म करते हैं किन्तु उनका परिणाम विपरीत ही होता है और वे अधिक दुःखोंसे घिर जाते हैं। यह देखकर मैं कर्मोंसे उपरत हो गया हूँ ॥२६॥

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।

मनःसंस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन् ॥ २७ ॥

आत्माका वास्तविक स्वरूप है—सुख। इस सुखका प्रकाश तभी होता है, जब समस्त क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है। समस्त भोग मनके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं—अतः वे मनोराज्य मात्र हैं। इसलिए मैं उनकी प्राप्तिके लिए उद्यमशील न होकर निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ ॥२७॥

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥ २८ ॥

मनुष्य अपने-आपमें विद्यमान आत्म-पुरुषार्थरूपी सुखको भूलकर द्वैतमें अभिनिविष्ट होकर अर्थात् दुःखरूपी अनित्य देहादिको सत्य मानकर इस भयङ्कर और विचित्र जन्म-मृत्युरूपी संसार-चक्रको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

जलं तदुद्भवैश्छत्रं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।
मृगतृष्णामुपाधावेत् तथान्यत्रार्थदृक् स्वतः ॥ २९ ॥

आत्म-स्वरूपसे भिन्न अन्यत्र अर्थात् अपने भीतर विद्यमान सुखको न देखकर अन्य मायिक वस्तुओंमें सुख (पुरुषार्थ) देखनेवाला जीव उन मिथ्या वस्तुओंकी ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार अज्ञानी हिरन जल पीनेकी अभिलाषासे जलमें उत्पन्न तिनके और सेवारसे ढके जलको सत्य न मानकर मरीचिकाकी ओर दौड़ता है। (मरीचिका का अर्थ है—गरमीके दिनोंमें बहुत तेज धूपके समय वातावरणकी विशिष्ट स्थितियोंके कारण दिखाई देनेवाले कुछ भ्रामक दृश्य। प्रायः ऐसे भ्रामक दृश्य देखकर यात्री या पशु उन तक पहुँचानेके लिये बहुत दूर तक चले जाते हैं पर अन्तमें उन्हें थककर निराश ही होना पड़ता है) ॥२९॥

देहादिभिर्देवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः।

दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः ॥ ३० ॥

शरीर तो दैवाधीन है। इस देहसे जो अपने लिए सुख पाना चाहता है और दुःखोंको दूर करना चाहता है, वह कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता। उस निरीश्वरवादीके समस्त पुरुषार्थ उसे न तो सुख प्रदान करते हैं और न ही उसके दुःखोंको मिटाते हैं ॥३०॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।

मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥ ३१ ॥

मनुष्य सदा ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रितापोंसे घिरा रहता है। मरणशील तो है ही। यदि वह अति श्रम एवं कष्टसाध्य दुःखोंको झेलकर कुछ धन और भोग प्राप्त कर भी ले, तो क्या लाभ है? उससे कितना सुख प्राप्त हो सकता है? ॥३१॥

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥ ३२ ॥

लोभी एवं इन्द्रियोंके वशीभूत रहनेवाले धनवानोंके क्लेशोंको तो मैं देखता ही रहता हूँ, धन अपहरणादिके भयसे उन्हें नींद नहीं आती और पिता, पुत्रादि सभीपर सन्देह बना रहता है ॥३२॥

राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात् पशुपक्षितः।

अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥ ३३ ॥

बलवान एवं अर्थवान लोगोंको राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु, पक्षी, याचक, काल और अपने आपसे भी सदा भय बना रहता है ॥३३॥

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।

यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः ॥ ३४ ॥

विवेकी मनुष्योंको चाहिए कि वह शारीरिक बल और धनकी स्पृहाका त्याग कर दें, क्योंकि इससे शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, दैन्य और श्रमादिकी ही प्राप्ति होती है ॥३४॥

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरुत्तमौ।

वैराग्यं परितोषञ्च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥ ३५ ॥

इस लोकमें जिनके स्वभावकी चर्चा करके मुझे वैराग्य एवं सन्तोषकी प्राप्ति होती है, वे मधुमक्खी और अजगर मेरे सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं ॥३५॥

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात्।

कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत् पतिम् ॥ ३६ ॥

मधुमक्खीसे मैंने सभी विषयोंसे विरक्त रहनेकी शिक्षा ग्रहण की, क्योंकि जिस प्रकार मधुमक्खी बहुत कष्टसे मधु-संग्रह करती है, पर बहेलिया उस मधुको ले जाता है, उसी प्रकार मनुष्य बड़े कष्टसे धन-संग्रह करते हैं, परन्तु कोई दूसरा उस धनके स्वामीका वध करके सारा धन हर ले जाता है॥३६॥

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।

नो चेच्छये बद्धहानि महाहिरिव सत्त्ववान्॥३७॥

अजगरसे शिक्षा प्राप्त करके मैं निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ। दैववश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ, कुछ न मिलनेपर अजगरके समान बहुत दिनों तक धैर्य धारण किये रहता हूँ॥३७॥

क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा।

क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।

श्रद्धयोपहतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।

भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्विवानक्तं यदृच्छया॥३८॥

कभी कम, कभी अधिक, कभी सुस्वादु, कभी रसहीन, कभी सुगन्धादि बहुतसे गुणोंसे युक्त और कभी गुणहीन, कभी श्रद्धापूर्वक दिया हुआ और कभी उपेक्षापूर्वक दिये हुए भोजनको खा लेता हूँ, कभी दिनमें खा लेता हूँ तो कभी रातमें खाता हूँ। दैववश जैसा भी मिल जाय, उसीमें निर्वाह कर लेता हूँ॥३८॥

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा।

वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्॥३९॥

मैं अपने प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ। रेशमी या सूती, मृगचर्म, कौपीन, वल्कल अथवा भाग्यवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसीसे शरीर ढक लेता हूँ॥३९॥

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।

क्वचित् प्रासादपर्यङ्गे कशिपौ वा परेच्छया॥४०॥

कभी मैं धरतीकी गोदमें सो जाता हूँ, तो कभी घास, पत्ते, पत्थर या राखके ढेर पर पड़ा रहता हूँ और कभी दूसरोंकी इच्छासे महलोंमें पलङ्गोंपर और उत्तम गद्दोंपर सो जाता हूँ॥४०॥

क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः।

रथेभाश्वैश्वरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो॥४१॥

हे दैत्यराज प्रह्लाद! कभी स्नानादि करके शरीरमें चन्दनका लेप लगाकर तथा मनोहर वस्त्र, फूलोंकी माला और आभूषण धारणकर हाथी या घोड़ेपर सवार होकर विचरण करता हूँ, तो कभी भूत-प्रेत और पिशाचोंके समान नंग-धड़ंग घूमता हूँ॥४१॥

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।

एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि॥४२॥

व्यक्तियोंके स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः मैं किसीकी निन्दा अथवा प्रशंसा नहीं करता। मैं तो बस यही प्रार्थना करता हूँ कि सबका कल्याण हो और महात्मा भगवान् विष्णुके साथ सबका ऐकात्म्य हो॥४२॥

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे।

मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु॥४३॥

सत्यका अनुसन्धान करनेवालोंको नाना प्रकारके पदार्थ और मनःकल्पित भेदोंका मनोवृत्तिमें ऐक्य कर लेना चाहिए क्योंकि मनसे ही इन भेदोंकी प्रवृत्ति होती है। इस मनोवृत्तिकी सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनमें आहुति कर देनी चाहिए। इसके पश्चात् इस मनका अहङ्कारमें, अहङ्कारको महत् तत्त्वमें और महत् तत्त्वको मायामें हवन या विलीन कर देना चाहिए॥४३॥

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः।

ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः॥४४॥

सारे भेद-विभेद और प्रभेदोंका कारण माया ही है—ऐसा विचार करके मननशील व्यक्तिको इस मायाको स्वप्रकाश-स्वरूप

ब्रह्ममें विलीन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् सत्यका साक्षात्कार करनेवाले व्यक्तिको आत्मसाक्षात्कारके द्वारा आत्मस्वरूपमें स्थित होकर निष्क्रिय एवं सभी कार्योंसे उपरत हो जाना चाहिए॥४४॥

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्।

व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः॥४५॥

प्रह्लाद! मेरा यह आत्म-वृत्तान्त अति गोपनीय है, किन्तु आप भगवान्‌के अतिशय प्रिय एवं लोक और शास्त्र-मर्यादाओंसे परे हैं। इसलिए मैंने अपने आत्म-साक्षात्कारकी बात आपको बतला दी॥४५॥

श्रीनारद उवाच—

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः।

पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम्॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे यतिधर्मस्त्रयोदशोऽध्यायः।

देवर्षि नारदने कहा—धर्मराज! असुरेश्वर प्रह्लादने दत्तात्रेय मुनिसे इस प्रकार पारमहंस्य धर्मकी कथा सुनकर उनकी वन्दना की और उनसे अनुमति लेकर प्रसन्न मनसे अपने भवनकी ओर चल दिये॥४६॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके तेरहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

गृहस्थ-सम्बन्धी सदाचार

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा।

यायाद्देवत्रष्टे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर महाराजने कहा—हे देवर्षि नारद! मेरे-जैसे गृहासक्त व्यक्तिको जिस विधिसे सहजरूपमें ही यह मोक्ष पदवी प्राप्त हो सकती है, आप कृपा करके मुझे वह विधि बतलाइए ॥ १ ॥

श्रीनारद उवाच—

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् यथोचिता।

वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥

देवर्षि नारदने कहा—हे राजन्! मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहकर प्रतिदिन गृहस्थ आश्रमके अनुसार सभी कार्य करे, किन्तु उन्हें निष्काम भावसे भगवान्‌को समर्पण कर दे और सन्त-महात्माओंकी सेवा करे ॥ २ ॥

शृण्वन् भगवतोऽभीक्षणमवतारकथामृतम्।

श्रद्धधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३ ॥

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।

विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४ ॥

प्रतिदिन अवकाश-कालमें भगवद्-भक्तोंका सङ्ग करे और भगवान्‌की अमृतस्वरूप अवतार-कथाओंको श्रद्धापूर्वक श्रवण करते-करते इस नाशवान् शरीर एवं स्त्री, पुत्र आदिके सङ्गको उसी प्रकार छोड़ता चले, जिस प्रकार जागनेपर मनुष्य स्वप्नसे आसक्ति छोड़ देता है ॥ ३-४ ॥

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥५॥

बुद्धिमान् पुरुष जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यकतानुसार ही संग्रह करे, अधिक नहीं। हृदयसे देह और गेहसे विरक्त रहे तथा बाहरसे आसक्तके समान लोगोंसे साधारण मनुष्यों जैसा ही व्यवहार करे॥५॥

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥६॥

भाई-बन्धु, माता-पिता, पुत्र-मित्र, सुहृद्, ज्ञाति-सम्बन्धी और अन्यान्य व्यक्ति जो कुछ कहें अथवा इच्छा करें, मनमें उनसे ममता-आसक्ति न रखकर उनका अनुमोदन करता रहे॥६॥

दिव्यं भौमज्वान्तरीक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥७॥

वर्षा आदिसे उत्पन्न धान्यादि, भूमिसे प्राप्त स्वर्णादि, अकस्मात् प्राप्त धनादि तथा आशासे परे जो कुछ भी उपलब्ध हो, वह सब भगवान्का ही दिया हुआ है—बुद्धिमान् गृहस्थ ऐसा समझकर प्रारब्धके अनुसार उनको स्वीकार करके केवल प्राण-धारणके लिए ही सञ्चय करे, बाकी वस्तुएँ पूर्वोक्त साधुसेवा आदि कार्योंमें लगा दे॥७॥

यावदश्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥८॥

जितने धनसे उदर-पूर्ति हो जाय, उतने धनपर ही देहधारियोंका अधिकार है। इससे अधिक आकाङ्क्षा करके जो उसका स्वामी बनना चाहता है, वह चोर है और दण्डके योग्य है॥८॥

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृष्वगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥९॥

हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्रके समान समझना चाहिए, क्योंकि इनमें और पुत्रादिमें अन्तर ही कितना है॥९॥

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्वैवोपपादितम् ॥ १० ॥

गृहस्थ व्यक्तिको धर्म-अर्थ-काम और मोक्षके लिए कष्टसाध्य प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु कम परिश्रमसे देश, कालके अनुसार और भगवत्-कृपासे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें जीवनका निर्वाह करते हुए सन्तुष्ट रहना चाहिए ॥ १० ॥

आश्वाधान्तेऽवसायिभ्यः कामान् संविभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥ ११ ॥

अपनी भोग्य वस्तुओंको कुत्ते, पतित और चण्डाल व्यक्तियोंमें यथायोग्य बाँट देना चाहिए। अपनी स्त्रीको भी जिससे मनुष्य अत्यधिक ममता रखता है, अपनी सेवामें न लगाकर अतिथिकी निर्दोष सेवामें नियुक्त कर देना चाहिए ॥ ११ ॥

जह्याद्यदर्थे स्वान् प्राणान् हन्याद्वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः ॥ १२ ॥

जिस स्त्रीके लिए मनुष्य अपने प्राणोंका त्याग कर डालते हैं और जिसके कारण अपने पिता और गुरुकी भी हत्या कर देते हैं, उस स्त्रीके प्रति जिसने ममत्वका (स्वत्वका) परित्याग कर दिया, उसने स्वयं भगवान्को ही जीत लिया ॥ १२ ॥

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥ १३ ॥

यह शरीर अन्तमें कीड़ा, विष्ठा या राखकी ढेरीमें बदल जायेगा, कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और जिसके कारण स्त्रीके प्रति अत्यधिक आसक्ति होती है, कहाँ उसका शरीर और कहाँ अपनी महिमा द्वारा सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली अनन्त आत्मा! ॥ १३ ॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥ १४ ॥

जो बुद्धिमान् गृहस्थ दैववश प्राप्त और पञ्च यज्ञादिसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा अपनी जीविकाका निर्वाह करता है और इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओंमें 'स्वत्व' का त्याग कर देता है, वह महात्माकी पदवीको प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

देवानृषीन् नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम्।

स्ववृत्त्या गतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥१५॥

गृहस्थको चाहिए कि वह अपनी वर्णाश्रमोचित वृत्तिसे उपार्जित धन द्वारा प्रतिदिन पृथक्-पृथक् रूपसे देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत, पितर तथा अपनी आत्माको सन्तुष्ट करे। यह सबके हृदयमें व्याप्त सर्वान्तर्यामी परमात्माकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें आराधना है ॥१५॥

यद्वात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।

वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥१६॥

जिस समय गृहस्थ व्यक्तिको अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त अर्थादिसे यज्ञ सामग्री उपलब्ध हो जाय, उस समय उसे वैतानिक (प्रामाणिक शास्त्रोंकी) विधिके अनुसार परमपुरुषकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे अग्निहोत्रादि यज्ञ करने चाहिए ॥१६॥

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।

इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥१७॥

हे राजन्! समस्त यज्ञोंके भोक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणके मुखमें हविष्यान्न (घी एवं अन्नसे बने व्यञ्जन) अर्पण करनेसे जिस प्रकार तृप्त होते हैं, उतनी तृप्ति उन्हें यज्ञाग्निके मुखमें डाली गयी घी आदिकी आहुतियोंको प्राप्त करके नहीं होती ॥१७॥

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।

तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥१८॥

अतः सर्वप्रथम ब्राह्मणों एवं देवताओंको भलीभाँति सन्तुष्ट करे। उनके सन्तोषके बाद सभी प्राणियोंको भोजनादि उपयुक्त सामग्रियाँ प्रदान करके सबके हृदयमें विराजमान क्षेत्रज्ञ भगवान्का अर्चन करे ॥१८॥

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।

श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनाञ्च वित्तवान्॥१९॥

यदि ब्राह्मणके पास धन हो, तो उसे अपने धनके अनुसार भाद्र मासके कृष्णपक्षमें माता-पिताका और आश्विन मासके महालय पर्व (आश्विन मास के कृष्ण-पक्षकी अमावस्या-वैदिक चान्द्र वर्षका अन्तिम दिन) पर माता-पिताके बन्धुओंके उद्देश्यसे श्राद्ध करना चाहिए॥१९॥

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये।

चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां श्रवणेषु च॥२०॥

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके।

चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा॥२१॥

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे।

राकया चानुमत्या व मासक्षाणि युतान्यपि॥२२॥

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिष्ठ उत्तराः।

तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रौणयोगयुक्॥२३॥

इसके अतिरिक्त दोनों अयनों (उत्तरायण एवं दक्षिणायन अर्थात् मकर संक्रान्ति और कर्कट संक्रान्ति), दोनों विषुव (तुला एवं मेषकी संक्रान्ति, वे दोनों दिन जिनमें दिन एवं रात समान रहते हैं), व्यतीपात (सूर्य-चन्द्र योगकी सत्रहवीं कोटि), दिनक्षय (त्र्यहस्पर्श—तीन तिथियोंके थोड़े-थोड़े अंश द्वारा स्पर्श हुआ दिन), चन्द्र ग्रहण या सूर्य ग्रहण, द्वादशीके दिन और श्रवणा, अनुराधा, उत्तर-फाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तर भाद्र नक्षत्रमें, अक्षय-तृतीया, कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षयनवमी), हेमन्त एवं शिशिर ऋतुकी चारों अष्टिका, अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन—इन चारों महीनोंकी कृष्णाष्टमी, माघमासकी शुक्लपक्षीय सप्तमी और मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा, प्रत्येक महीनेकी वह पूर्णिमा जो अपने महीनेके नामके नक्षत्र—चित्रा, विशाखा ज्येष्ठा आदिसे युक्त हों, द्वादशी तिथिसे युक्त अनुराधा, श्रवणा, उत्तरफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तर भाद्रपद

नक्षत्र, उत्तरा नक्षत्रोंसे युक्त एकादशी, (उपवासके अयोग्य होनेपर) तथा अपने जन्म नक्षत्र अथवा श्रवणा-नक्षत्र योगके दिन पितरोंका श्राद्ध करना चाहिए॥२०-२३॥

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्द्धनाः।

कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः॥ २४॥

पूर्वोक्त सभी योग केवल श्राद्धके लिए ही नहीं, अपितु मनुष्योंके सभी धर्मानुष्ठानोंके लिए उपयोगी, मङ्गल-साधक तथा शुभ-वर्द्धक हैं। इन सभी काल-योगोंमें सम्पूर्ण प्रयत्नके साथ मङ्गल-कार्य करने चाहिए। इसीमें जीवनकी सफलता है॥२४॥

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्।

पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्वत्तं तद्धयनश्वरम्॥ २५॥

इन मङ्गलकारी योगोंमें किया गया स्नान, जप, होम, व्रत, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा एवं पितर, देवता, मनुष्य और अन्यान्य प्राणियोंको जो कुछ समर्पण किया जाता है, उसका फल अनश्वर एवं अक्षय होता है॥२५॥

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा।

प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप॥ २६॥

हे राजन्! इसी प्रकारसे पत्नीके पुंसवनादि संस्कार, सन्तानके जातकर्मादि संस्कार, स्वयंकी यज्ञ दीक्षादि, अन्त्येष्टि संस्कार तथा माता-पिताके सांवत्सरिक (वार्षिक) श्राद्ध एवं अन्यान्य माङ्गलिक कर्मोंके अवसरपर दान आदि शुभ कार्य सम्पन्न करने चाहिए॥२६॥

अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय-आवहान्।

स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते॥ २७॥

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।

यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपो-विद्या-दयान्वितम्॥ २८॥

अब मैं उन स्थानोंके विषयमें बतला रहा हूँ, जो धर्मादि श्रेयोंकी वृद्धि करानेवाले हैं। युधिष्ठिर! सर्वाधिक पवित्र देश

वह है, जहाँ वैष्णव निवास करते हों, चर और अचर जगत् जिनमें स्थित है, उन भगवान्की प्रतिमा (अर्चाविग्रह) जहाँ-जहाँ स्थापित हों, वे सभी पुण्यतम देश हैं, और जहाँ तप, विद्या एवं दयादिसे युक्त ब्राह्मण-वंश वास करते हों, वे सभी स्थान परम कल्याणकारी हैं ॥२७-२८॥

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।

यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥२९॥

जिस स्थानपर भगवान्के अर्चाविग्रहकी पूजा होती है और जहाँ पुराण प्रसिद्ध गङ्गादि नदियाँ हैं, वे देश सभी प्रकारके मङ्गलोंके आश्रय हैं ॥२९॥

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।

कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥३०॥

नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली।

वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ॥३१॥

नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।

सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः ॥३२॥

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।

एतान् देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्षणशः।

धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥३३॥

पुष्कर आदि सरोवर, उत्तम साधुओं द्वारा सेवित क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम (शालग्राम क्षेत्र), नैमिषारण्य, फाल्गुन नदी, सेतुबन्ध, प्रभास, कुशस्थली (द्वारका), वाराणसी, मथुरा, पम्पासरोवर, बिन्दु-सरोवर, नारायणश्रम (बदरिकाश्रम), अलकनन्दा नदी, भगवान् श्रीराम और सीताके आश्रम—अयोध्या, चित्रकूटादि, महेन्द्र पर्वत, मलयादि सभी कुल-पर्वत और जहाँ-जहाँ भगवान् श्रीहरिके अर्चाविग्रह अधिष्ठित हैं—हे राजन्! अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्तियोंको बार-बार इन पवित्र स्थानोंका सेवन करना चाहिए।

मनुष्य इन स्थानोंपर जो पुण्य कर्म करता है, उसका उसे सहस्र गुना अधिक फल प्राप्त होता है ॥३०-३३॥

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।

हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥३४॥

हे पृथ्वीनाथ! श्रेष्ठपात्रके गुणोंको जाननेवाले विवेकीजनोंने एकमात्र श्रीहरिको ही सत्पात्र बतलाया है, क्योंकि वे ही चराचर जगत्के एकमात्र आधार हैं ॥३४॥

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।

राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥३५॥

हे राजन्! तुम्हारे राजसूय-यज्ञमें अग्रपूजाके प्रसङ्ग-पर देवताओं, ऋषियों, तपस्वियों एवं सिद्धजनोंके उपस्थित रहनेपर भी सर्वसम्मतिसे श्रीकृष्णको ही एकमात्र सत्पात्र निर्धारित किया गया था ॥३५॥

जीवराशिभिराकीर्ण अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।

तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥३६॥

असंख्य जीवोंसे परिपूर्ण इस ब्रह्माण्डकोशरूप सुविशाल संसार-वृक्षके मूल अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। उनकी पूजा करनेसे समस्त जीवोंकी पूजा और अपनी भी तृप्ति हो जाती है ॥३६॥

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।

शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥३७॥

भगवान् मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि एवं देवता आदि शरीररूपपुरोंकी रचना करके स्वयं उनमें अन्तर्यामीरूपसे इन पुरोंमें शयन करते हैं, इसीलिये वे 'पुरुष' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥३७॥

तेष्वेव भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्तते।

तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥३८॥

हे राजन्! भगवान् इन सभी शरीरोंमें न्यूनाधिकरूपसे विराजमान रहते हैं, किन्तु तारतम्य भावसे पशु-पक्षीसे मनुष्य ही श्रेष्ठ पात्र

हैं और मनुष्योंमें भी जिसमें आत्मज्ञानादिका अंश जितना अधिक है, वह उतना ही श्रेष्ठ है ॥३८॥

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।

त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥३९॥

हे राजन्! त्रेतादि युगोंमें जब ऋषियोंने यह देखा कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरेका अपमानादि करते हैं, तब उन्होंने उपासनाकी सिद्धि एवं भगवान्‌के अर्चनके उद्देश्यसे उनके श्रीविग्रहोंकी प्रतिष्ठा करके उनकी पूजाका सूत्रपात एवं प्रचार किया ॥३९॥

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।

उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥४०॥

युधिष्ठिर! तभीसे कितने ही लोग अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रचुर पूजा-सामग्रियोंके साथ प्रतिमामें ही भगवान् श्रीहरिकी पूजा करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति मनुष्योंके प्रति द्वेष भावना रखते हैं, उन्हें श्रीमूर्त्तिकी सेवा करनेपर भी परमार्थ-सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥४०॥

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।

तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥४१॥

हे राजेन्द्र! मनुष्योंमें भी ब्राह्मणको ही सत्पात्र माना गया है क्योंकि ब्राह्मण अपनी तपस्या, विद्या एवं सन्तोष आदि गुणोंसे भगवान् श्रीहरिके वेदरूपी शरीरको धारण करता है ॥४१॥

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् कृष्णस्य जगदात्मनः।

पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

हे महाराज! जगदीश्वर, सर्वात्मा, ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण भी इन ब्राह्मणोंका बहुत आदर करते हैं, क्योंकि इनकी पद-धूलिसे तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके चौदहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

गृहस्थोंके लिए मोक्षधर्मका वर्णन

श्रीनारद उवाच—

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।

स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥

देवर्षि नारदने कहा—युधिष्ठिर! कुछ ब्राह्मण कर्मपरायण होते हैं, कुछ तपोनिष्ठ (ब्रह्मचारी) एवं कुछ वेदके अध्ययन-अध्यापनमें निपुण (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते हैं, कुछकी आत्म-साक्षात्कारकी उपलब्धिमें और कुछकी योगमें (भगवत्-ध्यानमें) निष्ठा होती है (यहाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठता दिखाई गई है) ॥ १ ॥

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।

दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥

जो अपने पितरोंका अथवा अपना मोक्ष चाहते हैं, उन्हें पितरों और देवताओंके उद्देश्यसे ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणको ही हव्य और कव्य दान देना चाहिए, यदि ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण न मिले तो ज्ञानके तारतम्यानुसार सकाम कर्मोंमें अनुरक्त (कर्मकाण्डी) ब्राह्मणको दान देना चाहिए ॥ २ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।

भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

देवताओंके उद्देश्यसे किये गये कार्यमें दो और पितरोंके उद्देश्यसे किये गये कार्यमें तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए अथवा दोनों ही कार्यमें एक-एक ब्राह्मणको आमंत्रित करना पर्याप्त है। यदि कोई बहुत समृद्धिवान् है, तो भी श्राद्ध-कर्ममें खर्चका अधिक विस्तार नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च।

सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात् ॥४॥

जामाता आदि सगे-सम्बन्धियों अथवा ब्राह्मणोंको विस्तारपूर्वक श्राद्ध अर्पण करनेसे देश-कालोचित श्रद्धा, द्रव्य, पात्र एवं पूजन भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो पाते, त्रुटियाँ रह जाती हैं ॥४॥

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यत्रं हरिदैवतम्।

श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥५॥

पुण्य स्थान और काल प्राप्त होनेपर ऋषि-मुनियोंके भोजन करने योग्य घी आदिसे बने शुद्ध हविष्यान्नको सर्वप्रथम भगवान् श्रीहरिको प्रेमसे निवेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् श्रद्धापूर्वक विधिवत् सत्पात्रको अर्पण करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे यह सभी मनोरथ प्रदान करनेवाला और अक्षय होता है ॥५॥

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।

अत्रं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत्पुरुषात्मकम् ॥६॥

देवता, ऋषि, पितर, मित्र, समस्त प्राणियों और आत्मीय-बन्धुओंको भगवान्के भक्तोंके रूपमें देखते हुए उस हविष्यान्नका यथायोग्य विभाजन कर देना चाहिए ॥६॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित्।

मुन्यत्रैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुर्हिसया ॥७॥

धर्म-तत्त्वको जाननेवाले व्यक्तिको श्राद्धमें मांस अर्पण कभी नहीं करना चाहिए और न ही कभी स्वयं खाना चाहिए। भगवान् एवं पितरोंको नीवारादि हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसासे नहीं होती ॥७॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।

न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥८॥

जो लोग सद्धर्म पालन करनेकी अभिलाषा रखते हैं, उनको चाहिए कि वे किसी भी प्राणीको तन, मन और वचनसे कष्ट न दें। इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है ॥८॥

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥

निष्काम धर्मके रहस्यको जानने वाले एवं यज्ञ तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन ज्ञानसे उत्पन्न आत्म-संयमरूपी अग्निमें कर्ममय यज्ञोंका हवन कर देते हैं अर्थात् वे सम्पूर्ण कर्म-काण्डसे उपरत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।
एष माऽकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृप् ध्रुवम् ॥ १० ॥

जब कोई पशु-पुरोडाशादि द्रव्योंसे यज्ञ करता है, तब उस पुरुषको देखकर सारे प्राणी भयभीत होकर सोचने लगते हैं कि यह (धर्म-तत्त्वसे अनभिज्ञ) निर्दयी, मूर्ख और अपने प्राणोंका पोषण करनेवाला यजमान निश्चय ही मुझे मार डालेगा ॥ १० ॥

तस्माद्वैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

अतः धर्मज्ञ व्यक्तिको किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। प्रारब्धवश मुनिजनोचित जो कुछ भी हविष्यान्न प्राप्त हो जाय, उसीसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका निर्वाह करके सन्तुष्ट रहना चाहिए ॥ ११ ॥

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥ १२ ॥

अधर्म रूपी वृक्षकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा (उपधर्म—धार्मिक जैसे लगने पर भी वैसे होते नहीं) और छलधर्म। धर्मज्ञ व्यक्तिको इन्हें अधर्मके समान निषिद्ध समझकर त्याग देना चाहिए ॥ १२ ॥

धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥

धर्म-बुद्धिसे किये जानेपर भी जिससे अपने धर्ममें बाधा आती है, उसे 'विधर्म' कहते हैं। जब किसी अन्यके द्वारा अन्य पुरुषके

लिए धार्मिक नियमका प्रारम्भ किया जाता है (जैसा कि आजकल देखा जाता है), वह 'परधर्म' है, स्वयंको धार्मिक दिखानेके लिए जटा, भस्मादि धारण करना—अर्थात् पाखण्ड और दम्भका प्रदर्शन 'उपधर्म' है और शास्त्रके निर्देशोंकी अन्य प्रकारसे व्याख्या करना 'छलधर्म' है ॥१३॥

यस्त्विच्छया कृतः पुंभिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।

स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥१४॥

मनुष्य अपने वर्णाश्रमसे भिन्न अपनी-अपनी रुचि एवं स्वभावके अनुसार जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है। अपने-अपने वर्ण और आश्रमानुसार किये जानेवाले धार्मिक कार्य भला किसके दुःखोंका विनाश नहीं करते? ॥१४॥

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थ वाऽधनो धनम्।

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥१५॥

निर्धन व्यक्ति धर्मके लिए अथवा अपनी देह धारण करनेके लिए धन-प्राप्तिकी चेष्टा न करे। जिस प्रकार अजगर कोई चेष्टा न करके भी जीवन धारण करता है, उसी प्रकार धनकी चेष्टासे रहित व्यक्तियोंकी निष्कामता ही उनके जीवनका निर्वाह कर देती है ॥१५॥

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।

कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥१६॥

किसी भी प्रयाससे रहित, सर्वदा सन्तुष्ट और आत्माराम पुरुषको जो सुख मिलता है, वह सुख विषयादिके लोभसे प्रेरित होकर धनके पीछे इधर-उधर भागनेवाले व्यक्तिको कहाँ प्राप्त होता है? ॥१६॥

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः।

शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥१७॥

जिसके पैरोंमें जूते हों, उसे टूटे बर्तनों, काँटों और कंकड़-पत्थरोंसे कोई भय नहीं रहता, उसी प्रकार जिसका मन सन्तुष्ट हो, उसका सभी दिशाओंमें मङ्गल ही मङ्गल है ॥१७॥

सन्तुष्टः केन वा राजन् न वर्तेतापि वारिणा।

औपस्थ्यजैह्वयकार्पण्याद् गृहपालायते जनः ॥ १८ ॥

हे राजन्! जिसका चित्त सन्तुष्ट है, उसे किसी भी पदार्थसे यहाँ तक कि जलसे भी सन्तोष प्राप्त हो जाता है। जो रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियकी तृप्ति चाहते हैं, वे तो घरेलू कुत्तेके समान अति दयनीय दशा वाले होते हैं ॥ १८ ॥

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।

स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानञ्चैवावकीर्यते ॥ १९ ॥

इन्द्रिय-तृप्तिसे जो ब्राह्मण असन्तुष्ट रहता है, इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या एवं यश क्षीण हो जाते हैं और उसका विवेक विनष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।

जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥ २० ॥

भूख-प्याससे कातर व्यक्तिको अन्न-जल मिल जानेपर उसकी कामनाका अन्त हो जाता है, क्रोधका फल जो हिंसादि पर-पीड़न है, उस हिंसादिसे क्रोध भी शान्त हो जाता है, किन्तु लोभी व्यक्ति यदि सम्पूर्ण दिशाओंको जीत भी ले और सारी पृथ्वीका उपभोग कर ले तो भी उसके लोभका अन्त कभी नहीं होता ॥ २० ॥

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।

सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! अनेक विषयोंको जाननेवाले, समस्त शङ्काओंका निराकरण करके अर्थकी सङ्गति करनेवाले बड़े-बड़े विद्वान् तथा विद्वत्-सभाओंके सभापति भी असन्तोषके कारण नरकमें गिर जाते हैं ॥ २१ ॥

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।

अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥ २२ ॥

अतः कामनाओंका त्याग करके विषयोंकी लालसाओंपर, हिंसाका त्याग करके क्रोधपर, “अर्थ परिणाममें अनर्थ ही होता है” अतः

अर्थको अनर्थ समझकर लोभपर और तत्त्व-विचार द्वारा भयको जीत लेना चाहिए॥२२॥

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।

योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥२३॥

आत्म-अनात्म विवेक (ब्रह्मविद्या) द्वारा शोक एवं मोहको, साधुपुरुषोंकी सेवा करके दम्भको, मौन रहकर योग-पथकी बाधाओंको और देहकी कामादि चेष्टाओंको छोड़कर हिंसाको जीत लेना चाहिए॥२३॥

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।

आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥२४॥

आधिभौतिक (दूसरे जीवों द्वारा प्रदत्त) दुःखोंका प्रतिकार दयाके द्वारा आधिदैविक (दैववश प्राप्त) कष्टोंका प्रतिकार समाधिसे, एवं आध्यात्मिक (शारीरिक एवं मानसिक) दुःखोंका प्रतिकार योगबलसे करना चाहिये। निद्राको सात्त्विक आहारसे जय कर लेना चाहिए॥२४॥

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।

एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥२५॥

सत्त्वगुणसे रजोगुण एवं तमोगुणपर और उपशमन द्वारा (सुखकी आशा रहित होकर) सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। श्रीगुरुदेवकी भक्तिसे साधक अनायास ही इन सभी दोषोंको जीत लेता है॥२५॥

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।

मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥२६॥

हृदयमें ज्ञान-प्रदीपको प्रज्वलित करनेवाले श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। गुरुको जो मरणशील मनुष्य समझता है, वह दुर्बुद्धि है। उसका समस्त शास्त्र-अध्ययन हाथीके स्नानके समान व्यर्थ होता है॥२६॥

एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।

योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिलोको यं मन्यते नरम्॥२७॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रधान एवं पुरुषके ईश्वर हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर उनके श्रीचरण-कमलोंका अन्वेषण करते रहते हैं किन्तु उन्हें भी लोग साधारण मनुष्य समझ लेते हैं। गुरुदेव भी इसी प्रकार भगवान्‌के स्वरूप हैं॥२७॥

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।

तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥२८॥

शास्त्रोंमें इष्टपूर्त्तादि जितने भी विधि एवं नियम बतलाये गये हैं, उन सबका लक्ष्य—पाँचों इन्द्रियों, मन एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षड् शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना है। ऐसा होनेपर भी यदि समाधि, धारणा, और ध्यानादि नियमोंसे भगवान्‌का चिन्तन-मनन न हो तो उन्हें व्यर्थका श्रम ही समझना चाहिए॥२८॥

यथा वार्त्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।

अनर्थाय भवेयुः स्म पूर्त्तामिष्टं तथासतः॥२९॥

जिस प्रकार खेती आदि व्यापार, योग-साधनाके फल-मुक्ति आदिको दे नहीं सकते, उसी प्रकार भगवान्‌से विमुख व्यक्तिके शास्त्र-विहित इष्ट-पूर्त्तादि कर्म परमार्थ प्रदान नहीं करते, अपितु विपरीत फल ही प्रदान करते हैं (साधकको संसारकी ओर धकेल देते हैं)॥२९॥

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।

एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः॥३०॥

जो अपने मनपर विजय प्राप्त करनेकी अभिलाषासे प्रयासरत हैं, उन्हें अपने परिवारकी आसक्ति एवं समस्त प्रकारके सङ्गसे मुक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए तथा एकान्तवास करते हुए अपनी देहकी रक्षाके लिए केवल भिक्षासे प्राप्त परिमित आहार ही करना चाहिए॥३०॥

देशे शुचौ समे राजन् संस्थाप्यासनमात्मनः ।

स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥ ३१ ॥

हे राजन्! पवित्र एवं समतल भूमिपर अपना आसन बिछाये और अपने अङ्गोंको सीधे रखकर स्थिर भावसे सुखकर आसन लगाकर 'ॐ' कारका जप करे ॥ ३१ ॥

प्राणापानौ संनिरुध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः ।

यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः ॥ ३२ ॥

यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् ।

ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ॥ ३३ ॥

जबतक मनसे सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त न हो जाय, तबतक अपनी नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके पूरक-कुम्भक-रेचक द्वारा प्राण एवं अपान वायुको भलीभाँति रोके। पण्डित व्यक्तियोंको चाहिए कि विषयोंसे आकृष्ट होकर मन उनकी प्राप्तिके लिए जहाँ-जहाँ जाये, उसे वहाँ-वहाँसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदयमें स्थिर करे ॥ ३२-३३ ॥

एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।

अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥ ३४ ॥

इस प्रकारसे निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगीका चित्त अल्पकालमें ही उसी प्रकार संयत हो जाता है, जिस प्रकार ईंधनके बिना अग्नि शान्त हो जाती है ॥ ३४ ॥

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।

चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥ ३५ ॥

विषयोंसे क्षुब्ध न होकर जब समस्त वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तब चित्त ब्रह्म-सुखके संस्पर्शके अनुभवमें तन्मय हो जाता है और वह पुनः कभी बाहरी वृत्तियोंमें नहीं उलझता ॥ ३५ ॥

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।

यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥ ३६ ॥

यदि कोई संन्यासी धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गके मूल कारण गृहाश्रमका परित्याग कर देता है और पुनः उसी गृहस्थ-धर्मको भोगने लगता है, तो वह अपने उगले हुएको खानेवाला (बान्ताशी) और निर्लज्ज कहलाता है ॥३६॥

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मवत्।

त एनमात्मसात् कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥ ३७ ॥

जिन संन्यासियोंने अपनी देहको अनात्म, मरणशील, विष्ठा, कृमि और राख मान लिया था, वे अजितेन्द्रिय मूर्ख पुनः उस देहको आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥३७॥

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।

तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥ ३८ ॥

आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बनाः।

देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९ ॥

विधि-विधानोंका त्याग करनेवाला गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, ग्राममें वास करनेवाला वानप्रस्थी और इन्द्रिय-लोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रमके कलङ्क-स्वरूप हैं। ये अपने धर्मका पालन नहीं करते, केवल ढोंग करते हैं। इन्हें भगवान्की मायासे विमोहित समझकर कृपापूर्वक इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए ॥३८-३९॥

आत्मानञ्चेद्विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।

किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्पाति लम्पटः ॥ ४० ॥

आत्मज्ञानके द्वारा जिसकी सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त हो गयी हैं और जिसने आत्माको देहसे पृथक् जान लिया है, वह मूर्ख और लम्पट किस विषय अभिलाषासे अथवा किस कारणसे और क्या प्राप्त करनेके लिए अपनी देहका पोषण करेगा? ॥४०॥

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि

हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।

वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतं

सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥

बड़े-बड़े मनीषियोंका कहना है कि ईश्वर द्वारा रचित यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका नियामक मन इनकी लगाम है, शब्द, स्पर्शादि इस रथके गन्तव्य-पथ हैं, बुद्धि सारथी है और चित्त इस शरीरको बाँधनेवाली रस्सी है ॥४१॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनञ्च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरन्तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥

इसी प्रकार दस प्राण इस शरीररूपी रथकी धुरी हैं, धर्म और अधर्म इसके पहिये हैं, इसमें बैठनेवाला अभिमानी जीव रथी है, प्रणव (ॐकार) धनुष स्वरूप है, शुद्ध जीव बाण है और परब्रह्म लक्ष्य हैं। जिस प्रकार धनुष द्वारा फेंका गया बाण लक्ष्यको बीध देता है, उसी प्रकार प्रणवसे जीव परब्रह्मको बीध लेता है अर्थात् उनतक पहुँच जाता है ॥४२॥

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहो भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुत्रिद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥

राग, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, भय, मद, मान, अपमान, दूसरेके गुणोंमें दोष निकालना, छलावा, हिंसा, ईर्ष्या, अभिनिवेश, प्रमाद, भूख और नींद—ये सब साधकके शत्रु हैं। किसी-किसी स्थानपर रज एवं तमोगुणकी वृत्तियाँ देखी जाती हैं, जिनसे साधककी धारणाएँ (अज्ञान एवं कामेच्छाके द्वारा) दूषित हो जाती हैं और कभी-कभी परोपकारादि सात्त्विक प्रवृत्तियाँ भी शत्रु-स्वरूप हो जाती हैं ॥४३-४४॥

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वानन्दतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥४५॥

अतः मनुष्योंको चाहिए कि मानव देहरूपी रथके प्रधान साधन, जो इन्द्रियादि परिकर हैं, उन्हें अपने वशमें करके जब तक वह देह धारण करे, तब तक श्रीगुरुदेवादि पूज्यजनोंकी सेवासे प्राप्त तीक्ष्ण धारसे युक्त ज्ञानकी तलवार लेकर भगवत्-बलसे सारे शत्रुओंका नाश करके निर्मल-चित्त हो जाय। इसके पश्चात् स्वरूपानन्दकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होकर इस देहरूपी रथका भी त्याग कर दे ॥४५॥

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥ ४६ ॥

अन्यथा जरा-सी असावधानीसे दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़े इस देहरूपी रथको उलटे रास्तेमें (प्रवृत्ति मार्गमें) ले जाकर विषयरूपी दस्युओंके बीच डाल देंगे और वे दस्यु अश्व और सारथिके साथ रथके स्वामी जीवको अत्यन्त डरावने अन्धकारमय संसार-कूपमें डाल देंगे, जहाँ वह बार-बार जन्म-मृत्यु की भयावह स्थितिसे व्याकुल रहेगा ॥४६॥

प्रवृत्तं च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्त्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥ ४७ ॥

वेद विहित कर्म दो प्रकारके हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक कर्मोंको करनेसे इस संसारमें बार-बार आना-जाना पड़ता है, जबकि निवृत्तिपरक कर्मोंसे अमृत-भोग एवं आत्म-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है ॥४७॥

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥ ४८ ॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥ ४९ ॥

पशु-बलिसे युक्त श्येनयागादि हिंसामय कर्म, अग्निहोत्र, दर्श नामक यज्ञ, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, पशुओंका वध,

व्रीहि आदि द्रव्योंसे युक्त कर्म, काम्य कर्म, वैश्वदेव, बलिहरण उत्सव आदि 'इष्ट' कर्म कहलाते हैं—और देवालय, उपवन, कुएँ खुदवाना, प्याऊ लगवाना आदि जन-साधारणके उपकारके लिए किये जानेवाले कर्म 'पूर्त' कर्म कहलाते हैं, ये सभी इष्टपूर्त कर्म प्रवृत्तिपरक हैं, क्योंकि भौतिक इच्छाओंके उद्देश्यसे किये जाते हैं तथा ये कर्म ही जीवनमें अशान्तिके कारण बनते हैं। इन प्रवृत्तिपरक कर्मोंसे संसारमें अत्यन्त आसक्ति होती है ॥४८-४९॥

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः।

अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥५०॥

अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः।

एकैकश्येनानुपूर्व्या भूत्वा भूत्वेह जायते ॥५१॥

हे महाराज ! प्रवृत्तिपरक कर्मोंको करनेवाला मनुष्य मृत्युके बाद यज्ञादिमें हवन की हुई चरु, पुरोडाशादि द्रव्य-सामग्रियोंके सूक्ष्म परिणामरूप देहान्तर प्राप्त करके उस शरीरसे धूमाभिमानी देवताओंके पास जाता है। वहाँसे वह क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन और चन्द्रलोकादि उच्चसे उच्चतर लोकों तक पहुँचता है। पुण्य समाप्त होनेपर यज्ञकर्त्ता विलीन-देह होकर वृष्टि द्वारा क्रमानुसार ओषधि, लता, वनस्पति, अन्न एवं प्राणियोंके वीर्यरूपमें परिणत होकर पितृयान नामक प्रवृत्ति मार्गसे पुनः इस संसारमें जन्म लेता है ॥५०-५१॥

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः।

इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुहति ॥५२॥

गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि तक—ये सब-के-सब संस्कार जिनके होते हैं, उनको 'द्विज' कहते हैं। (पूर्वोक्त द्विज प्रवृत्तिमार्गका अनुगमन करनेवाले हैं।) निवृत्तिपरायण द्विज इष्टपूर्तादि कर्मोंसे होनेवाले समस्त यज्ञोंको विषयोंका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियोंमें हवन कर देता है ॥५२॥

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः।

वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।

ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तन्तु प्राणे महत्यमुम्॥५३॥

तत्पश्चात् सारी इन्द्रियोंको शोक-मोहादि तरङ्गोंसे युक्त विविध सङ्कल्परूपी मनमें और कर्तृत्वादि विकारयुक्त मनको परा वाणीमें, वाणीको वर्ण-समुदायमें, वर्ण-समुदायको अकारादि-अ, उ, म त्रय-स्वरात्मक उँकारमें, उँकारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मारूप प्राणमें तथा शेषमें जो जीव बचे, उसे ब्रह्ममें स्थापित कर देता है॥५३॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राहः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।

विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्॥५४॥

निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी अग्नि, सूर्य, दिवस, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णिमा, उत्तरायणके अधिष्ठाता देवताओंके सान्निध्यमें विभिन्न लोकोंमें प्रवेश करके ब्रह्मलोक पहुँचता है। ब्रह्मलोक प्राप्त व्यक्तिके भोग जब समाप्त हो जाते हैं, तब उसकी 'विश्व' अर्थात् स्थूलोपाधि हो जाती है। तब वह स्थूलको सूक्ष्ममें लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है। इसके पश्चात् सूक्ष्मको कारणमें लय करके कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' हो जाता है, फिर सर्वत्र साक्षी-स्वरूपमें अन्वय (अनुगत) होनेके कारण इस कारणोपाधिको साक्षी-स्वरूपमें लय कराके 'तुरीय' हो जाता है। अन्तमें सभी पूर्ववर्ती अवस्थाओंके साक्षीत्वमें विलीन हो जानेपर वह शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है॥५४॥

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।

आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते॥५५॥

तत्त्वज्ञानी इस पथको 'देवयान' मार्ग कहते हैं। प्रवृत्ति पथपर चलनेवालोंको उन सभी लोकोंकी प्राप्तिके बाद पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है, किन्तु जो रागादि वासनाओंसे रहित परमात्माके

उपासक आत्मज्ञानी जीव हैं, उनको जन्म-मृत्युके प्रवाहमें वापस नहीं लौटना पड़ता ॥५५॥

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।

शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥५६॥

इस प्रकार पितृयान एवं देवयान नामक दो पथ हैं। जो शास्त्ररूपी चक्षुओंसे इन्हें भलीभाँति जान लेता है, वह शरीरमें रहते हुए भी मोहित नहीं होता ॥५६॥

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम्।

ज्ञानं ज्ञेयं वचोवाच्यं तमोज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥५७॥

देहारम्भसे पहले कारणस्वरूपमें और इसका अन्त होनेपर सीमारूपमें जो सद्बस्तु अर्थात् स्वयं ब्रह्म वर्तमान रहते हैं, वे ही बाहरसे भोग्य-मायिक वस्तुके रूपमें और भीतरसे भोक्तरूपमें स्थित हैं, वे ही उत्कृष्ट और निकृष्ट ज्ञान और ज्ञानके विषय हैं, वे ही वाणी आदि इन्द्रिय और शब्दादि वाणीके विषय हैं और वे ही नाम और रूप (अभिलेख और अभिव्यक्ति) हैं, वे ही अन्धकार और प्रकाश हैं—इस प्रकार स्वयं वे तत्त्ववेत्ता ही सब कुछ हैं, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। इसीलिए यह जानकर ज्ञानी कभी मोहित नहीं होता ॥५७॥

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।

दुर्घटत्वादैनद्रियकं

तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥

दर्पण आदिमें दिखनेवाले प्रतिबिम्बका अस्तित्व सर्वत्र मिथ्या मानकर स्थिर किया गया है, तो भी उसकी यथार्थरूपमें प्रतीति होती है (द्विचन्द्र इत्यादि मिथ्याभूत होनेपर भी बालक वस्तुरूपमें मानते ही हैं), उसी प्रकार इन्द्रिय-समूहात्मक देह एवं तत्सम्बन्धित विषयोंकी पदार्थ (यथार्थ) रूपमें चाहे कल्पना की जाय, किन्तु परमार्थ-विचार, आत्मानुभव, युक्ति-विरुद्धत्वके कारण वे पदार्थ नहीं हैं ॥५८॥

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।

न संघातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा ॥५९॥

इस लोकमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश—पञ्च महाभूतोंसे ऐक्य-बुद्धिका आश्रय कर देहको उनका प्रतिबिम्ब (छाया) कहा गया है किन्तु यह देह पञ्चभूतोंसे निर्मित नहीं है (अतः देह पञ्चतत्त्वका प्रतिबिम्ब नहीं है)। देहादिमें संघात (पञ्चभूतोंका संयोग), आरम्भ और परिणाम (रूपान्तर) कुछ भी नहीं है। इस प्रकार पञ्चभूतोंका विकार अथवा परिणाम यह देह है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि अवयव (अङ्ग-विशेष) से अवयवी पृथक् नहीं है और न ही वह किसीके अनुगत (अन्वित अथवा मिश्रित) रहता है। अतएव यह देह मिथ्या मात्र है। (यहाँ निर्विशेषवादियोंके विवर्तवादका खण्डन है) ॥५९॥

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।

न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥६०॥

इसी प्रकार पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंका अवयवीत्व है, अतः वे तन्मात्र (सूक्ष्मावयव) रूपी अपने अवयवों—इन्द्रिय विषयोंके बिना रह नहीं सकते। इसलिए अवयवीके (शरीरके) असत् प्रमाणित होनेपर अवयव पृथ्वी आदि भी मिथ्या अथवा क्षणिक सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि अवयवी सिद्ध न होनेपर अवयवके सत्यत्वका कोई प्रमाण नहीं है ॥६०॥

स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः।

जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥६१॥

एक परमात्मामें अनेक वस्तुओंका भेद मानना आरोपसादृश्य भ्रम है। जिस प्रकार सत्य तेजमें, सत्य जलका भ्रान्तिमूलक आरोप मरीचिका जल कहा जाता है, (जल तो है, परन्तु वह रेगिस्तानमें नहीं है) उसी प्रकार सत्य ब्रह्मके सत्य-स्वरूप भगवद् धाममें

स्थित क्षितिका जागतिक पृथ्वीमें आरोप सादृश्य अज्ञानमूलक भ्रम है। स्वप्न जिस प्रकार जाग्रत एवं निद्रा अवस्थाका अन्तर उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार मिथ्याभूत जगत्में ये विधि-निषेध अज्ञान अविद्याकी अवस्थामें ही हैं। (ज्ञानी वेदोक्त निर्गुण भक्तियोगका अनुष्ठान करें।) ॥६१॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।

वर्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धनुते मुनिः ॥६२॥

चिन्तन-परायण मुनिगण अपने भाव, क्रिया (कार्य) एवं द्रव्य (भावाद्वैत, कार्याद्वैत और द्रव्याद्वैत) की आलोचना करके आत्मतत्त्वकी अनुभूतिके बाद जाग्रदादि (वस्तुभेदगत बुद्धि, कर्मभेदगत बुद्धि, कर्मसाधित फल—द्रष्टा, दर्शन, एवं दृश्य) तीनों अवस्थाओंका त्याग कर देते हैं ॥६२॥

कार्यकारणवस्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत्।

अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥

द्वैत अथवा भेद वास्तवमें हैं ही नहीं। जैसे भेदके असत्यत्वके कारण सूत वस्त्र ही होता है (जैसे वस्त्र सूतरूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है, भेद वस्तुतः है ही नहीं), उसी प्रकार जगत् एवं प्रकृतिके मध्य कार्य और कारणकी एकताका जो विचार किया जाता है, उस विचारको भावाद्वैत कहते हैं ॥६३॥

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।

मनोवाक्तुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥

हे पार्थ! मन, वाणी एवं शरीरसे जो कुछ किया जाता है, उसे साक्षात् भावसे परब्रह्मको समर्पण कर देना क्रियाद्वैत कहलाता है ॥६४॥

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।

यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥

युधिष्ठिर! जो अपना स्वार्थ और काम है, वही पत्नी, पुत्रादि, सम्बन्धी एवं समस्त प्राणियोंका है—इस प्रकार जो अर्थ और भोग मेरा है, वह सबका है, इस स्वार्थ एवं कामके ऐक्यको द्रव्याद्वैत कहते हैं। (प्रत्येक व्यक्तिके स्वार्थ विष्णु हैं (स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्) काम्य अर्थात् प्राप्य वस्तु—विष्णुधाम है) ॥६५॥

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।

स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि ॥६६॥

हे राजन्! मनुष्योंको चाहिए वे अपने सारे कार्यकलाप ऐसी वस्तुओं, उपायों एवं प्रयासोंसे सम्पन्न करें, जो शास्त्राज्ञाके विरुद्ध न हों, ऐसे स्थानोंपर रहें, जहाँ वास करना निषिद्ध न हो। आपत्तिकालको छोड़कर इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं करना चाहिए ॥६६॥

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।

गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्धक्तिभाङ्गनरः ॥६७॥

महाराज! भगवद्-भक्त इन वेदोक्त विधियों एवं अपने अन्यान्य वृत्तिपरक कार्योंको सम्पन्न करते हुए घरमें रहकर भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त कर सकते हैं ॥६७॥

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-

दापद्रणादुत्तरतात्मनः प्रभोः।

यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-

नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥६८॥

हे नृपदेव युधिष्ठिर! आपने अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे बलशाली राजा एवं देवताओंके द्वारा उत्पन्न अजेय आपत्तियोंपर भी विजय प्राप्त कर ली है और उन्हींकी चरणोंकी सेवासे बड़े-बड़े दिग्गजोंको जीतकर एवं यज्ञ-सामग्रीका आहरण कर बड़े-बड़े राजसूयादि यज्ञ किये हैं ॥६८॥

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः।

नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥६९॥

पूर्वजन्ममें, इसके पहले महाकल्पमें मैं उपबर्हण नामका गन्धर्व था। अन्य सभी गन्धर्व मेरा बड़ा सम्मान करते थे॥६९॥

रूपपेशलमाधुर्य - सौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।

स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तः स्वपुरलम्पटः॥७०॥

मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अत्याकर्षक एवं अनूठी थी। मेरे शरीरसे अपूर्व सुगन्ध निकला करती थी। मैं प्रियदर्शन था। मेरे पुरकी स्त्रियाँ मुझसे बहुत प्रेम करती थीं और मेरी भी उनमें अत्यधिक आसक्ति थी। मैं उन्मत्त और लम्पट था॥७०॥

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः।

उपहृता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने॥७१॥

एक समय देवताओंके यहाँ सत्रयज्ञ हुआ। वहाँ दक्ष, मरीचि आदि बड़े-बड़े प्रजापति आये थे। उन्होंने हरिलीला-गानके लिए गन्धर्व एवं अप्सराओंको निमन्त्रित किया था॥७१॥

अहञ्च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः।

ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेषुरोजसा।

याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः॥७२॥

मैं भी उस निमन्त्रणके विषयमें सुनकर स्त्रियोंके साथ वहाँ पहुँच गया और उनकी आज्ञाके बिना हरि-कीर्तनको छोड़कर मनमाने ढंगसे लौकिक गीत गाने लगा। जब प्रजापतियोंने देखा कि यह तो हमारा अपमान कर रहा है, तब उन्होंने अपनी-अपनी शक्तिके प्रभावसे मुझे शाप दे दिया—“तुमने हमारा अनादर किया है, अतः तुम्हारी सौन्दर्य-सम्पत्ति नष्ट हो जाय और तुम शूद्र हो जाओ।”॥७२॥

तावद्वास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम्।

शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम्॥७३॥

यद्यपि मैंने एक दासीसे शूद्रके रूपमें जन्म लिया, किन्तु वेदवादी महात्माओंकी सेवा और उनके अनुकूल सङ्गके प्रभावसे पुनः मेरा ब्रह्माके पुत्रके रूपमें जन्म हुआ॥७३॥

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः।

गृहस्थो सेन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥७४॥

हे युधिष्ठिर! जिसके द्वारा गृहस्थ भी अनायास ही संन्यासियोंको प्राप्त होनेवाली परम गति प्राप्त कर सकते हैं, मैंने तुम्हें वही पापनाशक गृहस्थ धर्म बतला दिया ॥७४॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा

लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।

येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-

गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥७५॥

महाराज! इस धराधाममें आपलोग अति भाग्यवान् हैं, क्योंकि साक्षात् परब्रह्म मनुष्यरूप धारण करके आपके घरमें गोपनीय रूपसे निवास करते हैं। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले ऋषि-मुनि आपके घरपर बार-बार आया करते हैं ॥७५॥

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं-

कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।

प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय

आत्मारहणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥७६॥

अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि बड़े-बड़े साधु जिनका अन्वेषण करते हैं, वे मायाके लेशसे रहित, मुक्ति-सुखके प्रत्यक्ष अनुभव-स्वरूप परब्रह्म, परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आपके प्रिय, सुहृद्, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु एवं स्वयं आत्मा हैं ॥७६॥

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी

रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः

प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥७७॥

साक्षात् शिव, ब्रह्मादि भी अपनी बुद्धिके द्वारा जिनके रूपका वास्तविक वर्णन नहीं कर सकते और जो मौन, भक्ति एवं

उपशमके (इन्द्रिय एवं अन्तःकरणादिपर विजयके) द्वारा पूजित होते हैं, वे सात्वत-पति हमपर प्रसन्न हों ॥७७॥

श्रीशुक उवाच—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः।

पूजयामास सुप्रीतः कृष्णञ्च प्रेमविह्वलः ॥७८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भरतकुलश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर देवर्षि नारदके द्वारा कहे गये उपदेशोंको सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुए। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की ॥७८॥

कृष्णपार्थावुपामन्य पूजितः प्रययौ मुनिः।

श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥७९॥

मुनि श्रेष्ठ देवर्षि नारद श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरादिसे सत्कार प्राप्त करके उनसे विदा लेकर चले गये। “श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं”—यह सुनकर युधिष्ठिरको अत्यन्त विस्मय हुआ ॥७९॥

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्त्तिताः।

देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तम स्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

इति सप्तमः स्कन्धः समाप्तः ॥

प्रिय परीक्षित्! इस प्रकार मैंने दक्ष-पुत्रियोंके पृथक्-पृथक् वंशका वर्णन तुम्हें सुनाया। उनसे ही देवता, असुर, मनुष्य आदि तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि हुई है ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवतके सातवे स्कन्धके पन्द्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमः स्कन्धः समाप्तः।







अष्टम स्कन्धकी कथाका सार

स्वायम्भुव मनुके वंश-विस्तारको सुनकर महाराज परीक्षितने अन्यान्य मनु एवं तत्-तत् मन्वन्तरोंमें भगवान्‌के आविर्भावोंके विषयमें जिज्ञासा की। तब श्रीशुकदेव गोस्वामीने स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूतिके गर्भसे भगवान्‌ यज्ञके आविर्भावके विषयमें बतलाया। स्वायम्भुव मनु तपस्याके लिए वन चले गये और वहाँ सुनन्दा-नदीके तटपर समाधिस्थ हो गये। वहाँ असुर एवं राक्षस उन्हें भक्षण करनेके लिए पहुँचे। भगवान्‌ यज्ञरूपमें अवतीर्ण हुए और उन असुरों एवं राक्षसोंका वध कर दिया। वे भगवान्‌ ही इन्द्ररूपमें स्वर्गका पालन करने लगे। द्वितीय मनु अग्निपुत्र स्वरोचिष थे। तृतीय मनु उत्तम, चतुर्थ मनु उत्तमके भ्राता तामस थे। इसी मन्वन्तरमें भगवान्‌ 'हरि' ने आविर्भूत होकर ग्राहग्रस्त गजेन्द्रका मोक्ष किया था।

क्षीरोदसागरसे परिवेष्टित 'त्रिकूट' पर्वतके एक सरोवरमें एक गजेन्द्र हथिनीके साथ जलक्रीड़ा कर रहा था, तभी एक कुम्भी (मगरमच्छ) वहाँ आया और उसने गजेन्द्रपर आक्रमण कर दिया। गजेन्द्रने आत्ममोचनके लिये यथासाध्य प्रयत्न किया, परन्तु कुम्भीने उसे प्रबल वेगसे जकड़ रखा था। इसी अवस्थामें हजारों वर्ष बीत गये परन्तु हाथी स्वयं अथवा किसी दूसरेके द्वारा अपनेको मुक्त करनेमें समर्थ नहीं हुआ। क्रमशः बल क्षीण होनेपर एवं कोई अन्य उपाय न देखकर वह पूर्वजन्ममें सीखे हुए स्तव द्वारा श्रीहरिकी स्तुति करने लगा। गजेन्द्रकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ वहाँ अवतीर्ण हुए और चक्रके द्वारा कुम्भीका मस्तक छिन्नकर गजेन्द्रको मुक्त किया।

वह ग्राह अर्थात्‌ कुम्भी 'हूहू' नामका एक गन्धर्व था। एक बारकी बात है कि 'हूहू' स्त्रियोंसे परिवेष्टित होकर जलमें क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ देवल ऋषि भी स्नान कर रहे थे। वह ऋषिका चरण खींचने लगा, तब ऋषिने अभिसम्पात दे दिया,

जिससे वह ग्राहत्वको प्राप्त हुआ। श्रीहरिके चक्रसे विनष्ट होकर इसने उसी पूर्व गन्धर्भदेहको प्राप्त किया। गजेन्द्र पूर्वजन्ममें 'इन्द्रद्युम्न' नामका पाण्ड्यदेशीय राजा था। यह मौनव्रत धारण करके मलयाचलपर भगवदाराधनामें रत रहता था। अगस्त्य ऋषिका वहाँ बहुत शिष्योंके साथ आगमन हुआ। राजा ध्यानमग्न था। अतः राजासे ऋषिको किसी भी प्रकारका अभ्यर्थनादि स्वागत प्राप्त नहीं हुआ। ऋषिने राजाको स्तब्धमति गजेन्द्रत्वकी प्राप्तिका अभिशाप दे दिया। ग्राहग्रस्त अवस्थामें उसके हृदयमें पूर्व स्मृतिका उदय हो गया। फल-स्वरूप वह भगवान्की स्तुति करने लगा और सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त हुआ। तामसका भ्राता पञ्चम मनु रैवत था। इस मन्वन्तरमें भगवान्ने वैकुण्ठमें रमादेवीकी प्रार्थनानुसार 'वैकुण्ठलोक' का निर्माण किया था। चाक्षुष छोटे मनु थे। इस मन्वन्तरमें भगवान् अजितने वैराजपत्नी देवसम्भूतिके गर्भसे आविर्भूत होकर समुद्र-मन्थन एवं कूर्मरूपसे मन्दर-धारणादि लीला कीं। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी पराजयसे एवं दुर्वासाके शापसे देवराज इन्द्रके श्रीभ्रष्ट होनेपर देवगण ब्रह्माजीके साथ क्षीरोदशायी विष्णुके समीप पहुँचे और उनकी स्तुति करने लगे। तब भगवान् विष्णुने क्षीरोदसागर-मन्थन करनेका आदेश प्रदान किया। भगवान्के आदेशसे देवता दैत्योंके साथ मिलकर मन्दराचलको लेकर चलने लगे, किन्तु गुरु-भार होनेके कारण उसे वहन करनेमें असमर्थ हुए और उसे वहीं छोड़ दिया, जिससे अनेक प्राणी मर गये। तब परम करुण भगवान्ने उस पर्वतको एक हाथपर उठाया और उसे समुद्रमें स्थापित कर दिया। भगवान्ने विचार किया कि आधार-रहित होनेसे इस पर्वतसे मन्थनमें असुविधा होगी, तब भगवान्ने कच्छपरूप धारण किया और अपने पृष्ठदेशमें उस पर्वतको स्थापित कर लिया। वासुकि नागको मन्थन-रज्जु बनाया तथा देवता एवं दानवोंने मिलकर मन्थन आरम्भ किया। मन्थनसे सर्वप्रथम कालकूट-विष उत्पन्न हुआ। इस हलाहल विषके प्रभावको कोई सहन नहीं कर सकता था, इसलिए सब देवता महादेवके शरणापन्न हुए। महादेवने इस विषका पान किया और

अपने कण्ठमें धारण कर लिया। इससे वे 'नीलकण्ठ' नामसे विख्यात हुये। इसी मन्थनसे क्रमशः लक्ष्मीदेवी, सुरभि, पारिजात, उच्चैःश्रवा, ऐरावतादि अनेक वस्तुएँ उत्पन्न हुईं और बादमें विष्णु-अंशसे धन्वन्तरि अमृत-कलशको हाथमें लिए उत्थित हुए। असुर उस कलशको लेकर भागने लगे, तब भगवान् विष्णुने मोहिनीरूप धारण किया। उनके मोहिनी-रूपपर मुग्ध होकर दैत्योंने मोहिनीरूपी भगवान्के हाथोंमें अमृत-कलश अर्पण कर दिया। भगवान्ने सारा अमृत देवताओंमें बाँट दिया। राहूने छद्मवेशसे अमृतपान कर लिया है—यह जानकर भगवान्ने चक्र द्वारा उसका मस्तक काट दिया।

दैत्यगण सुधा-पानसे वञ्चित होनेके कारण देवताओंके साथ युद्ध करने लगे और भगवान्के हाथों मारे गये। शुक्राचार्यके द्वारा पुनर्जीवित होकर दैत्य पुनः देवताओंके साथ युद्ध करने लगे। अनन्तर देवर्षि नारदके प्रभावसे दैत्य-देवता युद्धसे निवृत्त हुए और सभी अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

भगवान्की मोहिनीरूप धारण-लीलाको जब महादेवजीने सुना, तब वे भी उसके दर्शनके लिए चल दिये। भगवान्ने पहले तो महादेवको अपने मोहिनीरूपसे मोहित किया और बादमें अपनी मायाका प्रभाव दिखाया।

सप्तम मनु विवस्वत-पुत्र श्राद्धदेव हैं, अष्टम मनु सार्वर्णि, नवम मनु दक्षसार्वर्णि, दशम मनु ब्रह्मसार्वर्णि, ग्यारहवें मनु धर्मसार्वर्णि, बारहवें मनु रुद्रसार्वर्णि, तेरहवें मनु देवसार्वर्णि और चौदहवें मनु इन्द्रसार्वर्णि हैं। इन चौदहों मनुसे परिमित काल सहस्र युग अथवा एक कल्पका होता है।

मनु, ऋषि, देवराज इत्यादि सभी भगवान्के यज्ञादि अवतारों द्वारा नियोजित होकर जागतिक कार्योंका निर्वाह अर्थात् विश्व-व्यवस्थाका सञ्चालन करते हैं। चतुर्युगीके अन्तमें समयके फेरसे नष्टप्राय श्रुतियोंका उद्धार सप्तर्षिगणोंद्वारा, जगत्में चतुष्पाद-धर्मका प्रवर्तन मनुगणों द्वारा एवं त्रिलोकीका पालन इन्द्रगणों द्वारा होता है। श्रीहरि प्रत्येक युगमें सनक, दत्तात्रेयादि शक्त्यावेश रूपोंको प्रकट

करके ज्ञान, कर्म एवं योगका उपदेश कराते हैं एवं कालादि रूपमें संहार कराते हैं।

छठे मन्वन्तरमें दैत्यराज बलिने शुक्राचार्यके बलसे बलवान् होकर स्वर्गपुरीपर अधिकार कर लिया था। देवगण जब पदच्युत हो गये तब देवमाता अदिति पुत्रोंके दुःखसे दुःखी होकर कश्यपजीके पास पहुँची और अपने दुःखका अपनोदन करनेके लिए उनसे प्रार्थना करने लगी। तब कश्यपजीने अदितिको बारह दिनोंमें बड़ी कठिनतासे साध्य होने वाले “पयोव्रत” द्वारा भगवान् श्रीहरिकी आराधना करनेका उपदेश दिया।

अदितिकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीहरि देवताओंके दुःख-विमोचनके लिए अदितिके पुत्ररूपमें “जन्म-ग्रहण” करना स्वीकार कर अन्तर्धान हो गये।

शुभ-लग्नमें श्रीहरि अदितिके द्वारपर वामनरूपमें इस प्रपञ्चमें आविर्भूत हुए। जब उनके जातकर्म, उपनयनादि संस्कार सम्पन्न हो गये तब वे बलिके यज्ञमें पहुँचे। बलिने वामनदेवका पाद्य-अर्घ्य द्वारा यथोचित सत्कार किया और उन्हें परम तपस्वी ब्राह्मण जानकर उनसे स्वाभिलषित द्रव्य माँगनेके लिए कहा। भगवान्ने बलिके वंशके गौरवादिका उल्लेख करते हुए उनकी विविधरूपसे प्रशंसा की और उनसे त्रिपाद-भूमिकी प्रार्थना की। बलिने इस याचनाको अकिञ्चित्कर जानकर उसे प्रदान करना अङ्गीकार कर लिया। शुक्राचार्य वामनदेवको पहचान गये और बलिसे त्रिपाद-भूमि-दानके लिये मना करने लगे। ‘परिहास, विवाह, विपत्ति आदिमें मिथ्या वचनोंके प्रयोग करने पर प्रत्यवाय नहीं होता’—इस नीतिको दिग्दर्शित करते हुए शुक्राचार्य बलिके प्रतिज्ञा-भङ्ग-जनित भय-अपनोदनका प्रयास करने लगे।

महाराज बलिने विवेचना की कि मिथ्या वचनोंके द्वारा प्रतिश्रुति भङ्ग करनेकी अपेक्षा कीर्ति ही एकमात्र वाञ्छनीय है एवं राज्यादि अनित्य वस्तु द्वारा दूसरेका उपकार करना ही अच्छा है—अतः वामनदेवको छद्मवेशी विष्णु जानकर भी उन्होंने त्रिपाद-भूमि दान करना स्वीकार कर लिया। वामनदेवने अपने कलेवरकी वृद्धि करते हुये एक चरणसे भूतल, शरीरसे अन्तरीक्ष एवं द्वितीय पदसे स्वर्गको

आच्छादित कर लिया। तृतीय पद-विन्यासके लिए बलिके पास अणु मात्र भी स्थान नहीं रहा।

बलिके सर्वस्व अपहरण होनेपर दैत्योंने भगवान् विष्णुके विरुद्ध हथियार धारण कर लिये, परन्तु वे सभी विष्णुके पार्षदों द्वारा पराजित हो गये। बलिके आदेशसे सभी लोग पाताल चले गये। प्रतिश्रुति दानमें असमर्थ बलिको गरुडने भगवान्के आदेशसे वरुणपाशमें बाँध लिया और भगवत्-प्रदत्त क्लेशोंको परम श्लाघ्यतम मानकर बलिने तृतीय पद-विन्यासके लिए अपना मस्तक अर्पण कर दिया। इतने ही में बलिके पितामह भक्तवर प्रह्लाद वहाँ उपस्थित हुये और उन्होंने वामनदेवको प्रणाम किया। उन्होंने बलिसे कहा कि छलपूर्वक ऐश्वर्य हरण करके भगवान्ने बलिके प्रति परम अनुग्रह किया है। बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीने कहा कि भगवान्का ही जगत्-कर्तृत्व है, जीवका कर्तृत्व-अभिमान मूढ़ता है एवं भगवान्के लिए सर्वस्व प्रदान करनेपर बलिका दुःखी होना असम्भव है—यह सब उल्लेख करके उसने भगवान् वामनसे बलिकी बन्धन-मुक्तिके लिए प्रार्थना की। भक्तके अतिरिक्त किसी औरके लिये ऐश्वर्य-प्राप्ति समस्त अनर्थोंका मूल है—यह कहकर भगवान् वामनदेवने बलिको सुतल भेज दिया और नित्यकाल उसके समीप रहनेके लिए वचनबद्ध हो गये।

भगवच्चरणमें शरणागति ही जीवोंका परम प्रयोजन है, यही प्रेम-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—यह जानकर महामति बलि प्रह्लादके साथ सुतल चले गये। इन्द्रको स्वर्गाधिकार प्रदान करके वामनदेवने माताकी कामना पूर्ण की। इन्द्र वामनदेवको विमानपर आरोहण कराके स्वर्ग ले गये।

राजर्षि सत्यदेव श्राद्धदेव नामक सातवें मनुपदपर स्थापित हुए। एक दिन वे नदीमें तर्पण कर ही रहे थे कि एक मत्स्य (शफरी मछली) उनकी अञ्जुलीमें स्थित जलमें प्रवेश कर गया और उनसे आश्रयकी प्रार्थना करने लगा। राजाने उसे ले जाकर कलशमें रख दिया, किन्तु वह मत्स्य अपने कलेवरकी वृद्धि करता रहा। जब राजा उसे आश्रय देनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके स्वरूपकी जिज्ञासा करने लगे। मत्स्यने अपना परिचय प्रदान किया और सात

दिनोंमें ही महाप्रलयकी सम्भावना व्यक्त की। उन्होंने सूचित किया कि समस्त बीज एवं ओषधियोंसे पूर्ण नौकाका वे मत्स्यरूपमें आकर्षण करेंगे और साथ ही सत्यव्रतकी रक्षा करेंगे।

प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सत्यव्रतने मत्स्यदेवकी विविध प्रकारसे स्तुति की। मत्स्यदेवने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हयग्रीव द्वारा अपहृत (चुराये गये) वेदोंका उद्धार किया।



श्रीमद्भागवतम्

अष्टमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

मन्वन्तरोका वर्णन

श्रीराजोवाच—

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः।

यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान् वदस्व नः॥१॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे गुरुदेव ! जिस वंशमें मनुकी कन्याओंसे उत्पन्न मरीचि आदि प्रजापतियोंने पुत्र-पौत्र रूपमें वंश-परम्पराको प्रवर्तित किया, उस स्वायम्भुव मनुके वंशके विषयमें मैंने विस्तारपूर्वक सुना। अब आप कृपा करके अन्यान्य मनुओंके वंशोंका वर्णन कीजिए॥१॥

मन्वन्तरे हरेर्जन्मकर्माणि च महीयसः।

गृणन्ति कवयो ब्रह्मस्तानि नो वद शृण्वताम्॥२॥

हे ब्रह्मन् ! जिस-जिस मन्वन्तरमें विवेकी पुरुषोंने महामहिम श्रीहरिके विविध अवतार एवं लीलाओंका वर्णन किया है, आप हमें उन सभी चरितावलियोंको अवश्य सुनाइए, उन्हें सुननेकी हमारी बड़ी आकाङ्क्षा है॥२॥

यद्यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् भगवान् विश्वभावनः।

कृतवान् कुरुते कर्त्ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा॥३॥

हे भगवन् ! विश्वभावन भगवान्ने बीते हुए मन्वन्तरोंमें जो-जो लीलाएँ की हैं, वर्त्तमानमें जो कर रहे हैं और आगामी मन्वन्तरोंमें जो लीलाएँ करेंगे, कृपा करके वह सब हमें सुनाइए॥३॥

श्रीऋषिरुवाच—

मनवोऽस्मिन् व्यतीताः षट् कल्पे स्वायम्भुवादयः।

आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनाञ्च सम्भवः॥४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छह मन्वन्तर बीत चुके हैं। उनमें मैंने प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरका वर्णन कर दिया, जिसमें देवताओंकी उत्पत्ति हुई थी॥४॥

आकूत्यां देवहूत्याञ्च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः।

धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान् पुत्रतां गतः॥५॥

स्वायम्भुव मनुकी दो पुत्रियाँ थीं—आकूति एवं देवहूति। आकूतिसे यज्ञपुरुषके रूपमें धर्मका उपदेश देनेके लिए तथा देवहूतिसे कपिलके रूपमें ज्ञानका उपदेश देनेके लिए भगवान् उनके पुत्ररूपमें अवतार लिया था॥५॥

कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम्।

आख्यास्ये भगवान् यज्ञो यच्चकार कुरुद्वह॥६॥

हे कुरुद्वह (हे परीक्षित्!) भगवान् कपिलके चरित एवं उपदेशोंका तो मैं पहले ही (तृतीय स्कन्धमें) वर्णन कर चुका हूँ, अब मैं भगवान् यज्ञपुरुष द्वारा किये गये कार्योंके विषयमें बतलाऊँगा॥६॥

विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः।

विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत्॥७॥

स्वायम्भुव मनुने समस्त भोगों एवं कामनाओंसे विरक्त होकर राज्य-भोगका त्याग कर दिया और अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करनेके लिए वनमें चले गये॥७॥

सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन्।

तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत॥८॥

हे भारत! वनमें जाकर स्वायम्भुव मनुने सुनन्दा नदीके किनारे पृथ्वीपर एक पैरसे खड़े होकर सौ वर्षों तक घोर तपस्या की।

तपस्या करते हुए वे प्रतिदिन इस प्रकार भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करते थे॥८॥

श्रीमनुरुवाच—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।

यो जागर्ति शयानेऽस्मिन् नायं तं वेद वेद सः॥९॥

श्रीमनु कहा करते थे—जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व चेतनायुक्त है, परन्तु सम्पूर्ण विश्व जिन्हें चेतनामय करनेमें समर्थ नहीं है, जब सारा विश्व निद्रित, सुषुप्तिमय एवं प्रलयगत रहता है तब जो साक्षी स्वरूपमें जागते रहते हैं तथा जिन्हें कोई जीव जान नहीं सकता, परन्तु जो सब कुछ जानते हैं, वे ही चिदात्मा, परमपुरुष हैं॥९॥

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१०॥

यह संसार और इसमें रहनेवाले सभी चर-अचर प्राणी ईश्वरकी सत्ता एवं चेतना द्वारा व्याप्त हैं। अतः संसारके किसी भी पदार्थमें मोह न रखें केवल जीवन निर्वाहके लिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त विषयोंका उपभोग करें, किसी अन्यके धनकी आकाङ्क्षा न करें। अरे, यह धन और विषय-भोग भला किसके हैं?॥१०॥

यं पश्यति न पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।

तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत॥११॥

भगवान् सर्वद्रष्टा हैं, परन्तु उन्हें देखनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। वे सबके साक्षी हैं और उनका चाक्षुष ज्ञान अखण्ड है। अतः समस्त प्राणियोंके हृदयमें साक्षीरूपमें रहनेवाले जीवात्माके सखा उन भगवान्‌का ही भजन करना चाहिए॥११॥

न यस्याद्यन्तौ मध्यञ्च स्वः परो नान्तरं बहिः।

विश्वस्यामूनि यद्यस्माद्विश्वञ्च तदृतं महत्॥१२॥

जिनका न आदि है, न अन्त और न ही मध्य। जिनका न कोई अपना है और न कोई पराया, न बाहर है और न भीतर।

जिनके कारण जगत्के इन समस्त विषयोंकी सत्ता है और यह सम्पूर्ण विश्व जिनसे उत्पन्न होनेके कारण जिनका स्वरूप है, वे सत्य एवं परिपूर्ण ब्रह्म हैं॥१२॥

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या
तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते॥१३॥

यह समग्र ब्रह्माण्ड जिनका शरीर है, उनके अनेक नाम हैं। वे अचिन्त्य-सम्पन्न, सत्य, स्वप्रकाश-स्वरूप, अजन्मा, निर्विकार एवं पुराणपुरुष हैं। उन्होंने अनादिसिद्ध अपनी मायाशक्ति द्वारा इस विराट् जगत्की सृष्टि की है और स्वयं अपनी चित्शक्तिके प्रभावसे मायाका त्याग करके निष्क्रिय भावसे रहते हैं॥१३॥

अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥१४॥

इसी कारण ऋषि-मुनि नैष्कर्म्य-स्थितिमें अर्थात् निष्क्रिय होनेसे पहले समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, क्योंकि भगवदर्पण करते हुए कर्म करनेवाला पुरुष ही निष्काम होकर अन्तमें नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त कर सकता है॥१४॥

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विसज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्॥१५॥

सर्वशक्तिमान् ईश्वर सृष्टि आदि कार्य सम्पन्न करते हैं, किन्तु वे आत्मलाभसे पूर्ण होनेके कारण उन कार्योंमें आसक्त नहीं होते। जो लोग उनका अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मोंमें नहीं बँधते॥१५॥

तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नृन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्॥१६॥

भगवान् कर्म अवश्य करते हैं परन्तु वे ज्ञानस्वरूप हैं, अतः उनमें किञ्चित् मात्र भी अहङ्कार नहीं हैं। वे भौतिक इच्छाओंसे रहित, अखण्ड और पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। अपनी बनायी मर्यादामें स्थित रहकर वे अपने कर्मोंसे मनुष्योंको (आचरणीयगत) शिक्षाएँ देते हैं। समस्त धर्मोंका प्रवर्तन उन्हींसे होता है और वे ही सर्वश्रेष्ठ धर्म-भक्तियोगके सूत्रधार हैं। मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करता हूँ॥१६॥

श्रीशुक उवाच—

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम्।

दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा॥१७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! एक समय स्वायम्भुव मनु समाधिस्थ अवस्थामें उपनिषद्के पूर्वोक्त मन्त्रोंका पाठ कर रहे थे। यह देखकर असुरों और राक्षसोंने सोचा कि वे नींदमें अचेत होकर कुछ बड़बड़ा रहे हैं। अतः उनका भक्षण करनेके लिए वे सब द्रुत गतिसे दौड़कर उनपर टूट पड़े॥१७॥

तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः।

यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम्॥१८॥

जब सर्वसाक्षी भगवान् यज्ञेश्वरने देखा कि असुर एवं राक्षस स्वायम्भुव मनुका भक्षण करनेके लिए उद्यत हैं, तो वे अपने याम नामक पुत्रों एवं अन्यान्य देवताओंके साथ वहाँ आये और उनका वध कर डाला। तत्पश्चात् भगवान् स्वयं इन्द्रके पदपर आसीन होकर स्वर्गपर शासन करने लगे॥१८॥

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्।

द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः॥१९॥

अग्निके पुत्र थे स्वारोचिष, वे द्वितीय मनु हुए। उन स्वारोचिष मनुके अनेक पुत्रोंमें द्युमत्, सुषेण और रोचिष्मत् प्रमुख थे॥१९॥

तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद्देवाश्च तुषितादयः।

ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥२०॥

स्वारोचिष मन्वन्तरमें यज्ञपुत्र रोचनने इन्द्रका पद सँभाला। उस समय तुषितादि प्रधान देवगण थे और ऊर्जस्तम्भ आदि वेदवादी सप्तर्षि थे ॥२०॥

ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत्।

तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥२१॥

उस मन्वन्तरमें प्रख्यात वेदशिरा नामक ऋषिकी पत्नीका नाम था 'तुषिता'। इसी तुषिताके गर्भसे भगवान्‌के विभु नामक सुप्रसिद्ध अवतारने जन्म ग्रहण किया ॥२१॥

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः।

अन्वशिक्षन् व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥२२॥

विभु जीवनपर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने रहे। उनके जीवनसे यम-नियमादि साधन-सम्पन्न अट्ठासी हजार मुनियोंने व्रत, तपादि आचरण सम्बन्धी शिक्षाएँ ग्रहण कीं ॥२२॥

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः।

पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्पुता नृप ॥२३॥

हे राजन्! प्रियव्रतके पुत्र तृतीय मनु थे, उनका नाम था उत्तम। उत्तमके पुत्रोंके नाम थे—पवन, सृञ्जय, यज्ञहोत्र आदि ॥२३॥

वशिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः।

सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥२४॥

इस तीसरे मन्वन्तरमें वशिष्ठ-पुत्र प्रमद आदि सप्तर्षि थे। सत्य, वेदश्रुत, भद्र आदि प्रधान देवगण थे और तत्कालीन इन्द्रका नाम था सत्यजित् ॥२४॥

धर्मस्य सूनृतायान्तु भगवन् पुरुषोत्तमः।

सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥२५॥

उस समय भगवान् पुरुषोत्तम धर्मकी पत्नी सुनृतासे सत्यव्रत आदि देवताओंके साथ उत्पन्न हुए और सत्यसेन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥२५॥

सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान्।
भूतद्रुहो भूतगणांश्चावधीत् सत्यजित्सखः ॥ २६ ॥

तब इन्द्रके आसन पर सत्यजित् विराजमान थे। भगवान् सत्यसेनने उनका सखा बनकर मिथ्यावादी, दुःशील, दुष्ट-स्वभाव और प्राणियोंको उत्पीड़ित करनेवाले जीवद्रोही यक्ष एवं राक्षसोंका वध कर डाला ॥ २६ ॥

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥ २७ ॥

चतुर्थ मनु तामस नामसे प्रसिद्ध थे। ये उत्तम नामक तीसरे मनुके सगे भाई थे। तामस मनुके पृथु, ख्याति, नर, केतु आदि दस पुत्र थे ॥ २७ ॥

सत्यका हरयो वीरा देवान्निशिख ईश्वरः।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥ २८ ॥

इस तामस मन्वन्तरमें सत्यक, हरि एवं वीर नामक देवगण थे, इन्द्रका नाम था त्रिशिख और ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे ॥ २८ ॥

देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥ २९ ॥

हे राजन्! इस मन्वन्तरमें विधृतिके पुत्र वैधृति नामके और भी देवता हुए। कालवश जब सारे वेद नष्टप्रायः हो गये थे, तब इन्हीं देवताओंने अपनी शक्तिके प्रभावसे वेदोंकी रक्षा की थी ॥ २९ ॥

तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः।
हरिरित्याहतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥ ३० ॥

इसी मन्वन्तरमें भगवान् विष्णुने हरिमेधसकी पत्नी हरिणीके गर्भसे अवतार लिया और 'हरि' नामसे प्रख्यात हुए। भगवान् श्रीहरिने इसी अवतारमें ग्राहके मुखसे गजेन्द्रकी रक्षा की थी ॥ ३० ॥

श्रीराजोवाच—

बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूचत् ॥ ३१ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे बादरायणि! भगवान् श्रीहरिने ग्राह द्वारा आक्रान्त गजपतिको किस प्रकार मुक्त किया, वह मैं आपसे विस्तारपूर्वक सुननेके लिए उत्कण्ठित हूँ ॥ ३१ ॥

तत्कथासु महत् पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम्।
यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान् गीयते हरिः ॥ ३२ ॥

समस्त कथा-प्रसङ्गमें वही कथा अतिशय पवित्र, धन्य, शुभ और परममङ्गलकारी है, जिसमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिकी महिमाका गान होता है ॥ ३२ ॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः
प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः।

श्रीसूतजीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! परीक्षित् महाराज प्रायोपवेशन (आमरण अनशन) पर बैठे थे। उन्होंने जब श्रीशुकदेव गोस्वामीको इस प्रकारसे भगवत्-कथा कहनेके लिए प्रेरित किया तब वे बड़े आनन्दित हुए और उनका अभिनन्दन करते हुए मुनियोंसे भरी सभामें बड़ी प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहने लगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

ग्राहके द्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना

श्रीशुक उवाच—

आसीद्भिरिवरो राज्ञस्त्रिकूट इति विश्रुतः।

क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! क्षीरसमुद्रसे घिरा हुआ अत्यन्त सुन्दर, दस हजार योजन ऊँचा त्रिकूट नामका एक सुविख्यात पर्वत था ॥१॥

तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम्।

दिशश्चखं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥ २ ॥

अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः।

नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३ ॥

वह अपने चारों ओर भी इतनी ही दूरी तक फैला हुआ था। उस पर्वतके ऊपर लोहे, चाँदी और सोनेके तीन शिखर थे, जिनकी छटासे समुद्र, आकाश एवं दसों दिशाएँ जगमगाती रहती थीं। उसके और भी अनेक शिखर थे, जो नाना प्रकारके रङ्ग-बिरङ्गे रत्नों और धातुओंसे चित्रित, विविध जातिके वृक्ष-लताओं एवं गुल्मोंसे मण्डित तथा झरनोंकी ध्वनिसे गुञ्जित होकर दसों दिशाओंकी शोभा बढ़ाते थे ॥२-३॥

स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात् पय ऊर्मिभिः।

करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥ ४ ॥

सभी दिशाओंसे जल-तरङ्गें आकर जब उस पर्वतके मूलभागसे टकरातीं तो ऐसा लगता मानो वे पर्वतके चरणोंको पखार रही हों। उस पर्वतकी आठों दिशाओंमें स्थित हरित मरकतकी मणियोंने

अपनी आस-पासकी भूमिको दूबकी घासके समान श्यामल बना दिया था ॥४॥

सिद्धचारणगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।

किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः ॥ ५ ॥

उसकी कन्दराओंमें सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराएँ आदि सदैव विहार करते रहते थे ॥५॥

यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया ।

अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६ ॥

जब उनके सङ्गीतकी ध्वनिसे कन्दराएँ गूँजने लगतीं, तब बड़े-बड़े पराक्रमी सिंह उस ध्वनिकी गूँजको सह नहीं पाते और वहाँ दूसरे सिंहोंकी आशङ्का करके क्रोधके कारण और जोरसे गर्जना करने लगते ॥६॥

नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलङ्कृतः ।

चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥ ७ ॥

उस त्रिकूट पर्वतकी तलहटी नानाविध वन्य पशुओंसे अलङ्कृत रहती थी। वहाँ अनेक प्रकारके अद्भुत वृक्षोंसे सुशोभित एक अति सुन्दर देवोद्यान था, जिसमें अनेक प्रकारके पक्षी सुमधुर कलरव किया करते थे ॥७॥

सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ।

देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्बुनिलैर्युतः ॥ ८ ॥

वह त्रिकूट पर्वत अनेक नदियों एवं सरोवरोंसे भरा हुआ था, जिनका जल मणियोंके समान निर्मल था और पुलिन मणिमय बालुकासे सुशोभित थे। देवाङ्गनाएँ उनमें स्नान करती थीं। उनकी देहकी सुगन्धसे वह निर्मल जल और वायु अत्यन्त सुगन्धित हो जाते थे ॥८॥

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ।

उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९ ॥

सर्वतोऽलङ्कृतं दिव्यैर्नित्यपुष्पफलद्रुमैः ।
 मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥ १० ॥
 चूतैः प्रियालैः पनसैराग्नैराम्रातकैरपि ।
 क्रमुकैर्नारिकेलैश्च खजूरैर्बीजपूरकैः ॥ ११ ॥
 मधुकैः शालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ।
 अरिष्टोडुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः ॥ १२ ॥
 पिचुमदैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ।
 द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥ १३ ॥

उस पर्वतराज त्रिकूटकी तराईमें महान् भगवद्-भक्त, लोकपाल वरुणका एक उद्यान था, जिसका नाम था ऋतुमान्। यह देवाङ्गनाओंका क्रीडास्थल था। उस उद्यानमें अनेक दिव्य वृक्ष सुशोभित थे, जो सदा-सर्वदा फलों और फूलोंसे लदे रहते थे। उस उद्यानमें मन्दार, पारिजात, गुलाब, अशोक, चम्पक, पियाल, कटहल, आम, आमड़ा, सुपारी, नारियल, खजूर, अनार, महुआ, शाल, ताड़, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, गूलर, पाकर, अश्वत्थ, वट, किंशुक, चन्दन, पिचुमर्द कोविदार, सरल, देवदारु, द्राक्ष, ईख, केला, जामुन, बेर, रुद्राक्ष, हर्रे, आँवला, कैथ, नीबू और भल्लातरु आदिके वृक्ष शोभायमान थे ॥९-१३॥

बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ।
 तस्मिन् सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥ १४ ॥
 कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोजितम् ।
 मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥ १५ ॥
 हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि ।
 जलकक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥ १६ ॥
 मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः ।
 कदम्बवेतसनल-नीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥ १७ ॥
 कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः ।
 कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुत्रागजातिभिः ॥ १८ ॥

मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्त्तुभिरलं द्रुमैः ॥ १९ ॥

त्रिकूट पर्वतपर स्थित इस उद्यानमें एक विशाल सरोवर विद्यमान था। उसमें सुनहरे रङ्गके कमल खिले रहते थे। कुमुद, कलार, उत्पल, शतपत्र आदि और भी अनेक प्रकारके कमलपुष्पोंसे उस सरोवरकी शोभा और अधिक बढ़ रही थी। पुष्पोंका मधुपान करके मतवाले भौंरे गुञ्जार करते थे, पक्षी-वृन्द सुमधुर कूजन करते थे। वह सरोवर हंस, कारण्डव, चक्रवाक एवं सारसोंके झुण्डोंसे भरा हुआ था। पनडुब्बी, बत्तख और पपीहे चहकते थे। कछुए एवं मछलियाँ जब इधर-उधर तेजीसे चलते, तो कमलोंसे परागकण जलमें गिर जाते, जिससे उस सरोवरका जल और भी अधिक सुन्दर एवं सुगन्धित हो जाता। कदम्ब, बेंत, नल, कदम्बलता, वज्जुल, कुन्द, कुरुबक, अशोक, शिरीष, वनमल्लिका, लिसौड़ा, सोनजूही, नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र और माधवी लताओं तथा तटपर स्थित ऐसे अनेक वृक्षोंसे जो सभी ऋतुओंमें हरे-भरे रहते थे, वह सरोवर शोभायमान रहता था ॥ १४-१९ ॥

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकं कीचकवेणुवेत्रवद्-
विशालगुल्मं प्ररुजन् वनस्पतीन् ॥ २० ॥

इस पर्वतके घोर जंगलमें अनेक हथिनियोंसे भरे झुण्डके साथ एक शक्तिशाली गजेन्द्र निवास करता था। एक बार वह गजेन्द्र बहुत-सी हथिनियोंके साथ कँटीले बाँस, बेंत, बड़ी-बड़ी झाड़ियों और वृक्षोंको रौंदता हुआ विचरण कर रहा था ॥ २० ॥

यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखङ्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद् द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः सरभाश्चमर्यः ॥ २१ ॥

उसकी गन्ध मात्रसे ही सिंह, दूसरे गजराज, बाघ, गैंडे आदि हिंसक जन्तु, बड़े-बड़े नाग, काले-गोरे सरभ एवं चमरी मृग डरकर भाग जाया करते थे ॥२१॥

वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छशालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥ २२ ॥

उस गजेन्द्रकी कृपासे भेड़िये, सुअर, भैंसे, रीछ, शल्य, लंगूर तथा कुत्ते, बन्दर, शालावृक, हरिण और खरगोश आदि क्षुद्र जीव उसके दृष्टिपथसे ओझल होकर निर्भय होकर इधर-उधर विचरण करते थे ॥२२॥

स धर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
र्वृतो मदच्युत्करभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन्
निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥ २३ ॥
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन् विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्हितेन तत्-
सरोवराभ्यासमथागमद् द्रुतम् ॥ २४ ॥

उस गजराजको घेरे हुए अन्य मदस्त्रावी हाथी, हथिनियाँ और उनके छोटे-छोटे बच्चे उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे, उसके गण्डस्थलसे टपकते हुए मदका पान करते हुए उन्मत्त भ्रमर भी उसके साथ-साथ उड़ते जा रहे थे, मदकी अतिशयतासे गजराजके नेत्र विह्वल हो रहे थे। उस हाथीके विशाल शरीरके भारसे त्रिकूट पर्वत भी काँप उठता था। चिलचिलाती धूपके कारण वह तथा उसके साथी प्याससे पीड़ित होने लगे। दूरसे ही कमलपुष्पोंके मकरन्द-कणोंकी सुवासित वायुको सूँघकर वह अपने यूथके साथ द्रुत गतिसे उस सरोवरके तटपर चला आया ॥२३-२४॥

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुरुषितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः ॥ २५ ॥

गजराजने उस सरोवरमें प्रवेश करके सबसे पहले सँडसे उठा-उठाकर जी भरकर जल पिया, उसके पश्चात् स्नान किया। इससे उसकी थकान मिट गयी। सरोवरका जल सुनहरे वर्णके कमलों और उत्पलों (लाल-कमलों) के परागसे सुवासित एवं पूर्ण निर्मल तथा अमृतके समान सुस्वादु था ॥ २५ ॥

स पुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभि-
र्निपाययन् संस्नपयन् यथा गृही।
घृणी करेणुः करभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥ २६ ॥

वह गजराज गृहासक्त मनुष्यके समान मोहग्रस्त एवं उन्मत्त हो रहा था। भगवान् बड़े कृपालु हैं। उनकी मायासे मोहित होकर वह अपनी सँडसे जलकी फुहारें छोड़-छोड़कर हथिनियों एवं बालकोंको स्नान कराने लगा और उनके मुँहमें सँड डालकर जल पिलाने लगा। इस कार्यमें उसे श्रमसाध्य कष्ट हो रहा था, परन्तु उसने इसपर ध्यान न दिया ॥ २६ ॥

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत्।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥ २७ ॥

राजन्! इसी बीच प्रारब्धवश उस सरोवरमें रहनेवाले किसी महाबलशाली ग्राहने अत्यन्त क्रोधसे भरकर उस दुर्मद गजराजका पैर पकड़ लिया। उसने दैववश अपनेको जब विपत्तिमें देखा, तो वह स्वयंको छुड़ानेके लिए यथाशक्ति प्रयास करने लगा, परन्तु छुड़ा न सका ॥ २७ ॥

तथातुरं यूथपतिं करेणवो
 विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा।
 विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
 पाष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् दूसरे हाथी, हथिनियों और उनके बच्चों ने जब देखा कि महाबलशाली ग्राह उनके स्वामी गजराजको बड़े वेगके साथ खींचते हुए ले जा रहा है, तब वे दीन-हीन होकर चिंघाड़ने लगे। उन्होंने गजराजको जलसे बाहर निकालनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उसका उद्धार करनेमें समर्थ न हो सके ॥ २८ ॥

नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयो -
 विवर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः।
 समाः सहस्रं व्यगमन् महीपते
 सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥ २९ ॥

परीक्षित्! इस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता और कभी ग्राह गजेन्द्रको जलके भीतर खींच लेता। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीत गये और दोनों ही जीवित बने रहे। यह देखकर देवता भी आश्चर्यचकित रह गये ॥ २९ ॥

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
 कालेन दीर्घेण महानभूद्व्ययः।
 विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
 विपर्यययोऽभूत् सकलं जलौकसः ॥ ३० ॥

तदनन्तर बहुत लम्बे समय तक जलमें खींचे जानेसे गजेन्द्रके अङ्ग शिथिल हो गये। वह दुःख और निराशामें डूब गया। उसके मानसिक और शारीरिक बल—सब क्षीण हो गये। इसके विपरीत जलचर होनेके कारण ग्राहका उत्साह, देहबल और भी बढ़ गया ॥ ३० ॥

इत्थं गजेन्द्रः स यदाप सङ्कटं
 प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।

अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥ ३१ ॥

गजेन्द्र दैववश प्राणोंको सङ्कटमें देखकर विवश हो गया। उसने देखा कि वह ग्राहसे मुक्त होनेमें असमर्थ है। अतः मृत्युसे भयभीत होकर दीर्घकाल तक अपने सङ्कट-मोचनके विषयपर सोच-विचार करके वह अन्तमें इस निश्चयपर पहुँचा ॥ ३१ ॥

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहञ्च तं यामि परं परायणम् ॥ ३२ ॥

इस ग्राहके आक्रमणसे ये मेरे समान हाथी भी मुझे मुक्त नहीं करा पाये तो इन हथिनियोंके विषयमें क्या कहा जाय। यह ग्राह विधाताका पाश-रूप ही है और मैं इसमें पूरी तरह जकड़ गया हूँ। अब मैं सम्पूर्ण जगत्के सर्वश्रेष्ठ आश्रय परमेश्वरकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३२ ॥

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टम स्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने श्रीगजेन्द्रोपाख्याने
द्वितीयोऽध्यायः ।

भगवान् किसीके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते, वे अति शक्तिशाली एवं प्रभावसम्पन्न हैं। कालसर्प प्रचण्ड वेगसे मनुष्यको निगलनेके लिए दौड़ रहा है। उससे भयभीत होकर जो भगवान्के शरणागत हो जाता है, भगवान् उसकी अवश्य ही रक्षा करते हैं, मृत्यु भी जिन भगवान्से भयभीत होकर भाग जाती है, मैं उन्हीं भगवान्की शरण लेता हूँ ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

तृतीयोऽध्यायः

गजेन्द्रके द्वारा भगवान्की स्तुति और
उसका संकटसे मुक्त होना

श्रीबादरायणिरुवाच—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! तदनन्तर अपने बुद्धि-बलसे इस प्रकार निश्चय करके गजेन्द्रने अपने मनको हृदयमें एकाग्र किया और अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए अत्यन्त श्रेष्ठ स्तोत्रको जपते हुए भगवान्की स्तुति करने लगा ॥१॥

श्रीगजेन्द्र उवाच—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ २ ॥

गजेन्द्रने कहा—मैं उन परमपुरुषका ध्यान करता हूँ जिनकी कृपासे इस जगत्में चेतनताका विस्तार होता है, जो इसके आदि बीज-स्वरूप तथा ब्रह्मादिके भी ईश्वर हैं और जो देहरूपी पुरमें कारण-रूपसे विद्यमान हैं, मैं ऐसे भगवान् वासुदेवको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥ ३ ॥

यह चिद्-अचिद् जगत् जिनमें स्थित है और जिनसे उत्पन्न हुआ है, जो इस जगत्की सृष्टि एवं पालन करते हैं, जो स्वयं विश्व-स्वरूप और सम्पूर्ण जगत्के कारण हैं, जो कार्य (जगत्) और कारण (प्रकृति) से सर्वथा अतीत हैं, मैं उन स्वतःसिद्ध भगवान्का आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥३॥

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
 क्वचिद्विभातं क्व च तत् तिरोहितम्।
 अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
 स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ ४ ॥

यह विश्व-ब्रह्माण्ड उनकी मायासे उनमें ही स्थित है। यह जगत् कभी (सृष्टिकालमें) प्रकट होता है और कभी (प्रलयकालमें) तिरोहित हो जाता है। जो इस सम्पूर्ण जगत्के मूल हैं और स्वयं आत्मनिर्भर हैं, जो स्वप्रकाश और सबके साक्षी हैं, जो कार्य एवं कारण दोनों ही अवस्थाओंको अलुप्तदृष्टि एवं सर्वद्रष्टाके रूपमें देखते रहते हैं। वे परात्पर प्रकाशके भी प्रकाशक (चक्षुओंके भी चक्षु) मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो
 लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु।
 तमस्तदासीद्ग्रहनं गभीरं
 यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५ ॥

कालके प्रभावसे जब लोक, लोकपाल और इन सबके कारणोंका सम्पूर्णरूपसे लय हो जाता है, तब केवल दुर्भेद (गहरा) और अनन्त अन्धकार ही रहता है। उस समय भी इस अन्धकारके पार जो सर्वव्यापकरूपमें विराजमान रहते हैं, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ५ ॥

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
 र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
 यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
 दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥

जो नटके समान विविध वेशभूषाओंके द्वारा इस ब्रह्माण्डमें अनेक क्रीड़ाएँ करते हैं, जिनकी लीलाओंका रहस्य कोई नहीं जान सकता, जिनके स्वरूपको न देवता जान सकते हैं और न ही ऋषिगण, तब मुझ जैसा अर्वाचीन प्राणी उनके यथार्थ स्वरूपको

किस प्रकार जान सकता है और किस प्रकार बतला सकता है?
ऐसे दुर्ज्ञेय-चरित भगवान् मेरी रक्षा करें ॥६॥

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥७॥

जिनके मङ्गलस्वरूप श्रीचरणकमलोंके दर्शनकी इच्छासे मुनिगण
सांसारिक विषयों एवं परिजनोंकी आसक्तिका त्याग करके वनमें
जाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यासादि व्रतोंका पालन
करते हैं तथा समस्त प्राणियोंमें समान भाव रखते हैं, वे मुनियोंके
सर्वस्व प्रभु ही मेरी एकमात्र गति हों ॥७॥

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥८॥
तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥९॥

जिनका जन्म-कर्म, नाम-रूप और गुण-दोष कुछ भी नहीं
है, किन्तु जगत्की सृष्टि और विनाशके लिए जो अपनी मायासे
युग-युगमें जन्मादिको स्वीकार करते हैं, जो अनन्त शक्तिमान् और
परमैश्वर्यशाली हैं, जो प्राकृत रूपरहित होते हुए भी (राम, कृष्णादि)
बहुत-से अप्राकृत रूपोंमें विराजमान हैं तथा जिनके कर्म अति
आश्चर्यमय हैं, मैं ऐसे उन भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥८-९॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥१०॥

जो स्वयंप्रकाश (आत्मतत्त्व-प्रकाशक), प्रत्येक जीवात्माके
प्रकाशक एवं प्रत्येक हृदयमें साक्षीरूपमें स्थित हैं और जो मन,

वचन और चित्तवृत्तियोंसे अगोचर हैं, मैं ऐसे उन परमात्माको नमस्कार करता हूँ॥१०॥

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।

नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे॥११॥

दिव्य सूरीगण (वैष्णवजन) कर्म-संन्यास अर्थात् विशुद्ध भक्तियोगसे जिन्हें प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त करते हैं, जो कैवल्यरूपी आनन्दकी अनुभूति प्रदान करानेवाले हैं और जो शुद्ध प्रेमके स्वामी हैं, उनको मेरा बार-बार नमस्कार है॥११॥

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे।

निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च॥१२॥

जो सत्त्व, रज एवं तम—इन तीन गुणोंका आश्रय लेकर साधुओंके प्रति शान्त, खलके प्रति उग्र और संसारी व्यक्तियोंके लिए प्रच्छन्न (मूढ़) अवस्थाएँ धारण करते हैं, जो हेयगुणसे (प्राकृत देह, इन्द्रियादिसे) रहित समभावमें स्थित (भक्तोंमें वैषम्य-रहित) और ज्ञानघन (सच्चिदानन्द-स्वरूप) हैं, उन्हें मेरा प्रणाम है॥१२॥

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।

पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः॥१३॥

आप सबके स्वामी, अन्तर्यामी तथा सर्वसाक्षी हैं, आपको मेरा नमस्कार है। आप प्रधान और मूल प्रकृतिकी उत्पत्तिके कारण, समस्त क्षेत्रज्ञोंके मूल, स्वयं सभी कारणोंसे परे परमपुरुष हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे।

असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः॥१४॥

आप समस्त इन्द्रियों और उनके शब्दादि विषयोंके द्रष्टा हैं, समस्त (संशय, विपर्ययादि) प्रतीतियोंके आधार हैं, अहङ्कार प्रपञ्च आदि छायारूप असत् वस्तुओंके द्वारा आपकी सत्ता सूचित होती है और समस्त विषयोंमें केवल आपके ही प्रकाशका आभास होता है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१४॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥ १५ ॥

आप समस्त कारणोंके मूल कारण हैं, आपका अपना कोई कारण नहीं है। समस्त कारण-स्वरूप होनेपर भी आपमें कोई विकार नहीं होता, इसलिए आप अद्भुत कारणस्वरूप (निर्विकार) हैं। आपको मेरा नमस्कार है। जिस प्रकार समस्त नदियों और झरनोंका आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार आप समस्त वेदोंके आश्रयस्थल हैं। आप स्वयं मोक्षस्वरूप और समस्त साधुओंके शरणस्थल हैं। आपको मेरा नमस्कार है ॥ १५ ॥

गुणारणिच्छत्रचिदूष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥ १६ ॥

हे प्रभो! जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार आपने अपने अगाध ज्ञानको सत्त्वादि त्रिगुणात्मक मायासे ढक रखा है। गुणोंमें क्षोभ होनेपर आप सृष्टिकार्यमें उन्मुख होते हैं। जो आत्म-तत्त्वकी भावनासे वैदिक वाङ्मयमें वर्णित विधि-निषेधका परित्याग कर देते हैं, उनके हृदयमें आप स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यगदृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥ १७ ॥

आप मुझ पशु-जैसे जीवोंके शरणागत होनेपर सारे बन्धन काट देते हैं। आप मुझे इस ग्राह (अविद्या) रूपी संसार-पाशसे मुक्त कर दीजिए। आप नित्य मुक्त और परम करुणामय हैं। आपकी

असीम करुणामें किसी प्रकारका लय, निद्रा अथवा आलस्य नहीं है। आप समस्त देहधारियोंके हृदयमें अन्तर्यामीके (हृदय-वृत्तिके ज्ञाताके) रूपमें विद्यमान हैं। आप दिव्य ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। हे अपरिच्छिन्न! आपने सम्पूर्ण जगत्को एकांशमात्रमें धारण कर रखा है। आपको मेरा नमस्कार है ॥१७॥

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
 दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
 मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
 ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१८॥

जो लोग शरीर, पुत्र, घर, धन एवं स्वजनोंमें आसक्त हैं, वे आपको प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि आप प्रकृतिके गुणोंकी आसक्तिसे रहित हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप और परमनियन्ता हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष अपने हृदयोंमें निरन्तर आपका ध्यान करते रहते हैं। मैं आप परमेश्वरको नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
 भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
 किञ्चाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
 करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१९॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामना करनेवाले मनुष्य जिनकी आराधना करके अपने अभीष्ट फल, अप्रार्थित आशिष, एवं अन्यान्य सुखोंको प्राप्त कर लेते हैं तथा जो अपने आराधकोंको अपनी देहके समान ही अप्राकृत-पार्षद शरीर भी प्रदान कर देते हैं, वे अपार करुणामय भगवान्, मेरा उद्धार करें, मुझे मुक्त करें ॥१९॥

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
 वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
 अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
 गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥२०॥

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
 मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
 अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
 मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥ २१ ॥

जिनके ऐकान्तिक शरणागत भक्तगण उनकी परम मङ्गलदायिनी लीलाओंका कीर्तन करते हुए आनन्द-सागरमें मग्न रहकर उनसे किसी विषयकी कामना नहीं करते, जो सर्वशक्तिमान् नित्य, अव्यक्त, अविनाशी, इन्द्रियातीत, अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त, आद्य, परिपूर्ण स्वरूप परमात्मा हैं, जो निकट रहनेपर भी दूरवत् जान पड़ते हैं और जो आध्यात्मिक योग—भक्तियोगसे प्राप्त होते हैं, उनके लिए मेरा नमस्कार है ॥ २०-२१ ॥

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
 नामरूपविभेदेन फलव्या च कलया कृताः ॥ २२ ॥

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
 निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।
 तथा यतोऽयं गुणसन्मवाहो
 बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥ २३ ॥
 स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्-
 न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
 नायं गुणः कर्म न सन्न चास-
 त्रिषेधशेषो जयतादशेषः ॥ २४ ॥

जिन भगवान्के अत्यल्प अंशसे भिन्न-भिन्न नाम, रूपोंसे युक्त होकर ब्रह्मादि देवता, सामादि चतुर्वेद और चराचर लोकोंकी सृष्टि हुई है तथा जैसे अग्निसे लपटें और सूर्यसे किरणें उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर एवं प्रकृतिके गुणोंका परिणामरूपी प्रपञ्च जिनसे प्रकट होता है और पुनः जिनमें लीन हो जाता है, जो न देवता हैं और न असुर। जो न मनुष्य हैं और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। जो स्त्री, पुरुष या नपुंसक अथवा कोई जन्तु (प्राणी-

विशेष) नहीं हैं। जो न गुण हैं और न ही सत्-असत् हैं, वे सर्वात्मा भगवान् जययुक्त हों। (भगवान्की कला (अंश) दो प्रकारकी है—फलगु एवं अफलगु। इनमें ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्रादि जीव फलगु अर्थात् अत्यल्प अंशसे एवं मत्स्य, कूर्म इत्यादि अवतार अफलगु अर्थात् प्रभूत अंशसे प्रकट हैं। समस्त निषेधोंसे जो अवशिष्ट हैं अर्थात् जो नेति-नेति विचारक्रमसे पूर्वोक्त सर्वरूपोंके निषेधकी अवधिके रूपमें अवशिष्ट रहते हैं, ऐसे अशेषात्मक भगवान् जययुक्त हों अर्थात् मेरे उद्धारके लिये आविर्भूत हों।) ॥२२-२४॥

जिजीविषे नाहमिहामुया किम्—

अन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।

इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव—

स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥ २५ ॥

प्रभो! मैं ग्राहके कवल (ग्रास) से छुटकारा (शरीरकी मुक्ति) नहीं चाहता हूँ। यह गज-योनि अन्तर और बाहरमें अविवेक रूपी आवरणसे ढकी हुई है, इस गज जन्मसे क्या प्रयोजन है? मैं तो अज्ञानसे आवृत्त उस आत्मप्रकाशके नित्य मोक्षकी कामना करता हूँ, जो अज्ञान-आवरण काल द्वारा भी विनष्ट नहीं होता ॥२५॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम्।

विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥ २६ ॥

जो इस विश्वके स्रष्टा, विश्वरूप होनेपर भी विश्वसे रहित हैं, जो विश्वके ज्ञाता, विश्वकी आत्मा और जन्मादि-रहित परमपदस्वरूप ब्रह्म हैं, मैं मुक्तिकामी उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥२६॥

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।

योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥

योगीगण भक्तियोगद्वारा अपने कर्मोंको भस्म करके योगविशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्का साक्षात्कार करते हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ॥२७॥

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
 शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
 प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
 कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥ २८ ॥

आपकी सत्त्वादि तीनों शक्तियोंके रागादि वेग असह्य हैं। समस्त इन्द्रियों और मनके विषयोंके रूपमें आप ही प्रतीत होते हैं। जो अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत नहीं कर सके हैं, वे आपको प्राप्त नहीं कर सकते, आपकी शक्ति अपार है। आप शरणागतोंके रक्षक हैं, मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहंधिया हतम्।
 तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥ २९ ॥

आपकी माया रूपी अहंबुद्धिसे आत्माका स्वरूप ढक जानेसे (देहात्माभिमानसे आवृत्त होकर) जीव अपने स्वरूपको नहीं जान पाता। आपकी महिमा अपार है, उसे समझना बहुत कठिन है। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥२९॥

श्रीशुक उवाच—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
 ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
 नैते यदोपसृपुर्निखिलात्मकत्वात्
 तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥ ३० ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! गजराज किसी मूर्तिविशेषका वर्णन न करके निर्विशेष भावसे परमात्म तत्त्वका वर्णन करता रहा। अतः नाना प्रकारके नाम एवं रूपसे सम्पन्न ब्रह्मादि देवता जब उसकी रक्षाके लिए नहीं आये, तब उस स्थानपर अखिलात्मा सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि प्रकट हुए ॥३०॥

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
 स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
 छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
 श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीहरि सर्वत्र निवास करते हैं। वे गजेन्द्रको इस प्रकार आर्त जानकर तथा उसकी स्तुति सुनकर इच्छातुल्य वेगवान् गरुडपर सवार होकर तथा चक्र हाथमें लेकर उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ गजेन्द्र विपद्में पड़ा था। उनके साथ स्तुति करते हुए देवतागण भी वहाँ पधारे ॥३१॥

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
त्रारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥३२॥

सरोवरके भीतर गजेन्द्रको महाबली ग्राहने पकड़ रखा था, जिससे वह अत्यन्त पीड़ित हो रहा था। जब गजराजने देखा कि आकाशमें गरुडके ऊपर विराजमान होकर हाथमें चक्र लिए भगवान् श्रीहरि आ रहे हैं, तो वह अपनी सूँड़में एक कमल-पुष्प लेकर वेदनाके वशीभूत हो अतिशय कष्टसे कहने लगा—हे नारायण! हे अखिल-गुरो! हे भगवन्! आपको नमस्कार है ॥३२॥

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रयाणाम् ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीगजेन्द्रमोक्षणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

तदनन्तर गजराजको इस प्रकार अत्यन्त पीड़ित देखकर भगवान् श्रीहरि गरुडके ऊपरसे कूद पड़े और अहैतुकी कृपा करते हुए उन्होंने शीघ्र ही सरोवरके समीप पहुँचकर गजेन्द्रके साथ ही ग्राहका भी उद्धार कर दिया। उन्होंने समस्त देवताओंके समीप ही चक्रसे ग्राहका मुख विपाटित (फाड़) करके गजराजको मुक्त कर दिया ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

गज और ग्राहका पूर्व चरित्र तथा उनका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः।

मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रको मुक्त कर दिया, तब ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवता, ऋषि और गन्धर्वगण भगवान्की प्रशंसा करते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥१॥

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः।

ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम्॥२॥

स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्व नाचने-गाने लगे और ऋषि, चारण एवं सिद्धगण भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥२॥

योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक्।

मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः॥३॥

प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमःश्लोकमव्ययम्।

अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम्॥४॥

ग्राहने भगवान् श्रीहरिकी कृपासे पापमुक्त होकर शीघ्र ही परम आश्चर्यमय दिव्य गन्धर्वरूप धारण कर लिया। वह ग्राह पूर्वजन्ममें हूहू नामक एक श्रेष्ठ गन्धर्व था। देवल मुनिके शापके कारण उसे ग्राह-योनि प्राप्त हुई थी। उसने भगवान्के चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी स्तुति करने लगा। उत्तमश्लोक, अनन्त यशके आश्रय, कीर्तिवान् भगवान् हरिके गुण एवं लीलाएँ ही गान करने योग्य हैं। यह गन्धर्व एक बार स्त्रियोंके सरोवरमें क्रीड़ा

कर रहा था। उसी समय देवल ऋषिने भी सरोवरमें स्नानके लिये प्रवेश किया। यह गन्धर्वराज अपने आमोदके कारण जलके अन्दर ऋषिके चरणोंको खींचने लगा। इसीलिए मुनिवरने उन्हें शाप दिया—अरे दुष्ट! ग्राह बनकर जन्म ले।' इसपर बहुत प्रयासके बाद उसने मुनिको प्रसन्न कर लिया। तब मुनिने कहा—“तू इसी तरह जब गजेन्द्रके पैरको खींचेगा, तब भगवान् श्रीहरि गजेन्द्रके साथ तेरा भी उद्धार करेंगे॥३-४॥

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम्।

लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः॥५॥

भगवान् श्रीहरिकी कृपासे हूहू गन्धर्वके समस्त पाप-ताप नष्ट हो गये। तत्पश्चात् उसने भगवान्की प्रदक्षिणा की और ब्रह्मादि देवताओंके सम्मुख ही अपने गन्धर्वलोककी ओर चला गया॥५॥

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।

प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥६॥

इधर गजराज भी भगवान्का स्पर्श प्राप्त करके अज्ञान-बन्धनसे मुक्त हो गया। उसे भगवान्की सारूप्य गति प्राप्त हुई। वह चतुर्भुज और पीताम्बरधारी बन गया॥६॥

स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।

इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः॥७॥

गजेन्द्र पूर्वजन्ममें द्रविड़ देशका पाण्ड्यवंशी राजा थे। उनका नाम था इन्द्रद्युम्न। वे विष्णुव्रत-परायण और परम यशस्वी थे॥७॥

स एकदाराधनकाल आत्मवान्

गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्।

जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं

समर्चयामास कुलाचलाश्रमः॥८॥

एक समय राजा इन्द्रद्युम्न मलयाचल पर्वतपर आश्रम बनाकर रहने लगे। उन्होंने जटाएँ बड़ा लीं और तपस्वीका वेश धारण कर

लिया। एक बार वे मौनव्रत धारण करके एकाग्र चित्तसे भगवान्की पूजा कर रहे थे। उनका हृदय भगवत्-प्रेममें निमग्न था॥८॥

यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृताहर्णादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह॥ ९ ॥

उसी समय दैववश महायशस्वी अगस्त्य मुनि अपने शिष्योंके साथ स्वेच्छापूर्वक राजा इन्द्रद्युम्नके आश्रममें आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि वे मौन साधक गृहस्थोचित अतिथि सेवादि धर्मका परित्यागकर एकाकी निर्जनमें बैठे हैं, तो वे उनके प्रति क्रोधित हो उठे॥९॥

तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य।
विप्रावमन्ता विशातां तमिस्रं
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव॥ १० ॥

अगस्त्य ऋषिने क्रोधित होकर उन्हें शाप दे डाला—यह इन्द्रद्युम्न असाधु, दुरात्मा और अशिक्षित है। ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला यह हाथीके समान जड़बुद्धि है, अतः इसे वही घोर अज्ञानमय हाथीकी योनि प्राप्त हो॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान् नृप सानुगः।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्ट तदुपधारयन्॥ ११ ॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम्।
हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः॥ १२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार इन्द्रद्युम्नको अभिशाप देकर सामर्थ्यवान् अगस्त्य ऋषि अपने शिष्योंके साथ चले गये। राजर्षि इन्द्रद्युम्नने इस अभिशापको दैवकी प्रेरणा मान लिया।

तदनन्तर उन्हें परमात्माकी स्मृतिका नाश करानेवाली गज-योनि प्राप्त हुई किन्तु भगवान् श्रीहरिकी अर्चनाके प्रभावसे उन्हें इस योनिमें भी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही ॥११-१२॥

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रको मुक्त करके उसे अपना पार्षद बना लिया। गन्धर्व, सिद्ध एवं देवता भगवान्की इस लीलाका गान करने लगे। तत्पश्चात् पद्मनाभ भगवान् पार्षदरूप गजेन्द्रको साथ लेकर गरुडपर आसीन होकर अपने अप्राकृत धामको चले गये ॥१३॥

एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम्।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥ १४ ॥

हे महाराज परीक्षित! यह भगवान्की महिमा और गजेन्द्रकी मुक्तिकी कथा मैंने तुम्हें सुनायी। हे कुरुवंशवर्य! जो इस गजेन्द्र-मोक्ष आख्यानको सुनते हैं, उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होती है, यशकी वृद्धि होती है, कलिकी कलुषता मिट जाती है और सारे दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है ॥१४॥

यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये ॥ १५ ॥

इसीलिए अपने कल्याणकी अभिलाषा रखनेवाले ब्राह्मणगण प्रातः कालमें जागते ही पवित्र होकर दुःस्वप्नादि अशुभोंकी निवृत्तिके लिए नियमपूर्वक इस गजेन्द्र-मोक्षका पाठ करते हैं ॥१५॥

इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥ १६ ॥

हे परीक्षित्! सर्वात्मा, सर्वव्यापक भगवान् श्रीहरिने गजेन्द्रकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वहाँ उपस्थित समस्त प्राणियोंके सम्मुख गजेन्द्रसे कहा था—॥१६॥

श्रीभगवानुवाच—

ये मां त्वाञ्च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम्।
 वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान्॥१७॥
 शृङ्गाणीमानि धिष्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च।
 क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपञ्च भास्वरम्॥१८॥
 श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम।
 सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम्॥१९॥
 शेषञ्च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम्।
 ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च॥२०॥
 मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे।
 कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम्॥२१॥
 प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान् धर्ममव्ययम्।
 दाक्षायणीधर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि॥२२॥
 गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम्।
 ध्रुवं ब्रह्मऋषीन् सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान्॥२३॥
 उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः।
 स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते तैर्ऽहसोऽखिलात्॥२४॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो मनुष्य रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर संयमपूर्वक एवं एकाग्रचित्तसे मेरा, तुम्हारा और इस सरोवर, पर्वत, कन्दरा, वन, बेंत, कीचक, बाँसके झुरमुट, यहाँके दिव्य वृक्ष, मेरे, ब्रह्माजी और शिवजीके निवासस्थल, मेरे प्रियधाम क्षीरसागर, दीप्तिशाली श्वेतद्वीप, मेरे श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पक्षीराज गरुड, शेषनाग, और मेरे आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्मा, नारद

ऋषि, महादेव, प्रह्लाद, मत्स्य, कूर्म, वराहादि अवतारोंमें मेरे द्वारा किये गये अनन्त पुण्यात्मक चरित्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, प्रणव, सत्य, माया, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी सनातन धर्म—भक्ति, सोम, कश्यप, धर्मपत्नी—दक्षकी कन्याओं, गङ्गा, सरस्वती, नन्दा, कालिन्दी, ऐरावत हाथी, ध्रुव, सप्त ब्रह्मर्षि, पवित्रकीर्ति (युधिष्ठिर—जनक आदि) महापुरुषोंका स्मरण करते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। ये सब मेरे ही रूप और स्वरूप हैं॥१७-२४॥

ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये।

तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विपुलां गतिम्॥२५॥

प्रिय गजराज! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर तुम्हारे द्वारा कीर्तित इस स्तोत्रसे मेरी स्तुति करेंगे, मैं मृत्युके समय उन्हें विपुल गति अर्थात् अपना वैकुण्ठ धाम प्रदान करूँगा॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्राध्माय जलजोत्तमम्।

हर्षयन् विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम्॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीगजेन्द्रमोक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! हृषीकेश भगवान् श्रीहरिने इस प्रकार उपदेश देकर अपना सर्वश्रेष्ठ पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया और ब्रह्मादि देवताओंको आनन्दित करते हुए गरुडके ऊपर सवार होकर अपने धाम चले गये॥२६॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके चौथे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना और
ब्रह्मा द्वारा भगवान्की स्तुति

श्रीशुक उवाच—

राजन्नुदितमेतत् ते हरेः कर्माघनाशनम्।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीहरिका यह
गजेन्द्र-मोक्षरूप पापनाशक और पुण्यतम चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया।
अब रैवत मन्वन्तरकी कथा श्रवण करो॥१॥

पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता हार्जुनपूर्वकाः॥२॥

चौथे मनु तामसके छोटे भाई पाँचवे मनु हुए। वे रैवत
नामसे प्रसिद्ध थे। उनके अर्जुन, बलि और विन्ध्य आदि अनेक
पुत्र थे॥२॥

विभुरिन्द्रः सुरगणाः राजन् भूतरयादयः।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः॥३॥

राजन्! इस रैवत मन्वन्तरमें विभु नामके इन्द्र और भूतरय
आदि देवताओंके प्रधान गण थे। उस समय हिरण्यरोमा, वेदशिरा
एवं ऊर्ध्वबाहु आदि ब्राह्मण सप्तर्षि थे॥३॥

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्॥४॥

इनमें शुभ्र ऋषिकी पत्नीका नाम था विकुण्ठा। इसी विकुण्ठाके
गर्भसे वैकुण्ठ नामक श्रेष्ठ देवताओंके साथ अपने अंशसे स्वयं
भगवान्ने वैकुण्ठ नामक अवतार धारण किया॥४॥

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः।

रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥५॥

लक्ष्मीदेवीकी प्रार्थनासे उन्हें प्रसन्न करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीहरिने समस्त लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ वैकुण्ठ लोककी रचना की थी ॥५॥

तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः।

भौमान् रेणून् स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद् गुणान् ॥६॥

भगवान् वैकुण्ठनाथके सुमहान् कल्याणकारी गुणों एवं सुमहान् प्रभावका वर्णन तो मैं संक्षेपमें (तृतीय स्कन्धमें) पहले कर ही चुका हूँ। भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेमें वही समर्थ हो सकता है, जो भूमिपर स्थित धूलि-कणोंकी गणना कर सकता हो, परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं है ॥६॥

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः।

पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥७॥

चक्षुके पुत्र चाक्षुष नामके छोटे मनु थे। उनके पुरु, पुरुष एवं सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे ॥७॥

इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः।

मुनयस्तत्र वै राजन् हर्यस्मद्वीरकादयः ॥८॥

इस मन्वन्तरके इन्द्रका नाम था मन्त्रद्रुम; आप्य आदि प्रधान देवगण थे और हर्यस्मद् एवं वीरक आदि सप्तर्षि थे ॥८॥

तत्रापि देवसम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः।

अजितो नाम भगवानंशेन जगतीपतिः ॥९॥

इस छोटे मन्वन्तरमें भी वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे जगत्पति भगवान् विष्णु अपने अंशसे जन्म ग्रहण करके अजित नामसे प्रसिद्ध हुए थे ॥९॥

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।

भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥१०॥

उन्होंने क्षीरसागरका मन्थन करके देवताओंके लिए अमृत उत्पन्न किया था तथा उन्होंने ही कच्छपरूप धारण करके सागरके जलमें घूमते मन्दर पर्वतको अपनी पीठपर धारण किया था ॥१०॥

श्रीराजोवाच—

यथा भगवता ब्रह्मन् मथितः क्षीरसागरः।

यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥११॥

यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यदभवत् ततः।

एतद्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥१२॥

राजा परीक्षितने कहा—हे ब्रह्मन्! भगवान् विष्णुने किस प्रकार और किस कारणसे समुद्र मन्थन किया था—उन्होंने कच्छपरूप धारण करके मन्दराचल पर्वतको क्यों धारण किया था, किस प्रकार देवताओंको अमृत प्राप्त हुआ था और सागर मन्थनसे क्या-क्या वस्तुएँ उत्पन्न हुई थीं? आप कृपा करके भगवान्की यह अद्भुत आश्चर्यमयी लीला हमें अवश्य सुनाइए ॥११-१२॥

त्वया संकथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः।

नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम् ॥१३॥

आपके मुखसे सात्वतपति भगवान्की महिमा सुनकर, दीर्घकालसे त्रितापोंसे तप्त मेरा चित्त परितृप्त नहीं होता, बल्कि इसकी उत्कण्ठा और भी बढ़ती जाती है ॥१३॥

श्रीसूत उवाच—

संपृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः।

अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे ॥१४॥

श्रीसूतने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! राजा परीक्षितके इस प्रकार जिज्ञासा करनेपर द्वैपायन-पुत्र श्रीशुकदेवने उनके प्रश्नोंका अभिनन्दन किया और भगवान् श्रीहरिकी अपार महिमाका वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया ॥१४॥

श्रीशुक उवाच—

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः शितोयुधैः।

गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन् स्म भूरिशः ॥ १५ ॥

यदा दुर्वासःशापेन सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप।

निःश्रीकाश्चाभवन्स्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जिस समय युद्धमें असुरोंके तीक्ष्ण अस्त्रोंके द्वारा आहत होकर देवता निष्प्राण होकर भूमिपर गिरने लगे तथा उनमेंसे अधिकांश भूमिसे—जीवित ही नहीं उठ पाये, उस समय हे राजन्! दुर्वासा मुनिके शापसे तीनों लोक और स्वयं इन्द्र भी श्रीहीन हो गये थे और यज्ञादि अनुष्ठानोंका होना ही बन्द हो गया था ॥ १५-१६ ॥

निशाम्यैतत् सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः।

नाध्यगच्छन् स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चितम् ॥ १७ ॥

ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मैरोर्मूर्द्धनि सर्वशः।

सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ॥ १८ ॥

जब तीनों लोकोंको श्रीहीन देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवतागण बहुत सोच-विचार करके भी किसी निर्णयपर न पहुँच सके, तब सारे देवता एकत्रित होकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित ब्रह्माजीकी सभामें पहुँचे। उन्होंने ब्रह्माको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनके समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर दिया ॥ १७-१८ ॥

स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निःसत्त्वान् विगतप्रभान्।

लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥ १९ ॥

समाहितेन मनसा संस्मरन् पुरुषं परम्।

उवाचोत्फुल्लवदनो देवान् स भगवान् परः ॥ २० ॥

ब्रह्माने देखा कि इन्द्र, वायु आदि देवतागण श्रीहीन एवं बलहीन हो गये हैं। तीनों लोकोंमें अमङ्गल छा रहा है और इसके विपरीत असुरगण फल-फूल रहे हैं। तब सर्वसमर्थ ब्रह्माजीने एकाग्र चित्तसे

परमपुरुष श्रीभगवान्का स्मरण किया और कुछ समय पश्चात् उत्फुल्ल मुखसे इन्द्रादि देवताओंको सम्बोधित करते हुए कहने लगे— ॥१९-२०॥

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यङ्मनुमर्माजातयः ।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता
व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥ २१ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओ! मैं, शङ्करजी, तुम सभी देवतागण, असुर, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज आदि समस्त जीव विराट् पुरुषके अंशकी कलासे उत्पन्न हुए हैं, हम सब उन्हीं अव्यय परमात्माकी शरण ग्रहण करें ॥२१॥

न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
तथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले ॥ २२ ॥

भगवान्के लिए न कोई वधका पात्र है और न ही कोई रक्षाका, उनके लिए न कोई उपेक्षणीय है और न कोई आदरणीय, फिर भी वे सृष्टि, स्थिति एवं संहारके लिए समय-समयपर सत्त्व, रज एवं तमोगुणको धारण करते हैं ॥२२॥

अयञ्च तस्य स्थितिपालनक्षणः
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् ।
तस्माद्ब्रजामः शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः ॥ २३ ॥

समस्त प्राणियोंकी स्थितिके लिए उन्होंने इस समय सत्त्वगुणको स्वीकार कर रखा है। इसलिए यह जगत्की स्थिति एवं रक्षाका समय है। अतः हम सब उन जगद्गुरुकी शरण ग्रहण करते हैं। वे देवताओंके प्रिय हैं और देवता उनसे प्रेम करते हैं। हम उनके निजजन हैं, अतः वे हमारा कल्याण अवश्य ही करेंगे ॥२३॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याभाष्य सुरान् वेधाः सह देवैररिंदम।

अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम् ॥ २४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे शत्रुनाशन परीक्षित! देवताओंसे इस प्रकार कहकर ब्रह्मा देवताओंको साथ लेकर अजित भगवान्‌के परमधाम श्वेतद्वीप पहुँचे, जो तमोमयी प्रकृतिसे परे है ॥ २४ ॥

तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै प्रभुः।

स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः ॥ २५ ॥

ब्रह्मादि देवताओंने भगवान्‌के स्वरूप और धामके विषयमें पहलेसे ही बहुत कुछ सुन रखा था किन्तु वहाँ जानेपर उन्हें कुछ दिखायी नहीं दिया। तब ब्रह्माजीने चित्तको एकाग्र करके वेदवाणीसे (वैदिक वाङ्‌मयमें वर्णित वचनावलीसे) भगवान्‌की स्तुति करना आरम्भ कर दिया ॥ २५ ॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं

गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।

मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं

नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥ २६ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवाधिदेव! आप निर्विकार, सत्यस्वरूप, अतर्क्य, अनन्त-अनादि और सबके हृदयोंमें अन्तर्यामीके रूपमें विराजमान रहते हैं। अप्रमेयत्वके कारण आप निरुपाधिक हैं। जहाँ तक मनकी पहुँच है, वहाँ आप पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं। वाणी आपका निरूपण नहीं कर सकती। आप ही सर्वश्रेष्ठ और समस्त देवताओंके आराध्य हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना—

मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमब्रणम्।

छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ

तमक्षरं खं त्रियुगं ब्रजामहे ॥ २७ ॥

आप प्राण, मन, बुद्धि और आत्माके ज्ञाता हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं परन्तु ये आपको प्रकाशित नहीं कर सकते। अज्ञान आपका स्पर्श नहीं कर सकता, जीवकी पक्षपातिनी अविद्या और विद्याका आपसे कोई सम्पर्क नहीं है। आपका शरीर प्राकृत नहीं है, जो पूर्व कर्मका परिणाम होता है। आप नित्य, अविनाशी और सुखस्वरूप हैं, आप आकाशके समान सर्वव्यापक हैं तथा सत्य, त्रेता, एवं द्वापर तीनों युगोंमें षडैश्वर्यसे परिपूर्ण होकर प्रकट होते हैं। हम सब आपके शरणागत हैं ॥२७॥

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु।
त्रिनाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥ २८ ॥

विवेकीजनोंका कहना है कि जीवका यह संसारचक्र (जन्म-मरण रूपी शरीर) मनोमय है अर्थात् मन इस चक्रका प्रधान अंश है, दस इन्द्रियाँ और पञ्चप्राण इसके अंग हैं। सत्त्वादि गुण तीन नाभियोंके समान इसके मध्यभागमें स्थित हैं, यह विद्युतके समान चञ्चल गतिवाला है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्रकृति, महत्-तत्त्व एवं अहङ्कार—ये आठ इस चक्रकी नेमि (परिधि) हैं। बहिरङ्गा माया शक्ति द्रुतगतिसे इस देहचक्रको चारों ओर घुमाती है। इस चक्रकी आश्रय-धुरी स्वयं सत्यस्वरूप परमात्मा हैं। हम उन्हींकी शरण ग्रहण करते हैं ॥२८॥

य एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-
मुपासते योगरथेन धीराः ॥ २९ ॥

जो एकवर्ण, (ओङ्कार-स्वरूप) शुद्धसत्त्वमय, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, प्रकृति (दृश्य जगत्)से परे, भौतिक नेत्रोंसे अदृश्य, लोकातीत होनेके

कारण अव्यक्त (सबसे अगम्य) हैं, काल और देश तथा शब्द और अर्थके द्वारा जिनका निर्णय नहीं किया जा सकता (अर्थात् दिक् या काल द्वारा हमसे पृथक् नहीं होते, सर्वत्र उपस्थित रहते हैं)। जो सिद्ध जीवोंके लिए जो सुपर्णवत् प्रकाशित होते हैं और धीरजन प्रणवरूप सुपर्णमें आरूढ़ (गरुडपर आसीन) जिन परमेश्वरको योगरूप रथपर आरोहण कराके जिनकी उपासना करते हैं, हम उन्हीं परमेश्वरको प्रणाम करते हैं ॥२९॥

न यस्य कश्चातितितर्त्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥३०॥

जिस मायासे मोहित होकर जीव आत्मस्वरूपको जान नहीं पाते, वह उन्हींकी माया है। इस मायासे पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। जो प्रभु अपनी माया एवं मायाके गुणोंको वशीभूत करके समस्त प्राणियोंके हृदयमें समभावसे विराजमान रहते हैं, हम उन्हें प्रणाम करते हैं ॥३०॥

इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥३१॥

हम देवता एवं ऋषिगण उनके प्रिय सत्त्वमय मूर्तिस्वरूप शरीरसे ही उत्पन्न हुए हैं, फिर भी हम बाहर (कालरूपमें) और अन्तरमें (अन्तर्यामीरूपमें) उनकी सत्ता एवं प्रकाश द्वारा प्रकटित उनकी सूक्ष्म गतिको नहीं जान सकते। तब जो रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान असुर हैं, वे उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं? हम उन्हीं प्रभुको नमस्कार करते हैं ॥३१॥

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स वै महापुरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥

जिस पृथ्वीपर जरायुज, स्वेदज, अण्डज एवं उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि हुई है, वह पृथ्वी उन चिन्मय-विग्रह भगवान्‌के चरण-कमलोंकी विभूति है। वे स्वतन्त्र परमपुरुष, परम ऐश्वर्यशाली, भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३२॥

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिद्ध्यन्ति जीवन्त्युत वर्द्धमानाः।
लोका यतोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३३ ॥

समस्त लोक एवं उनके लोकपाल जिस जलसे उत्पन्न होते हैं, जिसमें जीवित रहते हैं और जिससे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, वह महाशक्तिवान् जल भगवान्‌का वीर्य है। ऐसे महाविभूतिशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३३॥

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्थ आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३४ ॥

देवताओंके अन्न, बल और आयु, समस्त वनस्पतियोंके ईश्वर और प्रजाओंकी उत्पत्तिके स्रोत चन्द्रमाको पण्डितगण जिनका मन कहते हैं, ऐसे महाविभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३४॥

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३५ ॥

अग्निकी उत्पत्ति वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डको भलीभाँति सम्पन्न करनेके लिए हुई है, यह उदरमें रहकर जठरानलके रूपमें अन्नादिका एवं समुद्रमें रहकर बड़वानल रूपमें जलादि धातुओंका पाचन करती है और जिससे धनादि समस्त द्रव्योंकी उत्पत्ति हुई है, अनुष्ठेय आहुतियोंको ग्रहण करनेवाली वह अग्नि जिनका मुख है, ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३५॥

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्यम्।
द्वारञ्च मुक्तेरमृतञ्च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३६ ॥

जो अचिरादि मार्गके (उत्तरायणके) अधिष्ठातृ देवता हैं, जो वेदोंके साक्षात् मूर्तिमान् स्वरूप हैं, जो ब्रह्मके उपासना-स्थल हैं, जो मुक्तिका द्वार एवं अमृतस्वरूप हैं, जो कालरूप होनेके कारण मृत्यु हैं और सूर्य जिनके नेत्रस्वरूप हैं, ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३६॥

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगाः वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३७ ॥

समस्त चराचर जगत्को तेज, प्राण, मानसिक बल, शारीरिक बल और इन्द्रिय बल प्रदान करनेवाली वायु जिनके प्राणोंसे उत्पन्न हुई है, जो चक्रवर्ती सम्राट् हैं और बुद्धि, इन्द्रियादिके अधिष्ठाता हम देवतागण दासके समान जिनका अनुसरण करते हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३७॥

श्रोत्रादिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३८ ॥

जिनकी श्रवणेन्द्रियसे दसों दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक (देहस्थित रन्ध्र) और नाभिमण्डलसे प्राण, इन्द्रिय, मन, वायु एवं शरीरका आश्रय आकाश उत्पन्न हुआ है, वे परमशक्तिशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३८॥

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
 न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः ।
 खेभ्यस्तु छन्दांस्यृषयो मेदृतः कः
 प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३९ ॥

जिनके बलसे स्वर्गका राजा महेन्द्र, प्रसन्नतासे देवतागण, क्रोधसे शङ्कर, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे सम्पूर्ण वेद एवं ऋषि तथा लिङ्गसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, वे महाविभूति भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३९॥

श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययासन्
 धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
 द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
 प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४० ॥

जिनके वक्षःस्थलसे लक्ष्मी, छायासे पितृगण, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, मस्तकसे स्वर्ग और विहारसे अप्सराएँ प्रकट हुईं, वे महाविभूति सम्पन्न भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥४०॥

विप्रो मुखान्ब्रह्म च यस्य गुह्यं
 राजन्य आसीद्भुजयोर्बलञ्च ।
 ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरेवदशूद्रौ
 प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥

जिनके मुखसे ब्राह्मण और वेद, भुजाओंसे क्षत्रिय एवं बल, जाँघोंसे वैश्य और उनकी वृत्ति, चरणोंसे शूद्र एवं उनकी शुश्रूषा-वृत्ति उत्पन्न हुए हैं, ऐसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥४१॥

लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद्युति-
 नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः।
 भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
 प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४२॥

जिनके अधरौष्ठसे लोभ, उत्तरौष्ठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पाशविक काम, भौंहोंसे यम और पलकोंसे कालकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे महाविभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥४२॥

द्रव्यं वयः कर्म गुणान् विशेषं
 यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।
 यद्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
 प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४३॥

पृथ्वी आदि पञ्चभूत, काल, कर्म (जीवका अदृष्ट) एवं उसके हेतुभूत सत्त्वादि प्रकृतिके गुण, इन सबसे उत्पन्न लौकिक प्रपञ्च, द्रव्यादि सम्पूर्ण पदार्थ भगवान्की योगमाया (स्वरूपशक्ति) द्वारा रचे गये हैं। विद्वानोंका कहना है कि इन सब पदार्थोंको प्राकृतरूपमें ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ये दुर्ज्ञेय एवं दुस्तर्क्य हैं। (विद्वत्-वर्ग इनके वास्तवत्वका निरास करता है।) ऐसे परम विभूतिमय भगवान् हमपर प्रसन्न हों। (दुर्ज्ञेय एवं अतर्क्य होनेपर भी उनका सङ्गल्प ज्ञानियों द्वारा बोधगम्य है। तदनुसार उनकी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति योगमाया है, योगमायाकी विभूति सत्त्वादिगुणमयी माया है, उसकी विभूति फल, कर्म, महदादिसे पृथ्वी तकके तत्त्व-सूत्र, उनकी विभूति मायिक विश्व है—इस प्रकार इस तत्त्वको जाना जा सकता है।) ॥४३॥

नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
 स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
 गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
 र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥४४॥

जो माया निर्मित शब्द, रूपादि विषयोंकी श्रवण, दर्शन आदि वृत्तियोंमें उसी प्रकार आसक्त नहीं होते, जिस प्रकार नित्य प्रवाहमान वायु सर्वत्र अनासक्त रहता है। जो अपने आत्मानन्दके लाभसे परिपूर्ण हैं, जिनमें सवित् इत्यादि समस्त अन्तरङ्ग शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं, जो प्रयास-रहित एवं निष्क्रिय हैं और जिनकी लीला वायुके समान अबाधित है, ऐसे महाविभूतिशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥४४॥

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम्।

प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥४५॥

हे भगवन्! हम आपके शरणागत हैं और आपके दर्शनके इच्छुक हैं। हमारे इन नेत्रोंको आप मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त अपना मुख एवं अपना स्वरूप दिखलाकर हमें कृतार्थ कीजिए ॥४५॥

तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो।

कर्म दुर्विषहं यत्रो भगवांस्तत् करोति हि ॥४६॥

हे प्रभो! आप षडैश्वर्यसे परिपूर्ण हैं। आप स्वेच्छासे स्वयं ही समय-समयपर मत्स्य, कूर्मादि अवतार धारण करते हैं, जो हमारे लिए असम्भव है। आप सर्वशक्तिमान् हैं, आपके लिए अपने स्वरूपका दर्शन कराना कठिन नहीं है—आप अघटनघटन पटीयसी शक्तिसे युक्त हैं ॥४६॥

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा।

देहिनां विषयात्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥४७॥

जो लोग विषयोंके फेरमें पड़कर विभिन्न कर्म करते हैं, उनमें परिश्रम और क्लेश तो बहुत हैं, किन्तु फल बहुत कम मिलता है। इसके विपरीत जिन्होंने अपने कर्मोंको आपमें अर्पण कर रखा है, वे कभी निष्फल नहीं होते, अपितु महाफल प्राप्त करते हैं ॥४७॥

नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्चरार्पितः।

कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः॥४८॥

भगवान्को अर्पित किया हुआ कार्य छोटे-से-छोटा भी क्यों न हो, वह निरर्थक नहीं होता, क्योंकि भगवान् समस्त जीवोंके हितकारी, प्रियतम और आत्मा ही हैं॥४८॥

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।

एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥४९॥

वृक्षकी जड़को सींचनेसे जिस प्रकार उसके बड़े-बड़े तनों, शाखा-प्रशाखाओंकी स्वयं ही तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी आराधनासे समस्त प्राणियोंकी और अपनी भी आराधना हो जाती है॥४९॥

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितक्यात्मकर्मणे।

निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम्॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमथने श्रीब्रह्मस्तुतिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः।

जो अनन्त अर्थात् तीनों कालोंसे परे हैं, जिनके स्वभाव एवं लीलाएँ तर्क-वितर्कसे अतीत हैं, जो सत्त्वादि गुणोंके नियन्ता हैं और जो इस समय सत्त्वगुणमें अधिष्ठित हैं, ऐसे भगवान्को हम बार-बार नमस्कार करते हैं॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके पाँचवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

देवताओंका दैत्योंसे मिलकर समुद्र-मन्थनके लिए
चेष्टा करना

श्रीशुक उवाच—

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः।
तेषामाविरभूद्राजन् सहस्रार्कोदयद्युतिः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब देवताओंने भगवान् श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति की, तब वे ब्रह्मादि देवताओंके सम्मुख प्रकट हो गये। उनके शरीरकी कान्ति ऐसी थी मानो हजारों सूर्य एक साथ उदित हो गये हों ॥१॥

तेनैव महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः।
नापश्यन् खं दिशः क्षौणीमात्मानं च कुतो विभुम् ॥ २ ॥

भगवान्के इस तेजसे देवताओंकी आँखें चौंधिया गयीं। उन्हें आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी, यहाँ तक कि अपना शरीर भी दिखायी नहीं दे रहा था। तब वे सर्वव्यापक भगवान्का किस प्रकार दर्शन कर सकते थे? ॥२॥

विरिञ्चो भगवान् दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम्।
स्वच्छां मरकतश्यामां कज्जगभारुणेक्षणाम् ॥ ३ ॥

तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गी सुमुखी सुन्दरभ्रुवम् ॥ ४ ॥

महामणिकिरीटेन केयूराभ्याञ्च भूषिताम्।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥ ५ ॥

काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ॥ ६ ॥

सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम्।
 तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम्।
 सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः ॥ ७ ॥

शिव और ब्रह्माको ही भगवान्की वह अनुपम झाँकी दिखायी दे रही थी। मरकत मणिके समान निर्मल, देदीप्यमान एपं श्यामल शरीर, कमलके भीतरी भागके समान अरुण वर्णके नेत्र, तप्तकाञ्चनवत् विशुद्ध एवं उद्दीप्त रेशमी-पीताम्बर, सर्वाङ्ग सुन्दर प्रसन्न छवि, मनोहर मुसकान, सुन्दर मुखश्री, आकर्षक भौंहें, महामणिमय किरीट, बाजूबन्दोंसे सुशोभित भुजाएँ तथा कुण्डलोंकी काँतिसे युक्त कपोल और मुखकमल अत्यधिक कान्तिमय हो रहे थे। भगवान्की कमरमें करधनी, हाथोंमें वलय, गलेमें हार और दोनों चरणोंमें नूपुर सुशोभित थे। कण्ठमें कौस्तुभ मणि झिलमिला रही थी तो वक्षःस्थलमें उन्होंने लक्ष्मीजीको धारण कर रखा था। चारों भुजाओंमें सुदर्शन चक्र, गदादि आयुध विराजमान थे। वनमालाकी शोभा अद्भुत थी। शिव और ब्रह्मा सहित वहाँ उपस्थित सभी देवताओंने भूमिपर लोटकर भगवान्को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और उनकी इस प्रकार स्तुति की ॥३-७॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अजातजन्मस्थितिसंयमाया—
 गुणायं निर्वाणसुखार्णवाय।
 अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
 महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—आपके जन्म एवं स्थितिका कभी विराम नहीं होता। राम, कृष्ण आदि अवतारोंके रूपमें आपका प्राकट्य तथा अन्तर्धान निरन्तर चलता रहता है। आप सत्त्वादि प्राकृत गुणोंसे रहित, निर्वाणरूपी सुखके समुद्र और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं। आपका स्वरूप अनन्त है, आप अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सर्वव्यापक हैं—ऐसे परम ऐश्वर्यशाली आपको हमलोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥८॥

रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं
 श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
 योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्
 पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्त्तौ ॥ ९ ॥

हे पुरुषोत्तम! हे विधाता! अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य वैदिक एवं पाञ्चरात्रिक विधियोंके द्वारा सर्वदा आपके इस स्वरूपकी पूजा करते हैं। अहो! आपकी इस विश्वमय मूर्त्तिमें मुझे तीनों लोक और हम सब भी दिखायी दे रहे हैं ॥ ९ ॥

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्
 त्वय्यन्त आसीदिदमामतन्त्रे ।
 त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
 घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ १० ॥

विश्वकी रचनासे पूर्व आप थे, मध्यमें भी आप हैं और विनाशके बाद भी आप ही रहेंगे। मिट्टी जिस प्रकार घड़ेकी पूर्व, मध्य और अन्त सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है, उसी प्रकार इस जगत्के आदि, मध्य, और अन्तमें केवल आप ही विराजमान रहते हैं। आप प्रकृतिके भी परे हैं। प्रकृति (आपकी शक्ति) ही विश्वरूपमें परिणत होती है, आप नहीं ॥ १० ॥

त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं
 निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
 पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
 गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥ ११ ॥

हे विभो! आप अपनेमें आश्रित मायाके द्वारा इस विश्वकी रचना करके इसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः शास्त्रज्ञ पुरुष एवं मनीषीगण योगसे परिपक्व हुए शुद्ध अन्तःकरणसे गुणोंके परिणामस्वरूप इस विश्वमें प्रविष्ट होनेपर भी आपके निर्गुणत्वका ही दर्शन करते हैं ॥ ११ ॥

यथाग्निमेधस्यमृतञ्च गोषु
 भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम्।
 योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
 गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥१२॥

जिस प्रकार मानव मन्थनादि युक्तियोंके द्वारा लकड़ीसे आग, गौसे दूध, पृथ्वीसे अन्न एवं जल और अपनी कला एवं पुरुषार्थसे अपनी आजीविका प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही विद्वज्जन अपनी शुद्ध बुद्धिसे भक्तियोगके द्वारा इन गुणोंमें ही (गुरु-उपदिष्ट-श्रवण-कीर्तनके मनमें मन्थन द्वारा ही) आपका अन्वेषण कर लेते हैं और अपनी-अपनी अनुभूतियोंके अनुसार आपका वर्णन करते हैं ॥१२॥

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
 सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
 दृष्ट्वा गता निर्वृतमद्य सर्वे
 गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥१३॥

हे पद्मनाभ! दावाग्निसे पीड़ित हाथी जिस प्रकार गङ्गाजलकी प्राप्ति होनेपर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार परम पुरुषार्थ स्वरूप आपके आविर्भावसे हम सब परमानन्दित हो गये हैं। हे प्रभो! हमें दीर्घकालसे आपके दर्शनोंकी बहुत लालसा थी ॥१३॥

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
 वयं यदथास्तव पादमूलम्।
 समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्
 किंवान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥१४॥

हे स्वामिन्! हम सब लोकपालगण जिस प्रयोजनसे आपके चरणोंकी शरणमें आये हैं, आप कृपा करके उसे पूर्ण कीजिए। हे अन्तरात्मन्! आप भीतर तथा बाहर समस्त पदार्थोंके साक्षी हैं। हमारे प्रयोजनको भी आप स्पष्ट रूपसे जानते हैं, इस विषयमें हम और क्या निवेदन करें? ॥१४॥

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
 दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते।
 किं वा विदामेश पृथग्विभाता
 विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥ १५ ॥

मैं, शिवजी, अन्यान्य देवता और दक्षादि प्रजापति, हम सब अग्निकी चिनगारियोंके समान आपके ही अंश हैं। हम आपसे स्वतन्त्र होकर पृथक् रूपसे अपना श्रेय किस प्रकार जान सकते हैं? हे परमेश्वर! हमारे लिए आदेश कीजिए, जिसे करनेसे हम देवताओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो (आप ब्राह्मणोंको मन्त्र प्रदान कीजिए।) ॥ १५ ॥

श्रीशुक उवाच—

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्त—
 द्विज्ञाय तेषां हृदयं यथैव।
 जगाद जीमूतगभीरया गिरा
 बद्धाञ्जलीन् संवृतसर्वकारकान् ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! ब्रह्मादि देवता इस प्रकार भगवान्की स्तुति करके, इन्द्रियोंको एकाग्र करके, हाथ जोड़कर सावधान मुद्रामें खड़े हो गये। उनकी स्तुति सुनकर और उनके आगमनके अभिप्रायको यथार्थरूपसे जानकर भगवान् मेघके समान गम्भीर वाणीमें उनसे बोले ॥ १६ ॥

एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः।
 विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः ॥ १७ ॥

राजन्! यद्यपि स्वयं भगवान् सुरेश्वर अकेले ही उन देवताओंका कार्य करनेमें समर्थ थे, तथापि समुद्र मन्थन आदि लीलाओंके द्वारा क्रीड़ा-विहार करनेकी इच्छासे वे देवताओंसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम्।

शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद् यथा सुराः ॥ १८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! हे शम्भो! हे देवताओ! जिस प्रकारसे तुम्हारा कल्याण होगा, मैं तुम्हें वही बतला रहा हूँ। तुम सावधान होकर मेरी बात सुनो ॥ १८ ॥

यात दानवदैतेयैस्तावत् सन्धिर्विधीयताम्।

काव्येनानुगृहीतैस्तैर्यावद्धो भव आत्मनः ॥ १९ ॥

इस समय काल असुरोंके अनुकूल है। जब तक तुम्हारी समृद्धिका समय नहीं आता, तब तक तुम शुक्राचार्यके द्वारा अनुगृहीत दानवोंके साथ सन्धि कर लो ॥ १९ ॥

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे।

अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥ २० ॥

हे देवताओ! जब कोई बड़ा कार्य करना हो, तब शत्रुओंके साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए। प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर तो सर्प और चूहेके समान व्यवहार करना चाहिए। (दैववश किसी पिटारीमें साँप और चूहा दोनों पकड़ लिये गये। सर्पने पिटारीसे बाहर निकलनेके लिये चूहेको छेद करनेके लिये कहा। छेद हो जानेपर साँप चूहेको निगलकर पिटारीसे भाग गया) ॥ २० ॥

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम्।

यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥ २१ ॥

हे देवताओ! तुमलोग बिना कोई विलम्ब किये अमृत निकालनेका प्रयत्न करो, जिसका पान करके मरणशील प्राणी भी अमर हो जाते हैं ॥ २१ ॥

क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तुणलतौषधीः।

मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥ २२ ॥

सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः।

क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः॥ २३ ॥

हे देवताओ! सर्वप्रथम सभी प्रकारकी वनस्पतियाँ, तृण, लताएँ एवं ओषधियाँ क्षीरसागरमें डाल दो, उसके पश्चात् मन्दर पर्वतको मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाकर मेरी सहायतासे समुद्रका मन्थन करो। हे देवताओ! न तो यह समय आलस्यका है, और न ही व्याकुल होनेका। इस कष्टसाध्य श्रममें व्यस्त होकर दैत्योंको केवल क्लेश ही मिलेगा, अमृत नहीं॥२२-२३॥

यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः।

न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥ २४ ॥

हे देवताओ! शान्तिके मार्गसे सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, क्रोधसे कुछ प्राप्त नहीं होता। असुर जो भी चाहें, तुम लोग उसे स्वीकार कर लेना॥२४॥

न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसम्भवात्।

लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु॥ २५ ॥

समुद्रसे कालकूट विष निकलेगा किन्तु तुमलोग उससे भयभीत मत होना। मन्थनसे और भी जो वस्तुएँ निकलेंगी, उनके लिए भी कदापि लोभ और कामना मत करना और यदि असुरगण किसी वस्तुको ले जाएँ, तो भी क्रोध मत करना॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

इति देवान् समादिश्य भगवान् पुरुषोत्तमः।

तेषामन्तर्दधे राजन् स्वच्छन्दगतिरीश्वरः॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरि देवताओंको आदेश देकर उनके देखते-ही-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये। सर्वशक्तिमान् भगवान् देवताओंके भी नियन्ता और परम स्वतन्त्र हैं॥२६॥

अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः।

भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः॥ २७ ॥

इसके पश्चात् भगवान्को पुनः नमस्कार करके पितामह ब्रह्मा और शिवजी अपने-अपने धामको चले गये। इधर इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास गये॥२७॥

दृष्ट्वारीनप्यसंयत्तान् जातक्षोभान् स्वनायकान्।

न्यषेधद्वैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित्॥ २८ ॥

दैत्यराज बलिका यश बड़ा प्रशंसनीय था। वे जानते थे कि कब सन्धि की जाय और कब विरोध किया जाय। जब उन्होंने देखा कि देवता अस्त्र-शस्त्रके बिना आ रहे हैं, तो उन्होंने संहारके लिए तत्पर अपने विशुद्ध सेनापतियोंको रोक दिया॥२८॥

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तज्वासुरयूथपैः।

श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन्॥ २९ ॥

सारे देवता विरोचन-नन्दन राजा बलिके पास पहुँचे। वे असुर सेनापतियोंके द्वारा सुरक्षित और परम सम्पदाओंसे सेवित होकर राजसिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने अपने बलसे तीनों लोकोंको जीत लिया था॥२९॥

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः।

अभ्यभाषत तत् सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात्॥ ३० ॥

महाबुद्धिमान् देवराज इन्द्रने मृदु एवं मधुर वचनोंसे राजा बलिको प्रसन्न कर लिया। उन्होंने राजा बलिके सम्मुख वे सभी बातें कहीं, जो उन्होंने भगवान् पुरुषोत्तम श्रीहरिसे सीखी थीं॥३०॥

तत्त्वरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः।

शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः॥ ३१ ॥

देवराज इन्द्रके द्वारा प्रस्तावित सभी बातें राजा बलिको बड़ी रुचिकर लगीं। उस समय वहाँपर बैठे हुए शम्बर, अरिष्टनेमि आदि

त्रिपुरवासियों और पौलोम, कालकेय आदि असुर-सेनापतियोंको भी वह बात उचित लगी ॥३१॥

ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः ।

उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थं परन्तप ॥ ३२ ॥

हे शत्रुनाशन् परीक्षित्! इसके पश्चात् देव और दानवोंने परस्पर शपथ लेकर सन्धि कर ली और वे सब मिलकर नियमितरूपसे अमृत निकालनेके लिए प्रयत्न करने लगे ॥३२॥

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ।

नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः ॥ ३३ ॥

परमशक्तिशाली, दुरभिमानी और परिघ अस्त्रके समान भुजाओंवाले देवता और दानवोंने अपने बलसे मन्दर पर्वतको उखाड़ लिया और सिंहनाद करते हुए क्षीरसागरकी ओर चले ॥३३॥

दूरभारोद्धहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः ।

अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि ॥ ३४ ॥

परीक्षित्! प्रथम तो मन्दराचल पर्वत बहुत अधिक भारी था और दूसरे क्षीरसागर भी बहुत दूर था। इन्द्र, बलि आदि देवता एवं असुर उसे वहन करते-करते इतने थक गये कि उसे सागर तक नहीं ले जा सके और उन्होंने उस पर्वतको बीच रास्तेमें ही छोड़ दिया ॥३४॥

निपतन् स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् ।

चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः ॥ ३५ ॥

यह मन्दराचल पर्वत सोनेका बना हुआ था और अत्यन्त भारी था। उसने गिरते समय बहुत-से देवता और दानवोंको चकनाचूर कर दिया ॥३५॥

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान् ।

विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥ ३६ ॥

पर्वतके गिरनेसे देवताओं और दानवोंमें-से किसीकी जाँघ टूट गयी, तो किसीके कन्धे एवं बाहु आदि टूट-फूट गये। इसके साथ ही उनके सारे मनोरथ भी भङ्ग हो गये। यह देखकर सहसा भगवान् गरुडध्वज उस स्थानपर प्रकट हो गये ॥३६॥

गिरिपातविनिष्पिष्टान् विलोक्यामरदानवान्
ईक्षया जीवयामास नीरुजान्निर्व्रणान् यथा ॥ ३७ ॥

जब भगवान् श्रीहरिने देखा कि पर्वतके गिरनेसे देवता एवं दानव चूर्ण-विचूर्ण हो गये हैं, तो उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे उन्हें इस प्रकार जीवित कर दिया, मानो उन्हें कोई चोट ही न पहुँची हो और न ही कोई दुःख हुआ हो ॥३७॥

गिरिञ्चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ॥ ३८ ॥

इसके पश्चात् भगवान्ने अनायास ही एक हाथसे मन्दर पर्वतको उठाकर अपने वाहन गरुडके ऊपर रख दिया तथा स्वयं भी उनके ऊपर सवार हो गये और देवता एवं असुरोंके साथ क्षीरसागरके तट पर पहुँचे ॥३८॥

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमथने मन्दराचलानयनं नाम
षष्ठोऽध्यायः।

तदनन्तर गरुडने मन्दर-पर्वतको अपने कन्धेसे उतारकर जलके समीप रख दिया और भगवान्की आज्ञा प्राप्त करके वहाँसे चले गये ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके छठे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

देवताओं और असुरोंका मिलकर समुद्र-मन्थन और
शिवजीका विषपान

श्रीशुक उवाच—

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम्।
परिवीय गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः।
आरेभिरे सुरा यत्ता अमृतार्थे कुरुद्वह॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! देवताओं एवं दानवोंने नागराज वासुकिसे प्रतिज्ञा की कि वे मन्थनसे प्राप्त होनेवाले अमृतमें— से उन्हें भी हिस्सा देंगे और यह कहकर उन्हें रज्जुरूपमें मन्दर पर्वतसे लपेट लिया। अब सबने बड़े आनन्दके साथ अमृत प्राप्त करनेके लिए क्षीरसागरका मन्थन करना आरम्भ कर दिया॥१॥

हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन्॥२॥

भगवान् श्रीहरि पहले वासुकिके मुखकी ओर लगे, इसलिए देवता भी उनके पीछे आकर जुट गये॥२॥

तत्रैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम्।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम्।

स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः॥३॥

भगवान् श्रीहरिकी यह चेष्टा दैत्यपतियोंकी इच्छानुसार न थी। उन्होंने सोचा कि वासुकिका मुख पकड़ना ही मङ्गलमय तथा महापुरुषार्थरूप कार्य है और पूँछ तो सर्पोंका अशुभ अंग है। अतः उन्होंने पूँछ पकड़ना स्वीकार नहीं किया। भगवान् अजितका अनुमोदन न करके वे विचार करने लगे कि हमने तो वेदोंका अध्ययन किया है, हम शास्त्रज्ञानसे सम्पन्न हैं, हमारी कुलीनता

और हमारे कार्य सम्पूर्ण जगत्में विख्यात हैं। अतः पूँछ भाग पकड़ना हमारे लिए अमङ्गलस्वरूप है, हम पूँछ नहीं पकड़ेंगे ॥३॥

इति तूष्णीं स्थितान् दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः ।

स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥४॥

परीक्षित्! इस अभिप्रायसे वे चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। दैत्योंको इस प्रकार खड़े देखकर भगवान् पुरुषोत्तम मन्द-मन्द मुसकराये और उन्होंने मुख-भागको छोड़कर देवताओंके साथ वासुकिकी पूँछको पकड़ लिया ॥४॥

कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः ।

ममन्थुः परमं यत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥५॥

इस प्रकार कश्यप-नन्दन देवताओं और दानवोंने स्थानका विभाजन कर लिया और अमृत-प्राप्तिके लिए बड़े उत्साहसे समुद्रका मन्थन करने लगे ॥५॥

मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् ।

ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात् पाण्डुनन्दन ॥६॥

हे पाण्डुनन्दन! जब मन्दर पर्वतका मथानीके रूपमें प्रयोग करके समुद्र-मन्थन होने लगा, तब बड़े-बड़े बलिष्ठ दैत्यों और देवताओंके द्वारा पकड़े रहनेपर भी अत्यधिक भारी और निराधार होनेके कारण वह मन्दर पर्वत समुद्रके जलमें डूबने लगा ॥६॥

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः ।

आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥७॥

दैववश अपना-अपना पराक्रम विनष्ट होते देख अतिबलवान् देवताओं एवं दानवोंके अन्तःकरण अतिशय दुःखी हो गये एवं मुखकी कान्ति कुम्हला गयी ॥७॥

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो

दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।

कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्

प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥८॥

अपारशक्तिवान् एवं सत्यसङ्कल्प भगवान्ने यह विघ्न देखा, तो उन्होंने अति अद्भुत कच्छप शरीर धारण किया और समुद्रके जलमें प्रवेश करके अत्यधिक भारी एवं विशाल मन्दर पर्वतको उठा लिया ॥८॥

तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुद्यता निर्मथितुं सुरासुराः।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥९॥

जब देवताओं और दानवोंने देखा कि मन्दर पर्वत तो ऊपर उठ आया है, तब वे पुनः मन्थन करनेके लिए उद्यत हो गये। भगवान् श्रीहरिने जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन फैली हुई अपनी पीठपर मन्दर पर्वतको धारण कर रखा था ॥९॥

सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः।
बिभ्रत् तदावर्त्तनमादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥१०॥

हे राजन्! जब महाबलशाली देवता और असुरोंने अपने भुजबलसे उस पर्वतको घुमाया तब असीम शक्तिवान् आदि-कच्छप भगवान् श्रीहरिको उसके घूमनेसे ऐसा सुखद अनुभव हुआ, मानो कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो ॥१०॥

तथाऽसुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन्।
उद्धीपयन् देवगणांश्च विष्णु-
दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥११॥

तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने देखा कि इन सबमें सामर्थ्यका अभाव है और वासुकि नागको संघर्षके कारण अत्यधिक पीड़ा हो रही है, तब वे बल-वीर्य बढ़ाने और उत्साह प्रदान करनेके

लिए उनमें शक्तिका सञ्चार करने लगे। वे असुरोंमें राजसी शक्तिके द्वारा असुररूपमें, देवताओंमें सात्त्विक शक्तिके द्वारा देवरूपमें और वासुकि नागमें तमोगुणमयी निद्रारूपमें प्रविष्ट हो गये॥११॥

उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः॥१२॥

सहस्रबाहु भगवान् श्रीहरि स्वयं द्वितीय पर्वतराजके समान मन्दराचल पर विराजमान होकर उसे एक हाथसे दबाकर स्थित हो गये। उस समय आकाशमें ब्रह्मा, शिवजी और इन्द्रादि देवता उनकी स्तुति करते हुए पुष्पोंकी वर्षा करने लगे॥१२॥

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम्॥१३॥

इस प्रकार भगवान्ने पर्वतके ऊपर सहस्रबाहुके रूपमें, नीचे उसके आधार कच्छपके रूपमें, सम्पूर्ण पर्वतमें दृढ़ताके रूपमें, देवताओं एवं असुरोंमें शक्तिके रूपमें और वासुकिमें निद्राके रूपमें प्रविष्ट होकर सबको शक्तिसम्पन्न कर दिया। अब तो वे प्रोत्साहित होकर अपनी शक्तिके बलसे मदमत्त होकर समुद्रका मन्थन करने लगे। उस समय समुद्र और उसमें रहनेवाले मगर, मछली आदि जीव विक्षुब्ध हो उठे॥१३॥

अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दावाग्निदग्धाः शरला इवाभवन्॥१४॥

सर्पराज वासुकिके हजार-हजार कठोर नेत्र, मुख और निःश्वासेंसे आगकी लपटें एवं धुँआ निकलने लगे, जिसके कारण पौलोम,

कालेय, बलि, इल्वल आदि असुर इस प्रकार निस्तेज हो गये, मानो जंगलकी आगसे झुलसे हुए शरलके (साखूके) पेड़ हों ॥१४॥

देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान्

धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान् ।

समभ्यवर्षन् भगवद्वशा घना

ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः ॥ १५ ॥

वासुकिकी श्वासकी ज्वालाओंसे देवताओंकी भी सौन्दर्य-सम्पत्ति क्षीण हो गयी। उसकी दहकती साँसोंके धूँएसे उनके वस्त्र, मालाएँ और मुखादि धूमिल हो गये। इसी समय भगवत्-कृपासे मेघ उनके ऊपर वर्षा करने लगे और समुद्रकी तरङ्गोंसे सिञ्चित होकर सुशीतल वायु प्रवाहित होने लगी ॥१५॥

मथ्यमानात् तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः ।

यदा सुधा न जायते निर्ममन्थाजितः स्वयम् ॥ १६ ॥

जब बड़े-बड़े देवताओं एवं असुरोंके द्वारा मन्थन किये जानेपर भी समुद्रसे अमृत नहीं निकला, तब भगवान् अजितने स्वयं ही मन्थन करना आरम्भ कर दिया ॥१६॥

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-

न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।

जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा

मथनन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः ॥ १७ ॥

मेघके समान श्यामल वर्ण, शरीरपर सुनहला पीताम्बर, कानोंमें विद्युत्के समान चमकते कुण्डल, घुँघराले केश, गलेमें वनमाला एवं नेत्रोंकी रक्तिम आभासे भगवान्की अद्भुत शोभा हो रही थी। सर्वत्र विजयश्री प्राप्त करनेवाले भगवान् अपनी अभयप्रदायिनी भुजाओंसे वासुकि नागको पकड़कर और कच्छपरूपसे पर्वतको धारणकर जब मन्दराचल रूपी मथानीसे समुद्रका मन्थन करने लगे, तब वे दूसरे प्रतिद्वन्द्वी नीलगिरि पर्वतके समान बड़े ही सुन्दर लग रहे थे ॥१७॥

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः।
संभ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥ १८ ॥

भगवान्के इस प्रकार मन्थन करनेपर सारे समुद्रमें खलबली मच गयी। मत्स्य, मगर, कच्छप और सर्प अतिशय सन्तप्त हो गये। तिमि, द्विप (जलहस्ती), तिमिङ्गिल और ग्राह व्याकुल होकर ऊपर निकल आये। अन्ततः उस विक्षुब्ध समुद्रसे सर्वप्रथम अति भयंकर हालाहल नामक विष निकला ॥१८॥

तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥ १९ ॥

हे राजन्! अत्यन्त उग्र वह विष समुद्रके ऊपर-नीचे तथा चारों दिशाओंमें फैलने लगा। यह देखकर सभी प्रजागण और प्रजापति भयभीत होकर और किसीका आश्रय न पाकर सदाशिवकी शरणमें गये ॥१९॥

विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम्।
आसीनमद्रावपवर्गहेतो-
स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥ २० ॥

शिवजी देवी पार्वतीके साथ कैलाश पर्वतपर विराजमान होकर तीनों लोकोंकी समृद्धिके लिए तपस्या कर रहे थे। वहाँ बैठे हुए मुनिगण मुक्तिकी कामनासे उनकी सेवा कर रहे थे। प्रजापतियोंने उन्हें देखकर प्रणाम किया और उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥२०॥

श्रीप्रजापतय ऊचुः—

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ॥ २१ ॥

प्रजापतियोंने कहा—हे देवाधिदेव महादेव ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा और पालनकर्त्ता हैं। हम आपकी शरणमें आये हैं। आप कृपा करके त्रिलोकीको भस्म करनेवाले इस अत्यन्त उग्र विषसे हमारी रक्षा कीजिए ॥२१॥

त्वमेव सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।

तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण जगत्की मुक्ति और बन्धनके कारण आप ही हैं और आप ही सबके नियन्ता हैं। सुधीजन आपकी आराधना करते हैं, क्योंकि आप शरणागतोंके दुःखोंको नष्ट करके उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं ॥२२॥

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान् विभो।

धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥ २३ ॥

हे विभो ! आप स्वयंप्रकाश हैं। हे भूमन् ! जब आप अपनी सत्त्वादि गुणमयी स्वांशभूता मायाके द्वारा इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं, उस समय आप ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव नाम धारण करते हैं ॥२३॥

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनम्।

नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥ २४ ॥

आप सभी देवता, मनुष्य, तिर्यक् आदि समस्त सत् एवं असत् (उत्कृष्ट एवं निकृष्ट स्वभाव वाले) प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। आप परम रहस्यमय ब्रह्म-तत्त्व हैं। विविध ऐश्वर्योंसे युक्त होकर आप इस दृश्य जगत्के रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं ॥२४॥

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा

प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणः स्वभावः।

कालः क्रतुः सत्यमृतञ्च धर्म-

स्त्वयक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ॥ २५ ॥

आप समस्त वेदोंकी उत्पत्तिके स्रोत हैं। अतः आप स्वतःसिद्ध ज्ञान हैं। आप ही महत्तत्त्व, प्राण, इन्द्रिय, पञ्च महाभूत, द्रव्य और सत्त्वादि गुणोंके कारण हैं। आप भिन्न-भिन्न स्वभाव, राजसी आदि त्रिविध अहङ्कार, काल और सङ्कल्परूप हैं और आप ही ऋत एवं सत्य नामक धर्म हैं। वेदवेत्ताओंका कहना है कि आप 'त्रिवृद्' अर्थात् अकार, उकार एवं मकार (अ, उ, म) अक्षरात्मक प्रणवके आश्रय हैं ॥२५॥

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥ २६ ॥

हे समस्त लोकोंके पिता! मनीषीगण बतलाते हैं कि समस्त देवमय अग्नि आपका मुख है, पृथ्वी आपके चरणकमल हैं, काल आपकी गति है, दिशाएँ कान हैं और वरुण रसनेन्द्रिय हैं ॥२६॥

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षुषि जलं स्म रेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवन् शिरस्ते ॥ २७ ॥

हे भगवन्! आकाश आपकी नाभि, वायु निःश्वास, सूर्य आँखें और जल आपका वीर्य है। आपका अहङ्कार उत्तम एवं अधम सभी प्रकारके जीवोंका आश्रय है। चन्द्रमा आपका मन और स्वर्ग मस्तक है ॥२७॥

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥ २८ ॥

हे वेदत्रयमूर्त्ते! सातों सागर आपकी कोख एवं पर्वत आपकी अस्थियाँ हैं। समस्त प्रकारकी ओषधियाँ एवं लताएँ आपके शरीरके

रोम हैं। गायत्री आदि छन्द आपकी सातों धातुएँ हैं और समस्त वैदिक धर्म आपका हृदय है॥२८॥

मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमात्मतत्त्वं
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते॥ २९॥

हे स्वामिन्! तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान—ये पाँच प्रकारके वैदिक मन्त्र (उपनिषद्) आपके पाँच मुख हैं। इन्हीं मन्त्रोंके ज्योतिर्मान् पदच्छेदसे अड़तीस कलात्मक मन्त्र उत्पन्न हुए हैं। हे देव! स्वयं-ज्योतिमान् शिव नामक परमात्म तत्त्वमें आपका अवस्थान अर्थात् आश्रय है॥२९॥

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः॥ ३०॥

हे देव! अधर्मकी दमन, लोभ आदि तरङ्गोंमें आपकी छाया है, जिनसे विविध प्रकारकी प्रपञ्चात्मक सृष्टि होती है; सत्त्व, रज, तम—आपके तीन नेत्र हैं। छन्दरूप सनातन वेद आपकी दृष्टि है। आप ही उन शास्त्रोंमें स्थित हैं और आप ही उनके कर्ता हैं॥३०॥

न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम्॥ ३१॥

हे गिरीश! आप ब्रह्म-स्वरूप हैं। आपमें न तो सत्त्व, रज और तम है तथा न देव मनुष्यादि किसी प्रकारका भेदभाव ही। आपकी परम ज्योतिको सम्पूर्ण लोकपाल यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु एवं देवराज इन्द्र भी नहीं जानते॥३१॥

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-

भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत् ते।

यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-

वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद॥ ३२ ॥

प्रलयके समय यह जगत् आपके नेत्रोंसे निकली हुई अग्निकी चिंगारियोंकी ज्वालाओंसे भस्म हो जाता है और आपको पता भी नहीं चलता। आपने प्राणियोंको उत्पीड़ित करने वाले कामदेव, दक्ष-यज्ञ, त्रिपुरासुर, कालकूट विष आदि बहुत प्रकारके असुरोंका विनाश किया है, परन्तु इन क्षुद्र कार्योंसे आपकी स्तुति नहीं की जा सकती॥ ३२ ॥

ये त्वात्मारामगुरुभिर्हीदि चिन्तिताङ्घ्रि-

द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम्।

कथ्यन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने

ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः॥ ३३ ॥

आत्माराम जीवन्मुक्त महापुरुष एवं विश्वके हितोपदेष्टा विद्वज्जन अपने हृदयमें आपके चरण-कमलोंका निरन्तर ध्यान करते हैं। आप स्वयं अति उग्र तपस्यामें लीन रहते हैं, किन्तु जो देवी उमाके साथ विचरण करते देखकर आपको कामासक्त और श्मशानमें भ्रमण करते देखकर आपको उग्र एवं हिंसक कहकर प्रलाप करते हैं, वे निर्लज्ज निश्चितरूपसे आपकी लीलाको जान नहीं सकते॥ ३३ ॥

तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य

नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः।

ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयन्तु

तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम्॥ ३४ ॥

आप स्थावर एवं जङ्गमसे अतीत होनेके कारण दुर्ज्ञेय हैं। ब्रह्मादि देवता भी आपके यथार्थ तत्त्वको नहीं जान सकते, तब हम किस प्रकार आपकी स्तुति करनेमें समर्थ हो सकते

हैं? हम उनकी सृष्टिमें रचे गये मरीचि आदिसे बहुत अर्वाचीन हैं। हम आपके सम्बन्धमें क्या जानें? अतः हमने अपनी बल-बुद्धिके अनुसार आपका कुछ गुणगान किया है, ठीकसे कुछ कह नहीं पाये॥३४॥

एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर।

मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः॥३५॥

हे महेश्वर! आपके श्रेष्ठ एवं यथार्थ स्वरूपको हम जान नहीं सकते, हम तो केवल यही देख रहे हैं कि आप सर्वथा अव्यक्त होकर भी केवल जीवोंके कल्याणके लिए ही प्रकाशित होते हैं॥३५॥

श्रीशुक उवाच—

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः।

सर्वभूतसुहृदेव इदमाह सतीं प्रियाम्॥३६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! भगवान् शङ्कर समस्त जीवोंके हितकारी हैं। जब उन्होंने देखा कि प्रजा कालकूट विषके कारण उद्विग्न हो रही है, तो वे अत्यन्त दयार्द्र होकर अपनी प्रियतमा सतीसे इस प्रकार कहने लगे॥३६॥

श्रीशिव उवाच—

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।

क्षीरोदमथनोद्धूतात् कालकूटादुपस्थितम्॥३७॥

श्रीशिवने कहा—हे भवानी! अहो! देखो तो सही! क्षीरसागरके मन्थनसे उत्पन्न कालकूट विषके कारण प्राणियोंपर कैसी विपत्ति आ पड़ी है?॥३७॥

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम्॥३८॥

ये लोग जीना चाहते हैं। प्रजाका भय निवारण करना मेरा कर्तव्य है। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उन्हें दुःखीजनोंकी रक्षा

करनी ही चाहिए ॥३८॥

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।

बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्व्वात्ममायया ॥ ३९ ॥

हे कल्याणि! भगवान्की मायासे मोहित होकर संसारके प्राणी एक-दूसरेके साथ वैर मोल ले लेते हैं, किन्तु साधुपुरुष दूसरे प्राणियोंकी रक्षाके लिए अपने नश्वर प्राणोंका बलिदान कर देते हैं ॥३९॥

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।

प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः।

तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥ ४० ॥

हे साधुशीले! जो मनुष्य दूसरोंपर कृपा करता है, भगवान् श्रीहरि उनके ऊपर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके प्रसन्न हो जानेपर स्थावर एवं जङ्गम आदि समस्त प्राणियों सहित मैं भी प्रसन्न हो जाता हूँ। अतः अब मैं इस कालकूट विषका पान करूँगा, जिससे प्रजाका मङ्गल होगा ॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

एवमामन्त्र्य भगवान् भवानीं विश्वभावनः।

तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥ ४१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—समस्त विश्वके हितैषी भगवान् शङ्कर पार्वतीजीसे इस प्रकार कहकर उस कालकूट विषका पान करनेके लिए तैयार हो गये। पार्वतीजी उनकी सामर्थ्यको भलीभाँति जानती थीं, इसलिए उन्होंने महादेवजीके इस प्रस्तावका हृदयसे अनुमोदन किया ॥४१॥

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।

अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् लोकहितकारी महादेवजीने कृपापूर्वक विश्वव्यापी उस कालकूट विषको अपनी हथेलीमें समेटा और पान कर लिया ॥४२॥

तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः।

यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥ ४३ ॥

जलके पापस्वरूप इस विषने भगवान् शङ्करके ऊपर भी अपना प्रभाव प्रकट किया। इस कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया, परन्तु परम दयालु भगवान् शङ्करके लिए तो वह आभूषणरूप हो गया ॥ ४३ ॥

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।

परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥ ४४ ॥

परोपकारी व्यक्ति प्रायः दूसरोंके दुःखसे स्वयं भी पीड़ित हो जाते हैं, किन्तु दूसरोंके सन्तापका हरण करनेसे सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीदुषः ।

प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे ॥ ४५ ॥

सभीको आशीर्वाद देनेवाले, देवताओंके भी परम देवता देवाधिदेव महादेवजीके इस प्रकार विषपानरूपी अद्भुत कर्मकी बात सुनकर सम्पूर्ण प्रजा, दाक्षायणी, ब्रह्मा एवं स्वयं भगवान् विष्णु भी उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥

प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत् ।

वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां
संहितायां वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमंथने हालाहलपानं नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

जिस समय भगवान् शिव विषपान कर रहे थे, उस समय उनके हाथसे किञ्चित् विष छिटक गया, जिसे बिच्छु, सर्प, विषैली लताओं और अन्य दंशीले (जहरीले) जन्तुओंने पी लिया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके सातवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः

समुद्र-मन्थनसे अमृतका प्रकट होना और भगवान्का
मोहिनी-अवतार ग्रहण करना

श्रीशुक उवाच—

पीते गरे वृषाङ्गेण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।

ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्दानी ततोऽभवत्॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जब महादेवजीने विषपान कर लिया, तब देव और दानव बड़े प्रसन्न हो गये। अब उन्होंने और अधिक बल एवं नवीन उत्साहके साथ समुद्र-मन्थन करना आरम्भ कर दिया, तब समुद्रसे (यज्ञीय हविकी आधाररूप) सुरभि गाय प्रकट हुई॥१॥

तामग्निहोत्रीमृषयो

जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।

यज्ञस्य देवयानस्य मध्याय हविषे नृप॥२॥

हे राजन्! वह सुरभि गाय यज्ञके लिए दधि, दूध एवं घी आदि पवित्र सामग्री प्रदान करनेवाली थी। उस सामग्रीसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले अग्निहोत्रादि वैदिक कार्य सम्पन्न किये जा सकते थे अतः ब्रह्मवादी ऋषियोंने उस सुरभि गायको ग्रहण कर लिया॥२॥

तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः।

तस्मिन् बलिः स्पृहाञ्चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया॥३॥

तदनन्तर उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा निकला, वह चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका था। दैत्यराज बलिने उस घोड़ेको लेनेकी इच्छा प्रकट की, किन्तु देवराज इन्द्रने भगवान्की इच्छानुसार (जिससे दैत्योंका भी मानवर्द्धन हो) उसे प्राप्त करनेकी कामना प्रकट नहीं की॥३॥

तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रैर्हरन् भगवतो महिम् ॥४॥

इसके पश्चात् ऐरावत नामका श्रेष्ठ गजराज निकला। वह भी शुभ्र वर्णका था। उसके शिखरके समान चार दाँत थे, जो शिवधाम श्वेताद्रि कैलाशकी शोभाको भी पराभूत करनेवाले थे ॥४॥

ऐरावणादयस्त्वष्टौ दिग्गजा अभवंस्ततः।
अभ्रमुप्रभृतयोऽष्टौ च करिण्यस्त्वभवन्प ॥५॥

हे राजन्! तत्पश्चात् ऐरावण, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीक नामके आठ हाथी और अभ्रमु आदि आठ हथिनियाँ निकलीं ॥५॥

कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन्मणौ स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलङ्करणे हरिः।
ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम्।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥६॥

इसके पश्चात् उस महासमुद्रसे कौस्तुभ नामक पद्मरागमणि उत्पन्न हुई। तब भगवान् श्रीहरिने अपने वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ानेके लिए इस महामणिको ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की। स्वर्गलोकका भूषण-स्वरूप पारिजात नामका कल्पवृक्ष निकला। हे राजन्! जिस प्रकार आप पृथ्वीपर इच्छित वस्तुएँ प्रदान करके सब लोगोंकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार यह वृक्ष भी सभीको मनचाही वस्तुएँ प्रदान करता है ॥६॥

ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥७॥

तदनन्तर अप्सराएँ प्रकट हुईं। उन्होंने झीने-झीने मनोज्ञ वस्त्र, गलेमें हार एवं स्वर्णाभूषण धारण कर रखे थे। वे अपनी मनोहर गति और विलासभरी चितवनसे स्वर्गलोकके निवासियोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थीं ॥७॥

ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा ॥८॥

इसके पश्चात् भगवत्-परायणा साक्षात् लक्ष्मीदेवी आविर्भूत हुई।
उनकी अङ्गकान्ति स्फटिकमय सुदाम (संगमरमर) पर्वतसे उत्पन्न
हुई विद्युत्के समान थी, जिससे दसों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं ॥८॥

तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः।

रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥९॥

उनका रूप-सौन्दर्य, औदार्य, वयस (यौवन), वर्ण और महिमा
देखकर सबका चित्त आकर्षित हो गया। ये सम्पद्की अधिष्ठात्री
देवी हैं—यह जानकर देवता, मनुष्यादि सभी लोग उन्हें प्राप्त
करनेकी अभिलाषा करने लगे ॥९॥

तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम्।

मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि ॥१०॥

देवराज इन्द्र स्वयं उनके बैठनेके लिए एक विचित्र सिंहासन
ले आये। गङ्गादि नदियाँ साक्षात् मूर्तिमती होकर स्वर्ण-कलशोंमें
पवित्र जल भर लायीं ॥१०॥

आभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः।

गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ ॥११॥

पृथ्वीने भी मूर्तिमती होकर उनके अभिषेकके लिए समस्त
ओषधियाँ प्रदान कीं। गौओंने पञ्चगव्य और वसन्त ऋतुने
चैत्र वैशाखमें उत्पन्न होनेवाले फल-फूल लाकर उन्हें समर्पित
कर दिये ॥११॥

ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि।

जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥१२॥

ऋषियोंने शास्त्रविधिके अनुसार उनका अभिषेक किया। गन्धर्व
मङ्गलमय गीत गाने लगे और नृत्याङ्गनाओंने नाचना-गाना आरम्भ
कर दिया ॥१२॥

मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान् ।
व्यनादयन् शङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान् ॥ १३ ॥

मेघसमूह मूर्तिमन्त होकर मृदङ्ग, डमरू, ढोल, नगारे, गोमुख, शङ्ख, वेणु, वीणा आदि महानिनादयुक्त वाद्योंको उच्च स्वरसे बजाने लगे ॥ १३ ॥

ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् ।
दिगिभाः पूर्णकलसैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥ १४ ॥

तदनन्तर सम्पदधिष्ठात्री, पतिपरायणा लक्ष्मी देवी कमल हाथमें लेकर सिंहासनपर विराजमान हो गयीं। ऐरावतादि दिगजोंने गङ्गाजलसे भरे हुए कलशोंसे उन्हें स्नान कराया तथा ब्राह्मणोंने मन्त्रोच्चारणके साथ उनका अभिषेक किया ॥ १४ ॥

समुद्रः पीतकौशेय वाससी समुपाहरत् ।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम् ॥ १५ ॥

रत्नोंके आकर समुद्रने उन्हें पहननेके लिए सुनहले रेशमी उत्तरीय एवं परिधेय—ये दोनों युगल वस्त्र प्रदान किये। वरुणदेवने उन्हें उपहारमें वैजयन्ती माला प्रदान की, जिसपर भौंरे गुञ्जार कर रहे थे ॥ १५ ॥

भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले ॥ १६ ॥

प्रजापति विश्वकर्माने उन्हें अद्भुत अलङ्कार, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने पद्म और नागोंने कुण्डल-द्वय उपहारमें प्रदान किये ॥ १६ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥ १७ ॥

जब स्वस्त्ययन-पाठ एवं अभिषेकादि माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो गये तब लक्ष्मीदेवी अपने हाथोंमें भ्रमरोंसे गुञ्जायमान कमलोंकी

माला लेकर चलीं। उस समय कुण्डलोंके धारण करनेसे उनके मनोहर कपोल और भी सुन्दर लग रहे थे। वे सलज्ज भावसे मन्द-मन्द मुसकरा रही थीं, जिससे उनके मुखश्रीकी शोभा अत्यन्त निखार पा रही थी॥१७॥

स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम्।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ॥१८॥

श्रीलक्ष्मीजीके स्तन-युगल परस्पर समीपवर्ती (सटे हुए), समान और चन्दन, कुङ्कुमादि द्वारा अनुरञ्जित थे। उनकी कमर अतिशय पतली थी। जब वे इधर-उधर घूमतीं तो उनके नूपुरोंसे बड़ी मधुर झनकार निकलती थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई स्वर्ण-लतिका विहार कर रही हो॥१८॥

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्।
गन्धर्वसिद्धासुरयक्षचारण -
त्रैपिष्टपेयादिषु नान्वविन्दत॥१९॥

तत्पश्चात् लक्ष्मीजी स्वभावतः नित्यकल्याणयुक्त और हेयगुणरहित अपने आश्रयरूपी वरका अनुसन्धान करने लगीं किन्तु उन्हें गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण एवं स्वर्ग निवासी देवताओंमें-से कोई भी ऐसा न मिला, क्योंकि प्रत्येकमें कोई-न-कोई प्राकृत दोष था ही॥१९॥

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः॥२०॥

कोई (दुर्वासादि) तपस्वी हैं, परन्तु उन्होंने क्रोधपर विजय प्राप्त नहीं की है, कोई (बृहस्पति आदि) ज्ञानी हैं, किन्तु उनका ज्ञान

फलाकाङ्क्षादिसे रहित नहीं है, कोई (ब्रह्मादि) बड़े महत्त्वशाली हैं, परन्तु कामको नहीं जीत सके हैं। और जो इन्द्रके समान बहुत ऐश्वर्यशाली हैं, वे शत्रुओंके कारण बार-बार निराश्रय हो जाते हैं, ऐसा ऐश्वर्य किस काम का? जो दूसरों पर आश्रित हो, उनका ऐश्वर्य किसी कामका नहीं है ॥२०॥

धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित् तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
नहि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥ २१ ॥

किसीमें (शुक्राचार्यादिमें) धर्म तो है, किन्तु प्राणियोंके प्रति दया नहीं है, किसीमें (दक्ष आदिमें) त्याग है, किन्तु वह त्याग मुक्तिका कारण नहीं है, किसी पुरुषमें (शुम्भ, निशुम्भमें) महान् बल है, किन्तु वह कालके प्रवाहसे मुक्त नहीं है और जिन्होंने प्राकृत एवं अप्राकृत विषयासक्तिका परित्याग कर दिया है, वे (सनकादि) मुनि भी गुण-सङ्गसे रहित नहीं हैं ॥२१॥

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥ २२ ॥

कोई-कोई (दैत्यराज बलि) दीर्घजीवी हैं, किन्तु उनमें शील और मङ्गल नहीं है। किसीमें (मनुके पुत्र पौत्रादि) शील-मङ्गल रहे भी, तो उनके जीवनकी स्थिरता नहीं है। शिवादि देवता चिरायु हैं, उनमें शील एवं मङ्गल भी हैं, परन्तु वे श्मशानवासके साथ-साथ अमङ्गल वेश धारण करते हैं। रही बात भगवान् विष्णुकी, उनमें समस्त मङ्गलमय गुण नित्य वर्तमान हैं, किन्तु वे मुझे चाहते ही नहीं ॥२२॥

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
वरं निजैकाश्रयतयाऽगुणाश्रयम्।

वब्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार सोच-विचार करके स्वयंगुणातीता, चिन्मय सम्पद्रूपा श्रीरमादेवीने चिरकालसे अपने अभीष्ट, निरपेक्षतामें सर्वश्रेष्ठ, प्राकृत गुणोंसे अतीत एवं अणिमादि समस्त सिद्धियोंसे सम्पन्न, भगवान् श्रीमुकुन्दको ही पतिके रूपमें वरण किया ॥२३॥

तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम
सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥ २४ ॥

श्रीलक्ष्मीजीने भगवान् मुकुन्दके गलेमें नवीन कमलके कुसुमोंकी माला पहना दी, जिसके चारों ओर मधु-पानसे उन्मत्त भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। इसके पश्चात् सलज्ज मुसकान और विलास भरी चितवनसे भगवान्के वक्षःस्थलको अपने आश्रयरूपमें प्राप्त करनेकी आशासे देखती हुई वे उनके पास ही जाकर खड़ी हो गयीं ॥२४॥

तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः ।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥ २५ ॥

जगत्पिता भगवान्ने अपने वक्षःस्थलको समस्त ऐश्वर्योंकी स्वामिनी, जगज्जननी लक्ष्मीदेवीका श्रेष्ठ वासस्थान बना दिया। लक्ष्मीजी वहाँ विराजमान होकर अपने कृपावलोकनसे तीनों लोक, लोकपाल और अपनी प्रजाकी वृद्धि करने लगीं ॥२५॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः ।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥ २६ ॥

उस समय शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग आदि वाद्ययन्त्र बजने लगे तथा गन्धर्व और अप्सराओंके नाचने-गानेसे बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥२६॥

ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम्।

ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥ २७ ॥

ब्रह्मा, रुद्र और अङ्गिरादि प्रजापति पुष्पोंकी वर्षा करते हुए भगवान्‌के गुण, स्वरूप एवं लीलाका यथार्थ वर्णन करनेवाले मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥२७॥

श्रियावलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः।

शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥ २८ ॥

देवता, प्रजापति एवं प्रजावर्ग लक्ष्मीजीकी कृपादृष्टिसे शीलादि गुणोंसे सम्पन्न होकर परम आनन्दित हो गये ॥२८॥

निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः।

यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्देत्यदानवाः ॥ २९ ॥

हे राजन्! इधर लक्ष्मीजीकी उपेक्षासे दैत्य एवं दानव दुर्बल, मोहित, निरुद्यमी, लोलुप और निर्लज्ज हो गये ॥२९॥

अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना।

असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥ ३० ॥

इसके पश्चात् क्षीरसागरके मन्थनसे सुराकी अधिष्ठात्री, कमलके समान नेत्रोंवाली वारुणी नामकी कन्या प्रकट हुई। भगवान् श्रीहरिकी अनुमतिसे बलि आदि प्रमुख दानवोंने उसे ग्रहण कर लिया ॥३०॥

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः।

उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥ ३१ ॥

हे महाराज! तदनन्तर अमृत प्राप्तिकी लालसासे कश्यप-सुत देव दानवोंने पुनः समुद्र मन्थन करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय उसमें-से एक अत्यन्त अद्भुत पुरुष उत्थित हुए ॥३१॥

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः।

श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥ ३२ ॥

उनकी भुजाङ्ग मोटी एवं लम्बी थीं। ग्रीवा शङ्खके समान तीन रेखाओंसे युक्त, आँखोंमें लालिमा तथा शरीरका वर्ण श्यामल था,

तरुण अवस्था थी, गलेमें वनमाला थी और वह समस्त अलङ्कारोंसे विभूषित था ॥३२॥

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तसुभगः सिंहविक्रमः ।
अमृतापूर्णकलसं बिभ्रद्वलयभूषितः ॥ ३३ ॥

उन्होंने पीताम्बर पहन रखा था। कानोंमें चमकीले मणिमय कुण्डल झिलमिला रहे थे। उनके केश स्निग्ध और घुँघराले तथा वक्षःस्थल अत्यन्त विशाल था। इस प्रकार वे समस्त शुभलक्षणोंसे युक्त थे। सिंहके समान पराक्रमशाली वे पुरुष कङ्गनोंसे सुशोभित हाथोंमें अमृतसे परिपूर्ण कलश धारण किये हुए थे ॥३३॥

स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशशसम्भवः ।
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥ ३४ ॥

परीक्षित्! वे पुरुष साक्षात् भगवान् विष्णुके अंशके अंशसे उत्पन्न हुए थे, जो धन्वन्तरिके नामसे विख्यात हुए। धन्वन्तरि आयुर्वेद शास्त्रके प्रवर्तक और यज्ञ-भागके भोक्ता हैं ॥३४॥

तमालोक्यासुराः सर्वे कलसं चामृताभृतम् ।
लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलसं तरसाहरन् ॥ ३५ ॥

जब दैत्योंने उन्हें और उनके हाथोंमें अमृतसे भरा कलश देखा, तो समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छासे बलपूर्वक वह अमृत-कलश छीन लिया ॥३५॥

नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन् कलसेऽमृतभाजने ।
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ॥ ३६ ॥

जब असुरोंने अमृत-पात्रको छीन लिया, तब देवताओंका मन विषादसे भर गया और वे भगवान् श्रीहरिकी शरणमें पहुँचे ॥३६॥

इति तद्वैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत् ।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया ॥ ३७ ॥

भक्तोंकी वाञ्छाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान्ने देखा कि अमृत-कलश छिन जानेसे देवता अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, तब उन्होंने कहा—हे देवताओ! तुम दुःखी मत हो। मैं अपनी मायासे दानवोंमें परस्पर कलह करवा दूँगा, जिससे तुम लोगोंका काम बन जायगा ॥३७॥

मिथः कलिरभूत् तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम्।

अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥ ३८ ॥

हे राजन्! उन असुरोंमें अमृत प्राप्तिके लिए अत्यधिक तृष्णा जाग उठी। वे—“पहले मैं पिऊँगा”, ‘तुम पहले नहीं पी सकते’, ‘तुम पहले नहीं पी सकते, मैं पिऊँगा’—कहते हुए परस्पर विवाद करने लगे ॥३८॥

देवाः स्वभागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः।

सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥ ३९ ॥

इति स्वान् प्रत्यषेधन् वै दैतेया जातमत्सराः।

दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलसान् मुहुः ॥ ४० ॥

हे राजन्! जो मात्सर्ययुक्त दुर्बल दैत्य थे, वे अमृत-कलशको छीननेवाले बलवान् दैत्यको बारम्बार अमृत-पान करनेसे रोकते हुए कहने लगे—समुद्र-मन्थनमें देवताओंने समानरूपसे परिश्रम किया है। इस अमृत संग्रहमें उन्हें भी समान भाग मिलना चाहिए। यही सनातन धर्म है ॥३९-४०॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः।

योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥ ४१ ॥

प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम्।

समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥ ४२ ॥

नवयोवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम् ।

मुखामोदानुरक्तलिङ्गारोद्विग्नलोचनम् ॥ ४३ ॥

बिभ्रत् सुकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम्।

सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम् ॥ ४४ ॥

विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
 काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥ ४५ ॥
 सत्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
 दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्वीपयन्मुहुः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतमंथने श्रीभगवन्मायोपलम्भनं
 नामाष्टमोऽध्यायः ।

इधर दैत्योंमें आपसी कलह हो रहा था और उधर समस्त उपायोंको जाननेवाले भगवान् विष्णुने परम अद्भुत स्त्रीका रूप धारण किया, जिसकी शोभाका वर्णन करना सम्भव नहीं है। उस रमणीके शरीरका रङ्ग नीलकमलके समान श्यामल था। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़े ही सुन्दर एवं आकर्षक थे। दोनों कान समान और कर्णाभूषणोंसे विभूषित थे। ऊँची नासिका, सुन्दर कपोल, रमणीय मुख तथा नव-यौवनके कारण स्तन उभरे हुए थे, जिससे कटिभाग क्षीण हो गया था। मुख-कमलसे निकलते सौरभसे आसक्त होकर अलि-कुल बड़े प्रेमके साथ गुनगुना रहा था, जिसके कारण हुई घबराहटसे उसके नेत्र अतिशय चञ्चल हो रहे थे। अपने मनोहर केशपाशोंमें उसने प्रफुल्लित मल्लिका कुसुमोंकी मालिकाएँ धारण कर रखी थीं। उसके कमनीय कण्ठमें कण्ठाभरण और भुजाओंमें बाजुबन्द सुशोभित हो रहे थे। निर्मल वसनसे वेष्टित नितम्बरूपी द्वीपमें करधनी विराजमान थी और चरणोंमें मनोहर एवं चञ्चल नूपुरोंकी खनक शोभा पा रही थी। जब वह अपनी सलज्ज मधुर मुसकान, नाचती हुई भौंहोंरूपी बाणों और कटाक्षमयी चितवनसे दैत्य सेनापतियोंको देखती, तो उनके अन्तःकरण काम-बाणोंसे बिंध जाते ॥४१-४६॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके आठवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त ।

नवमोऽध्यायः

भगवान्‌के मोहिनीरूप द्वारा अमृत बाँटा जाना

श्रीशुक उवाच—

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः।

क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम्॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! असुर डाकुओंके समान सौहार्द आदिका परित्याग करके एक-दूसरेके हाथोंसे अमृत-कलशको छीन रहे थे और एक-दूसरेकी निन्दा कर रहे थे। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि एक अति सुन्दर एवं मनमोहिनी स्त्री उनकी ओर चली आ रही है॥ १ ॥

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः।

इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः॥ २ ॥

उस परम सुन्दरीको देखकर वे सोचने लगे—अहो! यह कितनी सुन्दर है! इसके अङ्गोंकी कान्ति कितनी अद्भुत है और कैसी नयी अवस्था है! इस प्रकारके वचनोंको कहते-कहते वे कामके द्वारा मोहित होकर उसके समीप पहुँचे और उससे कहने लगे॥ २ ॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि।

कस्यासि वद वामोरु मथन्तीव मनांसि नः॥ ३ ॥

हे पद्मपलाशलोचने! तुम कौन हो? कहाँसे आ रही हो? क्या करना चाहती हो? तुम किसकी कन्या हो? कुछ बतलाओ तो, तुम्हें देखकर हमारे हृदयमें बहुत उथल-पुथल हो रही है॥ ३ ॥

न वयं त्वामरैदैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः।

नास्पृष्टपूर्वा जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः॥ ४ ॥

मनुष्योंकी तो बात ही क्या? हम भलीभाँति जानते हैं कि देवता, दानव, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालोंने भी तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है ॥४॥

नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम्।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥५॥

अयि सुभ्रू! विधाताने निश्चय ही कृपा करके हमारे जैसे शरीरधारियोंकी समस्त इन्द्रियों एवं मनको प्रसन्न करनेके लिए तुम्हें हमारे पास भेजा है। है न! यह सच है न! ॥५॥

सा त्वं नः स्पर्द्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥६॥

हे सुमध्यमे! हम सब एक ही वस्तुको लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और मत्सरताके कारण एक दूसरेके शत्रु बन बैठे हैं। हम एक ही कुलमें उत्पन्न हुए हैं, अतः तुम हमारा विवाद मिटाकर हमारा कल्याण करो ॥६॥

वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः।
बिभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥७॥

हम सभी देव-दानव प्रजापति कश्यपजीके पुत्र होनेके कारण सगे भाई हैं, किन्तु हमें समुद्र-मन्थनसे जो अमृत प्राप्त हुआ है, उसके कारण आपसमें कलह करके अपना पौरुष दिखा रहे हैं। तुम उस अमृतको हममें समान मात्रामें बाँट दो, जिससे हमारा झगड़ा समाप्त हो जाय ॥७॥

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षत्रिदमब्रवीत् ॥८॥

जब दैत्योंने इस प्रकार प्रार्थना की, तब माया रचित मोहिनी मूर्तिधारी भगवान् मन्द-मन्द मुसकाराने लगे। उन्होंने बाँकी चितवनसे उन असुरोंकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा— ॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः।

विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि॥९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे कश्यपतनयो! मैं तो कुलटा हूँ और तुम लोग महान् ऋषिकी सन्तान हो। तब तुम किसलिए मेरी सङ्गति करना चाहते हो। विज्ञान कभी भी स्त्रियोंपर विश्वास नहीं करते॥९॥

शालावृकाणां स्त्रीणाञ्च स्वैरिणीनां सुरद्विषः।

सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम्॥१०॥

हे असुरो! वानर, सियार और कुत्ते आदि जन्तु प्रत्येक दिन नये-नये सुहृदोंको (मित्रोंको) ढूँढा करते हैं, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ भी वैसी ही होती हैं। पण्डितोंका अधिमत है कि इनकी मित्रता चिरस्थायी नहीं हुआ करती॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः।

जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम्॥११॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! मोहिनीके परिहासमय वचनोंसे असुर और भी अधिक आश्वस्त हो गये और उन्होंने गम्भीर भावसे हँसते हुए अमृत-पात्र उसके हाथमें दे दिया॥११॥

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-

र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा।

यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा

कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम्॥१२॥

तदनन्तर भगवान् श्रीहरिने वह अमृत-कलश अपने हाथोंमें ले लिया और मन्द-मन्द हास्यपूर्ण एवं लालित्यमयी वाणीसे कहने लगे—हे दैत्यो! मैं उचित-अनुचित जो भी करूँ, यदि तुम्हें वह स्वीकार है, तो मैं इस अमृतका विभाग कर सकती हूँ॥१२॥

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः ।

अप्रमाणविदस्तस्यास्तत् तथेत्यन्वमंसत ॥ १३ ॥

बड़े बड़े असुर भी विचार-पटुता एवं निर्णय-क्षमतामें दक्ष न थे। उन्होंने मोहिनी भगवान्‌के वचनोंको सुनकर एक स्वरसे कहा—स्वीकार है, स्वीकार है। मोहिनीके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण असुरोंने उसका अनुमोदन कर दिया ॥ १३ ॥

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् ।

दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥ १४ ॥

यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ।

कुशेषु प्राविशन् सर्वे प्राग्रेष्वभिभूषिताः ॥ १५ ॥

तदनन्तर देवता और असुर—सभीने उपवास किया तथा स्नानादि करके अग्निमें घी आदि हविष्यकी आहुतियाँ डालीं। गौ, ब्राह्मण और समाजके अन्य वर्ण यथा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंको उनकी पात्रताके अनुसार घास, चारा, अन्न तथा धनादि उपहार प्रदान किये और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके पश्चात् सबने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नवीन वस्त्र एवं आभूषण धारण किये तथा पूर्वकी ओर मुख करके कुशासनोंपर बैठ गये ॥ १४-१५ ॥

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ।

धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥ १६ ॥

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशङ्कुल-

श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।

सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन

कुम्भस्तनी कलसपाणिरथाविवेश ॥ १७ ॥

जिस भव्य भवनमें देवता और दानव बैठे थे, उसे दीप-पंक्तियोंकों एवं फूल-मालाओंसे सजाया गया था तथा धूपके सौरभसे सुगन्धित किया गया था। हे राजन्! उसी समय कमनीय साड़ी पहने हुए, विशाल नितम्बोंके भारसे मन्द गतिसे चलते हुए, अपने स्वर्णिम

नूपुरोंकी मधुर झङ्कारसे सभा-भवनको मुखरित करते हुए, हाथोंमें अमृत-कलश लिये मोहिनीने प्रवेश किया। उसकी आँखें मदसे विह्वल हो रही थीं, स्तन जलसे भरे कलशके समान प्रतीत हो रहे थे और जंघाएँ हाथीकी सूँडके समान दिखायी दे रही थीं॥१६-१७॥

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम्।
संवीक्ष्य संम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम्॥ १८ ॥

उसने अपने मनोहर कानोंमें दो सुन्दर कुण्डल पहन रखे थे। उसकी नासिका, कपोल तथा मुख बड़े ही सुन्दर थे। परमदेवता स्वरूपिणी यह मोहिनी ऐसी लग रही थी, मानो श्रीलक्ष्मीजीकी कोई सहचरी हो। वह किञ्चित् मुसकराते हुए बाँकी चितवनसे दैत्यों और देवताओंको देख रही थी। इसी बीच उसके स्तनोंपरसे साड़ीका किनारा कुछ नीचे खिसक गया। उसकी चितवन और अङ्ग प्रत्यङ्गके सौन्दर्यको देखकर सभी देवता एवं असुर मोहित हो गये॥१८॥

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम्।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः॥ १९ ॥

असुर स्वभावसे ही बड़े क्रूर होते हैं। उन्हें अमृत पिलाना सर्पको दूध पिलानेके समान अत्यन्त घातक है। इस प्रकार सोच-विचार करके भगवान् अच्युतने असुरोंको अमृतमें-से कोई भाग नहीं दिया॥१९॥

कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु॥ २० ॥

जगत्पति भगवान् श्रीहरिने देवता और दानवोंकी दो अलग-अलग पंक्तियाँ बना दीं और उन्हें अपने-अपने दलमें बिठा दिया॥२०॥

दैत्यान् गृहीतकलसो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः।
दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम्॥ २१ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीहरि अपने हाथोंमें अमृत-कलश लेकर असुरोंके समीप गये और अपनी भू-भङ्गिमा, कटाक्ष, मन्द-मन्द मुसकान, नूपुर सञ्चालनादि विविध प्रकारके भावोंसे उनकी वञ्चना करके दूर बैठे हुए देवताओंके निकट आकर जन्म-मरणका नाश करनेवाले अमृतका उन्हें पान कराने लगे ॥२१॥

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप।

तूष्णीमासन् कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥ २२ ॥

हे राजन्! दैत्यगण उस मोहिनी मूर्तिके प्रति अत्यन्त आसक्त होकर अपनी प्रतिज्ञाका पालन कर रहे थे। स्त्रियोंसे विवाद करना अत्यन्त निन्दनीय है—यह सोच विचार कर तथा अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिए सारे असुर मौन बैठे रहे ॥२२॥

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः।

बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥ २३ ॥

मोहिनीके प्रति असुरोंको प्रगाढ़ प्रेम हो गया था। उन्हें भय था कि यह प्रेम कहीं भङ्ग न हो जाय। उस स्त्रीके अनेक आदरपूर्ण वचनोंसे वे और भी बँध गये थे। इसी कारण असुरोंने उससे कोई कलह-सूचक बात नहीं कही ॥२३॥

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वभार्नुर्देवसंसदि।

प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्याञ्च सूचितः ॥ २४ ॥

जिस समय भगवान् देवताओंको अमृत पिला रहे थे, उसी समय राहु नामका असुर देवताओंका छद्म वेश धारण करके उनकी पंक्तिमें जा बैठा और देवताओंके साथ उसने भी अमृत पान कर लिया। इसी बीच सूर्य और चन्द्रमाने अपनी भौहोंसे उसके असुर होनेका सङ्केत दे दिया ॥२४॥

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः।

हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीहरिने अमृत पिलाते-पिलाते ही अपने तीखीधारवाले चक्रसे राहुके सिरको काट डाला अर्थात् अमृत गलेसे नीचे उतरे, इसके पहले ही भगवान् अजितने उसका मस्तक काट डाला। अमृतने उसकी देहका स्पर्श नहीं किया था॥२५॥

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीकलृपत्।

यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥२६॥

परन्तु इस असुरका सिर अमर हो गया। अमर हो जानेके कारण ब्रह्माजीने राहुके सिरको एक 'ग्रह' बना दिया। चन्द्रमा तथा सूर्यका शाश्वत वैरी यह राहु आज भी पूर्णिमा और अमावस्याके दिन उनपर आक्रमण किया करता है॥२६॥

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवान् लोकभावनः।

पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः॥२७॥

जब देवताओंका अमृत पान करना प्रायः समाप्त हो गया, तब लोकपावन भगवान् श्रीहरिने उन बड़े-बड़े असुरोंके समक्ष ही मोहिनी रूप त्यागकर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया॥२७॥

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-

हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः।

तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-

र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणात्र दैत्याः॥२८॥

हे राजन्! देश, काल, कारण, प्रयोजन, अर्थ, कर्म और मति एक समान होनेपर भी देवताओं और असुरोंकी फल-प्राप्तिमें कितना अन्तर हो गया। देवताओंने भगवान्के चरणकमलोंकी रेणुका आश्रय लिया था, किन्तु दैत्य भगवान्के चरणोंसे विमुख थे, इसलिए इतना कष्टसाध्य परिश्रम करके भी अमृत-फलकी प्राप्ति न कर सके॥२८॥

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-

र्द्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।

तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्।
 सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे अमृतवण्टनं नाम नवमोऽध्यायः।

मनुष्य अपने धन, प्राण, कर्म, वाणी एवं मन द्वारा शरीर और पुत्रादिके लिए जो कुछ भी अनुष्ठान करता है, वे उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते हैं, जिस प्रकार शाखाको मूलसे पृथक् जानकर शाखाकी सिंचाई करनेपर। मूलमें जल देनेसे उसके तने, टहनी और पत्तोंकी सिंचाई स्वयं ही हो जाती है, उसी प्रकार सारे प्रयास भगवान्‌के उद्देश्यसे करनेपर उनका फल भेदभावरहित होकर सभीको मिल जाता है॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके नवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

देवासुर संग्राम

श्रीशुक उवाच—

इति दानवदैतेया नाविन्द्रमृतं नृप।

युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दैत्यों और दानवोंने समुद्र-मन्थनमें देवताओंके साथ मिलकर अत्यन्त परिश्रम किया था, किन्तु भगवान्से विमुख होनेके कारण उन्हें अमृतकी प्राप्ति नहीं हुई ॥१॥

साधयित्वामृतं राजन् पाययित्वा स्वकान् सुरान्।

पश्यतां सर्वभूतानां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥ २ ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीहरिने समुद्रको मथकर अमृत निकाला और अपने अनुगत देवताओंको उसका पान कराया। तत्पश्चात् सभीके समक्ष ही गरुडपर सवार होकर वहाँसे चले गये ॥२॥

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः।

अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान् प्रत्युद्यतायुधाः ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् जब दैत्योंने अपने शत्रुओंके इस प्रकार बढ़ते हुए ऐश्वर्यको देखा तो वे इसे सहन नहीं कर पाये। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये और देवताओंपर आक्रमण कर दिया ॥३॥

ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः।

प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥ ४ ॥

देवताओंको भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय तो था ही। साथ ही अमृतपान करनेसे उनका बल और भी अधिक बढ़ गया था। अतः उन्होंने भी अपने-अपने शस्त्र उठा लिये और दैत्योंसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो गये ॥४॥

तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥ ५ ॥

राजन्! क्षीरसागरके तटपर अति भयङ्कर और तुमुल संग्राम हुआ, जिसको सुननेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। देवताओं और दैत्योंका यह युद्ध 'देवासुर संग्राम' के नामसे विख्यात है ॥५॥

तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥ ६ ॥

इस युद्धमें दोनों ही दलोंका चित्त क्रोधसे भरा हुआ था, दोनोंमें ही प्रबल शत्रुताका भाव था। अतः वे एक-दूसरेको आमने-सामने पाकर भिड़ गये और तलवार, बाण और नानाविध अस्त्र-शस्त्रोंसे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे ॥६॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरिणां महान्।
हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत् ॥ ७ ॥

उस समय रणक्षेत्र शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग, भेरी और डमरुओंकी तुमुल ध्वनिसे गूँजने लगा। वहाँ हाथियोंकी चिंघाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथोंकी घरघराहट और पैदल सैनिकोंकी चिल्लाहटसे बड़ा कोहराम मच गया ॥७॥

रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥ ८ ॥

इस संग्राममें रथियोंके साथ रथी, पैदल सेनाके साथ पैदल सेना, घुड़सवारोंके साथ घुड़सवार और हाथियोंपर सवार सैनिक अपने विपक्षी सैनिकोंके साथ भिड़ गये ॥८॥

उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः।
केचिद्गौरमुखैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥ ९ ॥

उनमें-से कोई-कोई वीर ऊँटोंपर, हाथियोंपर, गदहोंपर चढ़कर युद्ध कर रहे थे, तो कोई लाल मुँहवाले वानरों, बाघों और सिंहोंपर सवार होकर लड़ाई कर रहे थे ॥९॥

गृध्रेः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः ।
 शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गव्यारुणैः ॥ १० ॥
 शिवाभिराखुभिः केचित् कृकलासैः शशैर्नरैः ।
 बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च शूकरैः ॥ ११ ॥
 अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः ।
 सेनयोरुभयो राजन् विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥ १२ ॥

महाराज! उन दैत्य वीरोंमें-से कुछ गिद्ध, कङ्क (चील्ह),
 बगुले, बाज और भास पक्षियोंकी पीठपर बैठकर लड़ रहे थे, तो
 कुछ विशाल मछलियोंको निगलनेवाले तिमिङ्गिल, मच्छ, शरभ,
 भैंसे, गैंडे, गाय, बैल, नीलगाय और जङ्गली साँड़ोंपर सवार होकर
 युद्ध कर रहे थे। कोई-कोई सियार-सियारिन, चूहे, छिपकलियों
 (गिरगिटों) और खरहोंपर सवार हो गये तो कुछ मनुष्य, बकरों,
 कृष्णसार मृगों, हंसों और सुअरोंपर सवार होकर लड़ने लगे।
 इसी प्रकार कुछ दैत्य जल, स्थलके जन्तुओं तथा आकाशमें
 उड़नेवाले खग-विहगोंकी पीठपर सवार हो गये और कुछ भयङ्कर
 आकृतिवाले प्राणियोंके ऊपर चढ़कर एक-दूसरेके सम्मुख होकर
 रणक्षेत्रमें आगे-आगे घुस गये ॥ १०-१२ ॥

चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः ।
 महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बाह्व्यामरैः ॥ १३ ॥
 वातोद्भूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः ।
 स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥ १४ ॥
 देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन ।
 रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥ १५ ॥

हे राजन्! हे पाण्डुनन्दन! उस समय देवता और दैत्य—दोनों
 ही दलोंकी सेनाएँ रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजाओं, पताकाओं, स्फटिक
 मणिके समान निर्मल श्वेत वर्णके तथा हीरोंसे जड़े दण्डसे युक्त
 महामूल्यवान् छत्रों, मयूरपङ्क्तोंसे रचित चामरों, पङ्क्तों, वायुसे ऊपरकी

ओर उड़ते हुए दुपट्टों, पगड़ियों, कलगियों, कवचों, स्वाभाविक दीप्तिमान् और सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त कान्तिमान् आभूषणों, उज्ज्वल शस्त्रों एवं वीरोंकी पंक्तियोंके कारण सुसज्जित होकर ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो जलजन्तुओंसे भरे हुए दो सागर तरङ्गायित हो रहे हों ॥१३-१५॥

वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः।

यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम् ॥ १६ ॥

सर्वसांग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम् ॥ १७ ॥

आस्थितस्तद्विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः।

बालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥ १८ ॥

हे राजन्! इस युद्धमें असुरोंके प्रसिद्ध सेनापति विरोचन-नन्दन महाराज बलि वैहायस नामक विमानपर सवार हुए। मयदानव द्वारा निर्मित वह विमान चालककी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता था। वह अति अद्भुत और युद्धकी सम्पूर्ण सामग्रियोंसे सुसज्जित था। अन्य विमानोंके समान होनेपर भी वह अतर्क्य तथा अवर्णनीय था। वह कभी दिखलायी पड़ता तो कभी अदृश्य हो जाता था। उस श्रेष्ठ विमानको बड़े-बड़े सेनापतियोंने चारों ओरसे घेर रखा था। उसपर श्रेष्ठ चँवर डुलाये जा रहे थे और ऊपर छत्र सुशोभित था। इस प्रकार सब प्रकारसे आश्चर्यमय और सर्वश्रेष्ठ विमानपर विराजमान महाराज बलि इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो उदयगिरि शिखरपर सभी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए चन्द्रमा उदित हो रहा हो ॥१६-१८॥

तस्यासन् सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः।

नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥ १९ ॥

द्विमूर्द्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः।

शकुनिर्भूतसन्तापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥ २० ॥

हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः।
 तारकश्चक्रदृक् शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः ॥ २१ ॥
 अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः।
 अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥ २२ ॥
 अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः।
 सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥ २३ ॥
 सिंहनादान् विमुञ्चन्तः शङ्खान् दध्मुर्महारवान्।
 दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान् बलभित् कुपितो भृशम् ॥ २४ ॥

बलि महाराजके चारों ओर अपने-अपने वाहनोंके साथ सेनापतिगण और अन्यान्य असुर यथास्थान खड़े हुए थे। उनमें—नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, कपिल, मेघ, दुन्दुभि, तारक, चक्रदृक्, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, त्रिपुराधिप, मय, पौलोम, कालेयगण और निवातकवच प्रधान थे। समुद्र-मन्थनमें ये सभी अमृत-भागसे वञ्चित रह गये थे और इन्हें कष्टसाध्य परिश्रम ही हाथ लगा था। इन सभी असुरोंने रणक्षेत्रमें अपने बलसे अनेक बार देवताओंको पराजित किया था। अतः ये सभी बड़े उत्साहके साथ सिंहनाद करते हुए अति उच्च स्वरसे शङ्ख बजाने लगे। इन्द्रने जब देखा कि उनके शत्रु असुर मदोन्मत्त हो रहे हैं, तो वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे ॥ १९-२४ ॥

ऐरावतं दिक्कुरिणमारूढः शुशुभे स्वराट्।

यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्षतिः ॥ २५ ॥

इन्द्र अपने वाहन ऐरावत नामक श्रेष्ठ हाथीपर सवार हो गये। उसके गण्डस्थलसे मदकी धाराएँ निकल रही थीं। ऐरावतपर आसीन होकर इन्द्र इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो सूर्यदेवता उदयगिरिपर आरूढ़ हुए हों और उससे चारों ओर झरने बह रहे हों ॥ २५ ॥

तस्यासन् सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः।

लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निरुणादयः ॥ २६ ॥

इन्द्रके भी चारों ओर नानाविध वाहन, पताका और आयुधोंसे सुसज्जित होकर देवतागण तथा वायु, अग्नि एवं वरुण आदि लोकपालगण उनकी सहायताके लिए अपने-अपने गणोंके साथ उपस्थित थे ॥ २६ ॥

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः।

आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् देवता और दानव एक दूसरेके सम्मुख आकर मर्मभेदी वचनों द्वारा एक दूसरेको धिक्कारने लगे। वे परस्पर एक-दूसरेका नाम ले-लेकर ललकारते हुए आगे बढ़े और दो-दो की जोड़ियाँ बनाकर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे ॥ २७ ॥

युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत।

वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन् प्रहेतिना ॥ २८ ॥

हे राजन्! बलि इन्द्रके साथ युद्धमें जुट गये। इसी प्रकार कार्तिक तारकासुरके साथ, वरुण हेतिके साथ और मित्र प्रहेतिके साथ संग्राम करने लगे ॥ २८ ॥

यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै।

शम्बरो युयधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः ॥ २९ ॥

यमराज कालनाभके साथ, विश्वकर्मा मयदानवके साथ, त्वष्टा शम्बरासुर और सविता विरोचनसे भिड़ गये ॥ २९ ॥

अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा।

सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥ ३० ॥

राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः।

निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार अपराजितके साथ नमुचि, वृषपर्वाके साथ दोनों अश्विनीकुमार और महाराज बलिके बाणादि सौ पुत्रोंके साथ

सूर्यदेवका युद्ध हुआ। राहुके साथ चन्द्रमाका, पुलोमाके साथ वायुका और शुम्भ, निशुम्भके साथ महाबलवती भद्रकाली देवीका संग्राम होने लगा ॥३०-३१॥

वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः।

इल्वलः सहवातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम ॥ ३२ ॥

कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह।

बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥ ३३ ॥

मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः।

विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥ ३४ ॥

हे अरिन्दम्! जम्भासुरके साथ महादेवजी, महिषासुरके साथ अग्निदेव और वातापि तथा इल्वलसे ब्रह्मपुत्र मरीचिकी भिड़न्त हुई। इसी प्रकार दुर्मर्षके साथ कामदेवका, मातृकागणोंके साथ उत्कल, शुक्राचार्यके साथ बृहस्पतिका, नरकासुरके साथ शनैश्चरका संग्राम हुआ। निवातकवचके साथ मरुद्गण, कालकेय नामक असुरोंके साथ विश्वेदेवगण तथा क्रोधवशोंके साथ रुद्रगण युद्ध कर रहे थे ॥३२-३४॥

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा

द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः।

अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा

जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार देवता और दानव मिलकर द्वन्द्वयुद्ध करने लगे। विजय-प्राप्तिकी इच्छासे वे एक-दूसरेके निकट आकर तीखे बाण, खड्ग और भालोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥३५॥

भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः

शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि।

निस्त्रिंशभल्लैः परिधैः समुद्ररैः।

सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥ ३६ ॥

भुशुण्डि, चक्र, गदा, परिघ, पट्टिश, ऋष्टि, शक्ति, उल्मूक, कुन्त, फरसा, तलवार, भाला, मुद्गर और भिन्दिपाल आदि अस्त्रोंसे वे अपने-अपने विपक्षियोंके मस्तक काटने लगे॥३६॥

गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः
सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥ ३७ ॥

एक-दूसरेपर अस्त्र प्रहार करनेसे हाथी, घोड़े, रथ एवं उनपर सवार लोग, पैदल सेना एवं अन्य वाहनोंके साथ उनके सवार छिन्न-भिन्न हो गये। किसीकी बाहु, किसीकी जाँघ, किसीकी गर्दन और किसीके पैर कट गये। पताकाएँ, धनुष, कवच तथा आभूषण भी खण्ड-विखण्ड हो गये॥३७॥

तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिञ्च छादयन्
न्यवर्त्ततासृक्सुतिभिः परिप्लुतात् ॥ ३८ ॥

उस समय दैत्य एवं देवताओंके पदाघात एवं रथके पहियोंकी रगड़से पृथ्वी चूर्ण-विचूर्ण होने लगी। युद्धक्षेत्रसे ऐसी प्रचण्ड धूल उठी कि सारी दिशाएँ, आकाश और सूर्यदेव भी ढक गये। अगले ही क्षण रक्तकी धाराएँ इस प्रकारसे प्रवाहित हुई कि धूलका नामोनिशान ही न रहा। (रक्तकी बूँदें आकाश तक उड़ीं और सारी धरती रक्तसे आप्लावित हो गयी।)॥३८॥

शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भद्गभिः परिदष्टदच्छदैः।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥ ३९ ॥

तदनन्तर योद्धाओंके किरीट एवं कुण्डलोंसे सारा रङ्गस्थल पट गया। किसीकी आँखोंसे रोष प्रकट हो रहा था, किसीने

क्रोधके कारण दाँतोंको भींच रखा था, कहीं कटे हुए सिर पड़े हुए थे, तो कहीं आभूषणों और शस्त्रोंसे सुसज्जित विशाल भुजाएँ कटकर गिरी हुई थीं और कहीं हाथीकी सूँड़ोंके समान जाँघें कटी हुई पड़ी थीं। इस प्रकार रणभूमिका दृश्य बड़ा भयङ्कर दिखाई दे रहा था॥३९॥

कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः।

उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान् मृधे॥४०॥

परीक्षित्! उस समय रणक्षेत्रमें अनेक धड़ (कबन्ध) गिरे पड़े थे। युद्धमें अपने-अपने गिरे हुए मुण्डोंके नेत्रोंसे देखते हुए वे अपनी भुजाओंसे अस्त्र-शस्त्र उठाने लगे और शत्रु योद्धाओंपर आक्रमण करनेके लिए दौड़ने लगे (वे मरनेके साथ ही प्रेत बन गये थे)॥४०॥

बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः।

चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत्॥४१॥

हे राजन्! इसके पश्चात् असुरराज बलिने दस बाण इन्द्रपर, तीन बाण उनके वाहन ऐरावतपर, चार ऐरावतके चार पैरोंके रक्षकोंपर और एक बाण मुख्य महावतपर छोड़ा॥४१॥

स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः।

चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान् हसन्निव॥४२॥

धनुर्विद्यामें सुनिपुण देवराज इन्द्रने हँसते-हँसते अपनी ओर आनेवाले शस्त्रोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही भल्ल नामक तीखे शस्त्रसे उतने ही बाण चलाकर काट डाला। बलिके बाण अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सके॥४२॥

तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे।

तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः॥४३॥

जब राजा बलिने इस प्रकार इन्द्रका उत्तम युद्ध कौशल देखा, तो वे अपने बढ़ते क्रोधको रोक न सके। उन्होंने 'शक्ति' नामक

एक विशेष अस्त्र उठा लिया। यह 'शक्ति' नामक हथियार महान् उल्काके समान जल रहा था। यह 'शक्ति' बलिके हाथसे छूटता, इसके पहले ही इन्द्रने उसे भी खण्ड-विखण्ड कर डाला ॥४३॥

ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः।

यद्यच्छस्त्रं समादद्यात् सर्वं तदच्छिनद्विभुः ॥४४॥

इसके पश्चात् धीरे-धीरे महाराज बलिने शूल, प्रास, तोमर, ऋष्टि आदि जो-जो शस्त्र धारण किये, परम शक्तिवान् देवराज इन्द्रने उन्हें बलिके हाथोंमें ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला ॥४४॥

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्द्धानगतोऽसुरः।

ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥४५॥

राजन्! तदनन्तर महाराज बलि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और उन्होंने आसुरी माया रच डाली, जिससे तुरन्त ही देव सेनाके ऊपर एक बड़ा भारी पर्वत प्रकट हुआ ॥४५॥

ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना।

शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्वलम् ॥४६॥

इस पर्वतसे दावानलसे जलते हुए वृक्ष गिरने लगे। उनसे पत्थरोंको विदीर्ण करनेवाली कुल्हाड़ी जैसी तीखी धारवाले शिखरोंके साथ पत्थरके टुकड़े गिरने लगे, जिससे देवताओंकी सेना चूर्ण-विचूर्ण होकर पृथ्वीपर गिरने लगी ॥४६॥

महोरगाः समुत्पेतुर्दन्द्शूकाः सवृश्चिकाः।

सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजाः ॥४७॥

इसके पश्चात् बड़े-बड़े बिच्छुओंके साथ दंशन करनेवाले महासर्प, अन्य विषैले जन्तु और सिंह, व्याघ्र, वराह और बड़े-बड़े हाथी देवसेनाको चकनाचूर करने लगे ॥४७॥

यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः।

छिन्धि भिन्धीतिवादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो ॥४८॥

महाराज ! हाथोंमें शूल लिए बहुत-सी निर्वस्त्र राक्षसियाँ एवं राक्षसगण भी 'मारो, मारो', 'काट डालो' इस प्रकार कहते हुए वहाँ प्रकट हो गये ॥४८॥

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः ।

अङ्गारान् मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्स्नवः ॥ ४९ ॥

कुछ देर पश्चात् आकाशमें घनघोर घटाएँ छा गयीं, उनके आपसमें टकरानेसे अति भीषण एवं कर्कश गर्जन होने लगा, बिजलियाँ चमकने लगीं। जब प्रचण्ड आँधीने बादलोंको इकझोरा, तब आकाशसे अङ्गार बरसने लगे ॥४९॥

सृष्टो दैत्येन सुमहान् वह्निः श्वसनसारथिः ।

सांवर्त्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमथाक् ॥ ५० ॥

महाराज बलि द्वारा उत्पन्न महाग्नि, सांवर्त्तक नामक प्रलयाग्निके समान अति प्रचण्ड थी। वह वायुकी सहायतासे और भी भयङ्कर होकर देवताओंकी सेनाको जलाने लगी ॥५०॥

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत ।

प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्त्तभीषणः ॥ ५१ ॥

इसके पश्चात् प्रचण्ड आँधीके थपेड़ोंसे समुद्रमें विक्षुब्ध लहरें और भयानक भँवर उठने लगे तथा समुद्र सभीके समक्ष अपनी मर्यादाका अतिक्रमण करके चारों ओरसे उमड़ता हुआ देवसेनाको घेरने लगा ॥५१॥

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीरणे ।

सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥ ५२ ॥

अन्य महामायावी दानव भी इस प्रकार अलक्षितरूपसे रणक्षेत्रमें विविध प्रकारकी माया रचने लगे, जिसके कारण देव-सैनिक अत्यन्त दुःखी हो गये ॥५२॥

न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप ।

ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र भगवान् विश्वभावनः ॥ ५३ ॥

हे राजन्! इन्द्रादि देवताओंको जब इस मायाका कोई प्रतिकार दिखायी नहीं दिया, तब उन्होंने पूर्ण मनोयोगके साथ भगवान्‌का ध्यान किया और ध्यान करते ही सम्पूर्ण विश्वके जीवनदाता भगवान् वहाँ प्रकट हो गये ॥५३॥

ततः सुपर्णासकृताङ्घ्रिपल्लवः

पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः।

अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-

च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥

देवताओंने देखा कि भगवान् श्रीहरि गरुडके कन्धोंपर अपने चरणकमल रखकर विराजमान हैं। उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा है, नवीन कमल-दलके समान अतिशय कोमल नेत्र हैं। उन्होंने आठ भुजाओंमें आठ आयुध धारण कर रखे हैं। गलेमें कौस्तुभ मणि, मस्तकपर महामूल्यवान् मुकुट, कानोंमें मनोहर कुण्डल सुशोभित हैं। उनकी यह छवि अत्यद्भुत और परम मनोहर थी ॥५४॥

तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा

माया विनेशुर्महिना महीयसः।

स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥५५॥

स्वप्नमें देखी हुई वस्तुएँ जिस प्रकार जग जानेपर नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार परम पुरुष भगवान्‌के युद्धक्षेत्रमें प्रवेश करने मात्रसे ही, उनके प्रभावसे असुरोंकी कपटपूर्ण माया विलीन हो गयी। सत्य है, भगवान्‌का स्मरण समस्त विपत्तियोंका नाशक है ॥५५॥

दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाहः

आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः।

तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद् गृहीत्वा

तेनाहननृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥५६॥

हे राजन्! सिंहपर सवार कालनेमि असुरने युद्धक्षेत्रमें गरुडवाहन श्रीहरिको देखते ही अपने शूलको बड़े वेगके साथ घुमाकर भगवान्पर चला दिया। वह शूल गरुडके सिरपर गिरने ही वाला था कि भगवान्ने उसे अनायास ही पकड़ लिया और उसी शूलसे कालनेमि असुर और उसके वाहनको मार डाला ॥५६॥

माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्वक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम्।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाद्यः ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामो नाम दशमोऽध्यायः।

इसके पश्चात् भगवान्ने माली और सुमाली नामक दो अत्यन्त बलवान् दैत्योंको भी युद्ध-स्थलमें अपने चक्रसे मार डाला। वे निर्जीव होकर भूमिपर गिर पड़े। तदनन्तर माल्यवान् नामक असुर अपनी प्रचण्ड गदासे भगवान् एवं पक्षीराज गरुडपर आक्रमण करनेके लिए उद्यत हुआ, किन्तु उसके प्रहार करनेसे पहले ही भगवान् श्रीहरिने अपने चक्रसे सिंहके समान गर्जना करनेवाले उस माल्यवान्के मस्तकको काट डाला ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके दसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

देवर्षि नारदके उपदेशसे देवासुर-संग्रामकी समाप्ति

श्रीशुक उवाच—

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः

परस्य पुंसः परयानुकम्पया।

जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय—

स्तांस्तान् रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इसके पश्चात् परमपुरुष भगवान् श्रीहरिकी कृपासे इन्द्र, वायु आदि देवताओंमें नवीन उत्साहका सञ्चार हो गया। पहले जिन असुरोंसे वे आहत हो रहे थे, अब उन्हींपर पूरी शक्तिसे प्रहार करने लगे ॥१॥

वैरोचनाय संरब्धो भगवान् पाकशासनः।

उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः ॥ २ ॥

शक्तिशाली इन्द्रने युद्ध करते-करते जब क्रोधित होकर विरोचन-नन्दन बलिकी हत्या करनेके लिए वज्र उठाया, तब प्रजा हाहाकार करती हुई विलाप करने लगी ॥२॥

वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम्।

मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे ॥ ३ ॥

मनस्वी दैत्यराज बलि उस महान् युद्धमें अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर निर्भयतापूर्वक विचरण कर रहे थे। उनको अपने सामने देखकर हाथमें वज्र लिए देवराज इन्द्रने उनका तिरस्कार करते हुए कहा— ॥३॥

नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान् नो जिगीषसि।

जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम् ॥ ४ ॥

अरे मूर्ख! कपटी व्यक्ति जिस प्रकार बालकोंकी आँखें बन्द करवाके उन्हें अपने जादूसे जीतकर उनका सारा धन हर ले जाता है, उसी प्रकार तू भी नटके समान अपनी मायाके द्वारा हमें जीतना चाहता है। क्या तू नहीं जानता कि हम लोग मायाके अधीश्वर हैं? ॥४॥

आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्तिसृप्सन्ति ये दिवम्।

तान् दस्यून् विधुनोम्यज्ञान् पूर्वस्माच्च पदादधः ॥५॥

जो लोग मायाके द्वारा स्वर्गादि उच्च लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं अथवा स्वर्गको भी लाँघकर ऊपरके लोकोंपर भी आधिपत्य जमाना चाहते हैं, मैं उन मूर्ख लुटेरोंको रसातलसे भी नीचेके लोकोंमें डाल देता हूँ ॥५॥

सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा।

शिरो हरिष्ये मन्दात्मन् घटस्व ज्ञातिभिः सह ॥६॥

तूने लोगोंको मोहित करनेवाली दुर्मायाका खेल खूब खेल लिया। अब अत्यन्त शक्तिशाली मैं सौ धारवाले वज्रसे तेरा मस्तक धड़से अलग किये देता हूँ। रे मन्दबुद्धे! तू अपने परिजन तथा मित्रोंके सहित युद्धके लिए जो यत्न कर रहा है, उसे करके देख ले ॥६॥

श्रीबलिरुवाच—

सङ्ग्रामे वर्त्तमानानां कालचोदितकर्मणाम्।

कीर्त्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ॥७॥

दैत्यराज बलिने कहा—इन्द्र! इस युद्धभूमिमें जो भी उपस्थित हैं, वे सभी कालके द्वारा प्रेरित हैं। अपने-अपने कर्मोंके फलानुसार सभीको क्रमशः कीर्त्ति, जय, पराजय अथवा मृत्यु प्राप्त होगी ॥७॥

तदिदं कालरशनं जगत् पश्यन्ति सूरयः।

न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ॥८॥

विवेकी व्यक्ति इस जगत्को कालके वशीभूतरूपसे दर्शन करते हैं, अतः इसके लिए वे हर्ष या शोक नहीं करते, परन्तु तुमलोग इस यथार्थ तत्त्वसे अनभिज्ञ हो ॥८॥

न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम्।

गिरो वः साधु शोच्यानां गृहीमो मर्मताडनाः॥९॥

अहङ्कार एवं मूर्खताके कारण ही तुम स्वयंको कीर्ति एवं जय-प्राप्तिका कर्त्ता मानते हो। तुम लोगोंकी इसी अज्ञानतापर महात्मा लोग शोक करते हैं। इसीलिए तुम्हारे मर्मभेदी एवं पीड़ादायक वचनोंको हम स्वीकार नहीं करते॥९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः।

आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः॥१०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! वीरोंका मानमर्दन करनेवाले राजा बलिने इस प्रकार इन्द्रका तिरस्कार करके अपने धनुषको कान तक खींचकर उनपर कई नाराच बाण छोड़े। इसके पश्चात् पुनः कठोर वचनोंके द्वारा इन्द्रका तिरस्कार करने लगे॥१०॥

एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना।

नामृष्यत् तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः॥११॥

महाराज बलि सभी बातें यथार्थ ही कह रहे थे। उनकी प्रताड़नासे अपमानित होकर इन्द्र अङ्कुशसे आहत हाथीके समान और भी अधिक व्यथित हो गये। बलिके आक्षेप उन्हें सहन नहीं हुए॥११॥

प्राहरत् कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः।

सयानो न्यपतद्भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः॥१२॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका मर्दन करनेवाले इन्द्रने बलिका वध करनेके लिए शत्रुसंहारक अपना अमोघ वज्र छोड़ा, जिससे घायल होकर बलि अपने विमानके साथ ही पड़क कटे हुए पर्वतके समान पृथ्वीपर गिर पड़े॥१२॥

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत्।

अभ्ययात् सौहृदं सख्युर्हृतस्यापि समाचरन्॥१३॥

बलि महाराजका एक मित्र था, जिसका नाम था जम्भासुर। जब उसने अपने मित्रको गिरते हुए देखा तो अपने मित्रके प्रति सौहार्द प्रकट करते हुए वह बदला लेनेके लिए इन्द्रके सम्मुख आ खड़ा हुआ॥१३॥

स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा।

जत्रावताडयच्छक्रं गजञ्च सुमहाबलः॥१४॥

जम्भासुर अत्यन्त बलवान् था। वह अपने वाहन सिंहपर सवार होकर इन्द्रके समीप पहुँच गया। उसने बड़े वेगके साथ गदा घुमायी और उनकी हसलीपर और उनके वाहन ऐरावतपर प्रहार किया॥१४॥

गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः।

जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ॥१५॥

जम्भासुरकी गदाके प्रहारसे देवराज इन्द्रका हाथी अतिशय व्याकुल हो गया। अत्यधिक व्यथाके कारण उसने पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और मूर्च्छित हो गया॥१५॥

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।

आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः॥१६॥

यह देखकर इन्द्रका सारथि मातलि सहस्र अश्वोंसे जुता हुआ रथ ले आया। तब इन्द्र ऐरावतको छोड़कर उस रथपर सवार हो गये॥१६॥

तस्य तत् पूजयन् कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः।

शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे॥१७॥

दानवश्रेष्ठ जम्भासुरने इस सेवाकार्यके लिए मातलिकी बड़ी प्रशंसा की। बादमें थोड़ा मुसकराकर अग्निके समान जलते हुए अपने त्रिशूलसे मातलिपर प्रहार कर दिया॥१७॥

सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः।

इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः॥१८॥

मातलिने धैर्यके साथ उस शूलसे किये गये प्रहारकी दुःसह व्यथाको सहन कर लिया, परन्तु इन्द्र अत्यधिक क्रोधित हो उठे। उन्होंने वज्रके आघातसे जम्भासुरका मस्तक धड़से अलग कर दिया॥१८॥

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः।

नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः॥१९॥

‘जम्भासुर मारा गया’—नारद ऋषिसे यह समाचार सुनकर उसके बन्धु-बान्धव नमुचि, बल और पाक नामक तीनों दानव शीघ्र ही युद्धक्षेत्रमें आ गये॥१९॥

वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु।

शरैरवाकिरन् मेघा धाराभिरिव पर्वतम्॥२०॥

उन्होंने पहले तो अपने कठोर और कर्कश वचनोंसे इन्द्रके मर्मस्थलको बीधते हुए उनसे अनेक कटु वचन कहे। तत्पश्चात् जिस प्रकार मेघ पर्वतपर मूसलाधार पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे देवराज इन्द्रके हृदयादि मर्म स्थानों पर बाणोंसे प्रहार करने लगे॥२०॥

हरीन् दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः।

तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान्॥२१॥

बल नामक असुरने अपने हस्त कौशलसे युद्धक्षेत्रमें एक हजार बाण चलाकर एक साथ ही इन्द्रके एक हजार अश्वोंको घायल कर दिया॥२१॥

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक्।

सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद्रणे॥२२॥

पाक नामक दूसरे असुरने एक ही साथ दो-सौ बाण धनुषपर चढ़ाकर छोड़ दिये। सौ बाणोंसे उसने मातलिको और सौ बाणोंसे रथके एक-एक भागको बिद्ध कर डाला। रणभूमिमें यह एक अद्भुत घटना घटी॥२२॥

नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः।

आहत्य व्यनदत् संख्ये सतोय इव तोयदः॥२३॥

इसके पश्चात् नमुचिने सोनेके पङ्खवाले पंद्रह महाबाण इन्द्रपर छोड़े और जलसे पूर्ण बादलोंके समान संग्राम-स्थलपर गर्जना करने लगा ॥२३॥

सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम्।

छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः ॥ २४ ॥

अन्य असुरोंने भी बाणोंकी वर्षासे इन्द्रको उनके रथ और सारथि सहित चारों ओरसे इस प्रकार ढक दिया, जिस प्रकार वर्षाकालीन मेघ सूर्यको ढक देते हैं ॥२४॥

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला

विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः।

अनायकाः शत्रुबलेन विनिर्जिता

वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे ॥ २५ ॥

रणभूमिमें देवराज इन्द्रको न देखकर सारे देवता और उनके अनुचर अत्यन्त विकल हो गये। एक तो वे शत्रुओंसे पहले ही हार गये थे और अब उनका कोई प्रधान सेनापति भी नहीं रह गया था। वे इस प्रकार विलाप करने लगे जिस प्रकार कोई व्यापारी समुद्रके बीचों-बीच नाव टूट जानेपर करता है ॥२५॥

ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जरा-

द्विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः।

बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन्

स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये ॥ २६ ॥

किन्तु इन्द्र थोड़ी देर बाद ही शत्रुओं द्वारा निर्मित बाणोंसे आबद्ध पिंजरेसे ध्वजा, रथ, अश्व और सारथिके साथ उसी प्रकार बाहर निकल आये, जिस प्रकार रात्रिके अवसानपर सूर्य अपने तेजसे समस्त दिशाओं, आकाश और पृथ्वीको प्रकाशित करते हुए उदित होते हैं। इन्द्रके तेजसे सभी जगमगा उठे ॥२६॥

निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्द्धितां रणे।

उदयच्छद्रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥ २७ ॥

जब वज्रधारी इन्द्रने देखा कि शत्रुओंने उनकी सेनाको रौंद डाला है, तब उन्होंने अत्यन्त क्रोधमें भरकर शत्रुओंको मारनेके लिए अपना वज्र उठा लिया ॥२७॥

स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः।

ज्ञातीनां पश्यतां राजन् जहार जनयन् भयम् ॥ २८ ॥

राजन्! इन्द्रने वहाँ उपस्थित दैत्योंके बन्धु-बान्धवोंको भयभीत करते हुए आठ धारोंवाले अपने वज्रसे बल एवं पाक नामक दोनों असुरोंका सिर काट डाला ॥२८॥

नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः।

जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ॥ २९ ॥

महाराज! बल और पाकको मरा हुआ देखकर नमुचिको बड़ा शोक हुआ। अतिशय द्वेष और क्रोधमें भरकर वह इन्द्रका वध करनेके लिए जी-जानसे प्रयास करने लगा ॥२९॥

अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम्।

प्रगृह्याभ्यद्रवत् क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन्।

प्राहिणोद्देवराजाय निनदन् मृगराडिव ॥ ३० ॥

‘इन्द्र! अब तुम्हारी मृत्यु निश्चित है’—इस प्रकार सिंहके समान गर्जना करते हुए क्रुद्ध नमुचि एक त्रिशूल उठाकर इन्द्रपर टूट पड़ा। वह त्रिशूल लोहेका बना हुआ था और सोनेके आभूषणोंसे अलङ्कृत था। उसमें घण्टे लगे हुए थे। इन्द्रके सम्मुख आकर नमुचिने उनकी हत्या करनेके लिए वह त्रिशूल उनपर चला दिया ॥३०॥

तदापतद्गगनतले महाजवं

विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा।

तमाहनवृष कुलिशेन कन्धरे

रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् ॥ ३१ ॥

हे राजन्! देवराज इन्द्रने उस महावेगवान् त्रिशूलको आकाशसे अपनी ओर आते देखकर अपने बाणोंसे उसके हजारों टुकड़े कर

दिये। तत्पश्चात् अत्यन्त क्रोधसे भरकर उन्होंने नमुचिका सिर काट देनेके उद्देश्यसे उसकी गर्दनपर वज्रसे तीव्र वार किया ॥३१॥

न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो
बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित्
तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा ॥ ३२ ॥

जिस महाबलवान् वज्रको इन्द्रने अपनी पूरी शक्तिके साथ चलाया था, वह नमुचिकी त्वचा तक भी न भेद सका। यह बड़े आश्चर्यकी बात थी कि जिस वज्रने अति बलवान् वृत्रासुरका वध कर दिया, नमुचिकी गर्दनकी त्वचाने उसका भी तिरस्कार कर दिया। उसे एक खरोंच तक भी न आई ॥३२॥

तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः।
किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥ ३३ ॥

शत्रुके पास जाकर वज्र तिरस्कृत होकर लौट आया—यह देखकर इन्द्र अत्यन्त भयभीत हो गये। वे विचार करने लगे कि दैवयोगसे सारे संसारकी बुद्धिको विमोहित करनेवाली यह कैसी आश्चर्यमयी घटना घटित हो गयी? ॥३३॥

येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये।
कृतो निविशतां भारैः पतत्रैः पततां भुवि ॥ ३४ ॥

पहले पड़्योंसे युक्त पर्वत जब आकाशमें उड़ते थे और घूमते-फिरते हुए अपने भारके कारण पृथ्वीपर गिरकर प्रजाका विनाश करते थे तब प्रजाकी रक्षा करनेके लिए मैं इसी वज्रसे उनके पङ्क काट दिया करता था ॥३४॥

तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः।
अन्ये चापि बलोपेताः सर्वस्त्रैरक्षतत्वचः ॥ ३५ ॥

त्वष्टाकी तपस्याके सारभूत पुत्र वृत्रासुरको मैंने इसी वज्रसे मार डाला था। और भी, अनेक बलवान् दैत्योंको जिनका किसी

अस्त्र-शस्त्रसे बाल भी बाँका नहीं होता था, उनको भी मैंने इसी वज्रसे विदीर्ण कर डाला था ॥३५॥

सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके।

नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥ ३६ ॥

यही वज्र इस तुच्छ असुरके निकटसे निष्फल होकर लौट आया, अब मैं इसे ग्रहण नहीं करूँगा। यह ब्रह्मतेजसे बना होनेपर भी इस समय तुच्छ डण्डेकी तरह व्यर्थ हो चुका है ॥३६॥

इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी।

नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥ ३७ ॥

इन्द्र इस प्रकार विषाद कर ही रहे थे कि तभी एक आकाशवाणीने इन्द्रको सम्बोधन करते हुए कहा—“इस नमुचिका वध न तो सूखी वस्तुसे होगा और न ही गीलीसे” ॥३७॥

मयास्मै यद्वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः।

अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्ते उपायो मघवन् रिपोः ॥ ३८ ॥

“मैं इसे वरदान दे चुका हूँ कि गीली अथवा सूखी वस्तुसे इसकी मृत्यु नहीं होगी। अतः हे इन्द्र! अपने इस शत्रुका वध करनेके लिए तुम कोई दूसरा उपाय सोचो” ॥३८॥

तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान् सुसमाहितः।

ध्यायन् फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम् ॥ ३९ ॥

इस आकाशवाणीको सुनकर देवराज इन्द्र बड़ी एकाग्रताके साथ नमुचिके वधका उपाय सोचने लगे। तब उन्हें सूझ गया कि समुद्रका फेन ही ऐसी वस्तु है, जो न तो गीली है और न ही सूखी ॥३९॥

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः।

तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन् विभुम् ॥ ४० ॥

अतः जिसे न सूखा कहा जा सकता है और न गीला, उस समुद्रके फेनसे उन्होंने नमुचिका सिर काट डाला।

उस समय मुनियोंने देवराज इन्द्रकी स्तुति करते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और उन्हें मालाओंसे पूरी तरह ढककर सन्तुष्ट कर दिया ॥४०॥

गन्धर्वमुख्यौ जगदुर्विश्वावसुपरावसू।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा ॥४१॥

गन्धर्व-प्रधान विश्वावसु और परावसु आनन्दके साथ गाने लगे। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥४१॥

अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान् वाय्वग्निवरुणादयः।
सूदयामासुरसुरान् मृगान् केसरिणो यथा ॥४२॥

इसी प्रकार वायु, अग्नि और वरुण आदि देवता भी प्रतिपक्षी असुरोंका उसी प्रकार वध करने लगे, जिस प्रकार सिंह हिरनोंको मार डालता है ॥४२॥

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् देवर्षिनारदो नृप।
वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥४३॥

हे राजन्! जब ब्रह्माजीने देखा कि दानवोंका तो सर्वनाश हो रहा है, तब उन्होंने देवर्षि नारदको भेजा। उन्होंने रणभूमिमें पहुँचकर देवताओंको दानवोंके विनाशसे रोका ॥४३॥

श्रीनारद उवाच—

भवद्विरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात् ॥४४॥

देवर्षि नारदने कहा—हे देवताओ! तुम लोगोंने भगवान् श्रीनारायणके भुजबलके आश्रयसे अमृतकी प्राप्ति कर ली है और श्रीलक्ष्मीजीकी कृपासे तुम्हारी अत्यन्त वृद्धि हो रही है। अतः अब युद्ध बन्द कर दो ॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम् ॥४५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! देवर्षि नारदके वचनोंका सम्मान करते हुए सभी देवताओंने उसी क्षण अपने क्रोधका संवरण कर लिया और स्वर्गलोककी ओर चले गये। उस समय देवताओंके अनुचर उनका यशोगान कर रहे थे॥४५॥

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते।

बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन्॥४६॥

रणक्षेत्रमें जो दानव जीवित बचे रह गये थे, उन्होंने नारदजीकी अनुमतिसे वज्रसे आहत बलिको उठाया और उन्हें अस्ताचलकी ओर ले गये॥४६॥

तत्राविनष्टावयवान्

विद्यमानशिरोधरान्

उशनां जीवयामास सञ्जीविन्या स्वविद्यया॥४७॥

जिन दानवोंके हाथ, पैर आदि अङ्ग सम्पूर्ण नष्ट नहीं हुए थे तथा सिर विद्यमान था, उन सबको शुक्राचार्यने अपनी संजीवनी विद्यासे पुनर्जीवित कर दिया॥४७॥

बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः।

पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे देवासुरयुद्धं नाम एकादशोऽध्यायः।

शुक्राचार्यके हाथोंके स्पर्शसे बलि महाराजकी इन्द्रियोंकी चेतना लौट आयी। उन्हें स्मृति-शक्ति भी प्राप्त हो गयी। दैत्यराज बलि लोकतत्त्वके विषयमें भलीभाँति जानते थे, अतः युद्धमें पराजित होनेपर भी उन्हें कोई दुःख न हुआ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके ग्यारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

भगवान्‌के मोहिनीरूपको देखकर
महादेवजीका मोहित होना

श्रीबादरायणिरुवाच—

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान्‌।
मोहयित्वासुरगणान्‌ हरिः सोममपाययत्‌ ॥ १ ॥
वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः।
सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्‌! महादेवने जब यह सुना कि भगवान्‌ श्रीहरिने स्त्री-रूप धारण करके असुरोंको मोहित किया है और देवताओंको अमृत-पान कराया है, तब वे पार्वतीके साथ अपने वाहन बैलपर सवार होकर और समस्त भूतोंको लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ मधुसूदन भगवान्‌ श्रीहरि विराजमान थे। वे भगवान्‌के उसी मोहिनीरूपको देखना चाहते थे ॥१-२॥

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन्‌ हरिम्‌ ॥ ३ ॥

भगवान्‌ने देवी पार्वतीके साथ महादेवका बड़े आदरके साथ सत्कार किया। महादेव जब सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये तब वे भगवान्‌का बहुत अधिक सम्मान करके हँसते हुए उनसे कहने लगे— ॥३॥

श्रीमहादेव उवाच—

देवदेव जगद्व्यापिन्‌ जगदीश जगन्मय।
सर्वेषामपि भावानं त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ४ ॥

श्रीमहादेवने कहा—हे देवाधिदेव! आप विश्वव्यापी जगदीश्वर और जगत्‌-स्वरूप हैं। आप समस्त चराचर पदार्थोंके निमित्त

एवं उपादान कारण हैं। आप जड़ प्रधान नहीं हैं, बल्कि समस्त चेतनके आत्मा, ईश्वर और नियामक हैं ॥४॥

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।

यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद्भवान् ॥५॥

इस जगत्के जन्म, स्थिति, अन्त, प्रत्यक्ष, परोक्ष, दृश्य, द्रष्टा, अहंता, ममता सब ब्रह्मसे ही हैं, किन्तु अविनाशी ब्रह्ममें जन्म, मृत्यु आदि कुछ भी नहीं है। वे ब्रह्म सत्य एवं चिन्मय स्वरूप हैं। वे ब्रह्म आप ही हैं ॥५॥

तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः।

विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥६॥

जो चरम कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे निष्काम महात्मा इस लोक और परलोकके भोगोंकी आसक्तिका त्याग करके आपके चरण-कमलोंकी उपासनामें निरत रहते हैं ॥६॥

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-

मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।

विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-

मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥७॥

आप विश्वसे विलक्षण-स्वरूप चिन्मय ब्रह्म हैं। आप पूर्ण एवं सूक्ष्म-स्वरूप हैं। आप प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर नित्य आनन्द आदि गुणोंसे युक्त रहते हैं। आपमें शोकका स्थान ही नहीं है। विश्व अचित् (जड़), अपूर्ण, नश्वर, सगुण, सशोक, सुखदुःखात्मक एवं विकार-युक्त हैं। निर्विकार होनेपर भी आप समस्त कारणोंके कारण हैं, इसलिये आपके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। कार्यकी दृष्टिसे आप सबसे भिन्न हैं। आप ही इस विश्वके सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके एकमात्र हेतु हैं। आप समस्त जीवोंको शुभाशुभ कर्मका फल प्रदान करते हैं। कर्म-फलकी प्राप्तिके लिये ही सारा जीव-जगत् आपसे अपेक्षाएँ रखता है, परन्तु आपको स्वयं किसीकी भी अपेक्षा नहीं है। आप निरपेक्ष हैं ॥७॥

एकस्त्वमेव सदसद्वयमद्वयञ्च
 स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः।
 अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
 यस्माद्गुणव्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ ८ ॥

स्वामिन्! आप ही कार्य—जगतरूपमें असत् एवं द्वैतभावापन्न एवं कारण—सत् एवं अहंतभावापन्न स्वरूप हैं। आप एक होकर भी दो और दो होकर भी एक हैं। (कार्य एवं कारणरूपमें दो और परमकारणरूपमें एक हैं। जिस प्रकार कुण्डल आदि रूपमें परिणत स्वर्ण और केवल स्वर्णमें वस्तुगत भेद नहीं है, उसी प्रकार कारणरूपी आप और आपके कार्यरूप इस जगत्में कुछ भी भेद नहीं है। लोग अज्ञानताके कारण आपमें भेदकी कल्पना कर लेते हैं। आप तो वस्तुतः निरुपाधिक (गुणातीत) स्वरूप हैं और यह जगत् निरुपाधिक आपके सत्त्वादि गुणोंका परिमाण है। इसलिये आपमें और जगत्में भेदज्ञान प्रतीत होता है किन्तु शुद्ध ज्ञानका उदय होनेपर भगवान्के अतिरिक्त इस जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। अतः यह जगत् भी आपसे अभिन्न है, कोई भेद नहीं है। (जिस प्रकार सूर्य निरुपाधिक है, उसकी रश्मि, प्रतिच्छादि एवं उसकी विचित्रता सूर्यसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार सूर्य—स्वरूप आपकी प्रतिच्छादिरूप बहिरङ्ग शक्ति और उसके अंश सत्त्वादि गुणोंका परिणमगत वैचित्र्य आपसे पृथक् नहीं है।) ॥ ८ ॥

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेके
 एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम्।
 अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
 केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥ ९ ॥

प्रभो! आपको कोई वैदान्तिक ब्रह्म कहते हैं तो मीमांसक आपको धर्म कहकर वर्णन करते हैं। सेश्वर सांख्यवादी आपको प्रकृति एवं पुरुषसे परे परम पुरुष मानते हैं, कोई आपको पूर्वजोंके पूर्वज ब्रह्मा आदिका भी ईश्वर मानते हैं, जबकि पाञ्चरात्रिकगण

आपको विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञान, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—इन नौ चित् शक्तियोंसे युक्त एवं माया शक्तिसे परे मानते हैं। पातञ्जलगण आपको असमोद्ध्व, निर्विकार, परम स्वतन्त्र महापुरुष कहकर वर्णन करते हैं ॥९॥

नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥ १० ॥

हे ईश! मैं, ब्रह्मा और मरीचि आदि सत्त्वगुणसे उत्पन्न प्रमुख ऋषि आपकी मायासे मोहित होकर जब आपके द्वारा रचित इस जगत्के रहस्यको तात्त्विक दृष्टिसे समझ नहीं सकते, तब जो अभद्र-वृत्त हैं अर्थात् सर्वदा रजोगुणी और तमोगुणी कर्मोंमें लगे रहते हैं, उन दैत्य एवं मनुष्योंकी तो बात ही क्या की जाय? ॥१०॥

स त्वं समीहितमदःस्थितिजन्मनाशं
भूतेहितञ्च जगतो भवबन्धमोक्षौ।
वायुर्यथा विशति खञ्च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्तसे ॥ ११ ॥

हे भगवन्! आप अपने द्वारा रचित इस ब्रह्माण्डकी जन्म, स्थिति, प्रलय, समस्त प्राणियोंकी चेष्टाएँ, भव-बन्धनसे मुक्ति सभी कुछ जानते हैं। वायु जिस प्रकार चराचर सभी प्राणियों, सभी वस्तुओं एवं आकाशमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आप भी निज धाम वैकुण्ठमें समासीन होकर भी उन सबके उपादानरूपमें (आत्मरूपमें) समस्त जगत्में व्याप्त हैं ॥११॥

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः।
सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥ १२ ॥

हे भगवन्! आपने सत्त्व आदि गुणोंको स्वीकार करके लीला करनेके लिये जो नरसिंह आदि अवतार लिये हैं—मैंने उन सबका

दर्शन किया है, किन्तु अभी आपने जो नारीका रूप धारण किया है, उसे भी देखनेकी मेरी उत्कट इच्छा हो रही है ॥१२॥

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः।

तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१३॥

जिस रूपमें आपने दैत्योंको पूरी तरहसे मोहित करके देवताओंको अमृत पान कराया था, हम उसी रूपके दर्शनकी अभिलाषासे यहाँ आये हैं। इस रूपके विषयमें हमारे सबके मनमें बड़ा कौतूहल है ॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवान् शूलपाणिना।

प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥१४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—महादेवजीकी इस प्रार्थनापर भगवान् विष्णुको हँसी आ गयी। उन्होंने अतिशय गम्भीर भावयुक्त वाणीमें महादेवजीसे कहा— ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच—

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया धृतः।

पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥१५॥

श्रीभगवान्ने कहा—शङ्करजी! दैत्योंने अमृत-पात्रका बलात् हरण कर लिया था। मैंने उन्हें सम्मोहित करनेके उद्देश्यसे और देवताओंका काम बनानेके लिए छलपूर्वक स्त्री-वेश धारण किया था ॥१५॥

तत् तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम।

कामिनां बहु मन्तव्यं संकल्पप्रभवोदयम् ॥१६॥

हे देवशिरोमणे! मेरा यह मोहिनी अवतार कामी पुरुषोंके लिए ही अतीव आदरणीय है क्योंकि वह काम भावको उत्तेजित करनेवाला है। आप इस रूपको देखना चाहते हैं तो मैं आपको यह रूप अवश्य ही दिखलाऊँगा ॥१६॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।

सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित् ! भगवान् विष्णु इस प्रकार कहते हुए उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये। महादेव उमादेवीके साथ चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए वहीं बैठे रहे ॥ १७ ॥

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं

विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।

विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लस-

द्रुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ॥ १८ ॥

इतनेमें ही महादेवने देखा कि एक बड़ा ही सुन्दर उपवन है। उसमें विविध प्रकारके पुष्प खिले हैं और लाल वर्णके पल्लवोंसे युक्त बहुत वृक्षोंकी बहुत-सी पंक्तियाँ सुशोभित हैं। उसमें एक स्त्री गेंदके साथ खेल रही है। उसका नितम्ब-देश मनोहर वस्त्रोंसे ढका हुआ है और उसपर एक करधनी सुशोभित है ॥ १८ ॥

आवर्त्तनोद्वर्त्तनकम्पितस्तन-

प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ।

प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्-

पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥ १९ ॥

गेंदके ऊपर उछलने और नीचे गिरनेसे उस स्त्रीकी देह भी ऊपर-नीचे होती, जिससे उसके स्तन हिलने लगते। स्तनोंके गुरुभार एवं उनपर पड़ी हुई मालाओंके भारसे ऐसा प्रतीत होता मानो उसकी कमर टूटते-टूटते बची हो। वह अपने लाल-लाल मूँगोंके समान कोमल चरणोंसे इठलाती हुई इधर-उधर विचरण कर रही थी ॥ १९ ॥

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं

प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।

स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्-
कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ॥ २० ॥

उछलती हुई गेंद प्रत्येक दिशामें घूम रही थी और उसके साथ-ही-साथ चञ्चल एवं विस्तृत आँखोंके गोलक भी चकित भावसे इधर-उधर उद्विग्न होकर घूम रहे थे। उसके मनोहर कपोलोंपर कानोंमें पहने हुए कुण्डलोंकी आभा जगमगा रही थी, कभी-कभी घुँघराली एवं श्यामल लटकें उनपर घिर आती थीं, जिनसे उसका मुखमण्डल और भी रमणीय लगने लगता था ॥२०॥

श्लथदुदुकूलं कबरीञ्च विच्युतां
संनह्यतीं वामकरेण वल्गुना।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ॥ २१ ॥

गेंद खेलते हुए उसके शरीरसे साड़ी खिसक जाती और कभी कबरी-बन्धन खुलने लगता, जिन्हें वह अपने मनोहर बाएँ हाथसे सँभालती। उस समय भी दाहिने हाथसे गेंदको उछाल-उछालकर खेलती रहती। इस प्रकार अपनी मायाके द्वारा भगवान् सारे जगत्को मोहित कर रहे थे ॥२१॥

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्
व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्ष्यप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥ २२ ॥

मुझे कोई पुरुष देख रहा है, यह जानकर वह गेंद खेलते-खेलते ही तनिक सलज्ज भावसे तनिक मुसकारायी और उन्हें तिरछी चितवनसे उन्हें देखने लगी। शिवजीने उसे देखा और उसने भी अति मनोहर भङ्गिमासे उनकी ओर निहारा, इससे शिवजीका चित्त विह्वल एवं उन्मत्त हो गया। उन्हें न तो अपनी सुधि रही और न ही पासमें स्थित पार्वती एवं अपने पार्षदोंकी। वे बेसुध होकर सब कुछ भूल-भाल गये। उनका धैर्य और विवेक सब जाता रहा ॥२२॥

तस्याः कराग्रात् स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्-
भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः ॥ २३ ॥

खेलते-खेलते गेंद जब उसके हाथसे दूर जा गिरी, तब वह भी उस गेंदके पीछे-पीछे दौड़ने लगी। महादेव उसे निरन्तर देख रहे थे। उन्हींके सम्मुख वायु करधनीके साथ-साथ उसके कटिदेशसे उसका सूक्ष्म वस्त्र भी उड़ा ले चली ॥२३॥

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम्।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विसज्जन्त्यां भवः किल ॥ २४ ॥

हे राजन्! इस प्रकार महादेव उस मनोहर-नयना परम सुन्दरीको देखते ही रह गये। उस स्त्रीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बड़ा ही मनोहर एवं सुगठित था। वह परम सुन्दरी अपनी ओर देखनेवाले महादेवको बाँकी चितवनसे ऐसे देखने लगी मानो वह उनपर अत्यन्त आसक्त हो गयी हो। इस स्थितिमें महादेवका मन पूरी तरहसे उसकी ओर खिंचा चला गया—वे उसके सौन्दर्यमें पूरी तरह डूब गये ॥२४॥

तयापहतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ।

भवान्या अपि पश्यन्त्या गतहीस्तत्पदं ययौ ॥ २५ ॥

शङ्करका विवेक-ज्ञान सब जाता रहा। वे काम-विलासोंसे परिपूर्ण उसके हाव-भावोंसे अतिशय विह्वल एवं कामातुर हो उठे। पार्वतीके सामने ही निर्लज्ज होकर वे उस सुन्दरीके पीछे-पीछे चल पड़े ॥२५॥

सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्।

निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत ॥ २६ ॥

वह स्त्री विवस्त्र तो पहले ही हो चुकी थी। महादेवको आते देखकर वह बहुत लज्जित होने लगी और हँसते-हँसते एक वृक्षसे दूसरे वृक्षकी आड़में छिपने लगी। किसी एक स्थानपर खड़ी नहीं रही ॥२६॥

तामन्वगच्छद्भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः ।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥ २७ ॥

शङ्कर कामके वशीभूत हो गये। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। वे उस सुन्दरीके पीछे-पीछे इस प्रकार दौड़ने लगे, जैसे हथिनीके पीछे गजयूथपति भागता है ॥ २७ ॥

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिष्वजे ॥ २८ ॥

महादेवने अत्यन्त वेगपूर्वक उसका पीछा किया और उस सुन्दरीके केशोंको पकड़ लिया। उस सुन्दरीकी कोई इच्छा नहीं थी, तो भी महादेवने अपनी भुजाओंमें भरकर उसका आलिङ्गन किया ॥ २८ ॥

सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा ।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥ २९ ॥

आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् ।
प्राद्रवत् सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥ ३० ॥

हे राजन्! हाथी जैसे हथिनीका आलिङ्गन करता है उसी प्रकार महादेवने उस मोहिनीका आलिङ्गन किया। वह स्थूल नितम्बोंवाली परम सुन्दरी महादेवके आलिङ्गनपाशसे स्वयंको मुक्त करनेका प्रयास करने लगी, जिससे उसके केश बिखर गये। वस्तुतः वह तो भगवान् द्वारा रची हुई माया थी। उसने जैसे-तैसे शङ्करके भुजपाशसे अपनेको छुड़ाया और बड़े वेगके साथ वहाँसे भागी ॥ २९-३० ॥

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥ ३१ ॥

उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो शिवके परम शत्रु कामदेवने उनपर विजय प्राप्त कर ली हो, क्योंकि वे उस मोहिनी रूप धारी, अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुके पीछे-पीछे दौड़ने लगे ॥ ३१ ॥

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावतः ॥ ३२ ॥

कामोन्मत्त गजराज जिस प्रकार ऋतुमती हस्तिनीके पीछे-पीछे भागता है, उसी प्रकार शङ्कर उस सुन्दरीके पीछे-पीछे दौड़े। इसी समय अमोघवीर्य शङ्करका वीर्य पथमें ही क्षरित हो गया ॥३२॥

यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।

तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते ॥३३॥

परीक्षित्! महापुरुष रुद्रका वीर्य पृथ्वीपर जहाँ-जहाँ गिरा, उन सभी स्थानोंपर सोने एवं चाँदीकी खानें बन गयीं ॥३३॥

सरित्सरःसु शैलेषु वनेषूपवनेषु च।

यत्र क्व चासन्वृषयस्तत्र सन्निहितो हरः ॥३४॥

मोहिनीका पीछा करते-करते महादेव नदी, सरोवर, पर्वत, वन और उपवनमें और जहाँ कहीं ऋषि-मुनि रह रहे थे, वहाँ-वहाँ गये ॥३४॥

स्कन्धे रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया।

जडीकृतं नृपश्रेष्ठ संन्यवर्त्तत कश्मलात् ॥३५॥

हे नृपश्रेष्ठ! जब शिवका वीर्य सम्पूर्णरूपसे स्खलित हो गया, तो उन्हें अपनी सुधि आयी। उन्होंने देखा कि वे भगवान्की मायाके वशीभूत होकर जड़वत् हो गये थे। अतः उन्होंने अपने-आपको और अधिक मुग्ध होनेसे रोका ॥३५॥

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।

अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदुहाद्भुतम् ॥३६॥

उसके बाद जब विवेक जागा, तो उन्हें बोध हो गया कि जगदात्मास्वरूप एवं असीम शक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी ही यह सारी माया है। उन्हें इसका किञ्चित् भी आश्चर्य न हुआ कि भगवान्ने देवमायाका सृजन करके किस प्रकार उन्हें विमोहित कर दिया था ॥३६॥

तमविक्लवमब्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः।

उवाच परमप्रीतो बिभ्रत् स्वां पौरुषीं तनुम् ॥३७॥

मधुसूदन भगवान् श्रीहरिने देखा कि महादेवका चित्त व्याकुल नहीं है और न ही वे किसी प्रकारकी लज्जा अथवा विषादका अनुभव कर रहे हैं, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और पुरुष-शरीर धारण करके इस प्रकार कहने लगे ॥३७॥

श्रीभगवानुवाच—

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मनि स्थितः।

यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥ ३८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवश्रेष्ठ! यह बड़े भाग्यकी बात है कि आप मेरी स्त्री-रूपिणी मायासे मोहित होकर भी अपनी स्वाभाविक स्थितिको (भक्तिसे उत्पन्न दैन्यमयी निरहङ्कारिताको) प्राप्त हो गये हैं। आपका कल्याण हो ॥३८॥

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।

तांस्तान् विसृजतीं भावान् दुस्तरामकृतात्मभिः ॥ ३९ ॥

मेरी माया अपार है। इस जगत्में आपके अतिरिक्त ऐसा और कौन है, जो विषय-भोगोंमें आसक्त होकर स्वयं ही उससे निकल सके। इन्द्रियासक्त लोगोंके लिए मेरी मायासे पार होना अत्यन्त कठिन है ॥३९॥

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति।

मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥ ४० ॥

सृष्टि आदिके लिए काल मैं ही हूँ। यह त्रिगुणात्मिका माया अपने रज आदि अंशके साथ मेरे अधीन है। आजके बाद मेरी यह माया आपको मोहित नहीं करेगी ॥४०॥

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवता राजन् श्रीवत्साङ्गेन सत्कृतः।

आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥ ४१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित् वक्षःस्थलपर श्रीवत्स चिह्न धारण करनेवाले भगवान् द्वारा इस प्रकारसे आदर प्राप्त करके

महादेवने उनकी परिक्रमा की और उनसे अनुमति लेकर अपने गणोंके साथ अपने धामको चले गये ॥४१॥

आत्मांशाभूतां तां मायां भवानीं भगवान् भवः।

सन्मतामृषिमुख्यानां प्रीत्याचष्टाथ भारत ॥ ४२ ॥

हे भारत! इसके बाद देवाधिदेव शिवजी बड़े-बड़े ऋषियोंकी सभामें देवी भवानीको सम्बोधित करके बड़े प्रेमसे श्रीहरिके मोहिनी रूपका वर्णन किया करते। देवी पार्वती प्रधान-प्रधान महर्षियोंके द्वारा भगवान् विष्णुकी शक्तिके रूपमें स्वीकार की जाती हैं ॥४२॥

अयि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां

परस्य पुंसः परदेवतायाः।

अहं कलानामृषभोऽपि मुह्ये

ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥ ४३ ॥

श्रीमहादेव कहते हैं—हे देवि! अजन्मा, परदेवता और परमपुरुष भगवान्की माया तुमने देखी? मैं उनके अंशावतारोंमें श्रेष्ठ होकर भी उससे मोहित हो गया। तब जो लोग पूर्णतः इन्द्रियोंके अधीन हैं, यदि वे उनकी मायासे मोहित हो जाएँ, तो इसमें कहना ही क्या है? ॥४३॥

यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात्

समासहस्रान्त उपारतं वै।

स एष साक्षात् पुरुषः पुराणो

न यत्र कालो विशते न वेदः ॥ ४४ ॥

जब मैं एक हजार वर्षोंके बादमें योग-समाधिसे उठा था, तब तुमने मुझसे यही पूछा था कि तुम किसकी उपासना करते हो? हे देवि! वे यही साक्षात्—पुराण पुरुष हैं, सर्वत्र प्रभाव व्याप्त करनेवाला काल इन तक नहीं पहुँच सकता और सर्वस्व जाननेवाले वेद भी इनका वर्णन नहीं कर सकते ॥४४॥

श्रीशुक उवाच—

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः।

सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥ ४५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्रिय परीक्षित! सागर-मन्थनके समय जिन्होंने अपनी पीठपर विशाल मन्दर पर्वत धारण किया था, उन्हीं भगवान् शार्ङ्गधन्वाके पराक्रमका वर्णन मैंने तुमसे किया है ॥ ४५ ॥

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो

न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित्।

यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनं

समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य इस समुद्र-मन्थन रूप भगवान्‌के चरित्रका बारम्बार कीर्तन अथवा श्रवण करता है, उसका उद्यम कभी निष्फल नहीं होता, क्योंकि उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिका गुणानुकीर्तन संसारके समस्त क्लेशोंको ध्वस्त कर देता है ॥ ४६ ॥

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नान्

अमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।

कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारी-

स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीशङ्करमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः।

भगवान्‌के चरणकमल दुष्टोंके लिए अप्राप्य हैं, किन्तु अपनी उपासना करनेवाले शरणागत भक्तोंकी वे समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने छलपूर्वक युवती वेश धारण करके समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न अमृतको अपने चरणाश्रित देवताओंको पिलाया, जबकि अपने चरणोंसे विमुख दानवोंको वञ्चित कर दिया। मैं ऐसे महामहिम भगवान्‌को सादर नमस्कार करता हूँ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके बारहवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

आगामी सात मन्वन्तरोका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।

सप्तमो वर्त्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित! वर्त्तमान मन्वन्तरमें सूर्यके (विवस्वान्के) पुत्र श्राद्धदेव ही सातवे मनु हैं। अब मैं इनके पुत्रोंके विषयमें बतला रहा हूँ, तुम ध्यानसे सुनो॥ १ ॥

इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च।

नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते॥ २ ॥

तरुषश्च पृषधश्च दशमो वसुमान् स्मृतः।

मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप॥ ३ ॥

वैवस्वत मनुके दस पुत्र हैं। उनके नाम हैं—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग। सातवाँ पुत्र दिष्ट नामसे जाना जाता है। इनके बाद तरुष और पृषध हैं। दसवे पुत्रका नाम वसुमान् है॥ २-३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः।

अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः॥ ४ ॥

हे राजन्! इस मन्वन्तरमें आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, विश्वेदेवगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनी कुमार एवं ऋभुगण प्रधान देवता हैं। पुरन्दर उनका इन्द्र है॥ ४ ॥

कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।

जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥ ५ ॥

इस मन्वन्तरमें कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सप्तर्षि हैं॥ ५ ॥

अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ ६ ॥

इस मन्वन्तरमें भी कश्यपजीसे अदितिके गर्भमें भगवान्का आविर्भाव हुआ है। भगवान् विष्णु ही आदित्योंके छोटे भाई वामनरूपमें अवतरित हुए हैं ॥६॥

संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च ॥ ७ ॥

महाराज ! मैंने संक्षेपमें तुम्हें सात मन्वन्तरोंके विषयमें बतलाया। अब भविष्यमें होने वाले भगवान् विष्णुके अवतारोंसे समन्वित मन्वन्तरोंके विषयमें बतलाऊँगा ॥७॥

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! मैंने तुम्हें पहले भी (छठे स्कन्धमें) बतलाया था कि सूर्यकी दो पत्नियाँ थीं—संज्ञा और छाया। ये दोनों ही विश्वकर्माकी पुत्रियाँ थीं ॥८॥

तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु ॥ ९ ॥

कुछ लोग कहते हैं—सूर्यकी 'वडवा' नामकी तीसरी पत्नी भी थी। इन सूर्य-पत्नियोंमें-से संज्ञासे तीन सन्तानें हुई—यम, यमी (यमुना) और श्राद्धदेव। अब मैं तुम्हें छायाकी सन्तानोंके विषयमें बतला रहा हूँ ॥९॥

सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ॥ १० ॥

छायासे सावर्णि नामका एक पुत्र और तपती नामकी एक कन्या हुई। तपती राजा संवरणकी पत्नी बनी। छायाकी तीसरी सन्तानका नाम था शनैश्चर। वडवाने दो पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम अश्विनीकुमार थे ॥१०॥

अष्टमेऽन्तर आयाते सार्वर्णिर्भविता मनुः।

निर्मोकविरजस्काद्याः सार्वर्णितनया नृप ॥ ११ ॥

हे राजन्! जब आठवाँ मन्वन्तर आवेगा, तब सार्वर्णि मनु होंगे। इनके पुत्रोंके नाम होंगे—निर्मोक, विरजस्क आदि ॥ ११ ॥

तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः।

तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥ १२ ॥

उस मन्वन्तरमें देवता होंगे—सुतपा, विरज और अमृतप्रभा। विरोचनके पुत्र बलि इन देवताओंके इन्द्र होंगे ॥ १२ ॥

दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्।

राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥ १३ ॥

विष्णु भगवान्ने वामनरूपमें इनसे तीन पग भूमि ही माँगी थी, किन्तु इन्होंने सारी पृथ्वीका ही दान कर दिया था। इन्हीं भगवान् विष्णुकी कृपासे ये इन्द्र-पदका भी परित्याग कर देंगे और परम सिद्धिको प्राप्त करेंगे ॥ १३ ॥

योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः।

निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव ॥ १४ ॥

प्रिय तात! भगवान्ने बड़ी प्रीतिके साथ बलिको बाँध लिया था और उन्हें स्वर्गसे भी श्रेष्ठ सुतल लोकमें अधिष्ठित कर दिया था। इस समय भी बलि महाराज वहाँ स्वर्ग-अधिपति इन्द्रके समान विराजमान हैं ॥ १४ ॥

गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा।

ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान् बादरायणः ॥ १५ ॥

इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः।

इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले ॥ १६ ॥

हे राजन्! उस मन्वन्तरमें गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग और हमारे पिता भगवान् व्यास—ये सप्तर्षि

होंगे। इस समय ये सातों जन योगबलसे अपने-अपने आश्रममें स्थित हैं ॥१५-१६॥

देवगुह्यात् सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः।

स्थानं पुरन्दराद्धत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥ १७ ॥

इस मन्वन्तरमें देवगुह्यकी पत्नी सरस्वतीसे सार्वभौम नामक भगवान्का अवतार होगा। ये पुरन्दरसे स्वर्गका राज्य छीनकर बलिको प्रदान कर देंगे ॥१७॥

नवमो दक्षसावर्णिर्मनूर्वरुणसम्भवः।

भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप ॥ १८ ॥

परीक्षित्! वरुणके पुत्र दक्षसावर्णि नवे मनु होंगे। इनके पुत्रोंके नाम होंगे—भूतकेतु, दीप्तकेतु आदि ॥१८॥

पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः।

द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः ॥ १९ ॥

इस नवे मन्वन्तरमें पारा, मरीचिगर्भ आदि देवता होंगे और अद्भुत नामके इन्द्र होंगे। द्युतिमान हव्य, वसु, मेधातिथि आदि सप्तर्षि होंगे ॥१९॥

आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला।

भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥ २० ॥

आयुष्मान्की पत्नी अम्बुधाराके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें भगवान्के अंशावतार आविर्भूत होंगे। ये ही अद्भुत् नामक इन्द्रको तीनों लोकोंकी समृद्धिका भोग करायेंगे ॥२०॥

दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो मनुः।

तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥ २१ ॥

उपश्लोकके पुत्रका नाम होगा—ब्रह्मसावर्णि, ये दसवे मनु होंगे। भूरिषेण आदि उनके पुत्र होंगे और हविष्मान् आदि ब्राह्मण सप्तर्षि होंगे ॥२१॥

हविष्मान् सुकृतः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः।
सुवासनाविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः ॥ २२ ॥

उस समय हविष्मान्, सुकृत, सत्य, जय एवं मूर्ति आदि सप्तर्षि होंगे, सुवासन और अविरुद्ध आदि देवता होंगे तथा इनके इन्द्र होंगे शम्भु ॥ २२ ॥

विष्वक्सेनो विसूच्यान्तु शम्भोः सख्यं करिष्यति।
जातः स्वांशेन भगवान् गृहे विश्वसृजो विभुः ॥ २३ ॥

विश्वसृष्टाकी पत्नी विसूचीके गर्भसे भगवान् विभु विष्वक्सेनके रूपमें अवतीर्ण होंगे और इन शम्भु नामक इन्द्रके साथ मित्रता स्थापित करेंगे ॥ २३ ॥

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान्।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥ २४ ॥

ग्यारहवे मन्वन्तरमें आत्म-तत्त्वज्ञ धर्मसावर्णि मनु होंगे। उनके सत्य, धर्म आदि दस पुत्र होंगे ॥ २४ ॥

विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥ २५ ॥

इस मन्वन्तरमें विहङ्गमगण कामगमगण, निर्वाणरुचि आदि देवता होंगे और वैधृत नामके इन्द्र होंगे। सप्तर्षियोंके नाम अरुण आदि होंगे— ॥ २५ ॥

आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥ २६ ॥

आर्यककी पत्नी वैधृताके गर्भसे श्रीहरिका धर्मसेतुके रूपमें अंशावतार होगा और वे इस मन्वन्तरमें तीनों भुवनोंका पालन करेंगे ॥ २६ ॥

भविता रुद्रसावर्णी राजन् द्वादशमो मनुः।
देवानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥ २७ ॥

हे राजन्! बारहवे मनुका नाम होगा रुद्रसावर्णि। उनके पुत्रोंके नाम होंगे—देववान, उपदेव और देवश्रेष्ठ॥२७॥

ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः।

ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः॥२८॥

इस मन्वन्तरमें ऋतधामा नामक इन्द्र और हरित आदि देवता होंगे। सप्तर्षियोंके नाम होंगे—तपोमूर्ति, तपस्वी और आग्नीध्रक आदि॥२८॥

स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः।

अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः॥२९॥

पिता सत्यसहा और माता सुनृताके गर्भसे 'स्वधामा' नामक भगवान्का अंशावतार होगा। वे ही इस बारहवे मन्वन्तरकी रक्षा करेंगे॥२९॥

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान्।

चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः॥३०॥

देवसावर्णि तेरहवे मनु होंगे। ये आत्म-तत्त्वज्ञ एवं जितेन्द्रिय होंगे। इनके पुत्रोंके नाम होंगे—चित्रसेन, विचित्र आदि॥३०॥

देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः।

निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा॥३१॥

तेरहवे मन्वन्तरमें सुकर्मा और सुत्रामा आदि देवता होंगे और तत्कालीन इन्द्रका नाम होगा दिवस्पति। निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि सप्तर्षि होंगे॥३१॥

देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः।

योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति॥३२॥

देवहोत्रकी पत्नी बृहतीके गर्भसे योगेश्वरके रूपमें भगवान् श्रीहरि अंशरूपमें आविर्भूत होंगे और दिवस्पति नामक इन्द्रका कल्याण साधित करेंगे॥३२॥

मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति।

उरुगम्भीरबुधाद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥ ३३ ॥

महाराज! चौदहवे मनुका नाम होगा इन्द्रसावर्णि। उरु, गम्भीर, बुध आदि उनके पुत्र होंगे ॥३३॥

पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति।

अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥ ३४ ॥

इस मन्वन्तरमें पवित्र, चाक्षुष आदि देवता होंगे और इन्द्रका नाम होगा शुचि। अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागधादि तपस्वी सप्तर्षि होंगे ॥३४॥

सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः।

वितानायां महाराज क्रियातन्तून् वितायिता ॥ ३५ ॥

हे महाराज! इस चौदहवे मन्वन्तरमें वितानाके गर्भसे सत्रायणके पुत्रके रूपमें भगवान् अंशरूपमें प्रकटित होंगे। भगवान्का यह अवतार बृहद्भानुके नामसे विख्यात होगा और वे अपने कार्योंका विस्तार करेंगे ॥३५॥

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते।

प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

हे राजन्! इस प्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंमें होनेवाले चौदह मन्वन्तरोंका मैंने वर्णन किया। इन्हींके द्वारा एक सहस्र-चतुर्युगवाले एक कल्पकी अवधिकी गणना की जाती है। यह कल्प ब्रह्माजीका एक दिन होता है ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके तेरहवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

मनु आदिके पृथक्-पृथक् कर्मोंका वर्णन

श्रीराजोवाच—

मन्वन्तरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्वमे।

यस्मिन् कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे॥१॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन्! इन मन्वन्तरोमें ये मनु-देवता, सप्तर्षि आदि क्या-क्या कार्य करते हैं और इन्हें उन-उन कार्योंके लिए कौन नियुक्त करता है। कृपा करके मुझे यह बतलाइए॥१॥

श्रीऋषिरुवाच—

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते।

इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः॥२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन! मनु, मनुपुत्र, मुनि, इन्द्र और देवता—सभी परमपुरुष भगवान्‌के यज्ञ आदि विविध अवतारोंके द्वारा नियोजित किये जाते हैं॥२॥

यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप।

मन्वादयो जगद्धात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः॥३॥

हे नृप! भगवान्‌के जिन अवतार-विग्रहोंके विषयमें मैंने तुम्हें बतलाया था, उन सबसे ही प्रेरित होकर मनु आदि जगत्‌की व्यवस्थाका सञ्चालन करते हैं॥३॥

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्तान् श्रुतिगणान् यथा।

तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातनः॥४॥

जब चतुर्युगीका अन्त आता है तब समयके फेरसे हुई लुप्तप्राय श्रुतियोंका ऋषिगण अपने तपोबलसे पुनः साक्षात्कार करते हैं। इन श्रुतियोंसे सनातन धर्म पुनः प्रतिष्ठित होता है॥४॥

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः।

युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप॥५॥

उसके बाद भगवान्‌के आदेशसे मनुगण अपने-अपने शासन कालमें बड़ी सावधानीसे पृथ्वीपर चारों चरणोंसे परिपूर्ण धर्मका प्रवर्तन करते हैं॥५॥

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः।

यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः॥६॥

प्रजाओंका पालन करते हुए मनुपुत्र क्रमशः अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ मन्वन्तर कालके अन्ततक धर्मका पालन करते हैं। पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मोंमें ऋषि एवं पितरोंके साथ देवता यज्ञ-भागको प्राप्त करते हैं॥६॥

इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम्।

भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति॥७॥

इन्द्र भगवान्‌के द्वारा दिये हुए त्रिलोकीसे सम्बन्धित महत् ऐश्वर्यका भोग करते हैं और प्रजाका पालन करते हुए सभी लोकोंमें प्रचुर वर्षा करते हैं॥७॥

ज्ञानञ्चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक्।

ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक्॥८॥

भगवान् श्रीहरि युग-युगमें सिद्ध (सनक आदि) पुरुषोंके रूपमें ज्ञानका, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंके रूपमें कर्मका एवं दत्तात्रेय आदि योगियोंके रूपमें योगका उपदेश प्रदान करते हैं॥८॥

सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून् हन्यात् स्वराड्वपुः।

कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः॥९॥

भगवान् मरीचि आदि प्रजापतियोंके रूपमें सृष्टिका विस्तार करते हैं, राजाओंका विग्रह धारण कर लुटेरोंका वध करते हैं और यौवन, बुढ़ापा आदि कालके रूपमें सबका संहार करते

हैं। स्थूलता, कृशता, बधिरता अथवा शैत्य, उष्णता आदिको भी भगवान्‌के ही पृथक् गुण समझना चाहिए॥९॥

स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया।

विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते॥ १० ॥

नाम एवं रूपकी मायाके द्वारा लोगोंका चित्त विमोहित हो रहा है। वे विविध शोधों एवं दार्शनिक शास्त्रोंके अनुसार भगवान्‌के तत्त्वका निरूपण करनेका प्रयास तो करते हैं, किन्तु भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जान नहीं पाते॥१०॥

एतत् कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम्।

यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः॥ ११ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः।

एक कल्पमें अर्थात् ब्रह्माके एक दिनमें जितने भी अवान्तर कल्पोंका विभाग है, वह एक प्रकारसे मैंने तुम्हें बतला ही दिया। पौराणिक वृत्तान्तके तत्त्वको जाननेवालोंका कथन है कि एक अवान्तर कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं॥११॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके चौदहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराजा बलिकी स्वर्गपर विजय

श्रीराजोवाच—

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्भरिरयाचत।

भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम्॥१॥

एतद्वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः।

याच्चेष्टेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः॥२॥

राजा परीक्षितने कहा—भगवन्! श्रीहरि स्वयं सभीके अधीश्वर हैं, तब उन्होंने बलिसे किसलिए निर्धन व्यक्तिके समान तीन पग पृथ्वी माँगी। वे जो चाहते थे, वह वस्तु मिल गयी तो उन्होंने बलिको बाँधा क्यों? हम सब इस विषयको जानना चाहते हैं, क्योंकि पूर्ण परमेश्वरका माँगना और निरपराध बलिका बन्धन—ये दोनों बड़े आश्चर्यकी बातें हैं। हमें इन्हें जाननेके लिये अतिशय कौतूहल हो रहा है॥१-२॥

श्रीशुक उवाच—

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो

हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः।

सर्वात्मना तानभजद्भृगून् बलिः

शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन॥३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! युद्धमें महाराज बलिका ऐश्वर्य नष्ट हो गया और इन्द्रने उनके प्राणोंका भी वध कर डाला। शुक्राचार्यने उन्हें अपनी सञ्जीवनी विद्यासे पुनर्जीवित कर दिया। इसलिए श्रीशुक्राचार्यके शिष्य महापुरुष बलि दृढ़ विश्वासके साथ अपनी सब सम्पत्ति गुरुके चरणोंमें अर्पण कर उनकी और समस्त भृगुवंशीय ब्राह्मणोंकी तन-मनसे सेवा करने लगे॥३॥

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
 अयाजयन् विश्वजिता त्रिणाकम्।
 जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
 महाभिषेकेण महानुभावाः ॥ ४ ॥

इससे महाप्रभावशाली भृगुवंशीय ब्राह्मण बलिसे बहुत प्रसन्न हो गये। बलिके मनमें स्वर्गको जीत लेनेकी अभिलाषा थी। उन्होंने ऋग्वेदीय बहवृच ब्राह्मणमें प्रसिद्ध महाभिषेक द्वारा बलिका विधिपूर्वक अभिषेक किया और उनसे विश्वजित् नामक यज्ञ कराया ॥४॥

ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
 हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः।
 ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
 हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥ ५ ॥

इस यज्ञाग्निमें जब घीकी आहुति डाली गयी, तब उसमें-से सोनेकी चादरसे मढ़ा हुआ एक रथ, इन्द्रके घोड़ोंके समान हरे रङ्गके कुछ घोड़े और सिंहके चिह्नसे युक्त एक ध्वजा निकली ॥५॥

धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
 तूणावरिक्तौ कवचञ्च दिव्यम्।
 पितामहस्तस्य ददौ च माला-
 मम्लानपुष्पां जलजञ्च शुक्रः ॥ ६ ॥

इसके बाद सोनेके पत्रसे मढ़ा हुआ दिव्य धनुष, दो अक्षय तरकस और एक दिव्य कवच भी प्रकट हुआ। पितामह प्रह्लादने बलिको अम्लान (कभी न कुम्हलानेवाली) पुष्पोंकी माला और शुक्राचार्यने एक शङ्ख प्रदान किया ॥६॥

एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
 स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान्।
 प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
 प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥ ७ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंके कृपा-प्रसादसे राजा बलिको युद्धकी सामग्री प्राप्त हो गयी। स्वस्तिवाचन हो जानेपर बलिने उनकी प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने दादाजी प्रह्लादजीसे भी बातचीत की और उनके चरणोंमें नमस्कार किया ॥७॥

अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः।

सुस्रग्धरोऽथ सन्नह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥८॥

हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः।

रराज रथमारूढो धिष्यस्थ इव हव्यवाट् ॥९॥

तत्पश्चात् बलि भृगुवंशियोंके द्वारा दिये हुए दिव्य रथपर सवार हुए। उन्होंने शरीरमें कवच बाँध लिया और अपने दादाजी द्वारा दी हुई सुन्दर माला धारण कर ली। उसके बाद धनुष-बाण, तलवार-तरकस आदि शस्त्र ग्रहण कर लिये। उनकी दोनों भुजाओंमें सोनेके बने हुए बाजूबन्द और कानोंमें मकराकृति कुण्डल जगमगा रहे थे। वे रथके ऊपर बैठे हुए इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो आह्वनीय अग्नि कुण्डमें आह्वनीय अग्नि प्रज्वलित हो ॥८-९॥

तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः।

पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव ॥१०॥

वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः।

ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी ॥११॥

उन्होंने अपने साथ और भी सेनानायकोंको ले लिया, जो ऐश्वर्य बल और सौन्दर्यमें उनके ही समान थे। वे सब एक साथ मिल गये, तब ऐसा लग रहा था, मानो ये सब सेनापति आकाशको निगल जायेंगे और अपनी क्रोधमयी दृष्टिसे सारी दिशाओंको जला डालेंगे। शक्तिशाली बलिने बहुत बड़ी असुर-सेनाको एकत्रित कर लिया और युद्धोन्मुख होकर पृथ्वीको कँपाते हुए सुसमृद्धिशालिनी इन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥१०-११॥

रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः ।
 कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ।
 प्रवालफलपुष्पोरु-भारशाखामरद्रुमैः ॥ १२ ॥

राजा इन्द्रकी राजधानी अमरावती नन्दन-कानन एवं उपवन उद्यानोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अतीव सुन्दर थी। देववृक्ष पत्र, पुष्प, प्रवाल एवं फलोंके गुरुतर भारसे झुके रहते थे। वह स्थान पक्षियोंके जोड़ोंके कूजन और मधुकरोंके गुञ्जारसे मुखरित था ॥१२॥

हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
 नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः ॥ १३ ॥

अमरावतीके सरोवर कमल-पुष्पोंसे पूर्ण थे। वे हंस, सारस, चकवे और जलकाकोंसे (बतखों)से भरे रहते थे। इनमें देवताओं द्वारा सम्मानित देवाङ्गनाएँ जल-क्रीड़ा करती थीं ॥१३॥

आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया ।
 प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥ १४ ॥

यह पुरी आकाश-गङ्गा (मन्दाकिनी) स्वरूप खाई द्वारा चारों ओरसे घिरी हुई है। इसके चारोंओर अग्नि जैसी वर्णवाली अत्यन्त उँची चहारदीवारी बनी हुई हैं और इसके ऊपर बड़े-बड़े युद्ध-स्थल निर्मित हैं ॥१४॥

रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः ।
 जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार घरोंके द्वार सोनेके पतरोंसे बने हुए हैं और नगर-द्वार स्फटिक मणियों द्वारा रचित हैं। राजमार्गोंका बड़े सुन्दर ढंगसे विभाजन किया गया है। स्वयं विश्वकर्माके द्वारा इस पुरीकी रचना हुई है ॥१५॥

सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्याबुदैर्युताम् ।
 शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

अमरावती नगरीके आँगन, उपमार्ग और सभास्थल भी अत्यन्त समृद्धिशाली हैं। इसमें दस करोड़ विमान सदैव विराजमान रहते हैं। यहाँ मणियोंके बने चौराहे हैं और मूँगेसे जड़ी वेदियाँ हैं ॥१६॥

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः।

भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः ॥ १७ ॥

यहाँकी स्त्रियोंका तारुण्य एवं सौन्दर्य सदैव स्थिर रहता है। वे सदैव निर्मल वस्त्र धारण करती हैं। श्यामा स्त्रियोंके (जिनके अङ्ग शीतकालमें उष्ण एवं ग्रीष्मकालमें सुशीतल रहते हैं) गुणोंसे सम्पन्न ये नारियाँ वहाँ इस प्रकार शोभायमान होती हैं जैसे ज्वालाओंसे अग्नि ॥ १७ ॥

सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् ।

यत्रामोदमुपादाय मार्गं आवाति मारुतः ॥ १८ ॥

इन सुर-रमणियोंके केशोंसे झड़े हुए नवीन सुगन्धित पुष्पमालाओंकी सुगन्धको लेकर वायु वहाँके मार्गोंपर धीरे-धीरे प्रवाहित होता रहता है ॥ १८ ॥

हेमजालाक्षनिर्गच्छद्भूमेनागुरुगन्धिना ।

पाण्डुरेण प्रतिच्छन्न-मार्गे यान्ति सुरप्रियाः ॥ १९ ॥

सुनहले झरोखोंसे अगुरुकी सुगन्धसे युक्त श्वेत वर्णके धुँएसे पुरीके मार्ग आच्छादित हो जाते हैं, जिनपर अप्सराएँ आती जाती हैं ॥ १९ ॥

मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-

नानापताकावलभीभिरावृताम्।

शिखण्डपारावतभृङ्गनादितां

वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥ २० ॥

यहाँ स्थान-स्थानपर मोतियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित चँदोवे शोभायमान हैं, मणियों और सोनेकी ध्वजाएँ फहरती रहती हैं। अट्टालिकाओंके ऊपर बने हुए गुम्बद पताकाओंसे अलङ्कृत रहते हैं। यह नगरी यत्र-तत्र-सर्वत्र कोयल, मोर, कबूतर और भ्रमरोंके कलगानसे मुखरित रहती है। विमानपर विचरण करनेवाली देवाङ्गनाओंका सुमधुर गान कानोंको आनन्द प्रदान करनेवाला है। उनके गीतोंसे वहाँ सर्वत्र मङ्गल छाया रहता है ॥ २० ॥

मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः
 सतालवीणामुरजेष्टवेणुभिः ।
 नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकै-
 र्मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम् ॥ २१ ॥

परीक्षित्! अमरावतीमें मृदङ्ग, शङ्ख, ढोल, नगारे, स्वर एवं तालसे युक्त वीणा आदि वाद्ययन्त्र, मुरज, वंशी, मँजीरे और ऋष्टियाँ बजती रहती हैं। गन्धर्वोंका गान अतिशय मनोहारी होता है, जिसपर अप्सराएँ नृत्य करती रहती हैं। अमरावती नगरी इतनी दीप्तिमयी है कि इसने अपनी शोभासे कान्तिकी अधिष्ठात्री प्रभादेवीको भी पराभूत कर दिया है ॥२१॥

यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः।
 मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत् ॥ २२ ॥

इस नगरीमें पापी, दुष्टात्मा, प्राणी-हिंसक (जीव-द्रोही) शठ, घमण्डी, कामी और लोभी व्यक्तियोंका प्रवेश नहीं हो सकता। जो इन दोषोंसे रहित हैं, वे ही वहाँ जाते हैं ॥२२॥

तां देवधानीं स वरूथिनीपति-
 र्वहिः समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया।
 आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
 दध्मौ प्रयुञ्जन् भयमिन्द्रयोषिताम् ॥ २३ ॥

महाराज बलिकी अध्यक्षतामें बहुत बड़ी सेनाने बाहरकी ओर चारों ओरसे इन्द्रपुरीको घेर लिया और इन्द्रकी पत्नियोंके हृदयोंमें भय उत्पन्न करते हुए शुक्राचार्यके द्वारा दिये हुए शङ्खको उच्च स्वरसे बजाया ॥२३॥

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम्।
 सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥ २४ ॥

इन्द्रने देखा कि बलि बहुत बड़ी सेनाके साथ आये हैं, तो वे सभी देवताओंके साथ अपने गुरु बृहस्पतिके पास आये और उनसे कहा— ॥२४॥

भगवन्नुद्यमो भूयान् बलेर्नः पूर्ववैरिणः।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत् तेजसोर्जितः ॥ २५ ॥

हे भगवन्! हमारे पूर्व परिचित शत्रुने युद्धकी बड़ी भारी तैयारी की है। मैं सोचता हूँ कि हम उनका सामना नहीं कर पायेंगे। समझमें नहीं आ रहा है कि इस समय बलि किसके प्रभावसे इतना बलवान् हो गया है ॥२५॥

नैनं कश्चित् कुतो वापि प्रतिबोदुमधीश्वरः।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः ॥ २६ ॥

हे प्रभो! इस समय कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकारसे इसे रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बलि अपने मुखसे इस विश्वको पी जायेगा, जिह्वासे दसों दिशाओंको चाट लेगा और नेत्रोंकी ज्वालासे प्रलयाग्निके समान समस्त दिक्मण्डलको भस्म कर डालेगा ॥२६॥

ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्विपोः।
ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥ २७ ॥

क्या कारण है कि बलिकी शक्ति, साहस, बल और तेज इतने प्रभावपूर्ण हो गये हैं कि उससे इतनी बड़ी तैयारीके साथ हमारे ऊपर चढ़ाई कर दी है। उसकी इन्द्रियोंमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आ गया? उसका तेज इतना दुःसह कैसे हो गया? आप यह सब मुझे बतलाइए ॥२७॥

श्रीगुरुवाच—

जानामि मघवन् शत्रोरुन्नतेरस्य कारणम्।
शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इन्द्रके ये वचन सुनकर देवगुरु बृहस्पतिने कहा—हे इन्द्र! मैं तुम्हारे शत्रुकी उन्नतिका कारण जानता हूँ। ब्रह्मज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंने अपने शिष्य बलिको ऐसा अद्वितीय तेज प्रदान किया है ॥२८॥

ओजस्विनं बलिं जेतुं न समर्थोऽस्ति कश्चन।
 भवद्विधो भवान् वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम्।
 विजेष्यति न कोऽप्यनं ब्रह्मतेजःसमेधितम्।
 नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः ॥ २९ ॥

इस परमशक्तिशाली बलिको न तो तुम और न ही तुम्हारे जैसा कोई जीतनेमें समर्थ हो सकता है। भगवान् श्रीहरिके अतिरिक्त किसीमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह उसे जीत सके, क्योंकि इस समय वह ब्रह्मतेजसे प्रदीप्त हो रहा है। जिस तरह यमराजके समक्ष कोई ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार बलिके समक्ष भी कोई टिक नहीं सकता ॥ २९ ॥

तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम्।
 यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥ ३० ॥

इसलिए समयोचित परामर्श यही है कि जबतक शत्रुओंका पराभव नहीं होता अथवा उनका भाग्य उनके प्रतिकूल नहीं हो जाता, तबतक तुमलोग समयकी प्रतीक्षा करो। इस स्वर्गपुरीको छोड़ दो और अदृश्यरूपसे कहीं छिप जाओ ॥ ३० ॥

एष विप्रबलोदकः सम्प्रत्यूजितविक्रमः।
 तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥ ३१ ॥

इन्द्र! इस समय तो ब्राह्मणोंके तेजसे बलिका अत्यन्त अभ्युदय हो रहा है और वह प्रबल पराक्रमशाली हो गया है। जब यह उन्हीं ब्राह्मणोंका तिरस्कार करेगा, तब स्वयं ही अपने परिजनोंके साथ नष्ट हो जाएगा ॥ ३१ ॥

एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना
 हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥ ३२ ॥

बृहस्पति तत्त्वके ज्ञाता थे। जब उन्होंने उचित कर्तव्यके विषयमें परामर्श दिया, तब देवताओंने अपनी-अपनी इच्छानुसार रूप धारण किये और स्वर्गको छोड़कर कहीं और जाकर छिप गये ॥ ३२ ॥

देवेष्वथ निलीनेषु बलिवैरोचनः पुरीम्।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम्॥३३॥

देवताओंके अदृश्य हो जानेके बाद विरोचन पुत्र बलिने स्वर्गपर अपना अधिकार जमा लिया और तीनों भुवनोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया॥३३॥

तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन्॥३४॥

जब महाराज बलिने तीनों लोक जीत लिये, तब शिष्यवत्सल भृगुवंशी ब्राह्मणोंने अपने अनुगत शिष्यके द्वारा इन्द्रपदके स्थायित्वके निमित्त सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये॥३४॥

ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम्।
कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव॥३५॥

इसके बाद इन यज्ञोंके प्रभावसे उनकी कीर्ति तीनों लोकोंसे भी बाहर सभी दिशाओंमें फैल गयी। वे नक्षत्रराज चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे॥३५॥

बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्बिताम्।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिविजयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

ब्राह्मणोंके अनुग्रहसे महामना बलि अतिशय समृद्धिशाली हो गये और राजसम्पत्का भोग करने लगे। इस प्रकार वे परम सन्तुष्ट होकर अपनेको बड़ा कृतकृत्य मानने लगे॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके पन्द्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

कश्यप-अदिति संवाद और कश्यपके द्वारा
अदितिको पयोव्रतका उपदेश

श्रीशुक उवाच—

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा।
हते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इस प्रकार जब इन्द्र आदि देवता कहीं जाकर छिप गये और दैत्योंने स्वर्गपर अधिकार कर लिया, तब देवमाता अदिति इस तरह रोने-विलपने लगीं, मानो वे अनाथ हो गयी हों ॥१॥

एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात्।
निरुत्सवं निरानन्दं समार्धेर्विरतश्चिरात् ॥ २ ॥

एक बार बहुत दिनों बाद जब परमपूज्य कश्यप समाधिसे उठे, तब वे अदितिके आश्रममें आये। उन्होंने देखा कि आश्रममें न तो कोई उत्सव, न ही कोई साज-सजावट है, न ही कोई उल्लास अथवा आनन्द है ॥२॥

स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरुद्वह ॥ ३ ॥

हे कुरुकुल-शिरोमणि! देशकालोचित स्वागत-सत्कार हो जानेके बाद जब कश्यपने आसन ग्रहण कर लिया, तब म्लानमुखी एवं उदासमना अपनी पत्नी अदितिसे वे इस प्रकार कहने लगे— ॥३॥

अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनागतम्।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४ ॥

हे भद्रे! इस जगत्में धर्मका कहीं लोप तो नहीं हो गया है? ब्राह्मणोंपर कोई विपद् तो नहीं आयी है? कालके अधीन मनुष्योंका कहीं अमङ्गल तो नहीं हुआ है? ॥४॥

अपि वाकुशलं किञ्चिद् गृहेषु गृहमेधिनि।

धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥५॥

हे गृहमेधिनी! (गृहस्थ-जीवनमें अनुरक्तिनी!) गृहस्थाश्रममें तो योगहीनोंको भी अपने धर्मके आचरणसे योगफल प्राप्त होता है। उसमें रहते हुए तुम्हारे धर्म, अर्थ, और काम—इन तीनोंके सेवनमें कोई त्रुटि तो नहीं रह गयी है? ॥५॥

अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया।

गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥६॥

कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि तुम कुटुम्बके भरण-पोषणमें अत्यधिक आसक्त हो गयी हो और घरमें आया हुआ अतिथि तुम्हारी अगवानी आदि द्वारा सत्कार पाये बिना ही लौट गया हो? ॥६॥

गृहेषु येश्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि।

यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरराजगृहोपमाः ॥७॥

जिन घरोंमें अतिथि कुछ न रहनेपर अन्ततः जलसे भी सत्कार प्राप्त किये बिना लौट जाता है, वह घर अवश्य ही सियारका निवास-स्थान बन जाता है ॥७॥

अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति।

त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥८॥

हे सती! हे शुभे! ऐसा तो नहीं कि मेरे दूसरी जगह चले पानेपर तुम्हारा चित्त उद्विग्न हो गया हो और तुमने ठीक समयपर अग्नियोंमें घीकी आहुति न डाली हो ॥८॥

यत्पूजया कामदुघान् याति लोकान् गृहान्वितः।

ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥९॥

अग्नि एवं ब्राह्मण नियमितरूपसे सर्वदेवतात्मा भगवान् विष्णुके मुख-स्वरूप हैं। इन दोनोंकी पूजा करके गृहस्थ उन उच्च लोकोंको प्राप्त होते हैं, जो सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं ॥९॥

अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि।

लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम् ॥१०॥

हे मनस्विनि! तुम्हारे सारे पुत्र कुशलसे तो हैं न? तुम्हारे म्लान मुखको देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारा चित्त अस्वस्थ है ॥१०॥

श्रीअदितिरुवाच—

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन् धर्मस्यास्य जनस्य च।

त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे ॥११॥

अदितिने कहा—हे परमपूज्य! ब्राह्मण, गौ, धर्म तथा अन्य लोग कुशलपूर्वक हैं। हे गृहमेधिन्! गृहस्थ आश्रम ही धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका उद्भव स्थान एवं परम सहायक है (यहाँ ये सब भी यथोचित रूपसे विद्यमान हैं) ॥११॥

अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः।

सर्वं भगवतो ब्रह्मन्नुध्यानात्र रिष्यति ॥१२॥

हे भगवन्! मैंने अतिथि, सेवक, याचक और भिक्षुक सभीका भलीभाँति सत्कार किया है। मैं निरन्तर आपका ध्यान-चिन्तन करती रही, इससे धर्मकी हानिकी कोई सम्भावना ही नहीं है ॥१२॥

को नु मे भगवन् कामो न सम्पद्येत मानसः।

यस्या भवान् प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान् प्रभाषते ॥१३॥

हे स्वामिन्! जब आप जैसे प्रजापति मुझे इस प्रकारसे धर्म-पालनका उपदेश करते हैं, तब भला मेरी कौन-सी ऐसी मनोकामना है, जो अपूर्ण रह जाय? ॥१३॥

तवैव मारीच मनःशरीरजाः
 प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः।
 समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो
 तथापि भक्तं भजते महेश्वरः॥१४॥

हे मरीचि-पुत्र! सत्त्व, रज और तमो गुणोंसे युक्त सभी सुर-असुर आपकी ही सन्तान हैं—कुछ आपके सङ्कल्पसे उत्पन्न हैं और कुछ आपके शरीरसे उत्पन्न हैं। आप भी सभीके प्रति समान भाव रखते हैं। भगवान् जिस प्रकार सर्वत्र समदर्शी होनेपर भी भक्तोंके प्रति विशेष अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने भक्तिमान् पुत्र इन्द्रकी रक्षा करें॥१४॥

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत।
 हतश्रियो हतस्थानान् सपत्नैः पाहि नः प्रभो॥१५॥

हे प्रभो! मैं आपकी शरणागता हूँ। आप मेरे हितके विषयमें विचार कीजिये। हे सुव्रत! शत्रु दैत्योंने हमारे पुत्रोंका धन, सम्पत्ति एवं राज्य—सब कुछ छीन लिया है। आप हमारी रक्षा कीजिए॥१५॥

परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे।
 ऐश्वर्य श्रीर्यशः स्थानं हतानि प्रबलैर्मम॥१६॥

प्रबल शत्रुओंने हमारा ऐश्वर्य, श्री, यश एवं स्थान—सभी कुछ हर लिया है। उन्होंने हमें घरसे बाहर निकाल दिया है। यह देवमाता दानवोंसे अपमानित होकर दुःखके सागरमें डूबी जा रही है॥१६॥

यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः।
 तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम॥१७॥

हे मङ्गलकृत्तम! आप तो कल्याण करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। हे साधो! आप सोच विचार करके हमारे कल्याणका ऐसा कोई उपाय बतलाइए, जिससे हमारे पुत्रोंको उनका अपहृत ऐश्वर्य पुनः प्राप्त हो जाय॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव।

अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्॥१८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब अदितिने कश्यपसे प्रार्थना की, तब वे कुछ विस्मित-से हो गये और बोले—अहो! भगवान् विष्णुकी मायाकी मोहिनी शक्ति कितनी प्रबल है! इसीके कारण यह सारा जगत् ममता-बन्धनमें आबद्ध है॥१८॥

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः।

कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥१९॥

अहो! कहाँ तो यह पञ्चभूतोंसे बना हुआ अनात्म शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे यह आत्मा! कौन किसका पति और कौन किसका पुत्र। मोह ही समस्त स्नेह-बन्धनका कारण है॥१९॥

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम्।

सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम्॥२०॥

हे भद्रे! समस्त प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाले, भक्तोंके दुःख हरनेवाले, शत्रुओंका दमन करनेवाले विश्वके गुरु भगवान् वासुदेवकी आराधना करो॥२०॥

स विधास्यति ते कामान् हरिर्दीनानुकम्पनः।

अमोघा भगवद्भक्तिर्नैतरेति मतिर्मम॥२१॥

श्रीहरि दीनवत्सल हैं। वे तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। भगवद्-भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती, इसके अतिरिक्त अन्य सभी विधियाँ व्यर्थ हैं—यह मेरी सुदृढ़ धारणा है॥२१॥

श्रीअदितिरुवाच—

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम्।

यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात् स मनोरथम्॥२२॥

अदितिने कहा—हे भगवन्! मुझे बतलाइये कि मैं किस विधिके अनुसार सम्पूर्ण विश्वके स्वामी भगवान्की आराधना करूँ, जिससे सत्यसङ्कल्प श्रीहरि मेरा मनोरथ पूर्ण करें॥२२॥

आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम्।

आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः॥२३॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मैं अपने पुत्रोंके साथ बड़ी विपत्तिमें पड़ी हुई हूँ। आप मुझे आराधनाकी वह विधि बतलाइए, जिससे भगवान् विष्णु मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जायें॥२३॥

श्रीकश्यप उवाच—

एतन्मे भगवान् पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः।

यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम्॥२४॥

कश्यपजीने कहा—देवि! जब मुझे सन्तानकी कामना थी, तब मैंने पद्मयोनि ब्रह्माजीसे इसी विषयमें जिज्ञासा की थी। उन्होंने मुझे भगवान् केशवको प्रसन्न करनेवाले जिस व्रतके बारेमें बतलाया था, वही मैं तुम्हें बतलाता हूँ॥२४॥

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतम्।

अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः॥२५॥

(व्रतपालनकारी) फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें बारह दिन तक (प्रतिपदासे लेकर द्वादशी तक) दूध पीकर रहे और परम भक्तिके साथ कमललोचन भगवान् श्रीविष्णुका अर्चन करे॥२५॥

सिनीवाल्यां मृदालिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया।

यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्॥२६॥

यदि सूअर द्वारा खोदी हुई मिट्टी मिल जाय तो अमावस्याके दिन उसको शरीरपर मल ले। इसके बाद नदीमें स्नान करते समय इस मन्त्रका जप करे॥२६॥

त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।

उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥२७॥

हे पृथ्वी देवि! प्राणियोंको स्थान देनेकी इच्छासे आदि वराह भगवान्ने आपका रसातलसे उद्धार किया था। आप मेरे समस्त पापोंको नष्ट कर डालिए। आपको मेरा नमस्कार है॥२७॥

निर्वर्त्तितात्मनियमो देवमर्चेत् समाहितः।

अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि॥२८॥

इसके बाद अपने नित्य-नैमित्तिक नियमोंको समाप्त करके एकाग्र चित्तके साथ भगवान्के श्रीविग्रहकी पूजा करे। इसके साथ-साथ वेदी (यज्ञके लिये पवित्र स्थान) सूर्य, जल, अग्नि अथवा गुरुदेवके रूपमें भगवान्की पूजा करे तथा उनकी इस प्रकार स्तुति करे॥२८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे।

सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे॥२९॥

हे भगवन्! हे महानतम! हे समस्त प्राणियोंके आश्रय स्वरूप! हे सर्वसाक्षीस्वरूप! हे परम पुरुष! हे वासुदेव! आपको मेरा नमस्कार है॥२९॥

नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च।

चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसङ्ख्यानहेतवे॥३०॥

हे ईश! आप अव्यक्त, सूक्ष्म एवं प्रधान पुरुष हैं। हे परम पुरुष! आप वैशेषिक-शास्त्रोक्त चौबीस गुणोंके जाननेवाले तत्त्वज्ञ तथा गुणोंकी संख्या करनेवाले सांख्ययोगके प्रवर्त्तक हैं। मेरा आपको नमस्कार है॥३०॥

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्त्रवे।

सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥३१॥

आप यज्ञस्वरूप हैं—प्रायणीय और उदयनीय (यज्ञके आरम्भकालीन और समाप्तकालीन कर्म) आपके दो सिर हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायं—ये तीनों यज्ञकालीनसवन (स्नान) तीन पाद हैं, चारों वेद चार सींग हैं, गायत्री आदि सात छन्द सात हाथ हैं, मन्त्र ब्राह्मण और कल्प (उपासना, कर्म और ज्ञानकाण्डात्मक) तीन प्रकारके

शास्त्र आपका वर्णन करते हैं—ऋग्वेदके द्वारा आपका प्रतिपादन, यजुर्वेदके द्वारा यजन और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा आपका स्तवन किया जाता है। आप इस त्रयीविद्याके आत्मा हैं। आप स्वयं यज्ञरूप हैं और आप ही यज्ञोंके फलोंका विस्तार करनेवाले हैं। आपको मेरा नमस्कार है ॥३१॥

नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च।

सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥३२॥

आप ही लोककल्याणकारी शिवरूप और प्रलयकारी रुद्ररूप हैं। आप समस्त शक्तियोंको धारण करनेवाले, समस्त विद्याओंके अधिपति एवं समस्त भूतोंके स्वामी हैं। आपको मेरा नमस्कार है ॥३२॥

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने।

योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ॥३३॥

हे हिरण्यगर्भ! आप इस जगत्के प्राण स्वरूप और सम्पूर्ण जगत्के जीवन हैं। समस्त योग एवं ऐश्वर्य आपके देह-स्वरूप हैं। हे सकल योगोंके कारण! मेरा आपको नमस्कार है ॥३३॥

नमस्ते आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः।

नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥३४॥

हे आदिदेव! आप सबके साक्षीस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है। आप ही नारायण ऋषि, नर और हरि (दुःखहरणकारी) हैं। आपको मेरा नमस्कार है ॥३४॥

नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये।

केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥३५॥

हे पीताम्बरधारी भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपका शरीर मरकतमणिके समान साँवला है। हे केशव! समस्त सम्पद् एवं सौन्दर्यकी देवी श्रीलक्ष्मीजी आपकी सेविका हैं। मेरा आपको नमस्कार है ॥३५॥

त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥ ३६ ॥

हे वरेण्य! आप परम पूज्य हैं। हे वरदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ! आप समस्त प्राणियोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। यही कारण है कि धीर विवेकी पुरुष अपने कल्याणके लिये आपकी चरणधूलिका सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

अन्ववर्त्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान् मे प्रसीदताम् ॥ ३७ ॥

सारे देवता और स्वयं लक्ष्मीजी जिनके चरणकमलोंका सौरभ प्राप्त करनेकी इच्छासे निरन्तर सेवामें लीन रहती हैं—वे भगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥

एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् ।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार मन्त्रोंके द्वारा भगवान् हृषीकेशका आवाहन करे और परम श्रद्धाके साथ पाद्य, आचमन आदिके द्वारा उनका अर्चन-पूजन करे ॥ ३८ ॥

अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नापयेद्विभुम्।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपदिभिश्चार्चद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥ ३९ ॥

गन्ध, माल्य आदि अर्पण करके सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णको दूधसे स्नान कराये। इसके बाद वस्त्र, उपवीत, अलङ्कार, पाद्य आदि एवं धूप, दीप, गन्ध, माल्य आदि अर्पण करके सर्वव्यापी उनकी पुनः पूजा करे। सम्पूर्ण अर्चनके समय 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस प्रकार द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करे ॥ ३९ ॥

शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति।
ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥ ४० ॥

यदि सामर्थ्य रहे तो दूधमें पकाये हुए तथा घी और गुड़ मिले हुए शालि-चावलका नैवेद्य निवेदन करे और मूलमन्त्रके द्वारा अग्निमें आहुति प्रदान करे ॥४०॥

निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम्।

दत्त्वाचमनमर्चित्वा ताम्बूलञ्च निवेदयेत् ॥४१॥

इस नैवेद्यको वैष्णव भक्तोंको प्रदान करे अथवा स्वयं ग्रहण कर ले। इसके बाद आचमन प्रदान करे और अर्चनपूर्वक ताम्बूल निवेदन करे ॥४१॥

जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम्।

कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्वण्डवन्मुदा ॥४२॥

तत्पश्चात् एक सौ आठ बार मूलमन्त्रका जप करे और स्तुतियोंके द्वारा भगवान्की महिमाओंका गान करे। इसके बाद प्रदक्षिणा करके आनन्दके साथ भूमिपर लेटकर दण्डवत् प्रणाम करे ॥४२॥

कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्रासयेत् ततः।

द्वयवरान् भोजयेद्विप्रान् पायसेन यथोचितम् ॥४३॥

अब निर्माल्य मस्तकपर धारण करके देवताका विसर्जन करे एवं कम-से-कम दो ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये। (देवता-विसर्जनसे तात्पर्य यह नहीं है कि स्मार्तोंका अनुसरण किया जाय। जल आदिमें जो विष्णु-मूर्तिका पूजन है—उसकी समाप्ति ही विसर्जन है, विष्णुके अचल-विग्रहका विसर्जन नहीं है।) ॥४३॥

भुञ्जीत तैरनुज्ञातः सेष्टः शेषं सभाजितैः।

ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि ॥४४॥

स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः।

पयसा स्नापयित्वा चैद् यावद्ब्रतसमापनम् ॥४५॥

ब्राह्मणोंके पूजा-सत्कारके बाद उनकी अनुमति प्राप्त करके बचे हुए भोजनको इष्ट बन्धुओंको प्रदान करें और बादमं स्वयं ग्रहण

करे। उस रात्रिमें ब्रह्मचर्यसे रहे और प्रभात होनेपर पूर्वाह्णमें ही स्नान आदि करके पवित्र हो जाय तथा समाहित चित्तसे पूर्वोक्त विधिके अनुसार भगवान् विष्णुको दूधसे स्नान कराये। इस प्रकार जबतक व्रत समाप्त न हो तबतक पहले बतलायी हुई विधियोंके अनुसार प्रतिदिन भगवान्की पूजा करे ॥४४-४५॥

पयोभक्ष्यो व्रतमिदं चरेद्विष्णुवर्चनादृतः।

पूर्ववज्जुहुयादर्गिन् ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥ ४६ ॥

श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी पूजा करे और आहार रूपमें केवल दूध ग्रहण करे। इस व्रतका पालन करते हुए पूर्ववत् प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिए और ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए ॥४६॥

एवं त्वहरहः कुर्याद्द्वादशाहं पयोव्रतम्।

हरैराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार बारह दिनोंतक पयोव्रती रहकर प्रतिदिन भगवान् श्रीहरिकी पूजा आराधना करे, हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन करावे ॥४७॥

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशीम्।

ब्रह्मचर्यमधः स्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥ ४८ ॥

फाल्गुन-शुक्ल प्रतिपदासे लेकर शुक्ल त्रयोदशी तक ब्रह्मचर्यसे रहे, भूमि पर शयन करे और त्रिसन्ध्या स्नान करे। इस प्रकार नियमपूर्वक पयोव्रतका पालन किया जाय ॥४८॥

वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा।

अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥ ४९ ॥

झूठ न बोले, न पापियोंसे बात करे और न पापकी बात करे। सारे विषय भोगोंका त्याग कर दे। किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाये, निर्मत्सर रहे और भगवान् वासुदेवका भजन करे ॥४९॥

त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः।

कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः॥५०॥

त्रयोदशीके दिन शास्त्रविद् ब्राह्मणोंके द्वारा शास्त्रोक्त विधिसे भगवान् विष्णुको पञ्चामृतसे स्नान कराये॥५०॥

पूजाञ्च महतीं कुर्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः।

चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे॥५१॥

सूक्तेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः।

नैवेद्यं चातिगुणवद्दद्यात् पुरुषतुष्टिदम्॥५२॥

धनकी कंजूसीकी वृत्तिका त्याग करके भगवान् विष्णुकी भव्य एवं महती पूजा करे, यज्ञभोक्ता विष्णुके लिए दूधमें पकाये अन्न और घीकी आहुति (हव्य) प्रस्तुत करे और पूर्ण मनोयोगके साथ पुरुषसूक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए भगवान्की आराधना करे। इसके बाद भगवान्को प्रसन्न करनेवाले मधुर आदि छह रसोंसे युक्त नैवेद्य समर्पण करे॥५१-५२॥

आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः।

तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्भ्याराधनं हरेः॥५३॥

तत्पश्चात् ज्ञानसम्पन्न आचार्य (वैदिक साहित्यमें पारङ्गत) और होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्म—इन चारों ऋत्विकोंको वस्त्र, आभूषण एवं गायें प्रदान करके प्रसन्न करे। इसे भी भगवान् विष्णुकी आराधना समझना चाहिए॥५३॥

भोजयेत् तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते।

अन्यांश्च ब्राह्मणान् शक्त्या ये च तत्र समागताः॥५४॥

हे देवी! हे शुचिस्मिते! आचार्य, ऋत्विजोंको और उस स्थानपर आये हुए अन्य प्राणियोंको अपनी सामर्थ्यानुसार शुद्ध, सात्त्विक, रस एवं गुण युक्त भोजन करावे॥५४॥

दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः।

अत्राद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत् समुपागतान्॥५५॥

गुरु एवं ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा देनी चाहिए और वहाँपर आये हुए चण्डाल आदि सभीको अन्न आदिका प्रसाद वितरित करके सन्तुष्ट करना चाहिए॥५५॥

भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणादिषु।

विष्णोस्तत् प्रीणनं विद्वान् भुञ्जीत सह बन्धुभिः॥५६॥

दीन, अन्ध, कृपण आदि सभीको भोजन करा देनेसे सर्वात्मा विष्णु प्रसन्न होते हैं—इस प्रकारसे अनुभव करते हुए अपने इष्ट-मित्रोंके साथ स्वयं भी भोजन करे॥५६॥

नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः।

कारयेत् तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम्॥५७॥

प्रतिदिन (प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशी तक) नृत्य, गीत, वाद्य, स्तुति, स्वस्तिवाचन और भगवान्की कथाओंका गान करते हुए भगवान्का अर्चन करे॥५७॥

एतत् पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम्।

पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम्॥५८॥

प्रिये! यह पयोव्रत नामका प्रसिद्ध व्रत परम पुरुष श्रीहरिकी आराधना है। इसे पितामह ब्रह्माजीने मुसे जिस प्रकार बतलाया था, उसी प्रकार विस्तारके साथ मैंने तुम्हें बतला दिया॥५८॥

त्वञ्चानेन महाभागे सम्यक् चीर्णेन केशवम्।

आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम्॥५९॥

हे प्रिये! हे सौभाग्यशालिनि! अपने चित्तको स्थिर करो और शुद्ध अन्तःकरणके साथ इस व्रतका अनुष्ठान करो। इस प्रकार अविनाशी भगवान् श्रीकेशवकी आराधना करो॥५९॥

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम्।

तपःसारमिदं भद्रे दानञ्चेश्वरतर्पणम्॥६०॥

कल्याणी! इस यज्ञको सर्वयज्ञ भी कहते हैं अर्थात् मात्र इस यज्ञको करनेसे समस्त यज्ञोंका स्वतः ही अनुष्ठान हो जाता है।

इस 'सर्वव्रत'को करनेसे समस्त व्रतोंके फलकी प्राप्ति हो जाती है। यह सभी तपस्याओंका सार है, सभी प्रकारके दानका सार है और यह ईश्वरका तर्पण भी है ॥६०॥

त एव नियमाः साक्षात् त एव च यमोत्तमाः।

तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥६१॥

जिसके द्वारा अधोक्षज भगवान् सन्तुष्ट हों, वही उत्तम नियम है, वही उत्तम तपस्या है, वही उत्तम दान है, वही उत्तम व्रत है और वही उत्तम यज्ञ है। उनकी प्रसन्नताके बिना सब विफल है ॥६१॥

तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर।

भगवान् परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीकश्यपादितिसंवादे पयोव्रतकथनं नाम
षोडशोऽध्यायः।

अतः हे देवि! तुम अत्यन्त श्रद्धाके साथ विधि-विधानोंका पालन करते हुए इस व्रतका अनुष्ठान करो। इससे परम पुरुष भगवान् तुमपर प्रसन्न होंगे और तुम्हारे मनोरथोंको सफल करेंगे ॥६२॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके सोलहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

भगवान् वामनदेवका प्रकट होकर अदितिको वर देना

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्ता सादिती राजन् स्वभर्त्रा कश्यपेन वै।

अन्वतिष्ठद्ब्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! अपने पति कश्यपसे उपदेश प्राप्त करके अदितिने निरालस होकर बारह दिनोंतक इस व्रतका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥

चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।

प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिम् ॥ २ ॥

मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।

वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥ ३ ॥

अदिति बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मनकी लगाम-द्वारा इन्द्रिय रूप दुष्ट घोड़ोंको वशीभूत करके अनन्य बुद्धिसे परमपुरुष भगवान्का ध्यान करती रही। तदनन्तर अखिलात्मा भगवान् वासुदेवमें मनको स्थिर करके चित्तकी दृढ़ताके साथ अदितिने पयोव्रतका अनुष्ठान पूर्ण किया ॥ २-३ ॥

तस्याः प्रादुरभूत् तात भगवानादिपुरुषः।

पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ४ ॥

हे वत्स! व्रतानुष्ठानमें लगी हुई अदितिके सम्मुख पीताम्बरधारी, चतुर्भुजधारी, आदिपुरुष भगवान् आविर्भूत हुए। उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि विराजमान थे ॥ ४ ॥

तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहस्रोत्थाय सादरम्।

ननाम भुवि कायेन दण्डवत् प्रीतिविह्वला ॥ ५ ॥

जैसे ही अदितिने भगवान्को अपनी आँखोंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे देखा तो वह आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसने बड़े आदरके साथ धरतीपर लेटकर भगवान्को दण्डवत् प्रणाम किया ॥५॥

सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥

अदिति भगवान्की स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो पाई। वह हाथ जोड़कर मौन खड़ी रही, आँखोंमें प्रेमके आँसू उमड़ आये, सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। भगवान्के दर्शनसे आनन्दमें डूबनेके कारण अदितिका शरीर काँप रहा था ॥६॥

प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरुद्वह।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥ ७ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! अदिति लक्ष्मीपति यज्ञेश्वर, जगत्पति भगवान्को ऐसे देखने लगी, मानो उन्हें अपनी आँखोंसे पी रही हो। तदनन्तर बड़े प्रेम और आनन्दके साथ गद्गद् वचनोंसे धीरे-धीरे भगवान् श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करने लगी ॥७॥

श्रीअदितिरुवाच—

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८ ॥

अदितिने कहा—हे यज्ञेश्वर! हे यज्ञपुरुष! हे अच्युत! हे पूर्णकीर्ति! हे श्रवण-मङ्गल नामधारिन्! आप आदिपुरुष हैं। हे भगवन्! हे ईश! हे तीर्थपाद! (आपके श्रीचरणोंसे गङ्गाका अवतरण

हुआ है।) आप सभी विपद्ग्रस्त जनोंके आश्रय हैं। आप उनका कष्ट हर लेनेके लिए प्रकट हुए हैं। हे दीनानाथ! आप हमारा कल्याण कीजिये ॥८॥

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूमने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥

हे प्रभो! आप सर्वव्यापक विश्वरूप हैं। इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिये आप स्वेच्छापूर्वक मायाके तीनों गुणोंको स्वीकार करते हैं, तब भी अपने स्वरूपसे कभी पृथक् नहीं होते। नित्य-निरन्तर बढ़ते हुए पूर्णज्ञानके प्रभावसे जीव आपकी दुस्तर मायाको पार कर लेता है। हे भगवन्! हे श्रीहरि! आपको मेरा नमस्कार है ॥९॥

आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
द्यौर्भूरसाः सकल-योगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानञ्च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥ १० ॥

हे अनन्तदेव! आप जब सन्तुष्ट हो जाते हैं—तब मनुष्योंको ब्रह्माजीके समान परमायु, अभीष्ट देह, स्वर्ग, मर्त्य (पृथ्वी) और पातालका आधिपत्य, अतुल्य धन-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग, केवल-अपरोक्ष-ज्ञान और अणिमा आदि योग-सिद्धियाँ प्रायः सहज सुलभ हो जाती हैं, तो शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना आदि छोटी-छोटी कामनाओंके सम्बन्धमें कहना ही क्या है? ॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

अदित्यैवं स्तुतो राजन् भगवान् पुष्करेक्षणः।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! हे भारत! अदितिके द्वारा इस प्रकार स्तुति करनेपर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी भगवान् कमललोचन श्रीहरि इस प्रकार कहने लगे ॥११॥

श्रीभगवानुवाच—

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम्।

यत् सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥१२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे देवमाता! शत्रुओंने तुम्हारी सम्पत्तिको छीन लिया है और तुम्हें स्थानसे निर्वासित कर दिया है। पुत्रोंके लिए तुम्हारी जो चिरकालीन अभिलाषा है, वह भी मुझे ज्ञात है ॥१२॥

तान् विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान्।

प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥१३॥

हे देवि! तुम्हारी इच्छा है कि युद्धमें बड़े-बड़े उन्मत्त असुरोंको जीतकर तुम्हारे पुत्र विजयश्री प्राप्त करें और तुम उनके साथ एक ही स्थानपर रहकर मेरी उपासना कर सको ॥१३॥

इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम्।

स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः ॥१४॥

तुम चाहती हो कि ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र आदिके साथ तुम्हारे सभी पुत्र समरक्षेत्रमें शत्रुओंको मार डालें, जिससे उनकी पत्नियाँ अपने-अपने पतियोंकी मृत्युपर अत्यधिक दुःखी होकर क्रन्दन विलाप करें और तुम उन्हें ऐसा करते हुए देख सको ॥१४॥

आत्मजान् सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहतयशःश्रियः।

नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥

तुम्हारी अभिलाषा है कि तुम्हारे पुत्रोंके जो यश और श्री नष्ट हो गये हैं, वे सब उन्हें पुनः प्राप्त हो जाएँ और तुम अपने सुसमृद्ध पुत्रोंको स्वर्गलोकमें विहार करते देख सको ॥१५॥

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
 अपारणीया इति देवि मे मतिः।
 यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
 न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥ १६ ॥

हे देवि! मेरा विचार यह है कि इस समय असुर सेनापतिको जीता नहीं जा सकता क्योंकि ईश्वर उनके अनुकूल हैं और वे ब्राह्मणोंके द्वारा सुरक्षित हैं। अतएव उनके विरुद्ध बल दिखलानेसे सुख नहीं मिल सकता ॥ १६ ॥

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
 सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते।
 ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
 श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥ १७ ॥

हे देवि! फिर भी मैं तुम्हारे व्रतके अनुष्ठानसे बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे सम्बन्धमें मुझे कोई-न-कोई एक उपाय अवश्य ही सोचना पड़ेगा। मेरी अर्चना कभी विफल नहीं होती। श्रद्धाके अनुसार फलकी प्राप्ति अवश्य ही होती है ॥ १७ ॥

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
 पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः।
 स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्
 गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥ १८ ॥

तुमने अपनी सन्तानके संरक्षणके लिये पयोव्रतका अनुष्ठान किया है और मेरी पूजा एवं स्तुति भलीभाँति की है। अतएव मैं कश्यपजीकी तपस्यामें अधिष्ठित होकर उनके हृदयमें प्रवेश कर जाऊँगा और स्वांशसे तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे सभी पुत्रोंकी रक्षा करूँगा ॥ १८ ॥

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम्।
 माञ्च भावयती पत्यावेवं रूपमवस्थितम् ॥ १९ ॥

मैं तुम्हारे पति कश्यपजीके शरीरमें अवस्थित हूँ—इस भावसे मेरा चिन्तन करते हुए तपस्याके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणवाले अपने पतिकी सेवा करो॥१९॥

नैतत् परस्मै आख्येयं पृष्ट्यापि कथञ्चन।

सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्॥२०॥

हे देवि! किसीके भी पूछनेपर कभी भी इस बातको दूसरोंसे मत कहना। देवताओंका विषय परम गोपनीय होता है। जितना गुप्त रहता है, उतना ही फलदायक होता है॥२०॥

श्रीशुक उवाच—

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत।

अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः।

उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत्॥२१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। अदिति भगवान्से दुर्लभ वरदान प्राप्त करके कि वे उसके गर्भसे प्रकट होंगे, बहुत आनन्दित हुई और कृतकृत्यताका अनुभव करने लगी। उसने अति श्रद्धा एवं भक्तिके साथ अपने पति कश्यपकी सेवा की॥२१॥

स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत।

प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः॥२२॥

कश्यपका ज्ञान अचूक था। उन्होंने समाधि-योगसे यह जान लिया कि भगवान्का अंश उनके भीतर प्रविष्ट हो गया है॥२२॥

सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम्।

समाहितमना राजन् दारुण्यग्निं यथानिलः॥२३॥

हे राजन्! वायु जिस प्रकार घर्षणके द्वारा काष्ठमें स्थित अग्निको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भगवान्में ऐकान्तिकरूपसे अभिनिविष्ट चित्तवाले कश्यपने अपने अन्दर धारण किये हुए भगवान्के तेजको अपनी पत्नी अदितिके गर्भमें संस्थापित किया।

(प्रकाशित अग्नि जिस प्रकार वायु एवं काष्ठका अंश नहीं है, भगवान् भी उसी प्रकार कश्यप और अदितिके अंशसे उत्पन्न नहीं हैं।) ॥२३॥

अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम्।

हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥ २४ ॥

ब्रह्माको जब यह विदित हुआ कि भगवान् अदितिके गर्भमें अधिष्ठित हो गये हैं, तब वे उनके दिव्य गोपनीय नामोंका उच्चारण करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥२४॥

श्रीब्रह्मोवाच—

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥ २५ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप सभी मनुष्योंके द्वारा महिमान्वित हैं और समस्त यशोंके आश्रय हैं। आपकी जय हो। हे उरुक्रम! आपको नमस्कार है। हे ब्रह्मण्यदेव। हे त्रिगुणोंके अधीश्वर! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥२५॥

नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे।

त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ २६ ॥

जो पहले पृश्निके गर्भसे पुत्रके रूपमें प्रकट हुए थे, जो वेदोंमें नित्य प्रकाशमान हैं और जिनमें सारे वेद निहित हैं, जो त्रिभुवनके पति हैं और त्रिभुवन जिनकी नाभिमें हैं, जो मूल सृष्टिकर्त्ता हैं और जो समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट हैं, ऐसे सर्वव्यापक विष्णु! आपको मेरा नमस्कार है ॥२६॥

त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्य—

मनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः।

कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं

स्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम् ॥ २७ ॥

हे प्रभो! आप इस त्रिभुवनके आदि, मध्य और अन्तस्वरूप हैं। चारों वेद आपका अनन्तशक्तिमान् पुरुषके रूपमें वर्णन करते हैं। हे भगवन्! जैसे गहरा स्रोत अपने जलमें डूबे हुए तिनके आदिको बहा ले जाता है, उसी प्रकार आप भी कालरूपसे इस ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुको अपनी ओर खींच लेते हैं और इस प्रकार संसारका धारा-प्रवाह चलता रहता है॥२७॥

त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीभगवदवतारो नाम सप्तदशोऽध्यायः।

हे देव! आप इस स्थावर और जङ्गम तथा हम सभी प्रजा और प्रजापतियोंको भी उत्पन्न करनेवाले मूल उत्पादक हैं। हे स्वामिन्! जिस प्रकार जलमें डूबते हुए व्यक्तिके लिए नाव ही एकमात्र सहारा होती है, उसी प्रकार आप स्वर्गसे च्युत देवताओंके एकमात्र आश्रय हैं। आप उन्हें पुनः स्वर्गमें संस्थापित कर दीजिए॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके सत्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

भगवान् वामनदेवका प्रकट होना और
बलि-वामन संवाद

श्रीशुक उवाच—

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा-परीक्षित्! ब्रह्माने जब भगवान्की लीला एवं पराक्रमकी स्तुति की, तब अदितिके गर्भसे जन्म-मरणरहित भगवान् श्रीहरि प्रकट हुए। उनकी चार भुजाएँ थीं, जिनमें उन्होंने शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण कर रखे थे। कमल-पत्रके समान विशाल एवं रतनारे नेत्र थे और पीत वर्णका परिधान पहन रखा था ॥१॥

श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्वषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान्।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लसत्-
किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः ॥ २ ॥

उन परम पुरुषका कलेवर श्यामल था एवं चिन्मयत्वके कारण परम विशुद्ध था। मकराकृति कुण्डलोंकी कान्तिसे उनके मुख-कमलपर अपूर्व सौन्दर्य प्रकाशित हो रहा था। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, हाथोंमें कंगन और बाजूबन्द, मस्तकपर किरीट, कमरमें करधनी, वक्षःस्थलपर जनेऊ और चरणोंमें नूपुर शोभायमान हो रहे थे ॥२॥

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः।
प्रजापतेर्वैश्वतमः स्वरोचिषा
विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीहरिके गलेमें असाधारण सौन्दर्यसे युक्त मनोरम श्रीवनमाला सुशोभित थी, जिसपर भौरे गुञ्जार कर रहे थे। उन्होंने कण्ठमें कौस्तुभमणि पहन रखी थी, जिसकी प्रभासे कश्यपजीके घरका सारा अन्धकार नष्ट हो गया था ॥३॥

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः।
द्यौरन्तरीक्षं क्षितिर्गनिजिह्वा
गावो द्विजाः सञ्जहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥

भगवान्के प्राकट्यकालमें सभी दिशाएँ, नदी और सरोवरोंके जल एवं सभी प्राणियोंके अन्तःकरण निर्मल हो गये। प्रजा आनन्दके सागरमें हिलोरें लेने लगी। विविध ऋतुएँ अपने-अपने गुणोंसे युक्त होकर अपनी शोभाश्रीका विस्तार करने लगीं। स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, देवता, गौ, ब्राह्मण और पर्वत सभी परमानन्दमें मग्न हो गये ॥४॥

श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्त्तेऽभिजिति प्रभुः।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥ ५ ॥

हे राजन्! भाद्रपद मासके शुक्ल पक्षकी श्रवण द्वादशी तिथि थी, चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर स्थित था, अभिजित मुहूर्त था—उसी शुभ लग्नमें भगवान् अवतीर्ण हुए। उस समय सभी ग्रह, नक्षत्र (सूर्यसे शनि तक) अनुकूल होकर शुभ स्थानोंपर आ गये थे जो भगवान्के मङ्गलमय जन्मकी सूचना दे रहे थे ॥५॥

द्वादश्यां सविताऽतिष्ठन्मध्यन्दिनगतो नृप।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरिः ॥ ६ ॥

परीक्षित्! जिस द्वादशी तिथिमें भगवान् श्रीहरिका प्राकट्य हुआ, वह विजया-द्वादशीके नामसे प्रसिद्ध है। उस समय सूर्य मध्य आकाशमें स्थित थे। इस बातको सब विद्वान् जानते हैं॥६॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः ।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् ॥७॥

शङ्ख, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पणव और नगारे आदि वाद्य-यन्त्र बजने लगे तथा विचित्र एवं विविध वाद्योंकी तुमुल ध्वनि उठने लगी। सर्वत्र कोलाहल छा गया॥७॥

प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन् गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः ॥८॥

आप्सराएँ आनन्दसे नाचने लगीं, गन्धर्व गान करने लगे तथा मुनि, देव, मनु, पितर और अग्नि स्तुति करने लगे॥८॥

सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः ।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥९॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः ।
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥१०॥

सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, श्रेष्ठ नागगण एवं देवताओंके अनुचर सभीने भगवान्का अत्यन्त गुणगान किया, भूरि-भूरि प्रशंसा की और आनन्दके साथ नृत्य किया। इन सभीने इतने पुष्प बरसाये कि अदितिका आश्रम पूरा ढक गया॥९-१०॥

दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ।
गृहीतदेहं निजयोगमायया
प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः ॥११॥

अदितिने देखा कि योगमायाके (चित्शक्तिके) शरीर धारण करके परम पुरुष उनके गर्भसे प्रकट हो गये हैं, तो वे आश्चर्यचकित

और परमानन्दित हो गयीं। प्रजापति कश्यप भी उन्हें देखकर विस्मित हो गये और 'जय हो, जय हो' कहने लगे॥११॥

यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै-

रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्भरिः ।

बभूव तेनैव स वामनो वटुः

सन्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः॥१२॥

भगवान्का जो विग्रह आभूषणों और आयुधोंके साथ नित्य प्रकाशमान रहता है, उसी अव्यक्त, चित्स्वरूप, अदृश्य विग्रहको उन्होंने भौतिक जगत्में व्यक्त कर दिया। भगवान्ने अपने माता-पिता अदिति-कश्यपके सम्मुख इस प्रकार वामन ब्रह्मचारीका रूप धारण कर किया, जिस प्रकार नट अपना वेश बदल लेता है। भगवान् परम योगेश्वर हैं और उनकी लीलाएँ अति अद्भुत हैं॥१२॥

तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः।

कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम्॥१३॥

वामन भगवान्को ब्राह्मण कुमारके रूपमें देखकर महर्षिगण बहुत प्रसन्न हो गये। उन्होंने कश्यपको आगे करके उनके जातकर्म आदि अनुष्ठान करवाये॥१३॥

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत्।

बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात्॥१४॥

जब भगवान् वामनका उपनयन-संस्कार होने लगा, तब सूर्यदेवने स्वयं उन्हें गायत्री मन्त्र प्रदान किया, बृहस्पतिने यज्ञोपवीत और कश्यपने मूँजकी मेखला भेंट की॥१४॥

ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः।

कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः॥१५॥

पृथ्वीने कृष्णमृगका चर्म, वनस्पतियोंके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड, माता अदितिने कौपीनके लिए वस्त्र एवं स्वर्ग लोकके अधिनायक देवताने उन वामनरूपधारी जगत्पतिको छत्र प्रदान किया॥१५॥

कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान् सप्तर्षयो ददुः।

अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥ १६ ॥

हे महाराज! ब्रह्माने उन अव्यय महापुरुषको कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने उन्हें रुद्राक्षकी माला भेंट की ॥ १६ ॥

तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात्।

भिक्षां भगवती साक्षदुमादादम्बिका सती ॥ १७ ॥

जब वामनदेवका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका, तब कुबेरने उन्हें भिक्षाका पात्र और साक्षात् भगवती, जगन्माता, परम साध्वी भवानी देवीने उन्हें भिक्षा प्रदान की ॥ १७ ॥

स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां सम्भावितो वटुः।

ब्रह्मर्षिगणसंजुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥ १८ ॥

सर्वपूजनीय वामनदेव सबसे सत्कार प्राप्त कर चुके, तब ब्रह्मर्षियोंसे युक्त उस सभामें अपने ब्रह्मतेजके कारण वे अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ १८ ॥

समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम्।

परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्धिरजुहोद्विजः ॥ १९ ॥

इसके बाद वामनदेवने स्थापित एवं प्रज्वलित यज्ञीय उपनयन अग्निको कुशोंसे परिसमूहन (सम्यक् रूपसे रखकर) तथा परिस्तर करके (ठीकसे फैलाकर) भलीभाँति पूजा की और समिधाओंसे हवन किया ॥ १९ ॥

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं

बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः।

जगाम तत्राखिलसारसम्भृतो

भारेण गां सन्नमयन् पदे पदे ॥ २० ॥

जब विवेक, धैर्य, पाण्डित्य आदि समस्त गुणोंसे परिपूर्ण वामनदेवने सुना कि भृगुवंशीय ब्राह्मणोंके आदेशसे उनके ही संरक्षणमें समृद्धिशाली यजमान बलि अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं

तब वामनदेव कृपा ऐश्वर्य आदिकी गरिमा प्रकट करनेके लिए महाराज बलिके पास गये। उनके चलनेसे पृथ्वी पग-पगपर झुकती जाती थी॥२०॥

तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षतारादुदितं यथा रविम्॥२१॥

नर्मदा नदीके उत्तरी किनारेपर 'भृगुकच्छ' नामक एक बड़ा सुन्दर क्षेत्र है। यहाँपर भृगुवंशीय पुरोहित ब्राह्मण महाराज बलिसे यज्ञ करा रहे थे। जैसे ही भगवान् वामन उनके समीप पहुँचे, तो उनके दर्शनसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो अति तेजोमय सूर्यका उदय हो रहा हो॥२१॥

ते ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः
सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः॥२२॥

राजन्! उस समय भगवान् वामनके तेजोबलसे ऋत्विज, यजमान बलि एवं सभासद्गण सभी निस्तेज हो गये और विचार-विमर्श करने लगे कि यज्ञोत्सवको देखनेकी इच्छासे स्वयं सूर्य अथवा अग्नि अथवा सनत्कुमारोंमें-से तो कोई नहीं आ रहा है॥२२॥

इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान् स वामनः।
छत्रं सदण्डं सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्भयमेधवाटम्॥२३॥

भृगुवंशीय ब्राह्मण अपने शिष्योंके साथ विभिन्न प्रकारसे तर्क-वितर्क कर ही रहे थे कि उसी अवसरपर हाथमें दण्ड, छत्र एवं जलसे भरा कमण्डलु लेकर भगवान् वामनदेवने यज्ञके मण्डपमें प्रवेश किया॥२३॥

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम्।
 जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम्॥ २४॥
 प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः।
 प्रत्यगृह्णन् समुत्थाय सङ्क्षिप्तास्तस्य तेजसा॥ २५॥

उनके कटि-प्रदेशमें मौँजकी मेखला बँधी हुई थी, मृगचर्मको उन्होंने उत्तरीयके रूपमें धारण कर रखा था, गलेमें यज्ञोपवीत और सिरपर जटाजूट बँधा था। यज्ञ-मण्डपमें उपस्थित भृगुवंशी ब्राह्मण और शिष्योंने जब स्वरूपतः ब्रह्मचारी वामनरूप श्रीहरिको वहाँ प्रवेश करते हुए देखा, तो उनके तेजके प्रभावसे वे निष्प्रभ हो गये। वे पूर्णतः प्रभावित एवं अभिभूत होकर आसनसे उठ खड़े हुए और उनका यथोचित अभिनन्दन किया॥ २४-२५॥

यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम्।
 रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत्॥ २६॥

भगवान् वामनके अपने श्रीरूपके अनुसार ही हाथ-पैर आदि अङ्ग भी छोटे-छोटे, मनोरम और परम सुन्दर थे। दैत्यराज बलि उन्हें देखकर बड़े आनन्दित हुए और उन्हें आसन प्रदान किया॥ २६॥

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः।
 अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गमनोरमम्॥ २७॥

उसके बाद महाराज बलिने आत्माराम पुरुषोंको भी अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले उन परम पुरुषका स्वागतवचनोंसे अभिनन्दन किया और चरण पखारे। इसके बाद उनकी पूजा-अर्चना की॥ २७॥

तत्पादशौचं जनकल्मषापहं
 स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम्।
 यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
 र्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या॥ २८॥

देवाधिदेव चन्द्रमौलि महादेवने परम भक्तिके साथ जिस चरणोदकको गङ्गाके रूपमें अपने सिरपर धारण किया था, धर्मज्ञ

राजा बलिने भी उसी समस्तकुलके पापविनाशक और सर्वशुभदायक पाद-प्रक्षालन वारिको अपने सिरपर धारण किया ॥२८॥

श्रीबलिरुवाच—

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन् किं करवाम ते।

ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वार्य वपुर्धरम् ॥२९॥

महाराज बलिने कहा—हे ब्रह्मन्! आप सुखपूर्वक तो आये हैं न? मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप बतलाइए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आप ब्रह्मर्षियोंकी तपस्याके साक्षात् मूर्तिमान् स्वरूप हैं ॥२९॥

अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।

अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान् ॥३०॥

आज आप मेरे घरपर पधारे हैं, इससे मेरा यह पितृगृह धन्य हुआ है और पितर भी तृप्त हुए हैं। आज मेरा वंश पवित्र हो गया और यह यज्ञानुष्ठान भी यथायथरूपसे सफल हो गया ॥३०॥

अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि

द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः।

हतांहसो वार्ष्णिरीयञ्च भूरहो

तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव ॥३१॥

हे द्विजपुत्र! आपके पादप्रक्षालित जलसे मेरे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं और यह अग्नि भी यथाविधि प्रज्वलित हुई है, इसमें आहुति डालनेसे जो फल मिलता, वह भी मुझे प्राप्त हो गया है। आपके छोटे-छोटे चरणोंके स्पर्शसे यह पृथ्वी भी पवित्र हो गयी है ॥३१॥

यद्यद्वटो वाञ्छसि तत् प्रतीच्छ मे

त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये।

गां काञ्चनं गुणवद्धाम मृष्टं

तथात्रपेयमुत वा विप्रकन्याम्।

ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिवामनसंवादो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

हे विप्रनन्दन! मुझे लग रहा है कि आप कुछ चाहते हैं।
अतः आप मुझसे जो कुछ भी चाहें, माँग लीजिए। हे पूज्यतम!
गाय, सोना, यथेष्ट सामग्रियोंसे सुसज्जित घर, स्वादिष्ट अन्न-पान
आदि, विवाहके रूपमें ब्राह्मण-कन्या, समृद्ध गाँव, घोड़े, हाथी और
रथ—जो कुछ भी आपकी अभिलाषा हो, आप माँग लीजिए ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके अष्टारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त ।

एकोनविंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीवामनदेवका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

इति वैरोचनेर्वाक्यधर्मयुक्तं ससूतम्।
निशम्य भगवान् प्रीतः प्रतिनन्देदमब्रवीत्॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा बलिके ये वचन धर्मभावसे पूर्ण, मनोरम और यथार्थ थे। इन्हें सुनकर भगवान् बड़े आनन्दित हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

वचस्तवैतज्जनदेव सूतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम्।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः॥ २ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे राजन्! आपने जो इस प्रकारके वचन कहे, वे सत्य, धर्मभावसे परिपूर्ण, कुलकी परम्पराके अनुरूप और यशको बढ़ानेवाले हैं। लौकिक व्यवहारमें भृगुवंशके शुक्राचार्य आदि ब्राह्मण आपको परामर्श देनेवाले हैं और पारलौकिक धर्ममें कुलवृद्ध, शान्त प्रकृति आपके दादा प्रह्लाद आपको उपदेश देनेवाले हैं॥ २ ॥

न ह्येतस्मिन् कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान्।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वाऽदाता द्विजातये॥ ३ ॥

मैं जानता हूँ कि आपके वंशमें आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जन्मा है, जो सङ्कीर्ण-मनवाला, धैर्यहीन अथवा कृपण हो। ऐसा भी कोई नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मण-याचकको दान देनेसे मना किया हो अथवा किसीको कुछ देनेका वचन देकर विमुख हो गया हो॥ ३ ॥

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
 पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः।
 युष्मत्कुले यद्यशसामलेन
 प्रह्लाद उद्भाति यथोदुपः खे ॥ ४ ॥

महाराज! आपके वंशमें ऐसा क्षुद्र अन्तःकरणवाला भी कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मण याचकके दान माँगनेपर अथवा युद्धक्षेत्रमें किसी युद्धार्थी क्षत्रिय द्वारा युद्धके लिए ललकारनेपर उससे मुख मोड़ लिया हो। आपके वंशमें प्रह्लाद अपने निर्मल यशसे आज भी उसी प्रकार शोभायमान हो रहे हैं, जिस प्रकार आकाशमें चन्द्रमा ॥४॥

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरत्रेक इमां महीम्।
 प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥ ५ ॥

आपके ही वंशमें हिरण्याक्ष उत्पन्न हुआ था। जब वह अकेले ही गदा हाथमें लेकर दिग्विजयके लिए निकला, तब सारी पृथ्वीपर पर्यटन कर आया, परन्तु उसे अपने योग्य कोई योद्धा नहीं मिला ॥५॥

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्षमोद्धार आगतम्।
 आत्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥

पृथ्वीका उद्धार करते समय वराहरूपधारी भगवान् विष्णुके समक्ष जब वह हिरण्याक्ष आया, तो उन्होंने अत्यधिक कष्टके साथ उसे मारा। बादमें भगवान् जब-जब उसके असाधारण पराक्रम और बलका स्मरण करते हैं, तब-तब अपनेको सचमुच विजयी नहीं मानते हैं ॥६॥

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा।
 हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ७ ॥

जब हिरण्यकशिपुको हिरण्याक्षके वधके विषयमें ज्ञात हुआ तब वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर अपने भाईके हन्ता विष्णुको मार डालनेके लिए उनके निवास स्थान वैकुण्ठधाम पहुँच गया ॥७॥

तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत्।

चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ ८ ॥

विष्णु मायावियोंमें प्रधान हैं। जब उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपु हाथोंमें त्रिशूल लेकर साक्षात् कालके समान उनकी ओर चला रहा है, तब समयोचित कार्य करनेमें कुशल विष्णु इस प्रकार सोचने लगे— ॥ ८ ॥

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।

अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परागदृशः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार मृत्यु जीवोंके पीछे लगी रहती है, उसी प्रकार मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, यह हिरण्यकशिपु उस-उस स्थानपर मेरा अनुसरण करेगा। यह दैत्य बस बाह्य वस्तुएँ ही देखा करता है, अतः मैं इसके हृदयमें प्रवेश कर जाऊँगा, जिससे यह मुझे देख नहीं सकेगा ॥ ९ ॥

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-

माधावतो निर्विविशोऽसुरेन्द्र।

श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-

स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥ १० ॥

हे दैत्यराज! ऐसा निश्चय करके भगवान् विष्णुने अपने ऊपर झपटते हुए हिरण्यकशिपुको देखा तो अपने शरीरको अत्यन्त सूक्ष्म बना लिया और भयसे काँपते हुए शत्रुकी नासिकाके पथसे उसके हृदयमें प्रवेश कर लिया ॥ १० ॥

स तन्निकेतं परिमृश शून्य-

मपश्यमानः कुपितो ननाद।

क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान् समुद्रान्

विष्णुं विचिन्वन् न ददर्श वीरः ॥ ११ ॥

उसके बाद जब हिरण्यकशिपुने देखा कि भगवान् विष्णुका स्थान तो खाली पड़ा है, तब वह उन्हें चारों ओर ढूँढ़ने लगा,

परन्तु उनका कहीं भी पता न चला। तब वह क्रोधसे भरकर गरजने लगा। उस वीरने पृथ्वी, स्वर्ग, दसों दिशाएँ, आकाश, पाताल और समुद्र—यत्र-तत्र सर्वत्र भगवान्‌को खोजा, परन्तु वे उसे कहीं भी न मिले॥११॥

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत्।

भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्त्तते पुमान्॥१२॥

भगवान् विष्णु जब हिरण्यकशिपुको कहीं दिखायी नहीं दिये, तब वह कहने लगा—मैंने सारा जगत् खोज लिया, किन्तु विष्णु कहीं दिखायी नहीं देता। विष्णु निश्चय ही उस स्थानपर पहुँच गया है, जहाँसे कोई लौटता नहीं है॥१२॥

वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम्।

अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः॥१३॥

हिरण्यकशिपुका विष्णुके प्रति जो वैर भाव था, वह उसकी मृत्युके साथ ही समाप्त हो गया। इस क्रोधका मूल कारण अज्ञान है और अहंकारसे उसकी वृद्धि होती है। इस जगत्‌में अन्यान्य देहात्माभिमानी मिथ्या अभिमानके कारण क्रोध बनाये रखते हैं जिससे वीरत्व न रहने पर भी वे अपनेको वीर मान लेते हैं॥१३॥

पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः।

स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् स याचितः॥१४॥

आपके पिता प्रह्लादपुत्र विरोचन बड़े ही ब्राह्मण-भक्त थे। वे जानते थे कि उनके शत्रु देवता छलपूर्वक ब्राह्मणोंका वेश धारण करके उनके समक्ष आये हैं, तो भी उनकी प्रार्थनापर आपके पिताने अपनी आयु उन्हें प्रदान कर दी॥१४॥

भवानाचरितान् धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः।

ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोदामकीर्तिभिः॥१५॥

आपने भी उसी धर्मका आचरण किया है, जिसका शुक्राचार्य आदि ब्राह्मणोंने, आपके पूर्वज विरोचन आदिने और विपुलकीर्ति अन्यान्य वीरोंने निर्वाह किया था॥१५॥

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।

पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम॥१६॥

हे दैत्यराज! ऐसे कुलजात वरदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ आपसे मैं अपने पैरोंसे मापकर मात्र तीन पग भूमिकी प्रार्थना करता हूँ॥१६॥

नान्यत् ते कामये राजन् वदान्याज्जगदीश्वरात्।

नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थप्रतिग्रहः॥१७॥

हे राजन्! आपका चित्त अत्यन्त उदार है। आप बहुत-सा दान देनेमें समर्थ हैं, तथापि मैं आपसे कुछ नहीं माँगना चाहता। विद्वान् व्यक्तिको जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिए, इससे वह पापका भागी नहीं होता॥१७॥

श्रीबलिरुवाच—

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्पताः।

त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा॥१८॥

राजा बलिने कहा—हे ब्राह्मण कुमार! तुम्हारे वचन वृद्धजनोंके समान आदरणीय हैं किन्तु तुम हो तो बालक ही। तुम्हारी बुद्धि बालकोंके समान नितान्त अबोध है। तुम अपने हितके विषयमें वस्तुतः कुछ जानते ही नहीं हो॥१८॥

मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।

पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्॥१९॥

मैं तीनों लोकोंका एकमात्र अधिपति हूँ और सारा जम्बूद्वीप तुम्हें दान दे सकता हूँ। तुमने मुझे अपने वचनोंसे प्रसन्न किया है और माँग रहे हो मात्र तीन पग भूमि। इसीलिए कह रहा हूँ कि तुम बुद्धिमान् नहीं हो॥१९॥

न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।

तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे॥२०॥

हे वटु! जो मुझसे कुछ एक बार माँग लेता है, उसे दूसरेके पास और कुछ माँगनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

अतः तुम अपनी जीविकाके निर्वाहके लिए मुझसे प्रचुर भूमि माँग सकते हो ॥२०॥

श्रीभगवानुवाच—

यावन्तो विषयाः प्रेष्टास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्।

न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥२१॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! अजितेन्द्रिय पुरुषके लिए तीनों लोकोंके सारे परमप्रिय विषय उपलब्ध हो भी जाएँ, तो भी वह उन द्रव्योंसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसकी कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं हो सकती ॥२१॥

त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।

नववर्षसमेतेन

सप्तद्वीपवरेच्छया ॥२२॥

तीन पग भूमिसे यदि मुझे सन्तोष नहीं हो सकता, तो नौ वर्षोंसे युक्त एक द्वीप भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकता। मुझे इससे बढ़कर सातों द्वीप प्राप्त करनेकी इच्छा होगी और मेरी कामनाएँ कभी पूर्ण न होंगी ॥२२॥

सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैण्यगयादयः।

अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥२३॥

मैंने सुना है कि पृथु, गय आदि राजागण सातों द्वीपोंके अधिपति थे, परन्तु उनकी अर्थ और कामकी तृष्णाएँ कभी पूर्ण न हुईं। वे अतृप्त ही रहे ॥२३॥

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम्।

नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥२४॥

प्रारब्ध कर्मवश जो भी वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार सुखपूर्वक रहता है, अजितेन्द्रिय और असन्तुष्ट व्यक्ति तीनों लोकोंको प्राप्त करके भी उस प्रकारसे सुखी नहीं रह सकता ॥२४॥

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः ।
यदृच्छयोपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥ २५ ॥

धन और कामसे असन्तोष होना ही पुरुषके जन्म-मृत्युका कारण है और स्वतः प्राप्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट हो जाना मुक्तिका कारण है ॥ २५ ॥

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्द्धते ।
तत् प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥ २६ ॥

यदृच्छाक्रमसे ब्राह्मणको जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उससे सन्तुष्ट रहनेवालेके तेजकी क्रमशः वृद्धि होती जाती है और असन्तुष्ट रहनेसे उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार जलसे अग्नि बुझ जाती है ॥ २६ ॥

तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्शभात ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत् प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

अतएव हे राजन्! दानियोंमें श्रेष्ठ आपसे मैं तीन पग भूमिकी ही प्रार्थना करता हूँ। मैं इसीसे कृतार्थ हो जाऊँगा। इस संसारमें सुखकी विधि यही है कि धनकी जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान्ने जब इस प्रकार कहा तब राजा बलि हँस पड़े और उनसे कहने लगे—बहुत अच्छी बात है, तुम्हारी जितनी इच्छा हो, उतनी ही ले लो। यह कहकर भगवान् वामनको तीन पग भूमि-दानका सङ्कल्प करनेके लिए उन्होंने जल-पात्र उठाया ॥ २८ ॥

विष्णवे क्षमां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥ २९ ॥

शुक्राचार्यको सब कुछ ज्ञात था। वे भगवान् विष्णुके अभिप्रायको अच्छी प्रकारसे जानते थे, अतः उन्होंने भूमि-दानके लिए उद्यत अपने शिष्य असुरपति बलिसे कहा ॥२९॥

श्रीशुक्र उवाच—

एष वैरोचने साक्षाद्भगवान् विष्णुरव्ययः।

कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—हे विरोचन-नन्दन! ये वटु अविनाशी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये ही ये कश्यपजीकी पत्नी अदितिके गर्भसे प्रकट हुए हैं ॥३०॥

प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।

न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥ ३१ ॥

तुम यह अनर्थ न जानकर ही इन्हें भूमि दान देनेकी प्रतिज्ञा कर बैठे हो। मैं इसे ठीक नहीं समझता। इससे तो दैत्योंका बहुत भारी अनिष्ट हो जाएगा ॥३१॥

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।

दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥ ३२ ॥

ये साक्षात् श्रीहरि ब्रह्मचारीके कपट-वेशमें तुम्हारे सम्मुख हैं। ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, श्री, तेज, यश और ज्ञान सब कुछ हरण कर लेंगे और इन्द्रको प्रदान कर देंगे ॥३२॥

त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति।

सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥ ३३ ॥

सुनो, ये विराट् रूप धारण करके तीन पगोंसे सारी त्रिलोकीपर ही अधिकार कर लेंगे। हे मूढ! जब तुम सर्वस्व ही इन विष्णुको प्रदान कर दोगे, तो अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह किस प्रकार करोगे ॥३३॥

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।

खञ्च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥ ३४ ॥

ये जिस समय एक पगसे सारी पृथ्वी और दूसरे पगसे स्वर्ग नाप लेंगे तथा अपने विश्वकायसे सम्पूर्ण अन्तरीक्षपर अधिकार कर लेंगे, तब तीसरा पग रखनेके लिए कहाँ स्थान दोगे? ॥३४॥

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।

प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥३५॥

इस प्रकार तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेमें असमर्थ हो जाओगे। मैं सोचता हूँ कि इस प्रतिज्ञाको पूरी तरह पालन न करनेके कारण निश्चय ही तुम्हें नरक-वास करना पड़ेगा (अतः जागतिक भोगोंकी सिद्धिके लिए तुम्हारा सर्वस्व दान न करना ही तुम्हारे लिए मङ्गलजनक है।) ॥३५॥

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।

दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥३६॥

शास्त्रज्ञ आचार्य ऐसे दानकी प्रशंसा नहीं करते, जिसके कारण स्वयंकी जीविका भी विपत्तिमें पड़ जाय। इस जगत्में जिसकी जीविका ठीक-ठाक चल रही होती है, वही दान, यज्ञ, तपस्या आदि कार्योंको सम्यक् प्रकारसे कर सकता है ॥३६॥

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।

पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥३७॥

अतः जो ज्ञानी है, उसे अपने धनको पाँच भागोंमें विभक्त कर देना चाहिए—धर्म, यश, अर्थ, भोग और स्वजनोंके भरण-पोषणके लिए। ऐसा करनेसे वह इहलोक और परलोकमें सुखका भागी बन सकता है ॥३७॥

अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम।

सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥३८॥

(यदि तुम कहो कि तुम पहले ही वचन दे चुके हो, अब वचन-भङ्ग कैसे कर सकते हो तो) हे असुरश्रेष्ठ! इस विषयमें बह्वृच (ऋग्वेदकी) श्रुतियोंके साक्ष्य-वचन मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

श्रुति कहती है—‘ओम्’ (हाँ) इस प्रकार किसीको कुछ देनेकी बात स्वीकार की जाती है—वह वचन सत्य है और ‘न’ कहकर जो अस्वीकार किया जाता है, वह असत्य है ॥३८॥

सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते।

वृक्षेऽजीवति तत्र स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥ ३९ ॥

(सत्य भी ईषत् मिथ्याके बिना सिद्ध नहीं हो सकता, इसी आशयसे कहते हैं—) सत्यको देहरूप इस वृक्षका फल-फूल जानो। यदि देहरूपी वृक्ष ही न रहे, तो उसमें फल-फूल सम्भव नहीं हो सकते। मिथ्या (मुकर जाना, अपनी वस्तु दूसरेको न देना, अपना संग्रह बचाये रखना) ही देह-वृक्षका मूलस्वरूप है—श्रुतियोंने इसी प्रकार बतलाया है। सब प्रकारसे मिथ्याका अभाव होनेपर देह रहेगा भी नहीं अर्थात् जीवन ही धारण नहीं किया जा सकता। (तात्पर्य यह है कि देहरूपी वृक्ष जिससे जीवित रहे, वैसा प्रयत्न करना चाहिए। जीवन-रक्षाके लिए किञ्चित् असत्यका आश्रय दोषावह नहीं होता। त्रिपाद भूमिका दान कर दिया है अतः बलि महाराजकी जीविकाका निर्वाह सम्भव नहीं होगा।) शरीर के भरण-पोषणकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये ॥३९॥

तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्धर्ततेऽचिरात्।

एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ उखड़ जाय तो वृक्ष शीघ्र ही सूखकर भूमिपर गिर पड़ेगा, उसी प्रकार मिथ्याका नाश होनेपर शरीर भी शीघ्र ही सूख जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥४०॥

पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति।

तद् यत्किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्।

भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥ ४१ ॥

अङ्गीकारसूचक ‘ओम्’ अर्थात् ‘हाँ मैं दान दूँगा’—इस प्रकार कहनेवाला धनसे पराक् अर्थात् धन-सम्पत्तिसे दूर हो जाता है।

विशेषरूपसे जो भिक्षुकको 'ओम्' यह कहकर सब कुछ दान देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिए कुछ भी भोगकी सामग्री रख नहीं सकता, उसकी इन्द्रिय-तृप्तिके साधन कुछ भी नहीं रहते। भिक्षुकको सर्वदा 'हाँ' कहनेपर दाता कुछ भी भोगकरनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥४१॥

अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः।

सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन् मृतः ॥४२॥

(सवर्ताभावसे सत्यवचनका अवलम्बन करके देहयात्राका निर्वाह नहीं हो सकता—इसे स्पष्टरूपसे व्यक्त करनेके लिये सत्यमें दोष एवं मिथ्यामें गुण बतला रहे हैं—) 'नहीं' इस प्रकार कहना मिथ्या वचन है, तथापि यह पूर्ण है; क्योंकि ऐसा कहनेसे धन नहीं देना पड़ता है, दूसरोंकी सहानुभूति मिलती है और धन एकत्र करनेमें पूरी सुविधा होती है, परन्तु सब वस्तुओंके लिए मना ही कर देना और सब समय मिथ्या वचनोंका प्रयोग करना, यह भी बड़ा निन्दनीय और अपकीर्तिकर है। ऐसा व्यक्ति तो जीवित रहकर भी मृतकके समान है ॥४२॥

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे।

गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीवामनचरितं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥

किसी स्त्रीको प्रसन्न करके अपने वशमें करनेमें, हास-परिहासमें, विवाहमें, कन्या आदिकी प्रशंसा करनेमें, जीविका रक्षणमें, प्राणोंका सङ्कट उपस्थित होनेपर, गौ तथा ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेमें और किसीको मृत्युसे बचानेमें मिथ्या भाषण सर्वथा निन्दनीय नहीं माना जाता ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके उन्नीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीवामनदेव द्वारा विराटरूप धारण करके
दो ही पगसे पृथ्वी और स्वर्गको नाप लेना

श्रीशुक उवाच—

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः।

तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम्॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! कुलगुरु शुक्राचार्यके
वचन सुनकर यजमान बलि क्षण भर मौन बैठे रहे और फिर
विचार-विमर्श करके कहने लगे—॥१॥

श्रीबलिरुवाच—

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।

अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥२॥

राजा बलिने कहा—आपने सत्य ही कहा है कि गृहस्थका
धर्म वही है, जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविकाके साधनमें
किसी प्रकारकी बाधा न पड़े। मैं इससे पूर्ण सहमत हूँ॥२॥

स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।

प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्मादिः कितवो यथा॥३॥

मैं महाराज प्रह्लादका पौत्र हूँ और उन्हें भूमि दानकी प्रतिज्ञा
कर चुका हूँ। अब मैं धनके लोभके वशीभूत होकर अपने वचनसे
किस प्रकार विचलित हो सकता हूँ। एक वज्रचक्रके (ठगके)
समान किस प्रकार मैं इस ब्राह्मणको मना कर सकता हूँ?॥३॥

न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम्।

सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥४॥

असत्यसे बढ़कर दूसरा कोई अधर्म नहीं है। इसलिये पृथ्वीने जो यह कहा है कि—मैं सारे बोज़ोंको सहन कर सकती हूँ, किन्तु झूठे मनुष्यका भार नहीं सह सकती, वह नितान्त सत्य है॥४॥

नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात्।

न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात्॥५॥

मैं नरक, दारिद्र्य, दुःख-समुद्र, स्थान-च्युति अथवा मृत्युसे भी उतना नहीं डरता, जितना किसी ब्राह्मणको ठगनेसे डरता हूँ॥५॥

यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धरादिकम्।

तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत्॥६॥

और भी देखिये! इस संसारमें राज्य आदि जितने भी ऐश्वर्य हैं, वे उनके स्वामीके मरणके साथ ही छूट जाते हैं। यदि उन सब वस्तुओंके दान आदिसे ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट न किया जा सके, तो उसके इस प्रकारके दानका प्रयोजन ही क्या है? (आपकी आज्ञासे यदि किञ्चित् मात्र प्रदान करूँ तो ये ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं होंगे।)॥६॥

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।

दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥७॥

देखिये, दधीचि, शिबि आदि महापुरुषोंने दुस्त्यज प्राणोंकी आहुति देकर भी प्राणियोंका उपकार किया था। तब इस पृथ्वी आदि सामान्य वस्तुको त्यागनेके लिए गम्भीर सोच-विचारकी आवश्यकता क्यों?॥७॥

यैरियं बुभुजे ब्रह्मन् दैत्येन्द्रैरनिवर्त्तिभिः।

तेषां कालोऽग्रसील्लोकात्र यशोऽधिगतं भुवि॥८॥

हे गुरुदेव! पहले भी युद्ध-क्षेत्रमें विजयका सङ्कल्प करनेवाले बड़े-बड़े दैत्योंने इस पृथ्वीका उपभोग किया है। कालने उनके लोक एवं परलोकके भोगोंका हरण कर लिया, किन्तु पृथ्वीपर उनके द्वारा उपार्जित यशको कोई नहीं छीन सका। वे अपने

यशके बलपर आज भी विद्यमान हैं। अतः एकमात्र यश ही उपार्जनीय है ॥८॥

सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः।

न तथा तीर्थे आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥९॥

हे विप्रवर! इस संसारमें ऐसे बहुत-से वीर हैं, जिन्होंने युद्धमें पीठ न दिखलाकर अपने प्राणोंका बलिदान किया है, किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं, जिन्होंने सत्पात्रके प्राप्त होनेपर उसके लिए अपने धनका दान दिया हो ॥९॥

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं

यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः।

कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां

ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम् ॥१०॥

याचककी कामना पूर्ण करनेमें दुर्गति भी सहनी पड़े, तो भी वह कारुणिक और मनस्वी व्यक्तिके लिए शोभनीय ही है। पुनः यदि आप जैसे ब्रह्मज्ञ पुरुषकी कामना पूर्ण करनेमें दीन-दारिद्र्य-दशा भोगनी भी पड़ जाय, तो वह शोभाकी ही बात होगी, इसके लिए क्या कहा जाय? अतः इस ब्राह्मण कुमारने जो भी याचना की है, मैं उसे अवश्य ही पूर्ण करूँगा ॥१०॥

यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता

भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।

स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो

दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ॥११॥

हे मुनिवर! वेदविहित-यज्ञ आदि कर्मोंमें निपुण आप जैसे महात्मा सोमादि यज्ञोंके द्वारा आदरपूर्वक जिन यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, वे विष्णु चाहे यहाँ मुझे वरदान दें और यदि शत्रुके रूपमें यहाँ आये हों, तो दण्ड दें, मैं उन्हें उनकी इच्छानुसार पृथ्वी अवश्य दूँगा ॥११॥

यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।

तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥१२॥

यदि शत्रुभावसे अधर्मपूर्वक ये मुझ निरपराधको बाँध लेते हैं, तो भी मैं इनका अनिष्ट नहीं करूँगा। निश्चय ही ये मुझसे बहुत डरे हुए हैं क्योंकि साक्षात् विष्णु होकर भी गोपनीयरूपसे ब्राह्मण कुमारका शरीर धारण कर इस यज्ञस्थलीमें आये हैं॥१२॥

एष वा उत्तमःश्लोको न जिहासति यद्यशः।

हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मया॥१३॥

यदि ये वस्तुतः उत्तमश्लोक विष्णु ही हैं तो अपनी कीर्तिका त्याग कभी नहीं करेंगे। युद्धक्षेत्रमें मुझे मारकर इस भूमिको हथिया लेंगे अथवा मेरे-द्वारा मारे जानेपर युद्धभूमिमें ही सदाके लिए सो जाएँगे (मेरी चित्त-गुहामें शयन करेंगे।)॥१३॥

श्रीशुक उवाच—

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः।

शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्॥१४॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्। इसके बाद गुरु शुक्राचार्यने देखा कि उनके शिष्य बलिकी उनके वचनोंपर कोई श्रद्धा नहीं है और वह उनके आदेशका उल्लङ्घन कर रहा है, तब भगवान्की प्रेरणासे शुक्राचार्यने राजा बलिको शाप दे दिया, जबकि वे उदारचरित और सत्यप्रतिज्ञ थे, शापके योग्य कदापि न थे॥१४॥

दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।

मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः॥१५॥

शुक्राचार्यने कहा—तुम हो तो अज्ञानी, परन्तु अपने-आपको बहुत बड़ा पण्डित मान रहे हो। इतने धृष्ट हो गये हो कि मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहे हो। तुमने मेरी उपेक्षा की है; जाओ, तुम शीघ्र ही अपनी श्रीसे (त्रैलोक्याधिपत्यसे) भ्रष्ट हो जाओ॥१५॥

एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्।

वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ॥ १६ ॥

महाराज बलि महान् पुरुष थे। अपने गुरुके द्वारा इस प्रकार अभिशप्त होनेपर भी वे अपनी प्रतिज्ञासे टस-से-मस न हुए। उन्होंने श्रीवामनदेवकी पूजा-अर्चना की। कमण्डलुसे हाथमें जल लिया और उसका स्पर्श करके दिये गये वचनके अनुसार तीन पग भूमिका सङ्कल्प कर दिया ॥ १६ ॥

विन्ध्यावलिस्तदागत्य पत्नी जालकमालिनी।

आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम् ॥ १७ ॥

उसी समय मोतियोंकी माला पहने हुए महाराज बलिकी पत्नी भी वहाँ आ गयी। भगवान्‌के चरणकमलोंको पखारनेके लिए वह जलसे भरा हुआ सोनेका घड़ा भी अपने साथ ले आयी ॥ १७ ॥

यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा।

अवनिज्यावहन् मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः ॥ १८ ॥

यजमान बलिने बड़े आनन्दके साथ स्वयं ही भगवान्‌ वामनदेवके श्रीचरणयुगलोंको पखारा और उस विश्वपावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया ॥ १८ ॥

तदाऽसुरेन्द्रं दिवि देवतागणा

गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।

तत् कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं

प्रसूनवर्षैर्वृषुर्मुदान्विताः ॥ १९ ॥

उस समय आकाशमें स्थित देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारण—सभी मिलकर बड़े आनन्दके साथ इस प्रकारके अद्भुत कार्यकी एवं सरलताकी निष्कपटभावसे प्रशंसा करने लगे और दैत्यराज बलिके ऊपर पुष्प वर्षण करने लगे ॥ १९ ॥

नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो

गन्धर्वकिम्पुरुषकिन्नरा जगुः ।

मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद् यद्विपवे जगत् त्रयम् ॥ २० ॥

उस समय हजारों-हजारों दुन्दुभियाँ एक साथ बजने लगीं। गन्धर्व, किम्पुरुष और किन्नरगण इस प्रकार गान करने लगे— महामना महाराज बलिने आज वह काम किया है, जो दूसरोंके लिए अत्यन्त कठिन है। वे जानते थे कि भगवान् विष्णु उनके शत्रु देवताओंके पक्षमें हैं, तो भी उन्होंने दानमें तीनों लोक दे दिये ॥ २० ॥

तद्वामनं रूपमवर्द्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्मूदेवा ऋषयो यदासत ॥ २१ ॥

उस समय अनन्त भगवान् श्रीहरिका वामन शरीर आश्चर्यजनक रूपसे बढ़ने लगा। त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें भगवान् विराजमान हैं। अतः भगवान्के विग्रहमें पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, ब्रह्माण्डके विभिन्न छिद्र, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषिगण सभी समाये हुए हैं ॥ २१ ॥

काये बलिस्तस्य महाविभूतेः।
महर्त्विगाचार्यसदस्य एतत्।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥ २२ ॥

बलि महाराजने ऋत्विज, आचार्य और सभाके सदस्योंके साथ महाविभूतिशाली भगवान्के शरीरमें पृथ्वी आदि पञ्चभूत, वाक् आदि इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण और जीवोंके साथ सम्पूर्ण विश्वको देखा ॥ २२ ॥

रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
र्महीं महीध्रान् पुरुषस्य जङ्घयोः।

पतत्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् इन्द्रके पदपर आसीन महाराज बलिने विश्वरूप
महापुरुषके चरणतलमें रसातल आदि सातों लोक, चरणोंमें
पृथ्वी, पिंडलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जङ्घाओंमें
मरुद्गणोंको देखा ॥ २३ ॥

सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीन् जघने आत्ममुख्यान्।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्त सिन्धून्
उरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम् ॥ २४ ॥

उसी प्रकार उन्होंने भगवान्‌के वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यस्थानमें
प्रजापति, कटिके सामनेके भागमें (जघनमें) अपने सहित अन्यान्य
प्रमुख असुरगण, नाभिमण्डलमें आकाश, कोखमें लवणादि सातों
समुद्र और वक्षःस्थलमें नक्षत्रसमूह देखे ॥ २४ ॥

हृद्यङ्ग धर्म स्तनयोर्मुरारे-
ऋतञ्च सत्यञ्च मनस्यथेन्दुम्।
श्रियञ्च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान् ॥ २५ ॥

इन्द्रप्रधानानमरान् भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि।
केशेषु मेघान् श्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्य वदने च वह्निम् ॥ २६ ॥

वाण्याञ्च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधञ्च विधिञ्च पक्ष्मसु।
अहश्च रात्रिञ्च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम् ॥ २७ ॥

स्पर्शं च कामं नृप रेतसाऽम्भः
 पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम्।
 छायासु मृत्युं हसिते च मायां
 तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥ २८ ॥

नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
 बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।
 प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
 सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥ २९ ॥

वत्स परीक्षित्! उन लोगोंने भगवान् मुरारीके हृदयमें धर्म, स्तनोंमें प्रिय और सत्य वचन, मनमें चन्द्रमा, वक्षःस्थलपर हाथोंमें कमल लिये हुए लक्ष्मीदेवी, कण्ठमें सामवेद और सम्पूर्ण शब्द, भुजाओंमें इन्द्र आदि प्रमुख देवतागण, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, केशोंमें मेघमाला, नासिकामें वायु, नेत्रोंमें सूर्य और वदनमें अग्निदेवको देखा। उन परमपुरुषकी वाणीमें सारे छन्द, रसनामें वरुणदेव, भौंहोंमें विधि और निषेध, पलकोंका उन्मीलन होनेपर दिन और निमीलन होनेपर रात, ललाटमें क्रोध, अधरमें लोभ दिखायी दिये। हे राजन्! उनके स्पर्शमें कामदेव, वीर्यमें जल, पीठमें अधर्म, पद-विन्यासमें यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया और रोमोंमें समस्त प्रकारकी ओषधियाँ वर्तमान थीं। उनकी नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ, बुद्धिमें ब्रह्मा, देवता एवं ऋषिगण तथा इन्द्रियों एवं समग्र शरीरमें चराचर समस्त प्राणी वीरवर बलि महाराजको दिखायी दिये ॥ २५-२९ ॥

सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
 सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग।
 सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
 धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥ ३० ॥

प्रिय-परीक्षित्! इस समय जब असुरोंने विश्वरूपी सर्वात्मा भगवान्के शरीरमें समस्त ब्रह्माण्ड, हाथमें असह्य तेज उत्पन्न

करनेवाला सुदर्शन चक्र, गरजते हुए मेघके समान भयङ्कर
टङ्कार करनेवाला शार्ङ्ग धनुष देखा, तो वे भय और विषादसे
भर गये ॥३०॥

पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्त-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च ॥ ३१ ॥

उस समय घनघोर मेघोंके गंभीर नादसे युक्त पाञ्चजन्य शङ्ख,
अति वेगवती कौमोदकी गदा, सैकड़ों चन्द्राकृतियोंसे अलङ्कृत ढाल,
विद्याधर नामकी तलवार, अक्षय बाणोंसे भरे दो तरकस और
लोकपालोंके सहित सुनन्द आदि पार्षदगण भगवान् वामनकी सेवाके
लिए तैयार हो गये ॥३१॥

सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डलः-
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥ ३२ ॥
मधुव्रत-स्रग्वनमालया वृतो
रराज राजन् भगवानुरुक्रमः।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥ ३३ ॥

हे राजन्! त्रिविक्रम भगवान्ने उस समय मस्तकपर अत्युज्ज्वल
मुकुट, बाहुओंमें बाजूबन्द, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, वक्षःस्थलपर
श्रीवत्स चिह्न, गलेमें दीप्तिशाली कौस्तुभमणि, कमरमें करधनी,
कन्धेपर पीताम्बर, गुञ्जार करती हुई भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे परिवेष्टित
वनमाला धारण कर रखे थे, जिनसे उनकी अपार शोभा हो
रही थी। उन्होंने एक पग बढ़ाया और महाराज बलिकी सारी
पृथ्वीको, शरीरसे आकाश-प्रदेशको और भुजाओंसे समस्त दिशाओंको
घेर लिया ॥३२-३३॥

पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
 न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि।
 उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
 महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीविश्वरूपदर्शनं नाम विंशोऽध्यायः ॥

इसके बाद दूसरे पगसे स्वर्गको नाप लिया। तीसरा पग रखनेके
 लिए बलिके पास किञ्चित् मात्र भी स्थान नहीं बचा था, क्योंकि
 त्रिविक्रम श्रीहरिका चरण स्वर्गसे क्रमशः ऊपर उठता हुआ महर्लोक,
 जनलोक और तपोलोकसे भी परे सत्यलोक तक पहुँच गया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके बीसवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

महाराज बलिका बाँधा जाना

श्रीशुक उवाच—

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्ब्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान्का श्रीचरण जब सत्यलोकमें पहुँचा, तब भगवान्के पैरोंके नखचन्द्रकी छटासे सत्यलोकका प्रकाश फीका पड़ गया और स्वयं अब्जभव ब्रह्माजीका भी तेज आच्छादित हो गया। वे ब्रह्माजी, मरीचि आदि प्रमुख ऋषि एवं सनन्दन आदि महाव्रत योगी भी वहाँ भगवान्के अभ्युत्थानके (अगवानीके) लिए आ गये ॥१॥

वेदोपवेदा नियमा यमान्विता-
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपित-
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः ।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् ॥ २ ॥
अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-
रुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसम्भवः स्वयम् ॥ ३ ॥

वहाँ आये हुए लोगोंमें—से कुछ यम, नियम, न्यायशास्त्र, इतिहास, शिक्षा, कल्प आदि ग्रन्थ, पुराण, संहिता, वेद, आयुर्वेद

आदि उपवेदके ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति थे, कुछने योगाभ्यासके द्वारा दीप्तज्ञानरूपी अग्निबलसे कर्मफलको दग्ध कर दिया था। यह सत्यलोक कर्मफलके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इन सभी महात्माओंने और अन्यान्य सत्यलोकवासियोंने भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंके स्मरण-बलसे इस धामको प्राप्त किया है। ब्रह्माजीकी कीर्ति बड़ी विमल है, वे भगवान्की नाभिसे उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने ऊपरकी ओर पसारे हुए भगवान्के चरणकमलको अर्घ्य प्रदान किया। सभी सत्यलोकवासी भी उनका अर्चन करके स्तव-स्तुति करने लगे ॥२-३॥

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभूत्रभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ ४ ॥

हे राजन्! ब्रह्माके कमण्डलुका जल उरुक्रम वामनदेवके पादपद्मोंके प्रक्षालनसे अत्यन्त पवित्र होकर गङ्गाजीके रूपमें परिणत हो गया। यह नदी आकाशमें प्रवाहित होकर भगवान् श्रीहरिकी कीर्तिके समान तीनों लोकोंको पवित्र कर रही है ॥४॥

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः।
सानुगा बलिमाजहुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मा आदि सभी लोकपालोंने अपने अनुचरोंके साथ देखा कि उनके प्रभु वामनदेव अपनी विभूतिको समेट करके पहलेके ही समान वामनरूपमें अवस्थित हैं, तब वे सब बड़े आदरके साथ अपने स्वामीको भेंटें समर्पित करने लगे ॥५॥

तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः ॥ ६ ॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ७ ॥

वे लोग उस समय सुगन्धि, अर्घ्य आदि जल, माल्य, दिव्य चन्दन आदि अनुलेपन, धूप, दीप, खील, अक्षत, फल, अङ्कुर, भगवान्की महिमाको सूचित करनेवाले स्तव, जयघोष, नृत्य, वाद्य, गान, शङ्खनाद और भेरीकी ध्वनिके साथ भगवान्का अर्चन करने लगे ॥६-७॥

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः ।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥८॥

उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् भी वहीं आ गये थे। वे मनकी गतिके समान अति शीघ्र दौड़कर भेरी बजाते हुए भगवान्के विजय-महोत्सवकी सभी दिशाओंमें घोषणा कर आये ॥८॥

महीं सर्वा हतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्चया ।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥९॥

असुरोंने देखा कि उनके स्वामी महाराज बलि यज्ञके लिए कृतसङ्कल्प होकर बैठे हैं और उनसे वामनदेवने तीन पग भूमि-दान रूप कपटभरी प्रार्थनासे उनका सब कुछ छीन लिया है, तब वे अत्यन्त क्रोधित हो गये और कहने लगे ॥९॥

न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः ।
द्विजरूपप्रतिच्छत्रो देवकार्यं चिकीर्षति ॥१०॥

दैत्योंने कहा—अरे! यह वामन निश्चय ही ब्राह्मण नहीं है, बल्कि यह मायावियोंमें सर्वश्रेष्ठ विष्णु है। यह ब्राह्मणवेशमें अपने स्वरूपको छिपा करके देवताओंकी भलाई करना चाहता है ॥१०॥

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ।
सर्वस्वं नो हतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥११॥

यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण हमारे स्वामी महाराज बलि अब किसीको भी दण्डित नहीं करेंगे। इसी कारण हमारा यह चिरकालीन शत्रु विष्णु पहले तो बाल ब्रह्मचारीके रूपमें याचक बनकर आया और अब इसने हमारा सब कुछ हरण कर लिया ॥११॥

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः।

नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ॥ १२ ॥

हमारे महाराज तो सर्वदा ही सत्यवादी हैं और इस समय तो वे यज्ञमें विशेषरूपसे दीक्षित हैं। पुनः वे ब्राह्मणोंके बड़े हितैषी हैं और बहुत दयालु हैं। वे कभी झूठ भी नहीं बोल सकते ॥ १२ ॥

तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणञ्च नः।

इत्यायुधानि

जगृहर्बलेरनुचरासुराः ॥ १३ ॥

अतः इस समय तो हमारा यही धर्म है कि हम वामनरूपमें आये इस विष्णुका वध कर डालें। इससे हम अपने राजाकी सेवा भी कर सकेंगे। ऐसा निश्चय करके बलिके अनुचर असुरोंने भगवान्‌के वधके लिये अपने-अपने हथियार उठा लिये ॥ १३ ॥

ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः।

अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवन् जातमन्यवः ॥ १४ ॥

हे राजन्! उस समय असुरोंका क्रोध भड़क उठा। वे शूल और पट्टिश हाथमें लेकर बलि महाराजकी इच्छाके विरुद्ध भगवान्‌ वामनदेवको मारनेके लिये दौड़ पड़े ॥ १४ ॥

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप।

प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः ॥ १५ ॥

महाराज! इधर भगवान्‌ विष्णुके सहयोगियोने देखा कि दैत्य सेना वध करनेके लिए तत्पर है तो वे हँस पड़े। उन्होंने भी अपने-अपने अस्त्र उठाये और उन्हें रोकनेका प्रयत्न करने लगे ॥ १५ ॥

नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः।

कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट् ॥ १६ ॥

जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।

सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूस्ते जघ्नुरासुरीः ॥ १७ ॥

नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत—ये सभी

दस-दस हजार हाथियोंके समान बलशाली थे। इन सभी भगवान्‌के पार्षदोंने असुर सैनिकोंका संहार करना प्रारम्भ कर दिया ॥१६-१७॥

हन्यमानान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः।

वारयामास संरब्धान् काव्यशापमनुस्मरन् ॥१८॥

जब महाराज बलिने देखा कि भगवान् विष्णुके अनुचर हमारे असुरोंको मार रहे हैं, तब उन्हें शुक्राचार्यके शापका स्मरण हो आया। उन्होंने असुरोंको युद्ध करनेसे रोक दिया। वे कहने लगे— ॥१८॥

हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः।

मा युध्यत निवर्त्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत् ॥१९॥

हे विप्रचित्ते! हे राहु! हे नेमि! देखो, तुम सब मेरी बात सुनो। युद्ध मत करो। तुरन्त रुक जाओ। यह समय हमारे लिए शुभदायी नहीं है ॥१९॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।

तं नातिवर्त्तितुं देत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥२०॥

दैत्यो! जो समस्त प्राणियोंको सुख-दुःख देनेमें समर्थ है, उस कालका कोई भी पुरुष अपने प्रयासोंसे दमन नहीं कर सकता ॥२०॥

यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।

स एव भगवानद्य वर्त्तते तद्विपर्ययम् ॥२१॥

जो कालरूप भगवान् इससे पहले हमारे पक्षमें थे तब वे हमारे लिये अनुकूल और शुभदायक थे और देवताओंके लिए प्रतिकूल एवं अशुभदायक थे। आज वे ही भगवान् हमारे विपरीत हो गये हैं ॥२१॥

बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गेर्मन्त्रौषधादिभिः।

सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥२२॥

कोई भी जीव बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, ओषधि और साम आदि अथवा अन्य किसी उपायसे कालरूप भगवान्‌पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ॥२२॥

भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।

दैवेनद्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥२३॥

इससे पहले जब दैव तुम्हारे साथ था, तब तुमने उसके बलपर कितनी ही बार विष्णुके अनुचरोंको युद्धमें परास्त किया था, दैवके विपरीत होनेपर वे ही आज युद्धमें हमें पराजित करके सिंहनाद कर रहे हैं॥२३॥

एतान् वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।

तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥२४॥

जब विधाता हमारे अनुकूल हो जाएगा, तब हम इन्हें पराजित करेंगे। अतः जब काल हमारी कार्य-सिद्धिके लिए उपयुक्त हो, उस समयकी प्रतीक्षा करो॥२४॥

श्रीशुक उवाच—

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः।

रसां निर्विविशू राजन् विष्णुपार्षदताडिताः॥२५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! भगवान् विष्णुके पार्षदोंसे पराजित होकर और महाराज बलिकी आज्ञा प्राप्त करके दैत्य-दानव-सैनिक और उनके यूथपति रसातलकी ओर चले गये॥२५॥

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम्।

बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सूत्येऽहनि क्रतौ॥२६॥

इसके बाद यज्ञके अन्तिम समय जब सोमपान होनेवाला था, तब पक्षीराज गरुडने अपने स्वामीकी अभिलाषा जानकर राजा बलिको वरुणपाशसे बन्दी बना लिया॥२६॥

हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतो दिशम्।

निगृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना॥२७॥

सर्वोत्तम प्रभावशाली भगवान् विष्णुने इस प्रकार जब महाराज बलिको बँधवा दिया, तब स्वर्ग और पृथ्वीकी समस्त दिशाओंसे हाहाकारकी महाध्वनि उठी॥२७॥

तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः।

नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप॥२८॥

हे राजन्! बलि महाराज वरुणपाशोंसे बँधे हुए थे, उनका समस्त ऐश्वर्य छीन लिया गया था, परन्तु उनकी बुद्धिमें स्थिरता थी, चित्तमें क्षोभ न था। सभी लोग उनकी उदार कीर्तिका यशोगान कर रहे थे। इसी बीच भगवान् वामनदेवने राजा बलिसे कहा—॥२८॥

पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर।

द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय॥२९॥

हे दैत्यराज! तुमने मुझे तीन पग भूमि देनेका वचन दिया था। मैंने दो पगमें ही सारी त्रिलोकी नाप ली। अब मुझे वह स्थान बतलाओ, जहाँ मैं तीसरा पग रख सकूँ॥२९॥

यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः।

यावद्वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव॥३०॥

जिस स्थान तक सूर्यकी किरणें ताप प्रदान करती हैं, जहाँ तक नक्षत्र और चन्द्रमा अपनी कान्ति बिखेरते हैं और जहाँ तक बादल बरसते हैं, वहाँ तककी समस्त पृथ्वी तुम्हारे अधिकारमें थी॥३०॥

पदैकेन मयाक्रान्तो भूलोकः खं दिशस्तनोः।

स्वलोकस्तु द्विजीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना॥३१॥

इसमें-से मैंने अपने एक पगके द्वारा समस्त भूलोक एवं शरीर द्वारा आकाश और दिशाएँ तथा तुम्हारे देखते-देखते दूसरे पगसे तुम्हारे स्वर्गलोकको माप लिया है॥३१॥

प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते।

विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः॥३२॥

तुम प्रतिज्ञा करके भी दान पूरा करनेमें असमर्थ हो, अतः शास्त्रोंकी सम्मतिसे तुम्हें पातालमें वास करना होगा। गुरु शुक्राचार्यने भी इसीका अनुमोदन किया है। अब तुम नरकमें प्रवेश करो ॥३२॥

वृथा मनोरथस्तस्य दूरः स्वर्गः पतत्यधः।

प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्बते ॥ ३३ ॥

जो प्रतिज्ञाबद्ध होकर भी याचकको अभीष्ट वस्तु प्रदान न करके उसकी वञ्चना करता है, उसके सम्पूर्ण मनोरथ व्यर्थ हो जाते हैं। स्वर्गकी बात तो बहुत दूर रहे, उसे अधोलोकोंमें जाना पड़ता है ॥३३॥

विप्रलम्बो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना।

तद्व्यलीकफलं भुङ्क्व निरयं कतिचित् समाः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिनिग्रहो नाम एकविंशोऽध्यायः ॥

तुम्हें बड़ा अभिमान था कि मैं अतिशय धनवान् हूँ और उस मदसे मतवाले होकर तुमने 'मैं दूँगा' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर ली थी और अब मुझे धोखा दे दिया। अपने इन मिथ्या वचनोंका कुछ वर्षोंतक फल भोगो—नरकमें वास करो ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके इक्कीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

महाराज बलिके द्वारा भगवान्की स्तुति और
भगवान्का उनपर प्रसन्न होना

श्रीशुक उवाच—

एवं विप्रकृतो राजन् बलिर्भगवतासुरः।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविकलवं वचः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! लौकिक दृष्टिसे भगवान् वामनदेवने राजा बलिका इस प्रकार तिरस्कार ही किया और उन्हें सत्यसे विचलित करना चाहा, तथापि बलि महाराज तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे अडिग भावसे कहने लगे— ॥१॥

श्रीबलिरुवाच—

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥

दैत्यराज बलिने कहा—हे उत्तमश्लोक! यदि आप मेरी प्रतिज्ञाको असत्य मानते हैं, तो मैं अपने वचनोंकी सत्यता स्थापित करूँगा। मेरे वचन झूठे नहीं हो सकते। हे देवताओं द्वारा वन्दनीय पुरुषश्रेष्ठ! आप अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिए ॥२॥

बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादादद्भुशमुद्विजे यथा ॥ ३ ॥

मुझे नरकमें जानेका अथवा राज्यसे च्युत (भ्रष्ट) होनेका भय नहीं है, मैं पाशमें बँधने अथवा अपार दुःखमें पड़नेसे भी

नहीं डरता, मेरे पास फूटी कौड़ी भी न रहे अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें, अर्थाभावजनित-कष्ट मेरे भयका कारण नहीं है। मैं डरता हूँ तो केवल अपनी अपकीर्तिसे॥३॥

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।

यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि॥४॥

परम हितैषी अपने पूजनीयजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड हम जैसे जीवोंके लिये अतिशय आदरणीय एवं महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि माता, पिता, भाई और सुहृद्जन मोहके कारण सम्यक् दण्ड नहीं दे पाते॥४॥

त्वं नूनमसुराणां नः परोक्षः परमो गुरुः।

यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्॥५॥

आप निश्चय ही हम असुरोंके परम हितकारी हैं अर्थात् शत्रुरूपमें भी आप परोक्ष भावसे हमारा कल्याण करते हैं। जब हमलोग शौर्य-वीर्य इत्यादिके मदमें अन्धे हो जानेके कारण अपना श्रेय-पथ नहीं जान पाते, तब हमारी मत्तताका विनाश करनेके लिए आप हमें दिव्य-दृष्टि प्रदान करते हैं॥५॥

यस्मिन् वैरानुबन्धेन व्यूढेन विबुधेतराः।

बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः॥६॥

तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा।

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे॥७॥

अनन्य भावसे योग करनेवाले योगियोंको जो सिद्धि प्राप्त होती है, वही सिद्धि आपमें दृढ़ एवं अविच्छिन्न शत्रु भावके कारण बहुत-से असुरोंको मिल गयी। आप एक ही कार्यसे बहुत प्रयोजनोंको पूर्ण कर देते हैं। इसीलिए आप मुझे बहुत प्रकारसे दण्डित कर रहे हैं। आपने मुझे वरुण-पाशसे बाँधा है, परन्तु इसके लिए मुझे न तो किसी लज्जाका अनुभव हो रहा है और न ही व्यथाका॥६-७॥

पितामहो मे भवदीयसम्मतः
 प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ।
 भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
 सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥

मेरे पितामह प्रह्लाद आपके भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी कीर्ति सारे जगत्में विख्यात है। उनके पिता हिरण्यकशिपुने आपसे वैरभाव होनेके कारण उन्हें बहुत यन्त्रणाएँ दीं, तब भी उन्होंने आपके चरणोंका आश्रय नहीं छोड़ा और आपमें ही सदैव निरत रहे ॥ ८ ॥

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः ।
 किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ।
 किं जायया संसृतिहेतुभूतया
 मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥

जो शरीर आयुकालका अन्त होनेपर स्वयं ही जीवको छोड़ देता है, मनुष्योंका ऐसे शरीरसे क्या प्रयोजन? जो धन आपकी सेवाके निमित्त है, उस धनका अपहरण करनेवाले नाम मात्रके स्वजनरूप डाकुओंसे भला क्या लाभ? पत्नीसे भी क्या स्वार्थ सिद्ध हो सकता है, जो जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करानेवाली है? जिस घरमें आयु क्षीण होती जाती है, उस घरकी भी क्या आवश्यकता है? ॥ ९ ॥

इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
 नगाधबोधो भवतः पादपद्मम् ।
 ध्रुवं प्रपदे ह्यकुतोभयं जनाद्-
 भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तम ॥ १० ॥

हे सज्जनश्रेष्ठ! यह निश्चय करके असीम ज्ञानसम्पन्न परमपूजनीय मेरे पितामह प्रह्लादजी सदैव संसारी लोगोंके सङ्गसे भयभीत रहते थे। वे जानते थे कि आप दैत्योंका संहार करनेवाले हैं, तो भी उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ आपके अभय चरणारविन्दोंकी जीवनभर शरण ले रखी थी ॥ १० ॥

अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
 दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः।
 इदं कृतान्तान्तिकवर्त्ति जीवितं
 ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते ॥ ११ ॥

जिस सम्पत्तिके कारण जीवकी जड़बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसे यह पता नहीं चलता कि इस अनित्य देहकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, विधाताने बलपूर्वक मुझे उसी सम्पत्तिसे विलग करके आपके पास पहुँचा दिया है। कहनेको आप मेरे शत्रु हैं ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच—

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः।
 आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुवर! महाराज बलि भगवान्से इस प्रकार कह ही रहे थे कि उसी समय भगवान्के परमप्रिय प्रह्लाद महाराजका वहाँ इस प्रकार पधारना हुआ, मानो पूर्णचन्द्रका उदय हुआ हो ॥ १२ ॥

तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
 विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।
 प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
 प्रलम्बबाहुं शुभगर्षभमैक्षत ॥ १३ ॥

महाराज बलिने समस्त लोकोंके प्रिय परम सौभाग्यशाली अपने पितामहको देखा। उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। सुन्दर ऊँचा शरीर था, लम्बी भुजाएँ थी, अञ्जनके समान श्यामल कान्ति थी, जिसपर उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा था। कमलके समान नेत्र थे ॥ १३ ॥

तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
 समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्।
 ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः।
 सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह ॥ १४ ॥

बलि वरुणपाशमें बँधे हुए थे। अतः वे पहलेके समान अपने पितामह प्रह्लाद महाराजका भलीभाँति सम्मान न कर पाये। उनकी आँखोंमें अश्रु छलक आये और लज्जाके कारण मुँह नीचा हो गया। उन्होंने केवल सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥१४॥

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं
हरिं सुनन्द नन्दाद्यनुगैरुपासितम्।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना
ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविकलवः ॥ १५ ॥

महामति प्रह्लादने देखा कि भगवान् विष्णु वहाँ विराजमान हैं और सुनन्द, नन्द आदि अनुचर उनकी आराधना कर रहे हैं। यह देखते ही उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और आँखोंमें आँसू भर आये। वे आनन्दातिरेकसे विह्वल हो गये और सिर झुकाये हुए अपने स्वामीके पास पहुँचे। उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया ॥१५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ॥ १६ ॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! आपने इस बलिको महैश्वर्यपूर्ण इन्द्रपद प्रदान किया था और अब आपने इसे छीन लिया। हे प्रभो! जैसा आपका देना सुन्दर, वैसा आपका लेना भी सुन्दर। यह ऐश्वर्य-श्री आत्माको मोहमें डालनेवाली है। आपने इससे बलिको अलग करके उसपर महान् अनुग्रह किया है—मैं तो यही समझता हूँ ॥१६॥

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।

तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥ १७ ॥

लक्ष्मीकी प्राप्तिसे विद्वान् और संयमी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इस सम्पत्तिके पास रहनेपर भला कौन यथार्थ तत्त्वको जाननेमें समर्थ हो सकता है? अतः सबके हृदयमें साक्षीरूपसे रहनेवाले हे जगदीश्वर भगवान् नारायणदेव! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

तस्यानुशृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः।
हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम्॥ १८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उस समय प्रह्लादजी हाथ जोड़कर वहीं खड़े थे। उन्हें सुनाते हुए ब्रह्माजीने भगवान्से कुछ कहना चाहा॥१८॥

बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला।
प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप॥ १९ ॥

राजन्! इतनेमें ही बलि महाराजकी परम साध्वी पत्नी भी वहाँ आ गयी। वह अपने पतिको वरुणपाशमें बँधा हुआ देखकर घबरा गयी। उसने भगवान् वामनदेवके समक्ष हाथ जोड़े और उन्हें प्रणाम किया। वह अपना सिर झुकाकर श्रीहरिसे इस प्रकार कहने लगी॥१९॥

श्रीविन्ध्यावलिरुवाच—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तहियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥ २० ॥

विन्ध्यावलीने कहा—हे सर्वेश्वर! आपने अपनी क्रीड़ाके लिए ही इस जगत्की सृष्टि की है। कुबुद्धि मनुष्य ही अपनेको इसका

स्वामी मानते हैं। दूसरेकी वस्तुमें निर्लज्ज लोग स्वयंको 'मैं दाता हूँ,' 'मैं भोक्ता हूँ'—इस प्रकार अभिमान कर लेते हैं। आप ही तीनों जगत्के स्रष्टा, पालक एवं संहारकर्त्ता हैं, तब ये लोग भला आपको क्या समर्पण कर सकते हैं? ॥२०॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय।

मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—हे भूतभावन! आप समस्त जीवोंके स्वामी हैं। हे देवाधिदेव! हे जगत्स्वरूप! आपने बलि महाराजका सर्वस्व हरण कर लिया है। अब आप इसे मुक्त कर दीजिये। यह दण्डका पात्र नहीं है ॥२१॥

कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूलोकाः कर्मार्जिताश्च ये।

निवेदितञ्च सर्वस्वमात्माविकलवया धिया ॥ २२ ॥

बलिने आपको अपनी सारी भूमि, पुण्यकर्मोंसे उपार्जित सम्पूर्ण लोक, अपनी आत्मा तथा सर्वस्व ही आपको अविचलित भावसे समर्पण कर दिया है ॥२२॥

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय

दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सर्ती सपर्याम्।

अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं

दाश्वानविकलवमनाः कथमार्त्तिमृच्छेत् ॥ २३ ॥

जो निष्कपट व्यक्ति आपके चरणोंमें जल मात्रसे अर्घ्य चढ़ाता है अथवा केवल दुर्वाङ्कुर द्वारा आपकी पूजा करता है, उसे भी उत्तम गति प्राप्त होती है। इस बलिने तो आपके श्रीचरणोंमें बड़े धैर्यके साथ तीनों भुवनोंका दान कर दिया है। यह बन्दी होनेके कष्टका भागी किस प्रकार हो सकता है? ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।

यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं माञ्चावमन्यते ॥ २४ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्माजी! पुरुष अर्थके कारण मतवाला एवं जड़बुद्धि होकर तीनों लोकोंमें किसीका सम्मान नहीं करता और यहाँ तक कि मेरी भी अवहेलना करने लगता है। तब मैं उसपर अनुग्रह करनेके लिए उसके इस अर्थको ही छीन लेता हूँ ॥२४॥

यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभिः।

नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषी गतिमाव्रजेत् ॥ २५ ॥

यह जीवात्मा परंतत्र है और अपने कर्मफलके कारण नाना योनियोंमें भटकता है। तब कहीं जाकर भाग्यवश कदाचित् उसे मेरी कृपासे मनुष्य जन्म प्राप्त होता है ॥२५॥

जन्मकर्मवयोरूप-विद्यैश्वर्यधनादिभिः।

यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥ २६ ॥

मनुष्य जन्ममें यदि किसी व्यक्तिको उत्तम जन्म, कर्म, वयस, रूप, विद्या, ऐश्वर्य अथवा धन प्राप्त करके गर्व न हो तो जानना चाहिए कि उसपर मेरा अनुग्रह है ॥२६॥

मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः।

सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥ २७ ॥

(तब मैंने जो ध्रुव आदि ऐकान्तिक भक्तोंको सम्पत्ति प्रदान की है) तो इसका कारण यह है कि उच्च कुलमें जन्म, विद्या एवं ऐश्वर्य आदि अभिमान और अविनम्रताके मूल कारण हैं तथा सर्वतोभावसे मङ्गलके विरोधी हैं, परन्तु जो मेरा भक्त है, वह इन्हें प्राप्त करके विचलित नहीं होता ॥२७॥

एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्द्धनः।

अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥ २८ ॥

राजा बलि दानव और दैत्योंमें अग्रगण्य और परम यशस्वी है। उसने दुर्जय मायाको जीत लिया है। यद्यपि यह समस्त ऐश्वर्योंसे वञ्चित हो गया है, तथापि इसने श्रेय-पथ—‘आपके चरणोंमें भक्ति’ को छोड़ा नहीं है। यह इतना दुःख प्राप्त करके भी मोहित नहीं हुआ है ॥२८॥

क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥ २९ ॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥ ३० ॥

यह धनसे हीन हो गया, इसका राज्यपद छिन गया, शत्रुओंने इसका तिरस्कार किया और इसे बाँध लिया, भाई-बन्धुओंने साथ छोड़ दिया, बँधनेकी पीड़ा झेल रहा है, गुरुने इसका तिरस्कार किया और इसे अभिशाप दे दिया, परन्तु इस सुव्रतीने सत्यका परित्याग नहीं किया। मैंने बड़े छलके साथ इसे धर्मका उपदेश दिया, किन्तु यह सत्यप्रतिज्ञ बलि अपने धर्मसे विचलित नहीं हुआ ॥२९-३०॥

एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥ ३१ ॥

अतः मैंने इस बलिको वह पद प्रदान किया है जो देवताओंके लिए भी दुर्लभ है। मेरे आश्रित यह भक्त बलि सावर्णि मनुके कालमें स्वर्गका राजा इन्द्र होगा ॥३१॥

तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम्।
यदाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः।
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया ॥ ३२ ॥

इन्द्र-पद प्राप्त हो, इसके पहले यह विश्वकर्मा द्वारा निर्मित सुतल नामक लोकमें रहे। इस लोकका पर्यवेक्षण मैं करता हूँ। अतः वहाँ शारीरिक रोग, मानसिक तनाव, कुण्ठा, थकान, तन्द्रा और पराजय आदिका अनुभव नहीं होता ॥३२॥

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।

सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्य ज्ञातिभिः परिवारितः ॥ ३३ ॥

(बलिको सम्बोधित करते हुए—) हे महाराज इन्द्रसेन! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भाई-बन्धुओंके साथ सुतल लोकमें जाओ, जिसकी कामना देवता भी करते हैं ॥ ३३ ॥

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे।

त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥ ३४ ॥

वहाँ बड़े-बड़े लोकपाल भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकेंगे, दूसरोंकी तो बात ही क्या है? जो दैत्य तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करेगा, मेरा सुदर्शन चक्र उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा ॥ ३४ ॥

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।

सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥ ३५ ॥

हे वीर! मैं तुम्हारे अनुचरों और भोगसामग्रीकी समस्त प्रकारसे रक्षा करूँगा। मुझे भी तुम वहाँ सदैव अपने समीप ही देखोगे ॥ ३५ ॥

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः।

दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां

वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिमोक्षणं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥

वहाँ दानव और दैत्योंके सङ्गके प्रभावसे जो तुम्हारा आसुरी भाव होगा, वह मेरे प्रभावसे शीघ्र ही विनष्ट हो जाएगा। इसे निश्चित ही जानना ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके बाईसवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

महाराज बलिका बन्धनसे छूटकर सुतल लोकको जाना

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युत्कलो गद्गदया गिराब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब सनातन पुरुष भगवान्ने इस प्रकार कहा, तब समस्त सत्पुरुषोंके आदरणीय, महामति बलिकी आँखोंमें आँसू छलक आये। वे भक्ति-भावके कारण विह्वल चित्तसे गद्गद् वाणीमें हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे ॥१॥

श्रीबलिरुवाच—

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

बलि महाराजने कहा—अहो! आपके किये गये प्रणामकी महिमा भी कैसी आश्चर्यमयी है। अभक्त यदि प्रणाम मात्रका प्रयास भी करते हैं, तो उन्हें शरणागत भक्तोंका प्रयोजन—प्रेमसिद्धि प्राप्त हो जाती हैं। मैंने इसी प्रकारका उद्यम मात्र किया था और मुझ-जैसे असुरपर आपका पूर्ण अनुग्रह प्रदर्शित हुआ। ऐसा अनुग्रह तो बड़े-बड़े लोकपाल और देवताओंको नहीं होता ॥२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्त्वा हरिमानत्य ब्रह्माणं सभवं ततः।

विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः॥३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ऐसा कहते-कहते वे वरुण पाशसे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् बलि महाराजने सबसे पहले भगवान् श्रीहरिको और उसके बाद ब्रह्माजी एवं शङ्करजीको प्रणाम किया तथा प्रसन्न होकर अनुचरोंके साथ सुतललोकमें प्रवेश किया॥३॥

एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम्।

पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत्॥४॥

इस प्रकार भगवान् वामनने इन्द्रको पुनः स्वर्गका राज्य प्रदान कर दिया, देवमाता अदितिकी कामना पूर्ण की और उपेन्द्र बनकर समस्त जगत्पर शासन करने लगे॥४॥

लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम्।

निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत्॥५॥

जब भक्तप्रवर प्रह्लाद महाराजने देखा कि उनका वंशधर बलि बन्धनसे मुक्त हो गया है और उसे भगवान्का कृपाप्रसाद प्राप्त हो गया है, तब वे पूर्ण भक्ति-भावमें विभोर होकर भगवान्की इस प्रकार स्तुति करने लगे॥५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच—

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं

न श्रीर्न शर्वः किमुतापरेऽन्ये।

यत्रोऽसुराणामसि दुर्गपालो

विश्वाभिवन्द्यैरभिवन्दिताङ्घ्रिः॥६॥

प्रह्लाद महाराजने कहा—हे भगवन्! आप जगत्-वन्दनीय हैं। ब्रह्मा, शिव आदि भी सदैव आपके चरणोंका अर्चन करते रहते हैं। आप हम जैसे असुरोंकी रक्षा करनेके लिए हमारे दुर्गरक्षक

हुए हैं। ऐसी कृपा तो ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी अथवा शङ्करजीको भी प्राप्त नहीं हुई है। अन्य देवताओंकी बात तो बहुत दूर है॥६॥

यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन

ब्रह्मादयः शरणदाशनुवते विभूतीः।

कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते

दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः॥७॥

हे शरणदायक प्रभो। ब्रह्मा आदि देवता आपके चरणकमलोंके मकरन्दका सेवन करके विविध ऐश्वर्योंका भोग करते हैं किन्तु हम तो खल जातिमें उत्पन्न दुश्चरित्र असुर हैं। हमपर किस प्रकारसे आपकी कृपादृष्टि प्राप्त हो गयी। यह तो आपकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव हो सका है॥७॥

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-

लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।

सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो

भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥८॥

हे भगवन्! आपकी लीला बड़ी आश्चर्यजनक है। आपकी अचिन्त्य स्वरूपशक्तिकी छायारूपिणी माया शक्तिके द्वारा इस जगत्की सृष्टि हुई है। आप सर्वज्ञ, समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप और समदर्शी हैं। समदर्शी स्वभाव होनेपर भी आपका भक्तोंके प्रति अत्यन्त वात्सल्य रहता है, परन्तु यह आपका दोष नहीं है, क्योंकि आपका स्वभाव कल्पवृक्षके समान है। कल्पवृक्ष जिस प्रकार आश्रितजनोंकी ही कामनाएँ पूर्ण करता है, अनाश्रितकी नहीं, आप भी इसी प्रकार समदर्शी होनेपर भी अपने शरणागत भक्तोंकी ही कामना पूर्ण करते हैं॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम्।

मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह॥९॥

श्रीभगवान्ने कहा—वत्स प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम भी सुतल लोकमें जाओ। वहाँ पौत्र बलिके साथ आनन्दपूर्वक रहकर बन्धु-बान्धवोंको भी प्रसन्न करो॥९॥

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।

मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः

॥ १० ॥

मेरे दर्शनसे दिव्य आनन्द प्राप्त करके तुम्हारे सारे कर्मबन्धन नष्ट हो गये हैं। उस सुतल लोकमें भी तुम मुझे नित्य ही गदा हाथमें लिये देख सकोगे॥१०॥

श्रीशुक उवाच—

आज्ञां भगवतो राजन् प्रह्लादो बलिना सह।

बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्धन्याधाय कृताञ्जलिः ॥ ११ ॥

परिक्रम्यादिपुरुषं

सर्वासुरचमूपतिः।

प्रणतस्तदनुज्ञातः

प्रविवेश

महाबिलम् ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! समस्त दैत्योंके अधिपति विशुद्ध बुद्धि प्रह्लादजीने हाथ जोड़कर 'ऐसा ही हो' यह कहकर भगवान्की आज्ञाको मस्तकपर धारण किया और बलि महाराजके साथ आदिपुरुष भगवान्की प्रदक्षिणा की। तत्पश्चात् उन्हें प्रणाम करके और उनकी अनुमति प्राप्त करके सुतल लोकमें चले गये॥११-१२॥

अथाहोशनसं राजन् हरिनारायणोऽन्तिके।

आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥ १३ ॥

परीक्षित्! उसके बाद भगवान् नारायणने समीपमें बैठे हुए वेदज्ञ ऋत्विजों अर्थात् ब्रह्म, होता, उद्गाता और अध्वर्यु आदिकी सभामें विराजित शुक्राचार्यसे कहा॥१३॥

ब्रह्मन् सन्तनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः।

यत्तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥ १४ ॥

हे ब्राह्मणवर! आपके शिष्य बलिके यज्ञकर्ममें जो दोष अथवा कमी रह गयी है, उसे पूर्ण कर दीजिए। ब्राह्मणोंकी कृपा-दृष्टिसे

कर्मोंकी त्रुटि नहीं रहती, बल्कि वह सुधर जाती है। ब्राह्मणोंकी दृष्टिमें यदि सम्पूर्णता होती है और वे यदि स्वयं ही उसका अनुष्ठान करते हों, तो फिर कहना ही क्या? ॥१४॥

श्रीशुक उवाच—

कुतस्तत् कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान्।

यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥ १५ ॥

शुक्राचार्यने कहा—आप समस्त कर्मोंके प्रवर्तक, यज्ञफल प्रदाता एवं यज्ञमय पुरुष हैं। जिसने आपकी ही सर्वतोभावसे पूजा की हो, उसके कर्ममें त्रुटि किस प्रकार रह सकती है? ॥१५॥

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।

सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसंकीर्तनं तव ॥ १६ ॥

स्वर-भ्रंश जनित, मन्त्रगत, क्रम विपर्ययगत, तन्त्रगत, देश, काल एवं पात्रगत, यज्ञानुष्ठानमें तो भूलें होती हैं, आपके नाम-संकीर्तनसे वे सब दोष-मुक्त हो जाती हैं। आपके नामोच्चारणसे वह अनुष्ठान पूर्ण ही माना जाता है ॥१६॥

तथापि वदतो भूमन् करध्याम्यनुशासनम्।

एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञानुपालनम् ॥ १७ ॥

तथापि हे विभो! मैं आपके आदेशका पालन करूँगा। मनुष्योंका यथार्थ कल्याण उसीमें है कि वे आपकी आज्ञाका पालन करें ॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

प्रतिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति।

यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥ १८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—सामर्थ्यवान् शुक्राचार्यने इस प्रकार बड़े सम्मानके साथ भगवान् श्रीहरिका आदेश ग्रहण किया और ब्रह्मज्ञ ऋषियोंके साथ राजा बलिके यज्ञकी त्रुटियोंको पूर्ण किया ॥१८॥

एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर्हृतम् ॥ १९ ॥

राजन्! इस प्रकार भगवान् वामनने बलिसे भिक्षारूपमें पृथ्वीको माँगकर अपने भाई इन्द्रको स्वर्गका राज्य प्रदान कर दिया, जिसे उनके शत्रुओंने छीन लिया था ॥ १९ ॥

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥ २० ॥
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च।
लोकानां लोकपालानामकरोद्दामनं पतिम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् दक्षादि प्रजापतियोंके अधिपति ब्रह्माने देवता, ऋषि, पितर, मनु, मुनि, दक्ष, भृगु, अङ्गिरा, कार्तिक एवं शङ्करके साथ मिलकर कश्यप एवं अदितिकी प्रसन्नताके लिए सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिए भगवान् वामनको लोकपाल और समस्त लोकोंके पालकरूपमें वरण कर लिया ॥ २०-२१ ॥

वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः।
मङ्गलानां व्रतानाञ्च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥ २२ ॥
उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप ॥ २३ ॥

हे राजन्! यद्यपि इन्द्र ही लोक एवं लोकपाल आदिके ईश्वर हैं, तथापि ब्रह्मा आदि देवतागणोंने वेद, धर्म, यश, श्री, मङ्गल, व्रत, स्वर्ग एवं अपवर्गके पालनमें निपुण भगवान् उपेन्द्रको सर्वैश्वर्ययुक्त मानकर सर्वसम्मतिसे सबके रक्षकके रूपमें स्वीकार कर लिया। इस निर्णयसे समस्त प्राणियोंको बहुत आनन्द हुआ ॥ २२-२३ ॥

ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम्।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥ २४ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीकी आज्ञासे लोकपालोंके साथ इन्द्रने भगवान् वामनदेवको आगे किया और उन्हें विमानमें बिठाकर आकाशमार्गसे स्वर्ग ले गये॥२४॥

प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः।

श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः॥ २५ ॥

इन्द्रको उपेन्द्र-देवके भुजबलका संरक्षण मिल गया और त्रिभुवनका आधिपत्य भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार परम सम्पत्तिशाली होकर वे निर्भय हो गये और परम आनन्दसे रहने लगे॥२५॥

ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप।

पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये॥ २६ ॥

सुमहत् कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम्।

धिष्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिञ्च शशंसिरे॥ २७ ॥

प्रिय परीक्षित्! ब्रह्मा, महादेव, कार्तिकेय, भृगु आदि मुनि, पितर, समस्त भूत, सिद्ध पुरुष और अन्यान्य जो भी विमानचारी वहाँ उपस्थित थे, वे सब बलिकी यज्ञशालामें हुए भगवान्‌के इस परम अद्भुत एवं महान् कर्मका गान करते हुए अपने-अपने धामकी ओर चले गये। उन सबने भगवती अदितिकी बहुत-बहुत प्रशंसा की॥२६-२७॥

सर्वमेतन्मयाख्यातं भवतः कुलनन्दन।

उरुक्रमस्य चरितं श्रोतृणामघमोचनम्॥ २८ ॥

हे कुलनन्दन! मैंने भगवान् त्रिविक्रमका यह अद्भुत चरित तुम्हें सुनाया। इसके सुननेवालोंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥२८॥

पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो

यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः।

किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य

इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य॥ २९ ॥

अद्भुतकर्मा भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं, उनकी महिमा अथाह है। जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वीके परमाणुओंकी गणना नहीं कर सकता, उसी प्रकार भगवान् विष्णुकी महिमाका पार नहीं पाया जा सकता। मन्त्रद्रष्टा महर्षि वशिष्ठने वेदोंमें कहा है कि जिसने जन्म ग्रहण किया है अथवा जो भविष्यमें उत्पन्न होंगे, कोई भी भगवान्के गुणोंका पार पानेमें समर्थ नहीं हो सकता॥२९॥

य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।

अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम्॥३०॥

जो व्यक्ति अद्भुत लीलाधारी देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिके इस वामन-अवतार-चरित्रको सुनता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है॥३०॥

क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे।

यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीबलिवामनचरितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

देवता, पितर और मनुष्योंकी प्रसन्नताके लिए जहाँ-जहाँ पूजा, श्राद्ध अथवा दान आदि कर्मोंका अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ उस समय यदि भगवान् उरुक्रमके चरितका गान किया जाय, तो अनुष्ठानकारीके वे कर्म निर्दोषरूपसे सफल हो जाते हैं। बड़े-बड़े शास्त्रज्ञोंका यही अनुभव है॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके तेईसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान्‌के मत्स्यावतारकी कथा

श्रीराजोवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनाम् ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! अद्भुत चरितवाले श्रीहरिने स्वयं अमायिक होकर भी मायिक मत्स्यके समान लीलाका अभिनय किया था। मैं उनके उसी आदि (स्वांश दशावतारोंमें प्रथम) अवतारके विषयमें सुनना चाहता हूँ ॥१॥

यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम्।
तमःप्रकृति दुर्मर्ष कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥ २ ॥
एतन्नो भगवन् सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि।
उत्तमःश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥ ३ ॥

भगवान्‌ने स्वयं जगत्‌के नियन्ता होकर भी कर्मफलके अधीन जीवके समान मत्स्यरूप क्यों धारण किया? मत्स्य-योनि तो लोक-निन्दित, तामसी स्वभाव और असह्य परतन्त्रतासे युक्त है। उत्तमश्लोक भगवान्‌का चरित समस्त लोगोंको आनन्द देनेवाला है। आप यथोचितरूपसे उनका मंगलमय चरित हमें सुनाइए ॥२-३॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरायणिः।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत् कृतम् ॥ ४ ॥

श्रीसूतने कहा—शौनक आदि ऋषियो! जब महाराज परीक्षित्ने इस प्रकार पूछा, तब भगवान्‌ शुकदेवने श्रीहरिके मत्स्यावतारकी लीलाओंका वर्णन करना आरम्भ किया ॥४॥

श्रीशुक उवाच—

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् परम स्वतन्त्र होकर भी गाय, ब्राह्मण, देवता, साधुपुरुष, वेद, धर्म और अर्थकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे समय-समयपर अवतार धारण करते हैं ॥५॥

उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्विद्यो गुणैः ॥६॥

भगवान् प्राकृत गुणोंसे रहित एवं सबके नियन्ता हैं। वे देवता, मनुष्य, तिर्यकादि ऊँचे-नीचे प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपमें विराजमान रहते हैं, किन्तु वे स्वयं उन-उन साधारण प्राणियोंके बुद्धिगत गुणोंसे छोटे-बड़े या ऊँचे-नीचे नहीं हो जाते। भगवान् निर्गुण हैं (अप्राकृत रस-विचारसे उनमें उत्कर्षताका तारतम्य है, जो जड़-विचारके अन्तर्गत नहीं आता।) ॥६॥

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥७॥

राजन्! पिछले कल्पके अन्तमें अर्थात् ब्रह्माका दिन समाप्त होनेपर उनकी निद्राके समय नैमित्तिक प्रलय हुआ था। उस समय भूलोक आदि समस्त लोक समुद्रमें डूब गये थे ॥७॥

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥८॥

ब्रह्माजीका दिन समाप्त हो गया था। अतः उन्हें नींद आने लगी थी। शयन करतेही उनके मुखसे वेद निकल पड़े। हयग्रीव नामक दैत्य वहीं पासमें ही रहता था। उसने उन वेदोंको चुरा लिया ॥८॥

ज्ञात्वा तद्दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥९॥

जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिने दानवराज हयग्रीवकी यह चेष्टा जान ली। इसीलिए उन्होंने शफरी मत्स्यका रूप धारण किया ॥९॥

तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान्।

नारायणपरोऽतपत् तपः स सलिलासनः ॥ १० ॥

परीक्षित्! उस कल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें सत्यव्रत नामक कोई एक महान् राजर्षि थे, जो नारायण-परायण थे। वे मात्र जल पीकर तपस्या कर रहे थे (मत्स्यदेवने अपने प्रथम प्राकट्य-कालमें स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हयग्रीव नामक दैत्यका वध करके उससे वेदोंको छीन लिया था। इसके बाद चाक्षुष मन्वन्तरकी समाप्तिपर राजा सत्यव्रतने उनकी कृपा प्राप्त की थी।) ॥१०॥

योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः।

श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥ ११ ॥

वही सत्यव्रत इस महाकल्पमें सूर्यपुत्र श्राद्धदेवके नामसे विख्यात हुए। भगवान् श्रीहरिने इन्हें मनुके पदपर अधिष्ठित किया ॥११॥

एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम्।

तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥ १२ ॥

एक दिन वही राजर्षि सत्यव्रत कृतमाला नामकी नदीमें जलसे तर्पण कर रहे थे कि उनकी अञ्जलिके जलमें एक छोटी-सी मछली आ गयी ॥१२॥

सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत।

उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥ १३ ॥

हे भरतकुल श्रेष्ठ! द्रविड़ देशके राजा उन सत्यव्रतने अञ्जलिमें स्थित मछलीको उसी समय नदीके जलमें छोड़ दिया ॥१३॥

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम्।

यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल।

कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले ॥ १४ ॥

तब उस छोटी मछलीने अतिशय दयावान् राजा सत्यव्रतसे बड़े कातर स्वरमें कहा—हे राजन्! आप दीनवत्सल हैं। जलमें रहनेवाले जन्तु अपने ज्ञाति-बन्धुओंको ही खा डालते हैं। आपने मुझे किसलिए नदीके जलमें छोड़ दिया? मुझे बहुत डर लग रहा है॥१४॥

तस्मात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम्।

अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे॥१५॥

महाराज सत्यव्रत नहीं जानते थे कि उनके इष्टदेव भगवान् विष्णुने ही उनपर अनुग्रह करनेके लिये मत्स्य रूप धारण किया है। उन्होंने मन-ही-मन मछलीकी रक्षा करनेका निश्चय कर लिया॥१५॥

तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः।

कलसाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्ये आश्रमम्॥१६॥

मछलीके करुणा भरे वचनोंको सुनकर दयालु राजाने उसे अपने कमण्डलुमें रख लिया और अपने आश्रममें ले आये॥१६॥

सा तु तत्रैकरात्रेण वर्द्धमाना कमण्डलौ।

अलब्धात्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम्॥१७॥

वह मछली एक रातमें ही इतनी अधिक बढ़ गयी कि उस कमण्डलुमें उसे अपनी रक्षाके लिये स्थान ही न मिला। तब उसने राजासे कहा—॥१७॥

नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे।

कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम्॥१८॥

महाराज! इस कमण्डलुमें इतने कष्टके साथ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं इसमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करनेमें समर्थ नहीं हो रही हूँ। अतः आप मुझे सुखपूर्वक रहनेके लिए एक बड़ा स्थान निर्दिष्ट कीजिए॥१८॥

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके।

तत्र क्षिप्ता मुहूर्त्तेन हस्तत्रयमवर्द्धत ॥ १९ ॥

तब राजाने उसे कमण्डलुसे निकालकर जलसे भरे एक विशाल कुँएमें डाल दिया। किन्तु, यह क्या! वह मछली एक मुहूर्त्तमें ही बढ़कर तीन हाथकी हो गयी ॥ १९ ॥

न म एतदलं राजन् सुखं वस्तुमुदञ्चनम्।

पृथु देहि पदं मद्यं यत् त्वाहं शरणं गता ॥ २० ॥

उस मछलीने फिर महाराजसे कहा—राजन्! यह कुँआँ भी मेरे सुखपूर्वक वास करनेके लिए उपयुक्त नहीं है। मैं आपकी शरणमें हूँ। मुझे रहनेके लिए और भी विस्तृत जलाशय प्रदान कीजिए ॥ २० ॥

तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे।

तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्द्धत ॥ २१ ॥

परीक्षित्! तब राजा सत्यव्रतने उस मछलीको कुँएके जलसे उठाकर सरोवरमें डाल दिया। उसके बाद वह मछली पुनः इतनी बढ़ गयी कि उसने महामत्स्यका रूप धारण कर अपने विशाल कलेवरसे सम्पूर्ण सरोवरको घेर लिया। सरोवरका विस्तार भी उसे कम पड़ने लगा ॥ २१ ॥

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः।

निधेहि रक्षायोगेन हृदे मामविदासिनि ॥ २२ ॥

मत्स्यने फिर कहा—हे राजन्! मैं जलचर प्राणी हूँ, इस सरोवरका सीमित जल मेरे सुखपूर्वक रहनेके लिए पर्याप्त नहीं है। अतएव आप मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये और मुझे किसी अक्षय महाहृदमें रख दीजिए ॥ २२ ॥

इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि।

जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् ॥ २३ ॥

मत्स्यकी इस प्रार्थनापर राजा सत्यव्रत उसे अगाध जलाशयमें ले आये, परन्तु वह स्थान भी उसके लिए अपर्याप्त ही था। राजा मत्स्यको जितने भी अगाध सरोवरोंमें रखते, उसका शरीर और भी विशाल हो जाता। अन्ततः उन्होंने उस अपरिमेय महामत्स्यको महासमुद्रमें डाल दिया॥२३॥

क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः।

अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि॥२४॥

समुद्रमें डालते समय मत्स्यने सत्यव्रतसे कहा—हे वीर! इस समुद्रमें तो बड़े-बड़े बलशाली मगर आदि जलजन्तु रहते हैं। वे मुझे खा डालेंगे। अतः मुझे यहाँ छोड़ना आपके लिये उपयुक्त नहीं है॥२४॥

एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गु भारतीम्।

तमाह को भवानस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन्॥२५॥

मत्स्यरूपी भगवान्के इन रमणीय वचनोंसे राजा मुग्ध हो गये और कहने लगे—आप मत्स्य रूप धारण करके हमें इस प्रकार मोहित कर रहे हैं। आप हैं कौन?॥२५॥

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च।

यो भवान् योजनशतमहाभिव्यानशो सरः॥२६॥

एक दिनमें ही आपने सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको आच्छादित कर लिया। मैंने इससे पूर्व ऐसा प्रभावशाली जलचर न तो कहीं देखा है और न इसके पहले कभी सुना है॥२६॥

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः।

अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम्॥२७॥

निश्चय ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवान् नारायण श्रीहरि हैं। समस्त जीवोंपर कृपा करनेके लिए इस समय आपने जलचरका स्वरूप धारण किया है॥२७॥

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्ययेश्वर।

भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो॥ २८ ॥

हे भगवन् विष्णो! आप जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश करनेवाले हैं। हे पुरुषोत्तम! आप शरणागत भक्तोंके एकमात्र स्वामी, अन्तरात्मा एवं गतिस्वरूप हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ २८ ॥

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः।

ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम्॥ २९ ॥

आपके, सभी लीलावतार प्राणियोंके कल्याणके लिए होते हैं, तथापि यह जाननेकी इच्छा करता हूँ कि आपने मत्स्यावतार किसलिये धारण किया है?॥ २९ ॥

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं

मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः।

यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-

मदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः॥ ३० ॥

हे पद्मपलाशलोचन प्रभो! देह आदि अनात्म वस्तुओंमें आत्माका बोध करनेवाले देवताओंकी आराधना जिस प्रकार व्यर्थ हो जाती है, उस प्रकारसे समस्त प्राणियोंके सुहृद एवं अन्तरात्मा-स्वरूप आपके श्रीपादपद्मोंकी सेवा व्यर्थ नहीं जा सकती। आपने यह जो मत्स्यरूप दिखलाया है, वह बड़ा ही अद्भुत है॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः

सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये।

विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवी-

च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम्॥ ३१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब महाराज सत्यव्रतने यह कहा, तब मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीहरिने उनका

कल्याण करने तथा समुद्रके अगाध जलमें विहार करनेकी इच्छासे उनसे कहा ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच—

सप्तमेह्यद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम ।

निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥ ३२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अरिदमन राजन्! आजसे सातवे दिन भूलोक, भुवर्लोक आदि तीनों लोक समुद्रमें डूब जायेंगे ॥३२॥

त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा ।

उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥ ३३ ॥

जब तीनों लोक प्रलय-वारिमें निमग्न होने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे एक विशाल नौका तुम्हारे समीप उपस्थित होगी ॥३३॥

त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च ।

सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ३४ ॥

आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्रवः ।

एकाणवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥ ३५ ॥

तब तुम समस्त प्रकारकी ओषधियाँ (धान्य) एवं विविध प्रकारके बीजोंको एकत्र करके नावमें आरोपित कर देना। इसके बाद सप्तर्षियों एवं समस्त प्रकारके जीव जन्तुओंके साथ मिलकर उस विशाल नौकापर सवार हो जाना और बिना किसी घबराहट एवं क्षोभके प्रलय समुद्रमें विचरण करना। उस समय एकमात्र महासागर लहराता होगा, प्रकाश नहीं होगा। ऋषियोंका ब्रह्मतेज ही एकमात्र प्रकाश होगा ॥३४-३५॥

दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा ।

उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ॥ ३६ ॥

इसके बाद वायुके प्रबल वेगसे नौका बुरी तरहसे डगमगाने लगेगी, तब मैं वहीं समीपमें ही उपस्थित रहूँगा। तुम वासुकि नामके महासर्पके सहारेसे उस नावको मेरे सींगोंसे बाँध देना ॥३६॥

अहं त्वामृषिभिः सार्द्धं सहनावमुदन्वति।

विकर्षन् विचरिष्यामि यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो ॥ ३७ ॥

राजन्! नावपर बैठे हुए ऋषियोंके साथ तुम सबको खींचते हुए मैं तबतक प्रलय समुद्रमें विचरण करता रहूँगा, जबतक ब्रह्माकी रात्रि समाप्त नहीं हो जाती (चाक्षुष मन्वन्तरमें ब्रह्माके दिनमें ही प्रलय हो जाना भगवान्की इच्छा है।) ॥३७॥

मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥ ३८ ॥

उस समय तुम मुझसे प्रश्न करोगे और मैं तुम्हें उत्तर दूँगा। इसके द्वारा मेरे अनुग्रहसे 'परब्रह्म' शब्द द्वारा सङ्केतित मेरी महिमा—मेरा स्वरूप तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो जावेगा और तुम मेरे तत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकोगे ॥३८॥

इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत।

सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥ ३९ ॥

भगवान् श्रीहरि राजा सत्यव्रतको आदेश देकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये। सत्यव्रत उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे, जिसका आदेश भगवान् दे गये थे ॥३९॥

आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः।

निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः ॥ ४० ॥

राजर्षिने उस समय कुशोंका अग्रभाग पूर्व दिशाकी ओर किया और स्वयं ईशान दिशा (पूर्व-उत्तर)की ओर मुख करके बैठ गये। इसके बाद वे मत्स्यरूपी भगवान् श्रीहरिके चरणोंका हृदयमें ध्यान करने लगे ॥४०॥

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीम्।

वर्द्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥ ४१ ॥

इतनेमें ही प्रलयकालीन महामेघोंने बरसना आरम्भ कर दिया, जिससे समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर ऊपरकी ओर बढ़ने लगा। देखते-ही-देखते सारी पृथ्वी जलमग्न हो गयी ॥४१॥

ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम्।
तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥ ४२ ॥

राजा सत्यव्रतको भगवान्का आदेश स्मरण हो आया। नौका भी सम्मुख उपस्थित हो गयी। तब वे धान्य, ओषधि-लताओं तथा अन्य बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ नावपर सवार हो गये ॥४२॥

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम्।
स वै नः सङ्कटादस्मादविता शं विधास्यति ॥ ४३ ॥

सप्तर्षियोंने राजासे प्रसन्न होकर कहा—हे राजन्! तुम भगवान् केशवका ध्यान करो। वे ही हमें इस सङ्कटसे बचायेंगे और हमारा कल्याण करेंगे ॥४३॥

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥ ४४ ॥

तब राजर्षि सत्यव्रत अविरल रूपसे भगवान्का ध्यान करने लगे। इतनेमें ही उस प्रलय महासमुद्रमें सुनहरी आभासे देदीप्यमान मत्स्य भगवान् प्रकट हुए। उनके शरीरका विस्तार था चार लाख कोस और शरीरपर एक बड़ा भारी सींग भी था ॥४४॥

निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ४५ ॥

जैसा कि भगवान् श्रीहरिने पहले कहा था, उन्हीं वचनोंके अनुसार राजा सत्यव्रतने उस नौकाको वासुकिनागरूप रज्जुके द्वारा मत्स्यके सींगमें बाँध दिया। तदनन्तर वे बड़े प्रसन्न मनसे भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करने लगे ॥४५॥

श्रीराजोवाच—

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद—
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु—
विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥ ४६ ॥

राजा सत्यव्रतने कहा—हे मधुसुदन! इस जगत्में जिनका आत्मज्ञान अनादि अविद्याके द्वारा ढक गया है, वे इस अविद्यामूलक संसारके तीनों तापोंसे उत्पन्न कष्टोंका भोग करते हैं, परन्तु जो सुकृतिवश भक्तिकी ओर उन्मुख होते हैं, वे साधु एवं आचार्योंके द्वारा संरक्षित होकर आपको प्राप्त कर लेते हैं। आप उसी भक्तिके प्रदाता हमारे परम गुरु हैं ॥४६॥

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम्।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्दयं स नो गुरुः ॥४७॥

इस संसारमें मूर्ख व्यक्ति कर्मोंके अधीन हैं। ऐसे बद्धजीव सुख प्राप्तिकी आशासे सकाम कर्म करते हैं, परन्तु उन्हें दुःख ही प्राप्त होते हैं। अतः जिनकी सेवासे ऐसी कुबुद्धि नष्ट हो जाती है, वे ही मेरे परम गुरु आप मेरी असत् हृदय-ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न कर दीजिए ॥४७॥

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं
पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो
भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥४८॥

जिस प्रकार मलिन स्वर्ण एवं चाँदीको अग्निसे तपाया जाय तो वे मलको छोड़कर स्वाभाविक उज्ज्वल वर्णको प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार आपकी सेवाके द्वारा जीव अपने अन्तःकरणके मलका त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। ऐसे अविनाशी परमेश्वर आप हमारे गुरु हों, क्योंकि आप हमारे गुरुओंके भी गुरु हैं ॥४८॥

न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्।

कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥ ४९ ॥

इस जगत्में जितने भी देवता, गुरु और अन्यान्य सभी जीव हैं, वे यदि स्वतन्त्ररूपसे अथवा एक साथ मिलकर कृपा करें, वे आपकी कृपाके दस हजारवे अंशके एक भागकी भी बराबरी नहीं कर सकते। मैं ऐसे आप परमेश्वरके चरणोंकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ४९ ॥

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कटृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वर्गतिं बुभुत्सताम् ॥ ५० ॥

जिस प्रकार एक अन्धा पुरुष अन्धेको ही अपना पथप्रदर्शक मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी अज्ञानी व्यक्तिको ही गुरु पदपर वरण कर लेता है। हम आत्मतत्त्वको जाननेके इच्छुक हैं, इसीलिये सूर्यके समान स्वतःप्रकाश ज्ञानसम्पन्न एवं समस्त इन्द्रियोंके प्रकाशक आपका हमने गुरुके रूपमें वरण किया है ॥ ५० ॥

जनो जनस्यादिशतेऽसर्ती गतिं
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥ ५१ ॥

प्राकृत ज्ञानसे सम्पन्न गुरु शिष्यको अर्थ, काम आदिरूप बुद्धि प्रदान करता है, जिससे शिष्य दुर्लभ अज्ञानताको अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है परन्तु आप तो अव्यर्थ सनातन ज्ञानका उपदेश करते हैं। इस ज्ञानसे मुमुक्षु व्यक्ति शीघ्र ही अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥

त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः।

तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥ ५२ ॥

आप समस्त लोकोंके सुहृद्, प्रिय, ईश्वर और आत्मा हैं। आप ही परम हितका उपदेश करनेवाले गुरु, सत्य-ज्ञानके प्रवर्तक और कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले अभीष्ट-सिद्धि-स्वरूप हैं। जिनका चित्त दुर्वासनाओंसे ग्रस्त है, वह मूढ़मति अपने हृदयमें विराजमान आपको जान ही नहीं पाता ॥ ५२ ॥

तं त्वामहं देववरं वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभिर्ग्रन्थीन्
हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः ॥ ५३ ॥

हे भगवन्! आप देवताओंके भी वरेण्य एवं समस्त प्राणियोंके नियन्ता स्वरूप हैं। मैं आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए आपकी शरणमें आया हूँ। आप परमार्थको प्रकाशित करनेवाले अपने उपदेशपरक वचनोंसे मेरे हृदयकी ग्रन्थिको काट डालिए और अपने धाम वैकुण्ठ-लोककी प्राप्तिका पथ बतलाइए ॥ ५३ ॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब सत्यव्रतने इस प्रकार प्रार्थना की, तब मत्स्यरूपधारी आदिपुरुष भगवान्ने उन्हें परब्रह्मका तत्त्वपूर्ण उपदेश दिया ॥ ५४ ॥

पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः ॥ ५५ ॥

भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रतके लिए दिव्य सांख्ययोग, भक्तियोग तथा क्रियाओंका प्रतिपादन करनेवाली पुराण संहिताका वर्णन किया। इसके साथ ही भगवान्ने परम गोपनीय अपने आत्मतत्त्वका

भी उपदेश दिया। भगवान्‌के ये सभी उपदेश मत्स्यपुराणमें उल्लिखित हैं ॥५५॥

अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम्।

नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥५६॥

नावमें बैठे हुए राजा सत्यव्रतने ऋषियोंके साथ भगवान्‌के द्वारा वर्णित आत्मतत्त्वस्वरूप एवं सनातन ब्रह्मतत्त्वको सुना। अब उन्हें परब्रह्मतत्त्वके विषयमें कोई सन्देह न रहा ॥५६॥

अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे।

हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः ॥५७॥

इसके पश्चात् स्वायम्भुव मन्वन्तरके प्रलयका अन्त होनेपर भगवान्‌ श्रीहरिने हयग्रीव असुरका संहार कर डाला और ब्रह्माके नीदसे जगनेपर उन वेदोंको उन्हें प्रदान कर दिया ॥५७॥

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः।

विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः ॥५८॥

भगवान्‌ विष्णुकी कृपासे राजा सत्यव्रतने ज्ञान एवं विज्ञानसे सम्पन्न होकर इस वर्तमान कल्पमें वैवस्वत मनुके रूपमें जन्म ग्रहण किया है ॥५८॥

सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः।

संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥५९॥

जो अपनी मायासे मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान्‌ विष्णु और राजर्षि सत्यव्रतके इस संवाद रूप उत्तम आख्यानको सुनता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥५९॥

अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः।

संकल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥६०॥

जो मनुष्य भगवान्‌ श्रीहरिके मत्स्य अवतार-चरितका प्रत्येक दिन कीर्तन करता है, उसके समस्त सङ्कल्प सिद्ध हो जाते हैं और वह उत्तम गति प्राप्त करता है ॥६०॥

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मूर्खेभ्यः
 श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
 दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
 तमहमखिलहेतुं जिह्यमीनं नतोऽस्मि ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यामष्टमस्कन्धे श्रीमत्स्यावतारचरितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

प्रलयकालीन समुद्रमें सो जानेसे ब्रह्माजीकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी। दैत्य हयग्रीव उनके मुखसे निकले वेदोंको चुरा ले गया था, तब जिन्होंने उस दैत्यका संहार करके वेदोंको पुनः ब्रह्माजीको दे दिया था और जिन्होंने राजर्षि सत्यव्रत एवं सप्तर्षियोंको परब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले मत्स्यपुराणका उपदेश दिया था, मैं उन समस्तके कारण-स्वरूप मायामत्स्य भगवान् श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवतके आठवे स्कन्धके चौबीसवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त ।

अष्टमः स्कन्धः समाप्तः ।







नवम स्कन्धकी कथाका सार

महाराज परीक्षितके अभिप्रायानुसार मन्वन्तर-वर्णन प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजीने वैवस्वत मनुके वंशके बारेमें बतलाया था। भगवान्के नाभिपद्मसे ब्रह्मा, ब्रह्माके मनसे मरीचि, मरीचिके अधःस्तन सूत्रसे (क्रमिक परम्परासे) श्राद्धदेव मनु हुए। वे ही इस मन्वन्तरमें वैवस्वत मनु हैं। मनुने पुत्रकी कामनासे यज्ञ किया, किन्तु पत्नीकी इच्छा रहनेके कारण इला नामकी कन्या उत्पन्न हुई। मनु इससे प्रसन्न नहीं हुए। वशिष्ठकी कृपासे इलाको सुद्युम्न नामक पुंस्त्वकी प्राप्ति हुई। घटनाक्रमसे सुद्युम्न सुकुमार-वनमें प्रवेश कर गये। महादेवके इस वनमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको अभिशापके कारण स्त्रीत्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः सुद्युम्न अपने अनुचरोंके साथ स्त्रीत्वको प्राप्त हो गये। उन्होंने बुधका पतिके रूपमें वरण किया तथा पुरुरवा नामक पुत्रको प्राप्त किया। पुनः वशिष्ठकी कृपासे प्राप्त महादेवके वरदानसे सुद्युम्न एक मासमें स्त्रीत्व और एक मासमें पुंस्त्व प्राप्त करते रहे। इसी प्रकारसे राज्यका पालन करते हुए उन्हें तीन पुत्रोंकी प्राप्ति हुई। अन्तमें पुरुरवाको राज्य समर्पण करके वे वनमें चले गये।

सुद्युम्नके वनमें जानेके बाद वैवस्वत मनुने भगवदाराधना करके दस पुत्र प्राप्त किये। इनमें पृषध्व गुरु द्वारा नियुक्त होकर रात्रिमें तलवार धारणकर वीरासन लगाये बैठा रहता था। एक दिन एक व्याघ्र गोशालासे एक गायको लेकर भागने लगा। पृषध्व उसके पीछे भागता हुआ व्याघ्रके समीप पहुँचा, किन्तु अन्धकारमें व्याघ्रके भ्रमसे गायका ही वध कर डाला। गुरुके अभिशापसे पृषध्व शूद्रकुलमें उत्पन्न हुआ एवं योगमिश्रा भक्ति द्वारा भगवान्की आराधना करके परमपदको प्राप्त हुआ। मनुके पुत्र करुषसे कारुष नामक क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई। मनुके धार्ष्ट नामके पुत्रसे उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र स्वभावानुसार ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। मनुपुत्र नरिष्यन्तसे शौक्र-परम्परामें उत्पन्न अग्निवेशसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई।

मनुपुत्र राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्याके साथ च्यवन मुनिके आश्रममें पहुँचे। सुकन्याने वहाँ वल्मीकके गर्तमें दो ज्योतिर्मय पदार्थ देखे। दैव प्रेरणावश उसने उन्हें एक काँटेसे बेध दिया। विद्ध होते ही उनसे रक्त निकलने लगा, साथ ही अनुचरोंके साथ शर्यातिका मल-मूत्र अवरुद्ध हो गया। अन्ततः बहुत स्तव-स्तुति करके उन्होंने मुनिको प्रसन्न किया तथा सुकन्याको उन्हें समर्पित करके विपद्-मुक्त हो गये। वृद्ध च्यवन मुनिने दोनों अश्विनीकुमारोंको सोमरसका पान कराके उनकी कृपासे यौवन प्राप्त किया। शर्यातिके पौत्र रैवतने अपनी पुत्री रेवतीको बलदेवजीके हाथोंमें समर्पण कर दिया।

मनुपुत्र नभगसे उत्पन्न नाभाग दीर्घकाल तक गुरुगृहमें ही रहे, इसलिए उनके भाइयोंने पैतृक धनको आपसमें बाँट लिया और नाभागको उस धनसे सम्पूर्णरूपसे वञ्चित कर दिया। जब नाभाग गुरुगृहसे लौटे, तब पिताके समीप उन्होंने भाइयों द्वारा अपनी प्रतारणाके विषयमें निवेदन किया। पिता नभगने नाभागको आङ्गिरस गोत्रीय मुनियोंके यज्ञमें वैश्वदेव सूक्तका पाठ करनेका उपदेश दिया। ऋषि यज्ञसे अवशिष्ट धनको नाभागको प्रदान करके स्वर्ग चले गये। महादेव नाभागकी परीक्षाके लिए धन-ग्रहण करनेमें बाधा देने लगे, किन्तु नाभागके व्यवहारसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने उनको सारा धन दे दिया, साथ ही ब्रह्मज्ञान भी प्रदान किया। इसके बाद वे अन्तर्धान हो गये।

नाभागसे परम भागवत अम्बरीषका आविर्भाव हुआ। यद्यपि महाराज अम्बरीष अतुल ऐश्वर्यके अधिपति थे, तथापि उन्होंने इसे नश्वर एवं अधोगतिका कारण जानकर युक्तवैराग्यका अवलम्बन किया और भगवदाराधनामें नियुक्त हो गये। वे धन, जन, स्त्री, पुत्रादिमें आसक्तिका परित्याग करके भगवान्‌के श्रवण-कीर्तनादिमें लगे रहते।

एक दिन महाराज अम्बरीष द्वादशी प्रधान एकादशीके उपवासके अन्तमें पारण करनेके लिए उद्यत ही थे कि उसी समय दुर्वासा उनके पास पहुँचे। वहाँ अम्बरीषके घरमें आतिथ्य स्वीकार करके माध्याह्निक कृत्यके समापनके लिए वे कालिन्दी-तट पर चले गये।

वहाँ ब्रह्मके चिन्तनमें निमग्न होनेके कारण दुर्वासा शीघ्र लौटे नहीं। इधर पारणका समय व्यतीत होने लगा। तब ब्राह्मणोंके परामर्शसे अम्बरीषने जलमात्र ग्रहण करके व्रतकी रक्षा की। दुर्वासा योगबलसे यह जान गये। उन्होंने वहाँसे लौटकर अपनी जटा द्वारा कालाग्निके समान एक कृत्या उत्पन्न की और अम्बरीषको भस्मीभूत करनेकी चेष्टा करने लगे। तब भक्तवत्सल भगवान्ने भक्तकी रक्षाके लिए सुदर्शन चक्र भेजा। चक्रने कृत्यानलको ध्वंस कर दिया और फिर दुर्वासा पर आक्रमण किया। दुर्वासा इससे बचनेके लिए पृथ्वीपर सर्वत्र भ्रमण करने लगे। वे ब्रह्मलोक, शिवलोक तक भी पहुँचे, पर कहीं भी उन्हें आश्रय नहीं मिला। अन्तमें वे भगवान् नारायणके शरणापन्न हुए। भगवान् नारायणने अपनी भक्ताधीनताके विषयमें बतलाकर कहा कि वैष्णवापराधीको क्षमा नहीं किया जा सकता। वैष्णवके समीप किये गये अपराधका निस्तार उसी वैष्णवकी कृपासे ही सम्भव हो सकता है। अतः दुर्वासाको अम्बरीषके शरणापन्न होना चाहिए।

दुर्वासा अम्बरीषके चरण-युगलको धारण करके क्षमा माँगना चाहते थे, लेकिन अम्बरीष लज्जित हो गये। उन्होंने सुदर्शनकी स्तुति की, जिससे दुर्वासा विपद्-मुक्त हो गये। दुर्वासाने वैष्णवमें जातिबुद्धिका परित्याग करके अम्बरीषके घरमें भोजन किया। वस्तुतः अम्बरीष दुर्वासाके प्रत्यागमनकी प्रतीक्षा करके संवत्सर-काल पर्यन्त अभुक्तावस्थामें (बिना खाये-पिये) ही रहे। दुर्वासाके भोजन करनेपर अम्बरीषने भोजन किया।

अम्बरीषके तीन पुत्रोंमें-से विरूप-तनय पृषदश्वका पुत्र रथीतर था। रथीतरने निःसन्तान होनेके कारण महर्षि अङ्गिरासे प्रार्थना की। महर्षिने रथीतरकी पत्नीके गर्भसे कुछ पुत्रोंको उत्पन्न किया। मनुपुत्र इक्ष्वाकुके सौ पुत्रोंमें-से विकुक्षिके पुत्र पुरञ्जयने देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता की, इस कारण वे इन्द्रवाह और ककुत्स्थ नामसे भी कहे जाने लगे। पुरञ्जयकी वंश-परम्परामें अनेना, पृथु, विश्वगन्धि, चन्द्र, यमुनाश्व, श्रावस्त, बृहदश्व और कुवल्याश्व हुए। धुन्धु नामक असुरका वध करके कुवल्याश्व 'धुन्धुमार' नामसे विख्यात हुए।

धुन्धुमारकी शौक्र-परम्परामें युवनाश्वने जन्म ग्रहण किया। निःसन्तान होनेके कारण ये अपनी सौ पत्नियोंके साथ वनमें चले गये। उन्होंने वहाँ पुत्रके लिए ऋषियों द्वारा यज्ञ कराया। एक दिन राजाको बड़ी प्यास लगी। तब उन्होंने मुनियों द्वारा रक्षित अपने ही पुत्रोत्पत्तिके कारणोदक (मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल) का पान कर लिया। फलस्वरूप उनकी ही गर्भोत्पत्ति होनेपर यथासमय दक्षिण कुक्षिको भेद करके एक पुत्रका जन्म हुआ। यह बालक दुग्ध-पानके लिए रोने लगा। इन्द्रने अपनी तर्जनी उसके मुँहमें डाल दी। इसीसे इस बालकका नाम मान्धाता हुआ। मान्धाताके प्रतापसे दस्युगण सन्तप्त रहते थे, इसलिए उनका नाम 'त्रसद्दस्यु' हुआ। उनके तीन पुत्र एवं पचास पुत्रियाँ थीं। सभी पुत्रियोंने सौभरि ऋषिको पतिके रूपमें वरण किया। सौभरि यमुनाजलमें निमग्न होकर तपस्यामें लीन थे कि मत्स्यके मैथुनजनित आनन्द पर उनकी दृष्टि पड़ गयी। इससे उनके मनमें मैथुनकी अभिलाषा जाग उठी। उन्होंने मान्धातासे उनकी पुत्रीके लिए प्रार्थना की। अपने योगबलसे उनका रूप अभिनव हो गया। तभी मान्धाताकी सभी पुत्रियोंने उन्हें अपना स्वामी मान लिया। ग्राम्यसुख भोगते हुए जब कुछ समय बीत गया, तब भगवद् विस्मृतिके कारण उनको अनुताप होने लगा। उन्होंने वानप्रस्थका आश्रय लिया। अन्ततः सौभरिने कठोर तपस्या करके आध्यात्मिकी गति प्राप्त की।

मान्धाताके पुत्र पुरुकुत्स थे। उनकी वंश-परम्परामें त्रिशंकु हुए। विप्रकन्या-हरण दोषके कारण वे चण्डालत्वको प्राप्त हो गये थे। विश्वामित्रके प्रभावसे ये सशरीर स्वर्ग चले गये। देवताओंके प्रभावसे उनको अधोपतन होने लगा, किन्तु विश्वामित्र द्वारा आकाशमें स्तम्भित (स्थिर) कर दिये गये। त्रिशंकुके पुत्र हरिश्चन्द्र थे। इनके द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञमें विश्वामित्रने बड़े कौशलसे इनका सर्वस्व हरण कर लिया। इस कारण वशिष्ठके साथ विश्वामित्रका कलह हो गया। हरिश्चन्द्रने वरुणकी कृपासे रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया। वे उसी पुत्र द्वारा वरुणका यज्ञ करेंगे—यह कहकर वरुणके साथ प्रतिश्रुत हो गये। प्रतिश्रुति पालनमें विलम्ब करनेके फलस्वरूप वे उदर-रोग ग्रस्त हो गये। अनन्तर रोहित द्वारा लाये गये अजीगर्त्तके

पुत्र शुनःशेफको नरमेध यज्ञमें वरुणके लिए बलिदान कर दिया और इससे रोगमुक्त हो गये।

रोहितकी वंश-परम्परामें सातवें बाहुक थे। बाहुककी एक पत्नी गर्भवती हुई ही थी कि बाहुककी मृत्यु हो गयी। अन्यान्य सपत्नियोंने गर्भ नष्ट करनेकी इच्छासे उसे अन्नके साथ गर अर्थात् विष प्रदान कर दिया। और्व ऋषिके प्रभावसे गर सहित पुत्र उत्पन्न होनेके कारण बालक सगर नामसे विख्यात हुआ। राजा सगरके यज्ञीय अश्वका अपहरण करके इन्द्र उसे पातालमें कपिलाश्रममें ले गये और उसकी रक्षा की। सागरके पुत्रोंने अश्वानुसन्धान करते हुए पूरी पृथ्वीको खोद डाला। वे अश्वको खोजते हुए पातालमें कपिलदेवके समीप पहुँच गये और उनको ही अश्वापहारक निश्चय कर लिया। इस दुर्बुद्धिके फलस्वरूप वे अपने-अपने शरीरोंके अग्नितेजसे भस्मीभूत हो गये। उनके द्वारा खोदा हुआ स्थान ही बादमें सागरके रूपमें परिणत हो गया। अनन्तर सगरके पौत्र अंशुमान् कपिलके समीप पहुँचे। उनकी कृपासे उन्हें अश्व प्राप्त हुआ, साथ ही सगर-पुत्रोंको सद्गति कैसे प्राप्त होगी—इसका उपदेश भी प्राप्त किया। अंशुमान् और उनके पुत्र दिलीपने कपिलके उपदेशसे गङ्गावतरणका प्रयास किया, किन्तु वे असमर्थ रहे। तब दिलीपके पुत्र भगीरथने दीर्घकालपर्यन्त तपस्या करके गङ्गादेवीको सन्तुष्ट किया। भगीरथकी प्रार्थनासे गङ्गादेवीने भूतलमें अवतरण करना स्वीकार कर तो लिया, किन्तु उनका वेग धारण करनेमें कौन समर्थ होगा, मर्त्यलोकमें आने पर पापी उसमें स्नान करके उसमें अपने पापोंका क्षालन करेंगे, तब उन पापोंके प्रक्षालनका क्या उपाय होगा—यह प्रसङ्ग जब उत्थापित हुए, तब भगीरथने देवीके चरणोंमें यह निवेदन किया कि वैष्णवप्रवर महादेव उनके वेगको धारण करेंगे और भगवद् भक्तोंके अङ्ग-स्पर्शसे उनकी पापराशि विदूरित होगी। जिस स्थानपर सगरके पुत्र भस्मीभूत हुए थे, गङ्गादेवीको उसी स्थानपर ले जाया गया। वहाँ उनके पुत्रोंका सारा कल्मष धुल गया और वे स्वर्गको प्राप्त हुए। भगीरथके प्रपौत्र अयुतायुके पुत्र ऋतुपर्ण नलके सखा थे। ऋतुपर्णके प्रपौत्र सौदासने अपने कर्मदोषसे राक्षसत्वको प्राप्त किया था। उन्होंने रतिक्रीडामें

आसक्त किसी ब्राह्मणका भक्षण कर लिया था और तब वे उसकी पत्नीके द्वारा अभिशप्त हो गये थे, जिससे मैथुनकालमें उनकी मृत्यु हो गयी। बारह वर्षोंके बाद राक्षसत्वसे मुक्त होकर भी विप्रपत्नीके शापके फलस्वरूप वे निःसन्तान ही रहे। अनन्तर महर्षि वशिष्ठके द्वारा अपनी पत्नीको गर्भाधान कराया, जिससे अश्मक नामक पुत्र हुआ। अश्मकका पुत्र बालिक नारियों द्वारा रक्षित होनेके कारण परशुरामके कोपसे बच गया था। बादमें यही क्षत्रिय वंशका मूल (प्रवर्तक) पुरुष हुआ। इसके प्रपौत्र विश्वसहके पुत्र महाराज खट्वाङ्ग थे। इन्होंने देवासुर-संग्राममें देवताओंके पक्षमें युद्ध करके उनको असुरों पर विजय दिलायी थी। देवताओंने इनको वर प्रदान करनेकी अभिलाषा प्रकट की। खट्वाङ्गने प्रदत्त वरकी उपेक्षा करके देवताओंकी कृपासे अपनी परमायु कालको दो घड़ी भर जानकर अनित्य विषयोंकी आसक्तिका परित्याग करते हुए हरिभजनमें चित्त लगा दिया।

खट्वाङ्गके पुत्र दीर्घबाहु हुए, उनके पुत्र रघु और रघुके पौत्र हुए दशरथ। पूर्णब्रह्म भगवान्ने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—इन चार अंशोंसे दशरथका पुत्रत्व अङ्गीकार किया था। रामचन्द्र विश्वामित्र-यज्ञमें मारीच राक्षसका वध, हरधनु-भङ्ग, सीताका पाणिग्रहण, लक्ष्मण एवं सीतादेवीके साथ वनगमन, रावण द्वारा सीतादेवीके अपहरण कर लिये जानेपर समुद्र-बन्धन करते हुए लङ्का-गमन और रावण-वधादि लीलाओंका प्रदर्शन करके अयोध्या लौटे। वहाँ वशिष्ठ द्वारा उनका राज्याभिषेक हुआ।

श्रीरामचन्द्रने यज्ञका अनुष्ठान करके अपना सारा पार्थिव ऐश्वर्य होता एवं आचार्योंको दान कर दिया। आचार्योंने उन समस्त वस्तुओंको लौटा दिया और उनकी स्तुति करते हुए कहा कि जब उन्होंने उनके अज्ञान-तिमिरको दूर कर दिया है, तब उनके लिए और अदेय क्या है? अतःपर भगवान् रामचन्द्र राज्यमें स्थित प्रजाओंकी चित्तवृत्तिको जाननेकी इच्छासे गुप्तरूपसे पर्यटन करते थे। एक बार उन्होंने सीतादेवीके चरित्रके सम्बन्धमें किसीको कटाक्ष करते हुए सुना। तब उन्होंने सीताको लोक-दृष्टिमें त्याग करनेका अभिनय किया। सीतादेवीने बाल्मीकिके आश्रममें आश्रय प्राप्त किया। वहाँ

उन्होंने लव और कुश नामक यमज पुत्रोंको जन्म दिया। बाल्मीकिके पास दोनों पुत्रोंकी रक्षाका भार सौंपकर सीता भू-विवरमें प्रवेश कर गयीं। रामचन्द्र तेरह हजार वर्ष रहे। अग्निहोत्रादि अनुष्ठानोंको करनेके पश्चात् वे प्रपञ्चातीत धाममें चले गये।

इक्ष्वाकुपुत्र निमि यज्ञ आरम्भ करके वशिष्ठको ऋत्विक्-कर्ममें वरण करना चाहते थे। वशिष्ठ उससे पहले इन्द्रयज्ञमें वरण हो चुके थे—इस कारण निमिको प्रतीक्षा करनेके लिए कहा। निमिने सोचा—जीवन अनित्य है, अतः उन्होंने इन्द्रयज्ञकी समाप्तितक प्रतीक्षा न करके अन्य ऋत्विक्की सहायतासे यज्ञ आरम्भ कर दिया। वशिष्ठने निमिको देहपातका अभिशाप दे दिया। निमिने भी क्रोधित होकर वशिष्ठको उसी प्रकारसे अभिसम्पात दे दिया। इस कारण दोनोंके ही शरीरका पतन हो गया। वशिष्ठने पुनः उर्वशीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया।

ऋत्विक्ोंने निमिके यज्ञकी समाप्तिके बाद यज्ञस्थलमें समुपस्थित देवताओंके निकट निमिके पुनर्जीवनकी प्रार्थना की। जड़देहका हेयत्व और तुच्छत्व जानकर निमिकी देहधारणमें अनिच्छा रहनेके कारण महर्षियोंने निमिकी देहका मंथन किया। इससे विदेहराज जनककी उत्पत्ति हुई।

ब्रह्माके पुत्र अग्निके तनय सोमने सुरगुरु बृहस्पतिकी पुत्री ताराका अपहरण कर लिया और उसके गर्भसे बुध नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसके परिणामस्वरूप देवताओं एवं असुरोंमें संग्राम छिड़ गया। अन्ततः ब्रह्माने ताराका उद्धार करके उसे बृहस्पतिको लौटा दिया। इससे समरानल शान्त हो गया। बुधसे पुरुरवाकी उत्पत्ति हुई। उर्वशी पुरुरवाके रूपपर आकृष्ट हो गयी। वह उनके साथ कुछ समय तक रही और बादमें अपने लोकमें चली गयी। उर्वशीके चले जानेपर पुरुरवा प्रायः उन्मत्त-से रहते थे। पुनः एक रात्रिके लिए उनका उर्वशीसे साक्षात्कार हुआ। उर्वशीके भावी विरहकी आशङ्का उपस्थित होनेपर उसने पुरुरवाको गन्धर्वोंकी उपासना करनेके लिए कहा। पुरुरवाकी उपासनासे सन्तुष्ट होकर गन्धर्वोंने उनको एक अग्निस्थाली प्रदान कर दी। पुरुरवा इस अग्निस्थालीको उर्वशी

मानने लगे। जब भ्रम दूर हुआ, तब अग्निस्थालीको त्याग करके उर्वशीका ध्यान करने लगे। उनके चित्तमें कर्मकाण्डीय वेद-त्रयीका आविर्भाव हुआ। पुरुरवाने उर्वशीके गर्भसे छह पुत्र उत्पन्न किये। उनमें-से विजय नामक पुत्रके वंशमें जह्नु मुनिने जन्म ग्रहण किया, जो गण्डूष मात्रमें (अञ्जलिमें) ही गङ्गाका पान कर गये। जह्नुके पौत्र कुशाम्बुसे गाधिने जन्म ग्रहण किया। ऋचिक मुनिने गाधिकी पुत्रीसे विवाह किया। उनके पुत्र जमदग्निसे उत्पन्न परशुरामने कामधेनुका अपहरण करनेवाले कार्तवीर्यार्जुनका वध कर दिया था और इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था।

जमदग्निकी पत्नी रेणुका जल लानेके लिए गङ्गा गयी थीं। वहाँ वे अप्सराओंके साथ क्रीडासक्त गन्धर्वराजके प्रति आसक्त हो गयीं। इसपर जमदग्निके आदेशसे परशुरामने उनका वध कर दिया। बादमें परशुरामके अनुरोधसे तथा जमदग्निके प्रभावसे रेणुकाको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। पिताके विद्वेषीके प्रतिशोध लेनेकी भावनासे कार्तवीर्यके पुत्रोंने परशुरामकी अनुपस्थितिके समय ध्यानमग्न जमदग्निको मार डाला। पिताका वध देखकर परशुराम क्रोधित हो गये और कार्तवीर्यके पुत्रोंका विनाश कर दिया, इससे रक्तकी नदी प्रवाहित हो गयी। बादमें पिताकी देहमें मस्तक योजित करके परशुरामने विविध यज्ञोंके द्वारा परमात्माकी आराधना की। जमदग्नि स्वशरीर प्राप्त करके सप्तर्षिमण्डलमें सप्तम ऋषित्वको प्राप्त हुए। परशुराम आगामी मन्वन्तरमें वेद-प्रवर्तक होंगे।

गाधिके वंशमें विश्वामित्रकी उत्पत्ति हुई। ये तपके प्रभावसे ब्राह्मण हो गये थे। हरिश्चन्द्रके यज्ञमें पशुरूपमें लाये गये शुनःशेफ प्रजापतिगणकी कृपासे शापमुक्त होकर गाधिवंशमें देवरात नामसे विख्यात हुए।

पुरुरवाके वंशमें आयुके पुत्र द्युमान्से उत्पन्न अलर्क बहुत दिनोंतक राजसिंहासनपर अधिरूढ़ रहे। अलर्ककी वंश-परम्परामें रजिने देवराज इन्द्रको जीत लिया था।

राजा नहुषने इन्द्रकी पत्नी शचीके प्रति धृष्टतापूर्ण व्यवहार किया था। तब अगस्त्यादि ऋषियोंके अभिसम्पातसे वे सर्पयोनिको

प्राप्त हुए थे। उनके पुत्र ययाति राजा बने। उन्होंने शर्मिष्ठा द्वारा कुँएमें निक्षिप्त शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानीको कूपसे निकाला। तब इस कन्याकी प्रार्थनासे उन्होंने उसका पाणिग्रहण किया। एक बार दैत्यपति वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा अपनी सखियों और देवयानीके साथ जलक्रीड़ा कर रही थी। इसी समय महादेव एवं पार्वतीका आगमन हुआ। सहसा उन्हें देखकर वे सब घाटपर आर्यीं और अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। शर्मिष्ठाने भ्रमवश देवयानीके वस्त्र परिहित कर लिये। इससे क्रुद्ध होकर देवयानी शर्मिष्ठाको कटु वाक्य सुनाने लगी। शर्मिष्ठा यह सुनकर क्रोधसे तिलमिला उठी और देवयानीको कुँएमें ढकेलकर वहाँसे चली गयी। दैवयोगसे उस स्थानपर ययातिका आगमन हुआ। उन्होंने देवयानीको कुँएमें पड़ा हुआ देखा, तो उसे वहाँसे बाहर निकाल लिया। देवयानीने ययातिको पतिके रूपमें वरण कर लिया। घर लौटकर उसने अपने पिताको शर्मिष्ठाके व्यवहारके विषयमें सब बतलाया। यह सुनकर शुक्राचार्य वृषपर्वाके प्रति क्रोधित हो उठे। वृषपर्वाने स्तव-स्तुतिके द्वारा शुक्राचार्यको सन्तुष्ट किया एवं गुरुके आदेशानुसार शर्मिष्ठाको देवयानीकी दासीके रूपमें समर्पण कर दिया। देवयानी शर्मिष्ठाको लेकर ययातिके घर चली गयी। देवयानीके पुत्रवती होनेपर शर्मिष्ठाने भी पुत्रलिप्सासे ऋतुकालमें ययातिके सङ्गकी प्रार्थना की। शर्मिष्ठाको सपत्नी जानकर देवयानी ईर्ष्यासे भर उठी और पिताके पास जाकर यह वृत्तान्त निवेदन कर दिया। शुक्राचार्यने ययातिको जराग्रस्त होनेका अभिशाप दे दिया। बादमें ययातिके अनुरोधसे शुक्राचार्यने उन्हें अन्यके यौवनके साथ अपने वार्द्धक्यके विनिमयकी शक्ति प्रदान कर दी। ययातिने अपने कनिष्ठ पुत्र पुरुसे यौवन ग्रहण किया और विषय-भोग करने लगे।

बहुत समय तक विषयभोग करके ययातिको भोगके अनित्यत्वकी उपलब्धि हुई। उन्होंने पत्नीको अपने आचरणानुसार बकरेके रूपक-इतिहासका वर्णन किया एवं वैराग्यका आश्रय करके भगवद् भजनमें लगकर परम गतिको प्राप्त किया।

ययाति-तनय पुरुके वंशमें दुष्मन्तका जन्म हुआ। दुष्मन्त शिकारके लिए गये थे कि वहीं विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलासे उन्होंने विवाह

कर लिया। मेनका शकुन्तलाको वनमें ही छोड़कर चली गयी थी। महर्षि कण्वने उसका पालन किया था। राजा दुष्मन्त शकुन्तलाको गर्भवती करके राजधानी लौट गये। यथाकाल शकुन्तलाने एक पुत्र उत्पन्न किया। वह उसे राजाके समीप लायी, परन्तु राजाने उसे स्वीकार करनेसे मना कर दिया। बादमें दैववाणीके आदेशसे दुष्मन्तने उसे अङ्गीकार कर लिया।

दुष्मन्तके पुत्र भरत पितृ-वियोगके पश्चात् राजसिंहासनपर विराजमान हुए। वे भगवान् विष्णुकी आराधना करते थे और ब्राह्मणोंको बहुत दान करते थे। वे निःसन्तान थे, इसलिए उन्होंने बृहस्पति द्वारा अपनी भाभी ममताके गर्भसे उत्पन्न भरद्वाजका पुत्रके रूपमें वरण कर लिया।

भरद्वाजकी वंश-परम्परामें उत्पन्न रन्तिदेव समस्त प्राणियोंमें भगवद्भावका दर्शन करते थे और काय-मनो-वाक्यसे भगवत् सेवामें नियुक्त रहते थे। वे अपना आहार्य दूसरोंको प्रदान करके अनशनमें ही दिन यापन किया करते थे। एक बार उन्होंने मात्र जलपान करके अड़तालीस दिन बिताये। बादमें यदृच्छाक्रमसे प्राप्त भोजन-ग्रहणकालमें कोई अतिथि आया। राजाने अपना आहार अतिथिको प्रदान कर दिया तथा जलपान करनेके लिए तत्पर हुए ही थे कि कोई प्यासा अतिथि भी वहाँ आ गया। उन्होंने उसे जल प्रदान करके भगवद्भक्तकी सहिष्णुताका परिचय प्रदान किया। भगवान्ने भक्तकी महिमा प्रदर्शनके छलसे उस लीलाका अभिनय करके अन्तमें उनको अन्तरङ्ग सेवाका अधिकार प्रदान किया।

भरद्वाजवंशीय गर्ग क्षत्रिय होनेपर भी उनके पुत्र शिनिसे गार्ग्य ब्राह्मण उत्पन्न हुए। उनकी शौक्र परम्परामें मुद्गलसे मौद्गल ब्राह्मण कुलकी उत्पत्ति हुई। मुद्गलकी कन्या अहल्यासे गौतमका विवाह हुआ। गौतमके प्रपौत्र हुए कृप। द्रोणाचार्यने इन्हींकी बहन कृपीसे विवाह किया।

मुद्गलके पुत्र दिवोदासके वंशमें द्रुपदका जन्म हुआ। उनके पुत्र हुए धृष्टद्युम्न और पुत्री हुई द्रौपदी। शिनिके वंशधर अजमीढ़का पौत्र था कुरु। कुरुसे शौक्र-परम्परामें हुए प्रतीप और उनके पुत्र

हुए शान्तनु और देवापि। शान्तनुने कनिष्ठ होकर भी पिताका राज्य ग्रहण कर लिया, जिसके फलस्वरूप बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणोंके परामर्शसे उन्होंने तब बड़े भाई देवापिको राज्य प्रदान करनेकी अभिलाषा व्यक्त की, किन्तु देवापि मन्त्रियोंके षड्यन्त्रसे राज्यपदके अनुपयुक्त प्रमाणित हुए। तब शान्तनु पुनः राजा हुए और अनावृष्टि दूर हुई। शान्तनुके औरससे गङ्गाके गर्भसे बारह महाजनोमें-से अन्यतम भीष्म एवं दासकन्याके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। दासकन्या सत्यवती और पराशरके पुत्र व्यासदेव थे। उन्होंने परम गुह्य भागवत-रहस्य शुकदेवजीको प्रदान किया था। श्रीव्यासदेवने विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर नामक तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया। धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र और दुःशला नामकी कन्या थी। पाण्डुके युधिष्ठिरादि पाँच पुत्र थे। तृतीय पाण्डव अर्जुनके औरससे अभिमन्युका जन्म हुआ। अभिमन्युपुत्र परीक्षित् श्रीमद्भागवतके श्रोता हैं, उनके जन्मेजयादि चार पुत्र हैं।

ययाति-तनय अनुसे पुत्र-पौत्रादि क्रमसे रोमपाद उत्पन्न हुए। उन्होंने राजा दशरथकी कन्या शान्ताको पालिता पुत्रीके रूपमें ग्रहण किया। ययातिके पुत्रोंसे यादव, माधव एवं वृष्णि वंशकी उत्पत्ति हुई। यदुके वंशमें उत्पन्न विदर्भसे अनमित्रके वृष्णि नामक पुत्र हुए और उनके पुत्र हुए अक्रूर।

विदर्भवंशमें अन्धकके वंशानुक्रममें आहुक हुए। उनके दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन। वसुदेवने देवककी सात पुत्रियोंसे विवाह किया। उग्रसेनका पुत्र था कंस।

यदुपुत्र क्रोष्टाके वंशमें वसुदेव उत्पन्न हुए। वसुदेवकी बहन पृथाका (नामान्तरसे कुन्तीका) विवाह राजा पाण्डुसे हुआ। इनकी कन्यकावस्थामें ही कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वसुदेवकी देवकी नामक पत्नीसे भगवान् वासुदेवने अष्टमपुत्रके रूपमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीका भार हरण किया था। वसुदेवकी एक और पत्नी रोहिणीसे बलदेवका आविर्भाव हुआ।





श्रीमद्भागवतम्

नवमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुके पुत्र राजा सुद्युम्नकी कथा

श्रीराजोवाच—

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे।

वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च॥१॥

राजा परीक्षितने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने सब मन्वन्तरों एवं उन मन्वन्तरोंमें हुए असीम पराक्रमशाली भगवान् श्रीहरिके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र एवं मधुर लीलाओंका वर्णन किया और मैंने आपसे उन सबका श्रवण भी किया॥१॥

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः।

ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया॥२॥

स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्।

त्वत्तस्तस्य सुताः प्रोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः॥३॥

मैंने आपसे सुना कि सत्यव्रत नामके राजर्षि द्रविड़ देशके राजा थे। उन्होंने पिछले कल्पके अन्तमें भगवान्की आराधना करके तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। वे ही इस कल्पमें (परवर्तीकालमें) वैवस्वत मनु (विवस्वान्के पुत्र) हुए। आपने उनके इक्ष्वाकु आदि राजपुत्रोंका भी वर्णन किया॥२-३॥

तेषां वंशं पृथग् ब्रह्मन् वंशानुचरितानि च।

कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः॥४॥

हे महाभाग! अब आप उन राजाओंके वंश और उनके वंशजोंके चरित्रोंका अलग-अलग वर्णन कीजिए। हे ब्रह्मन्! हमारे हृदयमें सदैव ऐसी कथाओंको सुननेकी उत्कण्ठा बनी रहती है॥४॥

ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये।

तेषां नः पुण्यकीर्त्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान्॥५॥

अब आप वैवस्वत मनुके वंशमें उत्पन्न पवित्र कीर्त्तिवाले उन पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन कीजिए, जो हो चुके हैं, भविष्यमें उत्पन्न होंगे और इस समय विद्यमान हैं॥५॥

श्रीसूत उवाच—

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम्।

पृष्टः प्रोवाच भगवान् शुकः परमधर्मवित्॥६॥

श्रीसूतने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! ब्रह्मवादियोंकी सभामें राजा परीक्षितने परमधर्मको जाननेवाले तथा परम पूजनीय श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जब यह पूछा, तब वे इस प्रकार कहने लगे—॥६॥

श्रीशुक उवाच—

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप।

न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परन्तप (शत्रुओंको) ताप देनेवाले परीक्षित! तुम मनुके वंशके विषयमें विस्तारसे सुनो! यद्यपि सैकड़ों वर्षोंमें भी उनके बारेमें विस्तारसे बतलाया नहीं जा सकता, तो भी जितना सम्भव होगा, मैं कहूँगा॥७॥

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः।

स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यत्र किञ्चन॥८॥

जो उत्कृष्ट-निकृष्ट (अच्छे-बुरे), छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें आत्माके रूपमें विद्यमान हैं, वे परमपुरुष भगवान् श्रीहरि ही कल्पके अन्तमें एकमात्र विद्यमान थे। उनके अतिरिक्त यह दिखायी देनेवाला जगत् अथवा अन्य कुछ भी नहीं था॥८॥

तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोषो हिरण्मयः।
तस्मिन् जज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः॥९॥

महाराज! उन्हीं परमपुरुषकी नाभिसे सुवर्णमय पद्मकोष उत्पन्न हुआ, जिसमें चार मुखवाले ब्रह्माका आविर्भाव हुआ॥९॥

मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः॥१०॥

ब्रह्माजीके मनसे मरीचि प्रकट हुए, मरीचिके औरससे एवं दाक्षायणीके गर्भसे कश्यप हुए। कश्यपकी धर्मपत्नी दक्षपुत्री अदितिसे विवस्वान् (सूर्य)का जन्म हुआ॥१०॥

ततो मनुः श्रद्धादेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥११॥

इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रज्व नभगज्व कविं विभुः॥१२॥

हे भारत! विवस्वान्की पत्नी संज्ञासे श्रद्धादेव मनुने जन्म लिया। इन्द्रियोंको जीतनेवाले महामनस्वी मनु और उनकी पत्नी श्रद्धासे दस पुत्र—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि उत्पन्न हुए॥११-१२॥

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वशिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोद्विभुः॥१३॥

वैवस्वत मनुकी एक भी सन्तान नहीं थी। अतः तत्त्वको जाननेवाले और महान् ऐश्वर्यशाली वशिष्ठजीने उन्हें सन्तान प्राप्त करानेके लिए मित्र एवं वरुणकी प्रसन्नता हेतु एक यज्ञ कराया॥१३॥

तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत।
दुहितृर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता॥१४॥

यज्ञके समय केवल दूध पीकर रहनेका व्रत (पयोव्रत) करनेवाली वैवस्वत मनुकी पत्नी श्रद्धा होताके (यज्ञके पुरोहितके)

पास गयी। उसने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनसे एक कन्याके लिए प्रार्थना की॥१४॥

प्रेषितोऽध्वर्युणा होता व्यचरत् तत्समाहितः।

गृहीते हविषि वाचा वषट्कारं गृणन् द्विजः॥१५॥

“अरे! यज्ञमें आहुति डालो”—मुख्य पुरोहित अध्वर्युने (यजुर्वेदवित्ने) जब यह आदेश किया, तो होता बने ब्राह्मणने संयत मनसे हवन-सामग्री ली और वह उसे यज्ञकी अग्निमें डालने लगा। तभी उसे महारानी श्रद्धाकी कन्या-प्राप्तिकी प्रार्थना याद आ गयी। अतः उसने मुखसे वषट्कारका उच्चारण किया और मनमें मनु-पत्नीके प्रार्थित विषयका ध्यान करते हुए यज्ञकुण्डमें आहुति दी॥१५॥

होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत्।

तां विलोक्य मनुः प्राह नातितुष्टमना गुरुम्॥१६॥

मनुने तो पुत्रके लिए यज्ञ कराना आरम्भ किया था, किन्तु होताने मनुकी पत्नीके अनुरोधपर कन्याके लिए सङ्कल्प कर लिया। इस व्यभिचारके फलस्वरूप इला नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। इस विपरीत फलको देखकर मनु अधिक प्रसन्न नहीं हुए और गुरु वशिष्ठसे कहने लगे—॥१६॥

भगवन् किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम्।

विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया॥१७॥

हे भगवन्! आप तो ब्रह्मको जाननेवाले हैं अर्थात् वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें निपुण हैं। फिर इस यज्ञकर्मका फल विपरीत कैसे हो गया? अरे! यह तो बड़े दुःखकी बात है। मन्त्रोंका इस प्रकारसे विपर्यय अर्थात् उल्टा फल होना ठीक नहीं है॥१७॥

यूयं ब्रह्मविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः।

कुतः सङ्कल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव॥१८॥

आप लोग तो ब्रह्मवादी हैं। आपका चित्त संयमित है। तपस्याके प्रभावसे आपके सभी पाप नष्ट हो चुके हैं। जिस प्रकार

देवताओंके वचन मिथ्या नहीं होते, उसी प्रकार आपके सङ्कल्प भी अन्य (उल्टे) फल देनेवाले नहीं होते। तब किस कारणसे ऐसा हुआ? ॥१८॥

निशम्य तद्वचस्तस्य भगवान् प्रपितामहः।

होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥ १९ ॥

मनुके इन वचनोंको सुनकर प्रपितामह वशिष्ठ जान गये कि यज्ञमें होताने व्यतिक्रम अर्थात् विपरीत कार्य किया है। अतः उन्होंने सूर्यपुत्र मनुसे कहा— ॥१९॥

एतत् सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः।

तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजस्त्वं स्वतेजसा ॥ २० ॥

राजन्! यज्ञमें तुम्हारे होताके व्यभिचार दोषके (अन्य प्रकारके) सङ्कल्पके कारण हमारे सङ्कल्पका ठीक फल नहीं हुआ। फिर भी मैं अपने तपके प्रभावसे तुम्हें अति उत्तम पुत्र प्रदान करूँगा ॥२०॥

एवं व्यवसितो राजन् भगवान् स महायशाः।

अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥ २१ ॥

परीक्षित्! महायशस्वी भगवान् वशिष्ठने इस प्रकार निश्चय करके उस इला नामकी कन्याको ही पुरुष बना देनेकी कामनासे आदिपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी स्तुति की ॥२१॥

तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः।

ददाविलाऽभवत् तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥ २२ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर उन्हें इच्छित फल प्रदान किया, जिससे वह इला नामकी कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुरुषमें परिणत हो (बदल) गयी ॥२२॥

स एकदा महाराज विचरन् मृगयां वने।

वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥ २३ ॥

प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान्।

दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २४ ॥

महाराज! एक समयकी बात है, वीर सुद्युम्न कुछ मन्त्रियोंके साथ सिंधु देशके घोड़ेपर सवार होकर शिकारके लिए वनमें विचरण कर रहे थे। उनके शरीरपर कवच बँधा हुआ था। हाथोंमें मनोहर धनुष एवं अद्भुत बाणोंको लेकर वे हिरनोंका पीछा करते-करते उत्तर दिशामें बहुत दूर निकल गये॥२३-२४॥

सुकुमारवनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।

यत्रास्ते भगवान् शर्वो रममाणः सहोमया॥२५॥

उत्तर दिशामें मेरु पर्वतकी तलहटीमें एक अति सुकुमार वन है। वहाँ भगवान् शिव उमाके साथ सर्वदा विहार करते हैं, सुद्युम्न उसी वनमें चले गये॥२५॥

तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा।

अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वञ्च वडवां नृप॥२६॥

हे राजन्! शत्रुओंका दमन करनेमें निपुण महाराज सुद्युम्नने उस वनमें प्रवेश करते ही देखा कि वह स्वयं स्त्री हो गये हैं और उनका घोड़ा, घोड़ी बन गया है॥२६॥

तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम्।

दृष्ट्वा विमनासेऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम्॥२७॥

उनके सब अनुचरोंने भी देखा कि उनका भी लिङ्ग विपरीत हो गया है, वे सब स्त्री हो गये हैं। यह देखकर वे सब बहुत दुःखी हो गये और एक-दूसरेका मुख देखने लगे॥२७॥

श्रीराजोवाच—

कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवन् कृतः।

प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः॥२८॥

राजा परीक्षितने पूछा—भगवन्! उस स्थानमें ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया? किसने उस भूखण्डको ऐसा प्रभाव-सम्पन्न बना दिया था? कृपा करके मेरे इन प्रश्नोंके उत्तर दीजिए। मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है॥२८॥

श्रीशुक उवाच—

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः।

दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन् ॥ २९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—एक बार बड़े-बड़े व्रतधारी ऋषि अपने तेजसे समस्त अन्धकारको (तथा अन्य समस्त दीप्तियोंको) नष्ट करते हुए और सभी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए भगवान् शङ्करका दर्शन करनेके लिए उस वनमें पधारे ॥ २९ ॥

तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम्।

भर्तुरङ्गात् समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥ ३० ॥

उस समय देवी अम्बिका वस्त्रहीन थीं। अचानक ऋषियोंको आया देख वे बहुत ही लज्जित हो गयीं। वे शीघ्र ही अपने पतिकी गोदसे उतरीं और अपने कमरवाले भागको (नीवीको) वस्त्रसे ढक लिया ॥ ३० ॥

ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः।

निवृत्ताः प्रययुस्तस्मात्तरनारायणाश्रमम् ॥ ३१ ॥

ऋषियोंने जब देखा कि भगवान् शिव और पार्वती इस समय विहार कर रहे हैं, तो वे वहाँसे लौटकर भगवान् नर-नारायणके आश्रममें आ गये ॥ ३१ ॥

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया।

स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद्धवेदिति ॥ ३२ ॥

तभी भगवान् शिवने अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेके लिए कहा—मेरे अतिरिक्त जो भी पुरुष इस वनमें प्रवेश करेगा, वह स्त्री हो जाएगा ॥ ३२ ॥

तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयन्ति हि।

सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनम् ॥ ३३ ॥

यही कारण है कि इस वनमें कोई भी पुरुषरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतः राजा सुद्युम्न स्त्री रूपमें ही अपने

स्त्री बने हुए अनुचरोंके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरण करने लगे ॥३३॥

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम्।

स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः ॥३४॥

उसी समय चन्द्रमाके पुत्र शक्तिशाली बुधने देखा कि बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरी हुई एक अति सुन्दर स्त्री उनके आश्रमके पास ही विचरण कर रही है। भगवान् बुधके हृदयमें उस परम सुन्दरी स्त्रीके साथ रमण करनेकी इच्छा जाग उठी ॥३४॥

सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम्।

स तस्यां जनयामास पुरुरवसमात्मजम् ॥३५॥

उस सुन्दरीके हृदयमें भी चन्द्रमाके पुत्र बुधको पति बनानेकी चाह उदित हो गई। फलस्वरूप बुधने स्त्री बने हुए सुद्युम्नसे पुरुरवा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥३५॥

एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः।

सस्मार स कुलाचार्यं वशिष्ठमिति शुश्रुम ॥३६॥

परीक्षित्! इस प्रकार मनुके वंशमें उत्पन्न राजा सुद्युम्न स्त्री हो गये। ऐसा सुना जाता है कि स्त्री अवस्थाको प्राप्त होनेपर सुद्युम्नने कुलगुरु वशिष्ठका स्मरण किया ॥३६॥

स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः।

सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥

वशिष्ठजी सुद्युम्नकी इस शोचनीय दशाको देखकर अत्यन्त दुःखी हो गए। कृपा-वश होकर वे उन्हें पुनः पुरुष रूप प्राप्त कराना चाहते थे। अतः उन्होंने भगवान् शङ्करकी आराधना की ॥३७॥

तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन्।

स्वाञ्च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते ॥३८॥

मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः।

इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥३९॥

हे राजन्! वशिष्ठजीकी आराधनासे भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट हुए, वे वशिष्ठजीकी इच्छा पूरी करना चाहते थे और अपने वचनोंकी सत्यताकी रक्षा करना चाहते थे, अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—‘हे मुने! तुम्हारे गोत्र (परम्परा)में उत्पन्न तुम्हारा यह शिष्य सुद्युम्न एक माह पुरुष और एक माह स्त्री रहेगा। इसी व्यवस्थामें सुद्युम्न अपनी इच्छासे पृथ्वीका पालन करेगा॥३८-३९॥

आचार्यानुग्रहात् कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया।

पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः॥४०॥

आचार्य वशिष्ठकी कृपासे सुद्युम्न शिवजी द्वारा बताई इस व्यवस्थाके अनुसार एक माह बाद पुरुष हो जाते थे और एक मास स्त्री होनेके कारण छिपकर रहते थे। इसी प्रकारसे वे राज्यपर शासन कर रहे थे, परन्तु प्रजा उनसे सन्तुष्ट नहीं थी॥४०॥

तस्योत्कलो गयो राजन् विमलश्च त्रयः सुताः।

दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः॥४१॥

राजन्! सुद्युम्नके तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और विमल। वे सब बहुत धार्मिक थे और सभी दक्षिणापथके राजा हुए॥४१॥

ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः।

पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम्॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवम स्कन्धे इलोपाख्यानं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

बहुत समयके बाद वृद्धावस्था आनेपर प्रतिष्ठान देशके राजा सुद्युम्नने अपने पुत्र पुरूरवाको राज्य दे दिया और स्वयं तपस्याके लिए वनमें चले गये॥४२॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके पहले अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

पृषध्र आदि मनुके पाँच पुत्रोंका वंश

श्रीशुक उवाच—

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते।

पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब वैवस्वत मनु श्राद्धदेवके पुत्र सुद्युम्न तपस्याके लिए वनमें चले गये, तब वैवस्वत मनु श्राद्धदेवने पुत्रकी इच्छासे यमुनाजीके तटपर सौ वर्षोंतक तपस्या की॥१॥

ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम्।

इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्रान् लेभे स्वसदृशान् दश॥२॥

तपस्याके बाद मनु श्राद्धदेवने सन्तान-प्राप्तिके लिए भगवान् श्रीहरिकी आराधना की और अपने ही समान दस पुत्र प्राप्त किये। इनमें सबसे बड़े इक्ष्वाकु थे॥२॥

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः।

पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः॥३॥

उन मनुपुत्रोंमेंसे एकका नाम पृषध्र था। गुरु वशिष्ठने उसे गायोंका रक्षक नियुक्त किया था। वह रातके समय वीरासनमें बैठा रहता था अर्थात् खड्ग हाथमें लेकर बड़ी सावधानीसे गायोंकी रक्षा करता था॥३॥

एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति।

शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे॥४॥

एक बार रातमें वर्षा हो रही थी। गायें सोई हुई थीं। अचानक गौशालामें एक बाघ घुस आया। बाघको देखकर गायें भयभीत होकर खड़ी हो गयीं और गौशालामें इधर-उधर भागने लगीं॥४॥

एकां जग्राह बलवान् सा चुक्रोश भयातुरा।
 तस्यास्तु क्रन्दितं श्रुत्वा पृषघ्नोऽनुससार ह॥५॥
 खड्गमादाय तरसा प्रलीनोऽङ्गणे निशि।
 अजानत्रच्छिनोद्बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया॥६॥

उस बलवान् बाघने एक गायपर हमला कर दिया। वह गाय अत्यन्त भयभीत हो गयी और आर्त स्वरमें रम्भाने लगी। पृषधने जैसे ही गायका भयपूर्ण स्वर सुना, वह दौड़कर गायके पास आया। रातका समय था, घनघोर घटाएँ छायी हुई थीं। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, तारे भी दिखायी नहीं देते थे। ऐसे समयमें पृषधने शीघ्रतासे अपनी तलवार निकाली और बड़ी तेजीसे अनजानेमें बाघके स्थानपर गायका मस्तक काट दिया॥५-६॥

व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः।
 निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन्॥७॥

तलवारकी नोकसे बाघका भी कान कट गया। वह अत्यधिक भयके कारण वहाँसे भाग गया। उसके कानसे रक्त बह रहा था॥७॥

मन्यमानो इतं व्याघ्रं पृषधः परवीरहा।
 अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः॥८॥

शत्रुओंका दमन करनेवाला पृषध यही समझ रहा था कि उसने बाघको मार गिराया है, परन्तु रात बीत जानेपर जब सुबह हुई, तब उसने देखा कि उसने तो गायको ही मार दिया है। इससे वह बड़ा ही दुःखी हुआ॥८॥

तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।
 न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भविताऽमुना॥९॥

यद्यपि पृषधने अनजानेमें यह अपराध किया था, फिर भी कुलपुरोहित वशिष्ठने उसे शाप दे दिया कि 'तुम इस पापके कारण क्षत्रिय नहीं रहोगे, शूद्र होकर जन्म ग्रहण करोगे'॥९॥

एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात् कृताञ्जलिः।
अधारयद्ब्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम्॥१०॥

अपने कुलगुरुके इस शापको पृषधने हाथ जोड़कर स्वीकार कर लिया। इसके बाद उस वीरने सदाके लिए मुनियोंको प्रिय लगनेवाले ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण किया॥१०॥

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः॥११॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः॥१२॥
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः॥१३॥

अब तो पृषध समस्त आसक्तियोंसे मुक्त हो गया। उसकी इन्द्रियाँ संयमित हो गयीं, चित्त पूरी तरहसे शान्त हो गया। वह निःस्पृह भावसे रहने लगा, उसकी किसी भी वस्तुकी प्राप्ति अथवा संग्रहकी इच्छा समाप्त हो गयी। दैववश उसे जो कुछ भी मिल जाता, उसीसे वह अपना जीवन-यापन करता। भक्तियोगके प्रभावसे उसके हृदयमें सभी प्राणियोंके लिये समभाव और मैत्रीभाव आ गया। बिना किसी कारणके वह सभीका हित करने वाला हो गया। इस प्रकार उसने सभी प्राणियोंके आत्मा, विशुद्धसत्त्व, परमपुरुष भगवान् वासुदेवके चरणोंमें अनन्य प्रेम प्राप्त कर लिया। वह आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट रहकर और अपने संयत चित्तको परमात्मामें लगाकर समाधि अवस्थामें रहता। कभी-कभी तो वह जड़, अन्धे एवं बहरेके समान पृथ्वीपर इधर-उधर घूमता रहता॥११-१३॥

एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम्।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः॥१४॥

इस प्रकार पृषध मुनि बन गया। एक दिन वह वनमें गया। वहाँ उसने देखा कि दावानल धधक रहा है। मुनि पृषधने उसी

अग्निमें अपनी देहको भस्म कर दिया और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गया॥१४॥

कविः कनीयान् विषयेषु निस्स्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम्।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं।
विवेश कैशोरवयाः परं गतः॥१५॥

वैवस्वत मनुका सबसे छोटा पुत्र था कवि। विषयोंमें उसकी तनिक भी रुचि न थी। युवावस्थासे पहले ही उसने राजपाटका परित्याग कर दिया था और अपने बन्धुओंको लेकर वनमें चला गया था। वहाँ उसने स्वयंप्रकाश परमपुरुष परमात्माका हृदयमें चिन्तन करते हुए किशोरावस्थामें ही परमपदको प्राप्त कर लिया॥१५॥

करूषान्मानवादासन् कारूषाः क्षत्रजातयः।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः॥१६॥

मनुपुत्र करूषसे कारूष नामके क्षत्रिय उत्पन्न हुए। कारूष उत्तरापथके रक्षक थे, ब्राह्मणोंके भक्त थे और धर्मका प्रेमपूर्वक आचरण करनेवाले थे॥१६॥

धृष्टाद्धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः॥१७॥

मनुपुत्र धृष्टसे धार्ष्ट नामक एक सुविख्यात क्षत्रिय जातिकी उत्पत्ति हुई। धार्ष्ट लोगोंने उन शरीरोंसे ही ब्राह्मणके पदको प्राप्तकर लिया था। मनुपुत्र नृगसे सुमति नामका पुत्र हुआ। सुमतिका पुत्र भूतज्योति और भूतज्योतिका पुत्र वसु था॥१७॥

वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम्॥१८॥

वसुका पुत्र प्रतीक और प्रतीकका पुत्र ओघवान् था। ओघवान्के पुत्रका नाम भी ओघवान् ही था। उनकी ओघवती नामकी एक पुत्री भी थी। ओघवतीका विवाह सुदर्शनसे हुआ॥१८॥

चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत्।

तस्य मीढ्वांस्ततः पूर्ण इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः॥१९॥

मनुके पुत्र नरिष्यन्तसे चित्रसेनका जन्म हुआ। चित्रसेनके पुत्रका नाम था ऋक्ष, ऋक्षसे मीढ्वान्, मीढ्वान्से पूर्ण और पूर्णके पुत्र हुए इन्द्रसेन॥१९॥

वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत्।

उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत्॥२०॥

इन्द्रसेनसे वीतिहोत्र उत्पन्न हुए। वीतिहोत्रके पुत्र थे सत्यश्रवा। सत्यश्रवासे उरुश्रवा और उरुश्रवाके पुत्र देवदत्त हुए॥२०॥

ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः।

कानीन इति विख्यातो जातूकर्णो महानृषिः॥२१॥

देवदत्तसे अग्निवेश्यका जन्म हुआ, जो साक्षात् स्वयं अग्निदेव ही थे। ये अग्निवेश्य ही बादमें कानीन एवं जातूकर्ण ऋषिके नामसे विख्यात हुए॥२१॥

ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप।

नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु॥२२॥

राजन्! इन्हीं अग्निवेश्यसे 'अग्निवेश्यायन' नामक ब्राह्मण-कुलका जन्म हुआ है। यह नरिष्यन्तके वंशका वर्णन मैंने तुम्हें सुनाया। अब दिष्टके वंशके विषयमें सुनो॥२२॥

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।

भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात्॥२३॥

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः।

खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः॥२४॥

दिष्टके नाभाग नामका एक पुत्र था। यह नाभाग उस नाभागसे भिन्न है, जिसकी कथा मैं आगे चलकर कहूँगा। यह दिष्टपुत्र नाभाग अपने कर्मके कारण वैश्य बन गया था। नाभागका पुत्र

भलन्दन हुआ, भलन्दनका वत्सप्रीति और वत्सप्रीतिका पुत्र था प्रांशु। प्रांशुका पुत्र प्रमति हुआ। प्रमतिका खनित्र, खनित्रका चाक्षुष और चाक्षुषका पुत्र विविंशति हुआ॥२३-२४॥

विविंशतो सुतो रम्भः खनीनेत्रोऽस्य धार्मिकः।

करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप॥२५॥

विविंशतिके पुत्रका नाम रम्भ था और रम्भका पुत्र था खनीनेत्र। रम्भ और खनिनेत्र—दोनों ही अत्यन्त धार्मिक थे। खनीनेत्रके पुत्र थे राजा करन्धम॥२५॥

तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।

संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरःसुतः॥२६॥

करन्धमसे अवीक्षित् और अवीक्षित्से मरुत्त हुए। हे महाराज परीक्षित्! ये अवीक्षित्के पुत्र मरुत्त एक चक्रवर्ती राजा हुए। अङ्गिराके पुत्र महायोगी संवर्त्त ऋषिने इन्हीं मरुत्तसे एक महान् यज्ञ कराया था॥२६॥

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्योऽस्ति कश्चन।

सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किञ्चास्त्यस्य शोभनम्॥२७॥

मरुत्त राजाके यज्ञके समान आज तक किसीका भी यज्ञ नहीं हुआ। इस यज्ञके सभी पात्र सोनेके बने हुए थे, अतः सभी पात्र अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर थे॥२७॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।

मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः॥२८॥

इस यज्ञमें इन्द्रने सोमरसका अधिक मात्रामें पान कर लिया था, जिसके कारण वे मतवाले हो गये थे। याज्ञिक ब्राह्मणोंको इतनी अधिक दक्षिणा मिली कि वे पूर्णतः तृप्त हो गए थे। इस यज्ञमें मरुद्गणोंने भोजन परोसा था और विश्वेदेव सभासद् थे॥२८॥

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद्राजवर्द्धनः।

सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः॥२९॥

मरुत्तके पुत्रका नाम दम था। दमका पुत्र राजवर्धन, राजवर्धनसे सुधृति और सुधृतिसे नर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥२९॥

तत्पुतः केवलस्तस्माद् धुन्धुमान् वेगवांस्ततः।

बुधस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः॥३०॥

नरका पुत्र केवल था। केवलसे धुन्धुमान्, धुन्धुमान्से वेगवान्, वेगवान्से बुध और बुधसे राजा तृणबिन्दुका जन्म हुआ। वे पृथ्वीपर यशस्वी सम्राट् हुए॥३०॥

तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम्।

वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेलविलाभवत्॥३१॥

तृणबिन्दु सुयोग्य एवं गुणोंके भण्डार थे। अप्सराओंमें श्रेष्ठ अलम्बुषा देवीने इनका पतिके रूपमें वरण किया, जिससे उनके विशाल आदि कई पुत्र और इलविला नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई॥३१॥

यस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम्।

प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरः पितुः॥३२॥

महायोगी ऋषि विश्रवाने अपने योगेश्वर पिता ऋषि पुलस्त्यजीसे तत्त्वविद्या प्राप्त करके इलविलाके गर्भसे धनके अधिपति लोकपाल कुबेरको पुत्ररूपसे उत्पन्न किया॥३२॥

विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः।

विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्॥३३॥

तृणबिन्दुके तीन पुत्रोंके नाम हैं—विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु। इनमें राजा विशाल वंशके रक्षक हुए। उन्होंने वैशाली नामकी पुरीको बसाया॥३३॥

हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः।

तत्पुत्रात् संयमादासीत् कृशाश्वः सहदेवजः॥३४॥

विशालसे हेमचन्द्र, हेमचन्द्रसे धूम्राक्ष, धूम्राक्षसे संयम और संयमके दो पुत्र हुए—देवज और कृशाश्व॥३४॥

कृशाश्वत् सोमदत्तोऽभूद्योऽश्वमेधैरिडस्पतिम्।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्यां गतिं योगेश्वराश्रिताम् ॥ ३५ ॥

सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्पुत्रो जनमेजयः।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रेभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

कृशाश्वके पुत्र सोमदत्त थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ द्वारा यज्ञके ईश्वर भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना की और उस उत्तम गतिको प्राप्त किया, जो महायोगियोंको प्राप्त होती है। सोमदत्तके पुत्रका नाम सुमति था। सुमतिसे जनमेजयका जन्म हुआ। इस प्रकार राजा विशालके वंशमें उत्पन्न होनेवाले राजाओंने तृणबिन्दुके वंशकी कीर्तिका विस्तार किया ॥ ३५-३६ ॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके दूसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

महर्षि च्यवन और सुकन्याका विवाह तथा
राजा शर्यातिका वंश

श्रीशुक उवाच—

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः सम्बभूव ह।

यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमहरूचिवान्॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनुके पुत्र राजा शर्याति वेदोंमें पारङ्गत थे। उन्होंने अङ्गिरा आदि ऋषियोंको यज्ञमें दूसरे दिनके कर्त्तव्य कर्मोंके विषयमें उपदेश दिया था॥१॥

सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना।

तया सादर्थं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम्॥२॥

राजा शर्यातिकी एक कमलनयना पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था। एक बार वे अपनी पुत्रीके साथ वनमें गये और घूमते-घूमते च्यवन ऋषिके आश्रममें पहुँच गये॥२॥

सा सखीभिः परिवृता विचिन्वत्यङ्घ्रिपान् वने।

वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी॥३॥

सुकन्या अपनी सखियोंके साथ वनमें घूमते समय वृक्षोंसे फल एकत्र करने लगी, तभी उसने देखा कि बाँबी (दीमकों द्वारा एकत्रित की हुई मिट्टी) के छेदोंमेंसे जुगनूके समान दो ज्योतियाँ चमक रही हैं॥३॥

ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै।

अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्नावासृक् ततो बहिः॥४॥

दैवकी कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि बालिका सुकन्याने मोहित-सी होकर एक काँटेसे उन दोनों ज्योतिर्मय पदार्थोंको बेध दिया। बेधते ही उनमें-से रक्त बहने लगा॥४॥

शकुन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानाञ्च तत्क्षणात्।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत् ॥५॥

सुकन्याके ऐसा करते ही उसी क्षण राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया। यह देखकर राजा शर्यातिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने सैनिकोंसे कहने लगे— ॥५॥

अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम्।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥६॥

‘अहो! कैसी आश्चर्यकी बात है। तुम लोगोंमें-से किसीने भृगुनन्दन च्यवनजीका कोई अनिष्ट तो नहीं कर दिया है? निश्चय ही हममें-से किसी-न-किसीने आश्रमवासियोंके प्रति कुछ अपराध कर दिया है’ ॥६॥

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित् कृतं मया।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै ॥७॥

तब भयके कारण घबराती हुई सुकन्याने अपने पितासे कहा— ‘मुझसे कुछ अपराध हो गया है, मैंने अनजानेमें काँटेसे दो ज्योतियोंको बेध दिया है’ ॥७॥

दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः ॥८॥

पुत्रीकी बात सुनकर राजा शर्याति अत्यन्त भयभीत हो गये। उन्होंने बाँबीमें छिपे हुए च्यवनऋषिकी विविध प्रकारसे स्तुति की और उन्हें प्रसन्न कर लिया ॥८॥

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात् समाहितः ॥९॥

राजा शर्यातिका चित्त संयमित था। वे इस घटनाके निहित च्यवनऋषिका अभिप्राय जान गये। अतः उन्होंने अपनी पुत्री सुकन्याका विवाह उनसे कर दिया और इस प्रकार वे उस

कष्टदायक विपत्तिसे मुक्त हो गये। इसके बाद मुनिसे अनुमति लेकर वे अपनी नगरीको लौट आये ॥९॥

सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम्।

प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥ १० ॥

च्यवनमुनिका स्वभाव अत्यन्त उग्र था। उन्हें पतिके रूपमें पाकर सुकन्या बड़ी सावधानीसे उनकी सेवा करती और उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास करती। वह उनके मनके भावोंको जानकर उनके अनुसार ही व्यवहार करती ॥१०॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ।

तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥ ११ ॥

कुछ समय बीत जानेपर च्यवनमुनिके आश्रमपर दोनों अश्विनीकुमार आये। च्यवनमुनिने उन दोनोंका विधिपूर्वक आदर-सत्कार किया और कहा कि 'आप दोनों समर्थ हैं, अतः कृपा करके मुझे यौवन प्रदान कीजिए' ॥११॥

ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः।

क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥ १२ ॥

यज्ञमें यद्यपि आप लोग सोमरसके पानके अधिकारी नहीं हैं, फिर भी मैं आपको सोमरससे भरा हुआ पात्र यज्ञमें प्रदान करूँगा। आप मुझे स्त्रियोंका प्रिय-रूप एवं यौवन प्रदान करें ॥१२॥

बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ।

निमज्जतां भवानस्मिन् हृदे सिद्धविनिर्मिते ॥ १३ ॥

वैद्योंमें श्रेष्ठ दोनों अश्विनीकुमारोंने च्यवनमुनिके प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार कर लिया और उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—'ठीक है, ऐसा ही होगा। यह कुण्ड सिद्धोंने बनाया है, आप इसमें डुबकी लगाइए' ॥१३॥

इत्युक्तो जरया ग्रस्त-देहो धमनिसन्ततः।

हृदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविग्रहः ॥ १४ ॥

च्यवनमुनि बूढ़े हो गये थे। सारे बाल पक गये थे। शरीरमें नसोंका जाल दिखायी देता था। झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। अश्विनीकुमारोंने अति वृद्ध मुनिको अपने साथ लेकर उस कुण्डमें प्रवेश किया ॥१४॥

पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीव्या वनिताप्रियाः।

पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः ॥१५॥

तान् निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान् सूर्यवर्चसः।

अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ ॥१६॥

इसके बाद उस कुण्डमें-से तीन पुरुष बाहर निकले। वे तीनों बहुत ही सुन्दर और युवतियोंको प्रिय लगनेवाले थे। उनके हाथोंमें कमलके फूलोंकी माला थी। उन्होंने कानोंमें कुण्डलधारण किये थे और वे सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित थे। तीनोंकी आकृति समान थी। परमसुन्दरी एवं पतिव्रता सुकन्याने जब सूर्यके समान तेजस्वी और समान आकृतिवाले तीन पुरुषोंको देखा, तो वह समझ न पायी कि उनमें-से कौन-से उसके पति हैं। जब अश्विनीकुमारोंने उससे कहा-‘हम तीनोंमें-से जो तुम्हारा पति है, उसे चुन लो।’ तब सुकन्याने कहा-आपमें-से जो दो अश्विनीकुमार हैं, वे ही मुझपर कृपा करें और बतलावें कि मेरे पति कौन-से हैं? यह कहकर उसने अश्विनीकुमारोंकी शरण ली ॥१५-१६॥

दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ।

ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥१७॥

सुकन्याके पातिव्रत्य धर्मसे दोनों अश्विनीकुमार सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उसके पतिको दिखला दिया। इसके बाद वे च्यवनमुनिसे अनुमति लेकर विमानसे स्वर्गको चले गये ॥१७॥

यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः।

ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥

इधर राजा शर्याति यज्ञ करना चाहते थे। अतः वे च्यवनमुनिके आश्रमपर आये। वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी पुत्री सुकन्याके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ है॥१८॥

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम्।

आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतिमना इव॥१९॥

पुत्रीने अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। शर्यातिने उसे आशीर्वाद नहीं दिया, बल्कि अत्यधिक अप्रसन्न होकर कहने लगे—॥१९॥

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया

प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः।

यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं

विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम्॥२०॥

हे कुलटे! तू क्या करना चाहती है? तूने अपने पति, जो समस्त जगत्के वन्दनीय हैं, उनको धोखा दे दिया? वे वृद्ध हो गये थे, अतः तुझे प्रिय नहीं थे, इसलिए तूने उनका त्याग कर दिया और अब तू असत् कुलमें उत्पन्न इस पथिककी पतिके रूपमें सेवा कर रही है?॥२०॥

कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां

कुलप्रसूते कुलदूषणन्त्विदम्।

बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं

पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः॥२१॥

अरे! तू तो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुई है, फिर तेरी मति विपरीत होकर कैसे असत्पथगामिनी हो गयी? तू निर्लज्ज होकर इस जार पुरुषकी (उपपतिकी) सेवा कैसे कर रही है? ऐसी गर्हित सेवासे तूने तो कुलपर कलङ्क ही लगा दिया। अरे! तूने तो अपने पिता और पति दोनोंके कुलको घोर नरकमें डाल दिया॥२१॥

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता।

उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥ २२ ॥

अपने सतीत्वपर अभिमान करनेवाली सुकन्या पिताके कटु वचनोंको सुनकर मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कहने लगी—पिताजी! जिन्हें आप मेरे पास देख रहे हैं, वे आपके जामाता स्वयं भृगुनन्दन महर्षि च्यवन ही हैं ॥ २२ ॥

शशंस पित्रे तत् सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम्।

विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिष्वजे ॥ २३ ॥

इसके बाद सुकन्याने अपने पिताको वह सारा वृत्तान्त सुनाया, जिससे च्यवनमुनिको रूप-यौवनकी प्राप्ति हुई थी। यह सब सुनकर राजा शर्याति आश्चर्यचकित हो गये और उन्होंने बड़े आनन्द एवं प्रीतिसे अपनी पुत्रीको गलेसे लगा लिया ॥ २३ ॥

सोमेन याजयन् वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत्।

असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

च्यवनमुनिने वीर शर्यातिसे सोमयज्ञ सम्पन्न करवाया और सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी अपने शक्ति-बलसे दोनों अश्विनीकुमारोंको सोमरससे पूर्ण पात्र प्रदान किये ॥ २४ ॥

हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः।

स वज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥ २५ ॥

इन्द्र बिना सोचे-विचारे ही क्रोध कर बैठते हैं। उनसे अश्विनीकुमारोंका सोमपान करना सहन नहीं हुआ। अतः उन्होंने बड़े क्रोधमें आकर च्यवनमुनिको मारनेके लिए वज्र उठा लिया। च्यवनमुनिने वज्र सहित इन्द्रके हाथको भी वहीं स्तम्भित (चेतना शून्य) कर दिया ॥ २५ ॥

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः।

भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥ २६ ॥

दोनों अश्विनीकुमार वैद्य थे, इसलिए देवताओंने उन्हें सोमरसका पान करनेके अधिकारसे वञ्चित कर रखा था, परन्तु इस घटनाके बाद सभी देवता उन्हें सोमरसका भाग देनेके लिए सहमत हो गये॥२६॥

उत्तानबर्हिरानर्त्तो भूरिषेण इति त्रयः।

शर्यातेरभवन् पुत्रा आनर्त्ताद्रेवतोऽभवत्॥ २७ ॥

परीक्षित्! राजा शर्यातिके तीन पुत्र हुए—उत्तानबर्हि, आनर्त्त और भूरिषेण। आनर्त्तसे रेवतका जन्म हुआ॥२७॥

सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम्।

आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्त्तादीनरिन्दम्।

तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुब्धिज्येष्ठमुत्तमम्॥ २८ ॥

हे अरिन्दम्! (शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज) हे परीक्षित्! रेवतने समुद्रके भीतर ही कुशस्थली नामकी एक नगरी बसायी थी। वहीं निवास करते हुए वे आनर्त्त आदि भूखण्डोंपर राज्य करते थे। रेवतके सौ पुत्र थे और सभी श्रेष्ठ थे। इनमें ककुब्धी सबसे बड़े थे॥२८॥

ककुब्धी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः।

पुत्र्या वरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम्॥ २९ ॥

ककुब्धी ब्रह्माजीसे अपनी पुत्रीके लिये वर पूछना चाहते थे। अतः वे अपनी पुत्री रेवतीको लेकर रज एवं तमो गुणोंके आवरणसे रहित ब्रह्मलोक गये। उस समय ब्रह्मलोकका रास्ता ऐसे लोगोंके लिए खुला हुआ था॥२९॥

आवर्त्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम्।

तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत्॥ ३० ॥

ब्रह्मलोकमें उस समय गन्धर्वगणोंका गाना-बजाना चल रहा था। अतः ककुब्धी कोई अवसर न देखकर कुछ समय वहीं ठहर गये। उत्सव समाप्त होनेके बाद उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया और अपने वहाँ आनेका उद्देश्य बताया॥३०॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह।

अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः ॥ ३१ ॥

परम सामर्थ्यशाली ब्रह्माजी ककुब्दीकी बात सुनकर हँस पड़े और बोले—हे राजन्! तुमने अपने मनमें जिन्हें जामाता बनानेका निश्चय किया है, वे सब तो कालक्रमसे मर चुके हैं ॥ ३१ ॥

तत्पुत्रपौत्रनप्तृणां गोत्राणि च न शृण्वहे।

कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः ॥ ३२ ॥

सत्ताईस चतुर्युग बीत चुके हैं। तुमने जिनको मन-ही-मनमें पति बनानेका निश्चय किया था, उनके पुत्र, पौत्र, वंशज आदिकी बात तो छोड़ ही दें, उनके तो गोत्र आदिका नाम भी सुननेको नहीं मिलता ॥ ३२ ॥

तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः।

कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः ॥ ३३ ॥

अतएव हे राजन्! तुम यहाँसे जाओ। देवाधिदेव विष्णु जिनके अंश हैं, वे महाबलवान् बलदेवजी इस समय पृथ्वीपर विद्यमान हैं। राजन्! आप अपनी रत्न-रूपी कन्याको उन्हीं नर-रत्नको समर्पण कर दें ॥ ३३ ॥

भुवो भारवताराय भगवान् भूतभावनः।

अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥ ३४ ॥

पुण्यश्रवणकीर्तन अर्थात् जिनके नाम, रूप, गुण एवं लीला आदिका श्रवण-कीर्तन सबको परम पवित्र कर देने वाला है—वे ही प्राणियोंके परम हितैषी भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिए अपने अंश बलरामजीके साथ पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ३४ ॥

इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः।

त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥ ३५ ॥

राजा ककुब्दीने ब्रह्माजीसे यह आदेश प्राप्त करके उनको प्रणाम किया और अपनी पुरीको लौट आए। इधर उनके भाइयोंने

यक्षके भयसे उस पुरीको छोड़ दिया था और इधर-उधर चारों दिशाओंमें रह रहे थे॥३५॥

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने।

बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम्॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवम स्कन्धे तृतीयोऽध्यायः॥

अनन्तर राजा ककुद्भीने अपनी परमसुन्दरी कन्याको परम बलशाली श्रीबलरामजीको सौंप दिया और स्वयं तपस्याके लिए वनमें चले गये॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके तीसरे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

नाभाग और महाराज अम्बरीषकी कथा

श्रीशुक उवाच—

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम्।

यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मनुपुत्र नभगका पुत्र था नाभाग। नाभाग बहुत समय तक गुरुगृहमें ही वास करता रहा। उसके भाइयोंने सोच लिया कि नाभागने सदाके लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया है, अब वह घर नहीं लौटेगा। अतः उन्होंने पिताकी सारी सम्पत्तिको आपसमें बाँट लिया। नाभागके लिए कोई धन नहीं छोड़ा। बादमें जब छोटा विद्वान् भाई नाभाग गुरुगृहसे घर लौटा, तो उसने अपना हिस्सा माँगा। उसके भाइयोंने उसके हिस्सेके रूपमें केवल पिताको ही दिया ॥१॥

भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव।

त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥

नाभागने अपने भाइयोंसे पूछा—‘भाइयो! पिताकी सम्पत्तिसे तुमने मेरे लिए क्या रखा है?’ भाइयोंने कहा—‘हमने तुम्हारे भागमें पिताको रखा है।’ यह सुनकर नाभाग पिताके पास गया और बोला—‘पिताजी! मेरे बड़े भाइयोंने आपकी सारी सम्पत्तिको आपसमें बाँट लिया है और मुझे हिस्सेके रूपमें केवल आपको ही दिया है।’ पिताने कहा—‘तुम उनकी इस प्रतारणा—मूलक बातको ठीक मत मानो।’ (मैं सम्पत्तिके समान भोग्य वस्तु नहीं हूँ, फिर भी मैं तुम्हें जीविका—निर्वाहका उपाय बताता हूँ।) ॥२॥

इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः।

षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥

इस समय अङ्गिरा गोत्रके ऋषि बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। यद्यपि वे सब अत्यधिक बुद्धिमान् हैं, फिर भी यज्ञमें प्रत्येक छठे दिन वे अपना कर्म करते-करते कुछ भूल कर बैठते हैं॥३॥

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः।

ते स्वयन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः॥४॥

दास्यन्ति तेऽथ तानर्च्छतथा स कृतवान् यथा।

तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषणम्॥५॥

तुम वहाँ जाकर उन महात्माओंको वैश्वदेवसे सम्बन्धित दो सूक्त बतला दो। यज्ञ समाप्त होनेपर जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञसे बचा हुआ सारा धन तुम्हें प्रदान करेंगे। नाभागने पिताकी आज्ञाका पालन किया। अङ्गिरा गोत्रके ऋषियोंने भी यज्ञका बचा हुआ सारा धन नाभागको दे दिया और स्वयं स्वर्गमें चले गये॥४-५॥

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः।

उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु॥६॥

नाभाग जैसे ही उस धनको लेनेके लिए तत्पर हुआ, ठीक उसी समय उत्तर दिशासे काले रंगका एक पुरुष आया और उससे कहने लगा 'इस यज्ञभूमिपर जो भी धन है, वह सब मेरा है'॥६॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः।

स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा॥७॥

नाभागने कहा—'यह धन मेरा है, ऋषियोंने यह धन मुझे दिया है।' नाभागके ऐसा कहनेपर काले रङ्गका पुरुष बोला—'इस विवादके समाधानके लिए तुम्हारे पितासे ही पूछा जाय, वे ही निर्णय करेंगे।' तब नाभागने पिताके पास जाकर उनसे इस विषयमें प्रश्न किया॥७॥

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्।

चक्रुर्हि भागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति॥८॥

पिताने कहा 'एक बार प्रजापति दक्षके यज्ञमें ऋषियोंने यह निश्चित किया था कि यज्ञभूमिमें जो भी वस्तुएँ बचेंगी, उन सबपर रुद्रदेवका ही अधिकार होगा। अतः यह धन रुद्रजीको ही मिलना चाहिए' ॥८॥

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम्।

इत्याह मे पिता ब्रह्मन् शिरसा त्वां प्रसादये ॥९॥

पितासे ऐसा सुनकर नाभागने श्रीरुद्रदेवको प्रणाम किया और कहा—'हे परमपूज्य प्रभो! इस यज्ञभूमिमें बची हुई सभी वस्तुएँ आपकी ही हैं, यह मेरे पिताने मुझसे कहा है। भगवन्! मैंने आपके प्रति अपराध किया है, इसलिए मैं सिर झुकाकर आपकी कृपाके लिए प्रार्थना करता हूँ' ॥९॥

यत् ते पितावदद्धर्मं त्वञ्च सत्यं प्रभाषसे।

ददामि ते मन्त्रदृशो ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥१०॥

भगवान् रुद्रने कहा—'तुम्हारे पिताने धर्मके अनुसार ही निर्णय किया है और तुमने भी मुझसे सत्य ही कहा है। मैं मन्त्रोंका ज्ञाता हूँ। अतः मैं तुम्हें सनातन ब्रह्म-तत्त्वका ज्ञान प्रदान करता हूँ' ॥१०॥

गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रपरिशेषितम्।

इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् धर्मवत्सलः ॥११॥

यहाँ इस यज्ञभूमिमें बचा हुआ मेरा जो भाग है, वह भी मैं तुम्हें देता हूँ, तुम इसे ग्रहण करो!' यह कहकर धर्मानुरागी (सत्यप्रेमी) भगवान् रुद्र वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥११॥

य एतत् संस्मरेत् प्रातः सायञ्च सुसमाहितः।

कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिञ्चैव तथात्मनः ॥१२॥

राजन्! जो मनुष्य प्रातः और सायंकाल एकाग्रचित्त होकर इस कथाका स्मरण करता है, वह विद्वान् और मन्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाला होता है। इसके साथ ही वह अपने स्वरूपको भी जान लेता है ॥१२॥

नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती।

नास्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित् ॥ १३ ॥

नाभागसे महाराज अम्बरीषने जन्म लिया। अम्बरीष भगवान् श्रीहरिके अनन्य प्रेमी परमभागवत, सुकृतिवान् और उदार हृदयवाले धर्मात्मा थे। ब्रह्मशाप कभी भी निष्फल नहीं होता, किन्तु वह महाराज अम्बरीषका स्पर्श भी न कर सका ॥ १३ ॥

श्रीराजोवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।

न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥ १४ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—‘हे परमपूज्य! मैं परम मेधावी राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ। अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि ब्राह्मणने उनपर क्रोधित होकर ऐसा शाप दिया, जो किसी भी विधिसे टाला नहीं जा सकता था, किन्तु वह अप्रतिहत एवं दुष्परिहार्य ब्रह्मशाप अम्बरीषपर अपना प्रभाव न दिखा सका ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच—

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवर्ती महीम्।

अव्ययाञ्च श्रियं लब्ध्वा विभवञ्चातुलं भुवि ॥ १५ ॥

मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।

विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान् ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—‘परीक्षित्! महाराज अम्बरीष अत्यन्त भाग्यवान् थे। उन्हें सातों द्वीपोंके साथ पृथ्वीका साम्राज्य, अक्षय सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त था। यह सब साधारण जीवोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ है तो भी महाराज अम्बरीष इसे स्वप्नके समान तुच्छ समझते थे। वे जानते थे कि समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं। इनका सुख क्षणिक है। इन सब वस्तुओंका लोभ मनुष्यको अन्तमें घोर नरकमें ले जाता है। जीव जब भोग-ऐश्वर्योंमें आसक्त हो जाते हैं, तब वे तमोगुणके अधीन होकर मोह-रूपी सागरमें डूब जाते हैं ॥ १५-१६ ॥

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ट्वत् स्मृतम् ॥ १७ ॥

महाराज अम्बरीषकी भगवान् श्रीकृष्ण और उनके परमभक्त साधुजनोंके प्रति परम प्रेममयी भक्ति थी। ऐसी भक्ति प्राप्त हो जानेपर सारा विश्व मिट्टीके ढेलेके समान तुच्छ लगता है ॥ १७ ॥

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥ १८ ॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शोऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १९ ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामञ्च दास्ये नतु कामकाम्यया
यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः ॥ २० ॥

महाराज अम्बरीषने अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें, वाणीको वैकुण्ठ-वस्तु भगवान्के गुण-कीर्तनमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी मंगलकारिणी सत्कथाओंके श्रवणमें लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्रोंको भगवान् मुकुन्दकी मूर्ति, मन्दिर एवं वैष्णवगणोंके दर्शनमें, अपनी स्पर्श-इन्द्रियको भगवद्-भक्तोंके शरीर-स्पर्शमें, नासिकाको भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें अर्पित तुलसीको सूँघनेमें और रसनाको भगवान्को निवेदित प्रसादको आस्वादन करनेकी सेवामें नियुक्त कर रखा था। महाराज अम्बरीषके पाँव मथुरा आदि विष्णु-स्थलोंके पर्यटन अर्थात् पद-यात्रामें लगे रहते। मस्तकको उन्होंने भगवान्

श्रीहरिके चरणोंकी वन्दनामें और कामनाओंको भगवान्की दास्य प्राप्तिमें लगा रखा था। विषय-भोगोंके प्रति उनकी तनिक भी रुचि न थी। परीक्षित्! उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंको भगवद्-भक्तिपूर्ण कार्योंमें निविष्ट कर रखा था। उत्तमश्लोक भगवान्के प्रेमी भक्तों यथा प्रह्लादादिमें उनकी निष्काम प्रीति थी॥१८-२०॥

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
 परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
 सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
 तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥ २१ ॥

इस प्रकार महाराज अम्बरीषने भगवद्भावनासे युक्त होकर अपने सभी कार्य समस्त यज्ञोंके भोक्ता, परतत्त्व, अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णको समर्पित कर दिये थे और वे भगवद्भक्त ब्राह्मणोंके उपदेशानुसार ही पृथ्वीपर शासन करते थे। महाराज अम्बरीषजी भगवान्की सेवाके सभी कार्य स्वयं करते थे और शासन कार्य उन्होंने अपने प्रतिनिधियोंको सौंप रखा था॥२१॥

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
 महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः।
 ततैर्वशिष्ठासितगौतमादिभि-
 र्धन्वन्यभिन्नोत्तमसौ सरस्वतीम्॥ २२ ॥

राजन्! 'धन्व' नामका एक मरुस्थलीय देश है, जिसमें सरस्वती नदी प्रवाहित होती है। महाराज अम्बरीषने इस सरस्वती नदीके प्रवाहके समक्ष ही अनेक अश्वमेध यज्ञ करवाये थे। उन्होंने इन महान् यज्ञोंके द्वारा यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना की थी। ये यज्ञ वशिष्ठ, असित, गौतम आदि प्रतिनिधि ऋषियोंने सम्पन्न करवाये थे। (महाराज अम्बरीषका ऐश्वर्य महान् था, इसलिए ये सभी यज्ञ सब प्रकारसे पूर्ण थे। इन यज्ञोंमें ब्राह्मणोंको बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी गयी थीं।) महाराज स्वयं इन यज्ञ आदि कार्योंमें आसक्त नहीं थे। वे स्वयं तो अपनी राजधानीमें एकाग्रचित्तसे

श्रीभगवान्की सेवाका काम करते थे और अपने प्रतिनिधियोंसे शासन आदि अन्य कार्य करवाते थे॥२२॥

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः।

तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः॥२३॥

महाराज अम्बरीषके यज्ञोंमें सुन्दर-सुन्दर वस्त्रोंसे शोभायमान सदस्य, होता, उद्गाता, ब्रह्मा एवं अध्वर्यु इत्यादि ऋत्विजगण बैठे रहते थे। यज्ञमें निर्निमेष भावसे (बिना पलक झपकाए) बैठे हुए वे सब देवताओंके समान प्रतीत होते थे। उन महान् यज्ञोंको देखनेकी उत्कण्ठासे वस्तुतः उनकी पलकें झपकती ही न थीं॥२३॥

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः।

शृण्वद्विरुपगायद्विरुत्तमःश्लोकचेष्टितम् ॥२४॥

महाराज अम्बरीषकी प्रजा भी उत्तमश्लोक भगवान्की लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्तन करती रहती थी और कभी भी देवताओंको परमप्रिय लगनेवाले स्वर्गकी इच्छा नहीं करती थी॥२४॥

संवर्द्धयन्ति यत्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः।

दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः॥२५॥

वे प्रजागण अपने हृदयमें भक्तोंको अनन्त आह्लाद प्रदान करनेवाले मनोहारी मुकुन्दका नित्य-निरन्तर दर्शन करते थे। इसलिए उस दिव्य अनुभूतिकी तुलनामें उन्हें इस जगत्के वे भोग-ऐश्वर्य भी आनन्दित नहीं कर पाते थे, जो बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंके लिए भी दुर्लभ हैं॥२५॥

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः।

स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सर्वान् कामान् शनैर्जहौ॥२६॥

महाराज अम्बरीषका भक्तियोग भोगत्यागरूप तपस्यासे युक्त था। अनन्त भोग-ऐश्वर्योंके बीच रहकर भी वे भगवद्-सेवाका सारा कार्य स्वयं ही करते थे। साथ ही प्रजापालनके अपने धर्मका निर्वाह भी भलीभाँति करते थे। इस प्रकारके अपने अद्भुत चरित्र

द्वारा वे भगवान्को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सभी कामनाओंका त्याग कर दिया ॥२६॥

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिवस्तुषु ।
अक्षयरत्नाभरणाम्बरादिषु
अनन्तकोषेष्वकरोदसन्मतिम् ॥ २७ ॥

गृह, पत्नी, पुत्र, बन्धुजन, हाथी, घोड़े, श्रेष्ठ रथ, अक्षय रत्न, वस्त्र-अलङ्कार, आयुध आदि और कभी न समाप्त होनेवाला धन भण्डार—इन सभीके प्रति महाराज अम्बरीषकी ऐसी धारणा थी कि ये सभी पदार्थ असत्य एवं नश्वर हैं ॥२७॥

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् ।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भक्ताभिरक्षणम् ॥ २८ ॥

महाराज अम्बरीषकी ऐकान्तिक प्रेममयी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरिने उनकी रक्षाके लिए अपने सुदर्शनचक्रको नियुक्त कर दिया था। भगवान्का यह सुदर्शनचक्र भगवद्भक्तोकी सर्वदा रक्षा करने वाला तथा भगवद्भक्तिके विरोधियोंको सदैव भयभीत करनेवाला है ॥२८॥

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया ।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥ २९ ॥

परमवीर महाराज अम्बरीषने भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके लिए अपने ही समान धर्मपरायण, विरक्त एवं भक्तिमती अपनी पत्नीके साथ एक वर्षतक द्वादशी-प्रधान एकादशी व्रत करनेका नियम लिया ॥२९॥

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।
स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥ ३० ॥

कार्तिक मासमें व्रतकी समाप्ति होनेपर एक बार महाराज अम्बरीषने तीन रातोंका उपवास किया। बादमें उन्होंने श्रीयमुनाजीमें स्नान करके मधुवनमें भगवान् श्रीहरिकी पूजा-अर्चना की ॥३०॥

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।
 अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥
 तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् ।
 ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥ ३२ ॥

उन्होंने महाभिषेककी विधिके अनुसार सभी प्रकारकी सामग्रियोंसे भगवान् श्रीकृष्णके अर्चा-विग्रहका अभिषेक किया और कृष्णभावनासे भावित होकर भगवान्को वस्त्र, अलङ्कार, गन्ध, चन्दन, माला और अर्घ्य आदि अर्पण किये। यद्यपि महाराज अम्बरीषको पूजामें ब्राह्मण-पूजनकी आवश्यकता नहीं थी (वे सिद्ध थे), फिर भी उन्होंने भक्तिभावसे महाभागवान् और सिद्धकाम ब्राह्मणोंका अर्चन किया ॥३१-३२॥

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् ।
 पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥ ३३ ॥
 प्राहिणोत् साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट् ।
 भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम् ॥ ३४ ॥
 लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
 तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षात् दुर्वासा भगवानभूत् ॥ ३५ ॥

पहले उन्होंने ब्राह्मणोंको प्रचुर गुणोंसे युक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। उसके बाद उनको साठ हजार गौएँ दान कीं। इन गौओंके सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे। सुन्दर वस्त्रोंसे उन्हें ओढ़ाया गया था। वे सभी गौएँ बड़ी सुशील, तरुण, सुन्दर, बछड़ेवाली और प्रचुर दूध देनेवाली थीं। महाराजने दूध दुहनेकी सब सामग्री भी उन्हें प्रदान की। इसके बाद उन्होंने उन ब्राह्मणोंसे अनुमति ली और व्रतके पारणकी तैयारी करने लगे। उसी समय शाप और वरदान देनेमें समर्थ महर्षि दुर्वासा अम्बरीषके यहाँ अतिथिके रूपमें पधारे ॥३३-३५॥

तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः ।
 ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥ ३६ ॥

महाराज अम्बरीष दुर्वासाजीको देखते ही उनके स्वागतके लिये खड़े हो गये। बैठनेके लिए उन्हें आसन दिया और विविध प्रकारकी सामग्रियोंसे उनकी पूजा की। इसके बाद उनके चरणोंमें प्रणाम करके भोजनके लिए प्रार्थना करने लगे॥३६॥

प्रतिनन्द्य स तां याच्यां कर्तुमावश्यकं गतः।

निममज्ज बृहद्ध्यायन् कालिन्दीसलिले शुभे॥३७॥

महर्षि दुर्वासाजीने महाराज अम्बरीषकी प्रार्थनाको आनन्दपूर्वक स्वीकार किया और माध्याह्निक कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए वे कालिन्दीके तटपर चले गए। वहाँ वे ब्रह्म-चिन्तन करते हुए श्रीयमुनाजीके पवित्र जलमें स्नान करने लगे॥३७॥

मुहूर्त्तार्द्धाविशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति।

चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे॥३८॥

इधर द्वादशीमें केवल आधे मुहूर्त्तका समय ही बाकी बचा था। इसी समयमें अम्बरीषजीको पारण करना (व्रत खोलना) आवश्यक था। निर्धारित समयमें पारण न करनेपर एकादशीका व्रत पूर्ण नहीं होता है। धर्मात्मा अम्बरीष ब्राह्मण दुर्वासाजीको भोजन कराये बिना भोजन नहीं कर सकते थे। धर्मको भलीभाँति जाननेवाले महाराज धर्म-संकटमें पड़ गये। इस विषयपर वे ब्राह्मणोंके साथ विचार-विमर्श करने लगे॥३८॥

ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे।

यत् कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत्॥३९॥

राजाने कहा—‘हे ब्राह्मण देवताओ! घरमें आये हुए ब्राह्मणको भोजन करानेसे पहले भोजन करना और द्वादशी रहते पारण न करना—ये दोनों ही व्रत-वैगुण्य दोष अर्थात् अपराध हैं। अतः जिससे मेरा मंगल हो और मुझे अधर्म भी स्पर्श न कर सके, ऐसा कार्य मुझे करना चाहिए॥३९॥

अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम्।

आहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितञ्च तत्॥४०॥

ब्राह्मणोंके साथ विचार-विमर्शके बाद राजाने यह निश्चय किया कि इस समयमें केवल जलपान करके व्रतका समापन करना ठीक रहेगा, क्योंकि केवल जलका पीना भोजन करना है भी और नहीं भी ॥४०॥

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम्।

प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥४१॥

हे कुरुकुल श्रेष्ठ! राजर्षि अम्बरीषने इस प्रकार अच्युत भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन करते हुए थोड़ा-सा जल पी लिया और दुर्वासाजीके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥४१॥

दुर्वासा यमुनाकूलात् कृतावश्यक आगतः।

राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥४२॥

दुर्वासाजी जब माध्याह्निक स्नानादि करके लौटे, तब राजाने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, किन्तु उन्होंने अपने योगबलसे जान लिया कि राजाने पारण कर लिया है ॥४२॥

मन्युना प्रचलद्वात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः।

बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥४३॥

क्रोधके कारण दुर्वासाजीके अङ्ग काँपने लगे। टेढ़ी भौंहोंके कारण उनका मुख भयङ्कर हो गया। यद्यपि वे भोजन करना चाहते थे, फिर भी अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े महाराज अम्बरीषसे इस प्रकार कहने लगे— ॥४३॥

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत।

धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥४४॥

‘अहो! यह तो बड़े क्रूर स्वभाववाला है। धनके मदमें मतवाला हो रहा है। देखो तो सही, अपने ऐश्वर्यका इसे कितना अभिमान है। यह भगवान् विष्णुका भक्त कदापि नहीं है। इसने आज धर्मका उल्लङ्घन कर डाला है’ ॥४४॥

यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च।

अदत्त्वा भुक्त्वास्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥४५॥

‘अरे! मैं तुम्हारे यहाँ अतिथि होकर आया। तुमने मुझे अतिथि-सत्कारकी विधिके अनुसार निमन्त्रण भी दिया और मुझे भोजन करानेसे पहले ही स्वयं भोजन कर लिया। अच्छा, इस दुष्कर्मका फल मैं तुझे अभी दिखाता हूँ!’ ॥४५॥

एवं बुवाण उत्कृत्य जटां रोषप्रदीपितः।

तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥४६॥

यह कहते-कहते महर्षि दुर्वासाका मुख क्रोधसे उद्दीप्त हो उठा। उन्होंने अपने सिरसे एक जटा उखाड़ी और उससे धर्मात्मा अम्बरीषको मारनेके लिए कृत्या नामक एक भयानक राक्षसी उत्पन्न की, जो प्रलयकालकी अग्निके समान दहक रही थी ॥४६॥

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम्।

वेपयन्तीं समुद्रीक्ष्य न चचाल पदानृपः ॥४७॥

आगके समान जलती हुई वह कृत्या हाथमें तलवार लेकर राजा अम्बरीषकी ओर बड़ी तेजीसे दौड़ी। उसके पदचापसे पृथ्वी काँप रही थी, किन्तु उसे देखकर महाराज अम्बरीष अपने स्थानसे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥४७॥

प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना।

ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥४८॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिने अपने भक्तकी रक्षाके लिए सुदर्शनचक्रको पहलेसे ही नियुक्त कर रखा था। दावाग्नि जैसे क्रुद्ध साँपको जलाकर भस्म कर डालती है, वैसे ही सुदर्शनचक्रने उस कृत्याको जलाकर राख कर दिया ॥४८॥

तदभिद्रवदुद्रीक्ष्य स्वप्रयासञ्च निष्फलम्।

दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥४९॥

दुर्वासाने जब देखा कि उनके द्वारा बनायी हुई कृत्या निष्फल हो गयी है और चक्र तीव्र गतिसे उनकी ओर चला आ रहा है, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गये और प्राणोंकी रक्षाके लिए दौड़ पड़े ॥४९॥

तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं
 दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम्।
 तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो
 गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥५०॥

भयानक दावानल जिस प्रकार साँपके पीछे तेजीसे दौड़ता है, उसी प्रकार भगवान्‌का सुदर्शनचक्र महर्षि दुर्वासाके पीछे दौड़ने लगा। दुर्वासाजीने जब यह देखा कि यह चक्र तो मेरे पीछे ही लग गया है, तब वे सुमेरु पर्वतकी गुफामें प्रवेश करनेके लिए उस ओर बढ़ी तेजीसे दौड़े ॥५०॥

दिशो नभः क्षमां विवरान् समुद्रान्
 लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः।
 यतो यतो धावति तत्र तत्र
 सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥५१॥

दुर्वासाने अपनी रक्षाके लिए सारी दिशाओं, आकाश, पृथ्वी, गुफाओं, समुद्र, लोकपाल और उनके द्वारा सुरक्षित लोक, तीनों भुवन और स्वर्गतक भी गये, किन्तु जहाँ-जहाँ भी वे गये, वहाँ-वहाँ असहनीय तेजोमय सुदर्शनचक्रको उन्होंने अपने पीछे-पीछे आते हुए देखा ॥५१॥

अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित्
 संत्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
 देवं विरिञ्चं समगाद्विधात-
 स्नाह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥५२॥

दुर्वासा इधर-उधर अपने लिए आश्रय खोजते रहे, परन्तु उन्हें कहीं भी सुरक्षा नहीं मिली। वे बहुत डर गये, अतः अपनी रक्षाके लिए वे देवशिरोमणि ब्रह्माके लोकमें पहुँचे और कहने लगे—हे विधाता! हे ब्रह्मन्! भगवान्‌के इस असहनीय तेजोमय चक्रसे मेरी रक्षा कीजिए ॥५२॥

श्रीब्रह्मोवाच—

स्थानं मदीयं सहविश्मेतत्
 क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे ।
 भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
 कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥ ५३ ॥
 अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
 प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
 सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
 मूदूर्ध्वार्पितं लोकहितं वहामः ॥ ५४ ॥

ब्रह्माने कहा—द्विपरार्द्ध संवत्सर कालके अवसानमें अपनी लीलाके अन्तमें कालस्वरूप विष्णुकी इच्छासे उनके भ्रू-भङ्गीमात्रसे इस ब्रह्माण्डके साथ मेरा लोक भी तिरोहित हो जाएगा। मैं, शङ्करजी, दक्ष आदि प्रजापति, भृगु आदि ऋषि, भूतनाथ, श्रेष्ठ देवगण सब उनके ही अधीन हैं। उनके लोकहितकर आदेशका हम नतमस्तक होकर पालन करते हैं। उनके भक्तसे द्रोह करनेवालेकी रक्षा करनेमें हम समर्थ नहीं हैं ॥ ५३-५४ ॥

प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः ।

दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥ ५५ ॥

जब ब्रह्माजीने यह कहकर उन्हें निराश कर दिया, तब भगवान् विष्णुके चक्रके तापसे अत्यन्त पीड़ित होकर दुर्वासा कैलाश पर्वतपर निवास करनेवाले शङ्करकी शरणमें गये ॥ ५५ ॥

श्रीशङ्कर उवाच—

वयं न तात प्रभवाम भूमि
 यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ।
 भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
 सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥ ५६ ॥

श्रीशङ्करने कहा—हे वत्स! जिन महिमावान् परमेश्वरसे ब्रह्मा आदि जैसे अनन्त जीव एवं उनके उपाधिस्वरूप कोश अर्थात् अनन्त

ब्रह्माण्ड तथा इसी तरह दृश्यमान् अपरापर समस्त पदार्थ समय आनेपर उदित होते हैं और समय आनेपर लयको प्राप्त होते हैं, जिन ब्रह्माण्डोंमें हम जैसे अपनेको लोकपाल समझकर भ्रान्त होते हैं और सहस्र-सहस्र बार परिभ्रमण करते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के प्रति हम अपना पराक्रम दिखानेमें समर्थ नहीं हैं॥५६॥

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः।

कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः॥५७॥

मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः।

विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययावृताः॥५८॥

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः।

तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति॥५९॥

हममें मैं (शिव), सनत्कुमार, नारद, परमपूज्य ब्रह्मा, कपिल, व्यासदेव, देवल, यम, महान सन्त आसुरि, मरीचि आदि ऋषिगण आदि यद्यपि सर्वज्ञ हैं, सिद्ध हैं, तब भी उनकी मायाके अन्तर्गत ही हैं। हम उनकी मायाका पार नहीं पा सकते। विश्वेश्वर भगवान्‌के इस चक्रको सहन कर पाना हमारे लिए कठिन है। अतः तुम उन्हीं श्रीहरिकी शरणमें जाओ। वे ही तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल करेंगे॥५७-५९॥

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ।

वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥६०॥

परीक्षित्! इस प्रकार शिवसे भी निराश होकर मुनि दुर्वासा भगवान् श्रीहरिके वैकुण्ठ धाममें पहुँचे। वैकुण्ठमें लक्ष्मीपति भगवान् लक्ष्मीजीके साथ निवास करते हैं॥६०॥

संदह्यमानोऽजितशस्त्रवहिना

तत्पादमूले पतितः सवेपथुः।

आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो

कृतागसं माव हि विश्वभावन॥६१॥

चक्रकी आगसे सन्तप्त होकर (झुलसते हुए) दुर्वासामुनि भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े और काँपते हुए कहने लगे—हे अच्युत! हे अनन्त! हे समस्त ब्रह्माण्डोंके रक्षक! आप ही साधुओंके एकमात्र वाञ्छनीय हैं। मैंने आपके चरणोंमें अपराध किया है। हे प्रभो! मेरी रक्षा कीजिए॥६१॥

अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम्।
विधेहि तस्यापचितिं विधात—
मुच्येत यन्नाम्युदिते नारकोऽपि॥६२॥

हे परमेश्वर! मैं आपके परम प्रभावको नहीं जानता था, इसीलिये आपके प्रिय भक्तके प्रति अपराध कर बैठा। अब मुझे इस अपराधसे मुक्त कीजिए। आपके नाममात्रसे तो नरकमें रहनेवाले जीव भी मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं, आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है॥६२॥

श्रीभगवानुवाच—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥६३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—‘हे द्विज! हे मुनिवर! मैं तो सदा ही भक्तोंके अधीन हूँ। (रुद्र आदि देवता जिस प्रकार मेरे अधीन होनेके कारण तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, उसी प्रकार मैं भी भक्तोंके अधीन होनेके कारण तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।) मुझे भी परतन्त्र जैसा ही समझो। मेरे प्यारे भक्तोंको मुझसे अधिक प्रिय कुछ नहीं और मुझे भी उनसे प्रिय कुछ नहीं।’ मोक्षतक की कामनासे रहित मेरे भक्तोंने मेरे चित्तपर सम्पूर्णरूपसे अधिकार कर रखा है। (उनकी अनुकम्पामें ही मेरी अनुकम्पा है।) भक्तोंकी तो बात ही क्या, भक्तोंके पाल्य भी मेरे प्रिय हैं॥६३॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥६४॥

हे ब्रह्मन्! जिनका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, उन साधु-स्वभाववाले भक्तोंके अतिरिक्त मैं न तो स्वयंको चाहता हूँ और न ही अपने स्वरूपगत आनन्द एवं नित्य विद्यमान षडैश्वर्य-सम्पत्तिकी अभिलाषा करता हूँ। (भगवान्‌के आनन्दमय होनेपर भी ह्लादिनीके सारभूत भक्त भगवान्‌को आनन्द प्रदान करते हैं, अतः भक्त-भाव, भगवत्-भावकी अपेक्षा किसी अंशमें न्यून नहीं है। भक्त ही भगवान्‌के एकमात्र अभिलषित हैं। चिद्वृत्तिकी विपाकरूप भक्तिकी अनुग्रह नामकी वृत्ति भक्तोंमें अवस्थान करती है।) ॥६४॥

ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान् वित्तमिमं परम्।

हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥

जो भक्त घर, पत्नी, पुत्र, भाई-बन्धु, धन, प्राण, इहलोक और परलोक आदि सबका परित्यागकरके एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, मैं उन्हें किस प्रकार छोड़ सकता हूँ। (अम्बरीष अपनी रक्षाके लिए एक पद भी विचलित नहीं हुए और दुर्वासा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें भ्रमण कर आये।) ॥६५॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६६॥

पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ॥६६॥

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥६७॥

मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवासे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। मेरी सेवाके आनुषङ्गिक फल स्वरूप सालोक्य आदि मुक्तियाँ उनके सामने स्वयं ही उपस्थित होती हैं, तथापि वे उनको स्वीकार नहीं करते, फिर कालकी प्रेरणासे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥६८॥

मेरे प्रेमी भक्त मेरा हृदय हैं और मैं उन प्रेमी भक्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उनको छोड़कर कुछ भी नहीं जानता ॥६८॥

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्।
अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं याहि मा चिरम्।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥६९॥

हे विप्रवर! मैं आपको आपकी रक्षाका उपाय बताता हूँ, सुनो। जिसके कारण आपपर यह सङ्कट आया है, उसीकी शरणमें आप शीघ्र जाइए। साधुओंका अमङ्गल करनेके लिए जो कोई भी प्रयास करता है, वह वास्तवमें अपना ही अमङ्गल करता है ॥६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥७०॥

ब्राह्मणोंके लिए तपस्या और विद्या—ये दोनों ही मङ्गलकारी हैं, किन्तु ब्राह्मण यदि उद्वण्ड एवं अन्यायी हो जाय, तो वे दोनों ही उलटा फल देने लगते हैं ॥७०॥

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीमदम्बरीषचरितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

हे ब्राह्मणवर! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम नाभाग-पुत्र अम्बरीषके पास जाओ और उनसे क्षमा माँगो। यदि तुम उन्हें प्रसन्न करनेमें सफल रहे, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके चौथे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

दुर्वासाकी दुःख-निवृत्ति

श्रीशुक उवाच—

एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।

अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीहरिने दुर्वासाजीको यह आदेश दिया, तब सुदर्शनचक्रकी ज्वालासे पीड़ित महर्षि दुर्वासा लौटकर अम्बरीष महाराजके पास आये और उन्होंने बड़े दुःखी होकर उनके चरणोंको पकड़ लिया॥१॥

तस्य सोद्यममावीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः।

अस्तावीत् तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम्॥२॥

दुर्वासा मुनि द्वारा अपने पैरोंका स्पर्श किये जानेसे महाराज अम्बरीष अत्यन्त लज्जित हो गये। जब उन्होंने देखा कि दुर्वासाजी उनकी स्तुति करना चाहते हैं, तब दयासे उनका हृदय व्यथित हो गया और वे भगवान्‌के चक्रकी स्तुति करने लगे॥२॥

श्रीअम्बरीष उवाच—

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः।

त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च॥३॥

महाराज अम्बरीषने कहा—हे सुदर्शन! आप अग्निस्वरूप हैं। आप परम शक्तिमान् सूर्य हैं। समस्त ग्रह-नक्षत्रोंके स्वामी चन्द्रमा भी आपका ही स्वरूप हैं। आप ही जल हैं, पृथ्वी हैं, आकाश हैं, आप ही वायु, पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) हैं और आप ही इन्द्रियस्वरूप हैं॥३॥

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय।

सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते॥४॥

हे श्रीहरिके प्रिय सनातन चक्र! आप एक हजार दौंतोंवाले हैं। हे पृथ्वीपते! आप समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको नष्ट कर सकते हैं। आप पृथ्वीके रक्षक हैं। हे सुदर्शन! आप इन ब्राह्मणका मङ्गल कीजिए॥४॥

त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्।

त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम्॥५॥

आप ही धर्म हैं, सत्य आपका स्वरूप है। मधुर एवं सत्य वाणी आप ही हैं। आप ही यज्ञोंके ईश्वर हैं, बल्कि स्वयं यज्ञ ही हैं। आप समस्त लोकोंके स्वामी हैं और सब लोकोंके रूपमें भी आप ही विद्यमान हैं। हे सुदर्शन! सबकी आत्माके रूपमें विराजमान भगवान् श्रीहरिका परम तेज आप ही हैं। आप परमपुरुष भगवान्की सौन्दर्यमयी शुभ दृष्टि हैं। आपसे ही समग्र मायिक वस्तुकी सृष्टि हुई है॥५॥

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे

ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।

त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे

मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे॥६॥

हे सुनाभ! आप समस्त धर्मोंके सेतु हैं। धर्मका पालन करनेवालोंकी आप रक्षा करते हैं और जो अधर्मका आचरण करते हैं, उनके विनाशके लिये आप साक्षात् अग्निस्वरूप हैं। आप तीनों लोकोंके रक्षक हैं और विशुद्ध एवं अत्युज्ज्वल तेज धारण करनेवाले हैं। आपकी गति मनके वेगके समान तीव्रगामी है। आपके कर्म अद्भुत हैं। आपको मेरा नमस्कार है॥६॥

त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहतं

तमः प्रकाशश्च दृशो महात्मनाम्।

दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते

त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम्॥७॥

हे वेदवाणीके अधीश्वर! आपका तेज धर्ममय है, जो अन्धकार अर्थात् अधर्मका नाश करता है। इस तेजसे ही सूर्य आदि महात्माओंके तेजकी रक्षा होती है, उनकी ज्ञानदृष्टि प्रकाशित होती है। आपके तेजके प्रभावका कोई पार नहीं पा सकता। इस ब्रह्माण्डमें छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची उपाधिवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब आपका ही रूप हैं और आप ही उन्हें प्रकाशित करते हैं ॥७॥

यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम्।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृश्चत्रजस्रं प्रधने विराजसे ॥८॥

हे सुदर्शनचक्र! आपको कोई नहीं जीत सकता। भगवान्की प्रेरणासे जिस समय आप दैत्य एवं दानवोंकी सेनामें प्रवेश करते हैं, तब उनकी भुजाएँ, उदर, जंघा, सिर और पैरोंको निरन्तर काटते हुए आप युद्धक्षेत्रमें अत्यन्त शोभाको प्राप्त करते हैं ॥८॥

स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥९॥

हे विश्वके रक्षक! आप सर्वबलस्वरूप हैं। आपको गदाधारी भगवान्ने दुष्टोंके विनाशके लिये नियुक्त कर रखा है। हमारे कुलके सौभाग्यकी रक्षाके लिये आप इन ब्राह्मणकी रक्षा कीजिए। यह हमपर आपकी बड़ी कृपा होगी ॥९॥

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवज्वेद्विजो भवतु विज्वरः ॥१०॥

यदि मैंने सत्पात्रको कुछ भी दान दिया हो, यज्ञकी कोई सुकृति रही हो, अपने धर्मका भलीभाँति निर्वाह किया हो अथवा हमारा परिवार ब्राह्मणोंको अपना कुलदेवता मानता रहा हो, तो इन ब्राह्मणको आपके तापसे मुक्ति मिल जाय ॥१०॥

यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।

सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥११॥

भगवान् समस्त गुणोंके आधार हैं। उनके जैसा दूसरा कोई भी नहीं है। सभी प्राणियोंकी आत्माके रूपमें वे ही विराजमान हैं। यदि वे मुझपर प्रसन्न हैं, तो ये ब्राह्मण सुदर्शनचक्रकी पीड़ासे अति शीघ्र मुक्त हो जायें॥११॥

श्रीशुक उवाच—

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।

अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद्राजयाच्छ्रया॥१२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जब महाराज अम्बरीषने ब्राह्मण दुर्वासाको अत्यधिक पीड़ित करनेवाले भगवान् विष्णुके सुदर्शन चक्रकी इस प्रकार स्तुति की तब वह शान्त हो गया॥१२॥

स मुक्तोऽन्नाग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः।

प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः॥१३॥

महर्षि दुर्वासा जब सुदर्शनचक्रके तापसे मुक्त हो गये, तब उनका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने राजा अम्बरीषकी प्रशंसा की और उन्हें अनेक उत्तम आशीर्वाद दिये॥१३॥

श्रीदुर्वासा उवाच—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।

कृतागसोऽपि यद्राजन् मङ्गलानि समीहसे॥१४॥

दुर्वासाने कहा—हे राजन्! आज मैंने भगवान्के प्रेमी भक्तोंकी महानताको देखा। मैंने आपके प्रति कितना भयंकर अपराध किया था, फिर भी आपने मेरी मङ्गलकामनाके लिए ही भगवान्से प्रार्थना की॥१४॥

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्।

यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः॥१५॥

जिन महात्माओंने सात्वतपति (यादव श्रेष्ठ), भक्तवत्सल भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंको अपनी प्रेमाभक्तिसे प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इस जगत्‌में भला कौन-सा कार्य असम्भव है, अपने हृदयकी उदारताके कारण वे भला किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते? ॥१५॥

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।

तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥ १६ ॥

जिनके पवित्र नामोंको सुनने मात्रसे ही जीव निर्मल हो जाता है, उन तीर्थपाद भगवान्‌के प्रेमीभक्तोंके लिए कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे वे प्राप्त नहीं कर सकते और कौन-सा ऐसा कर्तव्य है, जिसका करना उनके लिए शेष है? ॥१६॥

राजत्रनुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना।

मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥ १७ ॥

हे राजन्! आप अत्यधिक दयालु हैं। मैंने आपके प्रति जो घोर अपराध किया, उसकी ओर आपने तनिक भी ध्यान न देकर मेरे प्राणोंकी ही रक्षा की है। यह आपकी मेरे ऊपर महान् कृपा है ॥१७॥

श्रीशुक उवाच—

राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया।

चरणवुपसंगृह्य प्रसाद्य समभोजयत् ॥ १८ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! दुर्वासाकी प्रतीक्षामें महाराज अम्बरीषने अभीतक भोजन नहीं किया था। अब उन्होंने दुर्वासाके चरणोंको पकड़ लिया और उन्हें प्रसन्न करते हुए विधिपूर्वक भोजन कराया ॥१८॥

सोऽशित्वाद्दृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम्।

तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥ १९ ॥

राजा अम्बरीषने बड़े आदर-सत्कारके साथ महर्षि दुर्वासाको बैठाया और अनेक प्रकारकी उत्तम भोजन सामग्रियोंसे युक्त स्वादिष्ट

भोजन कराया। जब मुनि सन्तुष्ट हो गये, तब उन्होंने बड़े आदरके साथ राजासे कहा—‘अब आप भी भोजन कीजिए’॥१९॥

श्रीदुर्वासा उवाच—

प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै।

दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥ २० ॥

(हे राजन!) आप परमभागवत हैं। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ। आपके दर्शन, स्पर्श, और वार्त्तालापसे मुझपर आपकी बड़ी कृपा हुई है। आपके ऐसे आतिथ्यके कारण मेरा मन भगवान्की ओर उन्मुख हुआ है। भगवान्के सुदर्शनचक्रका वह ताप मेरे लिए परम उपकार करनेवाला, संसार-सागरसे तारनेवाला और भक्तिमार्गका प्रदर्शक बन गया है॥२०॥

कर्माविदातमेतत् ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः।

कीर्त्तिं परमपुण्याञ्च कीर्त्तयिष्यति भूरियम्॥ २१ ॥

स्वर्गलोककी समस्त देवस्त्रियाँ बार-बार आपके इस मङ्गलकारी, परम पवित्र चरित्रका गान करती रहेंगी। यह पृथ्वी भी आपकी विमल कीर्त्तिका सदा गुणगान करती रहेगी॥२१॥

श्रीशुक उवाच—

एवं संकीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः।

ययौ विहायसामन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम्॥ २२ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दुर्वासाने इस प्रकार परम सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीषकी बहुत प्रशंसा की और उनकी अनुमति प्राप्त करके आकाश मार्गसे ब्रह्मलोकमें चले गये। राजन्! इस ब्रह्मलोकमें वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवाले और शुष्क तार्किकोंके लिए कोई स्थान नहीं है॥२२॥

संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता नागतो गतः।

मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाब्भक्षो बभूव ह॥ २३ ॥

दुर्वासा सुदर्शनचक्रके तापसे भयभीत होकर चले गये थे। उनके जानेसे लौटने तक एक वर्षका समय बीत चुका था। इस बीच राजा अम्बरीषने दुर्वासाके दर्शनकी अभिलाषासे केवल जल पीकर ही जीवन धारण किया था॥२३॥

गतेऽथ दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनञ्च वीक्ष्य
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम्॥२४॥

एक वर्ष बाद जब दुर्वासाजी लौटे, तब महाराज अम्बरीषने उन्हें भोजन कराया और उनके भोजनसे बचे हुए अति पवित्र अन्न आदिका उन्होंने भोजन किया। दुर्वासाजीको भयंकर विपत्तिसे जो मुक्ति मिली, यद्यपि वह अम्बरीषजीकी भक्तिके कारण ही थी, किन्तु महाराज अम्बरीषने उसे भगवान्की कृपा ही माना॥२४॥

एवं विधानेकगुणः स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाऽविरिञ्चयात्रिरयांश्चकार ॥२५॥

महाराज अम्बरीष ऐसे अनेक गुणोंके भण्डार थे। वे अपने सभी कर्मोंसे परब्रह्म परमात्मा श्रीवासुदेवमें अपने भक्तिभावको बढ़ाते रहते थे। यह उनकी भक्तिका ही प्रभाव था कि ब्रह्मलोक तकको भी वे नरकके समान मानते थे॥२५॥

श्रीशुक उवाच—

अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधध्वस्तगुणप्रवाहः॥२६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इसके बाद महाराज अम्बरीषने राज्यका उत्तरदायित्व अपने ही समान भक्त पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने मनका पूर्णरूपसे भगवान्‌में निवेश कर दिया और मायिक गुणोंके प्रवाहरूप संसारसे पार हो गये॥२६॥

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः।

सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत्॥२७॥

परीक्षित्! जीवमात्रको परम पवित्र कर देनेवाले महाराज अम्बरीषके इस आख्यानका जो कोई भी स्मरण, चिन्तन और कीर्तन करता है, वह भगवान्‌की प्रेमाभक्तिको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है॥२७॥

अम्बरीषस्य चरितं ये शृण्वन्ति महात्मनः।

मुक्तिं प्रयान्ति ते सर्वे भक्त्या विष्णोः प्रसादतः॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीमदम्बरीषोपाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

जो महात्मा अम्बरीषके चरित्रको भक्तिके साथ श्रवण करते हैं, वे सभी भगवान्‌ विष्णुके अनुग्रहसे मुक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् स्व-स्वरूपमें अवस्थित होते हैं॥२८॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके पाँचवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

इक्ष्वाकुके वंशका वर्णन, मान्धाता और
सौभरि ऋषिकी कथा

श्रीशुक उवाच—

विरूपः केतुमान् शम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः।

विरूपात् पृषदश्वोऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! महाराज अम्बरीषके तीन पुत्र हुए—विरूप, केतुमान् और शम्भु। विरूपसे पृषदश्वका जन्म हुआ और पृषदश्वके पुत्रका नाम रथीतर था ॥ १ ॥

रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः।

अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ २ ॥

रथीतरकी कोई सन्तान न थी। उन्होंने पुत्र-प्राप्तिके लिए ऋषि अङ्गिरासे प्रार्थना की। ऋषि अङ्गिराने उनकी पत्नीसे कई पुत्र उत्पन्न किये। ये सभी पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे ॥ २ ॥

एते क्षेत्रेप्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः।

रथीतराणां प्रवराः क्षेत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३ ॥

इन सभी पुत्रोंको रथीतरकी पत्नीसे जन्म लेनेके कारण रथीतरके गोत्रका होना चाहिए था, किन्तु ऋषि अङ्गिराके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण वे आङ्गिरस कहलाये। रथीतरके वंशजोंमें इन्हीं पुत्रोंको सर्वश्रेष्ठ पुत्र होनेका गौरव प्राप्त है, क्योंकि ये क्षत्रियत्वसे युक्त ब्राह्मण थे ॥ ३ ॥

क्षुवतस्तु मनोज्ञे इक्ष्वाकुघ्राणतः सुतः।

तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥ ४ ॥

मनुके पुत्र इक्ष्वाकु थे। एक बार मनु जब छींक रहे थे, तब उनकी नासिकासे इनका जन्म हुआ। इक्ष्वाकुके सौ पुत्र थे। उनमें विकुक्षि, निमि और दण्डक सबसे बड़े थे॥४॥

तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप।

पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्येऽपरेऽन्यतः॥५॥

राजन्! इन सौ पुत्रोंमें-से पच्चीस हिमालय और विन्ध्याचलके मध्यमें स्थित आर्यावर्तके पूर्व भागसे समुद्र पर्यन्त विभिन्न मण्डलोंके राजा बने तथा पच्चीस आर्यावर्तके पश्चिम भागके राजा हुए और ऊपर बताये गये तीन बड़े पुत्रोंने आर्यावर्तके मध्यभागका आधिपत्य सँभाला। शेष पुत्र दक्षिण एवं उत्तर प्रान्तोंके अधिपति हुए॥५॥

स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्।

मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ मा चिरम्॥६॥

(पौष, माघ और फाल्गुन—इन तीन मासोंकी कृष्णाष्टमी 'अष्टका' नामसे प्रसिद्ध है। अष्टकामें पितरोंके लिए मांस द्वारा श्राद्ध करनेकी विधि है।) जब यह श्राद्ध दिवस आया, तब इक्ष्वाकुने अपने पुत्र विकुक्षिको आदेश दिया—'विकुक्षि! शीघ्र जाओ और पवित्र मांस लेकर आओ'॥६॥

तथेति स वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्।

श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशज्वाददपस्मृतिः॥७॥

वीर विकुक्षि वनमें चला गया और वहाँ श्राद्धके लिए उपयोगी बहुत-से पशुओंका शिकार किया। अधिक श्रमके कारण वह थक गया था। उसे भूख भी लगी थी, जिससे उसका विवेक लुप्त-सा हो गया था। अतः उसने मृत पशुओंमें-से एक खरगोश खा लिया, जबकि नियमके अनुसार श्राद्धके लिए मारे गये पशुओंको स्वयं नहीं खाना चाहिए॥७॥

शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः।

चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम्॥८॥

इसके बाद विकुक्षिने शेष मांसको लाकर अपने पिता इक्ष्वाकुको दे दिया। इक्ष्वाकुने उस मांसको श्राद्ध-संस्कारके लिए गुरु वशिष्ठके पास भेज दिया। गुरु वशिष्ठने कहा—‘यह मांस दूषित है, अतः श्राद्धके लिए उपयोगी नहीं है।’ ॥८॥

ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं नृपः।

देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥ ९ ॥

गुरु वशिष्ठके यह कहनेपर राजा इक्ष्वाकु अपने पुत्रके दोषपूर्ण कर्मको जान गये। वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे और विधि-विधानका उल्लङ्घन करनेके कारण उन्होंने अपने पुत्रको देशसे निकाल दिया ॥९॥

स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन्।

त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत् परम् ॥ १० ॥

इसके बाद राजा इक्ष्वाकुने विद्वान् वशिष्ठजीके साथ तत्त्व-सम्बन्धी संवाद किया। गुरुके उपदेशको ग्रहण करके राजा इक्ष्वाकु संसारसे विरक्त होकर योगी बन गये और योगबलसे ही उन्होंने शरीरको त्यागकर परमपदको प्राप्त किया ॥१०॥

पितुर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम्।

शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥ ११ ॥

पिताके परलोकवासी हो जानेपर विकुक्षि अपने देश लौट आया और पृथ्वीपर शासन करने लगा। उसने बड़े-बड़े यज्ञोंसे भगवान् श्रीहरिकी आराधना की। बादमें यह विकुक्षि ही शशादके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥११॥

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः।

ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः ॥ १२ ॥

शशादका पुत्र पुरञ्जय था। पुरञ्जयको कोई ‘ककुत्स्थ’ कहता है, तो कोई ‘इन्द्रवाह’। जिन कर्मोंके कारण उसे इन नामोंसे पुकारा जाता है, उनके विषयमें सुनो ॥१२॥

कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः।

पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥ १३ ॥

सत्ययुगके अन्तमें देवताओं और दानवोंका भयंकर (विश्व-विनाशक) युद्ध हुआ। उस युद्धमें देवता दानवोंसे पराजित हो गये। तब देवताओंने वीर पुरञ्जयको अपना सहायक बनाया। (पुरञ्जयकी सहायतासे देवताओंने दानवोंपर विजय प्राप्त की थी, अतः दैत्यपुरीको जीतनेके कारण शशादपुत्रका नाम 'पुरञ्जय' पड़ गया।) ॥ १३ ॥

वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः।

वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥ १४ ॥

शशादपुत्रने कहा—'इन्द्र यदि मेरे वाहन बन जाएँ, तो मैं दैत्योंका विनाश कर सकता हूँ।' लज्जाके कारण पहले तो इन्द्रने उनका वाहन बननेसे मना कर दिया, किन्तु बादमें विश्वात्मा, देवाधिदेव भगवान् विष्णुके कहनेपर उन्होंने विशाल बैलका रूप धारण कर लिया। (इस प्रकार इन्द्रको वाहन बनानेके कारण शशादपुत्रका नाम 'इन्द्रवाह' हो गया।) ॥ १४ ॥

स सन्नद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखान् शितान्।

स्तूयमानस्समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥ १५ ॥

तेजसाप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः।

प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम् ॥ १६ ॥

भगवान्ने पुरञ्जयको अपनी दिव्य शक्तियाँ प्रदान कीं। अपनी सुरक्षाके लिए उन्होंने कवच पहन लिया और दिव्य धनुष एवं तीक्ष्ण बाण धारण कर लिये। देवता उनकी प्रशंसा करने लगे। वे विशाल बैलपर सवार हो गये तथा उसके ककुद् (डील) के ऊपर बैठ गये। (ककुद्पर बैठनेके कारण पुरञ्जयको 'ककुत्स्थ' कहा गया) तब परमात्मा परमपुरुष विष्णुके तेजसे परिरक्षित होकर उन्होंने देवताओंके साथ मिलकर दैत्योंकी नगरीको पश्चिम दिशाकी ओरसे घेर लिया ॥ १५-१६ ॥

तैस्तस्य चाभूत् प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम्।
यमाय भल्लैरनयद्वैत्यानभिययुर्मृधे ॥ १७ ॥

राजन्! वीर पुरञ्जयका दानवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हुआ।
जो भी दानव उनके सामने आया, उसे उन्होंने अपने तीक्ष्ण
बाणोंसे यमलोक पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम्।
विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम् ॥ १८ ॥

उनके बाणोंकी वर्षा प्रलयकी अग्निके समान अत्यन्त उग्र थी।
जो भी दानव उनके समक्ष ठहरनेका प्रयास करता था, उसे वे
अपने बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर डालते थे। पुरञ्जयका ऐसा अद्भुत
साहस देखकर जो दानव बचे थे, उनका भी साहस टूट गया और
वे रणभूमि छोड़कर अपनी पुरी पातालकी ओर भाग गये ॥ १८ ॥

जित्वा पुरं धनं सर्वं सस्त्रीकं वज्रपाणये।
प्रत्ययच्छत् स राजर्षिरिति नामभिराहृतः ॥ १९ ॥

परीक्षित्! राजर्षि शशादपुत्रने शत्रुओंको जीतकर उनका नगर,
धन, पत्नियाँ और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी प्राप्त किया था,
सब वज्रपाणि इन्द्रको प्रदान कर दिया। पुरको जीतनेके कारण
इन्हें पुरञ्जय कहा गया। अपने विविध कार्यकलापोंके कारण वे
भिन्न-भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुए ॥ १९ ॥

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः।
विश्वगन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वस्तु तत्सुतः ॥ २० ॥

पुरञ्जयके पुत्रका नाम था अनेना। अनेनासे पृथु, पृथुसे
विश्वगन्धि और विश्वगन्धिसे चन्द्र नामके पुत्रका जन्म हुआ।
चन्द्रके पुत्र युवनाश्व हुए ॥ २० ॥

श्रावस्तस्तत्सुतो येन श्रावस्ती निर्ममे पुरी।
बृहदश्वस्तु श्रावस्तिस्ततः कुवलयश्वकः ॥ २१ ॥

युवनाश्वके पुत्रका नाम श्रावस्त था। इन श्रावस्तने ही श्रावस्ती नामकी पुरीको बसाया था। श्रावस्तके पुत्र बृहदश्व और बृहदश्वके पुत्र कुवल्याश्व हुए॥२१॥

यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली।

सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद् वृतः॥२२॥

कुवल्याश्व बड़े बलवान् थे। उतङ्क ऋषिको प्रसन्न करनेके लिए इन्होंने अपने इक्कीस हजार पुत्रोंके साथ मिलकर धुन्धु नामके असुरका वध कर दिया॥२२॥

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्पुतास्ते च जज्वलुः।

धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः॥२३॥

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत।

दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्पुतः स्मृतः॥२४॥

हे भारत! इसीलिए कुवल्याश्व 'धुन्धुमार' नामसे प्रसिद्ध हुए। कुवल्याश्वके सभी पुत्र धुन्धुके मुखकी आगसे जल गये थे। केवल तीन ही पुत्र जीवित बचे थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और भद्राश्व। दृढाश्वके पुत्रका नाम हर्यश्व था, हर्यश्वसे निकुम्भ हुए॥२३-२४॥

बहुलाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य सेनजित्।

युवनाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः॥२५॥

निकुम्भके पुत्रोंके नाम बहुलाश्व और कृशाश्व थे। कृशाश्वके पुत्रका नाम सेनजित् तथा सेनजित्के पुत्रका नाम युवनाश्व था। युवनाश्वके कोई सन्तान नहीं हुई। अहो! इस भारी दुःखके कारण वह अपनी पत्नियोंके साथ वनमें चला गया॥२५॥

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः।

इष्टि स्म वर्तयाज्वक्रुरैर्न्द्री ते सुसमाहिताः॥२६॥

युवनाश्व वनमें पत्नियोंके साथ अति दुःखके साथ रह रहा था। ऋषियोंको युवनाश्व पर बड़ी दया आई और उन्होंने

समाहित चित्तसे युवनाश्वसे सन्तान-प्राप्तिके लिए इन्द्रदेवत यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥२६॥

राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः।
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥

एक बार रातके समय युवनाश्वको बहुत प्यास लगी। वह यज्ञशालामें गया। वहाँ उसने देखा कि सभी ब्राह्मण सोये हुए हैं। तृषासे विवश होकर उसने स्वयं ही वह जल पी लिया, जो उसकी पत्नियोंके लिए अभिमन्त्रित करके रखा गया था ॥२७॥

उत्थितास्ते निशम्याथ व्युदकं कलसं प्रभो।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥२८॥

परीक्षित्! ब्राह्मण जब सोकर उठे, तब उन्होंने कलशमें वह अभिमन्त्रित जल न पाकर लोगोंसे पूछा—‘पुत्र उत्पन्न करनेके लिए रखा गया जल किसने पी लिया, यह काम किसका है?’ ॥२८॥

राज्ञा पीतं विदित्वा वै ईश्वरप्रहितेन ते।
ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥२९॥

अन्तमें जब ब्राह्मणोंको यह पता लगा कि भगवान्की प्रेरणासे राजा युवनाश्वने ही वह जल पी लिया है, तब उन्होंने भगवान्को सादर प्रणाम करके कहा—‘अहो! भगवान्का बल ही वास्तविक बल है, मनुष्यका बल कोई बल नहीं है।’ ॥२९॥

ततः काल उपावृत्ते कुक्षि निर्भिद्य दक्षिणम्।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥३०॥

उसके बाद समयपर राजा युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर एक पुत्रने जन्म लिया। यह पुत्र चक्रवर्तीके लक्षणोंसे युक्त था ॥३०॥

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्ये रोरूयते भृशम्।
मान्धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥३१॥

वह बालक स्तनपानके लिए बहुत जोरोंसे रोने लगा। तब ब्राह्मणोंने कहा—‘तुम किसका दूध पिओगे?’ इतने ही में यज्ञमें पूजित हुए

इन्द्रने उस बालकसे कहा—‘हे वत्स! तुम रोओ मत, माम्धाता अर्थात् मुझको पियो।’ इतना कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी अङ्गुली शिशुके मुखमें डाल दी॥३१॥

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः।

युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वागात्॥ ३२ ॥

ब्राह्मणों एवं देवताओंकी कृपासे उस शिशुका पिता युवनाश्व कोखके फटनेपर भी जीवित रहा। इसके बाद राजा युवनाश्वने कठोर तपस्या की और उसी स्थानपर मुक्तिको प्राप्त कर लिया॥३२॥

त्रसद्वस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम यस्य वै।

यस्मात् त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः॥ ३३ ॥

यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवर्नी प्रभुः।

सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा॥ ३४ ॥

हे राजन्! इस युवनाश्वके पुत्र मान्धातासे रावण आदि दस्यु (लुटेरे) भयभीत और पीड़ित रहते थे। इसीलिए इन्द्रने उन्हें ‘त्रसद्वस्यु’ नाम दे दिया था। युवनाश्वके पुत्र मान्धाता (त्रसद्वस्यु) इतने प्रभावशाली थे कि वे पृथ्वीके एकछत्र सम्राट् बने। भगवान् विष्णुके तेजके प्रभावसे उन्होंने सप्तद्वीपवती पृथ्वीपर अकेले ही शासन किया॥३३-३४॥

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्धूरिदक्षिणैः।

सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम्॥ ३५ ॥

द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः।

धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम्॥ ३६ ॥

राजा मान्धाता यद्यपि तत्त्वको जाननेवाले थे, फिर भी कर्मकाण्डका आश्रय लेकर उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे उन भगवान्की आराधना की, जो सर्वदेवमय हैं, सबकी आत्मा हैं और इन्द्रियोंसे जिन्हें जाना नहीं जा सकता। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान्का ही स्वरूप है। यज्ञ, यज्ञकी भूमि, यज्ञकी

सामग्री, यजमान, ऋत्विज (पुरोहित), मन्त्र, धर्म, देश, काल, विधि-विधान और यज्ञका फल (अपूर्व), कुछ भी भगवान्से अलग नहीं है ॥३५-३६॥

यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति ।

तत् सर्वं यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ३७ ॥

सूर्य जिस स्थानसे उदित होता है और जिस स्थानपर प्रतिष्ठित अर्थात् अस्त होता है, वहाँ तकके समस्त भूभागपर युवनाश्वके पुत्र मान्धाताका ही अधिकार था ॥३७॥

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधानृपः ।

पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दञ्च योगिनम् ।

तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥ ३८ ॥

मान्धाताका विवाह बिन्दुमतीसे हुआ, जो शशबिन्दुकी कन्या थी। बिन्दुमतीसे राजा मान्धाताके तीन पुत्र हुए—पुरुकुत्स, अम्बरीष और महान् योगी मुचुकुन्द। इन तीन भाइयोंकी पचास बहनें भी थी, जिन्होंने सौभरि ऋषिको अपना पति बनाया ॥३८॥

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परं तपः ।

निर्वृत्तिं मीनराजस्य दृष्ट्वो मैथुनधर्मिणः ॥ ३९ ॥

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।

सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥ ४० ॥

सौभरि ऋषि परम तपस्वी थे। एक बार वे यमुनाजीमें डुबकी लगाकर परम तपस्या कर रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल मत्स्यराज अपनी पत्नियोंके साथ सम्भोग सुखका आनन्द ले रहा है। ऋषि सौभरि इस सुखकी प्राप्तिके लिए चञ्चल हो उठे। वे (मथुरामें आकर) राजा मान्धाताके पास गये और उनकी पचास कन्याओंमें—से एक कन्या माँगी। राजाने कहा—हे ब्रह्मन्! स्वयंवरमें मेरी जो कन्या अपनी इच्छासे आपका वरण कर ले, आप उसे ले लीजिए ॥३९-४०॥

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसम्मतः ।
 वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥ ४१ ॥
 साधयिष्ये तथात्मानं सुरस्त्रीणामभीप्सितम् ।
 किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥ ४२ ॥

राजासे ऐसा सुनकर सौभरि ऋषिने विचार किया कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरे बाल पक गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, शरीर सदा काँपता रहता है और फिर मैं तपस्वी भी हूँ, अतः स्त्रियोंकी इच्छाके अनुकूल नहीं हूँ। इसीलिए राजाने मेरा तिरस्कार किया है। कोई बात नहीं, अब मैं स्वयंको ऐसा बनाऊँगा कि राजकुमारियाँ तो क्या, देवरमणियोंकी भी मेरे लिए अभिलाषा जाग उठेगी। अब ऋषि सौभरिने तपस्याके प्रभावसे स्वयंको अत्यन्त रूपवान् और तरुण बना लिया ॥ ४१-४२ ॥

मुनिः प्रवेशितः क्षत्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।
 वृतः स राजकन्याभिरेकं पञ्चाशता वरः ॥ ४३ ॥

फिर क्या था, अन्तःपुरका रक्षक सौभरि ऋषिको राजकुमारियोंके महलमें ले गया, जो अत्यन्त समृद्धिशाली था। वहाँ उनके रूप-सौन्दर्यसे अत्यधिक प्रभावित होकर राजा मान्धाताकी पचासों कन्याओंने ही उनको अपने पतिके रूपमें वरण कर लिया ॥ ४३ ॥

तासां कलिरभूद्भूयास्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ।
 ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥ ४४ ॥

सौभरि ऋषिके प्रति राजकुमारियोंकी अत्यधिक आसक्तिका परिणाम यह हुआ कि वे परस्पर स्नेहभावका त्याग करके आपसमें यह कहकर लड़ने लगी—‘यह वर मेरे लिए योग्य है, तुम्हारे योग्य नहीं।’ ॥ ४४ ॥

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
 तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
 गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
 सरःसु सौगन्धिककाननेषु ॥ ४५ ॥

महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण-
 स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
 स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
 रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥ ४६ ॥

ऋषि सौभरि ऋग्वेदी थे। अतः वैदिक मन्त्रोंमें निपुण थे। उनकी दुरन्त (कठिन) तपस्याके प्रभावसे घर बहुमूल्य वस्तुओंसे सुसज्जित हो गया। सुन्दर वस्त्र-अलङ्कारोंसे विभूषित दास-दासियाँ, विविध प्रकारके उपवन, निर्मल जलसे युक्त सरोवर, सुगन्धित फूलोंवाले उपवन, क्षण-क्षण चहकते हुए पक्षी, गुञ्जार करते भ्रमर और विरुदावलीका बखान करनेवाले बन्दीजन आदि वहाँ विद्यमान हो गये। सौभरि ऋषिके महलमें बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र-आभूषण, स्नान, चन्दन आदि अनुलेपन, पुष्प-मालिकाएँ एवं स्वादिष्ट भोजन-सामग्री सभी उपलब्ध थे। उस अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्ण वातावरणमें ऋषि अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः।

विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥ ४७ ॥

सात द्वीपोंवाली पृथ्वीके एकछत्र सम्राट मान्धाताने जब अपने जामाता सौभरि ऋषिके समृद्धिशाली गृहस्थ सुखको देखा, तो वे आश्चर्यचकित हो गये और उनका यह गर्व 'मैं सारी पृथ्वीकी सम्पत्तिका स्वामी हूँ', दूर हो गया ॥ ४७ ॥

एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः।

सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषि सौभरि घरमें ही अनेक-अनेक सुखोंके साथ विषयोंका भोग करने लगे, किन्तु जिस प्रकार घीकी बूँदोंसे आग कभी भी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार ऋषिको भी विषयोंके सेवनसे आत्म-सन्तुष्टि नहीं हुई ॥ ४८ ॥

स कदाचिदुपासीन आत्मापहवमात्मनः।

ददर्श बह्वचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥ ४९ ॥

मन्त्राचार्य सौभरिमुनि एक दिन एकान्तमें उपासनाके लिए बैठे हुए थे। तभी उनके मनमें विचार हुआ कि मत्स्यके क्षणभरके सङ्ग-दोषसे मेरी सारी तपस्या नष्ट हो गयी है। इसका कारण मैं स्वयं ही हूँ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥५०॥

अहो! मैं साधुपुरुषों द्वारा किये जानेवाले व्रत आदि विधि-विधानोंका जीवन भर पालन करता रहा। गम्भीर जलके भीतर तपस्या करते हुए मैंने जलचर मत्स्यका कुछ देरके लिए सङ्ग कर लिया, मेरी तो दीर्घकालकी तपस्या ही नष्ट हो गयी। मेरा यह अधःपतन तो देखो, जरा॥५०॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतीनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥५१॥

मुमुक्षुओंको कर्मियोंके सङ्गसे दूर रहना चाहिए। एक क्षणके लिये भी इन्द्रियोंको बहिर्मुख नहीं होने देना चाहिए। अकेले ही निर्जन स्थानपर बैठकर भगवान् श्रीहरिमें अपने चित्तको लगा देना चाहिए। यदि सङ्ग करना ही है, तो भगवान्की प्रेमाभक्तिमें लगे हुए साधु-महात्माओंका ही सङ्ग करना चाहिए॥५१॥

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्
पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः।
नान्तं ब्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां
मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥५२॥

पहले मैं एकान्तमें अकेला ही तपस्या करता रहता था। बादमें जलमें मत्स्यका सङ्ग हो जानेसे मैंने विवाह कर लिया

और मैं पचास हो गया। इसके बाद प्रत्येक पत्नीसे सौ-सौ पुत्र उत्पन्न किये और मैं पाँच हजार हो गया। असत् विषयोंमें बुद्धि हो जानेसे मायाके गुणोंने मेरा विवेक नष्ट कर दिया, विषयमें पुरुषार्थ-बुद्धि उत्पन्न हो गयी और अब मुझे इस लोक और परलोकमें मनोरथोंके अतिरिक्त कुछ दिखायी ही नहीं देता ॥५२॥

एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः।

वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥ ५३ ॥

इस प्रकारके सोच-विचारमें उनका कुछ समय तो घरमें ही बीता, किन्तु बादमें वैराग्यको धारण करके उन्होंने सभी प्रकारके सङ्गका त्याग कर दिया और वनमें चले गये। अपने पतिको ही अपना सब कुछ माननेवाली उनकी पत्नियाँ भी उनका अनुसरण करती हुई वनमें चली गयीं ॥५३॥

तत्र तप्त्वा तपस्तीव्रमात्मदर्शनमात्मवित्।

सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥ ५४ ॥

तत्त्वको जाननेवाले सौभरिने वनमें जाकर आत्मसाक्षात्कारके लिए कठोर तपस्या की और आहवनीय आदि (गार्हपत्य एवं दक्षिण) अग्नियोंके साथ ही आत्माको परमात्मामें लगा दिया ॥५४॥

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम्।

अन्वीयुस्तत्प्रभावेण शान्तमग्निमिवार्चिषः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसौभर्योपाख्यानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

महाराज परीक्षित्! अपने पतिकी आध्यात्मिक सद्गतिको देखकर ऋषि-पत्नियाँ भी उनके प्रभाव-बलसे अपने पतिकी सहगामिनी हुई, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्निशिखा शान्त अग्निमें मिल जाती है ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके छठे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा

श्रीशुक उवाच—

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः।
पितामहेन प्रवृत्तो यौवनाश्वस्तु तत्सुतः।
हारीतस्तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मैं यह वर्णन कर चुका हूँ कि राजा मान्धाताके पुत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ पुत्र अम्बरीष थे। इन अम्बरीषको उनके दादा युवनाश्वने पुत्रके रूपमें स्वीकार कर लिया था। इनके पुत्र थे यौवनाश्व और यौवनाश्वके पुत्र हुए हारीत। मान्धाताके वंशमें अम्बरीष, यौवनाश्व और हारीत—ये तीन अवान्तर गोत्रोंके प्रवर्तक हुए॥१॥

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया॥२॥

नागोंकी (सर्पोंकी) बहन नर्मदा थी। नर्मदाका विवाह उसके भाइयोंने पुरुकुत्ससे कर दिया था। नागराज वासुकिकी आज्ञासे नर्मदा अपने पतिको रसातलमें ले गयी थी॥२॥

गन्धर्वानवधीत् तत्र वध्यान् वै विष्णुशक्तिधृक्।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम्॥३॥

रसातलमें पुरुकुत्सने भगवान्की शक्तिसे सम्पन्न होकर उन गन्धर्वोंको मार डाला, जो वधके ही योग्य थे। नागराज पुरुकुत्सके इस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए और उसे वर दे दिया कि जो भी नर्मदाके द्वारा रसातलमें पुरुकुत्सके लाये जानेवाले प्रसंगका स्मरण करेगा, उसे सर्पोंसे भय नहीं रहेगा॥३॥

त्रसदस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत्।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मात् प्रारुणोऽथ त्रिबन्धनः ॥ ४ ॥

राजा पुरुकुत्सके पुत्रका नाम त्रसदस्यु था। त्रसदस्युके पुत्र अनरण्य, अनरण्यका हर्यश्व और हर्यश्वका पुत्र प्रारुण हुआ। प्रारुणसे त्रिबन्धनका जन्म हुआ ॥ ४ ॥

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद्गुरोः कौशिकतेजसा ॥ ५ ॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥ ६ ॥

त्रिबन्धनके पुत्र सत्यव्रत थे। यही वे सत्यव्रत थे, जो त्रिशंकुके नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने विवाह-मण्डपसे एक ब्राह्मणकी पुत्रीका अपहरण कर लिया था, जिसके कारण इनके पिताने इन्हें चाण्डाल बननेका शाप दे दिया था, किन्तु बादमें विश्वामित्रजीके तेजबलसे ये शरीर सहित ही स्वर्गमें चले गये थे। देवताओंको यह स्वीकार नहीं था, अतः देवताओंने उन्हें वहाँसे धकेल दिया और वे नीचेकी ओर सिर किये हुए गिरने लगे, परन्तु विश्वामित्रजीने उन्हें नीचे नहीं गिरने दिया और अपनी तपस्याके बलसे उन्हें वहीं आकाशमें स्थित कर दिया। आज भी उनको आकाशमें सिरके बल लटका हुआ देखा जा सकता है। (हरिवंशपुराणके अनुसार सत्यव्रतने तीन पातक किये थे—पिताको असन्तुष्ट किया, गुरुदेवकी गायका वध किया एवं अभक्ष्यका भक्षण किया इसलिए त्रिशंकु कहलाये।) ॥ ५-६ ॥

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभ्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥ ७ ॥

त्रिशंकुके पुत्र हरिश्चन्द्र हुए। इन हरिश्चन्द्रके कारण ही विश्वामित्र और वशिष्ठने एक-दूसरेको पक्षी बननेका शाप दे डाला और पक्षीरूपमें ही बहुत वर्षोंतक आपसमें युद्ध करते रहे ॥ ७ ॥

(यह इतिहास इस प्रकार है—एकबार हरिश्चन्द्रने राजसूय यज्ञ किया। अप्रसन्न विश्वामित्रने दक्षिणाके छलसे उनकी सारी सम्पत्ति माँग ली। यह सुनकर वशिष्ठने विश्वामित्रको शाप दिया ‘तुम पक्षी हो जाओ’ और विश्वामित्रने भी वशिष्ठको शाप दे दिया ‘तुम बत्तख हो जाओ’। इस प्रकार वे दोनों पक्षी बनकर बहुत समयतक युद्ध करते रहे।)

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः।

वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो॥८॥

राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन थे। इससे वे बहुत दुःखी रहते थे। एक बार नारदके उपदेशसे वे वरुण देवताकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना की कि ‘हे प्रभो! मुझे एक पुत्र प्राप्त हो॥८॥

यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति।

नथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः॥९॥

हे प्रभो! यदि मुझे एक वीर पुत्र प्राप्त हो जाय, तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा—राजा हरिश्चन्द्रके ऐसा कहनेपर वरुणदेवने उन्हें ‘तथास्तु’ कहकर वर प्रदान किया। वरदानके फलस्वरूप राजा हरिश्चन्द्रके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रोहित रखा गया॥९॥

जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत्।

यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति॥१०॥

पुत्र-प्राप्ति के बाद वरुणदेव आये और राजा हरिश्चन्द्रसे कहने लगे—‘हे हरिश्चन्द्र! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया है, अब इससे मेरा यज्ञ करो।’ इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—‘यह यज्ञपशु (रोहित) दस दिनके बाद ही यज्ञके योग्य होगा’॥१०॥

निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।

दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति॥११॥

दस दिनके बाद वरुणदेव फिर आये और हरिश्चन्द्रसे कहा—‘हे हरिश्चन्द्र! यज्ञ करो।’ हरिश्चन्द्रने उत्तर दिया—‘जिस समय

यज्ञपशुके दाँत निकलते हैं, तब वह यज्ञबलिके लिए शुद्ध बनता है' ॥११॥

दन्ता जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।

यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति ॥१२॥

दाँत उग आनेपर वरुणदेव आये और कहने लगे—'इसके दाँत निकल आये हैं, अब यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दूधके दाँत गिर जायेंगे, तब यह यज्ञके योग्य होगा' ॥१२॥

पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्।

यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः ॥१३॥

यज्ञपशुके दूधके दाँत जब गिर गये, तब वरुणदेवने आकर कहा—'इस यज्ञपशुके दूधके दाँत गिर गये हैं, अब मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्रने कहा—'जब इसके दाँत पुनः उगेंगे, तब यह यज्ञके लिए पवित्र होगा' ॥१३॥

पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्।

सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः ॥१४॥

दाँतोंके पुनः उग जानेपर वरुणदेवने कहा—'अब मेरा यज्ञ करो।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'हे देव! क्षत्रिय पशु जिस समय कवच बाँधता है अर्थात् युद्धक्षेत्रमें अपनी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, तब वह पवित्र माना जाता है' ॥१४॥

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा।

कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥१५॥

हे राजन्! इस प्रकार हरिश्चन्द्र अपने पुत्रके प्रति अत्यन्त आसक्त थे। पुत्रानुरागके वशमें होकर स्नेहसे आकण्ठचित्त हरिश्चन्द्र जिस-जिस समयपर आनेके लिए कहते, वरुणदेव उस-उस समयकी प्रतीक्षा करते ॥१५॥

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम्।

प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥१६॥

रोहितको जब यह पता चला कि मेरे पिताजी यज्ञमें मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब उसने अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए धनुष धारण किया और वनमें चला गया॥१६॥

पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम्।

रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत॥१७॥

कुछ दिनोंके बाद जब रोहितने यह सुना कि वरुणदेवके क्रोधके कारण उनके पिताको महोदर रोग हो गया है, जिससे उनका पेट बहुत अधिक बढ़ गया है, तब वह अपने नगरमें लौटने के लिए तत्पर हुए। तभी वहाँ इन्द्र आ गये और उसे ऐसा करनेसे मना कर दिया॥१७॥

भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः।

रोहितायादिशच्छक्रः सोऽप्यरण्येऽवसत् समाम्॥१८॥

इन्द्रने रोहितको समझाते हुए कहा—यज्ञपशु बनकर बलि देनेसे तो अधिक पुण्य इस बातमें है कि तीर्थस्थानों अथवा पावन क्षेत्रोंमें विचरण किया जाय। उनकी बात मानकर रोहित एक वर्ष और वनमें ही रहा॥१८॥

एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा।

अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाह वृत्रहा॥१९॥

इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्षमें भी जब-जब रोहित अपने पिताके पास लौटनेकी बातपर विचार करता, इन्द्र हर बार बूढ़े ब्राह्मणका रूप धारण करके रोहितके पास आते और पहले कहे गये वचनोंसे ही उसे रोक देते॥१९॥

षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम्।

उपव्रजन्नजीगर्तादिक्रीणान्मध्यमं सुतम्।

शुनःशेफं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत॥२०॥

इस प्रकार रोहित छः वर्षों तक वनमें ही भ्रमण करता रहा। इसके बाद वह अपने नगरमें लौट आया। लौटते समय उसने

अजीगर्तसे उनके मैझले पुत्र शुनःशेफको मोल ले लिया और उसे यज्ञपशु बनानेके लिए अपने पिताको समर्पित करते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥२०॥

ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः।
मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः ॥ २१ ॥

महत्वपूर्ण व्यक्तियोंकी कथाओंमें राजा हरिश्चन्द्रकी यह कथा भी प्रसिद्ध है कि महायशस्वी राजा हरिश्चन्द्रने नरमेध यज्ञसे वरुण आदि देवताओंकी पूजा की और इस प्रकार वह महोदर रोगसे मुक्त हो गये ॥२१॥

विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान्।
जमदग्निरभूद्ब्रह्मा वशिष्ठोऽयास्यः सामगः ॥ २२ ॥

इस नरमेध यज्ञमें विश्वामित्रने होताका कार्य किया। आत्म-तत्त्वको जाननेवाले जमदग्नि अध्वर्यु (वेदोंमें बताये गये कर्मोंको करनेवाले) हुए। वशिष्ठ ब्रह्मा बने और अयास्य मुनिने सामवेदके मन्त्रोंका गायन किया ॥२२॥

तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम्।
शुनःशेफस्य माहात्म्यमुपरिष्ठात् प्रवक्ष्यते ॥ २३ ॥

इस यज्ञसे प्रसन्न होकर इन्द्रदेवने राजा हरिश्चन्द्रको सोनेका रथ प्रदान किया। आगे चलकर (जब मैं विश्वामित्रके पुत्रोंकी कथा सुनाऊँगा तब) शुनःशेफकी महिमाका वर्णन करूँगा ॥२३॥

सत्यं सारं धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य स भूपतेः।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥ २४ ॥

परीक्षित्! राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सहित सत्यमें दृढ़तापूर्वक स्थित थे। यह देखकर विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें उस ज्ञानका उपदेश दिया, जिसका कभी भी नाश नहीं होता ॥२४॥

मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत्।
खे वायुं धारयस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि ॥ २५ ॥

तस्मिन् ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन्।
 हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा।
 अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
 वैयासिक्यां नवम स्कन्धे श्रीहरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

उस ज्ञानसे राजा हरिश्चन्द्रने अपने अन्नमय मनको पृथ्वीमें एकाकार कर दिया। पृथ्वीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थित कर दिया। आकाशको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको ज्ञान-अंशमें मिला दिया। इसके बाद ज्ञानांशका आत्म-रूपमें ध्यान किया और निर्वाण-सुखकी अनुभूतिसे युक्त ज्ञानसे अज्ञानको भस्म कर दिया। निर्वाण सुखकी अनुभूति होनेपर ज्ञानका भी परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने उस स्वरूपमें स्थित हो गये, जिसका न तो वर्णन किया जा सकता है और न ही अनुमान ॥२५-२६॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके सातवे अध्यायका
 श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

महाराज सगरकी कथा

श्रीशुक उवाच—

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता।

चम्पा पुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! रोहितके पुत्रका नाम था हरित। हरितसे चम्प उत्पन्न हुआ। इन चम्पने ही चम्पापुरीको बसाया था। चम्पसे सुदेवने जन्म लिया और सुदेवका पुत्र विजय था॥१॥

भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्यापि बाहुकः।

सोऽरिभिर्हतभू राजा सभार्यो वनमाविशत्॥२॥

विजयका पुत्र भरुक था। भरुकका वृक और वृकसे बाहुकने जन्म लिया। बाहुकका राज्य शत्रुओंने छीन लिया था। इससे वह अपनी पत्नीके साथ वनमें चला गया॥२॥

वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती।

और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता॥३॥

वृद्धावस्थाके कारण बाहुककी मृत्यु हो गयी। उनकी स्त्री भी उनके साथ सती होना चाहती थी, परन्तु और्व मुनिको यह पता था कि वह गर्भवती है। अतः उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया॥३॥

आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह।

सह तेनैव सज्जातः सगराख्यो महायशाः।

सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः॥४॥

बाहुककी पत्नीके गर्भकी बात जब उसकी सौतोंको मालूम हुई, तो उन्होंने उसे भोजनके साथ गर(विष) दे दिया, किन्तु विषका

कोई भी प्रभाव बालकपर न पड़ा। विषके साथ ही बालकने जन्म ले लिया। इस प्रकार गरके साथ जन्म लेनेके कारण बालकका नाम 'सगर' पड़ गया। सगर एक महायशस्वी राजा थे। सगर पूरी पृथ्वीके सम्राट हुए। इन सगरके पुत्रोंने ही पृथ्वीको खोदकर सागर (समुद्र) बनाया था ॥४॥

यस्तालजङ्घान् यवनान् शकान् हैहयबर्बरान्।
 नावधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेशिनः ॥५॥
 मुण्डान् श्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्द्धमुण्डितान्।
 अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान् ॥६॥

राजा सगरने अपने गुरु और्वकी आज्ञा मानकर तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके असभ्य लोगोंका वध नहीं किया, बल्कि उन्होंने इन जातिके लोगोंका रूप अवश्य बदलवा दिया। किसी जातिके लोगोंके सिर मुँडवा दिये, किन्हींके मूँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछके बालोंको खुलवा दिया, कुछको आधा मुँडवा दिया। कुछको केवल वस्त्र ओढ़नेकी आज्ञा दी, पहननेकी नहीं और किसी जातिवालोंको बाहरी वस्त्रोंसे शून्य केवल अन्तर्वसन अर्थात् लंगोटी धारण करनेको बाध्य किया ॥५-६॥

सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम्।
 और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम्।
 तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥७॥

इसके बाद महाराज सगरने अपने गुरु और्वके उपदेशके अनुसार अश्वमेध यज्ञका आयोजन किया, जिसमें उन्होंने सभी वेदों एवं देवता आदिके आत्मस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरिकी आराधना की। इस यज्ञमें जिस घोड़ेको छोड़ा गया था, उसे इन्द्रने चुरा लिया ॥७॥

सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः।
 हयमन्वेषमाणास्ते समन्ताव्यखनन्महीम् ॥८॥

(सगरकी केशिनी और सुमति नामकी दो पत्नियाँ थी।) पिता सगरके आदेशका पालन करते हुए सुमतिके पुत्रोंने पूरी पृथ्वीपर घोड़ेको ढूँढ़ा और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपनी शक्तिके घमण्डमें सब ओरसे पृथ्वीको भी खोद डाला ॥८॥

प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके।

एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः ॥ ९ ॥

हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः।

उदायुधा अभिययुरुन्मिष तदा मुनिः ॥ १० ॥

उन्हें उत्तर-पूर्व दिशामें कपिल मुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया। घोड़ेको देखते ही वे बोल उठे—‘इसी व्यक्तिने यज्ञका घोड़ा चुराया है, देखो, अब इसने किस प्रकार आँखें मूँद रखी हैं, यह पापी है, इसे मार डालो! मार डालो!’ यह कहकर सगरके साठ हजार पुत्रोंने अस्त्र-शस्त्र उठा लिये और कपिल मुनिपर आक्रमण करनेके लिये दौड़ पड़े। उसी समय कपिल मुनिने अपनी आँखें खोलीं ॥९-१०॥

स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहतचेतसः।

महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात् ॥ ११ ॥

देवराज इन्द्रने अपनी शक्तिसे उन राजकुमारोंकी बुद्धिको हर लिया था। इसीलिये उन्होंने कपिल मुनि जैसे महात्माका अपमान किया था। उनके इस महद् अपराधके कारण शरीरमें तीसरे महाभूतके रूपमें जो अग्नि विद्यमान रहती है, वह धधक उठी और क्षणमात्रमें ही सब-के-सब पुत्र जलकर भस्म हो गये ॥११॥

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता

नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि।

कथं तमो रोषमयं विभाव्यते

जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥ १२ ॥

परीक्षित्! कुछ लोग कहते हैं कि सगर-पुत्र कपिल मुनिके क्रोधकी अग्निसे भस्मीभूत हुए थे, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं

है, क्योंकि कपिल मुनि तो शुद्ध-सत्त्वकी मूर्ति हैं, वे तो सारे जगत्को पवित्र करनेवाले हैं। उनमें क्रोध-रूपी तमोगुणकी सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है? भला कभी पृथ्वीकी धूल भी निर्मल आकाशमें रह सकती है? ॥१२॥

यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥ १३ ॥

यह संसार-सागर एक मृत्युका पथ है, जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु कपिल मुनिने इस लोकको सांख्य-शास्त्रके रूपमें एक ऐसी सुदृढ़ नौका प्रदान की है, जिसका प्रयोग करके मोक्षकी इच्छा रखनेवाले सरलतासे इस संसार-सागरके पार जा सकते हैं। कपिल मुनि सब कुछ जाननेवाले हैं, वे स्वयं परमात्मा ही हैं। फिर उनमें भला शत्रु और मित्रमें भेद करनेवाली प्राकृत बुद्धि कैसे हो सकती है? ॥१३॥

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः।
तस्य पुत्रोऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः ॥ १४ ॥

सागरकी दूसरी पत्नी केशिनीके गर्भसे असमञ्जस नामके पुत्रने जन्म लिया। असमञ्जसके पुत्रका नाम अंशुमान् था। अंशुमान् अपने दादाके माङ्गलिक सेवा-कार्योंमें ही व्यस्त रहते थे ॥१४॥

असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम्।
जातिस्मरः पुरा सङ्गाद्योगी योगाद्विचालितः ॥ १५ ॥
आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्।
सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयन् जनम् ॥ १६ ॥

केशिनी-पुत्र असमञ्जस पहले जन्ममें योगी थे। असत्-सङ्गके कारण वे योगसे भ्रष्ट हो गये थे, परन्तु योगके प्रभावसे वे जातिस्मर थे अर्थात् उन्हें इस जन्ममें भी पूर्व जन्मका स्मरण

बना हुआ था। इसलिये सङ्ग-परिहारके कारण अब वे निन्दाके योग्य ऐसे काम करते थे, जिससे कोई भी उन्हें अपना प्रिय न समझे। कभी-कभी तो वे खेलते हुए बच्चोंको सरयूमे ही डाल देते थे। उनके इस प्रकारके कार्योंसे सभी लोग उनसे त्रस्त हो गये थे॥१५-१६॥

एवं वृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै।

योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ॥१७॥

असमञ्जसके इस प्रकारके व्यवहारसे दुःखी होकर उनके पिताने पुत्र-मोहको छोड़कर उनका त्याग कर दिया। तब असमञ्जसने अपने योगबलसे उन सभी बालकोंको पुनर्जीवित कर दिया, जिन्हें उसने सरयू नदीमें डुबोकर मार डाला था और उन जीवित किये हुए बालकोंको राजा और उनके माता-पिताको दिखाकर वे वनकी ओर चल पड़े॥१७॥

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान्।

दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत॥१८॥

हे राजन्! अयोध्यावासियोंने जब अपने मरे हुए बालकोंको पुनः जीवित देखा तो उनके आश्चर्यकी कोई सीमा न रही। राजा सगरको भी पुत्रके प्रति किये अपने व्यवहारपर बहुत पश्चात्ताप हुआ॥१८॥

अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरगान्वेषणे ययौ।

पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम्॥१९॥

इसके बाद राजा सगरने अपने पौत्र अंशुमान्को यज्ञका घोड़ा ढूँढ़नेके लिये भेजा। उनके चाचाओंने जिस पथपर चलते हुए पृथ्वीको खोद डाला था, अंशुमान् उसी पथपर चले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भस्मके समीप ही यज्ञके घोड़ेको देखा॥१९॥

तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम्।

अस्तौत् समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान्॥२०॥

उस यज्ञके घोड़ेके पास ही कपिल मुनि विराजमान थे। महात्मा अंशुमानने कपिल मुनिमें अधोक्षज भगवान्‌के दर्शन किये और उनके चरणोंमें सादर प्रणाम किया। इसके बाद वे एकाग्र चित्तसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥२०॥

श्रीअंशुमानुवाच—

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥ २१ ॥

अंशुमानने कहा,—हे भगवन्! आप जीवतत्त्वसे श्रेष्ठ परात्पर तत्त्व हैं। अज ब्रह्मा भी आज तक परात्पर परमेश्वर-स्वरूप आपको समाधि एवं युक्ति द्वारा नहीं जान पाये हैं और न आपका दर्शन कर पाये हैं। इसका कारण यह है कि समाधि द्वारा अपरोक्षको देखा नहीं जा सकता और युक्ति द्वारा परोक्षको भी जाना नहीं जा सकता। इसलिए ब्रह्माके मन, शरीर, बुद्धि एवं सत्त्वादि गुणोंसे सृष्ट देव, तिर्यक् एवं मनुष्य आपको कैसे जान सकते हैं? हम तो देवताओंसे भी अधिक अज्ञान (अज्ञानी) हैं, अतएव आपकी महिमाको किस प्रकार समझ सकते हैं? ॥२१॥

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च।
यन्मायया मोहितचेतसस्त्वां
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥ २२ ॥

हे प्रभो! यद्यपि आप सब जीवोंमें स्व-स्वरूपसे विद्यमान हैं, तथापि ये देहधारी जीव अपने हृदयमें स्थित आपका दर्शन नहीं कर पाते, क्योंकि वे आपकी मायासे मोहित रहते हैं। बहिर्मुखी होनेसे उनकी बुद्धि सत्त्व, रज एवं तमोगुण प्रधान है, इसलिए वे सर्वत्र केवल इन तीन गुणोंको ही देखते हैं। जाग्रत् और स्वप्न

अवस्थामें वे केवल विषयोंको और सुषुप्ति अवस्थामें केवल तमोगुण प्रधान पदार्थोंको ही देखते हैं। इन तीनों गुणोंसे परे आप निर्गुण आपको वे नहीं देख पाते ॥२२॥

तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-

प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।

सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं

कथं विमूढः परिभावयामि ॥ २३ ॥

हे भगवन्! आप शुद्धज्ञानकी मूर्ति हैं। सनन्दन आदि जैसे मुनि जो स्वरूप-अनुभवके प्रभावसे अपने माया-जनित भेदभाव एवं मोहको समाप्त कर चुके हैं, वे आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, तब मुझ जैसा अज्ञानी भला आपको जाननेमें कैसे समर्थ हो सकता है? ॥२३॥

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-

मनामरूपं सदसद्विमुक्तम्।

ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं

नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥ २४ ॥

हे प्रशान्त! विश्व-सृष्टि इत्यादि मायिक गुण, सृष्टि इत्यादि कर्म ब्रह्मादि विभिन्न गुणमय रूप आपके ही हैं, परन्तु आप कार्य-कारण अर्थात् गुण एवं कर्मसे विमुक्त हैं, मायिक नाम-रूपसे रहित हैं। ज्ञानोपदेशके लिए ही आप शुद्ध सत्त्व-मूर्ति प्रकट करते हैं। हे पुराण (सनातन) पुरुष! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥२४॥

त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु।

भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥ २५ ॥

हे भगवन्! जिनका चित्त काम, लोभ, ईर्ष्या एवं मोहादिसे भ्रान्त है, वे सब आपकी माया द्वारा सृजित मिथ्या गृह, देह, पुत्र कलत्र आदिको वास्तव मानकर उनमें आसक्ति रखते हैं और इस जगत्में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥२५॥

अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः।

मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात्॥ २६ ॥

हे सर्वभूतात्मान्तर्यामिन्! हे भगवन्! आज आपके दर्शनसे कामवासनाओं एवं इन्द्रियोंका आश्रय-स्वरूप दुश्छेद्य (जिसका टूटना बहुत कठिन है) मोहरूप मेरा संसार-बन्धन छिन्न हो गया है॥ २६ ॥

श्रीशुक उवाच—

इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः।

अंशुमन्तमुवाचेदमनुग्राह्य धिया नृप॥ २७ ॥

हे राजन्! इस प्रकारसे भगवत्-माहात्म्य-कीर्तन करनेपर कपिलमुनिने अंशुमान्पर अनुग्रह किया और उनको ज्ञानोपदेश करने लगे॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव।

इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत्॥ २८ ॥

भगवान् कपिलने कहा—हे अंशुमान्! यह रहा तुम्हारे दादाजीका यज्ञपशु, इस घोड़ेको ले लो! तुम्हारे भस्म हुए पितृव्योंके (पुरखोंके) उद्धारके लिए एकमात्र विष्णु-पादोदक (गङ्गाजल) ही उपयुक्त है, अन्य कोई साधन नहीं॥ २८ ॥

तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत्।

सगरस्तेन पशुना यज्ञशेषं समापयत्॥ २९ ॥

इसके पश्चात् अंशुमान्ने कपिलमुनिकी परिक्रमा की, अपना सिर झुकाकर उनको प्रणाम किया। इस प्रकारसे उन्हें पूर्णरूपेण सन्तुष्ट करके वे यज्ञीय अश्वको ले आये। महाराज सगरने इस अश्वसे यज्ञका अनुष्ठान सम्पन्न किया॥ २९ ॥

राज्यमंशुमते न्यस्य निस्पृहो मुक्तबन्धनः।

और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम्॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसगरोपाख्यानं नामाष्टमोऽध्यायः।

हे राजन्! सगरने अंशुमान्को राज्य सौंप दिया तथा विषय-वासना
एवं मोह-पाशसे मुक्त होकर और्वमुनिके द्वारा उपदिष्ट पथका
अनुसरण करते हुए परम गतिको प्राप्त किया॥३०॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके आठवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः

भगीरथका चरित्र और गङ्गाका पृथ्वीपर अवतरण

श्रीशुक उवाच—

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया।

कालं महान्तं नाशकनोत्ततः कालेन संस्थितः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—जिस प्रकार महाराज सगर अपने पौत्र अंशुमान्को राज्यका भार सौंपकर तपस्या करने चले गये थे, उसी प्रकार अंशुमान्ने भी अपने पुत्र दिलीपको राज्यका सारा भार सौंप दिया और गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेकी अभिलाषासे बहुत वर्षों तक घोर तपस्या करते रहे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली और समय आनेपर उनकी मृत्यु हो गयी ॥१॥

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान्।

भगीरथस्तस्य सुतस्तेपे स सुमहत् तपः ॥ २ ॥

अंशुमान्के पुत्र दिलीपने भी अपने पिताके समान गङ्गाको पृथ्वीपर लानेके लिए कठिन तपस्या की, परन्तु वे भी इस कार्यमें असमर्थ ही रहे और कालक्रमसे मृत्युको प्राप्त हो गये। इसके बाद दिलीपके पुत्र भगीरथने गङ्गाको लानेके लिए बहुत कठिन तपस्या की ॥२॥

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते।

इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥ ३ ॥

भगीरथजीकी तपस्यासे गङ्गादेवी प्रसन्न हो गयीं और उन्हें दर्शन देकर कहने लगीं—‘मैं तुम्हारी तपस्यासे प्रसन्न हूँ, मैं तुम्हें वर देनेके लिये यहाँ आयी हूँ।’ गङ्गाजीके इस प्रकार कहनेपर भगीरथने बड़ी विनम्रतासे उनके सामने अपनी अभिलाषा प्रकट की ॥३॥

कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले।

अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥४॥

(गङ्गाजीने कहा—)‘जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको धारण करनेके लिये कोई सामर्थ्यवान् व्यक्ति होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हे भगीरथ! मैं (अपने तीव्र वेगके कारण) पृथ्वीतलको भेदकर रसातलमें चली जाऊँगी’ ॥४॥

किञ्चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यधम्।

मृजामि तदघं क्वाहं राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥५॥

हे राजन्! इसके अतिरिक्त मेरी पृथ्वीपर आनेकी इच्छा भी नहीं है, क्योंकि पृथ्वीपर आनेपर लोग मुझमें अपने पापोंको धोयेंगे, तो फिर मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी? इस बातपर भी तुम विशेषरूपसे विचार कर लो ॥५॥

श्रीभगीरथ उवाच—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।

हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥६॥

श्रीभगीरथने कहा—हे देवी! जो कर्मके फलमें आसक्ति नहीं रखते हैं, भोगवासनाओंसे रहित हैं, वेद-विचारमें निपुण हैं, सभी सांसारिक कामनाओंको त्याग करके परम शान्त हो गये हैं, ऐसे विशुद्ध-चित्त, ब्रह्मनिष्ठ, सभी लोकोंको पावन करनेवाले साधुपुरुष आपके जलमें स्नान करके अपने चिन्मय अङ्गोंके स्पर्शसे आपके पापोंको नष्ट कर देंगे, क्योंकि उन साधुओंके हृदयमें पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सदा निवास करते हैं ॥६॥

धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्।

यस्मिन्प्रोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥७॥

श्रीरुद्रदेव आपके तीव्रवेगको धारण करनेमें समर्थ हैं, क्योंकि वे देहधारियोंके अन्तर्यामी भगवान्से अभिन्न हैं। यह सारा विश्व उनमें उसी प्रकारसे ओतप्रोत है, जिस प्रकार साड़ी सूतोंसे (तानेबानोंसे) ओतप्रोत रहती है ॥७॥

इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम्।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशश्चाश्वतुष्यत ॥ ८ ॥

गङ्गासे यह सब कहनेके बाद राजा भगीरथ तपस्यासे महादेवको प्रसन्न करने लगे। हे परीक्षित्! महादेव भगीरथकी तपस्यासे अति शीघ्र सन्तुष्ट हो गये ॥ ८ ॥

तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः।
दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥ ९ ॥

(जब महाराज भगीरथने शिवसे गङ्गाका वेग धारण करनेके लिए प्रार्थना की) तब शिवने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और बड़ी सावधानीके साथ जलमयी गङ्गाको अपने सिरपर धारण कर लिया। करें भी क्यों न, भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंके स्पर्शके कारण गङ्गाका जल परम पवित्र करनेवाला जो है ॥ ९ ॥

भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम्।
यत्र स्वपितृणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते ॥ १० ॥

इसके बाद राजर्षि भगीरथ तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली गङ्गाको उस स्थानपर लेकर गये, जहाँ उनके पितरोंके शरीर भस्म हुए पड़े थे ॥ १० ॥

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत् सगरात्मजान् ॥ ११ ॥

भगीरथ वायुकी गतिसे चलनेवाले एक रथपर सवार होकर आगे-आगे चले और गङ्गाजी अपने मार्गमें आनेवाले सभी देशोंको पवित्र करती हुई उनके पीछे-पीछे बड़े वेगसे प्रवाहित होकर उस स्थान (गङ्गासागरके सङ्गम)पर पहुँची, जहाँ कपिलमुनिके तिरस्कारके कारण सगरके पुत्र राख बनकर पड़े हुए थे। गङ्गाजीने सगर-पुत्रोंके शरीरकी उस भस्मको अपने जलमें डुबा दिया ॥ ११ ॥

यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥ १२ ॥

महापुरुषके प्रति अपराध करनेके कारण सगर-पुत्रोंके शरीरमें विद्यमान अग्निका ताप बहुत बढ़ गया था, इसलिए उनके शरीर जलकर भस्म हो गये थे। अतः उनका उद्धार असम्भव था, किन्तु उनके शरीरोंकी राखसे गङ्गाजीके परमपावन जलका केवल स्पर्श ही हुआ था कि सभी सगर-पुत्र स्वर्गको चले गये ॥१२॥

भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः।

किं पुनः श्रद्धया देवीं सेवन्ते ये धृतव्रताः ॥१३॥

जब शरीरकी भस्मसे ही गङ्गाजीका स्पर्श मात्र पाकर सगरके सभी पुत्र स्वर्गमें चले गये, तब जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ सङ्कल्प करके गङ्गाजीका सेवन करते हैं, उनके लाभके विषयमें तो क्या कहा जाय? ॥१३॥

नह्येतत् परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।

अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥१४॥

गङ्गादेवी भगवान् अनन्तदेवके चरणकमलोंसे प्रसूत हैं, अतः मनुष्योंका भव-बन्धनसे उद्धार करनेमें पूर्णरूपसे सक्षम हैं। इसलिए उनके माहात्म्यके विषयमें मैंने जो भी कहा, उसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है ॥१४॥

सन्निवेश्य मनो यस्मिन् श्रद्धया मुनयोऽमलाः।

त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥१५॥

गङ्गा भगवान् श्रीहरिके उन चरणकमलोंसे निकली हैं, जिनका श्रद्धाके साथ केवल चिन्तन करनेसे बड़े-बड़े मुनियोंका चित्त भोग-आसक्तिसे रहित होकर परम निर्मल हो जाता है और वे तीन गुणोंसे बने हुए सुदृढ़ देह-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌के तादात्म्यको (ऐकान्तिकत्वको) प्राप्त कर लेते हैं। (तब उनके चरणोंसे निकलनेवाली गङ्गा भव-बन्धनसे मुक्त कर दे, इसमें कौन-सा आश्चर्य है?) ॥१५॥

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत्।
 सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥ १६ ॥
 ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयात्रलात्।
 दत्त्वाक्षहृदयज्वास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥ १७ ॥

भगीरथसे श्रुतका जन्म हुआ था और श्रुतका पुत्र था नाभ। यह नाभ पहले बताये गये नाभसे भिन्न है। नाभसे सिन्धुद्वीप और सिन्धुद्वीपसे अयुतायु उत्पन्न हुआ। अयुतायुसे ऋतुपर्णका जन्म हुआ, जो राजा नलका मित्र था। ऋतुपर्णने राजा नलको द्यूत-क्रीड़ाके रहस्य बतलाये थे और बदलेमें उनसे अश्व-विद्या सीखी थी। ऋतुपर्णके पुत्रका नाम था सर्वकाम ॥ १६-१७ ॥

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृपः।
 आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित्।
 वशिष्ठशापाद्रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥ १८ ॥

महाराज परीक्षित्! सर्वकामके पुत्रका नाम सुदास था। सुदासका पुत्र हुआ सौदास। सौदासकी पत्नीका नाम मदयन्ती था। इन सौदासको कुछ लोग मित्रसह भी कहते हैं और कहीं-कहीं इन्हें कल्माषपाद भी कहा जाता है। ये वशिष्ठ मुनिके शापसे राक्षस हो गये थे और फिर अपने बुरे कर्मोंके कारण निःसन्तान हुए ॥ १८ ॥

श्रीराजोवाच—

किं निमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः।
 एतद्वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि ॥ १९ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि राजा सौदासको मुनि वशिष्ठने शाप क्यों दे दिया था? इसमें यदि कोई गोपनीय बात न हो, तो हमें बतलाइए ॥ १९ ॥

श्रीशुक उवाच—

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह।
 मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया ॥ २० ॥

स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥ २१ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—एक बार राजा सौदास शिकारके लिए गये। वहाँ उन्होंने एक राक्षसको मार डाला, किन्तु उसके भाईको छोड़ दिया। इसके बाद उस राक्षसका भाई बदला लेनेके विचारसे राजा सौदासके घरमें रसोइया बनकर रहने लगा। एक दिन गुरु वशिष्ठ राजा सौदासके घरमें भोजनके लिए आये। तब उस रसोइये बने राक्षसने मनुष्यका मांस पकाकर वशिष्ठजीको परोस दिया ॥ २०-२१ ॥

परिवेक्ष्यमाणं भगवान् विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा।
राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥ २२ ॥

योग-विभूति सम्पन्न मुनि वशिष्ठने अपने दिव्यज्ञानसे जान लिया कि उन्हें अभक्ष्य वस्तु परोसी गयी है। वे अत्यन्त क्रोधित हो उठे और नर-मांसको परोसनेके दोषके कारण राजाको शाप दे दिया—‘जा, तू नरभक्षी राक्षस हो जा’ ॥ २२ ॥

रक्षःकृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम्।
सोऽप्यपोऽञ्जलिनादाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥ २३ ॥
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ।
दिशः खमवर्नी सर्वं पश्यन् जीवमयं नृपः ॥ २४ ॥

जब मुनि वशिष्ठको यह पता चला कि यह काम राजाका नहीं, राक्षसका है, तब उन्होंने राजाको दिये गये शापकी अवधिको बारह वर्ष कर दिया और स्वयं बारह वर्ष व्रत रखा, जिससे निरपराध राजाको शाप-प्रदानरूप उनका दोष दूर हो जाय। उस समय राजा सौदास भी अञ्जलिमें जल लेकर गुरु वशिष्ठको शाप देनेके लिए तत्पर हुए, परन्तु उनकी पत्नी मदयन्तीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। पत्नीकी बात मान लेनेके कारण उन्हें ‘मित्रसह’ कहा जाता है। जब उन्होंने देखा कि दसों दिशाएँ, आकाश

और पृथ्वी सभी स्थान जीवमय हैं; ये सब दग्ध हो सकते हैं, तब अञ्जलिवाले अभिमन्त्रित जलको उन्होंने अपने ही पैरोंपर डाल लिया ॥२३-२४॥

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः।

व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥ २५ ॥

अभिमन्त्रित जलके कारण राजा सौदासके पैर काले पड़ गये थे, इसलिए उन्हें 'कल्माषपाद' भी कहा जाता है। अब वे एक राक्षस (मानवभक्षी स्वभाववाले) हो चुके थे। एक बारकी बात है, राक्षस बने हुए कल्माषपादने एक वनवासी ब्राह्मण-दम्पत्तिको सहवासके समय देख लिया ॥२५॥

क्षुधात्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत्।

न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥ २६ ॥

मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि।

देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥ २७ ॥

राजा सौदासकी वृत्ति राक्षसी हो गयी थी। उन्हें भूख भी लगी थी। उन्होंने ब्राह्मण-दम्पत्तिमें से ब्राह्मणको पकड़ लिया। तब ब्राह्मणकी पत्नीने बड़े दीन भावसे सौदाससे कहा—हे राजन्! आप राक्षस नहीं हैं। आप इक्ष्वाकुवंशके महारथी हैं और महारानी मदयन्तीके पति हैं। इस प्रकार अधर्मका आचरण आपको शोभा नहीं देता। मुझे सन्तानकी कामना है और मेरे पतिकी कामना भी अभी पूर्ण नहीं हुई है। अतः आप मेरे ब्राह्मण पतिको लौटा दीजिए ॥२६-२७॥

देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः।

तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥ २८ ॥

हे राजन्! यह मनुष्य शरीर जीवोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—समस्त पुरुषार्थोंको प्रदान करनेमें सक्षम है। अतः हे वीर! मनुष्य-शरीरको नष्ट कर देना समस्त पुरुषार्थोंकी हत्या कही जाती है ॥२८॥

एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः।
 आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम्।
 सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥ २९ ॥

पुनः यह ब्राह्मण विद्वान् है, तपस्वी है और सभी गुणोंसे सम्पन्न है। यह पुरुषोत्तम भगवान्की आराधना करना चाहता है, जो समस्त प्राणियोंमें आत्माके रूपमें विराजमान हैं और जो समस्त वस्तुओंमें विद्यमान होते हुए भी भिन्न नाम और रूपके आवरणसे आवृत्त हैं। प्राकृत सत्त्वादि गुणोंके द्वारा आच्छादित नेत्रोंके द्वारा वे अदृश्य हैं ॥२९॥

सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभो।
 कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः ॥ ३० ॥

हे राजन्! आप धर्मके तत्त्वको भली प्रकारसे जानते हैं। जैसे पिताके द्वारा पुत्रकी हत्याको उचित नहीं ठहराया जा सकता, उसी प्रकार आप जैसे श्रेष्ठ राजर्षिके हाथों मेरे ब्रह्मर्षि पतिकी हत्या किस प्रकार उचित हो सकती है? ॥३०॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सौहृदम्।
 विद्याविवेकसम्पन्नाः श्रीलमेतद्विदुर्वुधाः ॥ ३१ ॥

विद्वान् एवं विवेकी पण्डित कर्म, मन एवं वचन द्वारा समस्त प्राणियोंके प्रति सुहृदवत् आचरण करते हैं, इसीको 'शील' कहा जाता है ॥३१॥

तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः।
 कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥ ३२ ॥

साधु समाजमें आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। यह ब्राह्मण भी साधु ही है, निरपराध है, श्रोत्रिय है और वेदोंका ज्ञाता है। इसलिए आपके द्वारा इसकी हत्या किसी भी प्रकारसे ठीक नहीं है। इसकी हत्या गायकी हत्या अथवा भ्रूणकी हत्याके समान है ॥३२॥

यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः।

न जीविष्ये विना येन क्षणञ्च मृतकं यथा ॥ ३३ ॥

पतिके बिना मेरी दशा मृतकके समान हो जाएगी। मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह पाऊँगी। इसलिए यदि आप इन्हें भक्षण करना ही चाहते हैं, तो पहले मेरा भक्षण कीजिए, क्योंकि मैं तो मृततुल्य हूँ ॥ ३३ ॥

एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत्।

व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणकी पत्नी इस प्रकार करुणापूर्ण वचन कहती हुई अनाथकी तरह विलाप करने लगी, किन्तु मुनि वशिष्ठके शापसे मोहित होनेके कारण सौदासने उसकी कातर प्रार्थनापर कोई ध्यान नहीं दिया और ब्राह्मणको वैसे ही खा गया, जैसे कोई बाघ किसी पशुको खा जाता है ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम्।

शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत् कुपिता सती ॥ ३५ ॥

जब साध्वी ब्राह्मणीने देखा कि राक्षसने गर्भाधानके लिए उद्यत मेरे पतिको खा लिया है, तब वह बहुत शोक करने लगी और क्रोधसे उसने राजाको शाप दे दिया ॥ ३५ ॥

यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया।

तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञदर्शितः ॥ ३६ ॥

अरे दुर्मते! जब मैं कामसे पीड़ित हो रही थी और मेरा पति गर्भाधानके लिये उद्यत था, तभी तूने मेरे पतिको खा डाला। हे पापी! रे मूर्ख! जब तू स्त्रीसे सहवास करना चाहेगा, तभी तेरी मृत्यु हो जाएगी—यह तू ध्यान रखना ॥ ३६ ॥

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा।

तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं गता ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मित्रसह सौदासको शाप देकर ब्राह्मणीने अपने पतिकी अस्थियोंको धधकती हुई अग्निमें डाल दिया और स्वयं भी सती हो गयी। उसे वही गति प्राप्त हुई, जो उसके पतिको मिली थी, क्योंकि वह पतिलोकपरायणा थी, किसी दूसरे लोकमें जाना नहीं चाहती थी॥३७॥

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः।

विज्ञाप्य ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः॥३८॥

बारह वर्ष बीत जानेपर सौदास वशिष्ठके शापसे मुक्त हो गये। जब वे पत्नीके साथ सम्भोगके लिए उद्यत हुए, तब ब्राह्मणीके शापको जाननेवाली उनकी पत्नीने उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया॥३८॥

अत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।

वशिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात्॥३९॥

इसके बाद सौदासने स्त्री-सङ्गके सुखका त्याग ही कर दिया और इस प्रकार अपने कर्मफलके कारण वे सन्तानहीन हो गये। तब वशिष्ठने सौदासकी अनुमतिसे मदयन्तीको गर्भ धारण कराया॥३९॥

सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रत्र व्यजायत।

जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते॥४०॥

जब सात वर्षों तक गर्भ धारण करनेके बाद भी बालकका जन्म नहीं हुआ, तब वशिष्ठने मदयन्तीके गर्भपर पत्थरसे आघात किया, जिससे बालक उत्पन्न हो गया। अश्म (पत्थर)के प्रहारसे उत्पन्न होनेके कारण यह बालक अश्मकके नामसे प्रसिद्ध हुआ॥४०॥

अश्मकाद्बालिको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।

नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत्॥४१॥

अश्मकके पुत्र बालिक हुए। जिस समय परशुराम पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर रहे थे, तब स्त्रियोंसे घिरे होनेके कारण इस

बालककी रक्षा हो गयी थी। इसलिए यह 'नारीकवच' नामसे प्रसिद्ध हुआ। जब परशुरामने पूरी पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था, तब यही बालक क्षत्रिय वंशका मूल (प्रवर्तक) बना। इसलिए इसे 'मूलक'के नामसे भी जाना जाता है ॥४१॥

ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडिस्ततः।

राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥४२॥

मूलक या बालिकके पुत्रका नाम था दशरथ। दशरथसे ऐडविडि और ऐडविडिसे राजा विश्वसहका जन्म हुआ। इन्हीं विश्वसहने सुप्रसिद्ध राजा खट्वाङ्गको उत्पन्न किया। खट्वाङ्ग एक चक्रवर्ती सम्राट् हुए ॥४२॥

यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद् युधि दुर्जयः।

मुहूर्त्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः ॥४३॥

युद्धमें उन्हें कोई हरा नहीं सकता था। देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने युद्धमें दैत्योंपर विजय प्राप्त की थी। इसपर देवताओंने प्रसन्न होकर उन्हें वर माँगनेके लिए कहा। तब राजा खट्वाङ्गने उनसे पूछा कि उनकी कितनी आयु शेष है। देवताओंने कहा—'मुहूर्त्त भर' (दो घड़ी)। यह जानकर वे देवताओं द्वारा दिये गये विमानसे अपनी राजधानी लौट आये और अपने चित्तको भलीभाँति भगवान्‌के चरणोंमें लगा दिया ॥४३॥

न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवात्र चात्मजाः।

न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥४४॥

इस प्रकार साधु-वृत्तिका आश्रय लेकर वे मन-ही-मन सोचने लगे कि मेरे कुलके देवता हैं—ब्राह्मण। ये ब्राह्मण मुझे प्राणोंसे भी प्यारे हैं। उनसे बढ़कर मुझे पत्नी, पुत्र, ऐश्वर्य, पृथ्वी, राज्य कुछ भी प्रिय नहीं है ॥४४॥

न चाल्पेऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्।

नापश्यमुत्तमःश्लोकादन्यत् किञ्चन वस्त्वहम् ॥४५॥

बचपनसे ही मेरा मन कभी भी अधर्मकी ओर नहीं गया।
उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिके अतिरिक्त कोई भी वस्तु इस जगत्में
मुझे सारपूर्ण नहीं दिखायी दी॥४५॥

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः।

न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः॥४६॥

तीनों लोकोंके अधिपति देवतागण मुझे मेरी इच्छाके अनुसार
वर देना चाहते थे, परन्तु मैंने उनसे भौतिक कामनाओंकी पूर्तिके
लिए कुछ नहीं माँगा, क्योंकि मैं तो समस्त प्राणियोंको जीवन
प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीहरिकी भावनाओंमें ही निमग्न था॥४६॥

ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।

न विदन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे॥४७॥

देवताओंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, फिर भी उनके
मन-इन्द्रियाँ विषय-वासनाओंमें ही भटकते रहते हैं, जिससे वे
अपने हृदयमें सदा-सर्वदा प्रियतम परमात्माके रूपमें विराजमान
अन्तर्यामी भगवान्का दर्शन नहीं कर पाते, तो फिर जिनमें रजोगुण
और तमोगुण ही अधिक पाया जाता है, उनके विषयमें तो क्या
कहा जाय॥४७॥

अथेशमायारचितेषु सङ्गं

गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु।

रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वकर्तु-

भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये॥४८॥

यह जगत् भगवान्की बहिरङ्गा मायासे विरचित है, इसलिए
यहाँके सभी विषय उन काल्पनिक गन्धर्वपुरियोंके समान हैं,
जो आकाशमें केवल प्रतीत होती हैं। उनकी कोई वास्तविक
सत्ता नहीं है। मायाके गुणोंसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञानके कारण
यहाँके विषयोंमें हमारा मन रम जाता है, किन्तु मैंने तो
इस विश्वका सृजन करनेवाले भगवान् श्रीहरिके चिन्तनसे इस

आसक्तिका त्याग कर दिया है और भगवान्‌के श्रीचरणोंकी शरण ग्रहण कर ली है ॥४८॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया।

हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमास्थितः ॥४९॥

राजा खट्वाङ्गकी बुद्धिको तो भगवान् श्रीनारायणने अपनी ओर ही आकर्षित कर रखा था, इसीलिए उन्होंने ऐसा सुन्दर निश्चय किया था। नारायणके चरणोंमें बुद्धिके लगनेसे उन्होंने उस अज्ञानका भी परित्याग कर दिया था, जो देहमें होनेवाली आत्मबुद्धिके कारण उत्पन्न होता है। इस प्रकार अब वे अपने आत्मस्वरूपमें अर्थात् भगवद्दास्यरूपमें स्थित हो गये थे ॥४९॥

यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्मशून्यं शून्यकल्पितम्।

भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां वैयासिक्यां
नवमस्कन्धे श्रीखट्वाङ्गचरितं नाम नवमोऽध्यायः ॥

वे आत्मस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) जो अतिशय सूक्ष्म अर्थात् दुर्ज्ञेय निर्विशेष-स्वरूप हैं एवं वस्तुतः शून्य न होनेपर भी जो रागादिके अविषय होनेके कारण शून्यरूपमें कल्पित हैं। ये आत्मस्वरूप परम सत्य हैं, परब्रह्म हैं। इसी स्वरूपको भक्तगण 'वासुदेव'के रूपमें जानते हैं ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके नवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

खट्वाङ्गादीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः।

अजस्ततो महाराजस्तस्मादशरथोऽभवत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! खट्वाङ्गके पुत्रका नाम दीर्घबाहु था। दीर्घबाहुने एक परम यशस्वी पुत्र रघुको जन्म दिया। रघुसे अज और अजसे महाराज दशरथका जन्म हुआ ॥१॥

तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः।

अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।

रामलक्ष्मणभरत-शत्रुघ्न इति संज्ञया ॥ २ ॥

देवताओंकी प्रार्थनापर साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीहरिने अपने अंश और अंशके अंशके साथ दशरथके चतुर्मुर्ति अर्थात् चार पुत्रोंके रूपमें जन्म लिया। दशरथके इन पुत्रोंके नाम थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ॥२॥

तस्यानुचरितं राजनृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।

श्रुतं हि वर्णितं भुवि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥

हे राजन्! तत्त्वको जाननेवाले ऋषियोंने सीतापति भगवान् श्रीरामके चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और तुमने उसे अनेक बार सुना भी है। फिर भी, मैं तुम्हें संक्षेपमें बतला रहा हूँ, सुनो! ॥३॥

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः

पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।

वैरूप्यात् सूर्पणख्याः प्रियविरहरुषारोपितभ्रूविजृम्भ-

त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीराम अपने पिताके सत्यकी रक्षाके लिए राज्यका परित्यागकर एक वनसे दूसरे वनमें विचरण करते रहे। उनके चरणकमल इतने अधिक सुकुमार थे कि वे परम सुकुमारी सीतादेवीके करकमलोंका भी स्पर्श सहन नहीं कर पाते थे। वनके मार्गोंपर चलते-चलते जब वे थक जाते, तब वीर हनुमान, सुग्रीव और छोटे भाई लक्ष्मण उनके चरणोंको दबा-दबाकर उनकी थकान दूर करते। लक्ष्मणने शूर्पणखाके नाक-कान काटकर उसे शोभाहीन (विरूप) बना दिया था, जिसके कारण उन्हें अपनी परमप्रिया सीताजीका वियोग सहन करना पड़ा। इससे श्रीराम अत्यन्त क्रोधित हो गये। क्रोधावेशके कारण उनकी भौंहें ऐसे तन गयीं, जिन्हें देखकर समुद्र तक भयसे काँपने लगा और उसने श्रीरामको समुद्र पार लङ्कामें जानेके लिए मार्ग बतला दिया। तत्पश्चात् श्रीरामने समुद्रपर पुल बाँधा और लङ्कामें जाकर रावण आदि दुष्ट राक्षसोंको वैसे ही समाप्त कर दिया, जैसे दावाग्नि समस्त जंगलको जला डालती है। ऐसे कोशलनरेश हमारी रक्षा करें॥४॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः।

पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः॥५॥

भगवान् श्रीरामने विश्वामित्रके यज्ञमें लक्ष्मणके सामने ही मारीच आदि बड़े-बड़े नामी राक्षसोंका वध कर दिया था, ऐसे कोशलराज रामचन्द्र हमारी रक्षा करें॥५॥

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं

सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम्।

आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं

सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये॥६॥

जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां

सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम्।

मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं

दर्पं महीमकृतं यस्त्रिरराजबीजाम्॥७॥

हे राजन्! भगवान् रामचन्द्रकी लीलाएँ बालगजके समान अत्यन्त अद्भुत थीं। जनकपुरीमें सीताजीके स्वयंवरमें संसारभरके श्रेष्ठ वीर राजा आये हुए थे और उनके सामने इतना भारी शिव-धनुष रखा हुआ था, जिसे वहाँ तक तीन-सौ वीर बड़ी कठिनाईसे उठाकर लाये थे, किन्तु भगवान् श्रीरामने उसे बात-ही-बातमें उठा लिया और उसपर डोरी चढ़ाकर बीचों-बीचसे उसके वैसे ही दो टुकड़े कर डाले, जैसे गज-शावक खेल-ही-खेलमें ईखको तोड़ डालता है। ऐसा करके उन्होंने उन सीताजीको जीत लिया, जो स्वरूपसे श्रीलक्ष्मीजी ही हैं और भगवान् उन्हें उनके सुन्दर गुणोंके कारण अपने वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान करके अत्यधिक आदर प्रदान करते हैं। वास्तवमें वे अपने रूप, गुण, शील, अवस्था और शारीरिक-गठन आदि सभी दृष्टियोंसे भगवान् श्रीहरिके अनुकूल हैं। जब परशुरामजी पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित करके लौट रहे थे, तब उनका अभिमान बहुत बढ़ गया था। क्षत्रियवंशी भगवान् श्रीरामने उनके उस अभिमानको चूर-चूर कर दिया ॥६-७॥

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं

स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।

राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं

त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८ ॥

महाराज दशरथने महारानी कैकेयीको जो वचन दिये थे, उन वचनोंके सत्यकी रक्षाके लिए ही वे रामको वनवास देनेके लिए बाध्य हुए थे, वे सत्यके बंधनसे बँधे थे। भगवान् श्रीरामने सत्यके अधीन अपने पिताके आदेशका आदर करते हुए प्रसन्नतासे वनवासको स्वीकार कर लिया। अपार ऐश्वर्यसे युक्त राजपाट, प्रेमी, हितैषी, बन्धु, मित्र आदि सभीको छोड़कर वे अपनी पत्नीके साथ वनकी ओर वैसे ही चल दिये, जैसे मुक्तिको चाहनेवाला योगी दुस्त्यज्य प्राणोंको हँसते-हँसते छोड़ देता है ॥८॥

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
 स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून्।
 जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय-
 कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम्॥९॥

दुष्ट रावणकी बहन शूर्पणखाकी बुद्धि मन्द एवं कामवासनासे अत्यधिक कलुषित थी। अतः भगवान्ने उसके नाक-कान कटवाकर उसे शोभाहीन (विकृत) कर दिया। इसके बाद उन्होंने हाथमें धनुष धारण करके शूर्पणखाके खर, दूषण, त्रिशिरा आदि प्रधान-प्रधान भाइयों और चौदह हजार राक्षसोंका वध कर दिया। भगवान्ने इधर-उधर विचरण करते हुए अत्यधिक कष्टोंसे भरे हुए वनोंमें निवास किया॥९॥

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
 सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण।
 जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽपकृष्टो
 मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः॥१०॥

हे राजन्! रावणने जब अपनी बहन शूर्पणखाके मुखसे सीताजीके अद्भुत रूप, गुण, सौन्दर्य आदिका वर्णन सुना, तो उसका चित्त काम भावनासे उत्तेजित हो उठा। उसने सीताजीके हरणके उद्देश्यसे मारीचको वहाँ भेजा, जिससे वह श्रीरामको कुटीसे दूर ले जा सके। मारीच हिरनके वेशमें आश्चर्यजनक सोनेकी देह धारण करके कुटीके पास गया और दौड़ने लगा। भगवान् उसका पीछा करते हुए कुटीसे बहुत दूर आ गये और अपने तीक्ष्ण बाणसे उसे शीघ्रतापूर्वक उसी प्रकार मार डाला, जिस प्रकार वीरभद्रने हिरनके रूपमें दौड़ते हुए दक्ष प्रजापतिको मार डाला था॥१०॥

रक्षोऽधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्ष्यं
 वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
 भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः
 स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार॥११॥

भेड़िया जिस प्रकार गडरियेकी अनुपस्थितिमें भेड़का हरण करके भाग जाता है, उसी प्रकार अधम राक्षस रावणने भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें विदेहराज जनककी पुत्री सीताजीका हरण कर लिया। इसके बाद अपनी प्राणप्रिया सीताके वियोगमें भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ वन-वनमें दीन-हीनके समान भ्रमण करने लगे। अपने इस चरित्रसे उन्होंने जगत्को यह शिक्षा दी कि जो स्त्रियोंमें आसक्त रहते हैं, उनकी ऐसी ही दुःखःमयी गति होती है ॥११॥

दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः।
बुद्ध्वाथ बालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै-
र्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥ १२ ॥

(जब रावण सीताजीको हरण करके ले जा रहा था, तब जटायुने सीताजीकी रक्षाके लिए उससे युद्ध किया, किन्तु जटायु मारा गया) भगवत्-सेवाके फलसे जटायुके सभी कर्म-बन्धन नष्ट हो चुके थे, अतः भगवान्ने अपने करकमलोंसे जटायुका दाह-संस्कार किया। फिर भगवान्ने कबन्धका संहार किया, जो अपने हाथ फैलाकर भगवान्को मार डालना चाहता था। इसके बाद सुग्रीव आदि श्रेष्ठ वानरोंसे मित्रता करके भगवान्ने बालिका वध किया। जब वानरोंकी सहायतासे भगवान्को यह पता चला कि सीताजी लङ्कामें हैं, तब सीताजीके उद्धारके उद्देश्यसे वे वानरी सेनाके साथ समुद्रके किनारे पहुँचे। ब्रह्मा और शङ्कर जिनके चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर वन्दना करते हैं, वे भगवान् मनुष्यके वेशमें मधुर-लीलाओंका प्रदर्शन कर रहे थे ॥१२॥

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-
संभ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥ १३ ॥

(समुद्रके किनारे रहकर भगवान् श्रीराम तीन रातोंतक उपवास करते हुए मार्गके लिए समुद्रके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु समुद्रदेवने उन्हें कोई उत्तर न दिया।) तब भगवान्ने क्रोधकी लीला करते हुए अपने विकट कटाक्षसे जैसे ही समुद्रपर दृष्टि डाली, समुद्रमें रहनेवाले जल-जन्तुओंमें भयके कारण खलबली मच गयी। समुद्रदेव भी इतना अधिक भयभीत हुए कि तुरन्त साक्षात् शरीर धारण करके पूजा आदिकी सामग्री लेकर भगवान्के चरणकमलोंमें उपस्थित हुए और इस प्रकार कहने लगे—॥१३॥

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम्।
यत् सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः॥१४॥

हे सर्वव्यापक परमपुरुष! हम जड़बुद्धि, अज्ञ हैं, इसीलिए अब तक आपके स्वरूपको जान नहीं पाये। इस सारे जगत्के आप ही एकमात्र स्वामी हैं। आप निर्विकार हैं, आदि पुरुष हैं। (यद्यपि आप गुणातीत है, फिर भी) जब आप सत्त्व गुणको स्वीकार कर लेते हैं, तब आपसे देवताओंकी उत्पत्ति होती है। आपके द्वारा रजोगुणके स्वीकार करनेसे प्रजापतियों और क्रोध रूपी तमोगुणके स्वीकार करनेसे रुद्रकी उत्पत्ति होती है—इस गुणरूप प्रधानके आप ही एकमात्र अधीश्वर हैं॥१४॥

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रेलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम्।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः॥१५॥

हे वीरोंमें शिरोमणि! आप जैसे चाहें, मुझे पार करके लङ्कामें प्रवेश कीजिए और वहाँ जाकर मल-मूत्रके समान तिरस्कृत और तीनों भुवनोंको पीड़ा पहुँचानेवाले विश्रवाके पुत्र रावणका संहार करके अपनी पत्नी सीताजीको प्राप्त कीजिये। हे प्रभो! यद्यपि

मेरा जल आपके मार्गमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं करेगा, फिर भी मैं आपसे एक निवेदन करता हूँ कि आप अपने यशके विस्तारके लिये मेरे जलपर एक पुल बाँध दीजिए। जब बड़े-बड़े दिग्विजयी महावीर यहाँ आयेंगे, तब आपके सेतुबन्धनके दुष्कर कार्यको देखकर आपका गुणगान करेंगे ॥१५॥

बद्धोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-
र्लङ्कां विभीषणदृशाऽविशदग्रदधाम् ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विविध पर्वतोंके शिखरोंसे समुद्रपर पुलका निर्माण करवाया। जब महाकाय बन्दर अपने हाथोंसे उन विशाल-विशाल पर्वतोंको उठा-उठाकर लाते, तो उनपर स्थित वृक्ष काँपने लगते। इसके बाद विभीषणसे परामर्श करके श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीव, नल, नील, हनुमान आदि प्रमुख वानर-वीरों और वानर-सेनाके साथ लङ्कामें प्रवेश किया। लङ्कापुरीको तो हनुमानजी सीताका अन्वेषण करते हुए पहलेसे ही दग्ध कर चुके थे ॥१६॥

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृङ्गाटका गजकुलैर्हृदिनीव घूर्णा ॥ १७ ॥

लङ्कामें प्रवेश करते ही वानरराजकी सेनाने वहाँके क्रीड़ा-स्थल, अन्नके गोदाम, खजाने, महलोंके द्वार, महलोंके छत्र, नगरके फाटक, सभाभवन और कबूतरोंके वासस्थानों तकको घेर लिया। उन्होंने वहाँकी वेदी, पताकाएँ, महलोंके चूड़ोंमें स्थापित स्वर्ण-कलश और चौराहोंको तोड़-फोड़कर इधर-उधर बिखेर डाला। उस समय लङ्का ऐसी दिखायी दे रही थी, मानो हाथियोंके झुण्डोंने किसी नदीको विध्वस्त कर डाला हो अर्थात् मथ डाला हो ॥१७॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तकनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन्
सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥ १८ ॥

वानर-सेनाके उत्पातको देखकर राक्षसराज रावणने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक इत्यादि असुरोंको तत्पश्चात् प्रहस्त, अतिकाय एवं विकम्पन आदि अपने सभी अनुगत-अनुचरोंको, अपने पुत्र मेघनादको और अन्तमें कुम्भकर्णको शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये भेजा ॥ १८ ॥

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखङ्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलाङ्गदक्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीरामने सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान, गन्ध-मादन, नल, नील, अङ्गद, जाम्बवान्, पनस आदि वीरोंके साथ तलवार, त्रिशूल, धनुष, प्रास, शक्ति, ऋष्टि, बाण, तोमर, भाले, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुरक्षित होकर अत्यन्त दुर्गम राक्षसी सेनापर आक्रमण कर दिया ॥ १९ ॥

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्दुर्मैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्षहतमङ्गलरावणेशान् ॥ २० ॥

रघुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीरामके अङ्गद आदि सब सेनापति एवं सभी वानर सैनिक—हाथी, घोड़ों, पैदल सैनिकों और रथोंसे सुगठित रावणकी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ द्वन्द्व-युद्धकी रीतिके अनुसार भिड़ गये और वृक्ष, पत्थर, गदा, बाण आदि फेंक-फेंककर उन राक्षसोंको मारने लगे। वैसे भी उनका मरना निश्चित ही था,

क्योंकि सीताजीके अभिशापके कारण राक्षस सैनिकों और उनके अधिपति रावणके समस्त मङ्गल पहलेसे ही नष्ट हो चुके थे ॥२०॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम्।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनत्रिशितैः क्षुरप्रैः ॥ २१ ॥

अपनी सेनाका महाविनाश देखकर राक्षसोंका राजा रावण क्रोधसे अति उन्मत्त हो उठा। वह पुष्पक रथपर सवार हुआ और भगवान् श्रीरामपर आक्रमण करनेके लिए दौड़ पड़ा। इधर इन्द्रका सारथि मातलि भगवान्के लिए एक दिव्य (द्युतिमान्) रथ लेकर आया। भगवान् श्रीराम उसपर विराजमान हो गये। रावण अपने तीक्ष्ण बाणोंसे भगवान्पर प्रहार करने लगा ॥२१॥

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यत्रः
कान्तासमक्षमसतापहता श्ववत् ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥ २२ ॥

भगवान् श्रीरामने रावणसे कहा—तू राक्षसोंमें विष्ठाके समान है। गृहस्वामीके घरमें न होनेपर कुत्ता जैसे घरकी सामग्रियोंको लेकर भाग जाता है, वैसे ही मेरी अनुपस्थितिमें तू मेरी पत्नी सीताका हरण कर लाया। अरे निर्लज्ज! तूने तो दुष्टताकी सीमा ही पार कर डाली। जिस प्रकार किसी दुष्ट व्यक्तिको यमराज यथोचित दण्ड दिये बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार मैं अभी तुझे तेरे दुष्कर्मों का फल चखाता हूँ। देख! मेरा वार कभी व्यर्थ नहीं जाता ॥२२॥

एवं क्षिपन् धनुषि सन्धितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्भृदयं बिभेद।
सोऽसृग्वमन् दशमुखैर्न्यपतद्विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥ २३ ॥

इस प्रकार रावणको दुत्कारते हुए भगवान् श्रीरामने धनुषपर बाण चढ़ाया और उसपर छोड़ दिया। उस बाणने रावणके वज्रके समान हृदयको विदीर्ण कर डाला। वह अपने दसों मुखोंसे खून उगलता हुआ विमानसे भूमिपर ठीक उसी प्रकार आ गिरा, जिस प्रकार कोई पुण्यवान् व्यक्ति अपने पुण्योंके समाप्त होनेपर स्वर्गसे पृथ्वीपर आ गिरे। यह देखकर उसके अनुयायी परिजन 'हाय-हाय' करके रोने-कलपने लगे ॥२३॥

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः।

मन्दोदर्या समं तत्र प्ररुदन्त्य उपाद्रवन् ॥२४॥

इसके बाद मन्दोदरीके साथ हजारों राक्षसियाँ लङ्कासे बाहर निकल आयीं और विलाप करते हुए युद्धभूमिमें पड़े हुए रावणके समीप पहुँचीं ॥२४॥

स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान्।

रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना ॥२५॥

शोकातुर राक्षसियोंने जब देखा कि उनके बन्धु आदि लक्ष्मणजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर पड़े हुए हैं, तब वे अपने-अपने परिजनोंको हृदयसे लगाकर, छाती पीट-पीटकर, करुण स्वरसे विलाप करने लगीं ॥२५॥

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण।

कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥२६॥

'हे नाथ! हे प्रभो! आप लोगोंके कष्टोंका कारण थे। (इसीलिये लोग आपको रावण कहते थे।) हे नाथ! आज हम सब मृत्युके बिना ही मारी गयीं। आपके न रहनेपर शत्रु लङ्कापुरीकी क्या दुर्दशा कर रहे हैं! अब यह लङ्कापुरी किसकी शरणमें जायेगी? ॥२६॥

न वै वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः।

तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥२७॥

हे महाभाग! (आप सब प्रकारके ऐश्वर्योसे सम्पन्न थे। किसी भी प्रकारका अभाव आपको न था, परन्तु) आप कामके अधीन हो गये और तेजस्विनी सीताजीकी महिमाको, उनके प्रभावको आप जान नहीं पाये। यही कारण है कि आज आपकी यह दुर्दशा हुई है ॥२७॥

कृतैषा विधवा लङ्का वयञ्च कुलनन्दन।

देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥ २८ ॥

हे कुलनन्दन! आपके बिना यह लङ्का नगरी और हम सब विधवा हो गयी हैं। आपके दुष्कर्मोंके कारण आपका यह शरीर गीधोंका आहार बन गया है। आपने स्वयं ही अपने आपको नरकका अधिकारी बना लिया ॥२८॥

श्रीशुक उवाच—

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोशलेन्द्रानुमोदितः।

पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥ २९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! कोशलाधीश भगवान् श्रीरामकी सम्मतिसे विभीषणने पितृयज्ञकी शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका साम्परायिक अर्थात् नरक जानेसे बचानेके लिये अन्त्येष्टि-कर्म सम्पन्न किया ॥२९॥

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे।

क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमाश्रिताम् ॥ ३० ॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामने देखा कि अशोक वाटिकाके आश्रममें सीताजी शिंशपा (शीशम) वृक्षके नीचे बैठी हुई हैं और वे विरह-पीड़ासे अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं ॥३०॥

रामः प्रियतमां भार्या दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत।

आत्मसन्दर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥ ३१ ॥

अपने प्राण-प्रियतम भगवान् श्रीरामके वियोगके कारण सीताजी अत्यन्त दीन और दुःखिता हो गयी थीं। भगवान् श्रीरामका

चित्त अपनी प्राणप्रियाकी ऐसी अवस्थाको देखकर प्रेम और करुणासे द्रवित हो गया। इधर जैसे ही सीताजीने अपने प्रियतम श्रीरामका दर्शन किया, वैसे ही उनका मुख-कमल आनन्दसे खिल उठा॥३१॥

आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः।

विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम्।

लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम्॥३२॥

इसके बाद भगवान्ने विभीषणको लङ्काका राज्य देकर उन्हें राक्षसोंका राजा बना दिया। साथ ही उन्होंने उसे एक कल्पकी आयु भी प्रदान की। अब भगवान् श्रीरामका वनवास-व्रत भी समाप्त हो चला था। उन्होंने पुष्पक-रथपर पहले सीताजीको चढ़ाया और फिर भाई लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदिके साथ स्वयं भी सवार हो गये और अयोध्या लौट आये॥३२॥

अवकीर्यमाणः सुकुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि।

उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा॥३३॥

जब भगवान् अयोध्या लौट रहे थे, तब लोकपालोंने प्रेमपूर्वक उनपर और उनके मार्गपर सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा की। उनका पूरा शरीर फूलोंसे ढक गया। यह देखकर ब्रह्मा आदि देवता बड़े आनन्दसे भगवान्की मधुर लीलाओंका गान करने लगे॥३३॥

गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम्।

महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम्॥३४॥

उधर भगवान्को जब यह पता चला कि उनके भाई भरत गोमूत्रमें पका हुआ केवल जौका अन्न खाते हैं, वल्कल वस्त्र पहनते हैं, कुशोंकी शैय्या पर सोते हैं और उन्होंने जटाएँ भी बढ़ा रखी हैं, तो वे अत्यन्त दुःखी हो गये॥३४॥

भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः।

पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम्॥३५॥

नन्दिग्रामात् स्वशिविरात् गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
 ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३६ ॥
 स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः ।
 सदश्वैरुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः ॥ ३७ ॥
 श्रेणीभिवारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः ।
 पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ।
 पादयोर्न्यपतत् प्रेम्णा विक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥ ३८ ॥

भरतको जब यह ज्ञात हुआ कि भगवान् श्रीराम अयोध्या लौट रहे हैं, तब वे अपने (नन्दीग्रामके) शिविरसे बाहर निकले। उन्होंने भगवान्की पादुकाओंको सिरपर धारण किया तथा नगरके वासियों, मन्त्रियों और पुरोहितोंको साथ लेकर भगवान्की अगवानीके लिये चल पड़े। लोग वाद्य-यन्त्रोंकी ध्वनिके साथ उच्च स्वरसे मङ्गलगीत गाते हुए उनके साथ चलने लगे। वेदवादी ब्राह्मणोंके वैदिक मन्त्रोंके स्वर चारों ओर गूँजने लगे। सब ओर स्वर्णमण्डित (चारों ओर किनारोंपर स्वर्णसे मढ़ी हुई) पताकाएँ फहरा रही थीं। रंग-बिरंगी ध्वजाओं, परम शोभायमान घोड़ों और स्वर्णिम लगामोंसे युक्त स्वर्णजड़ित अनेक रथोंके साथ सोनेके कवच पहने हुए सैनिक चल रहे थे। साथ ही ताम्बूल, सुपारी लिये भृत्यजन, श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ और पदचारी सेवक चल रहे थे। बहुत-से सेवक महाराजाओंके योग्य छत्र-चामर, बहुमूल्य रत्न आदि सभी राजसी वस्तुएँ लेकर सङ्ग-सङ्ग चल रहे थे। भगवान्को देखते ही भरतजीका हृदय प्रेमके अतिरेकसे भाव-विभोर हो गया, आँखे भर आयीं और वे भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े ॥ ३५-३८ ॥

पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः ।

तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन्नेत्रजैर्जलैः ॥ ३९ ॥

भरतजीने भगवान् श्रीरामके सम्मुख उनकी पादुकाएँ रख दीं और उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी। श्रीरामने भरतको अपनी

भुजाओंमें भर लिया और बहुत देर तक उन्हें अपने हृदयसे लगाये रखा। भगवान्‌के नेत्रोंके जलसे भरतजीका अभिषेक हो रहा था ॥३९॥

रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हत्तमाः।

तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४०॥

इसके बाद भगवान्‌ श्रीरामने पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण सहित ब्राह्मण एवं कुलके पूजनीय वृद्धजनोंको प्रणाम किया। सभी अयोध्यावासियोंने भी भगवान्‌के श्रीचरणोंमें प्रणाम किया ॥४०॥

धुन्वन्त उत्तरासङ्गान् पतिं वीक्ष्य चिरागतम्।

उत्तराः कोशला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥४१॥

उत्तरकोसल देश (अयोध्या) की समस्त प्रजाने बहुत दिनोंके बाद आये अपने राजा रामको देखकर उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और आनन्दमें विभोर होकर अपने दुपट्टे हिला-हिलाकर नृत्य करने लगे ॥४१॥

पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे।

विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥४२॥

धनुर्निषङ्गाञ्छत्रघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम्।

अभिप्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मक्षराङ्गनृप ॥४३॥

हे राजन्! भरतजीने भगवान्‌की पादुकाएँ ले लीं, सुग्रीवने चामर, विभीषणने उत्कृष्ट व्यजन (चैवर) तथा हनुमानने श्वेत छत्र ग्रहण किया। शत्रुघ्नजीने धनुष एवं तरकस, सीताने तीर्थोंके जलसे भरा कमण्डलु, अङ्गदने सोनेका खड्ग और ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने स्वर्णमयी ढाल ले ली ॥४२-४३॥

पुष्पकस्थो नुतः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः।

विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥४४॥

परीक्षित्! इन सबके साथ भगवान्‌ श्रीराम पुष्पक विमानमें विराजमान थे। चारों ओर यथास्थान स्त्रियाँ बैठ गयीं। बन्दीजन भगवान्‌की

स्तुति करने लगे। उन सबके मध्य भगवान् श्रीरामकी वैसे ही शोभा हो रही थी, जैसे ग्रहोंके साथ चन्द्रमा उदित हो गये हों॥४४॥

भ्रातृभिनन्दितः सोऽथ सोत्सवां प्राविशत् पुरीम्।

प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम्॥४५॥

गुरुन् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत्।

वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः॥४६॥

अपने भाइयोंका अभिनन्दन स्वीकार करके उन सबके साथ भगवान् श्रीरामने अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया। अयोध्यापुरीमें तो उस समय हर कहीं आनन्द-उत्सव मनाये जा रहे थे। राजभवनमें पहुँचकर उन्होंने कैकेयी आदि अपनी माताओं और गुरुजनोंको प्रणाम किया। अपने मित्रों और छोटीको यथोचित सम्मान दिया और उनके द्वारा दिया गया सम्मान स्वयं स्वीकार किया। श्रीरामकी भाँति ही सीता और लक्ष्मणने भी सबके प्रति यथोचित व्यवहार किया। इसके बाद उन्होंने राजभवनमें प्रवेश किया॥४५-४६॥

पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणास्तन्व इवोत्थिताः।

आरोप्याङ्गेऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः॥४७॥

कौशल्या आदि माताएँ अपने पुत्रोंको देखकर तुरन्त उठ खड़ी हुई, मानो उनकी मृत देहमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। उन्होंने पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठा लिया और नेत्रोंके जलसे उनका अभिषेक करने लगीं। इस प्रकार पुत्रोंके विरहसे उत्पन्न उनका सन्ताप दूर हो गया॥४७॥

जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः।

अभ्यषिञ्चद्यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः॥४८॥

इसके बाद गुरु वशिष्ठने कुलके अन्य गुरुजनोंके सहयोगसे भगवान् श्रीरामकी जटाएँ उतरवा दीं और चारों समुद्रोंके जल आदिसे उनका उसी प्रकार अभिषेक किया, जिस प्रकार बृहस्पतिने इन्द्रका अभिषेक किया था॥४८॥

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः।

स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ॥४९॥

मस्तक-मुण्डन आदि हो जानेके बाद भगवान् श्रीरामने स्नान किया और सुन्दर वस्त्र अलंकार आदि धारण किये। सभी भाइयों और जानकीजीको भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और अलङ्कारोंसे विभूषित किया गया। उन सबके साथ भगवान् श्रीराम अत्यन्त शोभायमान हुए॥४९॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः।

प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।

जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरञ्च तम्॥५०॥

भरतकी पूर्ण शरणागतिसे भगवान् श्रीराम अति प्रसन्न हुए और उनके अनुरोधपर राजसिंहासनको स्वीकार कर लिया। पिता जिस प्रकार स्नेहपूर्वक अपने पुत्रका पालन करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामने अपने-अपने धर्ममें लगी हुई और वर्ण आश्रमके नियमोंका पालन करनेवाली अपनी प्रजाका संरक्षण किया। प्रजा भी श्रीरामको अपना पिता ही मानती थी॥५०॥

त्रेतायां वर्त्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।

रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥५१॥

राजन्! समस्त प्राणियोंका मङ्गल करनेवाले एवं धर्मज्ञ श्रीराम जिस समय राजा थे, उस समय यद्यपि त्रेतायुग था, फिर भी सुख-समृद्धि और धर्म आदिकी दृष्टिसे वह सत्ययुगके समान ही प्रतीत होता था॥५१॥

वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।

सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ॥५२॥

हे भरतकुल श्रेष्ठ परीक्षित्! भगवान् श्रीरामके राज्यमें वन, नदी, पर्वत, नौ वर्ष, सातों द्वीप और सातों समुद्र सभी प्रजाकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन गये थे॥५२॥

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः ।

मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामे राजन्यधोक्षजे ॥ ५३ ॥

भगवान् श्रीरामके राज्यमें किसीको भी न तो कोई मानसिक चिन्ता थी और न ही कोई शारीरिक रोग। बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और क्लान्तिका किञ्चित् आभास भी न था। यदि कोई इच्छा न करे तो मृत्यु भी उसके समीप नहीं आती थी ॥ ५३ ॥

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।

स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥ ५४ ॥

एक पत्नीका व्रत धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र अत्यन्त पवित्र था। उनका स्वभाव और आचरण राजर्षियोंके समान राग-द्वेषादि प्राकृत गुणोंसे रहित था। प्रजाकी शिक्षाके लिए वे स्वयं उस धर्मका आचरण करते थे, जो गृहस्थ आश्रमके लिए उचित था ॥ ५४ ॥

प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ।

भिया हिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामचरितं नाम दशमोऽध्यायः ॥

परम साध्वी सीता अपने पतिके हृदयके भावोंको भलीभाँति जानती थीं। उन्होंने अपने विनम्रता, प्रेम, सेवा, सुन्दर स्वभाव, भय और लज्जा आदि गुणोंसे श्रीरामके चित्तको चुरा लिया था ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके दसवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शेष लीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः।

सर्वदेवमयं देवमीजेऽथाचार्यवान् मखैः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! उसके बाद भगवान् श्रीरामने गुरु वशिष्ठको अपना आचार्य स्वीकार किया और उत्तम-उत्तम सामग्रियोंसे युक्त यज्ञोंके द्वारा सर्वदेवमय परमेश्वर अर्थात् स्वयंकी ही आराधना की ॥१॥

होत्रेऽददादिशं प्रार्चीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः।

अध्वर्यवे प्रतीचीं चा उत्तरां सामगाय सः ॥ २ ॥

प्रभु श्रीरामने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्मा रूप पुरोहितको दक्षिण दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और सामवेदका गान करनेवाले उद्गाताको उत्तर दिशा दक्षिणाके रूपमें प्रदान की ॥२॥

आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा।

मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निस्पृहः ॥ ३ ॥

‘सभी प्रकारकी कामनाओंसे रहित, असङ्ग ब्राह्मण ही इस दिखायी देनेवाले भूमण्डलको ग्रहण करने योग्य हैं’ वे ही इसके स्वामी होने चाहिये—इस प्रकारका निश्चय करके श्रीरामने सभी दिशाओंके बीचकी जो भूमि बच गयी थी, वह आचार्यको दे दी ॥३॥

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः।

तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥ ४ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंको सारी भूमि दान करनेके बाद उन्होंने अपने पास केवल पहननेके वस्त्र और अलङ्कार ही रखे। राजमहिषी

सीताजीके पास भी केवल मङ्गलसूचक वस्त्र, नासाभरण तथा चूड़ादि अलङ्कार ही बचे रहे ॥४॥

ते तु ब्राह्मणदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम्।

प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥५॥

होता, उद्गाता आदि ब्राह्मणोंने जब देखा कि श्रीराम तो ब्राह्मणोंको ही अपना इष्टदेव मानते हैं, उनपर बहुत अधिक स्नेह रखते हैं, तब वे अत्यधिक प्रसन्न हो गये और उनकी बहुत प्रशंसा करने लगे। उनका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया। दक्षिणामें मिली हुई समस्त वस्तुएँ वे भगवान् श्रीरामको ही लौटाते हुए उनसे कहने लगे— ॥५॥

अप्रतप्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर।

यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्वं तमो हंसि स्वरोचिषा ॥६॥

हे भगवन्! आप समस्त लोकोंके स्वामी हैं। आपने हमें भला क्या नहीं दिया है। आप हमारे हृदयमें रहकर अपनी कान्तिसे हमारे हृदयमें रहनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करते हैं। हमारे लिये यही सब कुछ है, इन वस्तुओंकी हमें कोई चाह नहीं है ॥६॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे।

उत्तमःश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥७॥

आप ब्राह्मणोंको अपना देव मानते हैं। आपका ज्ञान अनन्त है। उत्तमश्लोकोंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं। अहिंसाका आश्रय लेनेवाले भक्तोंको आपने अपने चरणकमल प्रदान कर रखे हैं, जिनका वे निरन्तर ध्यान करते हैं। हे भगवन् श्रीराम! आपको हमारा नमस्कार है ॥७॥

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः।

चरन् वाचोऽशृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥८॥

परीक्षित्! एक बार भगवान् श्रीराम प्रजाकी दशा (चित्तवृत्ति) जाननेके लिए रात्रिमें छिपकर नगरीमें भ्रमण कर रहे थे।

तभी उन्होंने अपनी पत्नी सीताके विषयमें किसी व्यक्तिको यह कहते सुना— ॥८॥

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम्।

स्त्रैणो हि बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥९॥

(वह अपनी पत्नीसे कह रहा था) 'अरी! तू पर-पुरुषके घरमें रहकर आयी है, तू तो कुलटा है। अब मैं तेरा और पालन-पोषण नहीं कर सकता। रामने भले ही पराये घरमें रही सीताको स्वीकार कर लिया है, परन्तु मैं स्त्री-लोभी नहीं हूँ। अब मैं तुझे अपने पास नहीं रख सकता।' ॥९॥

इति लोकाद्बहुमुखादुराध्यादसंविदः।

पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥१०॥

मूर्ख और दुष्ट स्वभाववाले व्यक्ति ही ऐसी बातें कहा करते हैं। भगवान् श्रीरामने जब बहुतोंके मुँहसे यह बात सुनी, तब वे लोगोंमें होनेवाली निन्दासे भयभीतसे हो गये और अपनी गर्भवती पत्नी सीताजीका परित्याग कर दिया। पति द्वारा त्याग की हुई सीता वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें रहने लगीं ॥१०॥

अन्तर्वत्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ।

कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः ॥११॥

उपयुक्त समय आनेपर सीतादेवीने दो जुड़वाँ पुत्रोंको जन्म दिया। वे दोनों लव और कुशके नामसे प्रसिद्ध हुए। वाल्मीकि ऋषिने उन दोनों बालकोंके जात-कर्म आदि संस्कार किये ॥११॥

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।

तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥१२॥

राजन्! लक्ष्मणजीके भी दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे अङ्गद और चित्रकेतु। भरतजीके भी दो पुत्र तक्ष और पुष्कलके नामसे परिचित हुए ॥१२॥

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्॥१३॥

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत्।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम्।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥१४॥

शत्रुघ्नके दो पुत्र सुबाहु और श्रुतसेन थे। भरतजीने अपनी दिग्विजय-यात्रामें करोंड़ों गन्धर्वोंका संहार कर डाला और उनसे प्राप्त सारा धन लाकर अपने बड़े भाई श्रीरामको दे दिया। शत्रुघ्नने मधुवनमें मधु दैत्यके पुत्र लवणको मारकर मधुवनमें मथुरा नामकी पुरीको बसाया था॥१३-१४॥

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह॥१५॥

अपने पति द्वारा निकाली गयी सीताजीने अपने पुत्रोंको वाल्मीकि ऋषिको सौंप दिया और स्वयं अपने पति श्रीरामके चरणकमलोंका ध्यान करते हुए पृथ्वीके भीतर प्रवेश कर गयीं॥१५॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः॥१६॥

जब भगवान् श्रीरामने यह समाचार सुना, तब उन्होंने बुद्धिबलसे अपने शोकके आवेशको रोकनेका प्रयास किया, किन्तु समर्थ न हो सके। उन्हें वैदेहीके गुणोंका बार-बार स्मरण हो आता था। (हो भी क्यों न, आखिर भगवान् हैं भी तो प्रेमके वशमें रहनेवाले।)॥१६॥

स्त्रीपुं प्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः।
अपीश्वरागणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः॥१७॥

परीक्षित्! स्त्री और पुरुषकी यह आसक्ति सभी स्थानों पर इसी प्रकार दुःखका कारण बनी हुई है। ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े सामर्थ्यवान् पुरुषोंके लिए भी यह सम्बन्ध इसी प्रकारसे त्रासद

(दुःखदायी) है, फिर घर-गृहस्थीमें आसक्ति रखनेवाले साधारण विषयी पुरुषोंके विषयमें तो कहा ही क्या जाय!॥१७॥

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः।

त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥ १८ ॥

जब सीताजी पृथ्वीदेवीके लोकमें (पातालमें) चली गयीं, तब श्रीरामने ब्रह्मचर्य धारण कर लिया और तेरह हजार वर्षों तक अखण्डरूपसे अग्निहोत्र यज्ञ करते रहे॥१८॥

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।

स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥ १९ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामने दण्डकारण्यके काँटोंसे बिंधे हुए अपने चरणकमलोंको अपने उन भक्तोंके हृदयमें स्थापित कर दिया, जो नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करते रहते हैं। इसके बाद वे इस प्रपञ्चसे परे अपने धाममें चले गये॥१९॥

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्चयात्त-

लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।

रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्र पूगैः

किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥ २० ॥

परीक्षित्! इस प्रकारसे यशोगान करके भगवान् श्रीरामकी स्तुति नहीं की जा सकती। उनके समान प्रभाव किसी और का है ही नहीं, फिर उनसे बढ़कर होनेका तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। अस्त्र-शस्त्रोंसे राक्षसोंको मारना और समुद्रपर पुल बाँधने जैसे कार्य सर्वसमर्थ भगवान् श्रीरामके लिये कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। भला, शत्रुओंको मारनेके लिए उन्हें वानरोंकी क्या आवश्यकता थी? (नरलीलाके माधुर्यके कारण ही वे यह सब करते हैं।) भगवान् श्रीराम नित्यलीला विग्रहधारी हैं, देवताओंकी प्रार्थनापर ही उन्होंने यह लीला-विग्रह धारण किया था॥२०॥

यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुनापि
 गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
 तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
 पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीरामका यश निर्मल है। उसके श्रवण अथवा कथनसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। दिग्-दिगन्तमें यह यश उसी तरह व्याप्त है, जिस तरह समस्त दिशाओंपर विजय प्राप्त करनेवाले हाथियोंका (लटकता हुआ) झूल अलङ्कृत होता है। आज भी मार्कण्डेय आदि बड़े-बड़े ऋषिगण युधिष्ठिर आदि राजाओंकी सभामें उनके पवित्र यशका कीर्तन करते रहते हैं। इसी प्रकार इन्द्र आदि स्वर्गके देवतागण एवं पृथ्वीलोकके बड़े-बड़े सम्राट् अपने मुकुटोंसे उनके चरणकमलोंकी सेवा करते रहते हैं। मैं सभीके आश्रयस्वरूप रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ २१ ॥

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।

कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥ २२ ॥

जिन्होंने प्रणाम आदि दास्यभावसे उनका दर्शन एवं स्पर्श किया अथवा सख्यभावसे उनके साथ वास और उनका अनुगमन किया, वे सभी अयोध्यावासी उसी परमधामको गये, जहाँ भक्तियोगी अपनी कठिन साधनाके द्वारा जाते हैं ॥ २२ ॥

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्।

आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥ २३ ॥

हे राजन्! जो व्यक्ति अपने कानों द्वारा भगवान् श्रीरामके चरित्रको आत्मसात् करता है, उसके आचरणमें सरलता, कोमलता आदि गुणोंका समावेश हो जाता है और वह ईर्ष्यारहित हो जाता है। यही नहीं, उसे समस्त कर्म-बन्धनोंसे भी मुक्ति मिल जाती है ॥ २३ ॥

श्रीराजोवाच—

कथं स भगवान् रामो भ्रातृन् वा स्वयमात्मनः।

तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे ॥ २४ ॥

राजा परीक्षितने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा—हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीराम किस प्रकार रहा करते थे? वे अपने उन भाइयोंके प्रति कैसा व्यवहार करते थे, जो उनके ही अंश स्वरूप थे। पुनः भरत आदि भाई, प्रजाके लोग अथवा अयोध्यावासी उनके प्रति कैसा व्यवहार करते थे? ॥२४॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

अथादिशद्दिग्विजये भ्रातृन्निभुवनेश्वरः।

आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥ २५ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! भरतजीके अनुरोधसे राजसिंहासन स्वीकार करनेके बाद तीनों भुवनोंके स्वामी श्रीरामने अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये भेज दिया और स्वयं पुरवासियोंको दर्शन आदिसे कृतार्थ करते हुए अपने सहयोगियोंके साथ अयोध्यानगरीके राजकाजकी देखरेख करने लगे ॥२५॥

आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः।

स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीरामके साम्राज्यकालमें अयोध्यापुरीके मार्ग सुगन्धित जल और हाथियोंके मदकणोंसे सिञ्चित रहते थे। अयोध्यानगरी सर्वतोभावसे समृद्धिशालिनी हो गयी थी। सभी पुरवासी भी अपने स्वामीकी उपस्थितिको देखकर हर्षसे सराबोर रहते थे ॥२६॥

प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ।

विन्यस्तहेमकलसैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥ २७ ॥

अयोध्यापुरीके सभी महलों, मुख्य द्वारों, सभा-भवन, पूजा-स्थानों, विहार और देवालयों आदिमें स्वर्णके कलश रखे हुए थे और सभी स्थानोंपर पताकाएँ फहरती रहती थीं ॥२७॥

पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम्।

आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥ २८ ॥

वे सभी स्थान डण्ठलों सहित सुपारीके वृक्षों, केलेके स्तम्भों और विविध प्रकारकी रङ्ग-बिरंगी पताकाओंसे सुसज्जित एवं दर्पण, वस्त्र, पुष्पमालाओं, वन्दनवारों एवं माङ्गलिक वस्तुओंसे सदैव सुशोभित रहते थे ॥ २८ ॥

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः।

आशिषो युयुजुर्देवपाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम् ॥ २९ ॥

राजन्! भगवान् श्रीराम जहाँ-जहाँ जाते, पुरवासीगण हाथोंमें विभिन्न प्रकारकी सामग्री लेकर वहाँ-वहाँ पहुँच जाते और उनसे प्रार्थना करते—‘हे देव! वराह अवतारमें आपने ही इस पृथ्वीका उद्धार किया था, इस समय भी आप ही इसका पालन कीजिये।’ इस प्रकार कह-कहकर वे भगवान्का आशीर्वाद प्राप्त करते रहते ॥ २९ ॥

ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं

दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः।

आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचन-

मतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥ ३० ॥

प्रजाका कुछ समय जब अपने श्रीरामका दर्शन किये बिना बीत जाता और उनको जब यह पता चलता कि श्रीराम इधर ही पधार रहे हैं, तो प्रजाके सभी लोग उनके दर्शनकी लालसासे घरोंसे निकल पड़ते तथा उत्सुकतापूर्वक अपने महलोंकी अटारियोंपर चढ़ जाते। अतृप्त नेत्रोंसे वे कमलनयन भगवान्का दर्शन करते और उनपर फूलोंकी वर्षा करते ॥ ३० ॥

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः।

अनन्ताखिलकोषाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥ ३१ ॥

अयोध्यापुरीके दर्शनके बाद भगवान् श्रीराम अपने राजभवनमें आ जाते। ये राजगृह उनके पूर्वज राजाओंकी सेवासे कृतार्थ थे।

इसके खजाने समस्त प्रकारके रत्न-कोषों एवं बहुमूल्य सामग्रियोंसे परिपूर्ण थे और कभी भी रिक्त नहीं होते थे॥३१॥

विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।

स्थलैर्मरकतैः स्वच्छैर्भाजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥ ३२ ॥

महलके द्वार तथा देहलियाँ मूँगेकी बनी हुई थीं। महलके खम्भे वैदूर्यमणिसे निर्मित थे। फर्श अतिसुन्दर मरकत-मणियोंसे बने हुए थे। स्फटिक-मणियोंसे बनी दीवारें सदैव जगमगाती रहती थीं॥३२॥

चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः ।

मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः ॥ ३३ ॥

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः ।

स्त्रीपुंभिः सुरसङ्काशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥ ३४ ॥

सारा महल अद्भुत मालाओं, पताकाओंसे सुशोभित रहता था एवं चिन्मय तथा उज्ज्वल मोतियोंकी लड़ियों, रत्नों और मणियोंकी छटासे जगमगाता रहता था। अति सुन्दर भोग-सामग्रियोंसे सुसज्जित, धूपसे सुगन्धित, दीप-गन्धसे सुवासित और फूलोंके आभूषणोंसे मण्डित होनेके कारण इसकी शोभा देखते ही बनती थी। आभूषणोंको भी सुशोभित करनेवाले देवताओंके समान बहुत-से स्त्री-पुरुष इस महलकी सेवामें लगे रहते थे॥३३-३४॥

तस्मिन् स भगवान् रामः प्रियया स्निग्धयेष्टया ।

रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥ ३५ ॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीराम अपनी आत्मामें रमण करनेवाले हैं। वे इन्द्रियोंको जीतनेवाले पण्डितोंमें अग्रगण्य हैं। इस महलमें वे अपनी प्राणप्रिया सीताजीके साथ आनन्दपूर्वक विहार करते थे॥३५॥

बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन् ।

वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामचरित्रमेकादशोऽध्यायः ॥

सभी भक्तगण जिनके चरणकमलोंका ध्यान निरन्तर करते रहते हैं, वे भगवान् श्रीराम सदैव धर्मकी मर्यादाका पालन करते थे। उन्होंने बहुत वर्षोंतक धर्मानुसार यथायोग्यरूपसे अभीष्ट भोग-सामग्रियोंका उपभोग किया ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके ग्यारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

इक्ष्वाकु वंशके शेष राजाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः।

पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! भगवान् श्रीरामके पुत्र कुशसे अतिथिका जन्म हुआ। अतिथिका पुत्र निषध, निषधका नभ, नभका पुण्डरीक और पुण्डरीकका पुत्र क्षेमधन्वा हुआ ॥१॥

देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः।

ततो बलस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसम्भवः ॥ २ ॥

क्षेमधन्वाके पुत्रका नाम था देवानीक, देवानीकका अनीह, अनीहका पारियात्र और पारियात्रसे बलस्थलका जन्म हुआ। बलस्थलका पुत्र वज्रनाभ था। वज्रनाभ सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुआ था ॥२॥

सगणस्तत्सुतस्तस्माद्विधृतिश्चाभवत् सुतः।

ततो हिरण्यनाभोऽभूद्योगाचार्यस्तु जैमिनेः।

शिष्यः कौशल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगादयतः ॥ ३ ॥

योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम् ॥ ४ ॥

वज्रनाभका पुत्र सगण था। सगणसे विधृति और विधृतिसे हिरण्यनाभका जन्म हुआ। हिरण्यनाभ जैमिनिका शिष्य होकर योगका आचार्य हो गया था। कोशल देशमें रहनेवाले ऋषि याज्ञवल्क्यने इन्हींसे अध्यात्मयोगका अध्ययन किया था। यह योग हृदयकी भोग-वासनारूपी ग्रन्थिको छेदन कर देनेवाला महती सिद्धिरूप है ॥३-४॥

पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत्।

सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥५॥

हिरण्यनाभका पुत्र हुआ पुष्य, पुष्यसे ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिसे सुदर्शन और सुदर्शनसे अग्निवर्णका जन्म हुआ। अग्निवर्णका पुत्र शीघ्र और शीघ्रका पुत्र मरु था ॥५॥

सोऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः।

कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥६॥

मरुने योग-साधनाके बलसे सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वह आज भी कलाप नामके ग्राममें वास करता है। कलियुगके अन्तमें जब सूर्यवंश नष्ट हो जायगा, तब मरु अपने पुत्रसे पुनः इस वंशको चलायेगा ॥६॥

तस्मात् प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः।

महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्विश्वबाहुरजायत ॥७॥

मरुसे प्रसुश्रुत उत्पन्न हुआ। प्रसुश्रुतका पुत्र था सन्धि, सन्धिका अमर्षण, अमर्षणका महास्वान् और महास्वान्से विश्वबाहुका जन्म हुआ ॥७॥

ततः प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः।

ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥८॥

विश्वबाहुके पुत्रका नाम प्रसेनजित् था। प्रसेनजित्से तक्षक और तक्षकसे बृहद्बलका जन्म हुआ। इसी बृहद्बलको तुम्हारे पिता अभिमन्युने युद्धमें मार दिया था ॥८॥

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान्।

बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः ॥९॥

इस प्रकार इन सब इक्ष्वाकु वंशके राजाओंके विषयमें मैंने तुम्हें बतलाया। ये सब तो बीत चुके हैं। अब भविष्यमें जो होंगे, उनके विषयमें बतला रहा हूँ, सुनो! बृहद्बलसे बृहद्रण नामसे एक पुत्र होगा ॥९॥

उरुक्रियः सुतस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति।

प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥ १० ॥

बृहद्रणसे उरुक्रिय, उरुक्रियसे वत्सवृद्ध और उससे प्रतिव्योमका जन्म होगा। प्रतिव्योमसे भानु और भानुसे सेनापति दिवाक जन्म ग्रहण करेगा ॥ १० ॥

सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान्।

प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥

दिवाकसे सहदेव, सहदेवसे वीर बृहदश्व और बृहदश्वसे भानुमान् उत्पन्न होगा। भानुमान्से प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वसे सुप्रतीकका जन्म होगा ॥ ११ ॥

भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः।

तस्यान्तरीक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥ १२ ॥

सुप्रतीकका पुत्र मरुदेव होगा। मरुदेवसे सुनक्षत्र, सुनक्षत्रसे पुष्कर और पुष्करसे अन्तरीक्षका जन्म होगा। अन्तरीक्षका पुत्र होगा सुतपा और सुतपाका अमित्रजित् ॥ १२ ॥

बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात् कृतञ्जयः।

रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः ॥ १३ ॥

अमित्रजित्से बृहद्राजका जन्म होगा। बृहद्राजसे बर्हि और बर्हिसे कृतञ्जय उत्पन्न होगा। कृतञ्जयका पुत्र रणञ्जय और रणञ्जयसे सञ्जय जन्म लेगा ॥ १३ ॥

तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः।

ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता ततः ॥ १४ ॥

सञ्जयका पुत्र होगा शाक्य और शाक्यसे शुद्धोदका जन्म होगा। शुद्धोदका पुत्र लाङ्गल नामसे विख्यात होगा। लाङ्गलसे प्रसेनजित् और उससे क्षुद्रक जन्म ग्रहण करेगा ॥ १४ ॥

रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः।

सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः ॥ १५ ॥

क्षुद्रकसे रणक और रणकसे सुरथका जन्म होगा। सुरथके पुत्रका नाम होगा सुमित्र। सुमित्र इक्ष्वाकु वंशका अन्तिम राजा होगा। यहाँ तक बृहद्बलका वंश कहा गया ॥१५॥

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।

यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीरामवंशानुकीर्तनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

इक्ष्वाकु वंशका अन्तिम वंशधर सुमित्र ही होगा। सुमित्रके राजा होनेपर कलियुगमें यह वंश समाप्त हो जायेगा ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके बारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

राजा निमिके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वशिष्ठमवृतत्विजम्।

आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! इक्ष्वाकुके पुत्र निमि थे। उन्होंने यज्ञका शुभारम्भ करके वशिष्ठ मुनिसे ऋत्विजका पद ग्रहण करनेका अनुरोध किया। इसपर वशिष्ठ मुनिने निमिसे कहा—निमि! इन्द्र अपने यज्ञमें मुझे पहलेसे ही ऋत्विज बना चुके हैं ॥ १ ॥

तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय।

तूष्णीमासीद्गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥ २ ॥

इन्द्रका यज्ञ पूरा करके मैं तुम्हारे यज्ञमें आ जाऊँगा। जब तक इन्द्रका यज्ञ समाप्त न हो जाय, तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करो।' वशिष्ठ मुनिके ऐसा कहनेपर निमि चुप रहे और वशिष्ठजी इन्द्रका यज्ञ करानेके लिये चले गये ॥ २ ॥

निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान्।

ऋत्विग्भिर्परैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः ॥ ३ ॥

राजा निमि आत्मतत्त्वके ज्ञाता थे। उन्होंने विचार किया कि यह जीवन तो क्षणभङ्गुर है, अतः यज्ञमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। जबतक गुरु वशिष्ठ न लौटें, दूसरा ऋत्विज कर लेना चाहिए। ऐसा विचार करके उन्होंने दूसरे ऋत्विजका वरण करके यज्ञ करना आरम्भ कर दिया ॥ ३ ॥

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य तं निर्वर्त्यागतो गुरुः।

अशपत् पतताद्देहो निमेः पण्डितमानिनः ॥ ४ ॥

गुरु वशिष्ठजी जब इन्द्रका यज्ञ सम्पन्न करके लौटे, तब उन्होंने देखा कि उनके शिष्य निमिने उनकी अवज्ञा करके यज्ञ करना आरम्भ कर दिया है। इसपर क्रुद्ध होकर ऋषिने निमिको शाप दे दिया—‘निमि! तुम्हें अपने पाण्डित्यपर बहुत अभिमान है, तुम्हारा शीघ्र ही देहपात हो जाय’ ॥४॥

निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्त्तिने।

तवापि पतताद्देहो लोभाद्धर्ममजानतः ॥ ५ ॥

निमिके विचारसे गुरुका वह शाप धर्मके अनुसार नहीं था। इसलिये उन्होंने भी गुरु वशिष्ठको शाप दे दिया—‘दक्षिणा-प्राप्तिके लोभसे आपका धर्म-ज्ञान लुप्त हो गया है, अतः आपका भी शरीरपात हो जाय’ ॥५॥

इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः।

मित्रावरुणयोजज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ॥ ६ ॥

यह कहकर अध्यात्म-विद्यामें निपुण निमिने अपनी देहका त्याग कर दिया। हमारे प्रपितामह मुनि वशिष्ठजीने भी अपनी देहका त्याग कर दिया। मुनि वशिष्ठने पुनः मित्रावरुण द्वारा उर्वशीके गर्भसे जन्म लिया ॥६॥

गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः।

समाप्ते सत्रयागे च देवानूचुः समागतान् ॥ ७ ॥

राजा निमिका देह-त्याग यज्ञ करते हुए हुआ था। उनके यज्ञमें आये हुए श्रेष्ठ मुनिगणोंने उनकी देहको सुगन्धित वस्तुओंमें रख दिया। जब सत्रयागकी समाप्ति हुई, तो देवतागण वहाँ आये। मुनियोंने देवताओंसे इस प्रकार प्रार्थना की— ॥७॥

राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि।

तथेत्युक्ते निमिः प्राह माभून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥

‘यदि आप इस यज्ञसे सन्तुष्ट हैं और ऐसा करनेमें समर्थ हैं, तो निमिके इस शरीरमें पुनः प्राणोंका संचार हो जाय।’ देवताओंने

कहा—‘ऐसा ही होगा।’ तभी राजा निमि बोल उठे—‘मेरा देहसे बन्धन कभी न हो’ ॥८॥

यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः।

भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥९॥

जिनकी बुद्धि श्रीहरिमें ही लगी हुई है, वे ऐसा विचारकर कि एक दिन तो देहका वियोग होगा ही—इस भयसे कातर होकर देहगत सुखकी कामना नहीं रखते। वे देहका बन्धन भी नहीं चाहते। वे तो भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवामें ही पूर्णरूपसे अपने मनको लगा देना चाहते हैं। (यहाँ प्रश्न यह है कि देह न रहनेपर तो श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवा असम्भव है, तो इस प्रसंगमें राजा निमिकी प्रार्थनाका अभिप्राय यह है कि उन्हें भगवत्-पार्षद देह प्राप्त हो।) ॥९॥

देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम्।

सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥१०॥

(राजा निमिने आगे कहा—) यह देह शोक, दुःख और भयका मूल कारण है, अतः मैं इस देहको धारण करनेकी इच्छा नहीं रखता। जिस प्रकार जलमें मछलीको दूसरी मछलियोंसे और अन्य जलचर जन्तुओंसे मृत्युका भय सदैव बना ही रहता है, उसी प्रकार हर देहधारी जीवमात्रको देह-ग्रहण-जनित मृत्युका भय हर समय बना रहता है ॥१०॥

श्रीदेवा ऊचुः—

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्।

उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥

(‘देह जीवित हो’—यह मुनियोंकी प्रार्थना थी, ‘जीवित न हो’—यह राजाकी प्रार्थना थी, ‘भगवत्-पार्षद-देह हो’ यह तृतीय प्रार्थना थी—इस तृतीय प्रार्थनाको पूर्ण करनेमें देवता असमर्थ थे।) इसपर देवताओंने कहा—राजा निमि देहके बिना ही अर्थात् सूक्ष्म

देहसे प्राणियोंके नेत्रोंमें अपनी इच्छानुसार रहें और वहीं रहकर इसी स्थितिमें भगवान्‌का चिन्तन करें। पलकोंके उठने और गिरनेसे उनके वहाँ रहनेका पता चलता रहेगा ॥११॥

अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः।

देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥१२॥

ऐसी स्थितिमें महान् ऋषियोंको यह भय हुआ कि राजा निमिके न रहनेसे राज्यमें अराजकताकी सम्भावना हो सकती है। अतः उन्होंने निमिके शरीरका मन्थन किया। उस मन्थनसे एक कुमारने जन्म लिया ॥१२॥

जन्मना जनकः सोऽभूद्वैदेहस्तु विदेहजः।

मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥

असामान्य विधिसे जन्म लेनेके कारण वह बालक 'जनक' कहलाया, प्राणहीन देहसे उत्पन्न होनेके कारण वह 'वैदेह' नामसे जाना गया और मन्थन प्रक्रियासे उत्पन्न होनेके कारण वह 'मिथिल' कहलाया। इस मिथिल द्वारा बसायी हुई पुरी ही मिथिलापुरीके नामसे जानी जाती है ॥१३॥

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्द्धनः।

ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते ॥१४॥

हे राजन्! मिथिलसे उदावसुका जन्म हुआ। उदावसुका पुत्र नन्दिवर्द्धन था। नन्दिवर्द्धनसे सुकेतु और सुकेतुसे देवरातका जन्म हुआ ॥१४॥

तस्माद्बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता।

सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥१५॥

देवरातसे बृहद्रथ और बृहद्रथसे महावीर्यने जन्म लिया। महावीर्यके पुत्रका नाम सुधृति था। सुधृतिका पुत्र धृष्टकेतु, धृष्टकेतुका हर्यश्व और हर्यश्वका पुत्र मरु हुआ ॥१५॥

मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतरथो यतः।

देवमीढस्तस्य पुत्रो विश्रुतोऽथ महाधृतिः ॥ १६ ॥

मरुके पुत्रका नाम था प्रतीपक, प्रतीपकका पुत्र कृतरथ और कृतरथका पुत्र देवमीढ था। देवमीढसे विश्रुत और विश्रुतसे महाधृतिने जन्म लिया ॥ १६ ॥

कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमा च तत्सुतः।

स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १७ ॥

महाधृतिसे कृतिरातका जन्म हुआ। कृतिरातका महारोमा, महारोमाका स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमाका पुत्र था ह्रस्वरोमा ॥ १७ ॥

ततः शीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम्।

सीता शीराग्रतो जाता तस्मात् शीरध्वजः स्मृतः ॥ १८ ॥

इन ह्रस्वरोमाके पुत्र महाराज शीरध्वज हुए। इन्हें 'जनक' भी कहा जाता है। शीरध्वज जब यज्ञके लिये धरती जोत रहे थे, तब उनके शीर (हल)के अग्रभाग (फाल) से सीताजी उत्पन्न हुई थीं। इसीसे इनका नाम शीरध्वज पड़ गया था। (शीर अर्थात् हल, जिनका ध्वज है अर्थात् हल ही इनकी कीर्तिका चिह्न बन गया है।) ॥ १८ ॥

कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः।

धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥ १९ ॥

शीरध्वजसे कुशध्वजका जन्म हुआ और कुशध्वजसे राजा धर्मध्वज उत्पन्न हुए। धर्मध्वजके दो पुत्र हुए—कृतध्वज और मितध्वज ॥ १९ ॥

कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात्।

कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥ २० ॥

खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः।

भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥ २१ ॥

परीक्षित्! कृतध्वजका पुत्र था केशिध्वज और मितध्वजका पुत्र खाण्डिक्य था। कृतध्वजका पुत्र केशिध्वज आत्मविद्यामें बहुत निपुण था, तो मितध्वजका पुत्र खाण्डिक्य कर्मकाण्डको जाननेवाला हुआ। खाण्डिक्य केशिध्वजसे भयभीत होकर भाग गया था। केशिध्वजका पुत्र भानुमान् और भानुमान्का पुत्र शतद्युम्न था ॥२०-२१॥

शुचिस्तु तनयस्तस्मात् सनद्वाजः सुतोऽभवत्।

ऊर्ज्जकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥ २२ ॥

शतद्युम्नसे शुचिका जन्म हुआ। शुचिसे सनद्वाज, सनद्वाजसे ऊर्ज्जकेतु और ऊर्ज्जकेतुसे अजका जन्म हुआ। इन अजका पुत्र पुरुजित् हुआ ॥२२॥

अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपाश्वकः।

ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमाधिर्मिथिलाधिपः ॥ २३ ॥

पुरुजित्से अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमिसे श्रुतायु, श्रुतायुसे सुपाश्वक और सुपाश्वकसे चित्ररथका जन्म हुआ। चित्ररथसे मिथिलाधिपति क्षेमाधिका आविर्भाव हुआ ॥२३॥

तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।

आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसम्भवः ॥ २४ ॥

क्षेमाधिसे समरथ, समरथसे सत्यरथ और सत्यरथसे उपगुरु उत्पन्न हुआ। इसी उपगुरुसे उपगुप्तका जन्म हुआ था, जो अग्निका अंश था ॥२४॥

वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः।

श्रुतस्ततो जयस्तस्माद्विजयोऽस्मादृतः सुतः ॥ २५ ॥

उपगुप्तका पुत्र वस्वनन्त था। वस्वनन्तका युयुध, युयुधका सुभाषण, सुभाषणका श्रुत, श्रुतका जय और जयका पुत्र विजय था। इन विजयसे ऋत नामके पुत्रका जन्म हुआ था ॥२५॥

शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः।

बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥ २६ ॥

ऋतके पुत्रका नाम था शुनक, शुनकका पुत्र वीतहव्य, वीतहव्यका धृति और धृतिका पुत्र बहुलाश्व था। बहुलाश्वसे कृतिने जन्म लिया और कृतिका पुत्र महावशी हुआ॥२६॥

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः।

योगेश्वर-प्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यवंशकीर्तनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा हे राजन्! मिथिल वंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये सारे राजा 'मैथिल' कहलाते हैं। ये सभी आत्मतत्त्वके पण्डित थे। योगेश्वर भगवान् विष्णुकी कृपासे ये सभी गृहस्थ आश्रममें रहते हुए भी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त थे॥२७॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके तेरहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः चन्द्रवंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः।

यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्त्तयः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! (सूर्यवंशके विषयमें तो सुन लिया) अब मैं परम पवित्र चन्द्रवंशके विषयमें तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो! इस चन्द्रवंशमें पुरुरवा आदि पुण्यकीर्त्तिवाले राजाओंकी महिमाका गुणगान किया जाता है॥१॥

सहस्रशिरसः पुंसो नाभिहृदसरोरुहात्।

जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः॥२॥

सहस्र शिरवाले विराट् पुरुषके नाभिरूप हृदय सरोवरसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजीके पुत्र अत्रि थे, जो गुणोंमें अपने पिताके समान ही थे॥२॥

तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।

विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः॥३॥

अत्रिके आनन्द-अश्रुओंसे अमृतमय सोम (चन्द्रमा) नामक पुत्रका आविर्भाव हुआ। ब्रह्माने सोमको ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रोंका स्वामी बना दिया॥३॥

सोऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।

पत्नीं बृहस्पतेर्दपात् तारां नामाहरद्बलात्॥४॥

सोमने तीनों लोकोंको जीत लिया। उसके बाद उन्होंने राजसूय यज्ञ किया। इससे उनका अभिमान बहुत बढ़ गया और उन्होंने बलपूर्वक देवताओंके गुरु बृहस्पतिजीकी पत्नी ताराका हरण कर लिया॥४॥

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥ ५ ॥

देवगुरु बृहस्पतिजीने सोमसे बार-बार अनुरोध किया कि वे ताराको लौटा दें किन्तु सोम अभिमानके कारण इतने मतवाले हो गये थे कि उन्होंने किसी भी प्रकारसे ताराको नहीं लौटाया। अतः ताराके लिये देवताओं और दानवोंमें घोर संग्राम छिड़ गया ॥ ५ ॥

शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत् सासुरोडुपम्।
हरो गुरुमुतं स्नेहात् सर्वभूतगणावृतः ॥ ६ ॥

देवताओंके गुरु बृहस्पतिजीका दैत्योंके गुरु शुक्राचार्यके साथ द्वेष सदैव बना ही रहता है। अतः शुक्राचार्यने इस द्वेषके कारण असुरोंके साथ चन्द्रमाका पक्ष ले लिया और महादेवने स्नेहवश अपने समस्त भूतगणोंके साथ बृहस्पतिकी समर्थन किया, क्योंकि बृहस्पति महादेवके विद्यागुरु अङ्गिराके पुत्र हैं (श्रीधर स्वामीपाद कहते हैं कि शङ्करने पहले अङ्गिराके निकट विद्याका अभ्यास किया था।) ॥ ६ ॥

सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात्।
सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः ॥ ७ ॥

देवताओंके राजा इन्द्रने सभी देवताओंके साथ अपने गुरु बृहस्पतिका साथ दिया। इस प्रकार ताराके कारण देवताओं और दैत्योंका विनाश करनेवाला भयङ्कर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ७ ॥

निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत्।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः ॥ ८ ॥

बृहस्पति ब्रह्माके समीप गये और उन्हें सारा वृत्तान्त बतलाया। तब ब्रह्माजीने सोमको बहुत डाँटा-फटकारा और ताराको लेकर उसके पति बृहस्पतिको सौंप दिया। जब बृहस्पतिजीको यह पता चला कि उनकी पत्नी तारा तो गर्भवती है, तब उन्होंने कहा— ॥ ८ ॥

त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः।

नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकोऽसति ॥९॥

‘अयि दुर्बुद्धे! जिस क्षेत्रमें गर्भाधान करानेका केवल मेरा ही अधिकार था, उसमें तो किसी औरका गर्भ आ चुका है। तू शीघ्र ही इसका त्याग कर, त्याग कर। डर मत, मैं तुझे भस्मसात् नहीं करूँगा, क्योंकि एक तो तू स्त्री है और दूसरे मुझे भी सन्तानकी कामना है तू दुराचारिणी है, तो भी मैं तुझे दण्ड नहीं दूँगा’ ॥९॥

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।

स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥१०॥

तारा अपने पतिके वचनोंको सुनकर अत्यन्त लज्जित हो गयी। उसने अपने गर्भसे एक स्वर्ण-कान्तिसे युक्त बालकको अलग किया। उस बालकको देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करने लगे ॥१०॥

ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।

पप्रच्छुर्मुनयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥११॥

बालककी प्राप्तिकी इच्छासे दोनोंमें कलह हो गया। दोनों उच्च स्वरसे एक-दूसरेसे कहने लगे—‘यह पुत्र तुम्हारा नहीं, मेरा है।’ तब देवताओं और ऋषियोंने तारासे पूछा—‘यह बालक किसका है?’ ताराने लज्जाके कारण कोई उत्तर नहीं दिया ॥११॥

कुमारो मातरं प्राह कृपितोऽलीकलज्जया।

किं न वचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे ॥१२॥

इसपर बालक क्रोधित हो गया और अपनी मातासे कहने लगा—‘अरी दुराचारिणे! व्यर्थकी लज्जासे क्या होगा? अपना दोष बतलाती क्यों नहीं? मुझे अपना चरित्र शीघ्र बतला’ ॥१२॥

ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन्।

सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥१३॥

तब ब्रह्माने ताराको एकान्तमें बुलाया और सान्त्वना देते हुए पूछा—‘तारा सत्य बोलो, यह पुत्र किसका है?’ ताराने धीरेसे उत्तर दिया—‘यह पुत्र सोमका है।’ ताराके इतना कहते ही चन्द्रमाने उस बालकको ले लिया ॥१३॥

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।

बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराणमुदम् ॥१४॥

हे परीक्षित्! ब्रह्माने बालककी गम्भीर बुद्धिको देखकर उसका नाम ‘बुध’ रख दिया। इस पुत्रको प्राप्त करके नक्षत्रोंके स्वामी सोम (चन्द्रमा)को अत्यधिक आनन्द हुआ ॥१४॥

ततः पुरुरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः।

तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥१५॥

श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणां

तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥१६॥

परीक्षित्! इसके बाद बुधके द्वारा इलाके गर्भसे पुरुरवाका जन्म हुआ। पुरुरवाका वर्णन मैं (इसी स्कन्धके प्रथम अध्यायमें) पहले ही कर चुका हूँ। एक दिन देवराज इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारद पुरुरवाके रूप, गुण, उदारता, शील, स्वभाव, धन और पराक्रम आदिका बखान कर रहे थे। वहाँ देवाङ्गना उर्वशी भी उपस्थित थी। यह सब सुनकर वह पुरुरवाके प्रति आकर्षित हो गयी और कामपाशमें आबद्ध-सी होकर उनके समीप पहुँची ॥१५-१६॥

मित्रावरुणयोः शापादापत्रा नरलोकताम्।

निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ॥१७॥

धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके।

स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः।

उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥१८॥

उर्वशी यद्यपि मित्र और वरुणके शापके कारण मनुष्योंके गुणोंके साथ मृत्युलोकमें रह रही थी, फिर भी पुरुषश्रेष्ठ एवं मूर्तिमान्

कामदेवके समान पुरुरवाके विषयमें सुनकर उर्वशीने किसी प्रकार धैर्य धारण किया और उनके पास आ पहुँची। उर्वशीको देखते ही पुरुरवाके नयन आनन्दसे खिल उठे। शरीरमें रोमाञ्च हो गया। वे मधुर वाणीमें उर्वशीसे कहने लगे—॥१७-१८॥

राजोवाच—

स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम्।

संरमस्व मया साकं रतिनीं शाश्वतीः समाः॥१९॥

राजा पुरुरवाने कहा—‘हे सुन्दरि! तुम्हारा स्वागत है। बैठो! कहो, मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ? तुम मेरे साथ विहार करो। हमारा यह विहार अनन्त वर्षोंतक चलता रहे और हम परम सुखका अनुभव करें’॥१९॥

उर्वश्युवाच—

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर।

यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया॥२०॥

उर्वशीने कहा—‘हे सुन्दर! ऐसी कौन स्त्री है, जिसकी दृष्टि और चित्त आपके प्रति आसक्त न हो जायें। आपका वक्षस्थल प्राप्त करके कौन स्त्री आपसे रमण करना नहीं चाहेगी। वह तो कभी भी आपसे दूर नहीं जा सकती’॥२०॥

एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस्व मानद।

संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः॥२१॥

(अनन्तर शापके अवसानपर प्रतिज्ञा-भङ्गके छलसे वह (उर्वशी) स्वर्ग चली जाएगी, इसी इच्छासे कहने लगी—) हे राजन्! जो पुरुष लोक-समाजमें अपने रूप-गुणके कारण प्रशंसनीय होता है, वह स्त्रियोंके द्वारा वरण करने योग्य होता है। यद्यपि आप विजातीय हैं, फिर भी आपका वरण करनेमें कोई दोष नहीं है। (किन्तु मेरी एक शर्त है) यदि आप मेरे साथ आये हुए इन दो मेमनोंकी धरोहरके रूपमें रक्षा करेंगे, तो मैं आपके साथ अवश्य ही विहार करूँगी॥२१॥

घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात्।

विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः॥२२॥

हे वीर! घी ही मेरा भोजन होगा। मैथुनके अतिरिक्त मैं कभी भी आपको वस्त्रहीन नहीं देख सकूंगी।' महामना पुरुरवाने उर्वशीकी शर्तोंको—'ठीक है'—कहकर स्वीकार कर लिया॥२२॥

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम्।

को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम्॥२३॥

(इसके बाद पुरुरवाने कहा) 'हे सुन्दरि! तुम्हारा सौन्दर्य अद्भुत है। तुम्हारा भाव अलौकिक है। यह सभी मनुष्योंको मुग्ध कर देनेवाला है। तुम तो स्वयं ही कृपा करनेके लिए स्वर्गलोकसे यहाँ आयी हो, फिर भला कौन मनुष्य ऐसा होगा, जो तुम्हारा सेवन न करेगा'॥२३॥

तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः।

रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु॥२४॥

परीक्षित्! पुरुषश्रेष्ठ पुरुरवा देवाङ्गना उर्वशीके साथ देवताओंकी चैत्ररथ, नन्दन-कानन आदि विहार-स्थलियोंमें मुक्तभावसे विहार करने लगे। उर्वशी भी उनके साथ विहार करनेमें व्यस्त हो गयी॥२४॥

रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया।

तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून्॥२५॥

देवी उर्वशीके शरीरसे कमल-केसरके जैसी सुगन्ध निकला करती थी। उसके साथ राजा पुरुरवाने बहुत समय तक विहार किया। उर्वशीके मुखकी सुगन्धिसे अनुप्राणित होकर राजा परम आनन्दित होते थे॥२५॥

अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत्।

उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते॥२६॥

इधर उर्वशीको अपनी सभामें न देखकर देवराज इन्द्रने कहा—‘उर्वशीके बिना मेरी यह सभा शोभा नहीं पाती।’ यह कहकर उन्होंने गन्धर्वोंको उर्वशीको लानेके लिए भेजा॥२६॥

ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते।

उर्वश्या उरणौ जहृर्न्यस्तौ राजनि जायया॥२७॥

मध्यरात्रि थी। अन्धकार बहुत अधिक गहरा था। गन्धर्व मृत्युलोकमें आये और उर्वशीके दोनों मेमनोंको चुराकर ले गये, जिन्हें उसने राजा पुरुरवाके पास धरोहरके रूपमें रखा था॥२७॥

निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोनीयमानयोः।

हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना॥२८॥

उर्वशी इन दोनों मेमनोंको पुत्रके समान स्नेह करती थी। गन्धर्व जब उनको चुराकर ले जा रहे थे, तब दोनों मेमने मिमियाने लगे। मेमनोंका क्रन्दन सुनकर उर्वशी पुरुरवाकी भर्त्सना करने लगी—‘अरे! यह तो अपने आपको परमवीर मानता है, किन्तु है बड़ा कायर और नपुंसक। (यह मेरी भेड़ों तककी रक्षा भी न कर पाया) इस कायरको अपना पति बनाकर मैं तो मारी गयी॥२८॥

यद्विश्रम्भादहं नष्टा हतापत्या च दस्युभिः।

यः शेते निशि सन्त्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान्॥२९॥

मैंने इसका विश्वास कर लिया और आज लुटेरे मेरे दोनों पुत्रोंका अपहरण करके ले जा रहे हैं। मैं तो अब मर गयी। दिनमें तो यह पुरुष बना फिरता है और रात्रिमें स्त्रियोंकी तरह डरकर सोया पड़ा है॥२९॥

इति वाक्शायकैर्विद्धः प्रतोदैरिव कुञ्जरः।

निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवदद्रुषा॥३०॥

परीक्षित्! उर्वशीके इन भर्त्सनापूर्ण वचनोंने राजाको उसी प्रकार बेध डाला, जैसे कोई अंकुशसे हाथीको बेध डाले। राजा पुरुरवा

क्रोधसे उन्मत्त हो गये। उन्होंने अपनी तलवार निकाली और नगनावस्थामें ही गन्धर्वोंके पीछे दौड़ पड़े ॥३०॥

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः।

आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥३१॥

राजाको आते देख गन्धर्वोंने मेमनोंको वहीं छोड़ दिया और स्वयं बिजलीके समान प्रकाशित होने लगे। उनकी चमकसे पुरुरवाका महल जगमगा उठा। उसी समय उर्वशीने देखा कि उसका पति दोनों मेमनोंको लेकर लौट रहा है, परन्तु नगनावस्थामें है। उर्वशीने राजा पुरुरवाको नगनावस्थामें देख लिया, तो पुरुरवाकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो गयी और उर्वशी उन्हें वहीं छोड़कर स्वर्ग चली गयी ॥३१॥

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव।

तच्चित्तो विक्लवः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् ॥३२॥

जब राजा पुरुरवाने अपने शयनकक्षमें अपनी प्राणप्रिया उर्वशीको नहीं देखा, तो वे बहुत उदास हो गये। उनका चित्त तो उर्वशीमें ही रमा हुआ था। उसके बिना वे शोकसे व्याकुल हो गये और बेसुधसे होकर पृथ्वीपर इधर-उधर भटकने लगे ॥३२॥

स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्याञ्च तत्सखीः।

पञ्च प्रहृष्टवदनः प्राह सूक्तं पुरुरवाः ॥३३॥

कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तटपर एक दिन राजा पुरुरवाने देखा कि उर्वशी अपनी पाँच सखियोंके साथ बैठी हुई है। उन्होंने वहाँ पहुँचकर बड़ी मधुर वाणीमें उससे कहा— ॥३३॥

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।

मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहे ॥३४॥

‘प्रिये! जरा ठहरो, जरा ठहरो। हे निष्ठुरे! मैं जानता हूँ कि मैं आजतक भी तुम्हें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो पाया, किन्तु इस कारणसे मेरा परित्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

यदि तुम त्यागका निश्चय कर भी चुकी हो तो भी कुछ देर तो बैठो! आओ, हम कुछ बातें ही कर लें॥३४॥

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हतस्त्वया।

खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्॥३५॥

हे देवि! इस शरीरपर अब तुम्हारी कृपा नहीं रही। इसीलिए तुमने इसे दूर फेंक दिया है। अतः मेरा यह कमनीय और सुन्दर शरीर अभी इसी स्थानपर समाप्त हो जायगा। अब तो गीध और भेड़िये ही इसे खायेंगे॥३५॥

उर्वश्युवाच—

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मास्म त्वाद्युर्वका इमे।

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥३६॥

उर्वशीने कहा—‘हे राजन्! अपने आपको सँभालिये। आप पुरुष हैं। इस प्रकारसे अधीर होकर अपने प्राणोंका त्याग मत कीजिए। इन्द्रियोंके वशीभूत मत होइये, कहीं ये इन्द्रियरूपी भेड़िये आपको खा न जायें। स्त्रियोंका हृदय भेड़ियोंके हृदय जैसा ही होता है। इनकी किसीसे भी मित्रता नहीं होती॥३६॥

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।

घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥३७॥

राजन्! स्त्रियाँ बड़ी निर्दय और कुटिल स्वभावकी होती हैं। वे तो किसीका साधारण-सा दोष भी सहन नहीं कर पातीं। अपने सुखके लिए वे अधर्मसे भी नहीं डरतीं। अपने थोड़ेसे स्वार्थके लिए ही वे विश्वासपात्र बनकर अपने भाई और पतिकी भी हत्या कर अथवा करवा डालती हैं॥३७॥

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।

नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥३८॥

ये अपनी इच्छासे आचरण करनेवाली और कुलटा होती हैं। सौहार्द तो इनमें होता ही नहीं। सीधे-साधे लोगोंको अपने झूठे

प्रेममें फाँस लेती हैं और सदैव ही नये-नये सङ्गकी कामना करती रहती हैं ॥३८॥

संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वरः।

रंस्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥३९॥

हे राजेन्द्र! धैर्य धारण करो। आप प्रति एक वर्षके बाद एक रातके लिये मेरे साथ विहार कर सकेंगे। इससे आपकी और भी सन्तानें होंगी ॥३९॥

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरीम्।

पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम् ॥४०॥

राजा पुरुरवाको पता चला कि उर्वशी गर्भवती है, तो वे अपनी पुरीमें लौट आये। एक वर्ष बीत जानेके बाद वे फिर वहाँ गये। उस समयतक उर्वशी एक वीर पुत्रकी माता बन चुकी थी ॥४०॥

उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम्।

अथैनमुर्वशीं प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१॥

पुरुरवा उर्वशीसे मिलकर बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने एक रात उसके साथ बितायी। सुबह होनेपर वियोगके भयसे उनका हृदय अत्यन्त दीनहीन हो गया। तब उर्वशीने उन विरहकातर राजासे कहा— ॥४१॥

गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति।

तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।

उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने ॥४२॥

‘आप गन्धर्वोंकी शरणमें जाइये, वे मुझे पुनः आपको दे सकते हैं।’ राजा पुरुरवाने गन्धर्वोंकी स्तुति की। परीक्षित्! गन्धर्वोंने राजा पुरुरवाकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर उन्हें एक अग्निस्थाली (यज्ञ आदिके लिये उपयोगी अग्नि-रक्षाका पात्र) प्रदान की। (गन्धर्वोंका अभिप्राय था कि राजा अग्निस्थालीसे यथोचित कर्म करके उर्वशीको प्राप्त कर लेंगे, किन्तु उर्वशीमें अत्यधिक आसक्तिके कारण राजा

कामान्ध हो गये थे) उन्होंने अग्निस्थालीको ही उर्वशी मान लिया और उसे हृदयसे लगाकर वन-वनमें घूमने लगे ॥४२॥

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।

त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्त्तत ॥४३॥

बादमें जब उन्हें समझ आया कि वह उर्वशी नहीं, अग्निस्थाली है, तो उन्होंने उसे वनमें ही छोड़ दिया और अपने महलमें लौट आये। वे रात-रात भर उर्वशीका ध्यान करते रहते। इसीमें त्रेतायुगका प्रारम्भ हो गया और तब उनके हृदयमें तीनों वेद प्रकट हो गये। साथ ही यज्ञ-कर्म करनेकी विधियाँ भी प्रकट हो गयीं ॥४३॥

स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।

तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४॥

उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।

आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत् प्रजननं प्रभुः ॥४५॥

अब पुरुरवा वनमें उसी स्थानपर गये, जहाँ उन्होंने अग्निस्थालीको छोड़ा था। वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि शमी वृक्षके गर्भसे एक पीपलका वृक्ष उग गया था। तब राजाने उर्वशीका लोक प्राप्त करनेके लिये उस पीपलके वृक्षसे दो अरणियाँ (मन्थन करनेके लिये लकड़ियोंके टुकड़े) बनायीं। इसके बाद वे अरणिके निम्न भागमें उर्वशीका, ऊपरी भागमें अपना और मध्यवर्ती अरणिका पुत्र रूपमें चिन्तन करते हुए मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। इस प्रकार उन्होंने अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रोंसे अरणियोंका मन्थन किया ॥४४-४५॥

तस्य निर्मथनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।

त्रय्या स विद्यया राजा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥४६॥

उस मन्थनसे 'जातवेदा' नामकी अग्निका प्राकट्य हुआ। (इस अग्निसे यजमानको भोग्य-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है) राजा पुरुरवाने त्रयीविधिसे (शौक्र, सावित्र और याज्ञिक) त्रयीविद्या द्वारा अर्थात्

संस्कृत, गर्भाधान और संस्कार द्वारा अग्नि देवताको आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन रूपोंमें परिणत कर लिया और उन्हें अपने पुत्ररूपमें मान लिया ॥४६॥

तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥

राजा पुरुरवाने उर्वशीलोककी प्राप्तिकी कामनासे इस त्रिविध अग्निसे सर्वदेवमय अधोक्षज यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिका यजन किया ॥४७॥

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥

परीक्षित्! त्रेतायुगसे पूर्व सत्ययुगमें समस्त वचनोंका बीजस्वरूप प्रणव (ॐकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देव थे—भगवान् नारायण। किसी अन्य देवी-देवताकी सेवाकी रीति ही नहीं थी। उनकी सेव्यरूपमें कल्पना ही नहीं थी अग्नि भी लौकिकरूपमें तीन नहीं, एक ही थी। वर्ण भी एकमात्र 'हंस' ही था ॥४८॥

पुरुरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीमदैलोपाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

महाराज परीक्षित्! त्रेतायुगके प्रारम्भमें पुरुरवासे ही कर्मकाण्डरूपी वेदत्रयी और अग्नित्रयीका जन्म हुआ। राजा पुरुरवाने अग्निको पुत्ररूपमें स्वीकार किया और इसीसे उनको गन्धर्व लोककी प्राप्ति हुई ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके चौदहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

ऋचिक, जमदग्नि और परशुरामका चरित्र

श्रीबादरायणिरुवाच—

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप।

आयुः श्रुतायुः सत्यायु रयोऽथ विजयो जयः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! उर्वशीसे राजा पुरुरवाके छह पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय ॥ १ ॥

श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः।

रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥ २ ॥

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः।

तस्य जहुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ॥ ३ ॥

श्रुतायुका पुत्र वसुमान् हुआ। सत्यायुका श्रुतञ्जय, रयका एक, जयका अमित और विजयका पुत्र हुआ भीम। भीमसे काञ्चनका जन्म हुआ। काञ्चनसे होत्रक, होत्रकसे जहु उत्पन्न हुए। ये वही जहु थे, जो गङ्गाको अपनी अञ्जलिमें लेकर (एक ही घूँटमें) पी गये थे ॥ २-३ ॥

जहोस्तु पूरुस्तस्याथ बलाकश्चात्मजोऽजकः

ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः।

कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः ॥ ४ ॥

जहुके पुत्रका नाम पूरु था। पूरुका पुत्र बलाक, बलाकसे अजक और अजकसे कुशका जन्म हुआ। कुशके चार पुत्र हुए—कुशाम्बु, तनय, वसु और कुशनाभ। कुशाम्बुसे गाधि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः।
 वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत्॥५॥
 एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
 सहस्रं दीयतो शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम्॥६॥

राजन्! गाधिकी एक पुत्री थी, जिसका नाम सत्यवती था।
 द्विजवर ऋचीकने सत्यवतीसे विवाह करनेके लिए उसके पिता
 गाधिसे विनती की, किन्तु गाधिने अपनी पुत्री सत्यवतीके लिए
 उन्हें अयोग्य वर माना और उनसे कहा—‘हे द्विजवर! हमलोग
 कुशवंशी हैं, सब प्रकारसे परम कुलीन हैं। इसलिए आप मुझे
 शुल्कके रूपमें ऐसे एक हजार घोड़े दीजिए, जिनका चन्द्रमाके समान
 दीप्तिमान् श्वेत वर्ण हो और एक कान श्याम वर्णका हो।’॥५-६॥

इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम्।
 आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम्॥७॥

जब राजा गाधिने इस प्रकार कहा, तब ऋषि ऋचीक उनका
 अभिप्राय समझ गये। वे वरुणके पास गये और एक हजार
 वैसे ही घोड़े ले आये, जिनकी गाधिने इच्छा की थी। इन
 घोड़ोंको गाधिको सौंपकर ऋषि ऋचीकने सुन्दरी सत्यवतीसे विवाह
 कर लिया॥७॥

स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया।
 श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥८॥

एक बार ऋचीक ऋषिसे उनकी पत्नी और सास दोनोंने
 ही पुत्र-प्राप्तिके लिये चरु तैयार करनेकी प्रार्थना की। ऋषिने
 उनकी प्रार्थना स्वीकार करके अपनी पत्नीके लिए ब्राह्मण-मन्त्रोंसे
 अभिमन्त्रित और अपनी सासके लिये क्षात्र-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित
 दो अलग-अलग चरु पकाये और स्नानके लिए चले गये॥८॥

तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती।
 श्रेष्ठं मत्वाऽनयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम्॥९॥

अवसरका लाभ उठाकर सत्यवतीकी माँने सत्यवतीसे उसके लिए तैयार किया हुआ चरु माँगा, यह सोचकर कि पत्नीसे अधिक स्नेहके कारण महर्षि ऋचीकने उसके लिए ब्रह्म-मन्त्रसे जो चरु तैयार किया होगा, वह अवश्य ही श्रेष्ठ होगा। सत्यवतीने अपना चरु माँको दे दिया और स्वयं अपनी माताके लिए तैयार क्षात्र मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित चरुको खा लिया॥९॥

तद्विदित्वा मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः।

घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः॥१०॥

मुनिको जब चरु-विनिमयका पता चला तो उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवतीसे कहा—‘तुमने तो यह बड़ा अनर्थ कर डाला। अब तुम्हारा पुत्र तो लोगोंको दण्ड देनेवाला घोर क्षत्रिय स्वभावका होगा और तुम्हारा भाई होगा ब्रह्म-तत्त्वको जाननेवाला।’॥१०॥

प्रसादितः सत्त्वत्या मैवं भूरिति भार्गवः।

अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत्॥११॥

सत्यवतीने ऋचीक मुनिको विनयपूर्वक प्रसन्न किया और कहा—‘मेरा पुत्र ऐसा नहीं होना चाहिए।’ इस पर ऋषिने कहा—‘ठीक है, यदि तुम्हारा पुत्र ऐसा नहीं होगा, तो उसके स्थानपर तुम्हारा पौत्र क्षत्रिय स्वभाववाला होगा।’ समय आनेपर सत्यवतीने एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम जमदग्नि हुआ॥११॥

सा चाभूत् सुमहत्पुण्या कौशिकी लोकपावनी।

रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम्॥१२॥

तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः।

यवीयान् जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः॥१३॥

सत्यवती समस्त लोकोंको पावन करनेवाली परम पुण्यमयी ‘कौशिकी’ नदी बन गयी। सत्यवतीके पुत्र जमदग्निने रेणु ऋषिकी कन्या रेणुकासे विवाह कर लिया। रेणुकासे जमदग्निके वसुमान् आदि कई पुत्र हुए। इनमें-से सबसे छोटे पुत्रका नाम था—परशुराम, जो सम्पूर्ण जगत्में विख्यात हैं॥१२-१३॥

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम्।

त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥ १४ ॥

विद्वानोंका कहना है कि हैहयवंशका नाश करनेके लिये स्वयं भगवान् वासुदेवने ही अंशरूपमें परशुराम नामसे जन्म ग्रहण किया था। इन्होंने पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था ॥१४॥

दृप्तं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत्।

रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेऽहसि ॥ १५ ॥

क्षत्रिय वंशके लोग रजोगुण और विशेषकर तमोगुणसे युक्त हो गये थे। वे बड़े अभिमानी, ब्राह्मण-विरोधी और अधर्मी हो रहे थे। यद्यपि उनका यह अपराध साधारण ही था, फिर भी वे पृथ्वीपर भार-स्वरूप थे। इसीलिए परशुरामने उनका वध करके पृथ्वीका भार दूर किया था ॥१५॥

श्रीराजोवाच—

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः।

कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्षणशः ॥ १६ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—यह ठीक है कि उस समय क्षत्रिय राजागण भोगोंमें रत हो गये थे, तब उन अजितेन्द्रिय क्षत्रियोंने भगवान्का ऐसा कौनसा अपराध कर दिया था कि उन्हें क्षत्रिय-कुलका बार-बार संहार करना पड़ा? ॥१६॥

श्रीबादरायणिरुवाच—

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः।

दत्तं नारायणांशांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥ १७ ॥

बाहून् दशशतं लेभे दुर्द्धर्षत्वमरातिषु।

अव्याहतेन्द्रियौजः श्रीतेजोवीर्यशोबलम् ॥ १८ ॥

योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः।

चचाराव्याहतगतिलोकेषु पवनो यथा ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हैहयवंशके अधिपति कार्तवीर्यार्जुन एक श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा था। उसने विविध प्रकारकी अपनी सेवा-परिचर्यासे दत्तात्रेयजी, जो भगवान् नारायणके अशांश अवतार थे, की आराधना करके उन्हें प्रसन्न कर लिया था, उसने उनसे एक हजार भुजाएँ और किसीसे भी युद्धमें पराजित न होनेका वरदान प्राप्त कर लिया था और इसके साथ अगाध इन्द्रिय बल, अतुलनीय सम्पत्ति, तेज, वीरता, कीर्ति, शारीरिक बल भी प्राप्त कर लिये थे। वह एक बहुत बड़ा योगेश्वर हो गया था। उसे अणिमा, लघिमा आदि आठों सिद्धियाँ भी प्राप्त हो गयी थीं। इन कारणोंसे वह समस्त लोकोंमें वायुके समान अबाध गतिसे विचरण करता था ॥१७-१९॥

स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः।

वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद्रुरोध सरितं भुजैः ॥ २० ॥

एक बार गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये हुए सहस्रबाहु अर्जुन अनेक सुन्दर स्त्रियोंके साथ नर्मदा नदीके जलमें क्रीड़ा कर रहा था। तभी अतिशय मदमें चूर होकर उसने अपनी भुजाओंसे नदीके बहावको रोक दिया ॥२०॥

विप्लावितं स्वशिविरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः।

नामृष्यत् तस्य तद्वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥ २१ ॥

उधर दिग्विजयके लिए निकले रावणका शिविर भी वहीं माहिष्मती पुरीके पासमें ही था। जब सहस्रबाहु अर्जुनने नदीके प्रवाहको अपनी भुजाओंसे रोक दिया, तब नर्मदा नदीका प्रवाह उल्टा बहने लगा, जिससे रावणका शिविर डूबने लगा। दशानन रावणको अपनी वीरताका अभिमान तो था ही, उससे अर्जुनका यह प्रभाव सहन नहीं हुआ ॥२१॥

गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।

माहिष्मत्यां सन्निरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥ २२ ॥

सहस्रबाहु अर्जुन जल-क्रीडामें व्यस्त था। रावण स्त्रियोंके समक्ष ही जब उसका अपमान करने लगा, तब सहस्रबाहुने अपराधी रावणको अनायास ही पकड़ लिया और उसे बन्दी बनाकर अपनी राजधानी माहिष्मतीके कारागारमें बन्दरके समान बन्द कर दिया। बादमें पुलस्त्यजीके कहनेपर सहस्रबाहुने रावणको मुक्त कर दिया ॥२२॥

स एकदा तु मृगयां विचरन् विजने वने।

यदृच्छयाश्रमपदं

जमदग्निरुपाविशत् ॥ २३ ॥

एक दिन सहस्रबाहु अर्जुन शिकार खेलनेके लिये घोर जंगलमें चला गया और दैवप्रेरणासे जमदग्नि ऋषिके आश्रममें जा पहुँचा ॥२३॥

तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत्।

ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥ २४ ॥

परम तपस्वी मुनि जमदग्निके आश्रममें एक कामधेनु रहती थी। मुनिने कामधेनुके प्रभावसे प्रथूत सामग्री संग्रहीतकी और हैहयके राजाकी सेना, मन्त्री और वाहनोंके सहित हैहयाधिपतिका खूब आदर-सत्कार किया ॥२४॥

स वै रत्नन्तु तदृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम्।

तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः सहैहयः ॥ २५ ॥

हैहयाधिपतिने जब देखा कि कामधेनुके कारण जमदग्नि मुनिका ऐश्वर्य उसके ऐश्वर्यसे बहुत अधिक है, तब उसने उनके द्वारा किये सत्कारका कुछ भी आदर न किया। वह तो वास्तवमें अग्निहोत्र यज्ञके लिये लाभदायक उस श्रेष्ठ कामधेनुको ही हथियाना चाहता था ॥२५॥

हविर्धानीमृषेर्दर्पात्ररान्

हर्तुमचोदयत्।

ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात् ॥ २६ ॥

हैहयाधिपतिने अभिमानके कारण जमदग्नि मुनिसे अग्निहोत्र-धेनु कामधेनुको माँगा नहीं, बल्कि अपने सैनिकोंको आदेश दिया कि वे कामधेनुका हरण कर लें। सेवक रोती-बिलखती हुई कामधेनुको उसके बछड़े सहित बलपूर्वक माहिष्मतीपुरी ले गये ॥२६॥

अथ राजनि निर्याति राम आश्रममागतः।

श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥ २७ ॥

सहस्रबाहु जब कामधेनुको लेकर चला गया, तब जमदग्निके सबसे छोटे पुत्र परशुराम आश्रममें लौटे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने जब कामधेनुके अपहरणका दौरात्म्यरूप वृत्तान्त सुना तो वे आहत सर्पकी भाँति क्रोधित हो उठे ॥ २७ ॥

घोरमादाय परशुं सतृणं वर्म कार्मुकम्।

अन्वधावत दुर्मर्षो मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥ २८ ॥

क्रोधसे तिलमिलाये हुए परशुरामजीने भीषण फरसा, ढाल, तरकस और धनुष लिया और बड़े वेगसे सहस्रबाहु अर्जुनके पीछे उसी प्रकार दौड़े, जिस प्रकार हाथीके पीछे प्रचण्ड सिंह दौड़ता है ॥ २८ ॥

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा

धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम्।

ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-

युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥ २९ ॥

सहस्रबाहु अर्जुन कामधेनुको लेकर माहिष्मतीपुरीमें प्रवेश कर ही रहा था कि उसने देखा भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ परशुराम बड़े वेगसे उसपर आक्रमण करनेके लिये चले आ रहे हैं। उन्होंने शरीरपर काला मृगचर्म धारण किया है, हाथोंमें धनुषबाण और फरसा है तथा जटाएँ सूर्यकी किरणोंके समान चमक रही हैं ॥ २९ ॥

अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-

गदासिबाणष्टिशतघ्नशक्तिभिः ।

अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-

स्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥ ३० ॥

परशुरामको देखते ही कार्तवीर्य अर्जुन डर गया और उसने तुरन्त ही परशुरामसे युद्ध करनेके लिये अनेक हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंके साथ सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी, जो गदा,

खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित थी। भगवान् परशुरामने अकेले ही उस सारी सेनाको नष्ट कर दिया ॥३०॥

यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः ।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्या हतसूतवाहनाः ॥ ३१ ॥

परशुरामजी विपक्षियोंकी सेनाका संहार करनेमें परम कुशल थे। उनका वेग मन और वायुके समान प्रचण्ड था। वे अपने फरसेसे जिस-जिस ओर प्रहार करते, उस-उस ओर विपक्षी वीरोंकी भुजाएँ, जंघाएँ, कन्धे और धड़ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरते जाते। सारथी मारे जाते और वाहन नष्ट होते जाते ॥३१॥

दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्म
रणाजिरे रामकुठारशायकैः ।
विवृक्णवर्मध्वजचापविग्रहं
निपातितं हैहय आपतद्रुषा ॥ ३२ ॥

हैहयाधिपतिने जब देखा कि परशुरामके फरसे और बाणोंसे उसकी सेनाके धनुष, बाण, ढाल, घ्वजाएँ और धड़ कट-कटकर गिर रहे हैं और रणभूमि उनके रक्तसे लथपथ हुई जा रही है, तब वह बड़ा ही क्रोधित हुआ और स्वयं ही युद्धभूमिमें आ खड़ा हुआ ॥३२॥

अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभि-
र्धनुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे ।
रामाय रामोऽन्नभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिरच्छिनत् समम् ॥ ३३ ॥

इसके बाद सहस्रबाहु अर्जुनने एक साथ ही अपनी हजार भुजाओंसे पाँच सौ धनुषोंपर पाँच सौ बाण चढ़ाये और परशुरामजीपर छोड़ दिये। परन्तु परशुराम तो अस्त्रधारियोंके शिरोमणि हैं। उन्होंने

एक ही धनुषसे इतने बाण छोड़े कि कार्तवीर्य अर्जुनके हाथोंके सारे धनुष तथा बाण कटकर टुकड़े-टुकड़े हो गये ॥३३॥

पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपान्
उत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥ ३४ ॥

सहस्रबाहु अर्जुनके जब सारे बाण छिन्न-भिन्न हो गये, तब उसने अपने हाथोंसे पर्वतों और वृक्षोंको उखाड़ लिया और युद्धभूमिमें परशुरामजीको मारनेके लिए बड़े वेगसे झपटा। इसपर परशुरामने अपने तीक्ष्णधारवाले फरसेसे उसकी हजार भुजाओंको उसी प्रकार काट डाला जैसे कोई साँपके फनोंको काट डाले ॥३४॥

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत्।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥ ३५ ॥
अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥ ३६ ॥

इसके बाद परशुरामजीने छिन्न-बाहु अर्जुनके पर्वतकी चोटीके समान ऊँचे और विशाल मस्तकको धड़से अलग कर दिया। पिता कार्तवीर्य अर्जुनका वध हो जानेपर उसके दस हजार पुत्र डरके मारे भाग गये। शत्रु वीरोंका नाश करनेवाले परशुरामजी शत्रुका वध करनेके बाद अग्निहोत्री कामधेनुको (होमधेनुको) बछड़े सहित लेकर आश्रमपर लौट आये। कामधेनु विपक्षियोंके हाथोंमें पड़कर बहुत दुःखी हो गयी थी। उन्होंने धेनुको अपने पिताजीको सौंप दिया ॥३५-३६॥

स्वकर्म तत् कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च।
वर्णयामास तत् श्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥ ३७ ॥

अनन्तर युद्धभूमिमें शत्रुके वधका सारा वृत्तान्त उन्होंने अपने पिता और भाइयोंको सुनाया। मुनि जमदग्निने पुत्र परशुरामकी बात सुनकर कहा ॥३७॥

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्।
अवधीत्ररदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा ॥ ३८ ॥

राम! राम! महाबाहो! यह तुमने क्या कर दिया! हे परशुराम! तुमने तो व्यर्थ ही राजाको मार डाला। अरे! राजामें तो समस्त देवताओंका वास होता है। यह तो तुमसे बड़ा पाप हो गया ॥ ३८ ॥

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥ ३९ ॥

प्रिय बेटे! हम लोग ब्राह्मण हैं। क्षमाशीलता हमारा गुण है। इसी गुणके कारण हम समस्त जगत्में पूजनीय हुए हैं। लोकगुरु ब्रह्माजीने भी इस क्षमा गुणके कारण ही परमेष्ठी पदवीको प्राप्त किया है ॥ ३९ ॥

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥ ४० ॥

यह क्षमा ही है, जिसके कारण ब्राह्मणोंकी शोभा सूर्यके तेजके समान दमक उठती है। जिन पुरुषोंमें क्षमाका गुण होता है, उनसे भगवान् श्रीहरि भी अति शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ४० ॥

राज्ञो मूर्द्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपरशुरामचरितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

बेटा! सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मण-वधसे भी अधिक पापमय होता है। अब तुम अपने हृदयको अच्युत भगवान् श्रीहरिके प्रति समर्पित कर दो और तीर्थोंका सेवन करके अपने इस महापापका प्रायश्चित्त करो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके पन्द्रहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

परशुरामके द्वारा क्षत्रियोंका संहार और
विश्वामित्रके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन।
संवत्सरं तीर्थचर्यां चरित्वाश्रममाव्रजत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे कुरुनन्दन! पिता जमदग्निने जब अपने पुत्र परशुरामको यह आदेश दिया, तब परशुरामने अपने पिताकी आज्ञाको 'ऐसा ही होगा' कहकर स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक वर्ष तक तीर्थ-स्थलोंकी यात्रा की और फिर अपने आश्रमपर लौट आये ॥१॥

कदाचिद्रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम्।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत् ॥ २ ॥

राजन्! एक दिन जमदग्निकी पत्नी रेणुका जल लानेके लिए गङ्गा नदीके तटपर गयी हुई थी। वहाँ उसने कमल-पुष्पोंकी माला पहने हुए गन्धर्वराज चित्ररथको अप्सराओंके साथ जल-विहार करते हुए देख लिया ॥२॥

विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता।
होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥ ३ ॥

रेणुका गयी तो थी नदीपर जल लानेके लिए, परन्तु अप्सराओंके साथ जल-क्रीड़ा करते हुए गन्धर्वराजकी शोभाको निहारती रह गयी। उधर जलके अभावमें पतिदेवके हवनका समय बीता जा रहा है, इस बातकी उसे सुध ही न रही। उसका मन चित्ररथकी ओर कुछ आकर्षित-सा हो गया था ॥३॥

कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता।

आगत्य कलसं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥४॥

कुछ समय बाद जब रेणुकाको सुध आयी, तब उसने देखा कि हवनका समय तो बीत गया है। जमदग्नि मुनिके शापसे भयभीत होकर शीघ्रतासे वह आश्रमपर पहुँची और जलका कलश मुनिके सामने रखकर हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी थी ॥४॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकृपितोऽब्रवीत्।

घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥५॥

जमदग्नि मुनिसे पत्नीका यह व्यभिचार छिपा न रह सका। अत्यन्त क्रोधसे उन्होंने अपने पुत्रोंको आदेश दिया—‘हे पुत्रो! इस पापिनीको मार डालो।’ कोई भी पुत्र माताके वधकी आज्ञाका पालन न कर सका ॥५॥

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातृन् मात्रा सहावधीत्।

प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः ॥६॥

इसके बाद जमदग्नि मुनिने अपने सबसे छोटे पुत्र परशुरामको, आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले सभी भाइयों सहित उनकी माताका वध करनेका आदेश दिया। परशुराम अपने पिताके योग-तपस्याके प्रभावको भलीभाँति जानते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी माता और भाइयोंका तुरन्त वध कर दिया। (परशुरामजीने विचार किया कि यदि मैं पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता हूँ तो पिताजी क्रुद्ध होकर मुझे शाप प्रदान कर देंगे, पिताकी आज्ञाका पालन करता हूँ तो सन्तुष्ट होकर इन सबको प्राणदान दे सकते हैं।) ॥६॥

वरेणच्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः।

वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितञ्चास्मृतिं वधे ॥७॥

सत्यवतीके पुत्र महर्षि जमदग्नि परशुरामकी पितृ-भक्तिसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें वर माँगनेके लिए कहा। परशुरामने कहा—‘मैं आपसे यही वर चाहता हूँ कि मेरी माता और मेरे सभी भाई

पुनः जीवित हो जाँ और उन सबको इस बातका स्मरण भी न रहे कि मैंने उनका वध किया था' ॥७॥

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा।

पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥८॥

परशुरामजीने जब ऐसा वर माँगा तो उनके सारे भाई और माता इस प्रकारसे उठ बैठे, जैसे कोई सोया व्यक्ति नींद पूरी होनेपर उठकर बैठ जाता है। परीक्षित्! परशुरामजीने अपनी माता और भाइयोंका वध केवल इसलिए किया था कि वे अपने पिताकी तपस्याके प्रभावको भलीभाँति जानते थे ॥८॥

येऽर्जुनस्य सुता राजन् स्मरन्तः स्वपितुर्वधम्।

रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! युद्धक्षेत्रमें कार्तवीर्यार्जुनके जो पुत्र परशुरामके पराक्रमसे भयभीत होकर भाग गये थे, उनके चित्तमें पलभरके लिए भी शान्ति न थी। उन्हें अपने पिताके वधका स्मरण निरन्तर बना रहता था ॥९॥

एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते।

वैरं सिषाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥१०॥

एक बार परशुरामजी वसुमान् आदि अपने भाइयोंके साथ आश्रमसे बाहर वनकी ओर गये हुए थे। इस अवसरका लाभ उठाकर सहस्रबाहु अर्जुनके पुत्र वैर साधनेके उद्देश्यसे जमदग्नि के आश्रममें आ पहुँचे ॥१०॥

दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम्।

भगवत्युत्तमःश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥११॥

उस समय महर्षि जमदग्नि अग्निहोत्र यज्ञशालामें बैठे हुए थे। वे उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिके चिन्तनमें निमग्न थे। पापका निश्चय करके आये हुए सहस्रबाहुके पुत्रोंने जमदग्नि मुनिका ध्यानकी अवस्थामें ही वध कर डाला ॥११॥

याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः ।

प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥ १२ ॥

परशुरामकी माता रेणुका अत्यन्त भयभीत होकर बड़े दीन भावसे उनसे अपने पतिके प्राणोंकी भीख माँग रही थी, परन्तु सहस्रबाहु अर्जुनके नीच और निष्ठुर क्षत्रिय पुत्रोंने उस दीनकी एक न सुनी। उन्होंने बलपूर्वक जमदग्नि मुनिका सिर काटा और उसे लेकर चले गये ॥ १२ ॥

रेणुका दुःखशोकार्त्ता निघ्नन्त्यात्मानमात्मना ।

राम रामेति तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती ॥ १३ ॥

परम साध्वी रेणुका पतिका इस प्रकारसे वध देखकर दुःख और शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो गयी। वह अपने हाथोंसे अपने शरीरको पीटने लगी और जोर-जोरसे 'हे राम! हे राम! प्रिय बेटे राम! शीघ्रतासे आओ!' ऐसा कहते हुए विलाप करने लगी ॥ १३ ॥

तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्त्तवत् स्वनम् ।

त्वरयाश्रममासाद्य ददृशुः पितरं हतम् ॥ १४ ॥

उस समय जमदग्निके पुत्र आश्रमसे बहुत दूर थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने अपनी माताका 'हे राम! हे राम!' का आर्त्तनाद सुना, वे तुरन्त दौड़कर आश्रममें आ गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनके पिताका तो वध कर दिया गया है ॥ १४ ॥

ते

दुःखरोषामर्षात्तिशोकवेगविमोहिताः ।

हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान् स्वर्गतो भवान् ॥ १५ ॥

यह देखकर सभी भाई अत्यन्त दुःखी हुए। दुःख, शोक, क्रोध, असहिष्णुता और मनकी पीड़ाके तीव्र वेगके कारण वे मोहित हो गये और यह कहकर विलाप करने लगे—'हा तात! आप तो साधु थे, धर्ममें सदैव निष्ठा रखनेवाले थे। आप हम सबको छोड़कर स्वर्गमें चले गये।' ॥ १५ ॥

विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम्।

प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥

विलापके पश्चात् परशुरामजीने अपने पिताका शव तो संरक्षणके लिए अपने भाइयोंको सौंप दिया और स्वयं परशु (फरसा) लेकर क्षत्रियोंके अन्तका निश्चय किया ॥१६॥

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम्।

तेषां स शीर्षभी राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥१७॥

परीक्षित! ब्रह्मघाती अधम क्षत्रियोंके कारण माहिष्मतीपुरीकी शोभा तो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी थी और अब परशुरामने उस नगरीके बीचों-बीच सहस्रार्जुनके पुत्रोंके सिरोंका एक बड़ा भारी पर्वत बना दिया ॥१७॥

तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम्।

हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।

समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् हृदान् नव ॥१९॥

परशुरामने सहस्रबाहु अर्जुनके पुत्रोंके रक्तसे एक भयङ्कर नदी बहा दी। वह नदी ब्राह्मणोंसे द्रोह करनेवालोंके हृदयको भयसे काँपा देनेवाली थी। परशुरामने जब देखा कि इस समय क्षत्रिय अन्यायपूर्ण कार्योंमें प्रवृत्त हो रहे हैं, तब उन्होंने अपने पिताके वधको निमित्त बनाकर पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया और कुरुक्षेत्रके समन्तपञ्चक नामक स्थानपर क्षत्रियोंके रक्तसे भरे हुए पाँच सरोवर बना दिये ॥१८-१९॥

पितुः कायेन सन्धाय शिर आधाय बर्हिषि।

सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥२०॥

परशुरामने अपने पिता जमदग्निके सिरको लाकर उनके धड़से जोड़ दिया और उन्हें कुशोंके ऊपर लिटा दिया। इसके बाद उन्होंने यज्ञोंसे सर्वदेवमय और सबके आत्मा भगवान् वासुदेवकी आराधना की ॥२०॥

ददौ प्रार्चीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
 अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्॥ २१ ॥
 अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
 आर्यावर्त्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥ २२ ॥

यज्ञोंके सम्पन्न हो जानेपर परशुरामने दक्षिणाके रूपमें होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और सामगान करनेवाले उद्गाताको उत्तर दिशा प्रदान की। ऋत्विकोंको ईशान (उत्तर-पूर्व), अग्नि (दक्षिण-पूर्व), नैऋत (उत्तर-पश्चिम), और वायु (दक्षिण-पश्चिम) विदिशाएँ प्रदान कर दी। मध्यकी भूमि उन्होंने कश्यपको दे दी। आर्यावर्त्त (हिमालय तथा विन्ध्याचलके पर्वतका मध्य भाग) उपद्रष्टाको दिया और शेष भागको सहयोगी पुरोहितोंमें बाँट दिया॥ २१-२२ ॥

ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ।
 सरस्वत्यां महानद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान्॥ २३ ॥

परशुरामने यज्ञ-अनुष्ठान पूरा करके अवभृथ स्नान (यज्ञके अन्तमें किया जानेवाला स्नान) किया और समस्त पापोंसे मुक्त हो गये। वे ब्रह्मनदी सरस्वतीके तटपर उसी प्रकार शोभायमान हो रहे थे, जैसे बादलोंसे रहित आकाशमें सूर्य विराजमान हों॥ २३ ॥

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम्।
 ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः॥ २४ ॥

परशुरामके द्वारा इस प्रकार सम्मानित किये जानेसे महर्षि जमदग्निको स्मृतिचिह्नरूप सङ्कल्पमय शरीर प्राप्त हो गया और सप्त-ऋषियोंके (कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, भारद्वाज, जमदग्नि) के मण्डलमें वे सातवे ऋषि हो गये॥ २४ ॥

जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः।
 आगामिन्यन्तरे राजन् वर्त्तयिष्यति वै बृहत्॥ २५ ॥

श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन्! परम सामर्थ्यशाली जमदग्निके पुत्र कमलनयन भगवान् परशुराम आगामी मन्वन्तरमें वेदोंका विस्तार करनेवाले सात ऋषियोंमें से एक होंगे॥२५॥

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः।

उपगीयमानचरितः

सिद्धगन्धर्वचारणैः॥२६॥

परशुराम क्षत्रिय-वधादि सभी प्रकारके दण्ड-विधानोंका परित्याग करके बड़े शान्त चित्तसे आज भी महेन्द्र पर्वतपर निवास करते हैं। वहाँ सिद्ध, चारण और गन्धर्व निरन्तर बड़े सम्मानके साथ मधुर स्वरसे उनके यशका गान करते रहते हैं॥२६॥

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।

अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान्॥२७॥

इस प्रकार सर्वशक्तिमान्, विश्वात्मा, सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिने भृगुवंशमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीके भार-स्वरूप राजाओंका अनेक बार संहार किया॥२७॥

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः।

तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम्॥२८॥

महाराज गाधिके पुत्र थे विश्वामित्र, जो ज्वलन्त अग्निके समान महातेजस्वी थे। इन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे क्षत्रियत्वका परित्याग करके ब्रह्मतेजको प्राप्त कर लिया था॥२८॥

विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप।

मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते॥२९॥

हे राजन्! विश्वामित्रके एक सौ एक (स्वयंके सौ और एक देवरात) पुत्र थे। इनमें मध्यम पुत्रका नाम मधुच्छन्दा था। इस सम्बन्धसे अन्यान्य पुत्र भी इसी नामसे कहलाये॥२९॥

पुत्रं कृत्वा शुनःशेफं देवरातञ्च भार्गवम्।

आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम्॥३०॥

विश्वामित्रजीने भृगुवंशमें उत्पन्न अजीगर्तके पुत्र अपने भानजे शुनःशेफको, जिसका दूसरा नाम देवरात भी था, पुत्रके रूपमें स्वीकार कर लिया और अपने औरस पुत्रोंसे कहा—‘तुम सब इसे अपना सबसे बड़ा भाई मानो’ ॥३०॥

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः।

स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात् ॥ ३१ ॥

परीक्षित! यह वही शुनःशेफ है, जिसे रोहितने अपने पिता हरिश्चन्द्रके यज्ञमें बलि देनेके लिए उसके पिता अजीगर्तसे खरीद लिया था। (पिताका कनिष्ठ एवं ज्येष्ठ पुत्रपर स्नेह अधिक था, इसलिए उन्होंने इसे बेच दिया था) जब शुनःशेफको नरबलिके लिए यज्ञशालामें लाया गया, तब विश्वामित्रके उपदेशसे इसने ब्रह्मा आदि देवताओंकी स्तुति की और उनके कृपा-प्रसादसे वह पाश-बन्धनसे मुक्त हो गया ॥३१॥

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः।

देवरात इति ख्यातः शुनःशेफस्तु भार्गवः ॥ ३२ ॥

शुनःशेफ भृगुवंशमें उत्पन्न हुआ था। यज्ञमें देवताओंने इसकी रक्षा करके इसे विश्वामित्रको दे दिया था। अतः विश्वामित्रको देवताओं द्वारा दिये जानेके कारण इनका एक नाम देवरात (देवताओं द्वारा प्रदत्त) भी पड़ गया था। बादमें यह गाधिवंशमें तपस्वी देवरातके नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥३२॥

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत्।

अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रके मधुच्छन्दा नामके जो बड़े उनचास पुत्र थे, उन्हें शुनःशेफको बड़ा भाई मानना अच्छा नहीं लगा। इसपर विश्वामित्रको क्रोध आ गया और उन्होंने उन बड़े भाइयोंको शाप दे दिया, ‘अरे, तुम सब बड़े दुष्ट हो। जाओ, म्लेच्छ हो जाओ।’ ॥३३॥

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्द्धं पञ्चाशता ततः।

यत्रो भवान् सञ्जानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥ ३४ ॥

बड़े भाइयोंके म्लेच्छ हो जानेपर मँझला (बिचौला) भाई मधुच्छन्दा अपने छोटे पचास भाइयोंके साथ पिताके पास आया और कहने लगा—‘आप हमारे पिता हैं। आपके हर आदेशका पालन करनेके लिए हम तैयार हैं। आप हमें छोटा या बड़ा जो भी कहेंगे, हम मान लेंगे ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठं मन्त्रद्रुशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि।

विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ।

ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त्त माम् ॥ ३५ ॥

यह कहकर उन्होंने मन्त्रद्रुश शुनःशेफको अपने बड़े भाईके रूपमें स्वीकार कर लिया और उससे कहा—‘हम सब आपके छोटे भाई हैं, हम आपके आदेशोंका पालन करेंगे।’ इसपर विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए और कहा—‘तुम सबने मुझे पूजनीय मानकर मेरे मान-सम्मानकी रक्षा की है। तुम जैसे योग्य पुत्रोंको पाकर मैं धन्य हो गया। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम सब भी सुपुत्रोंके पिता बनो ॥ ३५ ॥

एष वः कुशिको वीरो देवरातस्तमन्वित।

अन्ये चाष्टकहारीत-जयक्रतुमदादयः ॥ ३६ ॥

हे कुशिकगणो! यह देवरात भी तुम्हारे ही कौशिक गोत्रका है। इसलिए यह वीर मेरा पुत्र है। तुम सब इसके आदेशोंका पालन करना।’ परीक्षित्! इसके अतिरिक्त विश्वामित्रजीके अष्टक, हारीत, जय और क्रतुमान् आदि और भी कई पुत्र थे ॥ ३६ ॥

एवं कौशिकगोत्रन्तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम्।

प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपरशुरामचरितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥

परीक्षित्! इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंसे कौशिक गोत्रमें कई प्रकारकी विविधता आ गयी। कुछ विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त हुए, कुछ अनुगृहीत हुए और कोई एक पुत्ररूपमें अङ्गीकृत हुआ। देवरात सारे भाइयोंमें सबसे बड़ा था, इसलिए वह देवरात-प्रवरके नामसे विख्यात हुआ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके सोलहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

क्षत्रवृद्ध, रजि आदि राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीबादरायणिरुवाच—

यः पुरुरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः।

नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी राभश्च वीर्यवान्॥१॥

अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृद्धोऽन्वयम्।

क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः॥२॥

काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत्।

शुनकः शौनको यस्य बह्वचप्रवरो मुनिः॥३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्! राजेन्द्र पुरुरवाका जो आयु नामका पुत्र था, उसके अत्यन्त शक्तिशाली पाँच पुत्र हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध रजि, राभ या रम्भ और अनेना। हे महाराज परीक्षित्! अब मैं क्षत्रवृद्धके वंशके विषयमें बतला रहा हूँ, सुनो! क्षत्रवृद्धके पुत्र थे सुहोत्र। सुहोत्रके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश और गृत्समद। गृत्समदसे शुनकका जन्म हुआ। इन्हीं शुनकके पुत्र बह-ऋच-प्रवर (ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ) मुनिवर शौनक हुए॥१-३॥

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमः पिता।

धन्वन्तरिर्दीर्घतमस आयुर्वेदप्रवर्त्तकः।

यज्ञभुवासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः॥४॥

काश्यका पुत्र काशि था। काशिका राष्ट्र और राष्ट्रका पुत्र दीर्घतमा था। दीर्घतमाके पुत्रका नाम था धन्वन्तरि। ये धन्वन्तरि आयुर्वेद-शास्त्रके प्रवर्त्तक हुए। ये भगवान् वासुदेवके अंशसे उत्पन्न और यज्ञभागके भोक्ता हैं। इनके स्मरणमात्रसे सब प्रकारकी व्याधियाँ मिट जाती हैं॥४॥

तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः।

दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्दन इति स्मृतः॥५॥

धन्वन्तरिके पुत्रका नाम केतुमान् था और केतुमान्का पुत्र था भीमरथ। भीमरथसे दिवोदास उत्पन्न हुआ। दिवोदासका पुत्र द्युमान् था। द्युमान्का एक नाम प्रतर्दन भी है॥५॥

स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः।

तथा कुवल्याश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः॥६॥

परीक्षित्! इस द्युमान्को शत्रुजित्, वत्स, ऋतध्वज और कुवल्याश्वके नामसे भी जाना जाता है। द्युमान्से अलर्क आदि कई पुत्रोंने जन्म लिया॥६॥

षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च।

नालर्कादपरो राजन् बुभुजे मेदिनी युवा॥७॥

राजन्! द्युमान्के पुत्र अलर्कने छियासठ हजार वर्षोंसे अधिक समय तक युवक रहकर ही पृथ्वीपर शासन किया। अलर्कके अतिरिक्त किसी अन्यने युवकके रूपमें इतने अधिक समयतक राज्य नहीं भोगा॥७॥

अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ निकेतनः।

धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत॥८॥

अलर्कके पुत्रका नाम सन्तति था। सन्ततिसे सुनीथ, सुनीथसे निकेतन, निकेतनसे धर्मकेतु और धर्मकेतुसे सत्यकेतुने शौक्र-परम्परासे जन्म ग्रहण किया॥८॥

धृष्टकेतुस्ततस्तस्मात् सुकुमारः क्षितीश्वरः।

वीतिहोत्रोऽस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः॥९॥

हे राजन्! सत्यकेतुसे धृष्टकेतु और धृष्टकेतुसे पृथ्वीपति (राजा) सुकुमारने जन्म ग्रहण किया। सुकुमारका पुत्र वीतिहोत्र था। वीतिहोत्रसे भर्ग और भर्गसे भार्गभूमिका जन्म हुआ॥९॥

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः।

राभस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥ १० ॥

राजन्! मैंने काशिवंशमें उत्पन्न जिन राजाओंके वंशका वर्णन किया है, वे सब काशिके प्रपितामह क्षत्रवृद्धके भी वंशधर माने जाते हैं। राभके पुत्रका नाम था रभस। रभसका पुत्र गम्भीर और गम्भीरका पुत्र अक्रिय हुआ ॥१०॥

तद्गोत्रं ब्रह्मविज्जज्ञे शृणु वंशमनेनसः।

शुद्धस्ततः शुचिस्तस्माच्चित्रकृद्धर्मसारथिः ॥ ११ ॥

अक्रियका ब्रह्मवित् नामका एक पुत्र था। परीक्षित! अब तुम अनेनाके वंशके बारेमें सुनो। अनेनाके पुत्रका नाम शुद्ध था। शुद्धसे शुचि और शुचिसे चित्रकृत्ने जन्म लिया। चित्रकृत्को धर्मसारथि भी कहते हैं ॥११॥

ततः शान्तरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान्।

रजेः पञ्चशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम् ॥ १२ ॥

धर्मसारथिसे शान्तरायने जन्म ग्रहण किया। शान्तराय आत्मज्ञानी होनेके कारण कृतकृत्य थे। इन्होंने मुक्तिकी प्राप्तिके लिये बहुत-से कर्मोंका अनुष्ठान किया था। इसलिये इन्हें पुत्र-प्राप्तिकी कामना ही न थी। आयुके पुत्र रजिके पाँच सौ पुत्र थे, जो अत्यन्त बलशाली थे ॥१२॥

देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद्विवम्।

इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः।

आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः ॥ १३ ॥

देवताओंकी प्रार्थनापर रजिने दैत्योंका वध किया और इन्द्रको स्वर्गका राज्य प्रदान किया। इन्द्र अपने प्रह्लाद आदि अपने शत्रुओंसे भयभीत रहते थे, इसलिए उन्होंने वह राज्य रजिको पुनः लौटा दिया और रजिके चरण पकड़कर आत्म-समर्पण कर दिया ॥१३॥

पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः।

त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः ॥ १४ ॥

कालक्रमसे जब रजिकी मृत्यु हो गयी, तब इन्द्रने रजिके पुत्रोंसे अपनी स्वर्ग-पुरीका राज्य लौटानेके लिए कहा। रजिके पुत्रोंने राज्य तो नहीं लौटाया, किन्तु यज्ञ-भाग लौटानेके लिये तैयार हो गये॥१४॥

गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः।

अवधीद्भ्रंशितान् मार्गात्र कश्चिदवशेषितः॥१५॥

इन्द्रकी प्रार्थनापर देवगुरु बृहस्पतिने रजिके पुत्रोंकी बुद्धिको भ्रष्ट करनेके लिए अभिचारपूर्वक अग्निमें आहुति डाली। इससे वे नैतिकतापूर्ण मार्गसे भ्रष्ट हो गये। बलवान् इन्द्रने उसी समय अनायास ही उनका वध कर डाला। रजिके पाँच सौ पुत्रोंमें-से एक भी न बचा॥१५॥

कुशात् प्रतिः क्षात्रवृद्धात् सञ्जयस्तत्सुतो जयः।

ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यबलो नृपः॥१६॥

क्षत्रवृद्धका पौत्र कौश था। कौशसे प्रतिका जन्म हुआ। प्रतिसे सञ्जयने और सञ्जयसे जयका जन्म हुआ। जयसे कृत और कृतसे राजा हर्यबलका जन्म हुआ॥१६॥

सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः।

सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः।

क्षत्रवृद्धान्वया भूपा इमे शृण्वथ नाहुषान्॥१७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे आयुवंशवर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

हर्यबलसे सहदेव, सहदेवसे हीन, हीनसे जयसेन और जयसेनसे संकृतिने जन्म लिया। संकृतिका पुत्र क्षात्रधर्म-परायण वीर-शिरोमणि जय था। क्षत्रवृद्धके वंशमें इन्हीं राजाओंने जन्म ग्रहण किया था। अब नहुषके वंशके बारेमें बतलाता हूँ, सुनो!॥१७॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके सत्रहवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

राजा ययातिका चरित्र

श्रीशुक उवाच—

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः ।
षडिमे नहुषस्यासन्निद्रियाणीव देहिनः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जिस प्रकार देहधारी जीवोंकी छहः इन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार राजा नहुषके छहः पुत्र थे—यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति ॥१॥

राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुषः आत्मानं नावबुध्यते ॥ २ ॥

राजा नहुष अपने सबसे बड़े पुत्र यतिको राज्य देना चाहते थे, किन्तु उसने राज्य लेनेसे मना कर दिया, क्योंकि वह राज्य भोगनेका परिणाम जानता था। वह जानता था कि जो व्यक्ति एक बार राज्य-अधिकारमें प्रवेश कर जाता है, वह आत्म-स्वरूपको नहीं जान सकता ॥२॥

पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणादिद्वजैः ।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥ ३ ॥

राजा नहुषने जब देवराज इन्द्रकी पत्नी शचीके साथ धृष्टतापूर्ण व्यवहार किया, तब अगस्त्य आदि ऋषियोंके शापसे वे स्वर्गसे पतित हो गये और अजगर योनिको प्राप्त हुए। ऐसेमें राजा नहुषका पदभार उनके पुत्र ययातिने सँभाला ॥३॥

चतसृष्वदिशदिक्षु भ्रातृन् भ्राता यवीयसः ।
कृतदारो जुगोपोर्वी काव्यस्य वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

ययातिने अपने छोटे चारों भाइयोंको चार दिशाओंके संरक्षणके लिए नियुक्त कर दिया और स्वयं शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे विवाह करके पृथ्वीपर शासन करने लगे ॥४॥

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मर्षिर्भगवान् काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः।

राजन्यविप्रयोः कस्माद्विवाहः प्रातिलौमिकः ॥५॥

महाराज परीक्षितने कहा—हे भगवन्! शुक्राचार्य तो अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मण थे और नहुष-पुत्र ययाति क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुए थे। तब ब्राह्मण और क्षत्रियके बीच यह विपरीत विवाह किस प्रकार हुआ? ॥५॥

श्रीशुक उवाच—

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका।

सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥६॥

देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले।

व्यचरत् कलगीतालिनलिलीपुलिनेऽबला ॥७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा बड़ी अभिमानी एवं क्रोधी स्वभावकी थी। एक दिन वह अपने गुरुकी पुत्री देवयानी और हजारों सखियोंके साथ अपनी राजधानीके अन्तःपुरके श्रेष्ठ उद्यानमें विचरण कर रही थी। यह वाटिका सुन्दर पुष्पोंसे लदी हुई थी। वहाँ एक सरोवर भी था, जिसमें कमल खिले हुए थे। उनपर भ्रमर मधुर स्वरसे गुञ्जार कर रहे थे। उनके स्वरसे सरोवर गूँज रहा था ॥६-७॥

ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः।

तीरे न्यस्य दुकूलानि विजहुः सिञ्चतीर्मिथः ॥८॥

सरोवरको देखकर कमलनयना कन्याओंने अपने वस्त्र तो उतारकर नदीके तटपर रख दिये और एक-दूसरेपर जल उलीचती हुई जलविहार अर्थात् जलमें क्रीड़ा करने लगीं ॥८॥

वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम्।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः ॥ ९ ॥

कन्याएँ जल-विहार कर ही रही थीं कि उन्हें पार्वतीके साथ बैलपर सवार होकर शिव जाते हुए दिखायी दिये। उन्हें देखकर सभी कन्याएँ लज्जासे सिमट गयीं और उन सबने तुरन्त जलसे बाहर निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये ॥ ९ ॥

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत्।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥ १० ॥

शर्मिष्ठाने अनजानेमें गुरुपुत्री देवयानीके वस्त्रको अपना समझकर पहन लिया। इसपर देवयानी क्रोधसे अभिभूत हो गयी और कहने लगी ॥ १० ॥

अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम्।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥ ११ ॥

‘अहो! जरा इस दासीकी करतूतको तो देखो! इसने कैसा अनुचित कार्य किया है। सारे शिष्टाचार ताकपर रख डाले। कुतिया जैसे यज्ञके लिए रखे हविष्यको उठा ले जाय, वैसे ही इसने मेरे वस्त्र पहन लिये हैं ॥ ११ ॥

यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाः प्रदर्शितः ॥ १२ ॥

यान् वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥ १३ ॥

वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण अपनी तपस्याके बलसे इस दिखायी देनेवाले जगत्की सृष्टि करते हैं, जो परम पुरुष भगवान्के मुख हैं, जो अपने हृदयमें ज्योतिर्मय परमात्माको धारण किये रहते हैं और जिन्होंने सभीके लिये मङ्गलमय पथ अर्थात् वैदिक मार्गका निदर्शन किया

है, बड़े-बड़े लोकपालों, देवराज इन्द्र, ब्रह्मा, यहाँतक कि लक्ष्मीके भी एकमात्र आश्रय परमपावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी वन्दना-पूजा करते हैं—वे ब्राह्मण ही सभीके एकमात्र पूजनीय हैं और उन्हीं ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ हम भृगुवंशी ब्राह्मण हैं। इस दासीका पिता वृषपर्वा पहले तो असुर है और दूसरे मेरे पिताका शिष्य है, तब भी इस दुष्टाने मेरे वस्त्र वैसे ही पहन लिये, जैसे कोई शूद्र वेदोंको धारण कर ले' ॥१२-१४॥

एवं क्षिपन्ती शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत।

रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥१५॥

देवयानीके इन निष्ठुर वचनोंसे शर्मिष्ठाके हृदयको बहुत आघात पहुँचा। क्रोधाविष्ट होकर वह आहत सर्पिणीकी भाँति बार-बार गहरी साँसे छोड़ने लगी और अपने दाँतोंसे निचले होठको दबाती हुई बड़े तिरस्कारके साथ गुरुपुत्री देवयानीसे कहने लगी— ॥१५॥

आत्मवृत्तमविज्ञाय कथ्यसे बहु भिक्षुकि।

किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा ॥१६॥

‘अरी भिखारिन्! अपने चरित्रोंको जाने-बूझे बिना व्यर्थ ही इतना क्यों बोल रही हो। बिना कारणके अपनी इतनी प्रशंसा किये जा रही हो। कौए और कुत्ते जैसे रोटीके टुकड़ोंके लिये हमारे घरके द्वारपर प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही क्या तुम भी अपनी जीविकाके लिए हमारे घरोंकी ओर नहीं ताकती रहती?’ ॥१६॥

एवम्विधैः सुपुरुषैः क्षिप्त्वाचार्यसुतां सतीम्।

शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वासश्चादाय मन्युना ॥१७॥

शर्मिष्ठाने भी इसी प्रकार कठोर एवं अप्रिय वचनोंसे गुरुपुत्री देवयानीका तिरस्कार किया। साथ ही क्रोधसे उत्तेजित होकर उसके वस्त्र छीन लिये और उसे कुएँमें धकेल दिया ॥१७॥

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन्।

प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह॥१८॥

देवयानीको कुँमें डालकर शर्मिष्ठा अपने घर चली गयी। इधर राजा ययाति शिकार खेलते-खेलते प्याससे व्याकुल होकर संयोगवश इसी कुँके पास आ गये। जलकी आवश्यकतासे जब उन्होंने कुँमें झाँका तो उन्हें देवयानी दिखायी दी॥१८॥

दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे।

गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः॥१९॥

देवयानी निर्वस्त्र थी। राजा ययातिने देवयानीको अपना उत्तरीय वस्त्र दे दिया और दयावश उसका हाथ पकड़कर उसे कुँसे बाहर निकाल लिया॥१९॥

तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा।

राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरजयः॥२०॥

हस्तग्राहोऽपरो माभूद् गृहीतायास्त्वया हि मे।

एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः॥२१॥

देवयानीने प्रेमभरे वचनोंसे राजा ययातिसे कहा—हे शत्रुओंकी पुरियोंको जीतनेवाले राजन्! मैं शुक्राचार्यकी पुत्री हूँ। आपने आज जो मेरा यह हाथ पकड़ा है, तो हे वीर! अब इस हाथको कोई और न पकड़े अर्थात् पति-पत्नीके रूपमें आज हमारा जो इस प्रकार सम्बन्ध हुआ है, इसे ईश्वरकी कृपा ही समझिए। इस सम्बन्धके होनेमें मेरा, आपका या इस जगत्के किसी मनुष्यका कोई हाथ नहीं है॥२०-२१॥

यदिदं कूपमग्नाया भवतो दर्शनं मम।

न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज।

कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्यमशपं पुरा॥२२॥

मैं तो कुँमें गिरी पड़ी थी और इस अवस्थामें मेरा आपके साथ मिलन हुआ है, यह विधिका विधान ही है। हे महाभुज!

देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचके शापके कारण कोई ब्राह्मण पुत्र मेरा पति नहीं हो सकता। (बृहस्पतिके पुत्र कच देवयानीके पितासे मृतसञ्जीवनी विद्या सीखा करते थे। शिक्षा पूरी होनेपर देवयानीने कचके समक्ष विवाहका प्रस्ताव रखा। 'गुरुपुत्री मेरे लिये पूज्य है'—ऐसा विचार कर कचने उस विवाह-प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। तब देवयानीने कचको उसकी प्राप्त की हुई विद्याके निष्फल होनेका शाप दे दिया। इसपर कचने भी उसे शाप दे दिया कि उसका पति कभी भी ब्राह्मण नहीं हो सकता।)॥२२॥

ययातिरनभिप्रेतं

दैवोपहतमात्मनः।

मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः॥२३॥

शास्त्र-विरुद्ध (प्रतिलोम विवाह—उच्च कुलकी कन्याका निम्न कुल-जातके वरसे विवाह) होनेके कारण यद्यपि ययातिको यह सम्बन्ध ठीक नहीं लगा, फिर भी दैवका उपहार समझकर उन्होंने उस सम्बन्धको अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। वैसे भी उनका चित्त देवयानीकी और आकर्षित हो गया था॥२३॥

गते राजनि सा धीरे तत्र स्म रुदती पितुः।

न्यवेदयत् ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम्॥२४॥

इसके बाद विद्वान् राजा ययाति चले गये। देवयानी रोती-कलपती हुई अपने घर आयी और अपने पिता शुक्राचार्यसे शर्मिष्ठाके कृत्यका सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥२४॥

दुर्मना भगवान् काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन्।

स्तुवन् वृत्तिञ्च कापोर्ती दुहित्रा स ययौ पुरात्॥२५॥

यह सब सुनकर शुक्राचार्य बहुत उदास हो गये। वे पुरोहित-कार्यकी निन्दा करने लगे, वे सोचने लगे कि इस कामसे तो कबूतरके समान खेतसे बीज बीनकर खा लेना (उञ्छवृत्ति) अच्छा है। अतः वे अपनी कन्या देवयानीको साथ लेकर नगरसे निकल चले॥२५॥

वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम्।

गुरुं प्रसादयन् मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि॥ २६ ॥

वृषपर्वाको जब यह सब पता चला, तो उन्हें आशङ्का हुई कि गुरुदेव कहीं उन्हें शाप न दे दें या कहीं शत्रुओंको जीत न दिलवा दें। ऐसा सोचकर वे बाहर आ गये तथा गुरुकी प्रसन्नताके लिए रास्तेके बीचमें ही उनके चरणोंमें गिर पड़े॥ २६ ॥

क्षणार्द्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः।

कामोऽस्याः क्रियतां राजत्रैनां त्यक्तुमिहोत्सहे॥ २७ ॥

शुक्राचार्यका क्रोध तो आधे ही क्षणका था। उन्होंने वृषपर्वासे कहा—‘हे राजन्! मैं अपनी पुत्री देवयानीको इस संसारमें अकेला नहीं छोड़ सकता और न ही उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ। इसलिए यदि तुम चाहते हो कि मैं लौट चलूँ, तो मेरी पुत्री देवयानी जैसा चाहती है, वैसा ही तुम करो।’॥ २७ ॥

तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम्।

पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु॥ २८ ॥

शुक्राचार्यकी बात सुनकर वृषपर्वा देवयानीकी मनोकामना पूरी करनेके लिए उसके वचनोंकी प्रतीक्षा करने लगे, तब देवयानी अपने मनकी बात कहने लगी—‘मेरे पिता जिससे भी मेरा विवाह करें और जहाँ भी मैं जाऊँ, सखी शर्मिष्ठा अपनी सखियोंके साथ वहीं मेरी दासीके रूपमें चले।’॥ २८ ॥

पित्रा दत्ता देवयान्यै शर्मिष्ठा सानुगा तदा।

स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम्।

देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत्॥ २९ ॥

शुक्राचार्य यदि कुपित होते हैं, तो मुझपर बड़ा भारी सङ्कट आ जाएगा और यदि प्रसन्न होते हैं, तो मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा—इस प्रकार विचार करके वृषपर्वाने शुक्राचार्यका आदेश स्वीकार कर लिया और दासके समान उनकी सेवा करने लगे।

उन्होंने अपनी कन्या शर्मिष्ठाको देवयानीको सौंप दिया। पिताके आदेशानुसार शर्मिष्ठा भी अपनी हजार सखियोंके साथ देवयानीकी सेवा करने लगी॥२९॥

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना।

तमाह राजन् शर्मिष्ठामथास्तल्पे न कर्हिचित्॥३०॥

शुक्राचार्यने देवयानीका विवाह राजा ययातिके साथ कर दिया और ययातिसे कहा—‘राजन्! आप इस शर्मिष्ठाको कभी भी अपनी शय्यापर मत आने देना।’॥३०॥

विलोक्यौशनसीं राजन् शर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित्।

तमेव वब्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती॥३१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! कुछ समय बाद जब देवयानीने एक सुन्दर पुत्रकी प्राप्ति की, तब उसे पुत्रवती देखकर एक दिन शर्मिष्ठा अपने ऋतुकालमें सखी देवयानीके पति ययातिके पास आयी और एकान्तमें उनसे पुत्र-प्राप्तिके लिए प्रार्थना करने लगी॥३१॥

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मञ्चावेक्ष्य धर्मवित्।

स्मरन् शुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत॥३२॥

जब राजकुमारी शर्मिष्ठाने सन्तानके लिए प्रार्थना की, तब धर्मवित् राजा ययातिने शर्मिष्ठाकी प्रार्थनाको धर्मसङ्गत माना, परन्तु साथ ही उन्हें शुक्राचार्यके वचनोंका भी स्मरण था। फिर भी ‘यह ईश्वरकी ही प्रेरणा है, जो होना होगा, हो जायगा।’—यह सोचकर उन्होंने शर्मिष्ठाके साथ सङ्गमकी बात स्वीकार कर ली॥३२॥

यदुञ्च तुर्वसुञ्चैव देवयानी व्यजायत।

द्रुह्युञ्चानुञ्च पूरुञ्च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥३३॥

देवयानीके दो पुत्र हुए—यदु और तुर्वसु तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके तीन पुत्र हुए—द्रुह्यु, अनु और पूरु॥३३॥

गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी।

देवयानी पितुर्गोहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता॥३४॥

पुत्रोंके संस्कार-कालमें मानिनी देवयानीको जब अन्यान्य ब्राह्मणोंसे यह पता चला कि शर्मिष्ठाको पुत्रोंकी प्राप्ति उसके पतिसे ही हुई है, तब वह क्रोधसे मूर्च्छित-सी होकर अपने पिताके घर चली गयी ॥३४॥

प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्।

न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥ ३५ ॥

राजा ययाति अत्यन्त विषयी थे। वे पत्नीके पीछे-पीछे वहाँ तक चले गये। उन्होंने देवयानीको मीठी-मीठी बातोंसे, अनुनय-विनयसे और यहाँतक कि चरण दबाकर भी मनानेका प्रयास किया, परन्तु मना न सके ॥३५॥

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपुरुष।

त्वां जराविशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥ ३६ ॥

शुक्राचार्यने भी क्रोधमें भरकर ययातिसे कहा—‘अरे मूर्ख! मिथ्यावादी, स्त्रीकामी! तूने बड़ा अनीतिपूर्ण काम किया है। जा! तेरे शरीरमें वह बुढ़ापा प्रवेश कर जाय, जो मनुष्योंको कुरूप बना देता है।’ ॥३६॥

श्रीययातिरुवाच—

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते।

व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥ ३७ ॥

राजा ययातिने कहा—‘हे परमपूज्य! हे ब्राह्मणदेव! आपकी पुत्रीके साथ मेरी विषय-भोगकी कामना अभी तृप्त नहीं हुई है। यह अभिशाप आपकी पुत्रीके लिए भी अनिष्टकारी है।’ राजा ययातिके इन वचनोंसे शुक्राचार्यजी कुछ शान्त हुए और कहा—‘जाओ! जो अपनी इच्छासे तुम्हें अपना यौवन देनेके लिए तैयार हो जाय, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो।’ ॥३७॥

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत।

यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥ ३८ ॥

शुक्राचार्यने जब यौवन और बुढ़ापेके विनिमयकी ऐसी व्यवस्था कर दी, तब राजा ययाति अपनी राजधानी लौट आये और अपने सबसे बड़े पुत्र यदुसे कहने लगे—‘प्रिय पुत्र! तुम अपना यौवन मुझे प्रदान कर दो और मुझसे मेरा बुढ़ापा ले लो॥३८॥

मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम्।

वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः॥३९॥

बेटा! मैं विषय-भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ। अतः तुम मेरे प्रति दया करके अपने नाना द्वारा दी हुई वृद्धावस्थाको ले लो और मुझे अपनी युवावस्था प्रदान कर दो, जिससे मैं कुछ और वर्षोंतक सुख-भोग कर सकूँ।॥३९॥

श्रीयदुरुवाच—

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव।

अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः॥४०॥

यदुने कहा—‘पिताजी! यौवनकालमें ही आपको जो बुढ़ापा प्राप्त हुआ है, उसे लेकर जीनेका कोई उत्साह मेरे मनमें नहीं है, क्योंकि जबतक विषय-भोगोंका सुख प्राप्त न हो जाय, तबतक किसीको भी उनसे वैराग्य नहीं होता।’ [परम धर्मकी अपेक्षासे यदुने सनकादिके समान राजाज्ञा-पालनरूप प्राकृत धर्म (पिता ब्रह्माके आदेश) का त्याग कर दिया था। इस स्थलपर यदुका उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करना था, जिससे उनका प्राकट्य शीघ्रातिशीघ्र हो सके। अतः यदुकी अस्वीकृति अधार्मिक नहीं है।]॥४०॥

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानदुश्च भारत।

प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः॥४१॥

परीक्षित्! पिता ययातिने इसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे भी अपनी वृद्धावस्थाके बदले उनका यौवन माँगा, किन्तु वे सभी धर्म-ज्ञानसे शून्य थे। उन्हें यह अनित्य यौवन ही नित्य प्रतीत हो रहा था, इसलिए उन्होंने पिताकी प्रार्थना माननेसे मना कर दिया॥४१॥

अपृच्छत् तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम्।

न त्वमग्रजवद्वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

शर्मिष्ठासे उत्पन्न ययातिका सबसे छोटा पुत्र पूरु गुणोंकी दृष्टिसे सबसे श्रेष्ठ था। राजा ययातिने उसे बुलाकर कहा—‘प्रिय पुत्र! अपने बड़े भाइयोंके समान मेरी अवज्ञा करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है। तुम मेरी आज्ञा मत टालना।’ ॥४२॥

श्रीपूरुवाच—

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।

प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम् ॥४३॥

पुरुने कहा—‘हे नरश्रेष्ठ! पिताकी कृपासे जीवको वह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, जिससे वह भगवान्को भी प्राप्त कर सकता है। इस संसारमें भला ऐसा कौन होगा, जो ऐसी देहको उत्पन्न करनेवाले पितासे उन्नत हो सके? उनकी कृपासे तो स्वर्गादिकी प्राप्ति हो सकती है ॥४३॥

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।

अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः ॥४४॥

जो पुत्र पिताके मनकी इच्छाको बिना कहे ही पूरा कर दे, वही तो उत्तम पुत्र होता है। कहनेपर श्रद्धाके साथ कार्यको पूरा करनेवाला मध्यम पुत्र होता है। कहे जानेके बाद तथा बिना श्रद्धासे कार्यको करनेवाला पुत्र अधम पुत्र कहलाता है और जो अपने पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह तो पुत्र नहीं मल-मूत्र ही है।’ ॥४४॥

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णज्जरां पितुः।

सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुषे नृप ॥४५॥

परीक्षित्! इस प्रकार कहकर पुरुने बड़े हर्षके साथ अपने पिताकी जरावस्थाको ले लिया और अपना यौवन उन्हें दे दिया।

राजा ययाति अपने पुत्रसे यौवनको प्राप्त करके पहलेके समान ही विषयोंका भोग करने लगे ॥४५॥

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत् पालयन् प्रजाः ।

यथोपजोषं विषयान् जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥ ४६ ॥

राजा ययाति सातों द्वीपोंके अधिपति थे। एक पिताकी भाँति वे अपनी प्रजाका पालन एक पिताकी भाँति करते थे। अपनी सशक्त इन्द्रियोंसे समयपर प्राप्त भोगोंका वे बिना किसी बाधाके इच्छानुसार भोग करते थे, पुत्रका यौवन ग्रहण करनेसे उनकी इन्द्रियाँ विकल नहीं होती थीं अर्थात् अक्षत रहती थीं ॥४६॥

देवान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः ।

प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥ ४७ ॥

उनकी परम-प्रियतमा देवयानी भी सर्वदा अपने मन, वाणी, शरीर और अन्यान्य वस्तुओंसे अपने पतिको एकान्तमें आनन्दित करने लगी ॥४७॥

अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।

सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम् ॥ ४८ ॥

राजा ययातिने प्रचुर दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे सभी वेदोंके सार, सर्वदेवस्वरूप, यज्ञेश्वर, परमपुरुष भगवान् श्रीहरिकी आराधना की ॥४८॥

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः ।

नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार आकाशमें कभी तो अधिक बादल दिखायी देते हैं और कभी कुछ भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार भगवान् वासुदेव द्वारा रचित यह जगत् (स्थितिकालमें) नानारूपोंमें प्रतिभात होता है। (वस्तुतः नानात्व नहीं है, क्योंकि प्रलयकालमें सर्वस्व ही कारणरूपी भगवान्में प्रवेश हो जाता है। यह जगत् स्वप्न, माया एवं मनोरथ (मनोराज्य) के समान अस्थायी है, स्थायी नहीं।) ॥४९॥

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुः ॥ ५० ॥

भगवान् वासुदेव सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं। वे सूक्ष्म एवं निर्लेप होनेके कारण दुर्विज्ञेय हैं। वे सभीके आश्रय-स्वरूप हैं। उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् वासुदेवको अपने हृदयमें धारण करके सप्तद्वीपाधिपति राजा ययाति समस्त भोग वासनाओंसे रहित हो गये और इस प्रकार निष्काम भावसे उन्होंने भगवान्की आराधना की। वे दास्य-भावके आकाङ्क्षी थे ॥ ५० ॥

एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम्।
विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीययातिचरितं नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार ययातिने पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन—इन छह बहिर्मुख इन्द्रियोंसे अपनी इच्छानुसार एक हजार वर्षोंतक विषय भोग किया, किन्तु फिर भी पृथ्वीके एकछत्र सम्राट्को भोगोंसे तृप्ति न हो सकी ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके अष्टारहवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकोनविंशोऽध्यायः

राजा ययातिका गृहत्याग

श्रीशुक उवाच—

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपहवमात्मनः।

बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! राजा ययाति इस प्रकार स्त्रीके वशीभूत होकर विषय-भोगोंमें लीन रहे। कालक्रमसे जब उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनका तो बहुत अनिष्ट हो चुका है। तब परम वैराग्यसे युक्त होकर वे अपनी प्रिय पत्नी देवयानीसे एक कथा कहने लगे ॥ १ ॥

शृणु भार्गव्यमुं गाथां मद्विधाचरितां भुवि।

धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥ २ ॥

(ययातिने कहा—) हे भृगुनन्दिनी! पृथ्वीपर अपने ही जैसे एक विषयीकी सत्य जीवन-गाथा मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो! ऐसे ग्राम्य विषयी लोगोंके कल्याणके लिए धीर और जितेन्द्रिय वनवासी पुरुष बड़े दुःखके साथ विचार किया करते हैं ॥ २ ॥

बस्त एको वने कश्चिद्विचिन्वन् प्रियमात्मनः।

ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥ ३ ॥

एक बकरा था। वह वनमें अकेला ही अपने मनके अनुकूल वस्तुएँ खोजता हुआ घूम रहा था। तभी उसने देखा कि अपने कर्मोंके फलस्वरूप एक बकरी असहाय अवस्थामें कुँएमें गिरी पड़ी है ॥ ३ ॥

तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन्।

व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसि ॥ ४ ॥

बकरा बड़ा कामुक था। वह बकरीको कुँएसे बाहर निकालनेका उपाय सोचने लगा। उसने अपने सींगोंके अग्र-भागसे कुँएके पासकी मिट्टी खोद डाली और उस बकरीके निकलनेका मार्ग बना दिया ॥४॥

सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः ॥५॥
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठ मीढ्वांसं याभकोविदम्।
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्द्धनः।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥६॥

सुन्दर नितम्बोंवाली बकरी जब कुँएसे बाहर निकली, तब उसने उस बकरेका ही पति रूपमें वरण करना चाहा। बकरा अति हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर दाढ़ी-मूँछोंवाला, सम्भोग-कलामें निपुण, बड़ा प्यारा कुल मिलाकर बकरियोंको सुख देनेवाला था। जब उस बकरीने उसे अपना पति बना लिया, तब अन्य बकरियाँ भी उसे ही अपना पति बनानेकी इच्छा करने लगीं। पतिकी खोजमें तो वे पहलेसे ही थीं। इधर वह श्रेष्ठ बकरा भी कामरूपी पिशाचसे ग्रस्त था। उसने अकेले ही अनेक बकरियोंकी कामभावनाको बढ़ाते हुए उनके साथ विहार किया। इस प्रकार वह अपनी सुध-बुध खो बैठा और अपने स्वरूपकी उपलब्धि न कर सका ॥५-६॥

तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया।
विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद्बस्तकर्म तत् ॥७॥

कुँएसे निकाली हुई प्रियाने जब यह देखा कि उसका पति तो अपनी दूसरी प्रियतमा बकरियोंके साथ विहार कर रहा है, तब उससे उसका यह कृत्य सहन नहीं हुआ ॥७॥

तं दुर्हदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम्।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥८॥

बकरी अपने पतिके अश्लील आचरणसे बहुत दुःखी हो गयी। उसने विचार किया कि मेरा पति तो मित्रके वेशमें वास्तवमें

शत्रुका ही काम कर रहा है। इन्द्रियोंकी सेवा करनेवाले इस पतिका भरोसा करना ठीक नहीं है। इसका बन्धुत्व तो कुछ क्षणोंका ही है और वह बकरी अपने कामी पतिका त्याग करके अपने पालनेवालेके पास चली गयी॥८॥

सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम्।

कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत् पथि सन्धितुम्॥९॥

वह स्त्री-कामी बकरा अत्यन्त दुःखी होकर उस बकरीको प्रसन्न करनेके लिये उसके पीछे 'में-में' करता हुआ भागा, परन्तु बहुत प्रयासके बाद भी मार्गमें उसे मना नहीं पाया॥९॥

तस्य तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिन्नद्रुषा।

लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित्॥१०॥

वह बकरी अपने पालनेवालेके पास पहुँची, जो एक ब्राह्मण था। बेटीकी व्यथा सुनकर उस ब्राह्मणने क्रोधमें आकर बकरेके लटकते हुए लम्बे अण्डकोषको काट दिया। ब्राह्मण ऐसे नाना प्रकारके उपायोंका जानकार था। जब बकरेने उसकी पुत्रीके ही हितकी दुहाई देकर बहुत अनुरोध किया, तब उसने अपनी पुत्रीके हितके लिए बकरेके उस अण्डकोषको पुनः जोड़ भी दिया॥१०॥

संबद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया।

कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति॥११॥

भद्रे! जब उसका अण्डकोष जुड़ गया, तब वह बकरा कुँसे निकली प्रियतमा बकरीके साथ फिरसे विषय-भोग करनेमें लग गया। इसी प्रकार बहुत समय बीत गया, तब भी कामभोगसे उसकी आज तक सन्तुष्टि न हुई॥११॥

तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः।

आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया॥१२॥

हे सुन्दर भौहोंवाली! हे प्रिये! मेरी दशा भी उस बकरेके समान ही है। तुम्हारे प्रेम-पाशमें बँधा हुआ मैं, अत्यन्त दीन-हीन

हो गया हूँ। तुम्हारी मायासे मोहित होकर मैं आत्मस्वरूपको भी भूल गया हूँ॥१२॥

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥१३॥

इस पृथ्वीपर जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सब मिलकर भी उस व्यक्तिके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओंके प्रहारसे आहत हो चुका है॥१३॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूयः एवाभिवर्द्धते॥१४॥

जिस प्रकार अग्निमें घी डालनेपर वह बुझती नहीं, अपितु और अधिक बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार काम्य वस्तुओंका भोग करते रहनेसे भोगोंकी वासना शान्त नहीं होती, बल्कि और भी बढ़ती जाती है॥१४॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।

समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥१५॥

जब मनुष्य किसी भी प्राणी या वस्तुके प्रति राग-द्वेषादि वैषम्यकी भावना नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है और समदर्शियोंके लिए सभी दिशाएँ सुख प्रदान करनेवाली हो जाती हैं॥१५॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यति।

तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥१६॥

बुरी बुद्धिवाले लोगोंके लिये विषयोंकी तृष्णाको त्यागना बहुत ही कठिन काम है। व्यक्तिका शरीर जरा-जीर्ण हो जाता है, किन्तु तृष्णा सदैव नवीन बनी रहती है। इस विषयमें मेरा तो अनुभव यही है कि यदि कोई अपने कल्याणकी कामना रखता है, तो वह शीघ्र-अति-शीघ्र भोगोंकी कामनाका त्याग कर दे। (विषय-तृष्णा सारे दुःखोंकी जड़ है)॥१६॥

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १७ ॥

यहाँतक कि अपनी माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एक आसनपर सटकर न बैठे। ये इन्द्रियाँ इतनी अधिक बलवान् होती हैं कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी विचलित कर डालती हैं ॥ १७ ॥

पूर्ण वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥ १८ ॥

विषयोंका बार-बार भोग करते हुए यद्यपि मुझे एक हजार वर्ष हो गये हैं, फिर भी हर क्षण मेरे हृदयमें उन भोगोंकी लालसा बढ़ती ही जाती है ॥ १८ ॥

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥ १९ ॥

अतः मैं अब इन सब भोग-वासनाओंका त्याग करके अपने चित्तको परब्रह्म परमात्मामें लगा दूँगा और इस प्रकार सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वोंसे तथा मिथ्या अहङ्कारसे पूर्णतः मुक्त हो जाऊँगा। अब मैं हिरनोंके साथ मुक्त भावसे वनमें विचरण करूँगा (श्रीकृष्ण ही जिनके सार-सर्वस्व हैं—ऐसे भक्तोंके साथ कृष्णलीलामें निमग्न होकर नृत्य करूँगा।) ॥ १९ ॥

दृष्टं श्रुतमसद्बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न सन्दिशेत्।
संसृतिञ्चात्मनाशञ्च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥ २० ॥

सभी मनुष्योंको यह जान लेना चाहिए कि लोक और परलोक दोनोंके ही विषय-भोग अनित्य और नश्वर हैं। इन विषयोंका न तो भोग करना चाहिये और न चिन्तन ही। इनका चिन्तन और भोग न केवल बार-बार इस संसारके बन्धनमें बाँधता है, बल्कि आत्माका नाश ही कर देता है। जो मनुष्य इन रहस्योंको जान जाता है, वही वास्तवमें आत्मज्ञानी है ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पुरवे वयः।
दत्त्वा स्वजरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥ २१ ॥

हे राजन्! राजा ययातिने देवयानीसे इस प्रकार कहकर अपने सबसे छोटे पुत्र पुरुको उसकी युवावस्था लौटा दी और उससे अपना बुढ़ापा वापिस ले लिया, क्योंकि अब उनके चित्तमें विषय-वासनाओंके प्रति कोई आसक्ति नहीं रह गयी थी ॥ २१ ॥

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम्।
प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्रे उदीच्यामनुमीश्वरम् ॥ २२ ॥

तब राजा ययातिने दक्षिण-पूर्व दिशाका राज्य द्रुह्यको, दक्षिण दिशाका राज्य यदुको, पश्चिमका तुर्वसुको और उत्तर दिशाका आधिपत्य अनुको दे दिया ॥ २२ ॥

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम्।
अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥ २३ ॥

राजा ययातिने सारे भूमण्डलकी समस्त धन-सम्पत्तिके अधिकारीके रूपमें सबसे छोटे पुत्र पूरुको ही योग्य पात्र माना और उसे राज्य पदपर अभिषिक्त कर दिया। सभी बड़े भाइयोंको उसके अधीन करके राजा ययाति वनको चले गये ॥ २३ ॥

आसेवितं वर्षपूगान् षड्वर्गं विषयेषु सः।
क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥ २४ ॥

हे राजन्! यद्यपि राजा ययातिने बहुत वर्षोंतक विषयोंका भोग किया था, किन्तु पंखोंके निकल आनेपर जिस प्रकार पक्षी अपना घोंसला छोड़ देता है, उसी प्रकार ययातिने भी क्षणभरमें विषय-भोगोंका त्याग कर दिया ॥ २४ ॥

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग
आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥ २५ ॥

वनमें रहकर राजा ययाति समस्त प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त हो गये। आत्म-साक्षात्कारके प्रभावसे उनका त्रिगुणमय औपाधिक शरीर समाप्त हो गया और वे प्रकृतिके गुणोंसे अतीत हो गये। उन्हें परमब्रह्म वासुदेवमें भागवती गति प्राप्त हुई अर्थात् भगवद्-धाममें उन्हें भगवान्‌के पार्षदका पद प्राप्त हो गया॥२५॥

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः।

स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात् परिहासमिवेरितम्॥२६॥

बकरे-बकरीकी गाथाको सुनकर देवयानीने अपने मनमें विचार किया कि राजा ययातिने यह सोचकर कि स्त्री-पुरुषमें परस्पर आसक्तिके बाद जब विरह होता है, तो बहुत व्याकुलता होती है। इसलिए उन्होंने हास-परिहासमें ही मुझे यह कथा सुनायी थी। इस कथाके माध्यमसे वास्तवमें तो राजा ययाति मुझे निवृत्ति-मार्गकी ओर ही अग्रसर करना चाहते थे॥२६॥

सा सन्निवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम्।

विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः॥२७॥

सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी।

कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः॥२८॥

स्वजन-सम्बन्धियों आदिका मिलन ईश्वरके अधीन है। इन सबका एक स्थानपर मिलना उतना ही क्षणिक है, जितना प्याऊपर पथिकोंका मिलना। सारा संसार भगवान्‌की मायाका खेल ही तो है। ऐसा विचारकर देवयानीने स्वप्नके समान इस जगत्‌को अनित्य जानकर तथा सभी प्राणियों एवं पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर भगवान्‌ श्रीकृष्णमें अपने मनका समावेश करके अपना शरीर छोड़ दिया॥२७-२८॥

नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।

सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीयायातं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥

देवयानी भगवान्को नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगी—‘हे भगवन्! आप समस्त जगत्के रचयिता हैं, सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें आप परमात्मारूपसे वास करते हैं। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होते हुए भी आप बृहद्से भी बृहद् हैं। आप सभी ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण, परम शान्त और अनन्त हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।’ ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके उन्नीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

विंशोऽध्यायः

पूरुके वंश, राजा दुष्मन्त और भरतके चरित्रका वर्णन

श्रीबादरायणिरुवाच—

पूरोर्वशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।

यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित! अब मैं पूरु-वंशका वर्णन करूँगा। तुम्हारा जन्म इसी वंशमें हुआ है। इस वंशमें बहुत-से राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंका आविर्भाव हुआ है ॥ १ ॥

जनमेजयो ह्यभूत् पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः।

प्रवीरोऽथ मनस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥ २ ॥

जनमेजय इसी पुरुवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे पूरुके पुत्र थे। जनमेजयसे प्रचिन्वान्, प्रचिन्वान्से प्रवीर, प्रवीरसे मनस्यु और मनस्युसे चारुपदका जन्म हुआ ॥ २ ॥

तस्य सुद्युम्भुत् पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः।

संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥

चारुपदका पुत्र सुद्यु था। सुद्युका पुत्र बहुगव और बहुगवसे संयातिका जन्म हुआ। संयातिका पुत्र अहंयाति और अहंयातिका पुत्र रौद्राश्व था ॥ ३ ॥

ऋतेयुस्तस्य कक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः।

जलेयुः सन्नतेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥ ४ ॥

दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः।

घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥ ५ ॥

रौद्राश्वने घृताची अप्सराके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न किये—ऋतेयु, कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्नतेयु, धर्मेयु, सत्येयु और

व्रतेयु। ये सभी पुत्र रौद्राश्वके उसी प्रकार अधीन थे, जिस प्रकार दस इन्द्रियाँ विश्वात्मासे उत्पन्न एक प्रधान प्राणके अधीन होकर काम करती हैं ॥४-५॥

ऋतेयोरन्तिनावोऽभूत् त्रयस्तस्यात्मजा नृप।

सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥ ६ ॥

महाराज परीक्षित! उन दस पुत्रोंमें-से जो ऋतेयु नामका पुत्र था, उससे रन्तिनावका जन्म हुआ। रन्तिनावके तीन पुत्र हुए—सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ। अप्रतिरथके पुत्रका नाम कण्व था ॥६॥

तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कन्नाद्या द्विजातयः।

पुत्रोऽभूत् सुमतेरेभिर्दुष्मन्तस्तत्सुतो मतः ॥ ७ ॥

कण्वसे मेधातिथिका जन्म हुआ। इन मेधातिथिसे ही प्रस्कन्न आदि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई। रन्तिनावके पुत्र सुमतिसे रेभिका जन्म हुआ। यह वे ही रेभि हैं, जिनसे प्रसिद्ध राजा दुष्मन्तने जन्म ग्रहण किया ॥७॥

दुष्मन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः।

तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥ ८ ॥

विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम्।

बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥ ९ ॥

एक बारकी बात है कि राजा दुष्मन्त शिकार खेलते हुए कण्व मुनिके आश्रमपर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने लक्ष्मीजीके समान अपनी अङ्गकान्तिसे सारा आश्रम प्रकाशित करनेवाली देवमायारूपिणी एक रमणीको अवस्थित देखा। उसके दर्शनमात्रसे ही दुष्मन्त मोहित हो गये। वे उस परम-सुन्दरीके पास पहुँचे और उससे वार्त्तालाप करने लगे ॥८-९॥

तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः।

पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥ १० ॥

राजन्! उस सुन्दरीको देखकर राजाको बहुत आनन्द हुआ। उनकी सारी थकावट दूर हो गयी। कामभाव उन्हें पीड़ित करने लगा। उन्होंने हँसते हुए मधुर वाणीमें उस स्त्रीसे पूछा—॥१०॥

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे।

किंस्विच्चिकीर्षितं तत्र भवत्या निर्जने वने॥११॥

‘हे कमलनयनि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? मेरे मनको हरण करनेवाली हे परम सुन्दरी! इस निर्जन वनमें तुम क्या कर रही हो? क्या करना चाहती हो?’॥११॥

व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।

नहि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित्॥१२॥

हे अतीव सुन्दरी! मैं यह निश्चित ही कह सकता हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो, वरना हम पुरुवंशियोंका चित्त कभी भी अधर्मकी ओर नहीं जाता।’॥१२॥

श्रीशकुन्तलोवाच—

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने।

वेदैतद्भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते॥१३॥

शकुन्तलाने कहा—(आपने ठीक ही जाना) मैं विश्वामित्रकी पुत्री हूँ। मेनका अप्सरा मुझे वनमें छोड़कर चली गयी थी। परम सामर्थ्यशाली कण्व ऋषि ही इस विषयमें सब कुछ जानते हैं। हे वीर! कहो, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?॥१३॥

आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणञ्च नः।

भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते॥१४॥

हे कमललोचन! आप बैठिये! हमारे यथासम्भव आतिथ्यको स्वीकार कीजिये। यहाँ वनमें नीवार तण्डुल (तिन्नीका भात) है, आप उसे ग्रहण कर सकते हैं। यदि आपको ठीक लगे, तो आप यहाँ ठहर भी सकते हैं॥१४॥

श्रीदुष्मन्त उवाच—

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये।

स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥ १५ ॥

राजा दुष्मन्तने कहा—‘हे सुन्दर भौहोंवाली ! तुम महर्षि विश्वामित्रके वंशमें उत्पन्न हुई हो। इसलिये तुम जिस आतिथ्य-सत्कारका प्रदर्शन कर रही हो, वह तुम्हारे अनुकूल ही है। तुम जैसी राजकन्याएँ अपने लिए योग्य पतिका वरण स्वयं ही कर लिया करती हैं।’ ॥१५॥

ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम्।

गन्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥ १६ ॥

शकुन्तलाने मौन रहकर राजा दुष्मन्तके वचनोंको सहमति प्रदान कर दी। दुष्मन्त देश, काल और शास्त्र आदिके जाननेवाले थे। अतः उन्होंने धर्मके अनुसार गान्धर्व-रीतिसे शकुन्तलाके साथ विवाह कर लिया ॥१६॥

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे।

श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥ १७ ॥

अमोघ वीर्यवाले राजर्षि दुष्मन्तने रात्रिमें वहीं रहकर महारानी शकुन्तलाके गर्भमें वीर्य स्थापित किया और प्रातःकाल होनेपर अपनी राजधानीमें चले गये। उपयुक्त समयपर शकुन्तलाने एक पुत्रको जन्म दिया ॥१७॥

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः।

बद्ध्वा मृगेन्द्रं तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥ १८ ॥

कण्वमुनिने वनमें ही शकुन्तलासे उत्पन्न शिशुके जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किये। वह बालक बलपूर्वक सिंहोंको पकड़ कर उन्हींसे खेलता था ॥१८॥

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा।

हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥ १९ ॥

परीक्षित्! यह बालक भगवान् श्रीहरिके अंशांशसे उत्पन्न हुआ था। इसलिए इस बालकका पराक्रम अपरिमित और प्रचण्ड था। रमणी-रत्न शकुन्तला उस बालकको लेकर राजा दुष्मन्तके पास गयी ॥१९॥

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ।

शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥ २० ॥

किन्तु जब राजाने अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्रको (लोक-निन्दाके भयसे) स्वीकार करनेसे मना कर दिया, तब एक ऐसी आकाशवाणी हुई, जिसे कहनेवाला दिखायी नहीं दे रहा था, परन्तु उसे वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने सुना ॥२०॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।

भरस्व पुत्रं दुष्मन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥ २१ ॥

(आकाशवाणीने कहा—) ‘अरे दुष्मन्त! पुत्र तो पिताका ही होता है। उसको उत्पन्न करनेमें माताकी भूमिका तो केवल धौंकनीके समान आधारमात्र ही है। जन्मदाता पिता ही पुत्रके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। अतः तुम शकुन्तलाका तिरस्कार मत करो और अपने पुत्रका भरण-पोषण करो ॥२१॥

रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात्।

त्वञ्चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ २२ ॥

हे राजन! जो व्यक्ति वीर्य स्थापित करता है, पुत्र उसका ही यमराजसे (पुत् नामक नरकसे) उद्धार करता है। शकुन्तला सत्य ही कह रही है। आपने ही इसे गर्भ धारण कराया था।’ ॥२२॥

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।

महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥ २३ ॥

पिता दुष्मन्तकी मृत्युके बाद यह महायशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् (सप्तद्वीपाधिपति) बना। राजर्षि भरत भगवान्के अंशके अंशसे उत्पन्न हुए थे। आज भी पृथ्वीपर लोग उनकी महिमाका गान किया करते हैं ॥२३॥

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोषोऽस्य पादयोः।
 ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः॥ २४॥
 पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः।
 मामतेयं पुरोधाय यमुना मनु च प्रभुः॥ २५॥
 अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद्वसु।
 भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
 सहस्रं बद्धशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे॥ २६॥

दुष्मन्तपुत्र भरतके दाहिने हाथमें चक्रका और पैरोंमें कमल-कोषका चिह्न विद्यमान था। महाभिषेककी विधिके अनुसार इनका राज्याभिषेक किया गया था। पृथ्वीके एकछत्र सम्राटके रूपमें इन्होंने ममताके पुत्र भृगुको पुरोहित बनाकर गङ्गासागरके सङ्गमसे आरम्भ करके गङ्गोत्री तकके स्थानपर पचपन अश्वमेध यज्ञ करके भगवान्की पूजा की थी। इसी तरह इन्होंने यमुना नदीके तटपर प्रयागराजसे लेकर यमुनोत्री तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ कराये और बहुत धन वितरण किया। दुष्मन्तकुमार राजा भरतके यज्ञोंमें यज्ञीय अग्निकी स्थापना सर्वोत्तम गुणवाले स्थानपर की गयी थी। उन स्थानोंमें राजा भरतने अग्नि-चयन कालमें एक हजार ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको एक-एक बद्ध (१३०८४) गायें प्रदान की थीं॥ २५-२६॥

त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान्।
 दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ॥ २७॥

इस प्रकार दुष्मन्ततनय भरतने इन यज्ञोंमें तैंतीस सौ (३३००) घोड़े बँधवा कर अन्य सभी नरपतियोंको आश्चर्यचकित कर दिया था। उन्होंने जगद्गुरु श्रीहरिकी प्राप्ति करके देवताओंके भी परम वैभवको जीत लिया था॥ २७॥

मृगान् शुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान्।
 अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश॥ २८॥

भरतने किसी महान् कर्मके उद्देश्यसे 'मष्णार' नामक यज्ञ सम्पन्न किया था। इस यज्ञमें अथवा 'मष्णार' तीर्थमें उन्होंने

स्वर्णसे मढ़े हुए, श्वेत दाँतोंवाले चौदह लाख काले रंगके श्रेष्ठ हाथी दानमें दिये थे॥२८॥

भरतस्य महत् कर्म न पूर्वं नापरे नृपाः।

नैवापुनैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा॥२९॥

जिस प्रकार कोई अपनी भुजाओंसे स्वर्गको नहीं छू सकता, उसी प्रकार राजा भरत द्वारा किये गये अद्भुत कार्योंको न तो कोई राजा कर सका है और न भविष्यमें कोई राजा कर पाएगा॥२९॥

किरातहूणान् यवनान् पौण्ड्रान् कङ्कान् खशाञ्छकान्।

अब्रह्मण्यानृपांश्चाहन् म्लेच्छान् दिग्विजयेऽखिलान्॥३०॥

महाराज भरतने अपनी दिग्विजय यात्रामें किरात, हूण, यवन, पौण्ड्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण-विरोधी राजाओंका वध कर दिया था॥३०॥

जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे।

देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत्॥३१॥

एक बार असुरोंने देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली और रसातलमें जाकर रहने लगे। वहाँ वे देवताओंकी स्त्रियोंको भी अपने साथ ले गये। तब महाराज भरतने देव-स्त्रियोंको असुरोंके चंगुलसे छुड़ाकर पुनः देवताओंको लौटा दिया था॥३१॥

सर्वान् कामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी।

समास्त्रिणवसाहस्त्रीर्दिक्षु चक्रमवर्त्तयत्॥३२॥

राजा भरतके शासनकालमें पृथ्वी और आकाश उनकी प्रजाकी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते थे। उन्होंने सत्ताईस हजार वर्षों तक पूरी पृथ्वीपर एकछत्र शासन किया॥३२॥

स सम्राड्लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम्।

चक्रञ्चास्खलितं प्राणान्मृषेत्युपरराम ह॥३३॥

अन्तमें चक्रवर्ती सम्राट् भरतने भी यही अनुभव किया कि लोकपालोंसे भी अधिक ख्याति एवं ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति,

अलङ्घनीय साम्राज्य, प्रचण्ड सैन्यबल, अखण्ड शासन और प्राणोंके समान प्रिय लगनेवाले पुत्र आदि सब कुछ मिथ्या ही तो हैं। इस प्रकारके विचारसे उन्हें समस्त प्रकारके विषय-भोगोंसे वैराग्य हो गया ॥३३॥

तस्यासन्नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः।

जघ्रुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते ॥३४॥

हे राजन्! विदर्भराजकी अत्यन्त मनोहर और योग्य तीन कन्याएँ सम्राट् भरतकी पत्नियाँ बनीं। पुत्र उत्पन्न होनेपर राजाने जब उन्हें देखा, तो पत्नियोंसे कह दिया कि तुम्हारे पुत्र मेरे अनुरूप नहीं हैं (मेरे औरस जात नहीं हैं), तब इस आशङ्कासे कि राजा भरत व्यभिचारिणी जानकर कहीं हमारा त्याग न कर दें, रानियोंने अपने बालकोंको मार डाला ॥३४॥

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम्।

मरुत्सोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥

ऐसेमें भरतजीका वंश जब विच्छिन्न होने लगा, तब वंशकी रक्षाके लिए उन्होंने पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे 'मरुत्सोम' नामक यज्ञ करवाया, जिससे सन्तुष्ट होकर मरुद्गणोंने उन्हें भरद्वाज नामक एक पुत्र प्रदान किया ॥३५॥

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः।

प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमुपासृजत् ॥३६॥

राजन्! भरद्वाजकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग इस प्रकार है कि एक बार बृहस्पतिने अपने भाईकी गर्भवती पत्नी ममताके साथ सम्भोग करना चाहा, परन्तु गर्भके शिशु (दीर्घतमा)ने बृहस्पतिको ऐसा करनेसे मना किया। इसपर बृहस्पतिने उस गर्भस्थ शिशुको शाप दे दिया—'जा, तू अन्धा हो जा' और उसकी बातको अनसुना करके बलपूर्वक ममताको गर्भाधान करा दिया ॥३६॥

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तुस्त्यागविशङ्किताम्।

नामनिर्वाचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥३७॥

उत्थयपत्नी ममता इस बातसे डर गयी कि कहीं मेरा पति मुझे व्यभिचारिणी जानकर मेरा परित्याग न कर दे। अतः उसने भयभीत होकर बृहस्पतिके बालकको त्याग करना चाहा। उस समय देवताओंने उस गर्भके बालकका 'भरद्वाज' नामका निर्वाचन करते हुए इस प्रकार कहा—॥३७॥

मूढे भरद्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते।

यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्॥३८॥

बृहस्पतिने ममतासे कहा—'हे मूर्खे! तुम्हारे पतिके क्षेत्रमें मेरे वीर्य द्वारा उत्पन्न होनेसे यह हम दोनोंका पुत्र (द्वाज) है। इसलिए तू अपने पतिसे डर मत। इसका भरण-पोषण कर (भर)।' इसपर ममताने कहा—'हे बृहस्पते! यह हम दोनोंके अवैध सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ है। मेरे पतिका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए तुम इसका पालन-पोषण करो।' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए दोनों ही उस बालकको छोड़कर वहाँसे चले गये। यही बालक भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध हुआ॥३८॥

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्।

व्यसृजन्मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीपुरुवंशकीर्त्तनं नाम विंशोऽध्यायः॥

देवताओंके द्वारा बालकके भरण-पोषणके लिए प्रोत्साहित किये जानेपर भी ममताने यही समझा कि व्यभिचारसे उत्पन्न होनेके कारण यह बालक निरर्थक ही है। अतः उसने उस बालकको छोड़ दिया। तब मरुद्गणोंने इसका पोषण किया। राजा भरतके वंशमें कोई वंशधर न रहनेपर मरुत् देवताओंने उस बालकको भरतको दे दिया। इस प्रकार अवैध सम्बन्धसे उत्पन्न भरद्वाज भरतके दत्तक पुत्र हुए॥३९॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके बीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

एकविंशोऽध्यायः

महाराज भरतके वंशका वर्णन और
राजा रन्तिदेवकी कथा

श्रीशुक उवाच—

वितथस्य सुतान्मन्योर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः।

महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः॥१॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज परीक्षित्! मरुद्गणों-द्वारा दिये जानेके कारण भरद्वाजका 'वितथ' नाम हो गया था। वितथ अथवा भरद्वाजके पुत्रका नाम मन्यु था। मन्युसे पाँच पुत्रोंका जन्म हुआ—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग। इनमें-से नरका पुत्र था संकृति॥१॥

गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन।

रन्तिदेवस्य महिमा इहामुत्र च गीयते॥२॥

हे पाण्डुनन्दन! संकृतिके दो पुत्र हुए—गुरु और रन्तिदेव। रन्तिदेव इस लोक और परलोक दोनोंमें ही विख्यात हैं। उनका यशोगान न केवल मनुष्य अपितु देवता भी करते हैं॥२॥

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः।

निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः॥३॥

व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल।

घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्॥४॥

कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।

अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥५॥

रन्तिदेव किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए कोई प्रयास नहीं करते थे। दैववश उन्हें जो कुछ स्वयं ही प्राप्त हो जाता था, उसका

ही वे उपभोग करते थे। उसमें भी संग्रह-परिग्रहका उनका कोई भाव न था। जो भी मिलता, सारा दान कर देते। भूख-प्याससे उनका शरीर काँपता रहता। इस प्रकार अपने परिवारके साथ वे बड़े कष्टके दिन काट रहे थे, किन्तु इन सभी दुःखोंका सामना वे बड़े धैर्यके साथ करते, जल-पान तक भी नहीं करते थे। एक बार तो अड़तालीस दिनोंतक उन्हें पानीतक पीनेको न मिला। उनचासवे दिन उन्हें प्रातःकालमें कुछ घी, खीर, हलवा और जल मिला। भूख और प्याससे उनका परिवार काँप रहा था। किन्तु जैसे ही वे भोजनके लिए तत्पर हुए, एक ब्राह्मण अतिथिके रूपमें वहाँ आ पहुँचा॥३-५॥

तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः।

हरिं सर्वत्र संपश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः॥६॥

रन्तिदेव तो सर्वत्र समस्त प्राणियोंमें भगवान्का ही दर्शन करते थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा और आदरसे उसी अन्नमें-से घी, खीर आदिका विभाग करके ब्राह्मणको भोजन करा दिया। भोजनके बाद ब्राह्मण वहाँसे चले गये॥६॥

अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपतेः।

विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन्॥७॥

बचे हुए अन्नको रन्तिदेवने सभी परिवारजनोंमें बाँट दिया। जैसे ही वे उसे खानेके लिए तत्पर हुए, तभी एक शूद्र अतिथि वहाँ आ गया। उसे देखकर भी राजाने भगवान्का स्मरण किया और बचे हुए अन्नमें-से कुछ उसे खिला दिया॥७॥

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः।

राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते॥८॥

शूद्र अतिथिके जानेके बाद एक और अतिथि कुत्तोंके साथ वहाँ आ गया और कहने लगा—‘हे राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। हमें कुछ भोजन दीजिए।’॥८॥

स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम्।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥९॥

रन्तिदेवने उनका भी सम्मान किया और बचा हुआ सारा अन्न बड़े आदरके साथ उन्हें खिला दिया। उसके बाद उन्होंने कुत्ते और उनके स्वामीके रूपमें आये हुए भगवान्को नमस्कार किया॥९॥

पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम्।
पास्यतः पुक्कशोऽभ्यागादपो देह्यशुभाय मे॥१०॥

अब तो रन्तिदेवके पास केवल जल ही बचा था और वह भी इतना कि एक ही जनकी प्यास बुझ सके। वे उसे बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल अतिथि वहाँ आकर कहने लगा—‘हे राजन्! मैं अतिशय नीच हूँ। मुझे थोड़ा जल पिला दीजिए।’॥१०॥

तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम्।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः॥११॥

चाण्डालके अत्यधिक दीनता और अत्यधिक श्रमसे भरे हुए वचनोंको सुनकर महाराज रन्तिदेवका हृदय कृपावश अत्यधिक सन्तापसे भर गया और वे अमृतके समान मधुर वचन कहने लगे—॥११॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टिर्द्वियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥१२॥

‘मैं भगवान्से अणिमा आदि आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गतिकी प्रार्थना नहीं करता और न ही जन्म-मरणके कष्टसे छुटकारा (मोक्ष) पानेकी इच्छा रखता हूँ। मेरी चाह तो केवल यही है कि मैं समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित हो जाऊँ और उनके सभी दुःखोंको मैं ही सहन करूँ, जिससे सभी जीव दुःखसे रहित हो जाएँ॥१२॥

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।

सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-

जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥

यह बेचारा जल पीकर जीवन धारण करना चाहता था। जल देनेसे इसके जीवनकी रक्षा हो गयी। अब मेरी भूख-प्यास, थकान, (भोजनके अभावमें) शारीरिक दुर्बलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद, मोह सब चले गये और मैं अत्यन्त सुखी हो गया। ॥१३॥

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया।

पुक्कशायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥ १४ ॥

यह कहकर राजा रन्तिदेवने बचा हुआ जल भी उस चाण्डालको दे दिया। यद्यपि प्यासके मारे उनके प्राण निकल रहे थे, तब भी उनकी स्वाभाविक करुणा और धैर्यकी सीमाके विषयमें क्या कहा जाय, जिसके वशीभूत होकर वे अपने आपको ऐसा करनेसे रोक न पाये ॥१४॥

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम्।

आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥ १५ ॥

हे परीक्षित! ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल आदिके रूपमें ये अतिथि कोई और नहीं, बल्कि विष्णु-रचित मायाके द्वारा रन्तिदेवके धैर्य आदिकी परीक्षाके लिये तीनों भुवनोंके स्वामी—ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही थे। जब रन्तिदेव इस परीक्षामें सफल हो गये, तब भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले ये त्रिभुवनपति उनके समक्ष प्रकट हो गये ॥१५॥

स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः।

वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥ १६ ॥

राजा रन्तिदेव भगवान्की कृपासे सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित हो गये थे। उन्हें विषय-भोगोंकी भी कोई कामना नहीं थी, तो फिर भला भगवान्से वे क्या माँगते। अतः उन्होंने उन त्रिभुवनपतियोंके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने परमप्रेममयी भक्तिभाववाले सुन्दर मनको भगवान् वासुदेवमें निहित कर दिया ॥१६॥

ईश्वरालम्बनं चित्तं कृर्वतोऽनन्यराधसः ।

माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥ १७ ॥

हे महाराज परीक्षित्! राजा रन्तिदेव पूर्णरूपसे निष्काम थे। उन्हें भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं थी। उन्होंने अन्य सभी अभिलाषाओंसे रहित अपने मनको भगवान्‌के श्रीचरणोंमें तन्मय कर दिया। जिस प्रकार जागनेपर स्वप्न स्वतः ही लयको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अब यह त्रिगुणमयी माया उनके लिये स्वप्नके समान प्रतीत होने लगी ॥ १७ ॥

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।

अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥ १८ ॥

जिन्होंने महाराज रन्तिदेवके चरित्रका अनुसरण किया, वे सभी उनकी कृपाशक्तिके प्रभावसे भगवान्‌की भक्तिमें लग गये और श्रेष्ठ योगी बन गये ॥ १८ ॥

गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद्ब्रह्म ह्यवर्त्तत ।

दुरितक्षयो महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥ १९ ॥

पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ।

बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥ २० ॥

मन्युपुत्र गर्गके पुत्रका नाम शिनि था। शिनिसे गार्ग्यका जन्म हुआ। गार्ग्य यद्यपि क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था, फिर भी उससे ब्राह्मणवंश चला। महावीर्य (भरद्वाजके अन्य पौत्र) से दुरितक्षयका जन्म हुआ। दुरितक्षयके तीन पुत्र हुए—त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि। इन सभी पुत्रोंने क्षत्रियवंशमें जन्म लेनेपर भी ब्राह्मण पदको प्राप्त किया। बृहत्क्षत्रका पुत्र हस्ती था। इन्होंने हस्तिनापुरको बसाया था ॥ १९-२० ॥

अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ।

अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥ २१ ॥

हस्तीके तीन पुत्र हुए—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। अजमीढके वंशमें प्रियमेध आदिने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया ॥ २१ ॥

अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः।

बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः॥ २२ ॥

इन अजमीढके एक पुत्रका नाम बृहदिषु था। बृहदिषुसे बृहद्धनु, बृहद्धनुसे बृहत्काय और बृहत्कायसे जयद्रथका जन्म हुआ॥२२॥

तत्सुतो विशदस्तस्य स्येनजित् समजायत।

रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः॥ २३ ॥

जयद्रथका पुत्र था विशद और विशदका स्येनजित्। स्येनजित्के चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढहनु, काश्य और वत्स॥२३॥

रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः।

पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्॥ २४ ॥

रुचिराश्वके पुत्रका नाम पार था। पारके दो पुत्र थे—पृथुसेन और नीप। नीपके एक सौ पुत्र थे॥२४॥

स कृत्वांशुशुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्।

योगी स गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम्॥ २५ ॥

इसी नीपने शुक(छाया-शुक) कन्या कृत्वीके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम ब्रह्मदत्त था। यह ब्रह्मदत्त एक महान् योगी था। उनकी पत्नीका नाम था सरस्वती, जिसने विष्वक्सेनको जन्म दिया था॥२५॥

जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह।

उदक्सेनस्ततस्तस्माद्भल्लाटो बार्हदीषवाः॥ २६ ॥

इन्हीं विष्वक्सेनने जैगीषव्य ऋषिके उपदेशके अनुसार योगशास्त्रकी रचना की थी। विष्वक्सेनसे उदक्सेनका जन्म हुआ और उदक्सेनसे भल्लाटकी उत्पत्ति हुई। ये सभी बृहदिषुके वंशधर कहलाये॥२६॥

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः।

नाम्ना सत्यधृतिस्तस्य दृढनेमिः सुपाश्वकृत्॥ २७ ॥

द्विमीढका पुत्र यवीनर था और यवीनरका कृतिमान्। कृतिमान्से सत्यधृति, सत्यधृतिसे दृढनेमि और दृढनेमिसे सुपाश्वर्कका जन्म हुआ॥२७॥

सुपाश्वर्कात् सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः।

कृती हिरण्यनाभादयो योगं प्राप्य जगौ स्म षट्॥२८॥

संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युदग्रायुधस्ततः।

तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः॥२९॥

सुपाश्वर्कसे सुमति, सुमतिसे सन्नतिमान् और सन्नतिमान्से कृतिने जन्म ग्रहण किया। इन कृतिने हिरण्यनाभ (ब्रह्माजी)से योगविद्या प्राप्त की और 'प्राच्यसाम' नामक सामवेदीय ऋचाओंकी छह संहिताओंको पढ़ाया था। कृतिका पुत्र नीप था और नीपसे उदग्रायुधका जन्म हुआ। उदग्रायुधसे क्षेम्य, क्षेम्यसे सुवीर और सुवीरसे रिपुञ्जय उत्पन्न हुआ॥२८-२९॥

ततो बहुरथो नाम पुरुमीढोऽप्रजोऽभवत्।

नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिस्तु तत्सुतः॥३०॥

रिपुञ्जयके पुत्रका नाम बहुरथ था। द्विमीढके भाई पुरुमीढ की सन्तान नहीं थी। अजमीढकी दूसरी पत्नीका नाम था नलिनी। नलिनीके गर्भसे नीलका जन्म हुआ। नीलका पुत्र शान्ति था॥३०॥

शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत्।

भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन् मुद्रलादयः॥३१॥

यवीनरो बृहद्विश्वः काम्पिल्लः सञ्जयः सुताः।

भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि॥३२॥

विषयाणामलमिमे इति पाञ्चालसंज्ञिताः।

मुद्रलाद्ब्रह्मनिर्वृत्तं गोत्रं मौद्रल्यसंज्ञितम्॥३३॥

शान्तिसे सुशान्ति, सुशान्तिसे पुरुज और पुरुजसे अर्क और अर्कसे भर्म्याश्वका जन्म हुआ। भर्म्याश्वसे पाँच पुत्र हुए—मुद्रल, यवीनर, बृहद्विश्व, काम्पिल्य और सञ्जय। भर्म्याश्वने अपने पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! तुम मेरे पाँच देशोंका संरक्षण करनेके योग्य (पञ्च अलम्) हो।' इसी कारण ये पाँचों पुत्र 'पाञ्चाल' कहलाये। इनमें

मुद्रल नामका जो पुत्र था, उससे मौद्रल्य नामक ब्राह्मण गोत्रकी उत्पत्ति हुई॥३१-३३॥

मिथुनं मुद्रलाद्भार्यादिवोदासः पुमानभूत्।

अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात्॥३४॥

भार्याश्वके पुत्र मुद्रलसे जुड़वाँ सन्तान हुई, जिनमेंसे एक बालक था और एक बालिका। बालकका नाम रखा गया दिवोदास और कन्याका नाम अहल्या। अहल्याका विवाह गौतम ऋषिसे हुआ। गौतम ऋषिके पुत्र शतानन्द हुए॥३४॥

तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः।

शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल।

शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूत् शुभम्॥३५॥

शतानन्दके पुत्रका नाम सत्यधृति था। वह धनुर्विद्याका पण्डित था। सत्यधृतिका पुत्र था शरद्वान्। एक बार उर्वशीको देखनेसे उसका वीर्य स्खलित हो गया और शर नामक घास (झाड़)पर गिर पड़ा। इससे शुभ लक्षणवाले दो शिशु उत्पन्न हुए, जिनमें एक कुमार था और एक कन्या॥३५॥

तदृष्ट्वा कृपयागृह्णात् शान्तनुर्मृगयां चरन्।

कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीभरतवंशानुवर्णने नाम एकविंशोऽध्यायः॥

महाराज शान्तनु वहाँ शिकार खेलने आये हुए थे। उनकी दृष्टि उन बालकोंपर पड़ी। उन्हें उनपर दया आ गयी। उन्होंने बालकोंको उठा लिया और घरपर ले आये। कृपावश ग्रहण किये जानेके कारण पुत्रका नाम कृप (कृपाचार्य) हुआ और पुत्रीका कृपी। यही कृपी द्रोणाचार्यकी पत्नी बनी॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके इक्कीसवे अध्यायका

श्लोकानुवाद समाप्त।

द्वाविंशोऽध्यायः

पाञ्चाल, कौरव मगधदेशीय राजाओंके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

मित्रायुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप।

सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्! दिवोदासके पुत्रका नाम मित्रेयु था। मित्रेयुके चार पुत्र थे—च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक। सोमकसे जो पुत्र हुआ उसका नाम जन्तु था ॥ १ ॥

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषतः सुतः।

स तस्माद्द्रुपदो जज्ञे सर्वसम्पत्समन्वितः ॥ २ ॥

सोमकके सौ पुत्र थे, जिनमें जन्तु सबसे बड़ा और पृषत सबसे छोटा था। इन्हीं पृषतसे द्रुपदका जन्म हुआ द्रुपद सर्वसम्पत्तिवान् राजा थे ॥ २ ॥

द्रुपदाद्द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः।

धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पाञ्चालका इमे ॥ ३ ॥

द्रुपदसे द्रौपदीका जन्म हुआ था। इनके धृष्टद्युम्न आदि कई और पुत्र भी थे। धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुने जन्म ग्रहण किया। भर्माश्वके वंशमें उत्पन्न हुए ये सभी राजा 'पाञ्चाल' कहलाये ॥ ३ ॥

योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः।

तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः ॥ ४ ॥

परीक्षिः सुधनुर्जहुर्निषधश्च कुरोः सुताः।

सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती ॥ ५ ॥

अजमीढके दूसरे पुत्रका नाम ऋक्ष था। ऋक्षसे संवरणने जन्म लिया। संवरणका विवाह सूर्य-पुत्री तपतीसे हुआ। तपतीके गर्भसे

ही उन कुरुका जन्म हुआ, जो कुरुक्षेत्रके राजा बने। कुरुके चार पुत्र थे—परीक्षि, सुधनु, जहु और निषध। सुधनुका पुत्र था सुहोत्र और सुहोत्रका च्यवन। च्यवनसे कृतीका जन्म हुआ ॥४-५॥

वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ।
कुशाम्बमत्यप्रत्यग्रश्चेदिपाद्याश्च चेदिपाः ॥ ६ ॥

कृतीका पुत्र उपरिचर वसु था। उपरिचर वसुसे बृहद्रथ आदि कई पुत्र हुए। उपरिचर वसुके ये सभी पुत्र (बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि) चेदिदेशके शासक बने ॥६॥

बृहद्रथात् कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः ।
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः ॥ ७ ॥

बृहद्रथसे कुशाग्रका जन्म हुआ। कुशाग्रसे ऋषभ, ऋषभसे सत्यहित, सत्यहितसे पुष्पवान् और पुष्पवान्से जहुका जन्म हुआ ॥७॥

अन्यस्यामपि भार्यायां सकले द्वे बृहद्रथात् ।
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते ।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत् सुतः ॥ ८ ॥

बृहद्रथकी दूसरी पत्नीके गर्भसे एक पुत्र दो खण्डोंमें उत्पन्न हुआ। माताने जब बालकको दो खण्डोंमें देखा, तब उसे बाहर फेंकवा दिया, परन्तु जरा नामकी राक्षसीने 'जीवित हो जाओ', 'जीवित हो जाओ'—यह कहकर खेल-ही-खेलमें उन दोनों खण्डोंको एक साथ जोड़ दिया। दो खण्डोंसे जुड़े हुए इस बालकका नाम पड़ा—'जरासंध' ॥८॥

ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापर्यत् श्रुतश्रवाः ।
परीक्षिरनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः ॥ ९ ॥

जरासन्धसे सहदेवका जन्म हुआ। सहदेवका सोमापि और सोमापिका पुत्र हुआ श्रुतश्रवा। कुरुके ज्येष्ठ पुत्र परीक्षि निःसन्तान ही रह गये। कुरुपुत्र जहुसे सुरथने जन्म लिया ॥९॥

ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत् ।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुताय्वभूत् ॥ १० ॥

सुरथसे विदूरथ, विदूरथसे सार्वभौम, सार्वभौमसे जयसेन और जयसेनसे राधिक हुए। राधिकके पुत्रका नाम अयुतायु था ॥१०॥

ततश्चाक्रोधनस्तस्माद्देवातिथिरमुष्य च।

ऋक्षस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥११॥

अयुतायुसे अक्रोध और अक्रोधसे देवातिथिका जन्म हुआ। देवातिथिका पुत्र ऋक्ष, ऋक्षका दिलीप और दिलीपका पुत्र था प्रतीप ॥११॥

देवापिः शान्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः।

पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥१२॥

अभवच्छान्तनु राजा प्राङ्महाभिषंसंज्ञितः।

यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥१३॥

प्रतीपके तीन पुत्र थे—देवापि, शान्तनु और बाह्लीक। देवापि अपने पिताका राज्य त्याग करके वनमें चले गये थे। परिणामस्वरूप शान्तनुको राजपद प्राप्त हो गया। शान्तनु अपने पूर्वजन्ममें महाभिष नामसे प्रसिद्ध थे। शान्तनु जिस भी वृद्धको अपने दोनों हाथोंसे स्पर्श कर देते, वह युवा हो जाता था ॥१२-१३॥

शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शान्तनुः।

समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥१४॥

शान्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्ताऽयमग्रभुक्।

राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥१५॥

उसके इस अद्भुत कार्यसे उन्हें परम शान्ति मिलती। यही कारण था कि इनका नाम 'शान्तनु' पड़ा। एक बार शान्तनुके राज्यमें बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। राजाने ब्राह्मणोंसे जब इसका कारण पूछा, तब ब्राह्मणोंने उन्हें बतलाया—'हे राजन्! इसका कारण आप स्वयं हैं। आपने अपने बड़े भाई देवापिसे पहले विवाह, अग्निहोत्र यज्ञ और राजपदको स्वीकार कर लिया है। जो ऐसा करता है वह 'परिवेत्ता' दोषका अपराधी होता है। (जो पुरुष अपने बड़े भाईसे पहले विवाह और अग्निहोत्र-यज्ञ आदि कर ले,

उसे 'परिवेत्ता' कहा जाता है और उसके बड़े भाईको 'परिवित्ति') इसीलिये आपके राज्यमें वर्षा नहीं होती है। अब यदि आप अपने नगर और राष्ट्रके कल्याणकी वृद्धि चाहते हैं, तो शीघ्र-अति-शीघ्र अपने बड़े भाईको राजपद लौटा दीजिये।' ॥१४-१५॥

एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत्।

तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा ॥ १६ ॥

वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह।

देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंके इस प्रकार परामर्श दिये जानेपर राजा शान्तनु वनमें गये और अपने बड़े भाई देवापिसे कहने लगे—'प्रजाका पालन ही राजाका परम धर्म है, अतएव आप राजाका पद सँभालिये,' परन्तु इसके पहले ही शान्तनुके मन्त्री अश्ववारने कुछ ब्राह्मणोंको देवापिके पास भेज दिया था, जिससे वे देवापिकी मतिको वेद-विरोधी पाखण्डमें लगा दें और वे राजा होनेके योग्य ही न रह जायें। अश्ववार द्वारा प्रेरित ब्राह्मणोंने वेद-विरोधी मतका समर्थन करनेवाले अपने वचनोंसे देवापिको वेद-मार्गसे भ्रष्ट कर दिया। फलस्वरूप देवापिने शान्तनुके राजपद सँभालनेके अनुरोधको स्वीकार नहीं किया, उल्टा उनके समक्ष ही वैदिक शास्त्रोंकी निन्दा करने लगे। वेद-निन्दाके अपराधके कारण देवापिका अधःपतन हो गया और वे राजा बननेके अधिकारसे वञ्चित हो गये। इस स्थितिमें शान्तनु ही राजा बने रहे और इन्द्रने भी प्रसन्न होकर यथाकाल अर्थात् शान्तनुमें कोई दोष न रहनेके कारण वर्षा कर दी। परीक्षित्! देवापि योगियोंके प्रसिद्ध निवास स्थान कलाप ग्राममें योगमार्गका आश्रयकर आज भी साधना कर रहे हैं ॥१६-१७॥

सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति।

बाहीकात् सोमदत्तोऽभूद्भूरिभूरिश्रवास्ततः ॥ १८ ॥

शलश्च शान्तनोरासीद्गङ्गायां भीष्म आत्मवान्।

सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥ १९ ॥

कलियुगमें जब सोमवंश (चन्द्रवंश) समाप्त हो जायेगा, तब सत्ययुगके प्रारम्भमें ये देवापि ही पुनः इस जगत्में सोमवंशकी स्थापना करेंगे। शान्तनुके छोटे भाई बाह्मीकसे सोमदत्तका जन्म हुआ। सोमदत्तके तीन पुत्र हुए—भूरि, भूरिश्रवा और शल। महाराज शान्तनुकी दूसरी पत्नी गङ्गादेवीके गर्भसे भीष्मका जन्म हुआ, जो आत्मतत्त्ववित्, धर्मज्ञ-शिरोमणि, परमभागवत और परम विद्वान् थे ॥१८-१९॥

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः।

शान्तनोर्दासकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥ २० ॥

भीष्मदेव पृथ्वीपर सभी योद्धाओंमें अग्रगण्य थे। उन्होंने तो अपने गुरु परशुरामको भी युद्धमें परास्त करके उन्हें सन्तुष्ट कर दिया था। महाराज शान्तनुने दासराजकी कन्या (सत्यवती)के गर्भसे चित्राङ्गदको उत्पन्न किया। (सत्यवतीका जन्म उपरिचर वसुके वीर्य द्वारा मछलीके गर्भसे हुआ था, परन्तु इसका पालन-पोषण दासों (केवटों)ने किया था। इसीलिए यह दासकन्या कहलायी) ॥२०॥

विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः।

यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥ २१ ॥

वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम्।

हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः ॥ २२ ॥

मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ।

विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ॥ २३ ॥

स्वयम्बरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे।

तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥ २४ ॥

चित्राङ्गदका छोटा भाई था विचित्रवीर्य। चित्राङ्गदको चित्राङ्गद नामके ही गन्धर्वने मार डाला। दासराज-पुत्री सत्यवतीके गर्भसे (विवाहसे पूर्व) पराशरजीके द्वारा भगवान्के कलावतार श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका आविर्भाव हुआ। राजन्! इन्हीं व्यासजीसे मैं शुकदेव

उत्पन्न हुआ। अपने पिता व्यासदेवसे ही मैंने श्रीमद्भागवत शास्त्रका अध्ययन किया था। वेदरक्षक भगवान् वेदव्यासने अपने पैल आदि शिष्योंको छोड़कर मुझे ही इस परम-गोपनीय शास्त्रका अध्ययन कराया था, क्योंकि मैं निस्पृह एवं शान्तादि गुणोंसे युक्त था। शान्तनुके दूसरे पुत्र विचित्रवीर्यने काशिराजकी दो पुत्रियों अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया, जिन्हें भीष्मजी बलपूर्वक स्वयंवरसे अपहरण करके ले आये थे। विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियोंमें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्हें 'राजयक्ष्मा' नामक रोग हो गया और अन्ततः उनकी मृत्यु हो गई॥२१-२४॥

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः।

धृतराष्ट्रञ्च पाण्डुञ्च विदुरञ्चाप्यजीजनत्॥ २५ ॥

बादरायण श्रीवेदव्यासने अपनी माता सत्यवतीके आदेशसे अपने निःसन्तान भाई विचित्रवीर्यकी पत्नियों अम्बिकासे धृतराष्ट्र अम्बालिकासे दूसरे पुत्र पाण्डुको और उनकी दासीसे तीसरे पुत्र विदुरको उत्पन्न किया॥२५॥

गान्धार्या धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप।

तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका॥ २६ ॥

हे राजन्! धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी थी। उसने एक सौ पुत्र और एक पुत्री दुःशलाको जन्म दिया। सौ पुत्रोंमें दुर्योधन सबसे बड़ा पुत्र था॥२६॥

शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः।

जाता धर्म्मनिन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः॥ २७ ॥

नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्त्रयोः।

द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन्॥ २८ ॥

पाण्डुकी पत्नी कुन्ती थीं। एक ऋषिके शापसे राजा पाण्डु स्त्री सहवास नहीं कर सकते थे। (शिकार खेलते समय वनमें मृगरूपमें सम्भोगरत मुनिका वध कर देनेसे उन मुनिने राजा

पाण्डुको शाप दिया कि वे भी जब स्त्रीसे सहवास करेंगे, उनकी मृत्यु हो जायेगी) इसीलिए उनकी पत्नी कुन्तीने धर्म, वायु और इन्द्र द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया। ये तीनों ही बड़े महारथी थे। पाण्डुकी दूसरी पत्नी माद्री थी। इन्होंने दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा दो पुत्र—नकुल और सहदेवको जन्म दिया। इन पाँच पाण्डवों द्वारा द्रौपदीके गर्भसे पाँच पुत्र हुए। ये ही पाँच पुत्र तुम्हारे (परीक्षितके) चाचा थे॥२७-२८॥

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात्।

अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः॥२९॥

इनमें—से युधिष्ठिरके पुत्रका नाम प्रतिविन्ध्य था। वृकोदर भीमसे श्रुतसेन, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति और नकुलसे शतानीकका जन्म हुआ॥२९॥

सहदेवसुतो राजन् श्रुतकर्मा तथाऽपरे।

युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः॥३०॥

भीमसेनात् हिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः।

सहदेवात् सुहोत्रन्तु विजयासूत पार्वती॥३१॥

राजन्! सहदेवके पुत्रका नाम श्रुतकर्मा था। इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर आदि भाइयोंकी अन्य पत्नियोंसे और भी पुत्र उत्पन्न हुए। युधिष्ठिरकी पत्नी पौरवीके गर्भसे देवक, भीमसेन द्वारा हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच और कालीसे सर्वगतका जन्म हुआ। सहदेव द्वारा पर्वत-पुत्री विजयासे सुहोत्रका जन्म हुआ॥३०-३१॥

करेणुमत्यां नकुलो नरमित्रं तथार्जुनः।

इरावन्तमुलुप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम्।

मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः॥३२॥

नकुलने करेणुमती नामकी पत्नीसे पुत्र नरमित्रको उत्पन्न किया। अर्जुनने नागकन्या उलूपीके गर्भसे इरावान् और मणिपुर राजाकी पुत्री चित्राङ्गदासे बभ्रुवाहनको प्राप्त किया। बभ्रुवाहनको मणिपुरके

राजा अर्थात् अपने नानाका ही पुत्र माना गया। पुत्रिका-धर्मके अनुसार इस बातको पहलेसे ही तय कर लिया गया था॥३२॥

तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत।

सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भवान्॥३३॥

अर्जुन द्वारा सुभद्राके गर्भसे तुम्हारे पिता अभिमन्युका जन्म हुआ। उस महावीरने सभी अतिरथियों (एक हजार रथवानोंसे युद्ध करनेकी क्षमता रखनेवालों) को जीत लिया था। अभिमन्यु द्वारा विराट् राजाकी पुत्री उत्तराके गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ॥३३॥

परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा।

त्वञ्च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात्॥३४॥

कुरुक्षेत्रके युद्धमें उस समय कुरुवंशका प्रायः विनाश हो गया था और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे तुम भी जल ही चुके थे, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं तुम्हें उस मृत्युसे बचा लिया॥३४॥

तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः।

श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥३५॥

प्रिय तात! तुम्हारे ये चारों ही पुत्र—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन महावीर्यशाली हैं। इनमें सबसे बड़ा जनमेजय है॥३५॥

जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकात्रिधनं गतम्।

सर्पान् वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः॥३६॥

तुम्हारे पुत्र जनमेजयको जब यह पता चलेगा कि तक्षक सर्प द्वारा काटे जानेसे तुम्हारी मृत्यु हो गयी है, तब यह अत्यन्त क्रोधित हो उठेगा और सर्प-यज्ञकी अग्निमें सारे सर्पोंका हवन करेगा॥३६॥

कालषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधषाट्।

समन्तात् पृथिवीं सर्वा जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः॥३७॥

कलष-पुत्र तुरको अपना पुरोहित बनाकर जनमेजय अश्वमेध एवं अन्यान्य यज्ञोंसे भगवान्की आराधना करेगा और सब ओरसे सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करके कलष-तनय तुरको पुरोहित पद पर वरण करके तुरगमेधघाट् (अनेक तुरग अर्थात् अश्वमेध यज्ञ करनेवाले) के नामसे विख्यात होगा ॥३७॥

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।

अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्ठ्यति ॥ ३८ ॥

जनमेजयका पुत्र शतानीक याज्ञवल्क्य ऋषिसे त्रयीविद्या(ऋग्वेद आदि तीनों वेद) और कर्मकाण्डकी शिक्षा तथा कृपाचार्यसे अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करेगा। शौनकादि ऋषियोंसे यह आत्मतत्त्वका ज्ञान ग्रहण करेगा ॥३८॥

सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।

असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥ ३९ ॥

शतानीकका पुत्र होगा सहस्रानीक। सहस्रानीकसे अश्वमेधज, अश्वमेधजसे असीमकृष्ण और उससे नेमिचक्रका जन्म होगा ॥३९॥

गजाद्वये हते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति।

उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्माच्छुचिरथः सुतः ॥ ४० ॥

जब हस्तिनापुर गङ्गा नदीकी बाढ़में डूब जायगा, तब नेमिचक्र कौशाम्बी नामकी पुरीमें वास करेगा। नेमिचक्रका पुत्र चित्ररथ नामसे विख्यात होगा। चित्ररथके पुत्रका नाम होगा शुचिरथ ॥४०॥

तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः।

सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत् सुखीनलः ॥ ४१ ॥

शुचिरथसे वृष्टिमान्, वृष्टिमान्से सुषेणका जन्म होगा, जो एक चक्रवर्ती राजा होगा। सुषेणसे सुनीथ, सुनीथसे नृचक्षु और नृचक्षुसे सुखीनलका जन्म होगा ॥४१॥

परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः।

नृपञ्जयस्ततो दूर्वास्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥ ४२ ॥

सुखीनलका पुत्र परिप्लव, परिप्लवका सुनय, सुनयका मेधावी, मेधावीका नृपञ्जय, नृपञ्जयका दूर्व और दूर्वका पुत्र तिमि होगा ॥४२॥

तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।
शतानीकाद्दुर्दमनस्तस्यापत्यं महीनरः ॥ ४३ ॥

तिमिसे बृहद्रथ और बृहद्रथसे सुदासका जन्म होगा। सुदाससे शतानीक, शतानीकसे दुर्दमन और दुर्दमनसे महीनरका जन्म होगा ॥४३॥

दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता यतः ।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥ ४४ ॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
अथ मागधराजानो भाविनो ये वदामि ते ॥ ४५ ॥

महीनरसे दण्डपाणि, दण्डपाणिसे निमि और निमिसे क्षेमकका जन्म होगा। राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें सोमवंश (चन्द्रवंश)के विषयमें बतलाया। इस सोमवंशसे ही क्षत्रिय और ब्राह्मण-दोनों वंशोंकी उत्पत्ति हुई है। बड़े-बड़े देवता एवं ऋषि-मुनिगण इस वंशका आदर-सत्कार करते हैं। यह वंश कलियुगमें राजा क्षेमकके साथ ही समाप्त हो जायगा। अब मैं उन मागध राजाओंका वर्णन करता हूँ, जो भविष्यमें होनेवाले हैं ॥४४-४५॥

भविता सहदेवस्य माजीरिर्यत् श्रुतश्रवाः ।
ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥ ४६ ॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद्बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
ततः सुतञ्जयाद्विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥ ४७ ॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद्धर्मसूत्रः समस्ततः ।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥ ४८ ॥

जरासन्ध-पुत्र सहदेवसे मार्जारिका जन्म होगा। मार्जारिका पुत्र श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवाका युतायु और युतायुका पुत्र निरमित्र होगा।

निरमित्रसे सुनक्षत्र, सुनक्षत्रसे बृहत्सेन, बृहत्सेनसे कर्मजित् और कर्मजित्से सुतञ्जयका जन्म होगा। सुतञ्जयका पुत्र विप्र होगा और विप्रका पुत्र होगा शुचि। शुचिसे क्षेम, क्षेमसे सुव्रत, सुव्रतसे धर्मसूत्र और धर्मसूत्रसे शम जन्म ग्रहण करेगा। शमका पुत्र द्युमत्सेन, द्युमत्सेनका सुमति और सुमतिका पुत्र सुबल होगा ॥४६-४८॥

सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद्यद्रिपुञ्जयः।

बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीशान्तनुवंशकीर्त्तनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥

सुबलसे सुनीथ, सुनीथसे सत्यजित्, सत्यजित्से विश्वजित् और उससे रिपुञ्जयका जन्म होगा। ये सभी बृहद्रथवंशके राजा होंगे। इन राजाओंका शासनकाल एक हजार वर्ष तक रहेगा ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे अध्यायके बाईसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

त्रयोविंशोऽध्यायः

अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

अनोः सभानरश्चक्षुः परेक्षुश्च त्रयः सुताः।

सभानरात् कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! ययातिके चौथे पुत्र अनुके तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परेक्षु। सभानरसे कालनर और कालनरसे सृञ्जयका जन्म हुआ ॥ १ ॥

जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशालो महामनाः।

उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥ २ ॥

सृञ्जयसे जनमेजय, जनमेजयसे महाशाल और महाशालसे महामनाने जन्म लिया। महामनाके दो पुत्र थे—उशीनर एवं तितिक्षु ॥ २ ॥

शिविर्वरः कृमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः।

वृषादर्भः सुधीरश्च मद्रः केकय आत्मवान् ॥ ३ ॥

शिवेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुषद्रथः।

ततो होमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥ ४ ॥

उशीनरसे चार पुत्रोंका जन्म हुआ—शिवि, वर, कृमि और दक्ष। शिविसे वृषादर्भ, सुधीर, मद्र और आत्मतत्त्वविद् केकेय—इन चार पुत्रोंका जन्म हुआ। उशीनरके भाई तितिक्षुका पुत्र था रुषद्रथ। रुषद्रथसे होम, होमसे सुतपा और सुतपासे बलिका जन्म हुआ ॥ ३-४ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः शुह्यपुण्ड्रोऽसंज्ञिताः।

जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥ ५ ॥

राजा बलिकी पत्नीके गर्भसे मुनि दीर्घतमाने छः पुत्रोंको जन्म दिया—अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, शुह्य, पुण्ड्र और ओड्र ॥ ५ ॥

चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च ते।
खलपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्मादिविरथस्ततः ॥ ६ ॥

इन छहों पुत्रोंने अपने-अपने नामोंसे भारतवर्षके पूर्वमें छह राज्य बसाये। अङ्गसे खलपान और खलपानसे दिविरथका जन्म हुआ ॥६॥

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥ ७ ॥

शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह याम्।
देवेऽवर्षति यं रामा आनित्युर्हरिणीसुतम् ॥ ८ ॥

नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टि मरुत्वते ॥ ९ ॥

प्रजामदादशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः।

चतुरङ्गो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥ १० ॥

दिविरथसे धर्मरथ और धर्मरथसे चित्ररथने जन्म ग्रहण किया। चित्ररथ रोमपादके नामसे विख्यात हुए। महाराज दशरथ इनके मित्र थे। रोमपादके कोई सन्तान न थी। रोमपादके सखा दशरथने अपनी कन्या शान्ता इन्हें गोद दे दी। शान्ताका विवाह ऋष्यशृङ्ग मुनिसे हुआ। ऋष्यशृङ्ग विभाण्डक ऋषि द्वारा हरिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। एक बार रोमपादके राज्यमें देवताओंने बहुत दिनों तक वर्षा नहीं की। तब वारांगनाओंने अपने नृत्य, संगीत, वाद्य, नाना प्रकारके पूजोपकरण, हाव-भाव और विलासादि द्वारा ऋष्यशृङ्गको आकर्षित कर लिया और उन्हें वहाँ ले आयीं। उनके आते ही राज्यमें वर्षा हाने लगी। रोमपादने इन्द्रयज्ञ करनेके लिए ऋष्यशृङ्गको ही पुरोहित नियुक्त किया था, जिससे रोमपादको पुत्रकी प्राप्ति हुई। इसके बाद ऋष्यशृङ्ग ऋषिने निःसन्तान राजा दशरथको पुत्र-प्राप्तिके लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, जिससे महाराज दशरथको चार पुत्र प्राप्त हुए। रोमपादके जो पुत्र हुआ, उसका नाम था चतुरङ्ग। चतुरङ्गसे पृथुलाक्षका जन्म हुआ ॥७-१०॥

बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः।

आद्याद्बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥ ११ ॥

पृथुलाक्षके तीन पुत्र हुए—बृहद्रथ, बृहत्कर्मा और बृहद्भानु।
बृहद्रथसे बृहन्मना और बृहन्मनासे जयद्रथका जन्म हुआ ॥ ११ ॥

विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत।

ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः ॥ १२ ॥

जयद्रथकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे विजयका जन्म हुआ। विजयसे
धृति, धृतिसे धृतव्रत, धृतव्रतसे सत्कर्मा और सत्कर्मासे अधिरथका
जन्म हुआ ॥ १२ ॥

योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम्।

कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम् ॥ १३ ॥

एक बार अधिरथ गङ्गाके किनारे क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ
उसने देखा कि पिटारीमें एक नवजात शिशु बहता चला आ रहा
है। इस नवजात शिशुको कुन्तीने कन्यावस्थामें उत्पन्न होनेके कारण
गङ्गामें बहा दिया था। अधिरथ निःसन्तान था। अतः उसने उस
शिशुको पुत्रके रूपमें ग्रहण कर लिया और उसका पालन-पोषण
करने लगा। यह बालक कर्णके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपते।

द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥ १४ ॥

हे राजन्! कर्णका वृषसेन नामका एक पुत्र हुआ। राजा ययातिके
तीसरे पुत्र द्रुह्युसे बभ्रुका जन्म हुआ। बभ्रुका पुत्र सेतु था ॥ १४ ॥

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः।

धृतस्य दुर्मदस्तस्मात् प्रचेताः प्राचेतसः शतम् ॥ १५ ॥

सेतुका पुत्र आरब्ध हुआ। आरब्धका पुत्र गान्धार, गान्धारका
धर्म, धर्मका धृत, धृतका दुर्मद और दुर्मदसे प्रचेताका जन्म हुआ।
प्रचेताके सौ पुत्र हुए ॥ १५ ॥

म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः ।

तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वहेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥ १६ ॥

प्रचेताके सौ पुत्रोंने भारतवर्षके उत्तरमें वैदिक सभ्यतासे रहित म्लेच्छ लोगोंपर शासन किया। ययातिके दूसरे पुत्र तुर्वसुसे वह्निने जन्म ग्रहण किया। वह्निसे भर्ग और भर्गसे भानुमान्का जन्म हुआ ॥ १६ ॥

त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः ।

मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥ १७ ॥

भानुमान्का पुत्र त्रिभानु था और त्रिभानुका पुत्र करन्धम। करन्धम अत्यन्त उदारचित्त था। उसके पुत्रका नाम था मरुत। मरुत सन्तानहीन था, इसलिये उसने पूरुवंशमें उत्पन्न दुष्मन्तको पुत्ररूपमें ग्रहण कर लिया था ॥ १७ ॥

दुष्मन्तः स पुनर्भजे स्ववंशं राज्यकामुकः ।

ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वशं नरर्षभ ॥ १८ ॥

वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।

यदोर्वशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

मरुत्-वंशके होनेपर भी दुष्मन्त राज्यकी अभिलाषासे पुनः अपने वंश पूरुवंशमें लौट आये। हे राजश्रेष्ठ! अब मैं राजा ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुके वंशका वर्णन करता हूँ। महाराज यदुका वंश परम पवित्र है और मनुष्यके समस्त प्रकारके पापोंको नष्ट करनेवाला है। इस वंशका वर्णन सुननेवाले मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १८-१९ ॥

यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ।

यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलोरिपुरिति श्रुताः ॥ २० ॥

चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित् प्रथमात्मजः ।

महाहयो रेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥ २१ ॥

इस यदुवंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी स्वयरूप नित्य नराकृतिको (नरदेहको) प्रकट करके अवतरित हुए थे। यदुके चार पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु। पहले पुत्र सहस्रजित्का

पुत्र शतजित् था। शतजित्से तीन पुत्रोंका जन्म हुआ—महाहय, वेणुहय और हैहय। (आकृति शब्दका अर्थ स्वरूपवाची एवं जातिवाची होनेपर भी परमात्माका ताटस्थत्व नहीं है किन्तु स्वरूपत्व ही है। भगवान्का नित्य स्वरूप नराकृति है, इसी रूपमें वे प्रकट हुए थे।) ॥२०-२१॥

धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः।

सोहज्जिरभवत् कुन्तेर्महिष्मान् भद्रसेनकः ॥ २२ ॥

हैहयका पुत्र धर्म, धर्मका नेत्र, नेत्रका कुन्ति, कुन्तिका सोहज्जि, सोहज्जिका महिष्मान् और महिष्मान्का पुत्र भद्रसेनक हुआ ॥२२॥

दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः।

कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥ २३ ॥

भद्रसेनकसे दो पुत्रोंका जन्म हुआ—दुर्मद और धनक। धनकके चार पुत्र थे—कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा ॥२३॥

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत्।

दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥ २४ ॥

कृतवीर्यसे जन्म हुआ अर्जुन का। यह जम्बू, प्लक्षादि सातों द्वीपोंका अधीश्वर बना। इन्होंने भगवान्के अंशावतार श्रीदत्तात्रेयसे योग-विद्या सीखी तथा अणिमा-लघिमा आदि आठों सिद्धियोंको प्राप्त किया ॥२४॥

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।

यज्ञदानतपोयागैः श्रुतवीर्यदयादिभिः ॥ २५ ॥

इस पृथ्वीपर कोई भी राजा यज्ञ, दान, तपस्या, योगबल, शास्त्रज्ञान, पराक्रम और दया आदि गुणोंमें कार्तवीर्य अर्जुनकी बराबरी नहीं कर सकता है ॥२५॥

पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः।

अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥ २६ ॥

सहस्रबाहु अर्जुन पिचासी हजार वर्षों तक अपनी छहों इन्द्रियोंसे अक्षय विषयोंको भोगता रहा, तब भी न तो उसका शारीरिक बल

क्षीण हुआ, न उसके धनका क्षय हुआ और न ही उसकी स्मरण शक्ति ही कम हुई। यहाँ तक कि यदि कोई कार्तवीर्य अर्जुनका नाम भी स्मरण कर लेता था, तो उसका धन नष्ट नहीं होता था ॥२६॥

तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे।

जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः ॥ २७ ॥

कार्तवीर्य अर्जुनके एक हजार पुत्र थे। परशुरामजीके साथ युद्ध करते समय केवल पाँच पुत्र ही जीवित रहे, शेष सब कालके ग्रास हो गये। इन पाँच पुत्रोंके नाम थे—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित ॥२७॥

जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत्।

क्षत्रं यत्तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोऽपसंहृतम् ॥ २८ ॥

जयध्वजसे तालजङ्घका जन्म हुआ। तालजङ्घके सौ पुत्र थे। ये सभी तालजङ्घ क्षत्रिय कहलाये। बलशाली महाराज सगरने और्व ऋषिसे शक्ति प्राप्त करके इन सभी क्षत्रियोंका विनाश कर दिया था। (अर्थात् प्राणोंका वध न करके विकृत वेशधारी बना दिया था।) ॥२८॥

तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः।

तस्य पुत्रशतं त्वासीद्वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम् ॥ २९ ॥

तालजङ्घके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े पुत्रका नाम वीतिहोत्र था। वीतिहोत्रका पुत्र मधु था। मधुके सौ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़ा वृष्णि था ॥२९॥

माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति संज्ञिताः।

यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ॥ ३० ॥

स्वाहिताऽतो विशद्वै तस्य चित्ररथस्ततः।

शशबिन्दुर्महायोगी महाभोगो महानभूत्।

चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ॥ ३१ ॥

राजन्! इन्हीं यदु, मधु और वृष्णिसे यादव, माधव और वाष्पेय वंशोंकी परम्परा चली। यदुपुत्र क्रोष्टुका पुत्र वृजिनवान् था। वृजिनवान्से

स्वाहित, स्वाहितसे विषद्गु, विषद्गुसे चित्ररथ और चित्ररथसे शशबिन्दुका जन्म हुआ। शशबिन्दु महान् योगी, महाभाग्यवान् और परम ऐश्वर्यशाली था। वह चौदह महान् रत्नों (हाथी, घोड़े, रथ, स्त्री, बाण, निधि, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान)का अधिकारी, सर्वविजयी और चक्रवर्ती सम्राट् था॥३०-३१॥

तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः

दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत्॥३२॥

शशबिन्दुकी दस हजार पत्नियाँ थीं। उनमें-से प्रत्येकके एक-एक लाख सन्तान हुई। इस प्रकार शशबिन्दुके पुत्रोंकी संख्या एक अरब थी॥३२॥

तेषान्तु षट् प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः।

धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट्॥३३॥

इन सभी पुत्रोंमें पृथुश्रवा और पृथुकीर्ति आदि छह पुत्र प्रधान थे। पृथुश्रवाके पुत्रका नाम धर्म था और धर्मके पुत्रका नाम था उशना। उशनाने सौ अश्वमेध यज्ञ किये॥३३॥

तत्पुतो रुचकस्तस्य पञ्चासत्रात्मजाः शृणु।

पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ॥३४॥

उशनाका पुत्र था रुचक। रुचकके पाँच पुत्र थे। उनके विषयमें भी सुनो! रुचकके पाँच पुत्रोंके नाम थे—पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ॥३४॥

ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्या शैब्यापतिर्भयात्।

नाविन्दच्छत्रुभवनाद्भोज्यां कन्यामहारषीत्।

रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता॥३५॥

केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै।

स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत्॥३६॥

ज्यामघकी पत्नीका नाम शैब्या था। उनकी कोई सन्तान न थी। ज्यामघने अपनी पत्नीके भयके कारण किसी दूसरी स्त्रीसे

विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रु राजाके शिविरसे भोज्या नामकी कन्याको हर लाया। शैब्याने जब अपने पतिके रथपर उस कन्याको बैठे हुए देखा, तब वह क्रोधसे भर गयी और अपने पतिसे कहने लगी—‘अरे छली, कपटी, धोखेबाज! मेरे बैठनेके स्थानपर यह किसे बैठा लाये हो?’ इसपर ज्यामघने उत्तर दिया—‘यह कन्या तुम्हारी पुत्रवधू होगी।’ यह बात सुनकर शैब्या मुस्करायी और कहने लगी—॥३५-३६॥

अहं वन्ध्याऽसपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्।
जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते॥ ३७॥

शैब्याने कहा—‘मैं तो बाँझ हूँ और मेरी कोई सौत भी नहीं है, फिर यह कन्या किस प्रकारसे मेरी पुत्रवधू हो सकती है? जरा, बतलाओ तो!’ ज्यामघने कहा—‘प्रिय रानी! तुम्हें जो पुत्र होगा, यह उसकी वधू बनेगी।’॥३७॥

अन्वमोदन्त तद्विश्वेदेवाः पितरो एव च।
शैब्या गर्भमधात् काले कुमारं सुषुवे शुभम्।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीयदुवंशकथने त्रयोविंशोऽध्यायः॥

बहुत समय पहले ज्यामघने विश्वेदेव और पितरोंकी आराधना करके उन्हें प्रसन्न कर लिया था, इसलिए विश्वेदेव और पितरोंके अनुमोदनसे ज्यामघके वाक्य सत्यमें परिणत हो गये। शैब्याने रजोविहीनी होनेपर भी देवताओंकी कृपासे गर्भ धारण किया और उपयुक्त समय आनेपर एक सुन्दर बालकको जन्म दिया। इस शिशुका नाम रखा गया विदर्भ। विदर्भके जन्मसे पहले ही ज्यामघने जिस कन्याको पुत्रीरूपमें स्वीकार कर लिया था, उसी सद्स्वभाववाली कन्यासे बड़े होनेपर विदर्भका विवाह हो गया॥३८॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके तेईसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

चतुर्विंशोऽध्यायः

विदर्भके वंशका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ।
तृतीयं रोमपादञ्च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! राजा विदर्भने उस भोज्यासे दो पुत्र उत्पन्न किये—कुश और क्रथ। विदर्भ कुलके प्रिय रोमपादने उनके तीसरे पुत्रके रूपमें जन्म लिया ॥१॥

रोमपादसुतो बभ्रुर्वभ्रोः कृतिरजायत।
उशिकस्तत्पुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः ॥ २ ॥

रोमपादका पुत्र था बभ्रु। बभ्रुका कृति, कृतिका उशिक, उशिकका पुत्र चेदि हुआ। चेदिसे दमघोष आदि चैद्य राजा हुए ॥२॥

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद्वृष्णिस्तस्याथ निर्वृतिः।
ततो दशार्हो नाम्नाभूत् तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥ ३ ॥

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः।
ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥ ४ ॥

क्रथके पुत्रका नाम कुन्ति था। कुन्तिसे वृष्णि और वृष्णिसे निर्वृतिका जन्म हुआ। निर्वृतिसे दशार्ह और दशार्हसे व्योम हुए। व्योमका पुत्र जीमूत था। जीमूतका विकृति, विकृतिका भीमरथ, भीमरथका नवरथ और नवरथका पुत्र दशरथ हुआ ॥३-४॥

करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः।
देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः ॥ ५ ॥

दशरथका पुत्र था शकुनि, शकुनिका करम्भि, करम्भिका देवरात, देवरातका देवक्षत्र और देवक्षत्रका पुत्र मधु था। मधुसे कुरुवश और कुरुवशसे अनु हुआ ॥५॥

पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः।
 भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥६॥
 सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष।
 भजमानस्य निम्लोचिः किङ्कणो धृष्टिरेव च ॥७॥
 एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्याञ्च त्रयः सुताः।
 शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो ॥८॥

अनुसे पुरुहोत्र, पुरुहोत्रसे आयु और आयुसे सात्वतका जन्म हुआ। हे आर्यश्रेष्ठ! सात्वतके सात पुत्र थे—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज। भजमानकी एक पत्नीसे निम्लोचि, किङ्कण और धृष्टि—ये तीन पुत्र हुए और दूसरी पत्नीसे भी तीन पुत्र हुए—शतजित्, सहस्रजित् और अयुताजित् ॥६-८॥

बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू।
 यथैव शृणुमो दूरात् संपश्यामस्तथान्तिकात् ॥९॥

सात्वत-पुत्र देवावृधके पुत्रका नाम बभ्रु था। हमारे पूर्वज देवावृध और बभ्रुकी महिमाको सूचित करनेवाले दो श्लोक निरन्तर गाते रहते हैं। इनकी मान्यता है कि हमने देवावृध और बभ्रुकी गुणावलीको जैसा सुना है, उसे साक्षात् देखा भी है ॥९॥

बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः।
 पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट्सहस्राणि चाष्ट च ॥१०॥
 येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रुर्देवावृधादपि।
 महाभोजोऽतिधर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये ॥११॥

मनुष्योंमें बभ्रु श्रेष्ठ हैं, तो देवावृध देवतुल्य हैं। यह इस बातसे सिद्ध होता है कि बभ्रु और देवावृधसे ज्ञान प्राप्त करके उनके वंशके चौदह हजार पैंसठ मनुष्योंने परमपदको प्राप्त किया।

सात्वत-पुत्र राजा महाभोज भी अत्यन्त धार्मिक थे। उनके कुलमें ही राजा भोज उत्पन्न हुए थे ॥१०-११॥

वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद् युधाजिच्च परन्तप।

शिनिस्तस्यानमित्रश्च निघ्नोऽभूदनमित्रतः ॥ १२ ॥

हे परन्तप! वृष्णिके दो पुत्र हुए—सुमित्र और युधाजित्। युधाजित्के भी दो पुत्र हुए—शिनि और अनमित्र। अनमित्रके पुत्रका नाम था निघ्न ॥१२॥

सत्राजितः प्रसेनश्च निघ्नस्याथासतुः सुतौ।

अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्य च सत्यकः ॥ १३ ॥

निघ्नके दो पुत्र हुए, जो सत्राजित् और प्रसेनके नामसे प्रसिद्ध हुए। अनमित्रका एक पुत्र और था, जिसका नाम शिनि था। शिनिसे सत्यकका जन्म हुआ ॥१३॥

युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः।

युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥ १४ ॥

सत्यकके पुत्रका नाम था युयुधान, जिन्हें सात्यकि भी कहा जाता था। सात्यकिसे जय, जयसे कुणि और कुणिसे युगन्धरका जन्म हुआ। युधजित्-पुत्र अनमित्रका एक और पुत्र भी था, जिसका नाम वृष्णि था ॥१४॥

श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यान्तु श्वफल्कतः।

अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥ १५ ॥

वृष्णिके दो पुत्र हुए—श्वफल्क और चित्ररथ। श्वफल्ककी पत्नीका नाम गान्दिनी था। गान्दिनीके गर्भसे सर्वश्रेष्ठ पुत्र अक्रूर और अन्य बारह पुत्र हुए ॥१५॥

आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद्गिरिः।

धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥ १६ ॥

शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश।

तेषां स्वसा सुचाराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥ १७ ॥

देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः ।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥ १८ ॥

इनके नाम हैं—आसङ्ग, सारमेय, मृदुर, मृदुविद्, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद और प्रतिबाहु। ये सभी विख्यात थे। इनकी एक सुचारा नामकी बहिन भी थी। अक्रूरके दो पुत्र हुए—देवान् और उपदेव। श्वफल्कके भाई चित्ररथके पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए। ये सभी वृष्णवंशियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥ १६-१८ ॥

कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः ।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥ १९ ॥

सात्वत-पुत्र अन्धकके चार पुत्र थे—कुकुर, भजमान, शुचि और कम्बलबर्हिष। कुकुरका पुत्र वह्नि था और वह्निका पुत्र विलोमा हुआ ॥ १९ ॥

कपोतरामा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः ।
अन्धकादुन्नुभिस्तस्मादविद्योतः पुनर्वसुः ॥ २० ॥

विलोमाके पुत्रका नाम कपोतरामा था और कपोतरामाका पुत्र अनु हुआ। तुम्बुरु नामके गन्धर्वके साथ अनुकी प्रगाढ़ मित्रता थी। अनुसे अन्धक, अन्धकसे दुन्दुभि और दुन्दुभिसे अविद्योतका जन्म हुआ। अविद्योतका पुत्र था पुनर्वसु ॥ २० ॥

तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥ २१ ॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्द्धनः ।
तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप ॥ २२ ॥
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥ २३ ॥

पुनर्वसुसे एक पुत्र आहुक और एक कन्या आहुकीने जन्म लिया। आहुकके दो पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन। देवकके चार

पुत्र थे—देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन। इनकी सात बहिनें भी थीं, जिनके नाम थे—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी। इनमें धृतदेवा सबसे बड़ी थीं। वसुदेवजीने इन सभीके साथ विवाह किया था॥२१-२३॥

कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहृस्तथा।

राष्ट्रपालोऽथ धृष्टिश्च तुष्टिमानोग्रसेनयः॥२४॥

उग्रसेनके नौ पुत्र थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, सुहृ, राष्ट्रपाल, धृष्टि और तुष्टिमान्॥२४॥

कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका।

उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः॥२५॥

उग्रसेनकी पाँच पुत्रियाँ भी हुई—कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका। इन सभीका विवाह वसुदेवके छोटे भाइयों देवभाग आदिसे हुआ॥२५॥

शूरो विदूरथादासीद्भजमानस्तु तत्सुतः।

शिनिस्तस्मात् स्वयं भोजो हृदिकस्तस्तुतो मतः॥२६॥

चित्ररथका पुत्र था विदूरथ। विदूरथका शूर, शूरका भजमान, भजमानका शिनि और शिनिका पुत्र हुआ स्वयम्भोज। स्वयम्भोजसे हृदिकका जन्म हुआ॥२६॥

देवमीढः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः।

देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्॥२७॥

हृदिकके तीन पुत्र थे—देवमीढ या देवबाहु, शतधनु या शतधन्वा और कृतवर्मा। देवमीढके पुत्रका नाम था शूरसेन। शूरसेनकी पत्नी मारिषा थी॥२७॥

तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्।

वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्॥२८॥

सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्।

देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि॥२९॥

वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्।

पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥ ३० ॥

राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः।

कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥ ३१ ॥

शूरसेनने अपनी पत्नी मारिषासे दस पुत्र उत्पन्न किये—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक। ये सभी पुत्र निष्पाप थे। वसुदेवके जन्मके समय तो देवताओंके दुन्दुभि आदि वाद्य स्वयं ही बजने लगे। इसी कारण (भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भावके अधिष्ठान (प्राकट्य-स्थान) स्वरूप विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह) श्रीवसुदेवको 'आनकदुन्दुभि' नामसे भी जाना जाता है। शूरसेनके पुत्र वसुदेव आदिकी पाँच बहनें भी थीं, जिनके नाम हैं—पृथा(कुन्ती), श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी। शूरसेनके परममित्र कुन्तिभोज सन्तानहीन थे। अतः वसुदेवके पिता शूरसेनने अपनी सबसे बड़ी पुत्री पृथाको उन्हें गोद दे दिया। इसीलिये पृथा 'कुन्ती' नामसे भी जानी गयी ॥ २८-३१ ॥

साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतिं प्रतोषितात्।

तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिः ॥ ३२ ॥

एक बार जब दुर्वासा ऋषि कुन्तिभोजके घर आये, तब उनकी पुत्री कुन्तीने अपनी सेवा-शुश्रूषासे उन्हें प्रसन्न कर लिया और उनसे 'देवहूति' अर्थात् देवताओंको बुलानेकी मन्त्रविद्या सीख ली। अपनी सीखी हुई विद्याकी परीक्षाके लिये परमपवित्रा कुन्तीने मन्त्र द्वारा सूर्यदेवका आह्वान किया ॥ ३२ ॥

तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा।

प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥ ३३ ॥

सूर्यदेवका आह्वान करते ही सूर्यदेव वहाँ उपस्थित हो गये। सूर्यदेवको वहाँ आया देखकर कुन्ती विस्मित-सी रह गयी। उसने सूर्यदेवसे कहा—हे सूर्यदेव! मैंने दुर्वासा ऋषिसे जो विद्या (देवहूति

नामकी एक विद्या अर्थात् देवताओंका आह्वान करनेके लिए मन्त्र-विशेष) सीखी थी, उसीकी परीक्षाके लिये आपका आह्वान किया था। अब आप लौट जाइये। आह्वानके कारण मुझसे जो अपराध बन गया है, उसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ। मैं तो कन्या हूँ।'॥३३॥

अमोघं देवसन्दर्शमादधे त्वयि चात्मजम्।

योनिर्यथा न दुष्येत कर्त्ताहं ते सुमध्यमे॥३४॥

सूर्यदेवने कहा—‘हे देवि! देवताओंका दर्शन कभी भी व्यर्थ नहीं होता। हे सुमध्यमे! अब मैं तुम्हारे गर्भमें अपना वीर्य स्थापित करूँगा, जिससे तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा। तुम एक कन्या हो, अविवाहिता हो। अतः तुम्हारी योनि दूषित न हो, इसकी व्यवस्था भी मैं कर दूँगा।'॥३४॥

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः।

सद्यः कुमारः सञ्जज्ञे द्वितीय इव भास्करः॥३५॥

यह कहकर सूर्यदेवने पृथाके गर्भमें अपने वीर्यको स्थापित कर दिया और स्वर्ग चले गये। उसके तुरन्त बाद कुन्तीने एक अति सुन्दर और परम तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया, जो दूसरे सूर्यके समान ही जान पड़ता था॥३५॥

तं सात्यजन् नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती।

प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः॥३६॥

कुन्ती लोकनिन्दासे भयभीत हो गयी। पुत्र-स्नेहके कारण यद्यपि उसे उस बालकका त्याग करनेमें बड़ा कष्ट हुआ, फिर भी उसने शिशुको एक पेटीमें बन्द करके नदीमें प्रवाहित कर दिया। परीक्षित्! तुम्हारे प्रपितामह (परदादा) पाण्डुका विवाह इन्हीं कुन्तीसे हुआ था। पाण्डु एक सच्चे वीर थे॥३६॥

श्रुतदेवां तु कारुषो वृद्धशर्मा समग्रहीत्।

यस्यामभूदन्तवक्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः॥३७॥

राजन्! कुन्तीकी छोटी बहिन श्रुतदेवाका विवाह करुष देशके राजा वृद्धशर्मासे हुआ था। श्रुतदेवाने ही दन्तवक्रको जन्म दिया था। यह दन्तवक्र पूर्व जन्ममें भगवान्का द्वारपाल विजय था और सनकादि ऋषियोंके शापसे दितिके पुत्र हिरण्याक्षके रूपमें उत्पन्न हुआ था। (वही हिरण्याक्ष इस समय दन्तवक्र है।) ॥३७॥

कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत।

सन्तर्हनादयस्तस्यां पञ्चासन् कैकयाः सुताः ॥ ३८ ॥

कैकयवंशके धृष्टकेतुने पृथाकी बहिन श्रुतकीर्तिसे विवाह किया। श्रुतकीर्तिके सन्तर्दन आदि पाँच कैकय राजपुत्र हुए ॥३८॥

राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह।

दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥ ३९ ॥

राजाधिदेवीका विवाह जयसेनसे हुआ और उसके दो पुत्र हुए—विन्द और अनुविन्द। ये दोनों अवन्तीके राजा हुए। चेदिराज दमघोषने श्रुतश्रवासे विवाह किया ॥३९॥

शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः।

देवभागस्य कंसायां चित्रकेतु-बृहद्बलौ ॥ ४० ॥

श्रुतश्रवाका पुत्र शिशुपाल था। इसके विषयमें मैंने तुम्हें पहले ही (सप्तम स्कन्धमें) बतला दिया है। देवभाग, जो वसुदेवजीके भाइयोंमें—से एक थे, उनकी पत्नी कंसाने दो पुत्रोंको जन्म दिया—चित्रकेतु और बृहद्बल ॥४०॥

कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा।

बकः कङ्कात् तु कङ्कायां सत्यजित् पुरुजित् तथा ॥ ४१ ॥

वसुदेवजीके ही भाई देवश्रवाने कंसवतीका पाणिग्रहण किया था। कंसवतीके गर्भसे दो पुत्र हुए—सुवीर और इषुमान्। कङ्का या आनकने अपनी पत्नी कङ्कासे तीन पुत्र उत्पन्न किये—बक, सत्यजित् और पुरुजित् ॥४१॥

सृञ्जयो राष्ट्रपाल्याञ्च वृषदुर्मर्षणादिकान्।

हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्याञ्च श्यामकः ॥ ४२ ॥

राजा सृञ्जयने अपनी पत्नी राष्ट्रपालिकासे वृष, दुर्मर्षण आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। श्यामकने शूरभूमि (शूरभू)के गर्भसे दो पुत्रोंको जन्म दिया—हरिकेश और हिरण्याक्ष ॥ ४२ ॥

मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सकस्तथा।

तक्षपुष्करशालादीन् दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥ ४३ ॥

राजा वत्सकने मिश्रकेशी नाम की अप्सरासे वृक आदि कई पुत्रोंको उत्पन्न किया। वृकने अपनी पत्नी दुर्वाक्ष्यासे तक्ष, पुष्कर और शाल आदि कई पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ४३ ॥

सुमित्रार्जुनपालादीन् समीकात् सुदामनी।

आनकः कर्णिकायां वै ऋतधामाजयावपि ॥ ४४ ॥

समीककी पत्नी सुदामनीने सुमित्र, अर्जुनपाल आदि पुत्रोंको जन्म दिया। आनक द्वारा कर्णिकासे दो पुत्र हुए—ऋतधामा और जय ॥ ४४ ॥

पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला।

देवकी-प्रमुखाश्वासन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥ ४५ ॥

देवकी, पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना और इला आदि आनकदुन्दुभी वसुदेवजीकी पत्नियाँ थीं। इन सबमें देवकीजी प्रमुख थीं ॥ ४५ ॥

बलं गदं सारणञ्च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम्।

वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादिनुदपादयत् ॥ ४६ ॥

वसुदेवजीने रोहिणीसे बलराम, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ४६ ॥

सुभद्रो भद्रबाहुश्च दुर्मदो भद्र एव च।

पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥ ४७ ॥

नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः ।
कौशल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥ ४८ ॥

पौरवीने भूत, सुभद्र, भद्रबाहु, दुर्मद और भद्र आदि बारह पुत्रोंको उत्पन्न किया। मदिराके नन्द, उपनन्द, कृतक और शूर आदि पुत्र हुए। कौशल्या(भद्रा)ने कुल-नन्दन (कुल-उजागर) एक ही पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम था केशी ॥ ४७-४८ ॥

रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादयः ।
इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत् ॥ ४९ ॥

वसुदेवजीने अपनी पत्नी रोचनासे हस्त और हेमाङ्गद आदि तथा इलासे उरुवल्क आदि प्रधान यदुवंशी पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ४९ ॥

विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः ।
शान्तिदेवात्मजा राजन् प्रशमप्रसितादयः ॥ ५० ॥

हे राजन्! आनकदुन्दुभि वसुदेवजीके धृतदेवा नामकी पत्नीसे एक ही पुत्र हुआ, जिसका नाम था विपृष्ठ और उनकी शान्ति नामकी पत्नीसे प्रशम या श्रम और प्रसित या प्रतिश्रुत आदि कई पुत्र हुए ॥ ५० ॥

राजन्यकल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश ।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः ॥ ५१ ॥

वसुदेवजीकी पत्नी उपदेवासे राजन्य, कल्प, वर्ष या कल्पवर्ष आदि दस पुत्र हुए और श्रीदेवासे वसु, हंस और सुवंश आदि छह पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया ॥ ५१ ॥

देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः ।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया ॥ ५२ ॥

वसुदेवजी द्वारा देवरक्षिताके गर्भसे गदा आदि नौ पुत्रोंने जन्म लिया। जैसे धर्मने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था, वैसे ही साक्षात् धर्मस्वरूप श्रीवसुदेवजीने सहदेवा नामकी अपनी पत्नीसे श्रुत, प्रवर आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५२ ॥

प्रवरश्रुतमुख्यांश्च साक्षाद्धर्मो वसूनिव ।
 वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥ ५३ ॥
 कीर्त्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः ।
 ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् ॥ ५४ ॥
 अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ।
 सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही ॥ ५५ ॥

उदारचित्त वसुदेवजीने अपनी प्रमुख पत्नी देवकीसे भी आठ पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कीर्त्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र। सातवे पुत्रके रूपमें भगवान् सङ्कर्षण(बलरामजी)का आविर्भाव हुआ और उनके आठवे पुत्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। हे राजन्! तुम्हारी परम सौभाग्यवती दादी सुभद्रा भी देवकीकी ही पुत्री थीं ॥ ५३-५५ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
 तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥ ५६ ॥

जब-जब इस संसारमें धर्मका क्षय और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब सर्वनियन्ता भगवान् श्रीहरि दुष्ट व्यक्तियोंके विनाश और साधुओंके संरक्षणके लिये स्वेच्छापूर्वक अवतीर्ण होते हैं ॥ ५६ ॥

न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ।
 आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥ ५७ ॥

हे महीपते! माया-नियन्ता, परतत्त्व, संसाररूप दुःख-समुद्रमें पतित जीवोंके एकमात्र द्रष्टा, समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरिके जन्म और कर्मादि प्राकृत जीवोंके समान नहीं होते, जो अपने पूर्व जन्मोंके कर्मफलको भोगनेके लिए जन्म लेते हैं। भगवान् तो स्वयंसे अभिन्न विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। उनके प्राकट्यका उद्देश्य साधुओंके प्रति अनुग्रहके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता ॥ ५७ ॥

यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि ।
 अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्ट्यते ॥ ५८ ॥

आद्यपुरुषावतार कारणार्णवशायी भगवान् श्रीहरिकी मायाके प्रति दृष्टि-शक्ति-सञ्चाररूप जो चेष्टा है, वह जीवोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण बनती है। भगवान्की जीवोंके प्रति इस चेष्टाको उनका जीवोंपर अनुग्रह ही कहा जायेगा। उनकी यह चेष्टा जन्म-मृत्युसे निवृत्ति करानेवाली और भगवत्-प्राप्ति करानेवाली है ॥५८॥

अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः।

भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः ॥५९॥

कर्माण्यपरिमेयाणि मनसापि सुरेश्वरैः।

सहसङ्कर्षणश्चक्रे भगवान् मधुसूदनः ॥६०॥

राजाओंके वेश एवं चिह्नोंको धारण करके असुरोंने जब कई-कई अक्षौहिणी सेना एकत्रित करके पृथ्वीको आक्रान्त किया, तब पृथ्वीका भार दूर करनेके लिए मधुसूदन भगवान् श्रीहरिने बलरामके साथ अवतीर्ण होकर ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य किये, जिनके विषयमें ब्रह्मादि देवता अपने मनसे अनुमान भी नहीं कर सकते अर्थात् ये कार्य उनकी भी समझ एवं तर्कसे परे हैं। भगवान् असुरोंका वध करके उनको भी जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार वास्तवमें वे उनपर भी कृपा ही करते हैं ॥५९-६०॥

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्।

अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥६१॥

भगवान्ने अपने प्रकट-कालमें तो भक्तोंका उद्धार किया ही, साथ ही कलियुगमें जन्म लेनेवाले जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिए ऐसी तमोनाशिनी परमपवित्र कीर्तिका विस्तार किया, जिसका गान एवं श्रवण करनेसे उनके शोक, मोह और अविद्या आदि सब विनष्ट हो जाते हैं ॥६१॥

यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत्।

श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् ॥६२॥

भगवान् श्रीहरिका यश साधुओंके कानोंके लिये अमृत है। उनके लिये श्रेष्ठ तीर्थ यही है। एक बार भी यदि कान-रूपी अञ्जलिसे उसका पान कर लिया जाय अथवा उसका कर्णोन्द्रियसे एक बार भी स्पर्श हो जाय तो मनुष्य समस्त प्रकारकी कर्म-वासनाओं या बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥६२॥

भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।

श्लाघनीयेहितः शशवत् कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः ॥ ६३ ॥

स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ।

नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥ ६४ ॥

भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय और पाण्डुके वंशके वीर भगवान्की लीलाओंकी आदरपूर्वक प्रशंसा किया करते थे। भगवान्ने अपनी प्रेमभरी मन्द-मन्द मुस्कान, स्निग्ध एवं सरस चितवन, प्रसादपूर्ण वचन, गोवर्धनधारण आदि वीररस एवं शौर्यकी प्रकाशक लीलाओंसे तथा अपने सर्वाङ्गसुन्दर विग्रहसे मनुष्यमात्रको आनन्द-सिन्धुमें आप्लावित कर दिया था॥६३-६४॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-

भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।

नित्योत्सवं न तत्पुट्टशिभिः पिबन्त्यो

नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेषच ॥ ६५ ॥

परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके मुखमण्डलपर अद्भुत माधुरी छायी रहती थी। मकराकृत कुण्डलोंसे उनके कमनीय कर्णयुगल बड़े ही मनोहर लगते थे। इन कुण्डलोंकी आभासे उनके कपोल दीप्तिमान् हो उठते थे। औत्सुक्य, चापल्य आदि विलासके साथ जब वे हँसते तो नित्य-उत्सव-प्राकट्यकारी उनके मुखमण्डलको देखकर आनन्दकी सीमा ही न रहती। सभी नर-नारी बड़े आनन्दके साथ अपनी दृष्टि-रूपी-अञ्जलिसे उनकी माधुरीका निरन्तर पान करते, किन्तु अघाते न थे। भगवान्की ऐसी माधुरीका पान करनेमें बाधा

डालनेवाली पलकोंके उठने-गिरनेकी क्रियासे वे खीझ जाते और इस निमेष-क्रियाके स्रष्टा निमिपर क्रोध करने लगते ॥६५॥

जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयन् जनेषु ॥६६॥

लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए, परन्तु वहाँसे वे नन्दबाबाके व्रजमें चले गये। व्रजमें उन्होंने अपने भक्तोंके उस सर्वपुरुषार्थ शिरोमणि प्रेमकी चरम-सीमाको प्रकाशित किया, जो समस्त पुरुषार्थोंकी शिरोमणि है। यहाँ पूतनादि शत्रुओंका संहार करनेके बाद वे अपनी अन्य लीलाओंके सम्पादनके लिये मथुरा और द्वारका गये। द्वारकामें रहकर उन्होंने लोक-समाजमें बहुत-सी स्त्रियोंके साथ विवाह किया और सैकड़ों पुत्र उत्पन्न किये। ऐसा करके उन्होंने वर्णाश्रम धर्मका संस्थापन एवं प्रदर्शन किया। लोगोंमें अपनी वाणी-रूप श्रुतियोंकी मर्यादा स्थापित करनेके लिए उन्होंने कोई अन्य इज्यमान न रहनेके कारण अनेक यज्ञोंके द्वारा अपनी ही आराधना की ॥६६॥

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्बः।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्त्तने यदुवंशानुकीर्त्तनं
नाम चतुर्विंशोऽध्यायः।

भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-पाण्डवोंके गृह-कलहको निमित्त बनाकर पृथ्वीके बहुत-से भारको हल्का कर दिया। उन्होंने यद्यपि अपनी दृष्टिसे ही युद्ध-स्थलमें स्थित आसुरी-सेनाका संहार कर दिया था,

तथापि सम्पूर्ण जगत्में 'अर्जुनकी जय हो' इस प्रकारका विजय घोष कर दिया। इसके बाद उद्धवको परतत्त्व (भक्ति, ज्ञान और वैराग्य)का उपदेश देकर वे अपने स्वरूपसे ही अपने परमधाममें चले गये॥६७॥

इति श्रीमद्भागवतके नवे स्कन्धके चौबीसवे अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

नवमः स्कन्धः समाप्तः।